हिन्दी एवं मराठी के वैष्णव साहित्य
का
तुलनात्मक अध्ययन

[विक्रम संवत् १४०० से १७०० तक]

(सागर विश्वविद्यालय की पी-एच डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध)

लेखक :

डॉ. नरहरि चिन्तामणि जोगलेकर

हिन्दी विभाग :
पूना विश्वविद्यालय, पूना-७

जवाहर पुस्तकालय, मथुरा.

प्रकाशक
कुँजविहारीलाल पचौरी, एम० कॉम
जवाहर पुस्तकालय,
असकुन्डा बाजार, मथुरा।

*

लेखक .
डॉ० नरहरि चिन्तामणि जोगलेकर, पी-एच डी.

*

*

मूल्य :
तीस रुपया

*

मुद्रक :
ओमप्रकाश अग्रवाल
अजन्ता फाइन आर्ट प्रिन्टर्स,
हनुमान गली, मथुरा.

समर्पण

श्रद्धेय गुरुवर्य स्वर्गीय

आचार्य नंददुलारे वाजपेयी जी को

सादर समर्पित

आशीर्वचन

प्रिय शिष्य श्रीमान् डॉ० न० चि० जोगलेकर जी ! आपके प्रबन्ध प्रकाशित होने के सुअवसर पर मेरे आशीष वचनो की जो अभ्यर्थना आपने की है वे आशीर्वाद ग्रन्थ प्रकाशन के पूर्व ही आप प्राप्त कर चुके है। केवल भगवान् श्री गणेशजी की असीम कृपा से ही आज कई सकटो से गुजरा हुआ आपका प्रबन्ध प्रकाशित हो रहा है। यह निश्चित रूप से प्रकाशमान है और होगा। हिन्दी जगत मे उसका उचित स्वागत हो ऐसी मै भगवान् श्री गणेश जी से प्रार्थना करता हूँ।

विद्वद्रत्न डॉ० पारनेरकर
पी-एच. डी,
१७५, तिलक पथ, इन्दौर (म.प्र)

आश्विन शुक्ला पूर्णिमा सं० २०२५,
दिनाङ्क ५-१०-६८ ई०

प्राक्कथन

भारतवर्ष वहुभाषा-भाषी और विविध संस्कृतियो का देश है। इसके अन्तर्गत वोली जाने वाली भाषाओं का अपना साहित्य है जिसके अन्तर्गत विविध सस्कृतियों और विचारधाराओ का प्रवाह मिलता है। इस अपनी मातृभाषा के साहित्य से अवगत होने के अनन्तर इन्ही भाषाओ के साहित्य का अनुशीलन कर सकते हैं और इम प्रकार अपना ज्ञानवर्धन कर सकते है। इस अनुशीलन के परिणामस्वरूप जिन निष्कर्षो की उपलब्धि हमें होती है, वे अत्यत महत्वपूर्ण है। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हमने दो भाषाओ के माध्यम से प्रायः एक ही विचारधारा या संस्कृति को दो दृष्टिकोणों से समझा है और कभी-कभी यह भी अनुभव होता है कि विभिन्न भाषाओ के आवरण पहने वास्तव मे यह एक ही संस्कृति अथवा मानव जीवन की सौन्दर्यप्रतिमा है जो वेशभूषा की भिन्नता के कारण ही भिन्न जान पडती है, पर वास्तव मे भिन्न नही है। अतः भारतीय भाषाओ के तुलनात्मक अनुशीलन का अपना निजी और विशिष्ट महत्व है।

इस तुलनात्मक अनुशीलन के विविध रूप हो सकते है। भाषाशास्त्रीय, काव्यशास्त्रीय, दार्शनिक, समाजशास्त्रीय सांस्कृतिक आदि आदि। इन तुलनात्मक अनुशीलनो से हमे यह भी अनुभव होता है कि यदि हम दभ करते है कि हमारी भाषा का साहित्य ही सर्वश्रेष्ठ है, तो यह दम्भ मिथ्या है। इन अध्ययनो से हमे श्रेष्ठता की गगनचुवी ऊँचाइयाँ प्राप्त होती है और लगता है कि मानवगुणो और वुद्धि-वैभव की कोई सीमा नही। इसके साथ ही साथ इससे यह भी स्पष्ट होता है कि विभिन्न प्रदेशों की भाषाभूमियो के वीच वहने वाली हमारी वैचारिक एवं भावनात्मक जीवन-सरिता एक है। हमारे देश के वर्तमान सन्दर्भ मे यह अनुभूति अपने आप मे एक वहुत वड़ी उपलब्धि है।

तुलनात्मक अध्ययनो के माध्यम से हम दो भाषाओ के महापुरुषो एव विचारक कृतिकारो के सान्निध्य मे आते है और यह भी अनुभव करते है कि सम-सामयिक अथवा भिन्नसामयिक इन कृतिकारो ने एक दूसरे से भिन्नता प्राप्त की है। साथ ही साथ इस वात का ज्ञान होता है कि देश और समाज को सुधारने, मोडने और प्रगत वनाने की कितनी क्षमता इनमे विद्यमान थी।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से भारतीय भाषाओं के लिए सर्वाधिक महत्वपूर्ण युग मध्ययुग है। इस मध्ययुग मे अपने पूर्ववर्ती, जीवन, ज्ञान और अनुभूति का निचोड़ लेकर विभिन्न संस्कृतियों के सघर्ष के परिणाम स्वरूप विकसित दृष्टिकोण एव उदार समन्वय भावना को अपनाकर जीवन की एक ऊँची व्याख्या प्रस्तुत की गयी,

जो सार्वभौम और शाश्वत होने के साथ-साथ मनोरम और श्रेयस्कर है। इस दिशा मे भारतीय भाषाओ के भक्त कवियो का योगदान वहुमूल्य है।

उपर्युक्त तथ्य को सामने रखकर किये जाने वाले तुलनात्मक अध्ययन अन्य अध्ययनो की अपेक्षा अधिक मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं, क्योकि अन्य युगो की अपेक्षा इस युग के कवियो ने जीवन को अतल गहराई से लेकर उच्चतम ऊँचाईयो तक देखा है। इतना ही नही वरन् जीवन के प्रति उनका दृष्टिकोण गम्भीर अनुभवों पर आधारित तथा वैचारिक आत्ममथन का परिणाम है। अत: उनके काव्यो मे जीवन के मथन का नवनीत प्राप्त होता है।

उपर्युक्त भाव से प्रेरित होकर डा० नरहरि चिन्तामणि जोगळेकरजी ने हिन्दी एव मराठी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया है। यह अध्ययन सागर विश्व-विद्यालय के अन्तर्गत अदम्य प्रतिभा-मडित एवं विवेक-भास्कर स्व० आचार्य प० नन्ददुलारे वाजपेयीजी के निर्देशन मे सम्पन्न हुआ है। डा० जोगळेकर इस विषय पर अनुशीलन करने के लिए पूर्णतया योग्य व्यक्ति है। इनके सात्विक सस्कार, साधनामय जीवन, गुरु-ज्ञानालोकित दृष्टि एव अनवरत श्रम-शीलता के परिणाम स्वरूप यह महत्वपूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ है। हिन्दी और मराठी मे समान गति रखने वाले तथा निष्ठा और भक्ति से सिक्त होकर जोगळेकरजी ने जो अनुशीलन प्रस्तुत किया है, वह अत्यन्त रोचक एव उपादेय है। अपने जीवन के उत्तम क्षणो मे जहाँ एक ओर उन्होने ज्ञानेश्वरी की ओवियो से ओतप्रोत होकर कार्य किया है, वही दूसरी ओर उनकी सहज भक्ति-भावना तुलसी और सूर के पदो को विभोर करने वाले स्वर मे भी निनादित होती रही है। अत: मैं कह सकता हूँ कि इस प्रकार के विषय के लिए डा० जोगळेकर के रूप मे एक सर्वथा योग्य व्यक्ति मिला तथा इस कार्य के परिणामस्वरूप उन्हे सागर विश्वविद्यालय ने पी-एच. डी. की उपाधि से विभूषित किया।

आज इस ग्रन्थ को प्रकाशित देखकर मुझे वड़ी प्रसन्नता है। मेरा विश्वास है कि इस प्रकाशित ग्रन्थ से इस विषय का अवगाहन करने वाले सुधीजनो को तुष्टि प्राप्त होगी। इसके साथ ही मुझे आशा है कि डा० जोगळेकरजी के द्वारा इसी प्रकार के अन्य सास्कृतिक महत्व वाले ग्रन्थो का प्रणयन होगा।

सागर
अनतचतुर्दशी
१९६८

डा० भगीरथ मिश्र
एम. ए., पी एच. डी.,
अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग,
सागर विश्वविद्यालय, सागर

दो शब्द

मैने डॉ० न० चि० जोगलेकर का हिन्दी एव मराठी के वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन शीर्षक शोध-ग्रन्थ पढा। इसमे तत्वान्वेषी लेखक ने वैष्णव धर्म और दर्शन के क्रमिक विकास और उसकी विभिन्न शाखाओं और सम्प्रदायो पर ऐतिहासिक दृष्टि से अच्छा प्रकाश डाला है क्योकि इसी पृष्ठभूमि पर भारतीय वैष्णव साहित्य की विवेचना सम्भव हो सकती थी। ग्रन्थ दश अध्यायों मे विभक्त है।

ग्रियर्सन और उनके सहचिन्तको की यह धारणा भ्रान्तिपूर्ण है कि भारतीय भक्ति-साहित्य पर ईसाई मत का प्रभाव है। लेखक ने इस भ्राति का सप्रमाण खडन किया है। हिन्दी-मराठी वैष्णव साहित्य पर किसी भी अभारतीय मत का प्रभाव दृष्टिगोचर नही होता। उनका विकास भारतीय चिन्तन का ही सुपरिणाम है। लेखक ने हिन्दी और मराठी मे वैष्णव-साहित्य के साहित्यिक और आध्यात्मिक पक्ष की विद्वत्तापूर्ण विवेचना की है। विभिन्न भारतीय भाषाओ के तुलनात्मक अध्ययन से यह तथ्य बहुत अच्छी तरह से उभर कर सामने आता है कि भारतीय चिन्तन-धारा मे कही विरोध नही है। भारत भौगोलिक और राजनीतिक दृष्टि से भले ही खण्डित रहा हो पर सास्कृतिक स्तर पर वह अखण्डित रहा है। उसमे भारतीय आचार-विचार की समता (Unity in Diversity) (विभिन्नता मे एकता) का अच्छा उदाहरण है। राम, कृष्ण और विठ्ठल के प्रति श्रद्धा समन्वित भावुकतापूर्ण अभिव्यक्ति दोनो भाषाओ के साहित्य मे विद्यमान है। इन दोनों पात्रो के ऐतिहासिक अस्तित्व मे भले ही कुछ बुद्धजीवियो को संदेह हो पर वे भारतीय जन-जीवन में नैतिक और आध्यात्मिक प्रेरणा के सतत स्रोत रहे है, इसमे तनिक भी सदेह नही। उन्होने नैराश्य-अधकारग्रस्त जन-मन को सदा आशा की ज्योति से उल्लसित किया है। भारतीय भाषाओ के साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन राष्ट्रीय एकता मे सहायक ही सिद्ध होगा। इस दिशा में किए गए इस महत्व-पूर्ण और विदग्धभावपूर्ण कार्य का मै हृदय से स्वागत करता हूँ। इस शोध-ग्रन्थ का साहित्य मे उचित सम्मान होगा, ऐसा मेरा विश्वास है।

विनयमोहन शर्मा
अध्यक्ष तथा प्रोफेसर :
हिन्दी विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र
(हरियाना प्रदेश)

दिनाङ्क १६-६-६८

भूमिका

मध्यकालीन भक्ति-आन्दोलन की उन्मेपकारिणी काव्य-गङ्गा ने भारतीय जन-जीवन और जन-भाषाओ के साहित्य को आप्लावित कर वैष्णव भक्ति साहित्य सर्जना से भावनात्मक एकताके सास्कृतिक अतलस्पर्शी तथ्यो को जीवनाभिमुख बनाकर अभिव्यजित करने की दिव्य प्रेरणा प्रदान की है। एक विशाल महाद्वीप-वत् इस भारत देश मे निहित सार्वभौम मानवतावाद वैष्णव साहित्य मे पूर्ण रूप से गौरवान्वित और प्रतिष्ठित हो उठा है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि इस आस्था पूर्ण भक्ति आन्दोलन से पूर्णरूपेण अनुप्राणित हो उठे हैं। अपनी-अपनी प्रादेशिक मर्यादाओ के रहते हुए भी वैष्णव साहित्य ने उच्चकोटि का प्रेम और सहानुभूति सारी मानवता को प्रदान करने मे कोई कसर बाकी नही उठा रखी। सदाचार और नीति पक्ष के मानवी सास्कृतिक मूल्यो के ठोस आधार पर महाराष्ट्र क्षेत्रीय और हिन्दी भाषी क्षेत्रो के जन-जीवन को हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य ने सुरक्षित रखा। इसी तथ्य को समझने के लिए यह तुलनात्मक अध्ययन उपादेय और समयोचित सिद्ध हो सकेगा ऐसी लेखक की निजी धारणा है।

प्रस्तुत प्रबध की कालगत सीमा रेखाएँ विक्रमी १४ वी से १७ वी विक्रमी शताब्दी का समय आत्मसात कर लेती है। इस युग मे देशव्यापी भक्ति आन्दोलन ने जनवादी परम्परा का जो सास्कृतिक अभ्युदय उत्थान और विकास हुआ उसमे हिन्दी और मराठी के वैष्णव भक्त कवियो ने जो योगदान दिया उसके आध्यात्मिक और साहित्यिक पक्षो का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करने का अभिप्रेत लक्ष्य लेखक का रहा है। मूलतः जिन वैष्णव भक्त कवियो को लेखक ने अध्ययनार्थ लिया है उनमे हिन्दी के कबीर, तुलसी, सूर और मीरा है और मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास हैं।

मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो का उपास्य के नाते विष्णु के किसी न किसी स्वरूप से मूर्ति विग्रह एवम् अवतार से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध रहा है। सर्वोपरि उपास्य के रूप मे 'विष्णु' को यह स्थान कब और कैसे प्राप्त हुआ, अन्य देवताओ का उनसे क्या सम्बन्ध था आदि बातो का ऊहापोह करते हुए 'विष्णु' शब्द की भाषा शास्त्रीय चर्चा प्रथम की गई है। विद्वानों के निष्कर्ष को हस-क्षीर-न्याय से ग्रहण किया गया है। हिन्दी और मराठी के वैष्णव भक्त कवियो की परम्परा इतनी व्यापक, बृहद् और क्रमबद्ध है कि उन सभी वैष्णव भक्तो की

सम्पूर्ण रचनाओ का तुलनात्मक अध्ययन एक ही प्रवन्ध मे प्रस्तुत करना एक दुरूह एव असम्भव कार्य है। अत इस विशिष्ट काल के हिन्दी और मराठी भाषा-भाषी प्रदेशो के प्रतिनिधि नवरत्नो की साहित्यिक और आध्यात्मिक कान्ति की परख की गई है और इनकी साहित्यिक कृतियो को वैष्णव भक्ति-सूत्र मे पिरोकर एकत्र कर लिया गया है।

अपने प्रवन्ध के लिये लेखक ने कुल ग्यारह अध्याय प्रस्तुत किये थे। परन्तु अव पुस्तक रूप मे इसके केवल दस अध्यायो को ही लिया गया है। प्रथम दो अध्यायों मे क्रमश वैष्णव धर्म और विकास क्रम के साथ उसका स्वरूप विवेचन करते हुए वैष्णव मतो की विभिन्न शाखाएँ एव सम्प्रदायो का हिन्दी और मराठी के क्षेत्रो मे जो क्रम विकास हुआ उसकी मीमासा की गई है। तृतीय अध्याय में हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य मे अभिव्यजित भारतीय और अभारतीय मतो के प्रभावो की परीक्षा की गई है। सगुण साधक, निर्गुणोपासक, ऐकेश्वरवादी, वहुदेववादी तथा प्रेम की पीर से पीडित आदि सभी सतो और भक्तों ने भगवान से प्रेम का सम्वन्ध जोडा है। उपासना-परक पद्धतियो मे भिन्नता होते हुए भी प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप मे उनका पारस्परिक आदान प्रदान भी हुआ था। अतएव लेखक ने इसका सम्यक दिग्दर्शन करने का नवीन प्रयत्न किया है। चौथे और पाँचवे अध्यायों मे मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य के प्रतिनिधि भक्त एव सत कवि ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास तथा कवीर, तुलसी, सूर और मीरा की काव्य रचनाएँ, जीवनी और साम्प्रदायिक मान्यताएँ अकित की गई है। साथ-साथ तद्युगीन सामाजिक जीवन मे अभिव्यंजित प्रभावों का आँकलन करने का लेखक ने प्रयास किया है। हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत करते हुए लेखक का अभिप्राय हिन्दी और मराठी के उस वैष्णव साहित्य से है जो वैष्णव भक्त कवियो द्वारा रचा गया है। स्पष्ट ही है कि ये विष्णु के उपासक थे तथा इनका आचार धर्म वैष्णवो का था। अत. 'वैष्णव' सज्ञा के वे पात्र थे। किसी भी जीवधारी के प्रति मत्सर न रखते हुए जीवनयापन करना सर्वेश्वर की पूजा है ऐसा अटल विश्वास श्री वैष्णव भक्त कवियो का होने से इन सव मे परस्पर मैत्रीभाव विद्यमान था। प्रस्तुत अध्ययन मे आये हुए मराठी हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के पूर्व सूरियो मे प्रथम वे वैष्णवाचार्य आते है जिन्होने सस्कृत भाषा मे उसके आध्यात्मिक एव दार्शनिक शास्त्रीय उपासना-परक सिद्धान्तो और आचार पक्ष की वातो को प्रतिष्ठित किया। इसके वाद वे वैष्णव भक्त कवि है जो समाज के सभी स्तर के व जाति के लोग थे, जिन्होंने जन-भाषाओ मे अपनी-अपनी कृतियाँ प्रस्तुत की है। अपनी-अपनी वैष्णवी साधना से अपने आपको

पवित्र करते हुए सबके लिए भक्ति के अनेक विध-सोपान इन साधको ने उपलब्ध कर दिए है। इनके द्वारा प्रदत्त और अभिव्यक्त सिद्धान्त सार्वजनिक रूप से सुलभ और मानवीय होने से सामाजिक और आध्यात्मिक होने से धार्मिक है। सास्कृतिक और मानवीय धरातल पर 'हरि को भजै सो हरिका होई', इस तत्व को उन्होने सत्य सिद्ध कर जीवन की विषमतापूर्ण खाई को पाटने का बहुमूल्य कार्य करते हुए एक राष्ट्रीय देन को प्रदत्त किया है।

तुलनात्मक अध्ययन के रूपमे छटे, सातवे, आठवे और नवे अध्यायो मे क्रमश: मराठी और हिन्दीके आध्यात्मिक और साहित्यिक पक्षो पर रामोपासना, कृष्णोपासना और विठ्ठलोपासना का इन दोनो दृष्टियो से विचार-मथन किया गया है। यहाँ पर यह भी देखने की चेष्टा की गई है कि इन कवियो की स्वानुभूत अभिव्यजनाओ से राष्ट्रीय भावनात्मक एकता मे कितना सामर्थ्य और बल प्राप्त हो सका है। एकातिक निष्ठा, नाम-स्मरण एवम् सकीर्तन के साथ-साथ लोक जागृति तथा आस्था और आस्तिकता की प्रतिष्ठा स्थापित करने मे इन वैष्णव कवियो ने जो जी-तोड मेहनत की है उसको आध्यात्मिक और साहित्यिक सदर्भ मे यथास्थान तुलनात्मक विवेचन के साथ अङ्कित करने का मौलिक उद्योग लेखक ने किया है। दसवाँ एवम् अन्तिम अध्याय 'तुलनात्मक निष्कर्ष' नाम का है। ब्रह्म, जीव, माया, मोक्ष और जगत सम्बन्धी धारणाएँ, जीवन के कर्तव्य, उद्देश्य और दृष्टिकोण आदि बातो के तथ्य एव निष्कर्ष लेखक के सामने प्रत्यक्ष हो उठे है। इसमे मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो की भक्ति साधना की विभिन्न पद्धतियो का तुलनात्मक रूप मे सत्य बोध हो गया है। जीवन मे भक्ति की आवश्यकता तथा तद्युगीन समाज और जीवन पर उसका गहरा प्रभाव एक सास्कृतिक प्रदेय के रूप मे तथ्य-बोध कराते है।

मराठी और हिन्दी के यह वैष्णव कवि आचार्य, दार्शनिक, भक्त और कवि के रूपो मे हमारे सन्मुख आये है। आचार्य के रूप मे ज्ञानेश्वर, तुलसीदास, एकनाथ और रामदास को हम ले सकते है। भक्त के रूप मे कबीर, तुकाराम, मीरा, सूरदास, नामदेव, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ और रामदास को प्रतिष्ठित कर सकते है तो दार्शनिक रूप मे कबीर, तुकाराम, ज्ञानेश्वर, एकनाथ और तुलसीदास को देखते है और कवि के रूप मे ज्ञानेश्वर, तुलसी, सूर, रामदास, एकनाथ, कबीर, मीरा, तुकाराम और नामदेव को देख सकते है। इन सबने अपने अनुगामी युगो पर अपना अमिट प्रभाव छोडा है।

प्रस्तुत प्रबन्ध के प्रणयन मे स्व० गुरुवर परमपूज्य आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी ने सर्व प्रथम और सबसे अधिक प्रेरणा, मार्गदर्शन और सहयोग प्रदान

किया है। उनके प्रकाण्ड पाण्डित्य, वात्सल्य पूर्ण व्यवहार और उदार दृष्टिकोण मे लेखक को वाराणसी से सागर तक सदा अभिभूत किया है। उनकी ही सत्प्रेरणा, शुभाशीष और सदिच्छा के कारण एकवार भयङ्कर आँधी से नष्ट हो जाने पर, दूसरी वार अग्नि से जल जाने पर तथा तीसरी वार स्तेन कार्य से नष्ट हो जाने पर भी यह प्रवन्ध पूर्ण हो सका। इसमे जो विशेषताएँ हैं वे पूज्य पण्डितजी के समीक्षात्मक एव शोध पूर्ण निष्कर्षों की प्रतिक्रियाएँ है, और जो दोष हैं वे लेखक की असमर्थता और अयोग्यता के प्रतीक है।

परमश्रद्धास्पद विद्वद्रत्न सद्गुरु डाक्टर रामचन्द्र प्रल्हाद पारनेकरजी ने लेखक को समय-समय पर वैष्णव भक्तो की दार्शनिक और आध्यात्मिक दृष्टियो को सुलझाने मे जो पथ प्रदर्शन किया है उसके लिए लेखक उनका बहुत कृतज्ञ है। इस पुस्तक के लिए आशीर्वाद देकर लेखक को आपने चिर उपकृत किया है। श्रद्धेय डा० भगीरथजी मिश्र सम्प्रति अध्यक्ष हिन्दी विभाग सागर विश्वविद्यालय, सागर ने समय-समय पर जो महत्वपूर्ण सुझाव दिये और प्राक्कथन लिखकर लेखक को अपना कृपापात्र बना लिया उसके लिए वह उनका चिर ऋणी है लेखक इसे पूज्य मिश्रजी का अपने प्रति स्नेह और सद्भाव का परम सौभाग्य मानता है। आचार्य विनय-मोहनजी शर्मा अध्यक्ष हिन्दी विभाग कुरूक्षेत्र विश्वविद्यालय, कुरुक्षेत्र ने 'दो शब्द' देकर इस पुस्तक की उपादेयता मे वृद्धि की है, लेखक उनका भी हृदय से अत्यन्त आभारी है।

स्वर्गीय गुरुदेव आचार्य केशवप्रसादजी मिश्र, वाराणसी, स्व० क्षितिमोहनसेन शान्ति निकेतन, स्व० गुरुदेव रानडे निम्वाल, स्व० प्राध्यापक श्री म० माटे, पूना, का लेखक चिर ऋणी रहेगा, क्योकि उसे इनके द्वारा समय-समय पर प्रोत्साहन एव परामर्श प्राप्त हुये थे। तथा प० परशुरामजी चतुर्वेदी, वलिया, प्राध्यापक वी. आर. कुलकर्णी, वम्वई, आचार्य प्रवर विश्वनाथप्रसादजी मिश्र, वाराणसी, मुन्शीरामजीशर्मा, कानपुर, डा० रघुवशजी इलाहावाद की कृतियो से तथा व्यक्तिगत रूप मे लेखक ने आवश्यक सहयोग एव लाभ उठाया है। इसके साथ-साथ जिनकी अन्य कृतियो का लेखक ने उपयोग किया है उनका यथास्थान उसने उल्लेख कर दिया है। अपने अनुजतुल्य डा० भगवानदास तिवारी एम. ए., पी-एच डी., सोलापुर को लेखक विशेष रूप से साधुवाद देता है जिन्होंने वैष्णव भक्तो के चित्र वनाने मे और अन्य रूपो मे लेखक को नित्य कार्य-प्रवण किया है।

इस पुस्तक के प्रूफ देखकर प्रो० गोपालशकरजी नागर एव मूलशकरजी नागर महोदय ने मुझे आजीवन अपना ऋणी बनाया है जिनके अथक परिश्रम के

विना पुस्तक इतनी शीघ्र तथा सुन्दर रूप मे छपना प्राय. असभव सा ही था। लेखक उनको साधुवाद के अतिरिक्त और क्या दे सकता है। श्री केदारनाथजी पचौरी तथा श्री कुजविहारीजी पचौरी, जवाहर पुस्तकालय, असकुडा बाजार, मथुरा—के प्रति लेखक चिर कृतज्ञ रहेगा जिनके सहयोग के विना पुस्तक का इतना अच्छा प्रकाशन शायद न हो पाता। पुस्तक की सुन्दर एवम् आकर्षक छपाई के लिए लेखक उनको बार-बार धन्यवाद देता है।

लेखक बुद्धिदाता एव विघ्नहर्ता श्री मगलमूर्ति की कृपा को भी स्मरण करता है जिससे यह कार्य सम्पन्न हो सका है। अपने पूज्य पिताजी और पूज्या माताजी के शुभाशीर्वादो तथा पत्नी श्रीमती श्रद्धा जोगलेकर की बहुमुखी प्रेरणा के प्रति कृतज्ञता-ज्ञापन करता है। इनके ही कारण वह सदा क्रियावान रह सका है। यदि एक ओर महाराष्ट्र लेखक की जन्मभूमि रही है तो हिन्दी भाषी प्रदेश लेखक की सस्कार भूमि कहला सकती है, जहाँ रहकर ही उसने हिन्दी की उच्च शिक्षा प्राप्त की। तटस्थ अध्ययन के अतिरिक्त किसी भी एकागी भावना को लेखक ने ग्रहण करने का प्रयत्न नही किया है। यह अनुशीलन यदि सुधी पाठको मे हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य के प्रति आस्था जगाने मे सहायक सिद्ध हुआ तो लेखक अपने आपको बहुत कृतकृत्य मानेगा।

अन्त मे मुद्रण सम्बन्धी भूलो तथा अन्य ज्ञात-अज्ञात त्रुटियो के लिए सुधी पाठको से क्षमा चाहते हुए.... ....।

विजयादशमी विनयानत ·

हिन्दी विभाग, पूना विश्वविद्यालय, न. चि. जोगलेकर

पूना ७, दिनाङ्क १–१०–६८

अनुक्रमणिका

तुलसीदासजी के उपास्य का स्वरूप, माया महिमा, राम की दिव्यता, नाम-माहात्म्य, राम का करुणामूलक स्वभाव, विनय-भावना, तुलसी का जीवन विषयक दृष्टिकोण। महात्मा सूरदास एव तन्मय वैष्णव कवि और गायक के साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष, सगुण लीलागान क्यो? श्रीकृष्ण का परब्रह्म स्वरूप सूर की दृष्टि मे, अद्भुत् विराट स्वरूप की विचित्र आरती, सूर की वैराग्य-साधना, सूर का सारगर्भित आत्मनिवेदन, श्रीकृष्ण परमात्मा तो प्रेम के वश अवश्य हो जाते हैं। सूर की आत्मग्लानि एव विनय भावना, गुरु-महिमा, जीवन विषयक दृष्टिकोण। मेडतणी-मतवाली प्रेम-साधिका एव कृष्ण की अनन्य एव निस्सीम, आराधिका-मीरा के काव्य का आध्यात्मिक पक्ष। मीरा की भक्ति भावना, मीरा की दार्शनिकता,मीरा की भागवती भगवद्-भक्ति मीरा का श्रीकृष्ण के साथ स्वप्न मे परिणय, मीरा की अपने उपास्य मे अनुरक्ति, मीरा की कृतज्ञता,मीरा का अनोखा और अद्वितीय आत्म-समर्पण, सगुणोपासना, मीरा की निर्गुणोपासना। वियोगिनी मीरा का अनुनय। मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य के आध्यात्मिक पक्ष की तुलना का सार।

मराठी वैष्णव कवियो का साहित्यिक पक्ष—

ज्ञानेश्वरी का अध्ययन कैसे किया जाय? ज्ञानेश्वर द्वारा अपने ग्रन्थ का नामकरण, ज्ञानेश्वर की करामात, ज्ञानेश्वरी अध्ययन की पात्रता व अधिकार, ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रयोजन, ज्ञानेश्वर का प्रसाद-दान,ज्ञानेश्वर की वर्णन-शैली और विशेषता, मानवता की समतापूर्ण दृष्टि। कवि के लिए पोषक साधन और रसत्व की स्फूर्ति, मराठी का गौरव। सहज कवित्व का प्रभाव, काव्य स्फूर्ति, रमणीय कला विलास मे से सम्प्राप्त होने वाला कला-बोध। ज्ञानेश्वर द्वारा शब्दो का व्यापकत्व और रस विदग्धता का प्रदर्शन, नादमधुर शब्द, नाद-चित्रो से युक्त कल्पना-चित्र, रस-संवेदना, गध-संवेदना, उपमाओ का प्रयोग। आध्यात्मिक विचारो का साहित्यिक शैली मे निरूपण। नामदेव के अभगो का साहित्यिक पक्ष। नामदेवकृत वाललीला वर्णन, कृष्णजन्म, पूतना-वध। नामदेव कृत कुलाचार के कुछ सास्कृतिक प्रसङ्ग, वात्सल्य और अद्भुत् रस का वर्णन, भक्ति की सरसता का साहित्यिक स्वरूप, गोपियो की विरहव्यथा। ज्ञानदेव 'आदि' प्रकरण। ज्ञानी और भावुक भक्तो की सहयात्रा, भगवान् का भक्त के लिए विरह। 'समाधि' प्रकरण। ज्ञानदेव परिवार - मूल्यांकन। नामदेव की अलङ्कार - योजना। नामदेव का काव्य - सकल्प। भिन्न भाषा - भाषी ग्वालिने, नामदेव की आत्म-

का वर्णन, तुलसी की अनुपमेय और सर्वोपरि साहित्यिकता का अनुशीलन, पुष्प-वाटिका-प्रसङ्ग रस परिपोषयुक्त तथा कलात्मक और सास्कृतिक सूझ है। तुलसी के काव्य विषयक दृष्टिकोण का स्वरूप, राम ही काव्य - विषय। भरत का चरित्र उदात्त क्यों? मित्र-वर्णन, तुलसीदासजी के कुछ अन्य साहित्यिक सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाले उदाहरण, राम विरह मे दुखी कौशल्या, जनकपुरी का कलात्मक वर्णन, राम-लक्ष्मण और सीता के वन-गमन की करुण अभिव्यजना, लङ्का दहन का एक भीषण परिणाम, युद्ध क्षेत्र मे राम का व्यक्तित्व। तुलसी की सूक्तियाँ। सूरदास का साहित्यिक पक्ष। सूरदास की साहित्यिकता एवम् कलात्मकता का विवेचन। अद्‌भुत-रसपूर्ण-बालकृष्ण के कौतुकपूर्ण कार्य। श्रीकृष्ण की शोभा का हृदयग्राही और प्रभाव जन्य स्वरूप वर्णन। यशोदा का दिव्य-बालस्वरूप पर न्यौछावर होना। कृष्ण के अङ्गो के सौन्दर्य का प्रभाव, दावाग्नि की भयंकरता का भयानक रस मे सजीव वर्णन। नेत्र-व्यापार, प्रणय-कोप तथा मीठी झिडकी का मधुर संयोग। बालकों के स्वभाव में 'स्पर्धा' और 'क्रोध' का भाव-वर्णन तथा स्वाभाविक प्रदर्शन, मुरली-वर्णन, राम की सरसता का रहस्य, रासलीला की अगम्यता। सूर-साहित्य की विरह-भावना का प्रदर्शन, सगुण की प्रतिष्ठा, श्रीकृष्ण के द्वारा नद की भक्ति-भावना की परीक्षा। विरह की मार्मिकता। सूर की निगूढ काव्य-साधना। विरहिणी-राधा का चित्रण। मीरा का साहित्यिक पक्ष। मीरा की काव्य-साधना का मर्म। मीरा के नारीत्व की महत्ता। मीरा के पदो में आकर्षण-तत्व। मीरा के गीति-काव्य की सरसता। मीरा की प्रामाणिकता। मीरा के कृष्ण की निठुराई। भगवान् श्रीकृष्ण का होरी खेलना। मीरा की विरहजन्य दारुण स्थिति का चित्रण, 'सदा आँखों के सामने श्रीकृष्ण रहे' यह अभ्यर्थना। मीरा अतुलनीय। हिन्दी के वैष्णव कवियो के साहित्य-पक्ष की मराठी के वैष्णव कवियों के साहित्य-पक्ष से तुलनीयता।

तुलनात्मक निष्कर्ष—

आध्यात्मिक विचार—तुलनात्मक निष्कर्ष। जीव, जगत्, माया और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का मराठी और हिन्दी कवियो का निष्कर्ष। ज्ञानेश्वर, नामदेव एकनाथ, तुकाराम, समर्थ रामदास, कबीर, तुलसीदास, सूरदास, मीरा। वैष्णव भक्ति के विविध पंथ और पद्धतियो का कारण तथा उद्देश्य तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप मे। भक्ति का प्रयोजन। सद्‌गुरु माहात्म्य। मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियो की भक्ति-पद्धति एवम् साधना-प्रणालियाँ और उनका महत्व,

तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप मे। भक्ति और भक्तो के प्रकार। भक्ति की जीवन में आवश्यकता। काव्य का प्रयोजन। काव्य रूपो और शैलियो की तुलना का निष्कर्ष—महाकाव्य, खण्डकाव्य, स्फुट मुक्तक और गीतिकाव्य के रूप मे। रसविधान, अलङ्कार विधान और भाषा के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण। छन्द-विधान, ओवी-छन्द का विवेचन, अभङ्ग का विवेचन। उपसहार, मराठी और हिन्दी वैष्णव-साहित्य का प्रदेय—सामाजिक, सास्कृतिक एवम् राष्ट्रीय रूप मे।

परिशिष्ट

हिन्दी साहित्य के प्रमुख वैष्णव संत-कवि

महात्मा कबीर

भक्त सूरदास

गोस्वामी तुलसीदास

भक्त मीराबाई

मराठी साहित्य के प्रमुख वैष्णव संत-कवि

ज्ञानेश्वर महाराज

भक्त नामदेव
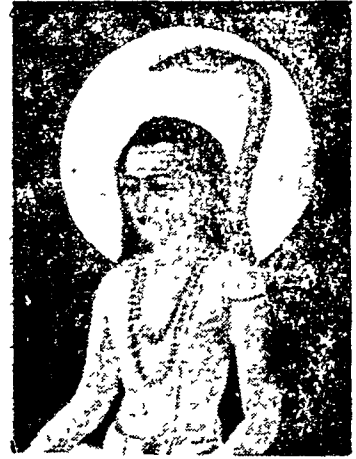
एकनाथ महाराज

संत तुकाराम

समर्थ रामदास

प्रथम–अध्याय

वैष्णव धर्म और दर्शन का क्रम-विकास

वैष्णव धर्म, दर्शन तथा विष्णु की उपासना बहुत प्राचीन और व्यापक है। एक सर्वोपरि और सर्वोत्तम आराध्य के रूप मे विष्णु की प्रतिष्ठा कब हुई इसका निर्णय करना बहुत ही कठिन कार्य है। विष्णु-उपासना का विकास कैसे हुआ इसका विवेचन यहाँ पर करना अत्यावश्यक है। तुकाराम जैसे महान् संत तो इस ससार को 'विष्णुमय जग वैष्णवाचा धर्म' अर्थात् 'समग्र ससार ही विष्णुमय है ऐसा दृढ़ विश्वास के साथ मानते है। यही वैष्णवो का धर्म है।' यों तो वैष्णव धर्म किसी भी युग मे तथा अपने किसी भी स्वरूप मे सकुचित नही रहा, इसे प्रमाणों के आधार पर सिद्ध भी किया जा सकता है।

'विष्णु' शब्द की भाषा शास्त्रीय व्याख्या :

'विष्णु' शब्द की भाषा-शास्त्रीय व्याख्या करने के पश्चात् हम विष्णु के स्वरूप की कुछ कल्पना निश्चित कर सकने की परिस्थिति मे पहुँच सकेगे। 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध मे निम्नलिखित मत है :—

१. 'विष्णु' 'विष्' धातु से बना हुआ धातुसाधित रूप है। सामान्य रूप से इसका अर्थ सततोद्योगी, क्रियाशील एवम् व्यवसायी रहना है। श्राऊरकेगी, मॅकडॉनल जैसे विद्वान् इसी अर्थ को ग्राह्य मानते है। वे विष्णु को सूर्य का पर्याय भी मानते है क्योकि सूर्य भी क्रियाशील और शीघ्रता सूचक व्यापार बतलाने वाला है।

२. 'विष्णु' 'विश्' धातु से बना हुआ शब्द है जिसका अर्थ है समाना, फैलना, अथवा प्रवेश करना। पौराणिक साहित्य भी इसी मत की पुष्टि करने वाला है। जगत् की निर्मिति करके विष्णु उसमे प्रविष्ट हो गये, और उन्होने सारा ससार व्याप लिया। यही व्यपनशीलता 'विष्णु' शब्द से प्रतीत होती है।

३ ब्लूम-फील्ड 'विष्णु' शब्द के दो हिस्से मानते है। प्रथम 'वि' यह उपसर्ग है तथा 'स्नु' अर्थात् सानु (पृष्ठभाग) यह शब्द है। दोनो मिलकर वि+सानु=विष्णु शब्द बना है। विष्णु ने इस विश्व के पृष्ठ भाग का पदन्यास किया। अत पृष्ठ भागो से आक्रमण करने वाला विष्णु है। हम इस मत को

इसलिए ग्राह्य नही मानते क्योंकि यह अर्थ किसी तरह खींच तानकर लगाया गया है ।

४, ग्युटर्ट और ही दूसरे प्रकार से विष्णु शब्द का विग्रह करते है। उनके मतानुसार 'वि' का अर्थ एक को दूसरे से पृथक् या अलग करना है । तब इसका रूप वि+स्नु (सानु)='विष्णु' होगा । इससे तीन अर्थ निकलते है— (१) जिसके सानु याने पृष्ठ भाग पृथक हो गये है ऐसा व्यक्तित्व । (२) सानु-विहीन व्यक्तित्व तथा (३) जिसके लिये सानु याने विश्व के सानु पृथक हो गये है ऐसा व्यक्तित्व । यह व्युत्पत्ति भी हमे समाधानकारक नही जँचती ।

५. 'सुपर्णो अग सवितुर्गरुत्मान् पूर्वोजातः ।' इस प्रकार का उल्लेख ऋग्वेद के दशम मडल मे आया है । ब्लॉक आदि वैदिक 'सुपर्ण' का तात्पर्य सूर्य-पक्षी से सबद्ध बतलाते है ।

६. योहॉन्सन तथा शार्पेन्तिए का यह मत है कि विष्णु पक्षी-स्वरूपी सूर्य देवता है । ऋग्वेद मे सोमापहरण की एक कथा आती है । इस कथा मे उल्लिखित पक्षी विष्णु ही है ऐसा इन दोनो विद्वानो का मत है । अनुमानतः पुराणो मे वर्णित गरुड़ तथा वेदो का सुपर्ण एक ही हो सकते हैं । प्राचीन देवता शास्त्र मे वाहन और वाह्य का सारूप्य प्रसिद्ध है । विष्णु की 'श्रीवत्स' और 'कौस्तुभ', तथा 'नाभिकमल' और चतुर्भुजाएँ आदि विशेषताएँ उनके पक्षीस्वरूप की ओर ही इङ्गित करती हैं । सामान्य रूप से ऋग्वेद मे विष्णु को पक्षीस्वरूपी सूर्य देवता ही माना गया है । विश्व मे तीन विभागो मे से होने वाले आरोहण और अवतरण का गौरव विष्णु के तीन पदन्यासो मे चित्रित किया गया है ।

ऋग्वेद के दशम मण्डल मे निम्नलिखित रूप से विष्णु का उल्लेख आया है ।[1]

'विष्णुरित्था परममस्य विद्वाज्जातो बृहन्नाभि पाति तृतीयम् ।
आसायदस्य पयो आक्रत स्वं सचेतसो अभ्यर्चन्त्यत्र ॥'

७. सस्कृत के प्रगाढ विद्वान डा० रा० ना० दाडेकर के मत से 'विष्णु' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है—'वि' धातु मे 'स्नु' प्रत्यय लगाकर 'विष्णु' शब्द बना है । सस्कृत के अन्य शब्द जैसे—'जिष्णु' अलङ्करिष्णु, और क्षेप्णु ये शब्द भी इसी प्रकार बने है । 'वि' यह मूल धातु युरो भारतीय uei (वेइ-उडना इस धातु से सबद्ध है) इसी धातु से सबद्ध युरोभारतीय शब्द आवेस्ता का vis (विश) है, तथा लॅटिन का auis (अविस) है तो उच्च जर्मन भाषा का wis और नूतन

१. ऋग्वेद दशम मण्डल ।

जर्मन का weih यह शब्द है। अतः यह निष्कर्ष निकला कि 'विष्णु' शब्द का मूल अर्थ उड़नेवाला हो सकता है। डा० रा० ना० दाडेकरजी का कथन है कि वैदिक उपासना शास्त्र प्रगतिशील रहा है। वैदिक देवता मण्डल मे प्रथम विष्णु को उतना महत्व नही प्राप्त हुआ था जितना आगे चलकर प्राप्त हुआ। इसके पूर्व, सूर्य, इन्द्र, वरुण रुद्र आदि देवता उपास्य रूप मे प्रमुख थे। इनकी महत्ता को कम करते हुए विष्णु ने अपना महत्त्व प्रस्थापित किया। वेदो के अध्ययन से यह बात प्रतीत होती है कि विष्णु इन्द्र के सखा के रूप मे हमारे सामने आते है। ब्राह्मण वाङ् मय मे विष्णु यज्ञ के समान हैं, तथा यज्ञो के दोष निवारणार्थ उनकी प्रार्थना की गयी है। विष्णु का मूल स्वरूप क्या था इसका अनुमान लगाना बडा कठिन कार्य है। उनके व्यक्तित्व मे कुछ विशेषताएँ जरूर ऐसी रही होगी जिनको लेकर वेदोत्तर उपासनाशास्त्र मे 'विष्णु' सर्वोपरि गौरव प्राप्त कर सके। ऐसा अनुमान किया जाता है कि आर्यो और अनार्यो के पारस्परिक सम्बन्धो ने अपने-अपने उपास्यो का भी समन्वय कर दिया हो। डा० दाडेकरजी का यह मत है कि वेदपूर्वकालीन भारतीय आदिवासियो के उपास्य 'विष्णु' थे। इन आदिवासियो के साथ आर्यो का संस्कृतिसगम हुआ। ऋग्वेद काल में अपने आपको अधिक प्रगतिशील मानने वालो मे से एक आर्य समूह के लोग विष्णु को उतना प्राधान्य नही देते थे जितना कि अन्य आर्य समूह वाले, जिनके कि ये परम उपास्य थे। अत. ऐसा कहा जा सकता है कि विष्णु के स्वरूप मे ही कुछ ऐसी विशेषताएँ रही होगी जो वैदिक ऋषियो को अच्छी न लगी हो। परिणामत अधिकृत देवता मडल मे उन्होने आसानी से विष्णु को प्रवेश नही करने दिया। उन्होने विष्णु के जिन अंगो को छिपाया उनमे से महत्त्व का अंश बतलाने वाला शब्द 'शिपिविष्ट' है।[1] 'शिपिविष्ट' शब्द से जिस स्वरूप का बोध होता है उसे वैदिक ऋषियो ने स्पष्ट नही किया बल्कि और अधिक जटिल बनाकर प्रस्तुत किया और उसका उल्लेख भी अत्यन्त गौण रूप मे ही करना उचित समझा।

शिपिविष्ट शब्द की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार मिलती है :

१ पशव. शिपिरिति श्रुव्यतरात् शिपि शब्द पशुवाची।

—तैत्तिरीय सहिता।

२. शिपयो रश्मयः तैः आविष्टः। —ताण्ड्य महा ब्रा० भाष्य।

३. शिपिविष्टो रिति विष्णोर्न्दै नामनी भवत,। कुत्सितार्थीयम् पूर्व भवति इति औपमन्यव.— निरुक्त।

---

१. अभिनव दैवत शास्त्र–डा० रा० ना० दांडेकर।

४. ओल्डेनबर्ग के मत से 'शिपिविष्ट' का अर्थ होता है गजी खोपड़ी वाला अथवा जिसे त्वा-रोग हो गया है ऐसा व्यक्ति।

५. शार्पेन्तिए बतलाते हैं कि 'शिपिविष्ट' अर्थात् बहुत से केशो वाला (Hairy Dwarf) यत् क्षोदिष्टम् तत् शिपिविष्टम्। यह वामनावतार का द्योतक है।

६. शेप=पुरुषलिंग अतः शिपि शब्द का लिंग वाचक अर्थ हम कैसे भूल सकते है ? इसी शब्द को 'विप्' धातु से बना हुआ एक रूप जोडकर शिपिविष्ट शब्द बना लिया है। शिपिविष्ट=बढने वाला क्रियाशील, छोटा बडा होने वाला पुरुष-लिंग। अत. वैदिक कवियो ने कुत्सितार्थीयम्-पूर्वभवति' की दृष्टि से औपमन्य के द्वारा अपना मत प्रतिपादित किया होगा। अनुमान किया जा सकता है कि विष्णु का प्राचीन लिंग-सम्बद्ध-स्वरूप 'शिपिविष्ट' शब्द से स्पष्ट रूपेण सूचित हो जाता है। वैदिक सूक्तो मे तथा याग विधियो मे विष्णु विषयक कुछ प्रासंगिक और कुछ गौण उल्लेख आये है जिन से इस कथन को बल मिलता है। जैसे –

१. 'यज्ञो देवेभ्या नि नायत् विष्णु रूप कृत्वा स पृथिवि प्राविशत्।'[१]

पृथ्वी माता के गर्भ मे विष्णु का प्रवेश किसी सुफलता (मद्यप्रदता) विधि का प्रतीक रूप से किया हुआ वर्णन हो सकता है। (Fertility Rite)

२. हिरण्यगर्भ और नारायण की कल्पनाओ से भी विष्णु का सम्बन्ध अनेक बार जोडा गया है।

३. अथर्व-वेद मे 'सिनीवाली' देवता स्त्रीलिंग क्रिया-संरक्षक देवता के रूप मे प्रसिद्ध है। ऊपर कथित विष्णु का मूल स्वरूप इसी का संकेत करता है।

४. शाखायन सूत्र मे गर्भ विधि का वर्णन किया गया है,[२]—जहाँ पर 'विष्णु योनिं कल्पयतु' इस मंत्र का विनियोग है इसी तरह विष्णु को गर्भ का संरक्षक और सुप्रजाजननसक्षम बतलाया गया है। ऋग्वेद मे विष्णु के लिए दो शब्द प्रयुक्त हुए है : (१) निशिक्तपा=शुक्रकारक्षण करने वाला. (२) सुमज्जानि=सुलभ जन्म कराने वाला। इससे भी उपरोक्त विवेचन की पुष्टि हो जाती है।

५ ऋग्वेद के दशम मडल मे 'वृषाकपि' नामका एक सूक्त मिलता है इसमे इन्द्र की एक कथा आती है जिसमे हारेथ के इन्द्र पर एक हट्टे-कट्टे बन्दर को साधन रूप मे अपनाकर उपचार किए जाने का वर्णन है। इस उपचार से इन्द्र पूर्ववत् वीर्यवान् बन जाता है। इस कथा का 'वृषाकपि' शब्द भी विष्णु का ही

१. तैत्तिरीय संहिता।
२. शांखायन गृह्यसूत्र।

वाची है। विष्णुसहस्रनाम मे 'वृषाकपि' शब्द के मिलने से इस कथन की पुष्टि हो जाती है।[1]

इस प्रकार से अवव्यत्व, सृजनशीलत्व तथा सुलभ प्रसूतत्व की कल्पनाओं से विष्णु का निकट सम्बन्ध प्रतीत होता है। यो तो भगवान् शकर के बारे मे भी ये ही बाते मिलती है। आज भी शिवलिंग पूजा जाता है अत. शिव और विष्णु में प्राचीन कौन है यह भी निर्णय करना कठिन है। आदिवासियो का उपास्य कौन था इसका भी निर्णय नही कर सकते। रुद्र के लिए भी शिपिविष्ट' शब्द आया है जैसे—रुद्रस्तुति के पाँचवे अनुवाक मे यह उल्लेख है—

'नमो गिरीशायच शिपिविष्टायच।'

अतः 'शिपिविष्ट' शब्द केवल विष्णु के लिए ही है और रुद्र के लिए नही ऐसा भी नही कह सकते।[2]

यह स्पष्ट है कि विष्णु के सभी अवतार उत्तर में हुए हैं और शकर के सभी अवतार दक्षिण मे। उदाहरणार्थ—शकराचार्य, और हनुमानजी को शकर का अवतार माना गया है। दक्षिण का रावण भी शकरोपासक था। लकाधिपति, कैलास पर्वत के शकर का भक्त कैसे हुआ ? अतः हमे इस पचड़े मे. नही पड़ना है आदिवासियो का उपास्य कौन था। हमे तो यह देखना है कि विष्णुविषयक उल्लेख कहाँ-कहाँ और कैसे २ मिलते गये और कौन सी विशेषताएँ विष्णु के व्यक्तित्व मे मिलती रही है। यो तो ऋग्वेद मे ही एक अलग सूक्त 'विष्णु सूक्त' नाम से मिलता है। वामनीय सूक्त मे 'विष्णो-अश्वस्य रेत.' के रूप मे विष्णु का उल्लेख आया है। वामनीय सूक्त।

वदिक युग मे विष्णु—

ऋग्वेद मे विष्णु को विशेष उत्कर्ष के साथ तेजयुक्त बतलाया गया है। विष्णु की चार विशेषताएँ ये है—(१) दीर्घ पदन्यास अथवा शीघ्रगतित्व—(२) नियमित्त मार्गक्रमण—(३) यौगपदिक प्राचीनत्व तथा—(४ अभिनवत्व। भगवान सूर्य के बारे मे भी ये विशेषताएँ प्रसिद्ध है। विष्णु की प्रतिष्ठा देखिये। भगवान विष्णु और सूर्य एक दूसरे के स्वरूप भी माने जाते है।[3]

---

१. विष्णु सहस्रनाम।

२. रुद्रस्तुति अनुवाक।

३. 'यदिदं किंच तद् विक्रमते विष्णुः। त्रिधा निधतेपदं त्रेधा भवाय।
पृथिव्यां अन्तरिक्षे दिवि इति शाकपूणिः।
समारोहणे विष्णुपदे मध्य शिरसि इति और्णवाभः।"

वेदोत्तर काल मे विष्णु का सुदर्शनचक्र सूर्य के चक्र का प्रतीक, विष्णु के हाथ के कमल को सूर्य का जीवनदायी प्रकाश, तथा विष्णु का पीतावर सूर्य के तेजस्वी किरणो का द्योतक समझा गया है। व्यपनशील होने से भी विष्णु सूर्य के प्रतीक है। सूर्य की नानाक्रियाओ तथा दशाओ की विभिन्नता से ऋग्वेद के अनेक देवताओं की कल्पना की जाती है। सूर्य प्रात.काल प्राचीन के क्षितिज से उठकर दोपहर मे ठीक आकाश के मध्य मे आ विराजता है तथा सायकाल मे पश्चिम दिशा मे अस्त हो जाता है। इसे सूर्य का उद्योग-सम्पन्न एव क्रियाशील रूप कहते हैं जिसकी कल्पना विष्णु के रूप से ली गयी। उसके स्वरूप की तुलना पर्वत पर रहने वाले-भ्रमण करने वाले भयानक पशु (सिंह) से की गई है। (मृगो न भीम : कुचरोगिरि।)

—ऋग्वेद १–१५४–२

विष्णु का महत्वपूर्ण कार्य तीन पदों मे इस विश्व को व्याप लेना है। (एकोविम मे त्रिभिरित् पदेभि) इन तीन डगो या क्रमो के कारण विष्णु को 'उरुक्रम' या 'उरुगाय' कहते है। विष्णु के वारे मे विद्वानो मे अनेक मत प्रचलित हैं। 'योहॉनसन' विष्णु को पितरो की आत्मा मानते है। 'घोप' विष्णु को विद्युत देवता समझते है तो 'याकोवी' साहव विष्णु को अत्यन्त पुरातन कालो से प्रचलित अमूर्ततात्विक कल्पना की द्योतक शक्ति समझते हैं। 'रूडॉल्फ आटो' के कथनानुसार विष्णु अनेक है। श्री दास महोदय विष्णु को इजिप्शियन देवता 'वेस' के समकक्ष मानते हैं। मुख्यत सौर अश विष्णु के व्यक्तित्व मे प्रधान है। उसका परमपद आकाश के उच्च स्थान मे है। 'और्णवाभ' कहते है कि विष्णु अपने पदन्यासो से अखिल विश्व का आक्रमण करते हैं। यह पदन्यास पृथ्वी से प्रारम्भ होकर उसका अन्त उच्चतम आकाश मे होता है। निरुक्त १२–१९ मे किए गये 'यास्क' के उल्लेखानुसार आचार्य और्णवाभ के मत मे प्रात, मध्यान्ह तथा सायकाल मे सूर्य के द्वारा अङ्गीकृत आकाश के तीन स्थान-विन्दुओ का निर्देश है। अन्य आचार्य शाकपूणि के मत मे त्रिक्रमणो से पृथ्वी अतरिक्ष तथा आकाश इन तीनो लोको के व्यापने तथा अतिक्रमण करने का सकेत है। इन दोनो मतो मे से द्वितीय की पुष्टि ऋग्वेदीय मत्रो से स्वत. हो जाती है जिनमे तृतीय पद की सत्ता ऊर्ध्वतम लोक मे मानी गयी है। विष्णु के परमपद को उच्च लोक मे मधु का उत्स या झरना बतलाया गया है। वहाँ पर भूरिश्रृङ्गा-नानासीगोवाली चचल गायो का अस्तित्व माना गया है।[१] ये गाये सूर्य की किरणे ही है जो आकाश के

१. यत्र गावो भूरिश्रृङ्गा अंयासः—ऋ० १–१५४–६।

मध्य में नाना दिशाओं में प्रसरण करती है। विष्णु की स्तुति में ऋग्वेद का यह मत्र अत्यत प्रसिद्ध और उनके स्वरूप का परिचायक है :—

इदं विष्णुर्विचक्रमे त्रेधानिदधे पदम्।
समूलमस्य पांसुरे॥ ऋ० १२२–७।

विष्णु की यह विशेषता है कि वे अपने मूल स्वरूप से भिन्न स्वरूप धारण कर सकते हैं, तथा संकटग्रस्तो की सहायता के लिए तीन पदन्यासों जैसा पराक्रम भी करते है। ऋग्वेद की इन कल्पनाओ के पीछे विष्णु के अवतार विपयक वीज निहित है। इन्द्र प्रधान ऋग्वेदीय देवतामण्डल मे इन्द्र और विष्णु का सवध एक सहायक के रूप मे हुआ और आगे चलकर वे इन्द्र सखा से उपेन्द्र वन गये।

विष्णु के उन्नयन के चित्र वेदोत्तारकालीन ब्राह्मणवाङ्मय में भी मिलते है। शतपथ ब्राह्मण मे विष्णु सर्वश्रेष्ठ अराध्य है, यह वतलाया गया है, तो ऐतरेय ब्राह्मण मे—'अग्निर्वै देवनाम् अवमः विष्णु परमः तदन्तरेण सर्वा देवताः' ऐसा उल्लेख है।[1] भारतीय सस्कृति के विकासक्रम मे आगे चलकर यही विष्णु, गोपालकृष्ण का रूप धारण कर लेते है। विष्णु से संवन्धित ऋचाये, यो ऋग्वेद मे प्रायः कम ही है। सौ से अधिक वार उनका नामोल्लेख आया है। विष्णु की प्रशसा में लिखी गयी प्रार्थनाये पूर्ण रूप से केवल पाँच हैं। वैदिक देवता-मण्डल मे विष्णु को प्रधान स्थान, प्रथम प्राप्त नही था पर अचानक आगे चलकर हिन्दु-उपासना-शास्त्र के प्रधान और सर्वोपरि उपास्य के रूप में विष्णु प्रतिष्ठित हो गये। राय चौधुरी के मतानुसार विष्णु को वैदिककाल के आरम्भिक युग मे भी महत्त्व का स्थान प्राप्त था पर डा० दाडेकर इसे नही मानते।

धार्मिक दृष्टि से वैष्णव धर्म ने पुराने वर्णाश्रम धर्म में आस्था और श्रद्धा रखी है, किन्तु उपासना की दृष्टि से भक्ति के क्षेत्र में सभी वर्णों को तथा स्त्री शूद्रादि को समान अधिकार दे दिया है। वैष्णव धर्म हृदय प्रधान प्रवृत्तियो पर आधारित होने से मानव हृदय की उदारता और विशालता को उसमे सन्निहित होने का सदा सुअवसर मिला है। भारतवर्ष का इतिहास इस वात का साक्षी है कि वाहर से आने वाली अनेक जातियाँ और धर्मो को उसने आत्मसात् कर लिया। अनेक विदेशी जातियो को भी वैष्णव धर्म मे प्रवेश और प्रश्रय मिला है। हूण, यवन, आंध्र, आभीर, पुलिंद, और ग्रीक जैसी जातियो को भगवान् विष्णु की उपासना का आश्रय लेने से आदरपूर्वक उनका उल्लेख भागवत में किया

तरेय ब्राह्मण १–१।

गया।[1] सच है समाना हृदयानि वः' इस भाव से तथा भगवान का प्रेम ही ऐसा है जो किसी को भी प्रेम करने से वंचित नही रख सकता इसलिये ये भी सब वैष्णव धर्म मे दीक्षित थे।

विदेशियो के वैष्णवानुरागी होने का प्रमाण 'बेसनगर' के शिलालेख में मिलता है जिसमे परम भागवत, 'हे लियोडोरस' की चर्चा आती है। इस दूत को पश्चिमोत्तर प्रदेश के ग्रीक शासक एन० टी० अलकिडास ने विदिशा मण्डल के राजा काशी पुत्र भागभद्र के दरबार मे भेजा था। इस परम भागवत ने विष्णु की पूजा के निमित्त गरुडध्वज स्थापन किया था। वैष्णव धर्म का विकास कई रूपो मे सामने आता है। विष्णु भक्ति का प्रचलन वेदों मे ही निहित था। ब्राह्मण-काल मे विष्णु परमश्रेष्ठ उपास्य के रूप मे मान लिये गये हैं। वैदिक काल विभिन्न शक्तियो की पूजा का काल है। उस समय के लोगों ने जिस शक्ति या तत्त्व को सर्व शक्ति का प्रतीक माना, उसे परब्रह्म के सोपान पर बैठाया। तात्पर्य यह कि उसे परब्रह्म का स्वरूप ही साक्षात् माना। विष्णु के प्रति सान्निध्य लालसा का उल्लेख वैदिक ऋचाओ में यत्रतत्र मिलता है। जैसे—'तवस्य प्रिय मभि पाथो अस्याम।' विष्णुलोक के प्रति कामना है।

'महस्ते विष्णो सुमतिं भजामहे।' हे विष्णु आप महान् हे। आपकी सुमति पूर्वक हम भक्ति करते है और कृपा करे ऐसी प्रार्थना करते हैं। 'अवतार-वाद के रूप मे स्पष्ट उल्लेख वेदो मे भले ही न मिलें किन्तु उसके बीज अवश्य वहाँ हमे उपलब्ध हो जाते है। जिन बीजो के आधार पर अवतार की कल्पना पुराणों मे विकसित हुई उसमे वामनावतार मुख्य है।[2]

शतपथ ब्राह्मण मे विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध करने के लिए यज्ञ किये जाने का उल्लेख मिलता है। 'मैत्रेयी उपनिषद' मे विष्णु को जगत का पालक, अन्न का स्वरूप और 'कठोपनिषद' मे आत्मा की ऊर्ध्वगामी गति को—विष्णु को परमधाम की ओर जाने वाला पथिक कहा गया है। सूर्य और विष्णु के संबंध का हम पहले ही

---

१. 'किरात हूणांध्र–पुलिंद पुल्कसा आभीर–लङ्का यवनाश्चशादयः।
यो न्यै च या या यदुपाश्रया श्रयाः शुद्धन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥'
—भागवत स्कंध २ अ. ४ श्लोक–१८।

२. महाकवि सूरदास पृ० २–३, पं० नंददुलारे वाजपेयी और
वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—कृष्णदत्त भारद्वाज एम० ए० आचार्य शास्त्री
'कल्याण'—वर्ष १६, अङ्क ४।

विवेचन कर चुके है। जीवन का परम ध्येय विष्णु की प्राप्ति होने से प्रमुख उपास्य के रूप मे विष्णु की स्थापना अनिवार्य ही थी। प्रथम इन्द्र के सहायक, वाद मे लोक पालक और फिर भगवान के रूप मे विष्णु का विकास हम रख सकते हैं। वैष्णव धर्म के इस उपास्य का एक नाम 'नारायण' भी वैदिक साहित्य के अन्तर्गत अनेक स्थलो मे आता है। ऋग्वेद मे एक स्थल पर इस प्रकार वतलाया गया है कि आकाश, पृथ्वी और देवताओ के भी पहले वह कौन सी वस्तु सर्व प्रथम गर्भाड रूप में जल पर ठहरी थी जिसमे सव देवता विद्यमान थे ? कह सकते है कि सव से प्रथम जल था जिस पर ब्रह्माण्ड ठहरा हुआ था। यही आगे चलकर जगत सृष्टा या ब्रह्मदेव वना। नारायण के नाभिकमल पर यह ब्रह्माण्ड तैरता हुआ मिलता है। विष्णु और नारायण ब्रह्माण्ड युग मे एक ही शक्ति के दो नाम माने गये। नर के अयन या अन्तिम लक्ष्य नारायण है। इसीलिए वे उनके आधार-स्वरूप भी है। नारायण नाम के एक ऋषि भी थे जिनका लिखा पुरुषसूक्त प्रसिद्ध है। विष्णु के अनेक नाम जैसे हरि, केशव, वासुदेव, वृष्णीपति, वृषण, ऋषभ, वैकुठ और वृहत्च्छ्रवस आदि मिलते है। ये नाम पहले इन्द्र के लिये प्रयुक्त होते थे। धीरे-धीरे वे विष्णु के नाम अर्थात् पर्याय वन गए। चक्रपाणि तथा कृष्ण जैसे शव्द वैदिक देवता-चरित्र वाले वर्णनो से लिये गये जान पड़ते है?[१]

वैदिक युग मे विष्णु का यज्ञ से सम्वन्ध था। ब्राह्मणकाल मे नारायण के रूप मे सृष्टि-विकास से वे सम्वन्धित हो गये। इस काल के वाद सात्वत धर्म का प्रचार मिलता है। प्रथम विष्णु और नारायण दोनो देवता भिन्न थे। फिर भी दोनो नामों का प्रयोग एक ही परमात्मा के लिए किया जाता था। इनका एकीकरण तैत्तिरीय, आरण्यक की रचना के समय तक नही हुआ था।[२] अभी तक किसी दयालु भगवान् की स्थापना का अधिष्ठान नही हो पाया था। वैष्णव-धर्म का विकसित रूप सात्त्वत या भागवत धर्म मे ही मिलता है। सात्वतो के आराध्य वासुदेव–कृष्ण उनके धर्म के मूल प्रवर्तक भी वने।

'नाना घाट' की गुफा मे एक शिलालेख मिलता है जिसमे संकर्पण और वासुदेव का नाम द्वद्व समास के रूप मे आया है।[३] वासुदेव और कृष्ण, नारायण और विष्णु की भाँति पृथक-पृथक रूप मे प्रयुक्त होते थे किन्तु आगे चलकर एक दूसरे के पर्याय वन गए। अन्त मे वासुदेव–कृष्ण भी विष्णु–नारायण से मिलकर

---

१. वैष्णव धर्म–पृ० १६, आ. परशुराम चतुर्वेदी।

२. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर. जी. भांडारकर, खंड ४ पृ० ४–५।

३. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर. जी. भांडारकर, खंड ४ पृ० ४–५।

अभिन्न हो गये। 'वासुदेव' का नाम वैदिक साहित्य मे किसी सहिता या प्राचीन उपनिषद मे नही मिलता है। 'तैत्तिरीय आरण्यक' के दसवे प्रपाठक मे कहा गया है—'नारायणाय विद्महे, वासुदेवाय धीमहि तन्नो विष्णु. प्रचोदयात्।' डा० राजेन्द्रलाल मित्र का कहना है कि इस आरण्यक की रचना बहुत पीछे की है। इसमे भी यह उल्लेख परिशिष्ट के रूप मे आया है। डा० कीथ आरण्यक का समय ईसा के पूर्व तीसरी शताब्दी मानते है। इसलिए कम से कम उस काल तक वासुदेव तथा विष्णु–नारायण की एकता सिद्ध हो जाती है। महाभारत मे स्वय भगवान् 'वासुदेव' शब्द का अर्थ बतलाते हैं—'मैं वासुदेव इसलिए हूँ कि मै सभी प्राणियो को अपनी माया वा अलौकिक ज्योति द्वारा आच्छादित किये रहता हूँ, तथा सूर्य के रूप मे रहकर अपनी किरणो से सारे विश्व को ढँक लेता हूँ और सभी प्राणियो का अधिवास होने के कारण भी मेरा नाम वासुदेव है।' 'वासनाद् वासुदेवस्य वासित भुवनत्रयम्।' अर्थात् वासुदेव मानवी समाज के सामुदायिक वासनाओ के प्रतीक समझे जाते है। ये वासुदेव वसुदेव के पुत्र भी है। एक बनावटी वासुदेव की कथा भी उस मे आती है। यह वस्तुत पौन्ड्रो का राजा था। पतजली और वैष्णव धर्म के पद्मतत्र मे ऐसे दो वासुदेवो की चर्चा की गयी है जिनमे से एक 'तत्र भवत्' और दूसरा क्षत्रिय है। इसी महाभारत की भगवद्गीता मे स्वय श्रीकृष्ण परमात्मा से कहते है—

'वृष्णीना वासुदेवोस्मि।' इससे वासुदेव का वृष्णिकुल से सबध ज्ञात हो जाता है। जातको मे भी वासुदेव मथुरा के पास के एक राजा थे ऐसा उल्लेख आया है। कौटिल्य के अर्थ शास्त्र मे 'वृष्णिसघ' का उल्लेख आता है। बौद्ध ग्रन्थ 'निद्देश' मे वासुदेव–सप्रदाय का उल्लेख है।[1] डा० भाडारकर के अनुसार 'सात्वत' शब्द वृष्णि वशियो का उपनाम था। तथा इन्ही सात्वतो मे वासुदेव, सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध हुए। भीष्म ने वासुदेव की पूजा पर विशेष जोर दिया है।

ऋग्वेद के अष्टम मडल मे 'कृष्ण' नाम के एक वैदिक ऋषि का उल्लेख है जो आंगिरस गोत्री है। 'छान्दोग्य उपनिषद' के कृष्ण घोर–आंगिरस के शिष्य थे। इससे अनुमान किया जा सकता है कि वैदिक कृष्ण और उपनिषद के कृष्ण एक ही गोत्र के होने से दोनो एक ही थे। घोर–आगिरस की शिक्षाओ को कृष्ण ने गीता मे सुरक्षित कर दिया। इसका प्रमाण यह है कि 'छान्दोग्य' और 'गीता' की बहुत सी बाते मिलती हैं। 'छान्दोग्य उपनिषद' मे देवकी–पुत्र कृष्ण का नाम आता है।

---

१. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर आर. जी. भांडारकर, पृ० ११–१२।

यदि कृष्ण आगिरस है तो हम कह सकते है कि कृष्ण नामक ऋषियो की परम्परा ऋग्वेद से छान्दोग्य उपनिषद तक चली आयी है। सात्वतधर्म यादवो का धर्म था। जिस प्रकार वासुदेव–नारायण का एकीकरण हुआ उसी प्रकार से ऋषि कृष्ण भी वासुदेव से मिल गये। श्रीकृष्ण का धर्म भागवत धर्म कहलाता है। कृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति और क्षत्रिय थे। सात्वत उन्हे ब्रह्म मानते थे। महाभारत-काल मे उनको ईश्वर नही माना जाता था। शिशुपाल उन्हे गाली देता था। भीष्म उन्हे सर झुकाते थे। इसी भागवत धर्म का दूसरा नाम एकान्तिक धर्म भी है।

सात्वत धर्म के वासुदेव कृष्ण और कसारि कृष्ण की एकता—

देवकी पुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण की एकता मान लेने पर भी उनके जीवन काल और जीवन चरित्र की ऐतिहासिक बातो का ठीक-ठीक पता लगाना बड़ा कठिन कार्य है। किन्तु कृष्ण और वासुदेव की प्राचीनता जिन बातो से सिद्ध होती है उसके प्रमाण इस प्रकार है—

१. गाथा या जातक टीकाकारो का मत है कि 'कृष्ण' एक गोत्र का नाम है। काशायिन गोत्र प्रचलित हुआ था। यह गोत्र वसिष्ठ और पाराशर गोत्र के अन्तर्गत आता है। ब्राह्मणों का गोत्र होने पर भी यज्ञ के समय क्षत्रिय अपने अनुष्ठानादि और अन्य कर्मादि उस गोत्र में करा सकते थे। 'आश्वलायन सूत्र' के अनुसार यज्ञ मे क्षत्रिय का गोत्र उनके पुरोहितो के गोत्र के अनुसार ही होता है। इस तरह वासुदेव कृष्णायन गोत्र के हो गये। वस्तुत यह गोत्र ब्राह्मणो का ही था। ऊपर बतलाया जा चुका है कि प्राचीन कृष्ण सम्बन्धी समस्त ज्ञान वासुदेव मे निहित था।

२. छान्दोग्य उपनिषद और गीता मे जो समानता मिलती है वह भी हमारी जिज्ञासा को शान्त करने वाला प्रमाण है। हमारी इस धारणा को वह प्रमाण और दृढ कर देता है कि गीता के कृष्ण और घोर आँगिरस कृष्ण एक ही थे। आगिरस कुल मे 'कृष्ण' ऋषियो को कहा जाता था। वासुदेव को जब परम्परा बतायी गयी तो आगिरस ऋषि ने देवकी पुत्र कृष्ण को जो उपदेश दिये वे ही वासुदेव कृष्ण मे मिलते है।

'ईशोपनिषद'[1] के तृतीय प्रपाठक के १६ वे खड के आरम्भ मे ऋषि ने पुरुष या मनुष्य को यज्ञ रूप माना है और आगे चलकर १७ वे खड मे उसके

१. वैष्णवधर्म–पृ० २८–२९, परशुराम चतुर्वेदी और ईशोपनिषद।

जीवन सबन्धी विविध कर्मो की समानता, यज्ञ की दीक्षा उपसद स्तुतिशास्त्र, अभीष्ट एवम् अवभृथ के साथ दिखलाई है। अत मे वे इस पुरुष यज्ञ-विद्या को समझाते हुए, देवकी पुत्र कृष्ण से कहते है कि मनुष्य मात्र को चाहिये कि वह अपने अन्तिम समय मे इन तीन पदो का उच्चारण करे। अर्थात् हे परमात्मन् आप अविनाशी है, आप सदा एकरस रहने वाले है, तथा आप सब के प्राणप्रद एवम् अतिसूक्ष्म है और इस सबन्ध मे 'ऋग्वेद' एवम् 'यजुर्वेद' के दो आवश्यक मत्रो का भी उल्लेख करते है। इस उपदेश को श्रवण कर लेने के कारण कृष्ण की जिज्ञासा पूर्ण हो जाती है। ठीक इसी प्रकार का उपदेश भगवद्गीता मे अध्याय १६, श्लोक १, २ अध्याय ८ श्लोक ५, ८, ९, १०, ११ आदि मे भी है।[1]

यह समानता[2] केवल अकस्मात या सयोगवश ही नही है। इनमे अवश्य तथ्य प्रतीत होता है कि देवकी पुत्र कृष्ण और वासुदेव कृष्ण, ब्राह्मणकाल मे एक ही रहे होगे। और उस महापुरुष ने अपने शिष्य रूप मे ग्रहण किये हुए सिद्धान्तो के आधार पर ही अपने अर्जुन आदि भागवतानुयायियो को वह शिक्षा प्रदान की होगी। स्वय कृष्ण के श्रीमद्-भगवद्गीता के ७ वे अध्याय के १९ वे श्लोक से—'बहूनाम् जन्मनामन्ते ज्ञान वान्मा प्रपद्यते। वासुदेव. सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभ ॥' यहे निष्कर्ष सत्य प्रतीत होता है।

उपलब्ध होने वाले शिला लेखो तथा प्रमाणो के आधार पर कहा जा सकता है कि महाभारत के कृष्ण, युधिष्ठिर आदि आज से करीब-करीब पाँच हजार वर्ष पूर्व वर्तमान थे और वेद उनसे भी पूर्वकाल के है और वेदों की ऋचाएँ उनसे भी पूर्व काल की है। इस मे किसी को सन्देह नही होना चाहिये।[3] भगवान् श्रीकृष्ण ने एवम् वासुदेव श्रीकृष्ण ने जिन-जिन सिद्धान्तो और बातो का उपदेश दिया था जिनको सात्वतो और भागवतो ने अपनाया था, उन सब का मूलरूप भगवद्गीता मे अवश्य सुरक्षित है और दार्शनिक दृष्टि से दो प्रमुख धाराएँ चली जिनको 'साख्य' और 'योग' कहने लगे। इनके दूसरे नाम ज्ञान-योग और कर्मयोग भी थे।

लोकेस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ॥[4]

इससे सिद्ध होता है कि श्रीकृष्ण एक ऐतिहासिक व्यक्ति थे। कस को

---

१. भागवद्गीता, १६–१–२, ८–५–८–९–१० और ११ तथा ७–१९।
२. वैष्णव धर्म–परशुराम चतुर्वेदी।
३. पातन्जल योग दर्शन–संपादक—डा० भगीरथ मिश्र, हरिकृष्ण अवस्थी, बृजकिशोर मिश्र—पृ० १।
४. भगवद्गीता–अध्याय ३, श्लोक ३।

मारकर महाभारत के युद्ध मे उन्होंने पाण्डवों की सहायता की थी। साख्य और योग की अलग-अलग धारणाओ मे सामजस्य खोजा और निवृत्ति परक मांख्य को प्रवृत्तिपरक कर्मयोग मे परिणत किया। वे ही निष्काम-प्रवृत्ति-परक-पथ के जन्मदाता भी थे। मनुष्य निमित्त मात्र है। सब कुछ भगवान् ही करते है। इसलिए भक्तो के लिए भगवान् की शरण ही सर्वस्व है। वैष्णव भक्ति-साहित्य और भक्तिशास्त्र इस बात का साक्षी है कि वासुदेव कृष्ण भक्ति के चरम आलम्बन बन गये। अद्वितीयता, विराटता और लोकोत्तरता से वे अपने आपको परम आराध्य देव सिद्ध कर चुके है।

वैष्णवों के भक्तिमार्ग का उद्गम्—

किसी गुण या गुणी के प्रति श्रद्धा, प्रेम और सेवा समन्वित भाव भक्ति कहा जा सकता है। भगवान् और मानव का हार्दिक सबन्ध हार्दिक भक्ति से जुड जाता है। इस शब्द के अन्तर्गत एक निष्ठा, अव्यभिचारित्व, एकान्तिकत्व आदि विशेषताएँ आती है। शाण्डिल्य सूत्र के अनुसार 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' इसका स्वरूप वर्णित है।[1] इसके दो रूप है एक भोगप्रधान और दूसरा त्यागप्रधान। प्रथम् रूप मे ऐहिक एवम् लौकिक सुखो की प्राप्ति की इच्छा बलवती रहती है। दूसरा रूप वह है जहाँ उपास्य देवता ही साध्य होता है। अत. लौकिक सुख अनित्य और तुच्छ माना जाता है। भारतवर्ष को भक्ति के लिये किसी का ऋणी होना जरूरी नही है।

भक्ति रस भारत मे परिपूर्ण रूप से लहलहाता रहा है। ससार मे सर्वप्रथम वेदो मे ही भक्ति का उद्गम खोजा जा सकता है। आचार्य ग्रियरसन और अन्य यूरोपीय विद्वान ससार के इतिहास मे ईसाई मत मे सर्वप्रथम भक्ति का उदय मानते है, परन्तु यह धारणा भ्रान्तिमूलक और गलत सिद्ध हो चुकी है। भक्ति के अलग-अलग रूप अलग-अलग युगो मे अलग-अलग ढङ्ग पर सामने आते रहे हैं। अनुराग-सूचक भक्ति शब्द ब्राह्मण और सहिता ग्रन्थो मे नही मिलते। पर भक्ति के अन्य रूपो का उसमे अवश्य दर्शन हो जाता है। वैदिक ऋषी पूर्ण उल्लास के साथ अपने उपकारक मित्र तथा सुहृद देवताओं के प्रति प्रेम भरे मंत्रो का उच्चारण करते थे। ये प्रेम भरे मन्त्रोच्चारण, स्तुतियाँ, सूक्त, ऋचाएँ प्रार्थनाएँ आदि नामो से प्रसिद्ध हैं।

मानव जीवन का समाज शास्त्रीय अध्ययन किया जाय तो पता चलता है कि कई तरह की प्रवृत्तियों के चक्रावर्तन होते रहे है। जब मानव की सामाजिक और

१. शाण्डिल्य भक्तिसूत्र—सूत्र १।

वैयक्तिक दशा शान्तिपूर्ण होती है तब वह चाहता है कि कुछ काम किया जाय। अत: वह ऐसे साधन और दर्शन खोज लेता है जिससे कर्म-प्रवणता आ जाय। कर्मप्रधान मानव जब उसकी अति से थक जाता है तब उसकी थकान उसे चिन्तन और मनन की ओर चलने की प्रेरणा दे देती है, जिससे वह ज्ञानप्रवण बनने की चेष्टा करता है। इसी ज्ञान से वह विचार-प्रवण बनने लगता है। अपने और अपने से बाह्य अर्थात् शेष चेतन और अचेतन सृष्टि के नियमन और उसके नियामक के बारे मे कुतूहल, जिज्ञासा, शान्तता, कृतज्ञता आदि भावो का उसके अन्त:करण मे उदय होने लगता है। उसकी रति भावना बढने लगती है। कृतज्ञता सूचक, प्रशसा करने वाली अर्चनाएँ, प्रार्थनाएँ, सूक्त आदि का निर्माण होने लगता है। इसी से भक्ति का रागात्मक उदय हो जाता है। इसका मूलत. सबन्ध भावना से है। हम भगवद्विषयक 'रति शब्द का उल्लेख पुराने साहित्य मे अधिक क्यो पाते हैं इसका कारण यही बार-बार आने वाली प्रवृत्तियो का चक्रावर्तन ही कहा जा सकता है। भक्ति के स्थान पर 'रति' शब्द अधिक रूढ था, बाद मे यह 'भक्ति' मे कैसे परिणित हुआ इसे देखा जाय तो वैष्णव साहित्य का मर्म समझ मे आ सकेगा। 'रति' के स्थान पर 'भक्ति' शब्द का रूढ होना उसका ऐतिहासिक महत्व बतलाता है। 'भक्ति' शब्द क्यो रूढ हुआ इसके कारण खोजना समाजशास्त्र का विषय हो जायगा। यहाँ पर हम सक्षेप मे भारत की वैष्णव-भक्ति के विकास पर विचार करने का प्रयत्न करेंगे और देखेगे कि भक्ति के अनेक रूपो मे से किस युग मे कौन सा रूप अधिक प्रभावशाली रहा है।

आर्य जाति व्यक्तिनिष्ठ नही थी, अतः आर्य समाज का कोई व्यक्ति इस बात की कतई चेष्टा नही करता था कि उसका नाम इतिहास मे अजरामर हो जाय उसने कभी इसकी परवाह भी नही की। इसका कारण लौकिक जीवन के प्रति उपेक्षा-वृत्ति ही हो सकता है। ऋग्वेद काल मे भक्ति का रूप किस प्रकार का था यह देखना पडेगा। प्राचीन भारतीय अपना अन्तिम ध्येय पुरुषार्थ की सिद्धि मानते थे। इस पुरुषार्थ की सफलता के लिए की जाने वाली प्रार्थनाएँ या सूक्त मिलते है जो अनेक है। इनसे यह ज्ञात होता है कि बाह्य जगत पर सत्ता चलाने वाली देवताओ की इष्ट तथा योग्य आराधना करने से वे प्रसन्न होते थे और उच्च पुरुषार्थ का फल भी प्रदान करते थे। ऋग्वेद काल मे इस लोक का सुखोपभोग ही उच्च पुरुषार्थ माना जाता था। विश्व मे अनेक स्वरूपो मे प्रकट होने वाली शक्तियो के प्रतीक एक या अनेक देवताओ को यज्ञादि मार्ग से सोमवल्ली प्रदान कर, स्तोत्रो की रचना करके सेवा वा अनुराग से उनकी प्रसन्नता प्राप्त कर ली जाती थी। धीरे-धीरे कर्म-मार्ग का जोर शोर बढ़ा और आर्य अन्तर्मुख होकर आत्म निर्भर होने

लगे। यज्ञादि कर्मो की विफलता लोग समझने लगे। फलतः अध्यात्म-विद्या को लोग अपने अन्तर्गत यज्ञ से, विचार, श्रद्धा, शुचिता से ब्रह्मात्मैक्य का अनुभव लिया जा सकता है यह प्रतिपादन करने लगे। उपनिषद-काल मे सारे विश्व के मूल कारण 'ब्रह्म' का महत्व बढा और उपनिषदकाल के अन्तिम भाग में भक्ति की पुन. स्थापना हुई। श्वेताश्वतर उपनिषद में इसका उल्लेख यो मिलता है—

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैः ते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥'[1]

अर्थात् भक्ति का अर्थ प्रेम वा अनुराग ही यहाँ पर प्रकट किया गया है। सर्वान्तिर्यामिन् भगवान् ही जग की उत्पत्ति, स्थिति, संहार करते है उनकी ज्ञानमय जानकारी मुक्ति का साधन है। परमात्मा का अनुग्रह जिस पर हो जाता है उसे ही सत्य-रूप-दर्शन होता है। भक्ति करने वाले इनसान पर ही यह अनुग्रह होता है। मुण्डकोपनिषद का यह स्वर देखिये—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया नबहुना श्रुतेन।
यमैवेष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा वृणुते तनुस्वाम् ॥[2]

इसी प्रकार छान्दोग्य-उपनिषद मे भी भक्ति की श्रेष्ठता दिखाई पडती है।

मनोमयः प्राणशरीरोभारूपः सत्य संकल्प आकाशात्मा।
सर्वकर्मा सर्वगंधः सर्वरसः सर्वाभिदमभ्यातो अवाक्य नादरः ॥[3]

यही कल्पना सगुण साकारोपासना मे परिणत हुई जिसका मुख्य आधार भक्ति की कल्पना ही था। ईश, नारायण, महेश्वर, शिव आदि अनेक नाम और रूप प्रस्थापित होकर इनके अलग-अलग सगुण भक्ति-संप्रदाय भी प्रस्थापित हो गये। भगवद्गीता में भी यही बात निनादित हुई।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रति जाने प्रियोऽसि मे ॥
सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहंत्वा सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुचः ॥[4]

---

१. तृतीय मुण्डक, द्वितीय खण्ड श्लोक १।
२. छान्दोग्यपनिषद ३–१४–२।
३. भगवद्गीता ९–३४।
४. श्रीमद्भगवद्गीता अध्याय १८ श्लोक ६५–६६

इस तरह कहा जा सकता है कि वस्तुतः सारे जग का अधिष्ठाता एक ही सर्वात्मक विश्वेश्वर रूप परमात्मा है। उसके इन्द्र, वरुण अग्नि, मातरिश्वा आदि देवताओं के रूप भी उसी एक के विविध स्वरूप हैं। यह सिद्धान्त ऋग्वेद से ही अनुस्यूत हुआ है। ब्रह्म तथा आत्मा को सत्य तथा जगत् को अनृत, उपनिषदकाल में माना जाता था। ऋग्वेद काल की भक्ति का लक्ष्य सुखों की प्राप्ति के लिये आराधना ही परिलक्षित होता है। वेदों के भीतर जो विभिन्न स्तुतियाँ देखी जा सकती हैं उनसे यह अनुमान लगाना उपयुक्त ही होगा कि भक्त अपनी भाग्य हीनता से छुटकारा वा दुःख की निवृत्ति तथा संकट का परित्राण ही चाहता था। ऐहिक सुखों के उपभोगों की प्राप्ति ही ऊँचा ध्येय तथा उच्च पुरुषार्थ है ऐसा भाव ऋग्वेद कालीन की गई स्तुतियों में स्पष्ट रूप से प्रतीत होता है।

मरणोत्तर जीवन के और विशेषतः वहाँ प्राप्त होने वाले सुखों का या टाले जा सकने वाले दुखों का तथा उनके अनर्थों का उल्लेख प्रायः कम ही मिलता है। स्वर्ग-लोक, अमृत-लोक, यम-लोक तथा विष्णु-लोक आदि का उल्लेख परमोच्च और नित्य स्थानों के लिए ही आया है। जैसे—

तदस्यप्रियमभि पाथो अश्यां नरो यत्र देवयवो मदन्ति।
उरुक्रमस्य सहि बन्धुरित्था विष्णोः पदे परमेमध्व उत्सः॥
ता वां वास्तू न्युश्मसिगमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।
अत्राह तदुरुगायस्य वृष्णः परमं पदमवभाति भूरि॥[1]

'जहाँ पर भक्तगण आनन्द से काल व्यतीत करते हैं वही विष्णु का प्रिय स्थान मुझे प्राप्त हो जाय। वहाँ जाने से उरुक्रम विष्णु का सख्य प्राप्त हो जाता है। जिस स्थान पर न थकने वाले बहुशृङ्गी बैल रहते है और जो उषादेवी के रथो मे जोडे जाते है, जहाँ पर निरन्तर अमृत का मधुर उत्स बहता रहता है— उस प्रदेश के प्रसाद मे रहने के लिये तुम दोनो को जाना चाहिये यही मेरी इच्छा है। यही पर उरुगाय पराक्रमी विष्णु भगवान् का परमोच्च तेजस्वी निवास स्थान अपने दिव्यतम तेज से प्रकाशित होता रहता है।'

भक्ति मे अनिवार्यतः हृदय की श्रद्धा आवश्यक होती है। इस श्रद्धा का बीज-रूप इन स्तुतियो मे देखा जा सकता है। ऋग्वेद-कालीन-भक्ति को 'हृदा मनसा' कहा गया है। ऋग्वेदकालीन भक्ति का एक स्वरूप इसी प्रकार का है। दूसरे प्रकार का स्वरूप मानवीय सम्बन्धो का है जो अनेक उपमाओ के माध्यम से प्रकट

---

१. ऋग्वेद १–१५४–६।

हुआ है। ऋग्वेदकालीन भक्ति प्रवृत्तिमूलक है। पादवंदन तथा संकीर्तनादि भागवत पुराणो में वर्णित नवविधा भक्ति का आंशिक रूप भी ऋग्वेद मे मिलता है।

पुरुषसूक्त[1] में अवतारवाद के सिद्धान्तों का आधार मिलता है जिसमे ब्रह्म की नराकार रूप में स्तुति की गई है। इस सूक्त में उपास्य के प्रति स्वजन की तथा परिचय और सामीप्य की भावना निहित है।[2] इसमे नराकार भावना प्रथम बार आई है। अतः हम यह कह सकते हैं कि सगुण भक्ति का बीज यही पर विद्यमान है।

वेदोत्तरकाल की तरह अपनी देवताओ की निर्हेतुक भक्ति और निरतिशय प्रेम वेदकालीन भक्ति मे मिलना सभव नही है। अनासक्ति भावना तथा सुखोप-भोगो के प्रति विरक्ति-जन्य भावना भी वहाँ पर नही मिलती। आर्यो का जीवन सघर्षमय था इसलिए ऐहिक जीवन के विपय मे निर्वेद या वैराग्य के बदले भक्ति को जीवन मे सफलता प्राप्त करने का प्रमुख साधन समझा गया। प्रो. वेलणकर[3] के मत से सगुण साकार या निर्गुण निराकार की भी अनत मूर्ति की कल्पना किये बिना निरासक्त विरक्ति पूर्ण भक्ति असभव है। क्योकि भक्ति के लिये आलबन पक्ष की सहज प्राप्य प्रतिमा चाहिए। सपूर्ण प्रतिमा जिसका ध्यान पूजा आदि की जा सके वे ऋग्वेद मे नही मिलती है।[4] परन्तु इन देवताओ की प्रार्थना करने की दृष्टि से जो अत्यन्त आवश्यक अगो या मानवी अवयवों की जैसे—आँख, कान, मुह, पेट आदि की कल्पना ऋग्वेद मे मिलती है जैसे देखिए—

श्रवण—सेदु श्रवो भिर्युज्यं चिद्भ्यसत्।[5]

चेतन जीव ध्यान गम्य परमात्मा को उसके यश श्रवण द्वारा प्राप्त करने का अभ्यास करे।

---

१. अतो देवा अवंतुनो यतो विष्णुर्विचक्रमे ॥ पृथिव्याः सप्त धामभिः ॥
इदं विष्णुविचक्रमे त्रेधा निदधे पदं ॥ समूल अस्य पांसुरे ॥
त्रीणिपदा विचक्रमे विष्णुर्गोपा अदाभ्यः ॥ —पुरुषसूक्त ३-४।

२. ऐसा कुछ विद्वानो का मत है कि ऋग्वेद में पुरुषसूक्त भले ही आगया हो पर वह बाद का जोड़ा हुआ है। अनुमानतः नारायणीय धर्म की स्थापना के बाद नारायण रूप का वर्णन करने वाले सूक्त एवम् रचनाएँ लिखी गई होगी।

३. ऋग्वेदांतील भक्तिमार्ग—प्रो. दा. ह. वेलणकर।

४. वेदमें नवधा भक्ति—कृष्णदत्त भारद्वाज एम० ए० आचार्य शास्त्री,
'कल्याण', वर्ष २० अङ्क ५।

५. ऋग्वेद १-१५६-२।

कीर्तनं––विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम् ।[1]

मैं अब विष्णु भगवान की लीलाओ का प्रवचन करता हूँ ।

तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीम सीनस्य श्रातुर वृकस्य मीदुषः ।[2]

त्रिभुवन पति, जगत की रक्षा मे विचक्षण, अहिंसक, कामना-वर्षी भगवान् श्री विष्णु के चरित्रो का हम सब कीर्तन करते है ।

स्मरणं––प्रविष्ण वे शूष मेतु मन्म ।[3]

जिनकी माधुरी से ओतप्रोत एवम् अपनी दिव्य शक्ति से अपने अक्षय तीन-चरण-चरणो के तीन विन्यास भक्तो, आश्रितो, सेवको को आनन्द प्रदान करने वाले है उनका स्मरण किया जाय ।

निर्गुण निराकार की आर्यों के लिए परिचित भक्ति मुख्यत इन विशेषताओ से युक्त हो जिनमे इष्टदेव परोपदेशगम्य होने से उसके बारे मे जिज्ञासा, कौतुहल, भीति आदि भावनाएँ आदि बाते आती हैं पर वे ऋग्वेद मे नहीं मिलती है । प्रत्युत हमारा आराध्य ईश्वर हमारा माँ–बाप आदि सब कुछ है इस प्रकार की भावना से युक्त है । भक्ति की चरम सीमा मे जिज्ञासा, डर, कुतुहल आदि सब कुछ भावनाएँ नष्ट हो जाती हैं और भक्त अपने आराध्य को खरीखोटी तक सुनाते है । आत्यंतिक अनुराग की पराकाष्ठा हमारे आर्यों की भक्ति का प्रमुख सूत्र है । यही सूत्र आगे चलकर यशोदा, राधा, कौशल्या, गोप, गोपी, तुकाराम, नामदेव, कवीर, तुलसी, सूर आदि सतो मे भी मिलता है । यह अनुराग भावना तभी सभव है जब सगुण साकारोपासना से निर्गुण निराकार की ओर वह बढ़ती जाय । ऋग्वेद के देवभक्त तथा मध्यकालीन वैष्णव–भक्तो मे अपने इष्टदेव तथा उनके परस्पर सम्बन्धो मे बहुत साम्य है । दोनो मे अन्तर है केवल विवरण और काल का । 'नमे भक्तः प्रणश्यति' यह दृढ विश्वास, सर्वस्व त्याग करने की इच्छा, भक्तों की दर्द भरी रामकहानी सुनने की तत्परता, भक्त की अनन्यशरणागति एवम् आत्मनिवेदन इन बातो को लेकर सतो की भक्ति मे और ऋग्वेद कालीन भक्ति मे साम्य है । इस भक्ति में इष्टदेव के लिए कही आदर की भावना है तो कही डर की भी । सच है 'भय बिनु होई न प्रीति ।' आर्य जाति जगत के कार्य चलाने वाली शक्तियो को उनके प्राकृतिक रूपो मे ही ग्रहण करती थी । अनेक प्राकृतिक रूपो मे देवत्व की प्रतिष्ठा कर वरुण, अग्नि, रुद्र, इन्द्र ये सब ब्रह्म के नाना रूप समझे गए ।

---

१. ऋग्वेद १–१५४–४४ ।

२. ऋग्वेद १–१५५–४४ ।

३. ऋग्वेद १–१५४–४ ।

उपनिषदकाल मे ब्रह्म की भावना अपनी चरम पराकाष्ठा पर जा पहुँची। पुरुष नारायण ने पांचरात्र सत्र की विधि चलाई और ब्राह्मणकाल मे नारायण सगुण परमेश्वर के रूप मे अर्थात् नर समष्टिका आश्रय बनकर उपस्थित हुए। भारतीय भक्ति–मार्ग मे ब्रह्म की उपासना बाहर और भीतर अन्न, प्राण, मन. ज्ञान और आनन्द के रूपो मे करनी चाहिए यही कहा गया है। यही पूर्णोपासना की भक्ति पद्धति भारत मे ग्रहण की गई है। ब्रह्म को इस मार्ग के भक्त बाहर और भीतर अर्थात् सर्वत्र देखते है। निर्गुणी स्वातत्रस्थ ब्रह्म का निरुपण करते हैं तो सगुणी, तुलसी, सूर जैसे भक्त राम के नाम लेने पर अन्तर्यामिन् और पैज पडने पर पाहन से भी प्रकट होते है यह कहते हुए दिखाई देते है। वैदिक-भक्ति, ज्ञान, कर्म व उपासना इन तीनो के समुज्ज्वल रूप मे विकसित हुई, जिसका स्वरूप निर्मल था और समस्त निवृत्ति-परक और प्रवृत्ति-परक अगो से वह युक्त थी।

भक्त की उपास्य से समरसता—

प्रेम वही उच्च कोटि का समझा जाता है जिसमे भक्त अपना अस्तित्व भूलकर उपास्य से समरस हो जाता है। यही स्थिति पराभक्ति अनुरक्ति-भक्ति की है। सच्ची भक्ति का यही मूल बीज ऋग्वेदकालीन भक्ति मे विद्यमान था। अत. कहा जा सकता है कि भक्ति की दोनों अवस्थाएँ ऋग्वेदकालीन भक्ति मे विद्यमान थी।

आगे चलकर के वैष्णव भक्ति को प्रभावित करने वाले उपनिषदो मे निम्नलिखित तत्त्व प्रमुख है जिनका यहाँ पर स्पष्टीकरण किया जा रहा है।

उपनिषद-काल का आरम्भ २५०० विक्रमपूर्व माना जाता है। श्री चितामणि विनायक वैद्य ने उपनिषदो की प्राचीनता के विषय मे दो साधन निर्णयार्थ प्रस्तुत कर दिये हैं। (१) विष्णु या शिव का परम उपास्य के रूप मे वर्णन, तथा (२) प्रकृति पुरुष-तत्त्व तथा सत्व, रज, तम इन त्रिविध गुणो के साख्य सिद्धान्तो का प्रतिपादन। यह निश्चित रूप से माना जा सकता है कि प्राचीनतम उपनिषदो में वैदिक देवताओ के परे एक अनामरूप ब्रह्म को ही इस विश्व का सृष्टा, नियन्ता तथा पालनकर्ता विवेचित किया गया है। इस दृष्टि से निम्नलिखित उपनिषदो की सर्व प्राचीनता नितान्त रूप से मान्य है, छान्दोग्य, बृहदारण्यक, ईश. तैत्तिरीय, ऐतरेय, प्रश्न, मुण्डक तथा माण्डुक्य। इसके अनन्तर कठोपनिषद का क्रम आता है। इसमें विष्णु को परमपद पर प्रतिष्ठित किया गया है।[1] अतः प्रथम श्रेणी में छान्दोग्य से माण्डूक्य तक के उपनिषद आ

---

१. देखिये—वैदिक साहित्य और संस्कृति—बलदेव उपाध्याय, ० २४९–५०।

जाते है क्योकि वे तत्वत वेदो के आरण्यको के अग होने से निसदिग्ध रूप से प्राचीन है। द्वितीय श्रेणी मे कठोपनिषद तथा श्वेताश्वत्तर और कौपितकी, तथा मैत्रायणीय उपनिषद तृतीय श्रेणी मे रखे जाते हैं।

ईश उपनिषद कर्मसन्यास का प्रतिपादन नही करता वल्कि यावज्जीवन निष्काम क्रिया का सपादन करने का प्रतिपादन करता है। इमी का अनुवर्तन श्रीमद्भगवद्गीता अनेक युक्तियो के उपन्यास के साथ कराती है। अद्वैत भावना का स्पष्ट प्रतिपादन एवम् ब्रह्म के स्वरूप का वर्णन, तथा विद्या-अविद्या, मभूति असभूति का भी विवेचन इसमे किया गया है। कठोपनिषद मे 'नेह नानास्ति किंचन' का गभीर उद्घोष है। यमराज के द्वारा अद्वैत तत्त्व नाचिकेता को समझाया गया है। नित्यो मे नित्य, चेतनो मे चेतन रहने वाला यह ब्रह्म सब प्राणियो की आत्मा का निवासी है। इमका दर्शन करना ही शान्ति का एकमात्र साधन माना गया है। मुज से जैसे इपीका[1] वनती है वैसे ही इसी शरीर के भीतर विद्यमान आत्मा की उपलब्धि करनी चाहिये। यही इमका व्यावहारिक उपदेश माना जा सकता है।

मुडकोपनिषद मे 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' यह मन्त्र प्रधान है। वेदान्त मे यह शब्द सर्व प्रथम यहाँ प्रयुक्त हुआ है। इसे हम द्वैतवाद का प्रधान स्तभ मान सकते है। ब्रह्मज्ञानी के ब्रह्म मे लय प्राप्त करने की तुलना नाम रूप को छोड़कर नदियो के समुद्र मे अस्त होने से की गई है।

छान्दोग्य उपनिषद—यह सामवेदीय उपनिषद प्राचीनता, गभीरता तथा ब्रह्मज्ञान के प्रतिपादन की दृष्टि से उपनिपदो मे नितान्त प्रौढ, प्रामाणिक तथा प्रमेय वहुल है। इसके तृतीय अध्याय मे सूर्य की देवमधु के रूप में उपासना है। गायत्री का वर्णन, घोर-आगिरस के द्वारा देवकी पुत्र कृष्ण को अध्यात्मशिक्षा मिलना (३–१७), तथा अत मे अड से सूर्य जन्म का विवेचन (३–१९) इन सारी वातो का सुन्दर प्रतिपादन है। इस अध्याय का (३–१४–१) 'सर्वम् खलु इदम्-ब्रह्म' सब कुछ ब्रह्म ही है इस अद्वैत सिद्धान्तो के मुख्य सूत्र का विजय घोप करता है। वृहदारण्यक मे तो अध्यात्मिक शिक्षा का यह महत्त्वपूर्ण अङ्ग वन गया है तथा औपनिषदिक युग का सर्वमान्य तत्त्वज्ञान माना जाता रहा है। याज्ञवल्क्य ने इसे प्रसारित किया है।[2]

'आत्मा वा अरे दृष्टव्य. श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिधासितव्यो मैत्रेयि।[3]

---

१. इषीका=सींक।

२. वैदिक साहित्य और संस्कृति—वलदेव उपाध्याय, पृ० २५९–६०।

३. वृहदारण्यक उपनिषद ४–५–६।

ब्रह्म को आत्मा के परे देखा, सुना और ध्यान मे रखा जाता है अतः उसका श्रवण, मनन और निदिध्यासन करना चाहिए ऐसा कहा गया है। यह दार्शनिकता अपूर्व है।

श्वेताश्वतर उपनिषद मे गुरुभक्ति-देवभक्ति का रूप है—'यस्य देवे पराभक्ति यथा देवे तथा गुरो।'[1] भक्ति तत्त्व का प्रथम प्रतिपादन उपनिषद की विशेषता है। यह उस युग की रचना है जब साख्य का वेदान्त से पृथक्करण नही हुआ था तथा वेदान्त मे माया का सिद्धान्त प्रस्थापित नही हो पाया था। त्रिगुणो की साम्यावस्था रूप प्रकृति (अजा) का निस्सन्देह विवेचन है। 'अजा मेका लोहित-कृष्ण शुक्लाम्।[2] 'परन्तु इसे हम पूर्ण रूप से साख्य तत्त्व नही कह सकते। गीता ने क्षर, प्रधान, अक्षर आदि तत्त्वो का समावेश यही से किया है। शिव परमात्म तत्त्व के रूप मे अनेकश. वर्णित है। वेदान्त तथा साख्य के उदयकालीन सिद्धान्तो के लिये यह महत्वपूर्ण उपनिषद है।[3] 'अमृताक्षर हरः।'

यहाँ पर हमने केवल उन्ही उपनिषदों का सक्षिप्त विवेचन किया है जिन्होंने वैष्णवदर्शन को विशेष रूप से प्रभावित किया है।[4]

वैदिक साहित्य कर्मकाण्ड से ओतप्रोत था। उपनिषदों में ज्ञान तत्त्व विशेष रूप में परिलक्षित हुआ जो पौराणिक युग मे भाव या उपासना तत्त्व बनकर सामने आया। औपनिषदिक ज्ञान दो अशो मे विशेप द्रष्टव्य है। (१) जगत के विराट का ज्ञान देने वाला जो आगे चलकर 'साख्य' बनकर सामने आया (२) आत्मज्ञान पर आधारित योग (Self Realization) बनकर सामने आया जो आत्मा का ज्ञान देने वाला है। ब्रह्म के विविध स्वरूपो का विस्तारपूर्वक वर्णन यहाँ पर मिलता है।

ब्रह्म साक्षात्कार के विभिन्न मार्ग भी इसी युग मे फैले। ज्ञान प्रधान काल होने से भक्ति भी ज्ञानाश्रित हो गयी। यहाँ पर दो स्वतत्र धाराएँ हमे स्पष्ट रूप से प्रतीत हो जाती है। प्रथम योग, तथा दूसरी भक्ति कहलाई। एक मे हृदयपक्ष-समन्वित-ज्ञान था, तथा दूसरे मे बुद्धि या केवल विशुद्ध ज्ञान था। उपास्य के सगुण सविशेष तथा निर्गुण निर्विशेष दोनो रूप उपासको के सामने आये। 'त्व ब्रह्मा त्व च वै विष्णु त्वं रुद्र त्वं प्रजापति।'[5] इस तरह सगुण विष्णु स्वरूप की प्रतिष्ठा

१. श्वेताश्वतर उपनिषद ६–२३।
२. श्वेताश्वतर उपनिषद ६–४–५।
३. श्वेताश्वतर उपनिषद १–१०।
४. वैदिक साहित्य–बलदेव उपाध्याय, २५९–६०।
५. मत्रायण्युपनिषद ४–१२–१३।

वृद्धिगत होती गयी और उनको जगत्पालक एवम् अन्न का स्वरूप समझा जाने लगा। कठोपनिपद में आत्मा की ऊर्ध्वगामी गति को विष्णु के परमधाम की ओर जाने वाला पथिक बतलाया गया है।[१] पुरुपनारायण ने विष्णु की नराकार भावना से और उपास्य के सान्निध्य की उत्कठा के पाचरात्र यज्ञ की विधि चलाई।[२] यही से अहिंसा तत्त्व का समावेश वैष्णव धर्म के अन्तर्गत हो गया। इस प्रकार सत्वगुण प्रधान होने से वैष्णव धर्म सात्वत धर्म कहलाया। इसी का दूसरा नाम भागवत धर्म है। गीता इस धर्म का साररूप धर्म ग्रन्थ है। .'नूनम् एकान्त-धर्म. अय श्रेष्ठो नारायण प्रिय.।[३] भागवतो की दृष्टि से एकान्तिक धर्म मर्व श्रेष्ठ धर्म है क्योकि यह स्वय नारायण या भगवान को प्रिय है। इस धर्म के अनुसार प्रत्येक कार्य करते समय कार्य करने वाले को अपनी यह धारणा बना लेनी चाहिये कि इस कार्य मे वह भगवान की इच्छा पूर्ति मे एक माधन मात्र है।[४] निरतर इस प्रकार की मनोवृत्ति रखकर कार्य करने से मानसिक विकारो से छुटकारा मिल जाता है। सर्वव्यापक ईश्वर मे दृढआस्था तथा सभी वस्तुओ को समभाव से देखने का अभ्यास बढ़ जाता है। इस लोक मे तथा सर्वत्र मभी चीजे प्रकृति के सत्व, रज. तथा तम इन तीन गुणो से युक्त हैं। इनसे कोई भी मुक्त नही है। देह धारण करने वाले देही के शरीर मे आसक्ति डालने का कार्य ये तीन गुण ही करते रहे है। इसलिए मभी प्राणियो के हृदयो मे रहकर उन्हे अपनी माया से किसी यन्त्र पर चढाये गये वस्तु की तरह घुमाने वाले भगवान मे विश्वास कर उसकी शरण मे 'सर्व भाव' से जाना चाहिये। तव उसी के अनुग्रह से परमशान्ति एवम् नित्य स्थान पाने का वह अधिकारी बन जाता हे। अर्जुन को वार-वार श्रीकृष्ण समझते हैं कि जो कुछ है वह सव वासुदेव ही है अत' उसी की एकनिष्ठ उपासना करनी चाहिये। वे कहते हैं—[५]

> मय्येव मन आधत्स्व मयि वुद्धिं निवेशयः।
> निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः॥

मुझ मे अपना मन लीन करते हुए अपनी वुद्धि मुझ मे ही स्थिर कर।

---

१. कठोपनिषद ३—९।

२. वैष्णव धर्म का विकास और विस्तार—
कृष्णदत्त भारद्वाज—कल्याण, वर्ष १६ अङ्क ४।

३. महाभारत १२—३४८—४।

४. श्रीमद्भगयद्गीता १८—४०, १४—५, ३—२७, १८—६१, १८—६२।

५. श्रीमद्भगवद्गीता १२—८।

इसका फल यह होगा कि निस्सन्देह तू मुझ मे ही निवास करेगा। आत्म समर्पण तथा एकान्त निष्ठा इस धर्म की सर्व प्रमुख बाते है।

नारायणीय धर्म वा नारायणीय सम्प्रदाय—

इस धर्म का प्रतिपादन महाभारत के शान्ति-पर्व मे किया गया है। इस दार्शनिक सिद्धान्त को मेरु पर्वत पर सप्तऋषियो को और स्वायंभुव मनु को सुनाया गया था। इसी परम्परा से यह चलता रहा ऐसा भगवान् का कहना है। बृहस्पति तक परम्परा से प्राप्त यह धर्म वसु-उपरिचरतक सप्राप्त होता गया। इस मत मे दीक्षित हो जाने पर उन्होने एक अश्वमेघ यज्ञ किया था जिसमे पशुबली नही दी गई, तथा यज्ञ का सपूर्ण विधान आरण्यक के अनुसार हुआ। यज्ञकर्ता वसु को विष्णु ने दर्शन देकर यज्ञ भाग ग्रहण किया था। अन्य पुरोहितो अथवा ऋषियो को दर्शन नही हुआ। बृहस्पति इसलिए क्रोधायमान हुए। तब अपने अनुभवो के आधार पर एकता, द्विता और त्रिता ऋषियो ने उन्हे समझाया कि हरि के दर्शन प्रत्येक को नही होते। उसकी कृपा जिन पर होती है वे ही उनके दर्शनो के अधिकारी है। वसु जैसे एकान्तिक उपासक से ही वे प्रसन्न होते है। बलि-पशु-युक्त यज्ञ-यागादि करने वाले बृहस्पति जैसे लोगो से वे अप्रसन्न रहते है। नारायण से नारद ने इस धर्म को ग्रहण किया और उनका दर्शन करने वे श्वेत दीप मे गए, तथा वहाँ जाकर परब्रह्म भगवान् की पवित्रता, ऐश्वर्य, वैभव आदि का वर्णन करते हुए प्रार्थना की। तब भगवान् ने उनको दर्शन दिये और कहा कि जो केवल मेरा ही भजन करते है उन एकान्त साधको पर प्रसन्न होकर मैं उन्हे दर्शन देता हूँ। अब मै तुम्हे अपना वासुदेव धर्म सुनाता हूँ।

वासुदेव ही परब्रह्म है। वे आत्माओ के भी आत्मा हैं। वे सृष्टि कर्ता हैं। संकर्पण वासुदेव के ही रूप है तथा जीवमात्र के प्रतीक है। मनस्तत्व के प्रतीक प्रद्युम्न, सकर्षण से, तथा जीवात्मा के प्रतीक अनिरुद्ध, प्रद्युम्प्र से ही निकले है। इस तरह सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध मेरी ही मूर्तियाँ है। देवता, मनुष्य तथा अन्य पदार्थो की उत्पत्ति मुझसे होती है और वे मुझमे लीन हो जाते है। वराह, नृसिह, परशुराम, रामचन्द्र आदि मेरे ही अवतार हो चुके है तथा कस आदि असुरों को मारने के लिए मैं फिर अवत्तार लूगा। उस समय अपने उपर्युक्त चार रूपो से सब कार्य सुसपन्न कर के और सात्वत द्वारा द्वारिका नगरी का नाश करके, ब्रह्म लोक चला जाऊँगा। नारद ने यह सुना और वे बद्रिकाश्रम मे स्थित नर-नारायण के स्थान पर लौट आये। इसी पर्व के अन्य अध्यायो मे वे अपनी तीनो मूर्तियो या मूल तत्त्वो की सहायत्ता से निष्पाप साधक की मुक्ति का वर्णन करते है। ऐसा

साधक मृत्यु के पश्चात् सर्व प्रथम सूर्य लोक में जाता है, जहाँ उसके सब लौकिक गुण जल जाते है तथा वह सूक्ष्म रूप धारण करता है तब वह अनिरुद्ध मे प्रवेश करता है; वहाँ वह मन वनकर प्रद्युम्न मे प्रविष्ट हो जाता है। फिर इस रूप को भी छोड़कर सकर्पण अर्थात् जीव मे प्रवेश करता है। फिर त्रिगुणों से छुटकारा पाकर घट-घटवासी परब्रह्म परमात्मा मे लीन हो जाता है। वसु उपरिचर के आख्यान से भगवान् वेदव्यास ने अहिंसायुक्त यज्ञो की महत्ता को स्थापित किया। इस धर्म मे वैदिक, शास्त्रीय यज्ञ कर्मानुष्ठानो को उपनिषद-वेदान्त-प्रतिपाद्य ज्ञान-योग को तथा हृदय प्रधान-भक्ति को समान स्थान प्राप्त है।[1] नारायणीय सप्रदाय मे व्यूहो की पूजा का विधान है।

श्रीमद्भागवत् मे सात्वतो को महान् भागवत तथा वासुदेव परायण ब्राह्मण बतलाया है। जिनकी अपनी विशिष्ट पूजा पद्धति है। इसमे सात्वत, अन्धक तथा वृष्णियो को यादव वशीय बताया गया है और वासुदेव को सात्वतधर्म कहा है।[2] इस पूजा-विधान को अपनाने वाले सात्वत कहलाते थे। इनके उपास्य देवता परमात्मा के ही अवतार नर रूपी वासुदेव है। वासुदेव की पूजा उनके अंशावतार व्यूहो के साथ होती है तथा अपने विशिष्ट अलौकिक गुणो के कारण वे समस्त वश के पूजनीय है। वृष्णि, अन्धक आदि समस्त शाखाएँ यादव कुल की है। सात्वतो ने विदर्भ, मैसोर तथा सुदूर द्रविड देश मे अपने उपनिवेश बसाए थे। द्रविड देश मे पाचरात्र सम्प्रदाय के प्रचार का कारण सात्वतो का आगमन ही था। द्रविड देश के अनेक नरेश अपना सम्बन्ध सात्वतवशीय कृष्ण से जोडते है। पूर्वोत्तर 'महीशूर' पर राज्य करने वाले 'इहन गोवेड' नामक तामिल सरदार ने अपने को द्वारिका के कृष्ण की ४९ वी पीढी मे बतलाया है। इन प्रमाणो के वल पर आयगार का मत है कि सात्वत वशीय क्षत्रियो का द्रविड देश मे वैष्णव धर्म का प्रावल्य बहुत रहा।[3] द्रविडो के सम्बन्ध का ऐतरेय ब्राह्मण का यह उल्लेख द्रष्टव्य है—[4]

एतस्यां दक्षिणस्योदिशि ये केच सात्वतां राजानौ भोज्यायेव ते।
अभिषिच्यन्ते। भोजेति एनाम् अभिषिक्तानाचक्ष ते॥

पचरात्र मत की उत्पत्ति तो उत्तर भारत मे हुई—विशेपत उसका प्रादुर्भाव

१. देखिये—महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे बाजपेयी, पृ० १३–१५।
२. कलेक्टेड वर्क्स ऑफ सर भांडारकर, वाल्यूम ४।
३. एस्. के. अयंगार—परम संहिता इन्ट्रोडक्शन पृ० १५–१७ जी. ओ. एस्. नं० ८ ई० १९४०।
४. ऐतरेय ब्राह्मण ८–३–१४।

व्रज-मण्डल मे हुआ था। यह सिद्धांत उन पश्चिमी विद्वानों को स्वय ही एक मुँह तोड उत्तर है जो भक्ति को दक्षिण भारत मे ही ईसाई भक्तों के सम्पर्क से तथा दशमशती के आस-पास उत्पन्न हुआ मानते है। अर्थात् भक्ति स्पष्ट रूप से भारतीय वातावरण मे उत्पन्न अपनी ही निजी सम्पत्ति है।[1]

पांचरात्र मत—

यह मत ईसा पूर्व तीसरी शताब्दी मे प्रचलित था। गीता के सात्वत, भागवत या एकान्तिक धर्म का विकसित रूप पाचरात्र मत है। पाचरात्रों का प्रसिद्ध चतुर्व्यूह सिद्धान्त[2] है। पाचरात्रों के सिद्धात के अनुसार वासुदेव से सकर्षण अर्थात् जीव, सकर्षण से प्रद्युम्न अर्थात् मन और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध अर्थात् अहंकार की उत्पत्ति होती है। इनकी सहिताओ के प्रतिपादन के चार मुख्य विषय हैं—(१) ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जीव, तथा जगत् के पारस्परिक सम्बन्धो का निरूपण (२) योग अर्थात् मोक्ष के साधनभूत योग-प्रक्रियाओ का वर्णन (३) क्रिया अर्थात् देवालय का निर्माण, मूर्तिस्थापन, पूजा आदि और (४) चर्या अर्थात् नित्य नैमित्तिक कृत्य, मूर्तियो तथा यन्त्रो की पूजा-पद्धति, विशेष पर्वो के उत्सव आदि।[3]

पांचरात्रो ने नारायण के छ दिव्य गुणो की भी चर्चा की है। ये भी यज्ञ-याग की हिंसा के विरुद्ध थे। यह आस्तिक वैदिक मत था, अत: क्रान्तिकारी सुधारको बौद्धो, जैनियो के आगे वह उतना ऐतिहासिक महत्व नही पा सका। फिर भी उसने काफी कार्य इसके प्रचार का किया है। आगे चलकर इसी मत ने रामानुज के समय पुन. अपना उत्कर्ष दिखाया और अपना प्रभाव युग पर भी छोडा। पाचरात्र सिद्धात को वैष्णव आगम या वैष्णव तन्त्र भी कहा जाता है। इसमे व्यूह के बाद भगवान् का रूप 'विभव' है। विभव का रूप अवतार है और ये ३९ हैं। ध्रुव, मधुसूदन, कपिल, त्रिविक्रम आदि विभव हैं। अन्तर्यामिन् भगवान् ब्रह्म का सर्वव्यापक रूप है। वाराह, वामन, भार्गवराम, दाशरथी-राम और कृष्ण ये अवतार हैं। आगे हस, कूर्म, मत्स्य एवम् कल्कि इन नामो को मिलाकर यह सख्या दस कर दी गई है। पाचरात्रो ने साख्यों और वेदान्तियो के तत्त्वो को ले लिया है। वे माया को स्वीकार करते है और साथ ही गुणो से सृष्टि बतलाई है। पाचरात्रो के अनुसार प्रकृति पुरुष के आश्रित होकर कार्य करती है।

---

१. भागवत संप्रदाय–बलदेव उपाध्याय, पृ० १०४।
२. मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३०–३१।
३. भारतीय दर्शन–बलदेव उपाध्याय, पृ० ४६० तथा इन्ट्रोडक्शन टू पंचरात्र ऍंड अहिर्बुधन्य संहिता—पृ०, २२–२६–श्रेडर।

ब्रह्म अनादि अनन्त तथा सर्वव्यापी है। ज्ञान, तेज, ऐश्वर्य, शक्ति, बल, वीर्य और तेजस् इन छ. गुणो के कारण वे प्रधानता से भगवान् तथा व्यापक होने से वासुदेव है। कहा भी है—'वासनात् वासुदेवस्य वासित भुवनत्रय: ।' ज्ञान ब्रह्म का गुण भी है और शक्ति भी। शक्ति से आशय यह है कि ब्रह्म जगत् का उपादान कारण है। अनायास जगत् की रचना के कारण ही 'बल' नामक गुण बतलाया गया है। जगत् रचना की शक्ति ऐश्वर्य है। अधिकारी होने से भगवान् वीर्यवान है।

भगवान की शक्ति लक्ष्मी है। दोनो का सम्बन्ध द्वैतपरक है। प्रलयकाल मे भी ये भिन्न रहते है। नितान्त भिन्न भी नही रहते। सूर्य तथा आतप की तरह द्वैता-द्वैत भाव ही रहता है। लक्ष्मी के सृष्टि काल मे दो रूप होते है। (१) क्रियाशक्ति, (२) भूतशक्ति। इनके अभाव मे भगवान् निर्विकार होता है। तरङ्ग की तरह भगवान् से पृथक होकर लक्ष्मी सृष्टि रचती है। इसे ही शुद्ध सृष्टि कहा जाता है।

भगवान् के चार रूपो मे व्यूह, विभव, अर्चावतार तथा अन्तर्यामिन अवतार होते है। छ. गुणो मे से दो-दो गुण मिलकर व्यूह बनाते है। सकर्पण मे ज्ञान+बल रहता है। प्रद्युम्न मे ऐश्वर्य+वीर्य तथा अनिरुद्ध मे शक्ति+तेज रहता है। सकर्षण का कार्य सृष्टि है। प्रद्युम्न क्रिया की शिक्षा देते है। अनिरुद्ध मोक्ष का तत्व है। शकराचार्य ने इस व्यूह मत का खडन किया है। उनके मतानुसार वासुदेव से सकर्पण (जीव) की उत्पत्ति होती है। सकर्पण से प्रद्युम्न (मन) की तथा उनसे अनिरुद्ध (अहकार) की उत्पत्ति होती है। अशुद्ध सृष्टि मे—प्रद्युम्न 7 कूटस्थ पुरुष 7 मायाशक्ति 7 नियति 7 काल-सत्व, रज, तम, बुद्धि अहकार वैकारिक, तेजस् और भूतादि है। भूतादि, तामस से उत्पन्न, पचतन् मात्रा तथा उनसे स्थूलभूत उत्पन्न होते है।

पाचरात्र मतानुसार १. पुरुष १. प्रकृति १. महतत्व या बुद्धि १. अहङ्कार १. अहङ्कार के तीन प्रकार—१. सात्विक, २. राजस ३. तामस। सात्विक से एक मन और दस इन्द्रियाँ तथा तामस से पाँच तन्मात्राएँ को मिलाकर सृष्टि-प्रक्रिया होती है।

जीव—यह वासुदेव का क्रीडा विलास है। भगवान् की इच्छा शक्ति ही सुदर्शन है। यह उत्पत्ति, स्थिति, विनाश, विग्रह तथा अनुग्रह इन पाचशक्तियो की समष्टि मात्र है। सृष्टिकाल मे जीव से भगवान् की तिरोधान शक्ति, जीव का विभुत्व, सर्वशक्तिमत्ता, तथा ज्ञान को छीन लेती है। अत. जीव अज्ञ होकर योनियो मे भटकता रहता है। जीव के दुखो को देखकर भगवान् को दया आती

है। जीव को ज्ञान देकर वे कर्मो का नाश कर देते है। इसके फलस्वरूप उसे मुक्ति मिल जाती है। भगवान् की अनुग्रह शक्ति को उसके मन्दिर बनाना, मूर्ति पूजा करना, योग का साधन करना तथा प्रमुख रूप से भक्ति करना आदि से प्राप्त किया जाता है। सब से श्रेष्ठ उपाय शरणागति है। यह छः प्रकार की होती है। (१) भगवान् की अनुकूलता के प्रति कृतसङ्कल्प होना, (२) भगवान् के विरुद्ध न होना (३) भगवान् के द्वारा रक्षा होगी ऐसा दृढ विश्वास रखना। (४) भगवान् रक्षक हैं यह भावना रखना। (५) आत्मसमर्पण और (६) दीनता। भक्त को पचकाललक्षी भी कहते है। उसमे ये पाँच बाते रहती है। (क) जप, ध्यान, पूजा द्वारा भगवान् से उन्मुख होना (ख) उपादान, पुष्प कलादि का पूजा के लिए सग्रह (ग) यज्ञादि। (घ) अध्याय, अध्ययन, मनन, उपदेश। (ङ) योग-यौगिक क्रियाएँ करना आदि। ब्रह्म के साथ एकाकार होना ही मोक्ष है। सरिता समुद्र की एकता के समान दोनों एक हो जाते है। शुद्ध सृष्टि से उत्पन्न वैकुण्ठ मे जीव-भगवान् के साथ विहार करते हैं। वही अन्य नित्य जीव गरुड़ आदि भी मिलते है। जीव अणुरूप है। उसका ब्रह्म के साथ भेद भी है और अभेद भी। पांचरात्र मत परिणामवाद को मानता है। वल्लभ और चैतन्य मत में जाकर यही वैकुण्ठ की कल्पना गोलोक मे बदल गई है। वैष्णव-पूजा पद्धति मे तथा क्रियाकाण्ड के लिए पाचरात्र ने बडी सहायता की है। रामानुज के वाद व्यूहवाद नही मिलता। पाचरात्र वेद का ही एक अग है। गीता के वाद पाचरात्र-मत भक्ति के विकास मे दूसरा महत्वपूर्ण सोपान है।

पांचरात्र का अर्थ—

'पाचरात्र' शब्द की व्याख्या भिन्न प्रकार से की गई है। महाभारत के अनुसार चारो वेद तथा सांख्य योग के समन्वय से इस मत को पाचरात्र यह सज्ञा दी गई। ईश्वर सहिता[1] के कथनानुसार शाडिल्य, औपगायन, मौजायन, कौशिक तथा भारद्वाज ऋषि को मिलाकर पाच रात्रियो मे जो उपदेश दिया था उसे पाचरात्र कहते हैं; तो पद्मसहिता के अनुसार इसके सामने अन्य पाँच शास्त्र रात्रि के समान मलिन पड़ गए थे। अतः इस मत को पाचरात्र कहा जाता है। नारद[2]-पाचरात्र, के अनुसार इसके विवेच्य विषयों की सख्या ही इसके नामकरण का कारण मानी जाती हैं।[3] रात्र का अर्थ है ज्ञान। जैसे—

---

१. ईश्वर संहिता, अध्याय २१।

२. नारद पांचरात्र, १–४५–५३।

३. ,, ,, १–४४।

'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम् ।'

परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विषय (ससार) इन पाँच विषयों का निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाचरात्र' पडा । 'अहिर्बुधन्य सहिता'[१] भी इसी मत को स्वीकार करती है ।

वैखानस आगम—

वैष्णव आगमो मे वैखानस गृह्यसूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है । पाचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी यह विशेष प्रसिद्ध नही है । कभी इसका व्यापक प्रचार था पर किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता कम हो गई । वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतत्र शाखा थी । कृष्णयजुर्वेद की चार प्रधान शाखाओ मे से—आपस्तम्व, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्यकेशी तथा औखेय शाखाओ मे से औखेय शाखा से वैखानसो का सवन्ध था ।[२]

येन वेदार्थ विज्ञेयो लोकोनुग्रह काम्यया ।
प्रणीत सूत्र मौखेयं तस्मै विखनसे नमः ।।

—वैखानस सूत्र ।

वैसे गौतमधर्मसूत्र (३–२), वौधायन धर्म सूत्र (२–६–१७) वशिष्ठ धर्म सूत्र (९–१०) मे वानप्रस्थो को वैखानसशास्त्र का अनुयायी वतलाया गया है, यथा 'वैखानसमते स्थित. ।' मनु (६–४) 'वैखानस धर्मप्रश्न' मे वानप्रस्थो के आचार विधान का सागोपाग वर्णन मिलता है । इनका पालन वानप्रस्था श्रमियो के लिए अनिवार्य था । वैखानसो के चार ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके है जो इस प्रकार है । १. वैखानसीया मत्र सहिता, २. गृह्यसूत्र, सात प्रश्नो या अध्यायो मे विभक्त है । ३. धर्मसूत्र या धर्म प्रश्न, तीन प्रश्नो मे विभक्त है । और ४. श्रौत सूत्र । इन सब मे वैखानस गृह्यसूत्र सव से अधिक प्रसिद्ध है । ये लोग दार्शनिक कम थे पर आचारवादी अधिक[३] मत्र पाठो के आठ अध्यायो मे से अन्तिम चार अध्यायो मे विशिष्ट विष्णु पूजा का विधान है जो अर्चनाकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है । वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के दशम्, एकादश तथा द्वादश खड मे विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा एवम् अर्चना का विशेष रूप से वर्णन है ।[४-५] नित्य प्रात.काल तथा

---

१. अहिर्बुधन्य संहिता, ११–६४ ।
२. वैखानस श्रोत सूत्र—वेंकटेश भाष्यकार के कथनानुसार ।
३. वैखानस धर्म प्रश्न, १–६–७ ।
४. भारतीय दर्शन—वलदेव उपाध्याय, पृ० ५३९–३९ । तथा
५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १३३ ।

मायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अगुलो से परिमाण मे कम न होती थी। विशेप विधि से उनकी प्रतिष्ठा कर विष्णुसूक्त और पुरुपसूक्त से उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मंत्रो का विधान था। इस प्रकार का विश्वास 'नारायणो देव सर्वार्थसिद्धिः।'[1] प्रचलित था। इस वैखानस धर्म प्रश्न के अनुसार सब देवताओं मे नारायण की प्रधानता और प्रमुखता मानी जाती थी। अनन्तशयनं ग्रन्थावली न० १३१ से प्रकाशित मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम'[2] के अनुसार यह पता चलता है कि इस आगम का मुख्य विपय क्रिया, तथा चर्या है। मन्दिर की विविध मूर्तियों की रचना, विभिन्न अङ्गो का निर्माण, राम कृष्ण आदि मूर्तियों की विशेषता, मूर्तियों की प्राणप्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का सागोपाग विवेचन इतने विस्तृत रूप मे मिलना कठिन है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती है—१. विष्णु २ महाविष्णु तथा ३. सदाविष्णु ४. सर्वव्यापी। इन्ही चार मूर्तियों के अश से चार अन्य मूर्तियो की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अश से 'पुरुप' जिसमे धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अश से ज्ञानात्मिक 'सत्य', 'सदाविष्णु' के अश से अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपती) तथा सर्वव्यापी के अंश से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है, जिसमे वैराग्य या सहार की प्रधानता रहती है। इन चारो मूर्तियो से युक्त होकर नारायण पचमूर्ति रूप माने जाते है। जप, हुत, ध्यान व अर्चना से भगवान् प्रसन्न हो जाते है। मुक्तिया चार प्रकार की बतलाई गई है सालोक्य, सामीप्य, सारुप्य तथा सायुज्य। इन सब मे सर्वश्रेष्ठ मुक्ति सायुज्य मुक्ति है जो वैकुण्ठ मे ले जाती है। इन्ही से आगे चलकर सलौकता, समीपता, सरूपता व सायुज्वता ये नाम हो गये है।

वैष्णव मत मे गोपाल कृष्ण—

यहाँ गोपालकृष्ण की चर्चा कर लेना आवश्यक है। कृष्ण के द्वारा कस-वध का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। ब्राह्मण काल मे नारायण परम आराध्य थे। सात्वतों मे वासुदेव परम देवता थे। तभी वासुदेव-नारायण एकीकरण हुआ। आगे चलकर वासुदेव कृष्ण और विष्णु-नारायण एक हो गए। पर इसमें कही भी गोपालकृष्ण देवता का उल्लेख नही है। नारायणीय मे वासुदेव अवतार का उल्लेख तथा कस-वध की चर्चा आती है पर गोपालकृष्ण का उल्लेख कहीं भी नही हैं। गोपालकृष्ण सबधी उल्लेखनीय कथा पुस्तके ये है—१. हरिवश,

४. वैखानस धर्म प्रश्न, ३—९—१।
५. वैखानस आगम—अनन्त शयनम् ग्रंथावली नं० १३१।

'रात्रं च ज्ञानवचनं ज्ञानं पंचविधं स्मृतम् ।'

परमतत्व, मुक्ति, भुक्ति, योग तथा विपय (ससार) इन पाँच विषयों का निरूपण करने से इस तन्त्र का नाम 'पाचरात्र' पडा । 'अहिर्वुधन्य सहिता'[1] भी इसी मत को स्वीकार करती है ।

वैखानस आगम—

वैष्णव आगमो मे वैखानस गृह्यसूत्र का महत्वपूर्ण स्थान है । पाचरात्र के समान प्राचीन तथा प्रामाणिक होने पर भी यह विशेप प्रसिद्ध नही है । कभी इसका व्यापक प्रचार था पर किसी कारणवश इसकी लोकप्रियता कम हो गई । वैखानस कृष्णयजुर्वेद की एक स्वतत्र शाखा थी । कृष्णयजुर्वेद की चार प्रवान शाखाओ मे से–आपस्तम्ब, बौधायन, सत्याषाढ, हिरण्यकेशी तथा औखेय शाखाओ मे से औखेय शाखा से वैखानसो का सवन्ध था ।[2]

येन वेदार्थ विज्ञेयो लोकोनुग्रह काम्यया ।
प्रणीत सूत्र मौखेयं तस्मै विखनसे नमः ॥

—वैखानस सूत्र ।

वैसे गौतमधर्मसूत्र (३–२), बौधायन धर्म सूत्र (२–६–१७) वशिष्ठ धर्म सूत्र (९–१०) मे वानप्रस्थो को वैखानसशास्त्र का अनुयायी वतलाया गया है, यथा 'वैखानसमते स्थित. ।' मनु (६–४) 'वैखानस धर्मप्रश्न' मे वानप्रस्थो के आचार विधान का सागोपाग वर्णन मिलता है । इनका पालन वानप्रस्था श्रमियो के लिए अनिवार्य था । वैखानसो के चार ग्रन्थ उपलब्ध हो चुके है जो इस प्रकार हैं । १. वैखानसीया मत्र सहिता, २ गृह्यसूत्र, सात प्रश्नो या अध्यायो मे विभक्त है । ३. धर्मसूत्र या धर्म प्रश्न, तीन प्रश्नो मे विभक्त है । और ४. श्रौत सूत्र । इन सव मे वैखानस गृह्यसूत्र सव से अधिक प्रसिद्ध है । ये लोग दार्शनिक कम थे पर आचारवादी अधिक[3] मत्र पाठो के आठ अध्यायो मे से अन्तिम चार अध्यायों मे विशिष्ट विष्णु पूजा का विधान है जो अर्चनाकाण्ड के नाम से प्रसिद्ध है । वैखानस गृह्यसूत्र के ४ प्रश्न के दशम्, एकादश तथा द्वादश खड मे विष्णु की स्थापना, प्रतिष्ठा एवम् अर्चना का विशेष रूप से वर्णन है ।[4-5] नित्य प्रात.काल तथा

---

१. अहिर्बुधन्य संहिता, ११–६४ ।
२. वैखानस श्रोत सूत्र—वेंकटेश भाष्यकार के कथनानुसार ।
३. वैखानस धर्म प्रश्न, १–६–७ ।
४. भारतीय दर्शन–वलदेव उपाध्याय, पृ० ५३९–३९ । तथा
५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठ भूमि—विश्वम्भरनाथ उपाध्याय, पृ० १३३ ।

सायंकाल में हवन के अनन्तर विष्णु की पूजा करना गृहस्थ के लिये आवश्यक है। विष्णु की मूर्ति ६ अंगुलो से परिमाण मे कम न होती थी। विशेष विधि से उनकी प्रतिष्ठा कर विष्णुसूक्त और पुरुषसूक्त से उनकी पूजा की जाती थी। अष्टाक्षर तथा द्वादशाक्षर मन्त्रो का विधान था। इस प्रकार का विश्वास 'नारायणो देव सर्वार्थसिद्धिः।'[1] प्रचलित था। इस वैखानस धर्म प्रश्न के अनुसार सब देवताओं में नारायण की प्रधानता और प्रमुखता मानी जाती थी। अनन्तशयनं ग्रन्थावली न० १३१ से प्रकाशित मरीचिप्रोक्त 'वैखानस आगम'[2] के अनुसार यह पता चलता है कि इस आगम का मुख्य विषय क्रिया, तथा चर्या है। मन्दिर की विविध मूर्तियो की रचना, विभिन्न अङ्गो का निर्माण, राम कृष्ण आदि मूर्तियो की विशेषता, मूर्तियो की प्राणप्रतिष्ठा, अर्चना, बलि आदि का सांगोपांग विवेचन इतने विस्तृत रूप मे मिलना कठिन है। परमात्मा की चार मूर्तियाँ होती है—१. विष्णु २. महाविष्णु तथा ३. सदाविष्णु ४. सर्वव्यापी। इन्ही चार मूर्तियो के अंश से चार अन्य मूर्तियो की उत्पत्ति होती है। विष्णु के अंश से 'पुरुष' जिसमें धर्म की प्रधानता रहती है, महाविष्णु के अंश से ज्ञानात्मिक 'सत्य', 'सदाविष्णु' के अंश से अपरिमित-ऐश्वर्यात्मक 'अच्युत' (श्रीपती) तथा सर्वव्यापी के अंश से अनिरुद्ध की उत्पत्ति होती है, जिसमे वैराग्य या संहार की प्रधानता रहती है। इन चारो मूर्तियो से युक्त होकर नारायण पंचमूर्ति रूप माने जाते है। जप, हुत, ध्यान व अर्चना से भगवान् प्रसन्न हो जाते है। मुक्तिया चार प्रकार की बतलाई गई है सालोक्य, सामीप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। इन सब मे सर्वश्रेष्ठ मुक्ति सायुज्य मुक्ति है जो वैकुण्ठ मे ले जाती है। इन्ही से आगे चलकर सलौकता, समीपता, सरूपता व सायुज्वता ये नाम हो गये है।

वैष्णव मत में गोपाल कृष्ण—

यहाँ गोपालकृष्ण की चर्चा कर लेना आवश्यक है। कृष्ण के द्वारा कंस-वध का उल्लेख महाभारत मे मिलता है। ब्राह्मण काल मे नारायण परम आराध्य थे। सात्वतो मे वासुदेव परम देवता थे। तभी वासुदेव-नारायण एकीकरण हुआ। आगे चलकर वासुदेव कृष्ण और विष्णु-नारायण एक हो गए। पर इसमे कही भी गोपालकृष्ण देवता का उल्लेख नही है। नारायणीय मे वासुदेव अवतार का उल्लेख तथा कंस-वध की चर्चा आती है पर गोपालकृष्ण का उल्लेख कही भी नही हैं। गोपालकृष्ण संबंधी उल्लेखनीय कथा पुस्तके ये है—१. हरिवंश,

---

४. वैखानस धर्म प्रश्न, ३–९–१।

५. वैखानस आगम—अनन्त शयनम् ग्रंथावली नं० १३१।

२. भागवत पुराण ३. नारद पाचरात्र ४. वैवर्त पुराण। इसके सिवा यह भी एक मत प्रचलित है कि क्राइस्ट के नाम-साम्य तथा ईसा की जन्म कथा और बालकृष्ण की अनेक लीलाओ का साम्य देखकर कुछ युरोपीय विद्वानो के मतानुसार ये कथाएँ गढ ली गयी है। मतलब यह कि गोपालकृष्ण पर क्राईस्ट का प्रभाव है।

हम इस मत का समर्थन कदापि नही कर सकते। डा० भाडारकरजी का मत है कि ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक गोपालकृष्ण की चर्चा नही उपलब्ध होती। इसके बाद ही कृष्ण की प्रेमलीला सबन्धी बहुतसा लोक साहित्य, गाथाओं तथा सस्कृत ग्रन्थो मे बिखरा हुआ मिलता है। अतः उनका अनुमान है कि ईसापूर्व एकान्तिक धर्म के प्रवर्तन और गोपालकृष्ण सम्बन्धी बहुतसा प्राप्त साहित्य इनके बीच कोई ऐसी घटना अवश्य घटित हुई होगी जिससे गीताकार कृष्ण का सम्बन्ध गोपालकृष्ण से जुड गया हो। डा० भाडारकर के मतानुसार यह घटना किसी आभीर जाति का पश्चिम के देशो से घूमते-घामते आकर भारत मे मथुरा प्रदेश से लेकर सौराष्ट्र तथा काठियावाड के प्रान्तो के क्षेत्र तक फैलकर बस जाना ही है। इस जाति का परम उपास्य एक बालक था जिसे ईसा की दूसरी शताब्दी तक वासुदेव कृष्ण मे सम्मिलित कर लिया गया। इस जाति का मुख्य व्यवसाय गायें चराना और पालना था।[1] इस मत को मान्य करने मे यह आपत्ति आती है कि तमिल प्रदेशो मे आभीरो को 'अॅयर' कहते है, जिनके नाम का अकार गाय का आकार सूचित करने वाली 'आ' से बना सिद्ध होता है। इनकी प्राचीन जातीय परम्पराओ से भी यह सूचित होता है कि वे पाण्डवो के साथ ईसा के कई शताब्दी पूर्व यहाँ आये थे।[2]

ऐसा लगता है कि श्वेत दीप वाले प्रसग को लेकर योरोपीय विद्वान अपनी बुद्धि से प्रयासपूर्वक यह प्रतिपादन करने लगे कि हो न हो किसी न किसी अश मे महाभारत मे वर्णित श्वेतदीप का सम्बन्ध युरोप से ही रहा होगा। इसका अनुमान वे इस प्रकार की दलील देकर करते है कि युरोपीय पडित सफेद याने गौर वर्ण के होते है। अत. श्वेतदीप निश्चय ही युरोप होगा। पर ये सारे अनुमान व्यर्थ के और गलत सिद्ध हो चुके है।

गोपालकृष्ण की कथाओ के वर्णन हरिवश तथा वायु पुराण मे उपलब्ध होते हैं। भागवत पुराण मे कसवध, पूतना वध और अन्य राक्षसो के वधो का

---

१. भांडारकर—वैष्णवीझम, शैविज्म, पृ० ४९—५२।

२. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ४३।

वर्णन है। इनमें कंसारि-कृष्ण और बालकृष्ण को अभिन्न बतलाया गया है। इन ग्रन्थो की अवतारणा होने के पूर्व ही जनता मे यह विश्वास दृढ और पक्का हो गया होगा। महाभारत के सभा पर्व मे शिशुपाल द्वारा गोकुलवासी कृष्ण के जीवन से संदर्भ रखने वाली कुछ बातें कथन की गई है। ये बाते इस मत की पुष्टि करने वाली है। भांडारकरजी के मत से ये बाते प्रक्षिप्त हैं। गीता मे 'गोविन्द' शब्द आया है। कुछ विद्वान इसे 'गोपेन्द्र' शब्द का प्राकृत रूप बतलाते है। वैदिक साहित्य मे गोपा, दामोदर तथा गोविन्द ये शब्द बराबर मिलते है जैसे—'विष्णुर्गोपा अदाभ्य.'[1] एक अन्य स्थल पर विष्णु के परम पद मे उत्तम सीगोवाली गायो का रहना भी बतलाया गया है। इसी वेद मे विष्णु का बाल्यावस्था पारकर युवावस्था को प्राप्त करना दिखलाया गया है तथा उसके द्वारा शबर और उसके नागरिकों को नष्ट किये जाने के लिये प्रार्थना की गई है।[2] इस तरह निश्चय पूर्वक कह सकते है कि ईसामसीह की कथाओ के आधार पर गोपालकृष्ण की बाललीलाओं का गढा जाना किसी तरह तर्क और युक्ति संगत नही जान पडता। गोपालकृष्ण की बाललीलाओं का आधार वैदिक और सर्वथा भारतीय ही है।

विशेष रूप से आभीरो के बालदेवता 'गोपालक' और प्रचलित जनपरपराओ को लेकर इसे गीता के कृष्ण के साथ मिलाया गया होगा यही उचित निष्कर्ष जान पड़ता है।

केनेडी के मतानुसार जाट और गूजर उस घुमक्कड जाति की संतान है जिसके बाल देवता श्रीकृष्ण थे।[3] काठियावाड मे पाई गयी एक लिपि से ज्ञात होता है कि शक १०२ में आभीर राज्य करने लगे थे। एक और लेख से पता चलता है कि आभीर उच्च पदाधिकारी और शासक ईसवी सन २ री शताब्दी से ही होते थे। अत्यन्त पुराने 'वायुपुराण' मे आभीर राजाओ की वंशावली का उल्लेख है। हरिवंश मे आभीरों के बाल देवता श्रीकृष्ण की कथा का सब से पुराना उल्लेख है। यह ग्रन्थ भांडारकरजी के मतानुसार ईसवी सन की तृतीय शताब्दी के बाद के समय में निर्मित हुआ। इसमे एक शब्द आया है। दीनार (Latin-Denarius) कहा जा[4] सकता है कि यह शब्द ईसवी सन के पूर्व

---

१. ऋग्वेद, १–२२–१८।

२. इन्द्राविष्णुदृहितः शम्बरस्य नवपुरो नवतिंच श्नतिष्ठम्। शतम् वर्चिनः

ही इस देश मे आ चुका था, यह आधुनिक शोधो से सिद्ध है।[1] अतः हरिवंश का काल और भी पुराना होगा यह मान लेने मे 'दीनार' शब्द भी बाधक सिद्ध नही होगा। अत. यह निष्कर्ष निश्चय पूर्वक निकाला जा सकता है कि आभीरो के बाल देवता श्रीकृष्ण की कहानियो का उक्त ग्रन्थो मे प्रवेश यह सिद्ध करता है कि उनका अस्तित्व ईसवी सन से पुराना है।

वेवर, ग्रियर्सन, केनेडी और भाडारकर, बालकृष्ण की कथा को ईसा की कथा का भारतीय रूपान्तर मानते है। पर यह किसी भी तरह समीचीन नहीं है। अपने पुष्ट्यर्थ भाडारकरजी के शब्दो मे 'आभीर ही सभवतः बालदेवता की जन्म-कथा और पूजा तथा उनके प्रख्यात पिता का उनके विषय मे यह अज्ञान कि वह उनके पिता हैं, और निरपराधो के वध की कथा अपने साथ लेते आए। 'अन्तिम दो का सम्बन्ध इन कथाओ से है। प्रथम नंद का यह न जानना कि वे कृष्ण के पिता हैं, और दूसरे कस द्वारा निरपराध बालको का वध। कृष्ण की बाललीला मे जैसे गधे का रूप धारण करने वाले धेनुक असुर का वध यह कथा आभीर अपने साथ लाए थे। यह भी सभव है कि वे अपने साथ क्राइष्ट नाम भी लाये हो। गोआनीज और बङ्गाली प्रायः कृष्ण शब्द का उच्चारण 'किष्ट', 'कुष्ट' या 'किष्टो' के रूप मे करते है। अतः यह भी असभव नही कि यही नाम वासुदेव-कृष्ण के साथ भारतवर्ष मे बाल-देवता (गोपाल कृष्ण) के एकीकरण में सहायक हुआ हो। ऐतिहासिक प्रमाणो से इस अनुमान की निस्सारता और असङ्गति सिद्ध की जा चुकी है। वस्तुत एक 'आभीर' शब्द ही इन सब अनुमानो का आधार है जिसे किसी विद्वान ने द्रविड परिवार का बतलाया है। आभीर नाम की कोई द्राविड जाति पहले से ही इस देश मे रहती आयी होगी जिसका धर्म भक्तिप्रधान और जिसके प्रमुख देवता बालकृष्ण रहे हो। बाद मे बाहर से आई हुई सीथियन जातियो ने इनका धर्म ग्रहण कर अपने आपको आभीर कहने लगी हो। 'आभीर, शब्द का द्राविड भाषा का होना तथा देवता का कृष्ण (काला) होना इस अनुमान का आधार है। श्रीकुमार स्वामी का कहना है कि 'आभीर' शब्द द्राविड भाषा का है जिसका अर्थ होता है 'गोपाल'। यह भी कहा जाता है कि आभीरो, अहीरो, जाट और गूजरो की मुखाकृति, शरीरगठन आदि द्रविड नही बल्कि सीथियन है। न तो यह कहा जा सकता है कि कृष्ण क्राईस्ट के रूपान्तर है और न यह भी कहा जा सकता है कि क्राईस्ट कृष्ण के रूपान्तर है।

हमारा तो यह विनम्र निवेदन है कि यह विवाद व्यर्थ का है। महाभारत के

१. वैष्णविज्म और शैविज्म, पृ० ३७।

कृष्ण और वालकृष्ण दो अलग-अलग व्यक्तित्व नही वरन् वालकृष्ण, गोपाल-कृष्ण और महाभारत के कृष्ण एक ही है।

भारतवर्ष की साधना रवीन्द्र के प्रिय शब्द 'महामानवेर समुद्र' की तरह है। इस महती साधना की गहराई मे आर्य, आर्येतर तथा अन्य जानी वेजानी जातियो की वातो, रस्मों दैनदिन आचारो तथा देवी देवताओ का और धर्मो का समन्वय हुआ होगा। इनमे से कौन शुद्ध रूप मे किस-किस का है इसकी नुक्ताचीनी करना सभव नही है। सर्व सामान्यतः जन साधारण के अटूट आस्था और अडिग विश्वास के वल पर यह निश्चित समझ लेना औचित्य पूर्ण होगा कि 'श्रीकृष्ण' भारत के सवसे वडे योगीश्वर और महापुरुप माने जाते है। वे महाभारत के सवसे वड़े राजनीतिज्ञ, गीता के प्रणेता, गोपीजनवल्लभ, गोपालक, तथा राधा के कन्हैया और पूर्णावतार है। भारत भर मे रामपूजा से कृष्ण-पूजा का अधिक प्रचार है। साहित्य भी कृष्ण-भक्ति का सव से अधिक है। श्रीमद्भगवदगीता ने शकराचार्य से ज्ञानेश्वर, लोकमान्य से गाधीजी, राधाकृष्णन, विनोवाजी तथा महान योगी अरविंद तक को प्रभावित किया है। यह लोकनायक भगवान् श्रीकृष्ण प्रणीत जगन्मान्य और वरेण्य ग्रन्थ है। अत यह मर्व सम्मत है कि श्रीकृष्ण का वर्तमान रूप नाना वैदिक, अवैदिक, आर्य और अनार्य साधनाओ की धाराओं के सगम से वना है।

केनेडी के मतानुसार (१) द्वारकाधीश कृष्ण अपने धूर्त और चतुर राजनीति-पूर्ण कृत्यो के लिये प्रसिद्ध है जो महाभारत मे विख्यात है।[1] (२) वे कृष्ण जो निचली सिंधु उपत्यका के अनार्य वीर है, जो आधे देवता है, तथा जिन्होने राक्षस, पैशाच आदि निंद्य विवाह भी किए है, और (३) मथुरा के वालकृष्ण भी एक कृष्ण है जिनकी लीलाएँ प्रसिद्ध है। इस प्रकार तीनो मिलाकर हमारे श्रीकृष्णचद्रजी हैं। जेकोवी वताते है कि पाणिनि पूर्व-काल मे वासुदेव देवता के रूप मे पूजे जाने लगे थे।[2] छान्दोग्य उपनिपद मे घोर-आँगिरस के शिष्य देवकीपुत्र कृष्ण की चर्चा है। ये ऋषि कृष्ण और देवता वासुदेव के योग से एक श्रीकृष्ण ब्राह्मण युग के अत मे प्रतिष्ठित हो चुके थे। आगे चलकर इन्ही मे एक और कृष्ण आ मिले। ये मथुरा के वाल-गोपाल-कृष्ण और वृष्णि सघ के संघनायक राजपूत कृष्ण थे। इस तरह कृष्ण का विकास हुआ। वैदिक देवता नारायण और विष्णु भी इसी कृष्ण मे आकर मिल गए है। अविकल रूप से कृष्ण की वाललीला का उल्लेख

---

१. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी, सन १९०७।

२. एनसायक्लोपीडिया ऑफ रेलिजन अॅण्ड एथिक्स।

तथा श्रीकृष्ण का परमदेवता नारायण के रूप मे चित्रण भास के नाटकों में मिलता है। ये ही लीलाये भागवत पुराण मे वर्णित मिलती हैं। कविभास पाणिनिपूर्व कालीन कण्व वशीय राजनारायण के सभा कवि थे जो ५३–७१ ईसवी पूर्व हुए थे।

सचमुच देखा जाय तो वालकृष्ण की कथाएँ ईसापूर्वकाल से ही जनता मे प्रचलित हो गई थी। यही नही प्रत्युत गोपियो की लीला तथा राधा के साथ श्रीकृष्ण का सम्बन्ध भी इसी युग मे प्रचलित हो गया होगा। ऐसा अनुमान करना सर्वथा अनुपयुक्त नही होगा।

राधा और कृष्ण—

राधा और कृष्ण के पारस्परिक सम्बन्धो के वारे मे विद्वानो मे मतभेद हैं और इस सम्बन्ध के मुक्तक साहित्यिक परम्परावद्ध प्रमाण भी नही मिलते। हरिवश मे श्रीकृष्ण की गोपियो के साथ केलि-क्रीडा वर्णन मिलता है, पर उसमें कहीं भी राधा नही है। गाथासप्तशती मे 'राधा' शब्द पाया जाता है। इस ग्रन्थ की रचना विक्रम सवत् आरम्भ करने वाले विक्रमादित्य के युग मे हुई थी। यह प्राचीन ग्रन्थ है। इसकी प्राचीनता पर सन्देह करने वाले दो शब्द 'राधिका' और 'मगलवार' कुछ विद्वानो के मतानुसार हैं। वारगणना का प्रचलन वस्तुत. ग्रीस मे ईसा पूर्व हो चुका था। ईसा से पूर्व भारतवर्ष मे वारो का प्रचार असम्भव नही है। पर गाथा सप्तशती मे 'राधा' का नाम आना सिद्ध करता है कि वालकृष्ण की कथा ईसा से पूर्व फैल चुकी होगी। पंचतत्र मे 'राधा' का नाम आता है तथा विद्वानो ने इसका समय पाचवी शताब्दी माना है। गोपियो की कृष्ण के साथ केलि-कथा चौथी शताब्दी मे पर्याप्त रूप मे प्रचलित हो गई थी।[1] भाडारकर के मत से आभीर जाति मे कोई घुमक्कड जाति रही होगी जिसमे कोई सदाचार नही रहा होगा।[2] ये आभीर स्त्रियाँ खूब सुन्दरी होती थी, अत: विलासी आर्यो के साथ उनका स्वतन्त्र सम्वन्ध स्थापित हुआ होगा। इसीलिए श्रीकृष्ण को असदा-चारी वनना पडा। इस अनुमान मात्र को कोई भी नही मान्य करेगा। हम भी इसे कतई नही मान सकते। राधा की भक्ति का नया रूप दक्षिण से आता है। (१) राधा आभीर जाति की प्रेमदेवी रही होंगी जिसका सम्वन्ध वालकृष्ण से रहा होगा। पुराणो के अनुसार राधाकृष्ण से आयु मे वडी थी। (२) राधा इसी

१. हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत सूरसाहित्य, पृ० १२–२६।
'राधाकृष्ण का विकास तथा स्त्री पूजा और उसका वैष्णव रूप।'

२. वैष्णविज्म, शैविज्म, पृ० ४२ (सर आर. जी. भांडारकर)

देश की किसी आर्यपूर्व जाति की प्रेमदेवी रही होगी। बाद मे आर्यो मे इनकी प्रधानता हो गई और धीरे-धीरे बालकृष्ण के—कृष्ण-वासुदेव एकीकरण के पश्चात् उसका श्रीकृष्ण के साथ सम्बन्ध जोड़ दिया गया होगा। दसवी शताब्दी से जयदेव के अर्थात् १२ वीं शताब्दी तक राधा की प्रतिष्ठा परमाशक्ति के रूप मे हो चुकी थी। इसी से अनुमान किया जा सकता है कि राधा बहुत पुराने काल मे प्रतिष्ठित हुई होगी।[1] चौदहवी शताब्दी के अन्त मे भागवत सम्प्रदाय अपने नये रूप में सामने आया एवम् विकसित हुआ। उस समय तक राधा और कृष्ण इतिहास के व्यक्ति नही थे वरन् वे सम्पूर्ण भावजगत की चीज हो गये थे। राधाकृष्ण से सम्बन्धित भक्ति-सम्प्रदायो पर हम आगे चलकर विवेचन करेगे। सोनहवीं शताब्दी तक आते आते विभिन्न भक्ति-सम्प्रदायो को उपासना-तत्वो के फलस्वरूप श्रीकृष्ण-प्रेम, वात्सल्य, दास्य, सख्य आदि विविध भावो के मधुर आलबन-स्वरूप पूर्ण-ब्रह्म-श्रीकृष्ण बन गए। राधाकृष्ण की युगल मूर्ति के स्वरूप का पूर्ण विकास समझने के लिये हमे तत्रवाद और सहजवाद को समझना आवश्यक होगा। इसका विवेचन हम अपने प्रबन्ध के अगले अध्यायो मे यथास्थान करेगे। व्रजभाषा-काव्य के आरम्भकाल मे राधा-कृष्ण, इतिहास या तत्ववाद की चीज नही रह गए थे। वे सम्पूर्ण भाव जगत् की चीज हो गए थे। भक्ति प्रेम और माधुर्य की नाना सम्प्रदायो से विचित्र यह युगलमूर्ति ईश्वर का रूप तो थी पर उसमे वैदिक देवताओ का संभ्रम नही था। वह एकदम सीधा ठेठ-घरेलू सम्बन्ध था। तत्रवाद के प्रभाव से ससीम रससे असीम की उपलब्धि के सिद्धांत ने तुरन्त ही तद्युगीन समाज को सखा, प्रिय, और स्वामी रूप से कृष्ण की उपासना के प्रति सचेष्ट अग्रसर कर दिया था। वे यथार्थ मे ही हमारे सहज-स्वाभाविक भावो के आलम्बन बन गए थे।[2]

महाभारत[3] के सभा पर्व के ६८ वे अध्याय मे द्रौपदी ने चीरहरण के प्रसग मे भगवान श्रीकृष्ण को 'गोविन्द द्वारकावासिन् कृष्ण गोपीजन प्रियः।' नाम से पुकारा है। कुछ लोग इसे प्रक्षिप्त मानते है। पर इस प्रक्षिप्तता का कोई प्रामाणिक आधार नही है। हरिवश जिसे २री या ३री शताब्दी ईसा पूर्व माना जाता है, उसमे हालीसक-क्रीडा का उल्लेख है, वह भागवत की रासलीला का ही पूर्व रूप है। भागवत की रासलीला श्रीकृष्ण जीवन की एक बहुत महत्वपूर्ण घटना है।

१. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
. सूरसाहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ३१।
३. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ६८।

भागवत की रास-पचाध्यायी भागवत का प्रमुख अश मानी गई है। गोपीजनों के साथ नित्य लीला-कृष्णलीला का प्रमुख सूत्र वन गई है।

पुराणो मे राधाकृष्ण की लीला का वर्णन इस बात को स्पष्ट करता है कि इन पुराणो के पहले आराध्य के रूप मे राधा-कृष्ण की प्रतिष्ठा हो चुकी थी। विष्णु पुराण मे विरह की भावना अधिक मात्रा मे वर्णित है, तो हरिवश पुराण मे प्रेम-व्यापार का अश अधिक है। ब्रह्मवैवर्त-पुराण मे राधा प्रमुख गोपी है। यह सोलहवी शती की रचना है। राधा का प्रभाव तत्रवाद का प्रभाव है यह भी माना जाता है। भक्ति का सगुण रूप स्वय राधिका भी मानी जाती है। वगाल मे पहाडपुर मे खुदाई होने पर जो एक पुरानी मूर्ति उपलब्ध हुई है, उसमे कृष्ण एक गोपी के साथ विद्यमान है। डा० सुनीतिकुमार चटर्जी के मत मे यह गोपी राधा है। ऐसा वतलाया जाता है कि नित्यानद प्रभु की छोटी पत्नी जाह्नवी देवी जब वृन्दावन गई तो उन्हे यह मालूम हुआ कि कृष्ण के साथ राधा की मूर्ति की कहीं भी पूजा नही होती, तव अत्यन्त दुःखी होकर नयन भास्कर नामक कलाकार से राधा की मूर्तियाँ वनवाकर उन्हे वृन्दावन भिजवाया। तव से कृष्ण की अकेली मूर्ति वङ्गाल मे कही भी नही पूजी जाती। जीव गोस्वामी की आज्ञा से राधा की मूर्तियाँ श्रीकृष्ण के पार्श्व मे रखी गयी और तव से राधाकृष्ण की पूजा सर्वत्र होने लगी। वैष्णवो ने राधा और कृष्ण के रूप मे उसे एक शुद्ध मर्यादा के भीतर ग्रहण कर लिया। राधा वैष्णव परकीया प्रेम का साधन वनकर आई। राधा के विना कृष्ण अधूरे माने गए। वे उनकी अन्तरगील्हादिनी शक्ति भी है। वैष्णव सहज यानियो के प्रभाव से राधा का महत्व वढा है इन सव वातो का वैष्णव मतो पर क्या प्रभाव पड़ा इसे अन्यत्र जव हम चर्चा करेंगे तव इसका अधिक विवेचन किया जायगा।

विष्णु की उपासना मे रामचन्द्रजी का महत्व और रामोपासना का स्वरूप–

विष्णु के अनेक अवतारो मे से त्रिविक्रम, वामन, परशुराम, नृसिंह, वाराह आदि प्रसिद्ध है। उन सव मे श्रीकृष्ण तथा श्रीरामचन्द्र ये दो अवतार विशेष महत्त्वपूर्ण है। कृष्ण के समान राम भी लोकप्रिय मर्यादा-पुरुषोत्तम तथा लोक-पालक के रूप मे हमारे सामने आते है। 'राम' नाम से वहुधा वलराम, दाशरथी-राम और भार्गवराम का वोध लगभग एक ही प्रकार का हो जाया करता है। पाणिनि कृष्ण की तरह राम की उपासना का हवाला देते है जो ४०० सदी ईसवी पूर्व का है। ऋग्वेद मे दशरथ, सीता, इक्ष्वाकु आदि शब्द मिलते है पर 'राम' शब्द कही भी नही मिलता। 'सीता' शब्द का भी यही हाल है। डा० जेकोबी के

मत से वैदिक देवता इन्द्र से ही बलराम और दशरथसुत राम का विकास हुआ है। क्योंकि दोनो इन्द्र के सदृश वीर तथा धीर है। रामकथा को जैनों तथा बौद्धो ने भी अपनाया है। लोकजीवन पर पडे हुए राम के व्यक्तित्व का व्यापक प्रभाव इससे ज्ञात होता है। दशावतारों मे कृष्ण के पहले ही राम की गणना की गई है।[1]

फिर भी 'राम' नाम के अन्य राजाओ का उल्लेख वैदिक साहित्य मे अवश्य मिलता है। किसी प्रतापी असुर राजा के नाम मे 'राम' शब्द आया[2] है। यथा :—

प्रतदद्दुःशी मे पृथवाने वेने प्रामे वोचमसुरे मघवत्सु।

ऐतरेय ब्राह्मण मे भार्गव राम तथा जनमेजय के विषय मे एक कथा[3] मिलती है; पर इससे रामायण के राम पर कोई प्रकाश नही पडता। शतपथ ब्राह्मण मे एक राम औपतपस्विनि का उल्लेख है। अन्य आचार्यों के मतो सहित यज्ञ के तात्विक बातो पर इनके मत का अलग उल्लेख मिलता है। और एक जगह जैमिनीय-उपनिषद ब्राह्मण मे दो स्थानो पर क्रातुजातेय-वैयाघ्र-पथ-राम का उल्लेख आता है। इससे कम से कम यह तो सिद्ध हो जाता है कि वैदिक काल से ही प्राचीन[4] राजाओ मे तथा ब्राह्मणों मे 'राम' नाम प्रचलित था।

शतपथ-ब्राह्मण मे तथा छान्दोग्य उपनिषद मे वैदेह जनक उल्लेख आता है। उसी मे उल्लिखित अश्वपति कैकेय वैश्वानर तथा जनक समकालीन विद्वान राजा थे, यह जान पडता है। जनक इतने बडे तत्वज्ञ हैं कि वे याज्ञवल्क्य को भी शिक्षा देते है और ब्राह्मण बन जाते है। रामायण के अन्य पात्रो की अपेक्षा वैदेह जनक का अनेक प्रसङ्गो मे वैदिक साहित्य मे उल्लेख आता है। पर कही भी सीता उनकी पुत्री है, तथा राम उनके जामात हैं ऐसे उल्लेख नही प्राप्त होते। जनक मिथिला के राजा थे। अन्य कई जनक नामी राजाओ के उल्लेख हैं। वैदिक साहित्य मे सीता कृषि की एक अधिष्ठात्री देवता है। तैत्तिरीय ब्राह्मण मे सीता सावित्री, सूर्य की पुत्री है तथा एक सोमराजा का उपाख्यान भी[5] है।

महाभारत तथा रामायण मे राम के लिये 'राम-दाशरथी' शब्द का प्रयोग

---

१. रामकथा—कामिल बुल्के, पृ० ३।
२. ऋग्वेद पृ० १०—९३—१४।
३. ऐतरेय ब्राह्मण, ७—२७—३४।
४. जैमिनीय उपनिषद ब्राह्मण, ३७—३२—४—९—१—१।
५. रामकथा—कामिल बुल्के, पृ० ४—५—१२।

मिला है। इसके बाद के साहित्य मे रामभद्र और रामचन्द्र ये नाम प्रयुक्त हुए हैं। उत्तर रामचरित मे 'रामचन्द्र' नाम का सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। डाक्टर वेबर का अनुमान है कि 'राम-सीता-कथानक' वैदिक-साहित्य मे वर्णित सीता, सावित्री और सोमराजा के उपाख्यान के आधार पर बना है। पर यह केवल कल्पना मात्र है। इसे सभी विद्वान ग्राह्य नही मानेगे। सीता अवश्य कृषि की अधिष्ठात्री देवी के रूप मे अनेक स्थलो पर उल्लिखित है। सीता को इन्द्रपत्नी भी कहा गया है तथा उसकी प्रार्थना के कई सूक्त भी मिलते है। उसके अतिरिक्त लागल योजनम् तथा सीता यज्ञ के द्वारा कृषिकर्मो का उल्लेख मिलता है। अयोनिजा सीता के जन्म और तिरोधान के वृत्तान्त वैदिक सीता के व्यक्तित्व से प्रभावित है ऐसा हम कह सकते हैं परन्तु रामकथा का वैदिक साहित्य मे अभाव है यही माना जावेगा। रामायण के कतिपय पात्रो की ऐतिहासिकता के लिए आधार अवश्य वैदिक साहित्य मे मिल जाते है। ऐसा अवश्य कहा जा सकता है कि वाल्मिकीकृत रामायण के पूर्व रामकथा सबधी आख्यान अवश्य प्रचलित रहे होगे।

महाभारत मे दाशरथी राम का स्पष्ट उल्लेख कई स्थलो पर मिलता है तथा 'वाल्मीकीय रामायण' मे उनकी कथा पूरे विवरण के साथ दी गई है। महाभारत मे बाल्मिकी ऋषि का 'कविवाल्मिकी का उल्लेख अवश्य उपलब्ध होता है। रामायण का रचनाकाल श्री चिन्तामरण विनायक वैद्य २ री शताब्दी ईसा पूर्व मानते है। डा० याकोबी और एम्० विटरनिटत्ज करीब-करीब २ री शती ईसापूर्व मानते हैं। इस रामायण के तीन पाठ मिलते[1] है—(१) दाक्षिणात्य पाठ-निर्णयसागर प्रेस बम्बई और दक्षिण के सस्करण। (२) गौडीय पाठ—गोरेसियो-पैरिस, तथा कलकत्ता सस्कृत सीरीज के सस्करण, तथा (३) पश्चिमोत्तरीय पाठ–दयानन्द महाविद्यालय सस्करण (लाहौर)। प्रचलित वाल्मीकि रामायण मे वाल्मीकि राम के समकालीन माने जाते हैं। महाभारत मे रामकथा चार स्थलो पर वर्णित है। (१) आरण्य पर्व की रामकथा भीम-हनुमान के सवाद के रूप मे पायी[2] जाती है। ३.१४७–२८–३९ पूना सस्करण। आरण्यपर्व मे दो वार रामकथा का वर्णन है। रामोपाख्यान की रामकथा विस्तृत है जो विद्वानो के मतानुसार रामायण का आधार है तथा जो वाल्मीकी के रामायण का सक्षिप्त रूप कहा गया है। दूसरी रामकथा का उल्लेख हम अभी कर आये हैं। (२) द्रोण पर्व की रामकथा तथा शान्तिपर्व की रामकथा[3] षोडश राजोपाख्यान के अन्तर्गत

---

१. रामकथा–बुल्के, पृ० ३०।
२. रामकथा–बुल्के पृ० ४३।
३. महाभारत–७–५९–१–३१।

मिलती है। इन सोलह राजाओ की कथा व्यास ने अभिमन्यु वध के कारण शोक विव्हल युधिष्ठिर को धैर्य देने के लिए सुनायी है। इन सोलह राजाओ मे से राम भी एक थे। (३) शांतिपर्व की रामकथा[1]—प्रसङ्ग द्रोणपर्व के ही समान है। किन्तु यहाँ पर कृष्ण-युधिष्ठिर को षोडश राजोपाख्यान सुनाते है। महाभारत मे राम विष्णु के अवतार है इस बात को बतलाने वाले कई उल्लेख है। यथा—

(१) भीम हनुमान सवाद मे हनुमान का कथन—

अथ[2] दाशरथी वीरो रामो महाबलः।
विष्णुर्मानुष्यरूपेण चचार वसुधा मिमाम्॥

(२) रामोपाख्यान मे ब्रह्मा देवताओ से कहते है कि 'विष्णु मेरे आदेश के अनुसार अवतार लेकर रावण की हत्या करेगे।[3]

तदर्थंभवतीर्णो सौ मन्नि योगाच्चतुर्भुजः।
विष्णु प्रहरता श्रेष्ठः सकर्मतत्करिष्यति॥५॥

इसी पर्व के अन्तिम अध्याय मे बतलाया गया है कि विष्णु ने दशरथ के गृह मे रहकर रावण का वध किया है।

(३) **विष्णुना वसतांचापि गृहे दशरथस्य[4] वै।**
दशग्रीवो हतस्यान्तं संयुगे भीम कर्मणा॥

(४) शान्तिपर्व मे हरि अपने १० अवतारो का वर्णन करते हुए बतलाते है कि[5]—

संधौ तु स मनु प्राप्ते त्रेतायां द्वापरस्यच।
रामो दाशरथिर्भूत्वा भविष्यामि जगत्पतिः॥१६॥

(५) सर्गारोहण पर्व मे भी इसी प्रकार एक उल्लेख है।

वेदे रामायणे पुण्ये भारते भरतर्षभ।
आदौचान्ते च मध्येच हरि. सर्वत्रगीयते॥[6]

इसके अतिरिक्त पद्मपुराण मे पातालखण्ड मे एक स्थान पर बतलाया गया है कि 'जिस समय वाल्मीकि ने क्रोच पक्षी को आहत पाकर तीव्र शोक का अनुभव

---

१. महाभारत, १२–२२–५१–६२।
२. आरण्य पर्व, ३–१४७ पूना संस्करण।
३. ,, ३–२६०। ,,
४. महाभारत-अरण्य पर्व, ३–२६६ पूना संस्करण।
५. ,, शान्तिपर्व, १२–३४८ पूना संस्करण।
६. महाभारत-स्वर्गारोहण पर्व, १८–६, पूना संस्करण।

किया और निषाद को शाप दिया उस समय ब्रह्मा ने आकर उन्हे यह निवेदन किया कि निषाद वास्तव मे स्वय रामचन्द्रजी थे जो मृगयार्थ वहाँ पर आ गये थे। अतः आप उनके चरित का वर्णन कीजिए और ससार मे सुयश प्राप्त कर यशस्वी बन जाइये। ब्रह्मा यह बतलाकर ब्रह्मलोक चले गए और वाल्मीकि मुनि ने इधर रामचरित का वर्णन 'ग्रन्थ कोटि भि' मे कर डाला, देखिए[1]—

शापोवत्याहृदि संतप्तं प्राचेतसमकल्मषम्।
प्रोवाच वचनं ब्रह्मा तत्रागत्य सुसत्कृतः॥
न निषादो स वैरामो मृगयां चर्तुमागतः।
तस्य संवर्ण नैव सुश्लोक्यसचं भविष्यसि॥
इत्युत्वा तं जगामाशु ब्रह्मलोके सनातनाः।
ततः संवर्णयामास राघवं ग्रंथ कोटिभिः॥

प्राचीन जेद अवेस्ता मे 'रामहुवास्त्र' यह शब्द आता है जिसका अर्थ (राम=विश्राम+हुवास्त्र=चरागाह) चरागाह मे विश्राम यह बतलाया जाता है। यही शब्द आगे चलकर एक देवतावाचक शब्द बन गया। 'राम' शब्द से मिलते-जुलते प्राय देवता या श्रेष्ठ व्यक्ति वाचक अनेक शब्द अनेक प्राचीन जातियो मे प्रचलित थे। पर उन सबका रामायणीय राम से सीधा सम्बन्ध जोडना कठिन है।

रामकथा का साधारण स्वरूप अपने मूलरूप मे उपलब्ध होना एक बड़ा दु साध्य और कठिन कार्य है। राम-रावण तथा हनुमान सम्बन्धी स्वतन्त्र आख्यान पहले प्रचलित थे जिन्हे जोडकर एक पूरी रामकथा का रूप सवारा गया होगा जो आदि रामायण के नाम से प्रचलित रहा होगा। रामकथा को स्वय भी एक रूपक माना जाता है जो आर्यो के दक्षिण विजय के सफल प्रयत्न को प्रतिध्वनित कर देता[2] है। किन्तु यह ऐतिहासिक तथ्य नही हो सकता। वाल्मिकी मुनि ने अपने रामायण की रचना राम के समय मे ही की थी। रामायण के दाक्षिणात्य पाठ वाले सस्करण मे राम, सीता एवम् लक्ष्मण उनके आश्रम मे पहुँचकर उनका अभिवादन करते तथा उनका आतिथ्य सत्कार पाते हुए दीख पडते है। अतःएव कुछ लोगो का यह अनुमान है कि वाल्मीकि और राम का समय बारहवी शताब्दी ईसवी पूर्व अधिक से अधिक माना जा सकता है।

राम+अयन=रामायण, याने पूर्ण रामचरित का वाल्मीकिकृत लिखित-

१. हिन्दुत्व—रामदास गौड, पृ० १२९–३०।
२. ए मेकडानल : ए हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, सन १९०७, पृ० ९१–१०३।

प्रमाणिक रूप नही मिलता। अतः कई शताब्दियो तक उसमे काव्यापजीवी कुशलिव अपने श्रोताओ की रुचि का ध्यान रखकर लोकप्रिय अश बढ़ाते रहे। भगवद्गीता मे कृष्ण अर्जुन से कहते है कि शस्त्रधारण करने वालों मे राम हूँ— 'राम. शस्त्रभृतामहम्।' यहाँ पर राम एक आदर्श क्षत्रिय के रूप मे प्रस्तुत किये गये हैं।[1] रामायण की लोकप्रियता बढ चली। सम्भवत पहली शताब्दी ईसवी पूर्व से कृष्ण की तरह अवतार भावना से प्रोत्साहित होकर राम विष्णु के अवतार के रूप मे स्वीकृत हुए। रामभक्ति का आविर्भाव शताब्दियो बाद होने लगा। राम तथा उनके भाई लक्ष्मण दोनो विष्णु के अंशावतार माने जाने लगे।

रामायण काल मे वैष्णव प्रधान भक्ति-सिद्धान्तों का यथेष्ट मात्रा मे उत्कर्ष दिखाई देता है। वाल्मिकी के राम निर्गुण, सनातन आकाशस्वरूप तथा सम्पूर्ण लोकों के आश्रय है। वेद इन्ही का निरन्तर प्रतिपादन करते हैं। उन्होने विष्णु का आश्रय लेकर, रावण आदि राक्षसो से त्रस्त जनता तथा ध्वस्त धर्म के रक्षणार्थ अयोध्यापति दशरथ की रानी कौसल्या के उदर से जन्म लिया है। जिस समय रामचन्द्रजी भाइयों सहित यमुना नदी से स्नान करके लीला का सवरण करने लगे उसी समय ब्रह्मा ने आकर कहा[2]—

वैष्णवी ता महातेजे यद् वा काश सनातनम्
त्वं हि लोके गतिर्देवो न त्वां के चित् प्रजानने।
त्वा म चिन्त्यं महद्भूमक्षयं चाजरं यथा ॥११०-८-१३॥

अर्थ—'हे विष्णुस्वरूप रघुनदन। आइये, आपका प्रत्येक विधान मगलमय है। हमारा बडा सौभाग्य है जो आप अपने परमधाम को पधार रहे है। देवतुल्य तेजस्वी भाइयों के साथ आप अपने जिस स्वरूप मे प्रवेश करना चाहे करे। आपकी इच्छा हो तो चतुर्भुजधारी विष्णु रूप मे ही स्थित हो, अथवा अपने सनातन आकाशमय अव्यक्त ब्रह्मरूप से विराजमान हों। भगवन् आप ही सम्पूर्ण लोको के आश्रय है। आपको यथार्थ रूप से कोई नही जानते। आप अचिंत्य, अविनाशी, जरादि अवस्थाओ से रहित परब्रह्म है।'

रामायण-काल मे अवतारवाद की पूर्ण प्रतिष्ठा हो गयी जान पडती है। सीता भी लक्ष्मी का अवतार है। निर्गुण सदृश राम ही दुष्टो के दलनार्थ सगुण-मनुष्यरूप धारण करके अवतार लेते है। माया से छुटकारा पाने के लिए भक्ति साधन है जो अन्तःकरणपूर्वक करने से मुक्ति मिल जाती है। रामनाम के स्मरण तथा कीर्तन का महत्व है। रामनाम समस्त पापो का नाश करता है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता।
२. कल्याण का संक्षिप्त वाल्मिकी रामायणांक।

रामायण की लोकप्रियता जैसे-जैसे बढती गई वैसे-वैसे राम का भी महत्व बढने लगा। उनकी वीरता अलौकिक वीरता मानी जाने लगी। रावण दुष्टता तथा पाप का मूर्तिमत प्रतीक माना जाने लगा। राम पुण्य, सदाचरण, शील, शक्ति, तथा सौन्दर्य के आदर्श समझे जाने लगे। रामायण के उत्तर काण्ड मे रामावतार की सामग्री सबसे अधिक पाई जाती है। प्राचीनतम पुराणो मे से वायु, ब्रह्माण्ड, विष्णु, मत्स्य और हरिवश मे राम अवतार का उल्लेख पाया जाता है। धीरे-धीरे यह भावना सर्वमान्य होती गयी है। ऐसा माना जाता है कि रामचरित का महान् आख्यान इक्ष्वाकु वश के राजाओ से सबन्ध रखता था जो किसी चली आती हुई मौखिक परम्परा से सप्राप्त था जैसे—

इक्ष्वाकूणामिदं तेषां राज्ञावंशे महात्मनाम्।
महदुत्पन्नमाख्यानम् रामायणमिति श्रुतम् ॥३॥

बाल्मीकि के द्वारा रामचन्द्र इक्ष्वाकु वश के ही थे इसलिये 'रामायण' नाम का एक महान् आख्यान् रचा गया। बाल्मीकि पूर्व ही भार्गव महर्षि ने उसके समान पद्यो की रचना की होगी ऐसा अनुमान किया जाता है - पर वे इस कार्य मे उतनी सफलता नही प्राप्त कर सके जितनी बाल्मीकि को प्राप्त हुई थी। बुद्ध-चरित मे अश्वघोष कवि इसका उल्लेख करते है।[२]

बाल्मीकि नादश्व ससर्ज पद्यंजग्रन्थ यन्नच्यवनोमहर्षिः॥

अर्थात् बाल्मीकि ने केवल 'नाद' अर्थात् शोकोद्गार से वह पद्य बनाया जिसे महर्षि च्यवन कतई नही बना सके।

स्व० चन्द्रधर शर्मा गुलेरीजी का कहना है कि च्यवन बाल्मीकि का पिता, पितामह या पूर्वज था क्योकि बुद्ध चरित के ही एक श्लोकानुसार वे अपना परिणाम निकालते है—

तस्मात्प्रमाणं न वयो न कालः कश्चित्क्वचिच्छ्रैष्ठ्यमुपैति लोके।
राज्ञामृषीणा च हितानितानि, कृतानि पुत्रैरकृतानि पूर्वैः॥[३]

'अर्थात् इसलिए न तो अवस्था प्रधान है, न काल, लोक मे कोई भी कभी भी श्रेष्ठ हो जाता है। राजाओ तथा ऋषियो के कई हितकारक कार्य है जो पुरखाओ से न हो सके और उन्हे उनके पुत्रो ने कर दिखाया।'

इसको मान लेने पर भी यह नही सिद्ध होता हैं कि च्यवन ने गद्य या पद्य मे

१. बाल्मीकीय रामायण, १५—३।
२. बुद्धचरित-श्लोक ४८, सर्ग १।
३. बुद्धचरित—श्लोक ५१, सर्ग १।

रामायण लिखी थी ।[1] हम यह कह सकते है कि महान आख्यान रामायण की प्राचीनता मे किसी को भी सन्देह नही हो सकता ।

प्रसिद्ध पुराणो मे आये हुए रामकथा के प्रसग तथा रामचन्द्रजी के अवतार के रूप मे हमारे सामने आने के अतिरिक्त कुछ ऐसे रामायण ग्रन्थ भी उपलब्ध हो जाते है जिनकी शैली पुराणो जैसी है । ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत ही अध्यात्म रामायण के एक विशिष्ट रूप को हम देखते है । 'हिन्दुत्व'[2] मे स्व० रामदास-गौड जी कुछ रामायणो का उल्लेख करते है जिनमें रामकथा को अलौकिक रूप प्रदान किया गया है । वे रामायण ये है–(१) महारामायण, (२) सस्कृत रामायण, (३) लोमस रामायण, (४) अगस्त्य रामायण (५) मजुल रामायण (६) सुवर्च रामायण, (७) सौर्य रामायण, (८) चान्द्र रामायण, (९) सौहार्द रामायण, (१०) सौपद्य रामायण, (११) रामायण महामाला आदि और भी कई नाम है । इनके अतिरिक्त योगवासिष्ठ रामायण एक वहुत प्रसिद्ध ग्रन्थ है । एम्० विंटरनित्स और एस्० एन्० दास गुप्ता योगवासिष्ठ को आठवी शताब्दी ईसवी का मानते है । लेकिन डा० वी राघवन् के मतानुसार उसकी रचना ११०० ई० और १५२० ई० के बीच हुई थी । अन्य कुछ[3] भारतीय विद्वान इसे ईसवी पूर्व का ग्रन्थ मानते है । इस का मुख्य प्रतिपाद्य विषय वशिष्ठ-रामचन्द्र-सवाद है, जिसमे वसिष्ठ राम को मोक्ष प्राप्ति के उपाय पर एक विस्तृत उपदेश देते है । वाल्मीकि ने अरिष्ठनेमि को यह सवाद सुनाया था तथा योगवासिष्ठ मे अगस्त्य सुतीक्ष्ण की शिक्षा के लिए वाल्मीकि अरिष्ठनेमि सवाद को दुहराते है ।

भारतीय भक्ति मार्ग का आरम्भ तथा उसका विकास कैसे हुआ इसे वेदकाल से आरम्भ कर भागवत धर्म तथा वैष्णव धर्म और वासुदेव कृष्ण के एकान्तिक धर्म तक किस प्रकार प्रगट हुआ इस का विवेचन हम पहले ही कर आये है । हमे यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि उसी विष्णु-भक्ति की एक अन्य शाखा रामभक्ति मे परिणत हो गई । कहा जा सकता है कि रामभक्ति और रामावतार भारतीय सस्कृति का एक महत्वपूर्ण स्तभ है । सर रामगोपाल भाडारकरजी के मतानुसार रामावतार ईसवी सन् के आरम्भ मे हुआ था, पर उनकी उपासना, पूजा एवम् विशेष प्रतिष्ठा ग्यारहवी शताब्दी मे आरम्भ हुई है ।[4] डा० श्रेडर के मत से जिन

१. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग २ (सं० १९७८), पृ० २३६ ।
२. हिन्दुत्व–काशी, पृ० १३८, ४३, रामदास गौड़ ।
३. कामिल बुल्के–रामकथा, पृ० १६३–१६४ ।
४. वैष्णविज्म और शैविज्म–सर रा. गो. भांडारकर, पृ० ४७ ।

वैष्णव सहिताओ मे राम अथवा राधा की एकान्तिक पूजा का प्रतिपादन किया गया है वे अर्वाचीन हैं, तथा पाचरात्र के प्रामाणिक साहित्य के अनुमरण से उत्पन्न हुई है।[1]

कुछ शेखर अल्वार की रचना मे सभवतः प्रौढ रामभक्ति का प्राचीनतम निरूपण सुरक्षित है। इनके अधिकाश पद कृष्ण भक्ति सबन्धी है पर उनकी रचना का पाँचवा अश रामावतार से सम्बन्ध रखता है, जिसमे राम के प्रति अत्यन्त कोमल तथा हृदयस्पर्शी भक्ति अकित की गई है। वैष्णव सहिताओ तथा उपनिषदो मे रामभक्ति तथा रामपूजा का शास्त्रीय प्रतिपादन किया गया है। रामानुज ने अपने श्री भाष्य मे विभवो या अवतारो का उल्लेख किया है, जिनमें कृष्ण और राम विशेष रूप से उल्लिखित है। उनके सप्रदाय मे जिन वैष्णव सहिताओ मे राम सम्बन्धी उल्लेख है वे सहितायें ये है—(१) आगस्त्य सहिता, (२) कालिराघव, (३) बृहद् राघव, तथा (४) राघवीय सहिता। इसके अतिरिक्त रामभक्ति सम्बन्धी तीन साप्रदायिक उपनिषदे है। (१) रामपूर्वतापनीय, (२) रामोत्तर तापनीय, (३) रामरहस्योपनिषद। इन तीनो मे रामोपासना के साथ राम यत्र, राममत्र, तथा सीता मत्र आदि का उल्लेख है। इसके राम परमपुरुष तथा सीता मूल प्रकृति है। राम तापनीय के अनेक स्थलो पर अध्यात्म रामायण के रामहृदय तथा रामगीता से साम्य पाया जाता है।[2] डा० वेवर के मतानुसार रामतापनीय उपनिषद का प्राचीनतम काल ११ वी शताब्दी है।[3] उस समय से राम-भक्ति सम्बन्धी साहित्य का निर्माण होने लगा। स्तोत्रो के अतिरिक्त रामोपासना के विषय मे रची गयी बहुत सी रचनाएँ मिलती है। इनमे से कुछ हस्तलिखित रूप मे सुरक्षित हैं। उदाहरणार्थ—रामार्चन सोपान (राजेन्द्रलाल मित्र, सस्कृत कॅटलाग भाग ६,पृ० २०२ सर्व सिद्धात (राजेन्द्रलाल मित्र, सस्कृत कॅटलाग भाग ७, पृ० ६६) रामार्चन चन्द्रिका (हरप्रसाद शास्त्री, संस्कृत कॅटलाग भाग १, पृ० ३२३) तथा रामपूजा पद्धति (हरप्रसाद शास्त्री, सस्कृत कॅटलाग भाग १, पृ० ३२३)

ये सब रचनाएँ ऐसी हैं जिनकी छानबीन एवम् विश्लेषण अभी पूर्ण रूप से नही हुआ है। रामभक्ति के विकास मे इतना ही कहा जा सकता है कि रामानन्द द्वारा राम भक्ति को बहुत प्रोत्साहन मिला था। प्रायः लोग रामानुजाचार्य से रामानन्द का सम्बन्ध जोडते हैं तथा एकाध प्रचलित ग्रन्थ उनके नाम पर लिखा

१. इन्ट्रोडक्शन टू दी पांचरात्र—डा० श्रेडर, पृ० ११।
२. बुल्के–रामकथा, पृ० १५०–१५१।
३. ए वेवर–मे, व्यय बर्लिन अकादमी १८६४, पृ० २८३।

हुआ माना जाता है जैसे—वैष्णव-मताब्ज-भास्कर, श्री रामार्चन-पद्धति। रामायत सम्प्रदाय के व्यापक प्रसार का महत्व तुलसीदास तक उत्तर मे तथा एकनाथ रामदास तक दक्षिण मे बहुत बढ गया है। इसका अधिक विवेचन हम आगे चल-कर करेंगे।

रामकथा मे समूची और सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति समन्वयात्मक रूप धारण कर व्यापक रूप से सामने आई है। लोकप्रियता की दृष्टि से लगातार अबाध गति से अक्षुण्ण रूप से भारत मे ही नही, देश विदेशो मे भी उसका प्रचार प्रसार का मुख्य आकर्षण और प्रमुख कारण यह है कि उस मे हृदय को खीच लेने की अपूर्व और अद्भुत शक्ति है। भारत की समस्त आदर्श भावनाएँ, चिन्तन के सभी आदर्श पक्ष, उपासना और साधना के सभी उत्कर्ष, एवम् समस्त सास्कृतिक आदर्शवाद की कल्पनाएँ रामकथा मे, रामराज्य की आदर्श कल्पना मे केन्द्रीभूत होकर अत्युत्तम आदर्शवाद की उज्ज्वलतम प्रतीक बन गई है।

इस कथा ने बौद्धों-जैनो की कथाओ, जातक कथाओ को एवम् उनके साहित्य को ही प्रभावित नही किया अपितु किसी न किसी रूप मे इन्दोनेसिया, खोतान, चीन, तिब्बत, इन्दोचीन, सयाम तथा ब्रह्मदेश और भारत के पश्चिम मे सुमेर के निवासी सुमेरियन लोगों मे पाई जाने वाली रामकथाएँ है। इसके व्यापक स्वरूप की कहानी कहने का यह स्थल भी नही है। इसका व्यापक अध्ययन करना हो तो अलाहाबाद विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित रेवरेंड फादर डा० कामिल बुल्के कृत रामकथा विशेष दृष्टव्य है।[1] व [2] रामोपासना विषयक विवरण इसलिए यही पर समाप्त किया जाता है।

वैष्णव उपासना और विठ्ठल का स्वरूप—

अपने प्रबन्ध मे अन्य वैष्णव सप्रदायों के विवेचन के साथ वारकरी सप्रदाय का विवेचन आगे किया जायगा। वैष्णवोपासना के इस आरम्भिक विवेचन मे हमने देखा कि वेदकालीन परम आराध्य देवताओ में परम आराध्य विष्णु से वासुदेव, नारायण, कृष्ण, रामचन्द्र आदि उपास्यों का विभिन्न स्वरूप बनता गया है। विठ्ठलोपासना कृष्णोपासना का ही एक अलग रूप है। महाराष्ट्र में रामोपासना के साथ कृष्णोपासना के अंतर्गत कृष्ण के मूल प्रचलित रूप से सम्बद्ध विठ्ठलोपासना है। महाराष्ट्र में इसका अत्यन्त महत्व है। यहाँ पर पंढरपूर और विठ्ठल के बारे मे विवेचन करना आवश्यक है तभी हम उसके स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।

---

१. रामकथा उत्पत्ति और विकास—डा० कामिल बुल्के।

२. मानस की रामकथा—परशुराम चतुर्वेदी।

पंढरपुर मे विठ्ठल मन्दिर मे ईंट पर खड़े हुए विठ्ठल की मूर्ति है तथा उनके बगल मे रुक्मिणी की मूर्ति है जो यहाँ पर 'रखुमाई' के नाम से प्रसिद्ध है। आषाढ की शुक्ल एकादशी तथा कार्तिक की शुक्ल एकादशी के दिन विट्ठल के भावुक भक्त भगवान् की भव्य मूर्ति के दर्शन कर अपना जीवन तथा जन्म सफल करते है। साल मे कम से कम दो बार यहाँ यात्रा के लिए आना पुण्यलाभकारक समझा गया है।

ऐसा कहा जाता है कि विष्णु के इस स्वरूप की भक्ति दक्षिण मे और कर्नाटक मे प्रचलित थी। इसकी साक्ष्य धारापुरी, तिरुपति, अहोवलपुरम् इन स्थानो पर पायी गयी मूर्तियो से मिल सकती है। ये सभी मूर्तियाँ विट्ठल की हैं। पढरपुर मे होयसल वश के वीर सोमेश्वर के द्वारा उत्कीर्ण एक लेख मिलता है जिसमे देवता की पूजा अर्चा के लिये आसदिनाड के हिरियगज ग्राम का दान किये जाने का उल्लेख है। अर्थात् इससे विट्ठल और होयसल वश का निकट सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है। इन होयसलो मे विष्णुवर्धन वा विट्टिग देव एवम् विट्टी देव बडा पराक्रमी माना गया है। इसका समय सन् १११७ से सन् ११३७ का है। रामानुज के उपदेश से जैन धर्म का परित्यागकर यह वैष्णव धर्म मे दीक्षित हुआ। पुंडरीक मुनि या पुडलीक भक्त के साथ इस राजा का सम्बन्ध आया और उसकी आज्ञानुसार विट्ठल का मन्दिर भीमा के तट पर उसने बनवाया। राजा के ही नाम पर यह विष्णु मन्दिर कहलाया। अनुमान के अतिरिक्त और कोई साक्ष्य यहाँ हम नही दे सकते।

पढरपुर मे आजकल जो मूर्ति विद्यमान है तथा मन्दिर का आज जो स्थान है वही पुराना स्थान था और मूर्ति भी वही है ऐसा निश्चित नही कह सकते। कई वार मुसलमानो के आक्रमणो ने अनेक देवताओ के मन्दिर तोडे और प्रत्येक वार भयनिवारण हो जाने पर देवताओ को पुन पुन प्रस्थापित किया गया। कभी-कभी मूर्तियो को छिपाकर भी रखा जाता था। भारत के लिए यह अनुभव नित्य का ही है। उत्तर प्रदेश मे व्रज तथा मथुरा पर जब-जब आक्रमण हुए तब-तब वहाँ की मूर्तियो को हटाया गया है। मूर्ति-भजन हो जाने पर नई मूर्तियो की भी प्राण-प्रतिष्ठा हुई है। अत पढरपुर मे ऐसा न हुआ हो ऐसा नही कहा जा सकता। पढरपुर मे ऐसा ही हुआ है।

पढरपुर की विट्ठल मूर्ति विजयनगर मे क्यो ले जाई गई थी इसका कारण द्वैत मत के वैष्णव सत इस प्रकार देते है। सत्रहवी शती मे श्री विट्ठल नामक एक कन्नड भक्त कवि का यह पद्य इसे स्पष्ट करता है। यथा—

नीनिल्लिगे वंद्या विठला[1] एनिदु कौतुकवु ।
मध्वदेषिगळु माडुव पद्धति यनु कंडु ॥
हृद्य वागदेकद्दु कळुहनं ते एद्दिल्लिगे वंद्या ।
मिथ्या वादिगळु निरन्तर सुत्ति मुत्ति कोंडु ॥
अत्तु करेदु कुमुत्तिरे कंडु ।
वे सत्तु वंद्या विठला ॥
श्रीद विट्ठल निन्न सदगुण वेदशास्त्र गळु ।
शोधि सिनो उलु भुदेवरि गोलिदु ॥
आदरि सलु वंद्या विट्ठला ॥

तात्पर्य, मध्यद्वेषी, मिथ्यावादी अर्थात् अद्वैतमार्गी भक्ति करने वाले वेदबाह्य आचरण तथा गडबड देखकर मन उद्विग्न हो गया तथा वेदशास्त्रादि का उत्कर्ष देखकर उसके प्रति अपनी स्वीकृति बतलाने के लिए तथा ब्राह्मणो का आदर सत्कार करने के लिए विट्ठल वहाँ पर गये ऐसी द्वैतवादी भक्तों की धारणा है ।

विजय नगर मे विठ्ठल मूर्ति को इसीलिए ले गये होगे । जिससे यावनी भय नष्ट होकर उसका महात्म्य कायम रह सके । प्रसिद्ध वैष्णव विठ्ठल भक्त पुरंदरदास ने अपने साथियों सहित अपने जीवन का उत्तरकाल विजयनगर में व्यतीत किया था । विट्ठल भक्ति परम्परा कर्नाटक मे पहले से ही प्रचलित थी ऐसा दिखाई देता है ।

दक्षिण मे जब आर्यो का प्रवेश हुआ तब यहाँ के मूल आदिवासियों के प्रमुख उपास्य का भी आर्यीकरण अवश्य हुआ होगा । इसी समन्वयीकरण के ही कार्य-स्वरूप पंढरपुर के विठोबा-विठ्ठल-विष्णु के बालरूप माने गये और अवतार भी समझे गये ।[2] ठीक इसी प्रकार बालाजी, व्यकटेश तथा त्रावणकोर के पद्मनाभ का भी हुआ है । वारिदराज तीर्थ ने शक १४९३ मे 'तीर्थ-प्रवन्ध' नामक काव्य मे विट्ठल स्तुतिपरक कुछ श्लोक रचे हैं जिनमे से एक यह है[3]—

चौर्यन्मातृनिवद्ध चारु चरणः पापोद्य चौ यदि बुधै,
बुद्धस्त्वं पथि पुन्डरीक मुनिना जारेति सम्बोधिता ।
तुंगातीर गतोसि विठ्ठल दिशन्तन्याकृति वांछितम् ।
वेत्तृणां यदि मे न दोस त्वं सं स्थितिः कथ्यते ॥

---

१. श्री विट्ठल आणि पंढरपूर—श्री ग. ह. खरे, पृ० ६६–६७ ।

२. एनसायक्लोपिडिया ऑफ दि रिलिजन अँड एथिक्स वाल्यूम–६–७०२ ।

३. पूर्व प्रबन्ध-श्लोक १३–२, कर्नाटक कविचरित खंड ३–पृ० १५१ ।

इस श्लोक मे विठोवा तुङ्गातीर पर स्थित विजयनगर मे गया था यह उल्लेख है।

विठ्ठल मूर्ति और जैन मत —

कुछ लोग विठ्ठलमूर्ति को नेमिनाथ जैन तीर्थंकर की मूर्ति मानते हैं। इस प्रकार के तर्क का आधार एक जैन ग्रन्थ है जिसका उल्लेख गोडवोले कृत भारत-वर्षीय अर्वाचीन कोश मे इस प्रकार है—

नेमिनाथस्य या मूर्ति स्त्रिषु लोकेषु विश्रुता।
द्वौ हस्तौ कटिपर्य्याये स्थापयित्वा महात्मनः॥१॥
मूर्तिस्तिष्ठति सा सम्यक् जैनेन्द्रैणच पूजिता।
अहिंसा परमं धर्म स्थापयामास वे सच॥
युगेस्तु मनुजा क्षीणि विप्र भुमिश्च वासके।
मेलने धर्म राजस्य शंकस्य च गतावधिः॥
आषाढ़े शुक्ल पक्षे तु एकारश्यां महतिथौ।
वुधे च स्थापया मास विरोधिकृत वासरे॥

इस जैन ग्रन्थ का पता नही लगता। कमर पर हाथ रखे हुए और आयुध धारण करने वाली तीर्थकरो की मूर्तियाँ कही भी नही मिलती है। ऐसी परिस्थिति मे केवल मूर्ति की नग्नता से ही विठोवा को नेमिनाथ की मूर्ति वना देना औचित्य को छोडकर मत प्रकट करना है। इससे केवल इतना सिद्ध हो सकता है कि महाराष्ट्र मे जव जैन मत का प्रभाव छाया होगा और प्रसार हुआ होगा तव अहिंसा-धर्म-स्थापना मे इस मूर्ति का उपयोग कर लिया गया होगा। वस्तुत: यह मूर्ति जैनियो की नही है; क्योकि अन्तर्गत प्रमाणो के आधार पर मूर्ति के आगिक भावो पर से ही यह वात सिद्ध हो जाती है। यह श्रीकृष्ण का गोकुल का वाल रूप ही है। कमर पर हाथ धरे हुए विठ्ठल खडे है। एक हस्त मे कमल है तथा दूसरे मे शख। भाल प्रदेश पर और पीठ पर छीके की रस्सी है। तुकाराम इस मूर्ति का वर्णन यो करते हैं[1]—

पांडुरंग वालमूर्ति गाई गोपाळ संगाती।
येऊनिया प्रीति, उभे समचि राहिले॥

यह पाडुरङ्ग की वालमूर्ति है तथा साथ मे गोपाल सखा और गायें है। अत्यन्त प्रीतीपूर्वक यहाँ आकर वे इस ध्यान मे खडे है।

१. श्री तुकाराम–२०३, सकल–संत गाथा।

विठ्ठल की अन्य मूर्तियाँ—(१) अहोबलम् की विठ्ठल-मूर्ति पुरानी मूर्ति है कमर पर हाथ धरे हुए है, अन्य हाथो मे क्रमश. शंख और कमल है, तथा मस्तक पर टोपीनुमा मुकुट शोभायमान है। (२) जोगेश्वरी की गुफा से प्राप्त विठ्ठलमूर्त्ति एक भग्नमूर्ति है जो आठवी शताव्दी मे उपलव्ध हुई थी। निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह विठ्ठल मूर्ति ही है। (३) धारापुरी की गुफा मे मिली हुई खडित विठ्ठल मूर्ति ८ वी शती की ही है, जो ववई के प्रिन्स ऑफ वेल्स म्यूजियम मे लाकर रख दी गई है। कमर पर धरा हुआ हाथ ऊपर से खडित है। कमर पर वस्त्र, मेखला तथा वाई गोद पर टिका हुआ हाथ शख लिए हुए है। (४) तिरुपति वालाजी की विठ्ठलमूर्ति सबसे सुन्दर मूर्ति है।

सामान्यतः मध्ययुग के पूर्व ही विठ्ठल भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ होगा ऐसा कहा जा सकता है। शकराचार्यजी के द्वारा रचित एक पाडुरगाष्टक है जिसका आरम्भ निम्नलिखित श्लोक से किया गया है।[1]

महायोगपीठे तटे भीमरथ्यां वरं पुन्डरीकाय दातुं मुनीद्रै।
समागत्य तिष्ठन्त आनंदकंदं परब्रह्मलिगं भजे पान्डरंगम्॥

—पान्डुरंगाष्टक।

यो इस 'पाडुरग-स्तोत्र' के शकराचार्य कृत होने मे आलोचको को अभी सन्देह वना हुआ है। यदि सचमुच वह श्रीमदाचार्यकृत है तो विठ्ठल का अविर्भाव सातवी शताव्दी से पूर्व मानने मे कोई आपत्ति नही हो सकती।

'मालूतारण' नामक एक ग्रन्थ है। इस ग्रन्थ का निर्माण मालू नाम के एक स्वर्णकार जाति के मनुष्य ने किया है। यदि यह विश्वसनीय है तो पान्डुरग मूर्ति शालीवाहन शक ४-५ तक पुरानी मानी जा सकेगी। इस ग्रन्थ के बत्तीस अध्याय हैं, तथा उसमे विक्रम और शालीवाहन के सघर्ष की कहानी है। शालीवाहन तथा उसके अमात्य रामचन्द्रपत सोनार विक्रम के आक्रमण से वडे चिन्तित थे, पर अचानक चार कोली सरदारो ने मदद देकर शालीवाहन को विजय प्राप्त करा दी। इसी उपलक्ष मे शालीवाहन ने अमात्य रामचन्द्र को जमीन दान देकर उसकी सनद वना दी। इस सनद मे रामचन्द्र पत को दीडीखन मे उन्ही के द्वारा वसाये गये पढरपुर का स्वामित्व प्रदान किया। पाडुरग की इन पर कृपा थी। चार कोली सरदारो को भी रामचन्द्र पत ने पढरपुर मे वसाया और पुन्डलीक विठ्ठल, मल्लकार्जुन और काल भैरव आदि देवता स्थानो से प्राप्त होने वाला द्रव्य वश परम्परागत रूप मे उन्हे दान के रूप मे लिख लिया। ये सनदे शालीवाहन के

१. वारकरी संप्रदाय—प्रा. शं. वा. दांडेकर, पृ० १३-१४।

हस्ताक्षर और अपने सिक्के सहित रविवार चैत्र शुद्ध सप्तमी शक ५, सुन्दरनाम के सवत्सर के दिन प्रदान की है।

पढरपुर मे चार शिलालेख उपलब्ध हो गये है जो पढरपुर पर प्रकाश डालते हैं जिनका ऐतिहासिक क्रम इस प्रकार है[१]—(१) शक ११५६ का शिलालेख—यह शिलालेख सोलह स्तभो के सामने वाले दक्षिणोत्तर स्तभ पर खोदा गया है। इसकी भाषा कानडी और सस्कृत मिश्रित है। पढरपुर को 'पडरगे' और विठोबा को 'विठ्ठल' कहा गया है। विठ्ठल देवस्थान के विठ्ठल के अगभोग और रङ्गभोग के लिए हिरियगज ग्राम के दान कर दिये जाने का इसमे उल्लेख है।

(२) शक ११६२ का 'आप्तोर्यामइष्टि' का शिलालेख—इसमे किसी केशवपुत्र भानु नाम के व्यक्ति के द्वारा पाडुरगपुर मे किये गये आप्तोर्याम यज्ञ का उल्लेख है। पढरपुर मे एक पुलिस चौकी है जिस की इमारत बहुत पुरानी है। इसी स्थान पर यह शिलालेख उपलब्ध हो गया है। 'Archaeological Survey of India, W. C. Report 1897–98 के पृष्ठ ५ मे बतलाया गया है कि पुराना विठ्ठल मदिर अनुमानतः इसी स्थान पर था। पर श्री ग. ह. खरे इस मत से सहमत नही है।

(३) शक ११९५ से शक ११९९ का चौरासी का शिलालेख—अनेक भक्तो के द्वारा पुराने विठ्ठल मदिर के जीर्णोद्धार के लिए सपत्ति दान करने वाले दाताओ की नामावली इस पर खुदी हुई है। इतिहासकार राजवाडे इस को जीर्णोद्धार विषयक नही मानते। पर इतना तो निश्चित है कि यह लेख पुराने देवालय की वृद्धि प्रीत्यर्थ दान दिया गया था इस बात को सिद्ध करता है तथा देवतास्थान के अस्तित्व का सूचक हो जाता है।

एक और शिलालेख चौरासी-लेख से भी पुराना ८७ वर्ष पूर्व का अर्थात् शक ११११ का उपलब्ध हो गया है। पढरपुर के इस शिलालेख को डा० श० गो० तुळपुळे जी ने अत्यन्त परिश्रमपूर्वक पढा है जिसके निष्कर्ष इस प्रकार के है—

(१) पढरपुर मे विठ्ठल भक्ति अनुमानतः ६ ठी शताब्दी से प्रचलित थी।

(२) १२ वी शताब्दी मे यह भक्ति विशेष रूप से प्रचार मे थी।

(३) विठ्ठल भक्ति का प्रचार जिस देवता के कारण हुआ उसका मन्दिर शक ११११ मे बना।

---

१. पंढरपूर विठ्ठल मंदिराच्या इतिहासांतील एक अज्ञात दुवा—प्रो. शं. गो. तुळपुळे मराठी साहित्य-पत्रिका एप्रिल, मई, जून १९५६ संख्या ३०, पृ० २६–२८।

(४) इसके बाद देवालय मे वृद्धि होती गयी। शक ११५६ में होयसल वंशीय वीर सोमेश्वर ने कर्नाटक का एक ग्राम दान दिया। शक-११६२ मे एक आप्तोर्याम यज्ञ किया गया था जो इसी देवालय के प्रागण में किया गया। शक ११६५ मे 'पाढरी फड मुख्य प्रौढ प्रताप चक्रवती श्रीरामदेव राव यादव और उसके 'करणाधिप' हेमाद्री पण्डित ने अपने नेतृत्व मे इस देवालय का विस्तार किया।

(५) इसके बाद मुसलमानी आक्रमण के कारण पंढरपुर का विठ्ठल मदिर नष्ट हो गया। फिर इसको बनाया गया। यही शिवाजी-कालीन मदिर आज भी वर्तमान है।

बगाल के प्रसिद्ध द्वैतवादी वैष्णव महासाधु गौराग महाप्रभु चैतन्य ने दक्षिण यात्रा की थी। यह यात्रा सन १५१०–११ मे की गयी थी। कृष्णदास कविराज नाम के उनके एक भक्त कवि ने अपने 'चैतन्य चरितामृत' मे इसका उल्लेख किया है, जिसमे बतलाया गया है कि चैतन्य कोल्हापुर से पढरपुर गए थे। उसका उल्लेख इस प्रकार है—

तथा होइते पान्डुपुर आइला गौरचंद्र। विठ्ठल देखि पाइल आनन्द।
प्रेमावेशे कैल प्रभुकीर्तन। प्रभु प्रेमे देखि सवार-चमत्कार मन॥

पढरपुर मे विठ्ठल को देखकर चैतन्य महाप्रभु को आनन्द हुआ। उन्होने प्रेमपूर्वक विठ्ठल के सामने कीर्तन तथा नर्तन किया। नरनारी इनके इस प्रकार के प्रेम को देखकर चकित और मुग्ध हो गये।[1] विठ्ठल मूर्ति के सम्बन्ध मे एक और जानकारी विद्वद्रत्न डा० रामचन्द्र पारनेकरजी इस प्रकार देते हैं[2]—

विठ्ठल की आधिदैविक जानकारी—

लोगों का विश्वास है कि विठ्ठलमूर्ति कृष्ण मूर्ति ही है। दक्षिण मे कर्नाटक और आन्ध्र प्रान्त मे बालाजी के मन्दिर है। बालाजी विष्णु का ही स्वरूप है। महाराष्ट्र मे यह विठ्ठल स्वरूप बनकर विठ्ठल मूर्ति के नाम से प्रस्थापित की गई। बालाजी को विष्णु का अवतार माना जाता है उसकी कथा इस प्रकार है। बालाजी के साथ लक्ष्मी नहीं है वह रूठकर अंविहा रूप से करवीर (कोल्हापुर) मे निवास कर रही है। विठोबा भी पढरपुर मे अकेले ही आये है।

१. 'चैतन्य चरितामृत'—कृष्णदास कविराज मध्यलीला, ९ वां परिच्छेद।
२. पंढरपुर के विठोबा की आधि दैविक जानकारी—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी के एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

रुक्मिणी–रखुमाई का मदिर गाँव के बाहर है। यहाँ भी वही रूठने की कल्पना है। रुक्मिणी रूठी हुई है और विठ्ठल या विठोबा अकेले ही खडे हैं। इसी विठ्ठल का दूसरा नाम पाडुरग है। इस रूठने का कारण यह है कि विठ्ठल को पद्मिनी नाम की राजकन्या से विवाह करना था और दूसरा रग अर्थात् संसार बसाना था। इसीलिए कहा जा सकता है पद्म रग की कल्पना विठ्ठल के मनमे थी। परन्तु रुक्मिणी के रूठ जाने से वह बदरङ्ग हो गया। ऐसे समय मे सहज ही विचार उत्पन्न हो गया कि प्रथम गृह-ससार समाप्त हो गया और दूसरा गृह-ससार करने की इच्छा है, पर अभी वह निर्माण न हो सका यह विठ्ठल की तटस्थता-वृत्ति है। कृष्ण की इसी ताटस्थ्यवृत्ति युक्त ध्यान की कल्पना भक्तो ने की जो पंढरपुर के विठ्ठल रूप मे अवतीर्ण हो गयी। शिल्पकार ने इसी ताटस्थ्य भाव प्रकटीकरणार्थ कमर पर दोनो हाथ रखी हुई विठोबा की मूर्ति का निर्माण किया। जब हम चितामग्न या विचारमग्न रहते हैं तब इसी प्रकार कमर पर हाथ रखकर कही देखा करते है। इसी अनुभव को शिल्पकार ने प्रकट किया। पद्मरग शब्द का पाडुरग अपभ्र श रूप है। दक्षिण की भाषाओ मे उदासीनता निर्देशक कोई शब्द रहा होगा जिसका अपभ्र श रूप विठ्ठल बना होगा। यो वारकरी सप्रदाय के विद्वान विठ्ठल शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार देते है— वि=नही या विगत+ठ=अज्ञात+ल=लक्षणा द्वारा अज्ञान नष्ट करने वाला और ज्ञान प्रस्थापित करने वाला अर्थात् विठ्ठल पर यह अर्थ किसी तरह खीचतान-कर किया गया जान पडता है। भागवत या वारकरी सप्रदाय के वह अनुरूप नही है अतः वैसा अर्थ करने का कोई प्रयोजन नही है।

सीधे रूप मे भी प्रथम गृहस्थी न हो सकी अर्थात् बदरग हो गयी और दूसरी गृहस्थी को बसाने या करने की इच्छा मात्र है इस बीच की तटस्थ भाववृत्ति का भक्ति के द्वारा किया गया सगुण ध्यान और सगुण मूर्ति ही पाडुरग-विठ्ठल की है। 'पाँडुरग' शब्द का अर्थ इस प्रकार होगा—जिसका ससार-रग पाडुर याने फीका हो गया है ऐसा शब्द पाडुरग है। पद्मरग का पाडुरग अपभ्रंश रूप है ऐसा मानने की भी कोई आवश्यकता नही है।

विद्वद्वर पारनेरकरजी का कहना है कि सगुणोपासना के तंत्र विधान की दृष्टि से विठ्ठल का यही ध्यान योग्य है। आध्यात्मिक अर्थ से निर्गुणोपासना का अर्थ लगाना अयोग्य है।[१]

---

१. डा० रा. प्र. पारनेरकरजी के एक अप्रकाशित लेख के आधार पर।

कुछ अन्य व्युत्पत्तियाँ—

'पढरपुर' और 'विठ्ठल' शब्द इस प्रकार बने है—

(१) पढरपुर के[1] पुराने नाम पढरि—पाडुरगपुर, पडरिपुर—फागनिपुर, पौडरीक क्षेत्र, पाडरगपल्ली इस प्रकार के मिलते है। पौडरीक से सत पुडलीक का सबध निश्चित हो जाता है। 'पडरगे' कन्नड नाम है। पडरिपुर के सस्कृत रूप पडरिका से पडरिआ उससे पडरी या पढरी यह रूप बना है। भाडारकरजी के अनुसार पाडुरंगपुर का पंढरपुर बना है। इस नगर के आराध्य देवता को विठ्ठल, विठोबा, पंढरिनाथ, विठाई माऊली (माता के अर्थ मे) आदि नामो से सबोधित किया जाता है। सबसे प्रमुख 'विठ्ठल' है।

(२) 'विठ्ठल तथा रखुमाई शब्द की व्युत्पत्तियाँ इस प्रकार से बताई जाती है।

(अ) भाडारकर के मतानुसार 'विष्णु'का कन्नड रूप 'विट्टि' होता है विष्णुदेव-विट्टिदेव—विट्टिगदेव—विठ्ठल देव ऐसा अपभ्रंश रूप बना है।

(आ) राजवाडे के अनुसार 'विठ्ठल' शब्द 'विण्ठल' से बना है। विण्ठल=दूर जंगल का स्थल। जगल मे रहने वाला—दूर रहने वाला देवता याने विठ्ठल है। इतिहास, दतकथाएँ तथा व्युत्पादन सुलभता की दृष्टि से यह व्युत्पत्ति ग्राह्य है।

(इ) मॉसियर जे. झिलस्की ने 'आर्किव्ह ओरिएन्तालिनी' के चौथे खड के दूसरे अङ्क मे एक लेख लिखकर उसमे 'विष्णु' शब्द का मूल द्राविण और आस्ट्रोएशियाटिक रूप सुझाया है। 'विष्णु' शब्द के पर्याय वेष्णु, वेठु, विठु तथा विठ है। इनमे से त – नु (Non Aryan) अनार्य प्रत्यय निकाल देने पर विठ्, विष्, वेठ्, वेष् ये धातु बच जाते है। आस्ट्रो-एशियाटिक भाषाओं मे 'प' और 'ठ' का विपर्यय होता है। इसी से उसका ठत रूप बन जाता है।

(ई) 'विठ्ठल' विष्णु शब्द का अपभ्रंश रूप है। विष्णु=विठ=वेठ हो गया। बंगला मे वैष्णव शब्द का उच्चारण 'वोईष्टोम' होता है।

(उ) रुक्मिणी तथा रखुमाबाई या रखुमाई ये भी एक ही शब्द है। श्री ग. ह. खरे सुझाते है कि मुसलमान पूर्वकालीन इतिहास मे लक्ष्मा-देवी-लकमादेवी ये नाम रानियो के लिए आया करते थे। विष्णुवर्धन की रानी का नाम लक्ष्मादेवी या लुकमादेवी था। 'लक्ष्मा' या लकुमी से ही

---

१. श्रीविठ्ठल आणि पंढरपुर—श्री ग. ह. खरे, पृ० ५० ।

रखमा वा रखुमा बना होगा। विष्णु-रुक्मिणी नाम की युगल जोडी प्रसिद्ध नही है पर विष्णु-लक्ष्मी यह युगल जोडी प्रसिद्ध है।

(ऊ) धर्मसिंधु के लेखक काशीनाथ पाध्ये इसकी व्युत्पत्ति इस प्रकार देते हैं—विदा ज्ञानेन ठान शून्यात् लाति गृह्णाति इति विठ्ठला अर्थात् ज्ञान शून्य भोले-भाले अज्ञ जनो को जो अपनाते है ऐसे विठ्ठल है।

(ए) 'तुकाराम' के एक अभङ्गानुसार विष्णु का गरुड वाहन होने के कारण विष्णु 'विठोबा' नाम से प्रसिद्ध हुए।[1] विष्णु का ही प्राकृत रूप 'विठु' हुआ जिसमे 'ल' प्रत्यय तथा आदर सूचक 'बा' प्रत्यय जोडने से क्रमश विठ्ठल और विठोबा बने है।

इस तरह हमने अनेक प्रकार की व्युत्पत्तियाँ देखी और प्रमाण इकट्ठे किये जो विठ्ठल की महिमा अपने-अपने ढग से बतलाते है। इन सब मे विद्वद्रत्न डा० रा. प्र. पारनेरकर की विवेचना हमे अधिक तर्क सगत और समीचीन लगती है।

नामदेव और ज्ञानदेव पूर्व ३३६ वर्षो से विठ्ठल के उपासक करीब-करीब विठ्ठल भक्ति करते आये है ऐसा 'युगे अठ्ठावीस विटेवरी उभा' इस प्रसिद्ध नामदेवकृत विठोबा की आरती के प्रथम चरण से ज्ञात होता है। 'पुडलीक वरदे हरी विठ्ठल' की मधुर सान्द्र ध्वनि से पुंढरपुर का गगन मडल विठ्ठल भक्त निनादित कर देते है। हरिदासी–सम्प्रदाय के लोग विठ्ठल की ही उपासना करते हैं तथा तिरुपति के बालाजी-वेकटेश तथा उडुपी के कृष्ण के भी उपासक है। इनके अनुसार पाडु याने पाडव और रग याने श्रीकृष्ण। श्रीकृष्ण पाडवो के समर्थक थे। अत: इस भक्ति की व्यापकता का पता लग जाता है। स्मरण रहे कि यह उपासना अपने सम्पूर्ण रूप मे भागवत-धर्मीय है। पुडलीक भक्त के हितार्थ श्रीकृष्ण ने भक्तो के कृपार्थ एवम् उनके निरीक्षण के लिए यह अवतार लिया ऐसी धारणा है। पुडलीक के बारे मे कोई ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नही है। पर इस सप्रदाय के भक्तो मे यह धारणा प्रचलित है जो झूठी नही कहला सकती। काल के उदर मे ऐतिहासिक साक्ष्य नष्ट हो जाने पर भी जन प्रचलित अटूट विश्वास ही ठोस आधार का कार्य करता रहता है। ज्ञानदेव कृत 'हे नव्हे आज कालीचे युगे अठ्ठाविसाचे', यह अभग सत नामदेवकृत 'युगे अट्ठावीस विटेवरी ऊभा' यह आरती, तथा 'युगे झाली अठ्ठावीस अजुनी न म्हणशी बैस' यह तुकाराम कृत अभग इस उपास्य की स्वयभू और प्रकट होने की पुरानी अन्तर्साक्ष्य दे देते है। विठ्ठल के मस्तक पर शिवलिंग

---

१. वी चा केला ठोवा म्हणोनि नाव विठोबा—तुकाराम अभंग गाथा।

है ऐसी भी धारणा इस मत के लोगो की है। निवृत्ति नाथ का यह अभंग इस की पुष्टि करता है[1]—

(१) पुंडलिकाचे भाग्य वर्णावया अमरी नाही चराचरी ऐसा कोणी ॥
विष्णुसहित शिव आणिला पंढरी। भीमा तीरीं पेखणे जेणे ॥घृ॥[2]

इसी प्रकार से ज्ञानदेवजी भी अपने एक अभग मे कहते है[3]—

(२) रूप पाहाता तरी डोळसु। सुन्दर पाहाता गोपवेषु।
महिमा पाहाता महेषु। जेणे मस्तकी वदिला ॥

वारकरी सप्रदाय के अतिरिक्त सन्त रामदास भी इस बात का समर्थन करते हुए कहते है[4]—

(३) विठो ने शिरी वाहिला देवराणा। तया अन्तरी ध्यास रे त्यासि नेणा।

इससे यह निश्चित हो जाता है कि शैव वैष्णवो के समन्वय की दृष्टि इस सम्प्रदाय के उपासको मे भी मूलतः विद्यमान थी। इसका कारण 'विठ्ठल भूषण' ग्रन्थ रचने वाले श्री गोपालाचार्य इस प्रकार बतलाते है[5]—'श्री पाण्डुरग मस्तके शिवलिंगमस्ति इति शैवा., तत्तुच्छ शिक्य मौलि इति तीर्थ हेमाद्रि धृत प्रागुक्त स्कादन्ति निरोधात्। शिक्य मौलि. शिक्य ग्रन्थि.। गोपालाचार्य के मत से विठोबा के मस्तक पर शिवलिंग है ऐसा मानने वाला एक मत है किन्तु वे स्वय वैष्णव होने के कारण इस मत के मानने वाले को शैव समझते है। जो भी हो उनका यह भी कथन है कि विठोबा की मूर्ति गोपवेषधारी श्रीकृष्ण की है। गोपालो के पीठ पर छीका रहता है यह माना जाय। कर्नाटकी वैष्णव सम्प्रदाय पर उस प्रान्त के प्रसिद्ध वीर शैव सम्प्रदाय का प्रभाव कम नही पड़ा है। यो प्रसिद्ध है कि भक्ति द्राविड़ देश मे उत्पन्न होकर कर्नाटक से महाराष्ट्र मे आई है। वारकरी-सम्प्रदाय के अध्वर्यू श्री ज्ञानेश्वर का सम्बन्ध नाथ पथ से है जो शैवमत से निकला है। इन सब बातो को देखकर हरिहर का समन्वय यदि विठ्ठलोपासना मे प्रचलित रहा हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है बल्कि यह एक सच्चा निष्कर्ष है ऐसा मानना पड़ेगा। तुलसी के राम भी तो शकर के उपासक तथा शंकर राम के भक्त

---

१. सकल संथ गाथा—पृ० १०४, अभंग सं० २२०१ निवृत्तिनाथ।
२. निवृत्तीनाथकृत अभंग नं० २२०१, पृ० १०४, सकल संथ गाथा।
३. ज्ञानेश्वर के अभंग—१०—२।
४. संत रामदास—अभंग।
५. विठ्ठलभूषण—श्रीगोपालाचार्य।

समझे गये हैं।[1] महाराष्ट्र मे कर्नाटक से ही विठ्ठलोपासना आई है ऐसा कुछ विद्वानो का मत है तो कुछ उसके ठीक विरुद्ध है। इसकी और चर्चा यहाँ पर अप्रासगिक होगी। विठ्ठल का शकर को अपने मस्तक पर धारण करना आत्मलिग का प्रतीक माना जावेगा।

विठ्ठल मूर्ति और बौद्ध मत—

जिस प्रकार कुछ लोग विठ्ठल को जैन मूर्ति बतलाते है उसी प्रकार से कुछ लोग उसे बौद्धमूर्ति बतलाते है। नागपुर के श्री अनन्त हरि कुलकर्णी, सेक्रेटरी बुद्ध सोसायटी, का यह प्रयत्न रहा है और वे उसे सिद्ध करने का प्रमाण देते है कि विठ्ठल मूर्ति बौद्ध मूर्ति है। बुद्ध को विष्णु का अवतारत्व तो हिन्दुओ ने प्रदान कर ही दिया है। पढरपुर के देवालय मे बौद्धमूर्तियाँ है। अत वह बुद्ध मदिर रहा होगा और अशोक कालीन ८४००० मदिरो मे से यह भी एक होगा ऐमा विवेचन जॉन विलसन का है। श्री कुलकर्णी इससे सहमत है। इस अनुमान को हम ग्राह्य नही मानते। पुराने दशावतार के पाये जाने वाले चित्रो मे बौद्ध के स्थान पर विठ्ठल-रखुमाई के चित्र मिलते है। विठ्ठल को बौद्ध वारकरी सप्रदायी भी मानते है। पर उनका यह मानना उस अर्थ मे नही है जैमा कि समझा जाता हैं।

इधर एक[2] लेख 'रोहिणी' मासिक पत्रिका मे प्रकाशित हुआ था, जिसके लेखक श्री धोगडे नाम के एक सज्जन है। उनका निवेदन है कि गरुड तथा कूर्म पुराण ४५०० वर्षो ईसा पूर्व लिखे गये जबकि कौरवो का नाश हुआ था। अर्थात् यह अनुमानतः ही कहा जाता है। कदाचित् वह राजा परीक्षिति के राज्यस्व का काल था। इन पुराणो मे विष्णु का पुन अवतार के रूप मे पुनर्बुद्ध हो जाने का उल्लेख है। श्री धोगडेजी के अनुसार यह बुद्धावतार ही विठ्ठल है।[3]

ज्ञानेश्वरी के प्रथम अध्याय मे बौद्ध मत का निर्देश टूटे हुए दाँत की उपमा से किया गया है। प्रसग गणेश वदना का है देखिये[4]—

> एके हाथी दंतु जो स्वाभावता खंडितु।
> त बौद्धमत सकेतु वार्तिकांचा ॥१२॥

---

१. रामरक्षा स्तोत्र—बुधकौशिक।

२. 'रोहिणी' दीपावली विशेषांक १९५६, 'पंढरीचा विठ्ठल'
—ले. श्री धोगडे, पृ० ४७–५३।

३. 'रोहिणी' दीपावली विशेषाक १९५६, 'पंढरीचा विठ्ठल'
—ले. श्री धोगडे, पृ० ४७–५३।

४. ज्ञानेश्वरी-प्रथम अध्याय ओवी १२–१३, ज्ञानेश्वर अभङ्ग सकल संग्रह [illegible]

मग सहजे सत्कार वादु तो पद्मवरु वरदु ।
धर्म प्रतिष्ठा तो सिद्ध अभय हस्तु ॥१३॥

श्री गणेशजी का वर्णन करते हुए ज्ञानेश्वर उनका ध्यान चित्रित करते हैं जिसमे वे कहते है कि बौद्धमत की विवेचना करने वाले बौद्ध वार्तिको के द्वारा प्रस्थापित बौद्ध मत ही मानो स्वाभाविक रूप से खडित हो गया है । न्याय सूत्र पर वृत्ति रचने वालो के द्वारा निर्दिष्ट किया गया पर अपने आप टूटा हुआ खडित दाँत है जो बौद्ध मत का सकेत करता है । इस दात को पातजलदर्शन रूपी एक हाथ में ले लिया है । फिर बौद्धो के शून्यवाद का खडन हो जाने पर सहज ही आने वाला निरीश्वर साख्यो का सत्कारवाद ही गणेशजी आपका कमल के समान वर देने वाला हाथ है, तथा धर्म-प्रतिष्ठा एवम् धर्म की सिद्धि देने वाला (याने जैमिनी कृत धर्म सूत्र) और अभय देने वाला हाथ है ।

ज्ञानेश्वर और तुकाराम के ये अभग भी इसी का निर्देश करते है कि विठ्ठल ही बुद्धावतार है । देखिये[1]—

ज्ञानेश्वर का अभङ्ग—

पांडुरंग कांति दिव्य तेज झळकती रत्नकीळ फांकती प्रभा ।
आणि लावण्य तेजः पुँजाळले न वर्णवे तेचि शोभा ॥१॥
कानडा हो विठ्ठलू कर्नाटकु त्याने मज लाविला वेधु ।
खोळ बुंथी घेऊनी खुणेचि पालवी आळविल्या नेदी साधु ॥
शब्दे वीण संवादु दुजेवीण अनुवादु हे तंव कैसे निगमे ॥२॥५०॥
परि हो परते बोलणे खुंटले वैखरि कैसे निसंगे ॥
क्षेम देऊ केले तंव मीची मी ऐकली आसावला जीव राही ॥
भेटी लागी जीव उंतावीळ माझा म्हणुनि स्फुरतसे बाहु ॥
पाया पडु गेले तंव पाऊल न दिसे उभाचि स्वयंभु असे ॥
समोर की पाठिमोरे न कळे ठकचि ठेले कैसे ॥५॥
बाप रखुमा देविवरू हृदयिचा जाणुनी अनुभव सौर झुकेला ॥
दृष्टिचा डोळा पाहूँ गेले तंव भीतरी पालटू झाला ॥६॥[2]

तथा तुकाराम का अभङ्ग इस प्रकार है[3] —

बौद्धय अवतार माझिया अदृष्टा ॥
मौन्य मुखे निष्ठा धरिये ली ॥१॥

---

१. ज्ञानेश्वर अभङ्ग, सकल संत गाथा–६७ ।
२. ज्ञानेश्वर अभङ्ग, सकल सन्त गाथा–६७ ।
३. तुकाराम अभङ्ग, गाथा–४१६० ।

लोकांचिये साठी श्याम चतुर्भुज ॥
संतासवे गुज बोलतसे ॥२॥

इन दोनो अभगो मे क्रमशः सत ज्ञानेश्वर और तुकाराम ने वारकरी सम्प्रदाय के विश्वास को ही प्रकट किया है कि विठ्ठल बुद्धावतार है। महानुभाव पथीय लोगों के मतानुसार एक ब्राह्मण बुढिया के डाकू लडके विठ्ठल के मारे जाने पर एक भडखबा उस स्थान पर स्थापित किया। यही पर आगे चलकर विठ्ठल की उपासना होने लगी। इस तरह महानुभाव पथी लोगो की धारणा का भी पता चलता है।[1]

पढरपुर मे प्रचलित आपाढी एकादशी की वारी या यात्रा बहुत दिनो से चली आ रही है। इसे सिद्ध करने वाला एक प्रमाण एक शिलालेख है। यह शिलालेख धारवाड के पास हेव्वळ्ळि ग्राम मे जवुकेश्वर के मन्दिर के सामने मिला है। इस लेख की भाषा और लिपि कन्नड है। देवगिरी के राजा यादव कन्नर या कृष्ण के तृतीय राज्याभिषेक वर्ष मे याने पौप शुद्ध नवमी शक ११७० दिनाक २५ दिसम्बर सन १२४८ के दिन एक दान दिया गया। जिसमे ये शब्द है—

(१) श्री पंढरगे य श्री विठ्ठलेश्वर वारिय श्री हरिदि।
(२) नड्ळ धर्म्मक्के कलुवर सिगगा कंडनु कोट्ट वृत्ति वोदु।

इसका अभिप्राय इस प्रकार है—पढरपुर के विठ्ठल की वारी के हरिदिन अर्थात् एकादशी को धर्मार्थ कलुवर सिगगावुंड ने एक दान दिया। इससे स्पष्ट हो जाता है कि शक ११७० मे पढरपुर की वारी (यात्रा) प्रचलित थी। नामदेव के एक अभग से भी इस बात की पुष्टि हो जाती है। 'पंढरिची वारी आपाढी कार्तिकी। विठ्ठल एकाकी सुखरूप[2] ॥४॥' म ॥

मुसलमानपूर्व काल से ही पढरि की वारी प्रचलित थी यही वात इससे प्रकट हो जाती है।

इस तरह अलग-अलग प्रमाणो और मतो के आधार पर यही कहा जा सकता है कि विटठलोपासना बहुत पुरानी थी। अतः विवादो मे पडना अनुचित होगा। भक्ति के क्षेत्र मे भारत जैसे देश मे आदान-प्रदान, प्रत्यक्ष, और अप्रत्यक्ष इतने वहुविध रूपो मे हुआ है कि प्रामाणिक रूप मे किसका कितना अश है इसका निर्णय नही किया जा सकता। प्राय. विद्वान लोग अपने अनुकूल और प्रतिकूल

---

१. महाराष्ट्राची चार दैवतें—ग. ह. खरे, पृ० १८७।
२. सकल सन्त गाथा, अभङ्ग—क्र. ८९५, नामदेव।

उक्तियाँ ढूढ निकालते है। दूसरी बात है उक्तियों का अर्थ लगाना और उसका प्रतिपादन करना। मेरी अल्प मति में यही आता है कि मध्ययुगीन वैष्णव साधना अत्यन्त सहिष्णुता-युक्त और सर्व-संग्राहक और समन्वयात्मक थी। विद्वद्रत्न डा० पारनेकरजी के मत से हम सहमत है और वही इस विषय का निष्कर्ष भी माना जा सकता है। महाराष्ट्र में विठ्ठलोपासना—विष्णु उपासना का ही एक एक रूप और प्रधान अग रही है तथा बहुत लोकप्रिय होने से आज तक बहुजन समाज मे उसके अनुयायी बडी सख्या में सभी वर्णो के सभी जातियो के पढ़े-लिखे विद्वानों से अपढ़ किसान मजदूरो तक सम्मिलित है। शैव-वैष्णव समन्वय, ज्ञान और भक्ति समन्वय, नाथ-योगपरक-निर्गुण, और उपासनापरक सगुण-भागवत-धर्म, समन्वयपूर्ण दृष्टि विठ्ठलोपासना का—वारकरी सप्रदाय का प्रमुख लक्ष्य जान पडता है। अतः उसका इतना सर्वकश लोक कल्याणकारी रूप विठ्ठल भक्ति में हम को दिखाई पड़ता है।

द्वितीय अध्याय

वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ, संप्रदाय और उनका हिन्दी और मराठी क्षेत्र में क्रम-विकास

द्वितीय अध्याय

वैष्णव मतों की विभिन्न शाखाएँ, संप्रदाय और उनका हिन्दी और मराठी क्षेत्र में क्रम-विकास

वेद मे पायी गयी विष्णु विषयक बातो की चर्चा करते हुए अनेक उल्लेखों से हमने अब तक देखा कि उपनिषदो, ब्राह्मणों, आगमो, तत्रों और पुराणो आदि में व्यापक रूप से वैष्णव उपासना अनेक रूपो-साधनाओ और पद्धतियो मे विकसित होती गई। विष्णु परम देवता बने उनका नारायण के साथ एकीकरण हुआ। नारायण से वासुदेव और फिर वासुदेव का नारायण और विष्णु के साथ एकीकरण कैसे हुआ यह भी हमने देखा। वासुदेव-कृष्ण, गीता के भाष्यकार और भागवत के कृष्ण, गोपालकृष्ण, राधाकृष्ण, प्रभु श्रीरामचन्द्र और विठ्ठल इनका विकास और स्वरूप का विवेचन कर हमने यह जाना कि रामचन्द्रोपासना तो सारे भारत मे व्याप्त है। पर विशेषतः हिन्दी मे गोपालकृष्ण और राधाकृष्ण की उपासना मे बालकृष्ण और युवाकृष्ण का विशेष वर्णन आता है, तो मराठी मे बालकृष्ण के साथ विठ्ठलोपासना दिखाई देती है। अवतार कल्पना का सूत्रपात भी किस प्रकार हुआ यह भी हमने देखा। बीजरूप से वैष्णव धर्म का वृक्ष कतिपय वैदिक भावनाओ को लेकर बोया गया था जो अनेक प्रकार की भक्ति साधनाओ की शाखाओ से हरा-भरा होकर पल्लवित पुष्पित हुआ। भक्ति के और उपास्य के विचार परिपक्व होते गये। उसी के अनुरूप दार्शनिक चिन्तन पक्ष भी सामने आने लगा।

आराध्य के स्वरूप के साथ भक्ति की विभिन्न पद्धतियो का भी विकास होता गया। हिन्दी और मराठी वैष्णव भक्ति को प्रभावित करने वाली जो विविध भक्ति पद्धतियाँ और सिद्धान्त विकसित हुए उनका परिचय करना अब हमारे लिए नितात आवश्यक हो गया है। अपने आराध्य को परम पुरुष या परम उपास्य का रूप देने मे इस साधना के किसी भी शाखा ने किसी भी युग मे तथा किसी भी प्रकार से कोई कसर बाकी न रखी। इस तरह गीता का प्रसिद्ध एकान्तिक धर्म सुप्रतिष्ठित हुआ वही सात्वत-भागवत-पाचरात्र-वैखानस आदि स्वरूपो मे से ज्ञानमय, योगमय, भक्तिमय एवम् स्नेहमयी कोमल मनोवृत्तियो के निरूपणो के रूप मे हमारें सामने आते हैं। इस दृष्टि से कहा जा सकता है कि वैष्णव भक्ति गीता और

महाभारत काल के बाद किस प्रकार बढी उसकी सक्षिप्त जानकारी कर लेना अनुपयुक्त न होगा।

वैष्णव मत के सर्वप्रथम दार्शनिक आचार्य--योगेश्वर श्रीकृष्ण

वैष्णव भक्ति के सब से प्रथम दार्शनिक आचार्य परम योगेश्वर भगवान श्रीकृष्ण ही माने जाने चाहिए। गुप्त-साम्राज्य ही उत्तर भारत मे वासुदेव धर्म याने एकान्तिक भागवत धर्म की उन्नति का काल था। इसके बाद हर्ष वर्धन जैसे सम्राटों के बाद वह धीरे-धीरे दबता गया। अत. दक्षिण में उसका महत्व विशेष रूप से बढ़ने लगा। गुप्त साम्राज्य के युग मे भारतीय सस्कृति स्वर्णयुग मे पहुँच चुकी थी। गुप्तकालीन सम्राटो ने अपने आपको परम भागवत कहलाया था। वैष्णव धर्म की महत्वपूर्ण परिस्थिति को जानकर तथा उसे राजकीय प्रोत्साहन देकर उसका प्रसार एवम् वृद्धि के प्रयत्न गुप्त सम्राटो ने किये। अपने ध्वजों पर विष्णु चक्र और गरुड तथा सिक्कों पर लक्ष्मी को स्थान दिया। चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य, अपने आपको 'परम भागवत कहलाता था। एक सिक्का चन्द्रगुप्त-विक्रमादित्य का भरतपुर राज्य के बयाना-ढ़ेर मे प्राप्त हुआ है, जो चक्र विक्रम के नाम से प्रसिद्ध है तथा जिसके ऊपरी भाग पर विष्णु भगवान् चन्द्रगुप्त को तीन प्रभामण्डल युक्त त्रैलोक्य भेट कर रहे है, ऐसा बताया गया है। अब तक के प्राप्त सभी सिक्को में यह अद्वितीय है। इससे इस युग की तत्कालीन भावनाओं पर प्रकाश पडता है। मध्य प्रदेश और बगाल के राज्य भी इस प्रभाव से अछूते नही रह सके। यहाँ तक कि प्रथम मुसलमान आक्रान्ता मुहम्मद-बिन-कासिम मुस्लिम धर्मावलबी होने पर भी कन्नोज विजय के उपरान्त उसने पुराने गहडवाल मुद्रा के अनुकरण मे अपने सिक्को पर भी लक्ष्मी की आकृति को स्थान दिया था। ईसा की चौथी शताब्दी से १२ वी शताब्दी तक ८०० वर्षो के उपलब्ध सिक्के वैष्णव धर्म का प्रभाव अभिव्यक्त करते है। इससे जान पडता है कि प्रतिकूल परिस्थिति में भी 'कांडात्-काडात् प्ररोहन्ती' वाले नियमानुसार दूर्वादल के तृण की तरह वैष्णव धर्म उत्तर भारत मे किसी न किसी रूप मे जीवित रहा और अनुकूलता प्राप्त होने पर प्रभावी होकर पल्लवित हुआ। इस तरह वह अपने पनपने का कार्य करता ही रहा। उत्तर भारत में यदि उसे प्रचार का बल प्राप्त नही हुआ तो वह दक्षिण में अपने अनुकूल और योग्य वातावरण पाकर वही पर फूला और भला।

गुप्त साम्राज्य के पतन के बाद कुछ ऐसी परिस्थितियाँ निर्माण हुई जिनसे वैष्णव साधना शिथिल-सी पड़ने लगी। महाराज हर्षवर्धन के समय मे जो सस्कार वैष्णव साधना पर हुए उन्हे भी हम नही भूल सकेगे। दक्षिण मे वैष्णवो का

प्रभाव कुछ विशेष मात्रा मे परिलक्षित होने लगा। शकराचार्य के समय से ही दक्षिण मे वैष्णव धर्म के पुनरुद्धार के प्रयत्न दिखाई देने लगे। वहा की परिस्थितियाँ इसके अनुकूल भी बनी। यहाँ पर एक बात सभ्रम मे डाल देती है कि विष्णु आर्यो का उपास्य होने पर भी दक्षिण मे विष्णु का प्रभाव इतना व्यापक कैसे हुआ? वहाँ तो महादेव शकर की भक्ति दृढतम होनी चाहिए थी। वस्तुतः दोनो भक्तियाँ समान रूप से प्रचारित हुई। समन्वय की भावना वैष्णवी भक्ति मे प्रबल होने से आर्यो और द्रविणो का भी समन्वय हुआ जिसने दक्षिण वैष्णव भक्ति से उत्कर्ष के लिए स्थिति और वातावरण उचित रूपेण निर्माण होता गया। दक्षिण के आचार्यो का इस विषय मे किया गया कार्य अत्यन्त सराहनीय और स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य माना जावेगा। वैष्णवाचार्यो ने अपने दार्शनिक सिद्धान्त, उपनिषद, ब्रह्मसूत्र, भगवद्गीता और भागवत पर आधारित रखे। अपने भक्ति पक्ष के लिये नारद-भक्ति-सूत्र और शाण्डिल्य-भक्ति सूत्र का आश्रय लेकर गीता के विचारो से उसे पुष्ट किया।

दक्षिण का वैष्णव आन्दोलन समूची वैष्णव साधना का द्वितीय उत्थान कहा जा सकता है। दक्षिण के वैष्णव आन्दोलन का इतिहास तामिल आडवार सतो से माना जाता है। ये वैष्णव सन्त समाज के सभी स्तरो से उत्पन्न हुए थे। इसीलिए इस भक्ति-आन्दोलन को जन आन्दोलन भी कहा जाता है। इन सन्तो का काल खड दूसरी से दसवी विक्रमी शताब्दी माना जाता है। ये परस्पर ऊँच नीच का कोई भेद-भाव नही मानते थे। तामिल मे 'अलवार' का अर्थ होता है भगवद्-भक्ति मे डूबा हुआ व्यक्ति। हम यह निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वैष्णव साधना ही एक प्रकार से द्रविड मे बाढवत् फैल रही थी। सर रामकृष्ण भाडारकर अपने 'वैष्णव धर्म, शैवधर्म और अन्य सम्प्रदाय', इस पुस्तक मे बतलाते है कि अलवार तथा अन्य वैष्णव आचार्य रामानुज के पूर्वकाल मे हो चुके है।[१]

अळवार वैष्णव भक्त—

भागवत के ११ वे स्कध के चतुर्थ अध्याय मे विष्णु विभिन्न प्रकार के अवतार धारण करते हैं ऐसा उल्लेख है। कलियुग के लिये कहा गया है कि परमात्मा प्राप्ति का एक मात्र उपाय भक्ति ही है। इस भूमि के लोगो का उद्धार करने के हेतु पुराणो मे बताये गये वचनो के अनुसार पुन. दस अवतार धारण किये जायेंगे। अर्थात् अन्य कल्पो मे लिये गये अवतारों से ये भिन्न होगे। भगवान् के परम एकान्तिक, निष्ठावान, भक्त भारतवर्ष मे इधर-उधर बिखरे हुए मिलेंगे।

१. वैष्णविज्म, शैविज्म और अन्य मत—सर आर. जी. भांडारकर।

परन्तु अधिकतर सख्या में वे द्रविड देश में ही पाये जायेगे। विशेषतः ताम्रपर्णी नदी के तट पर पयगायी-कृतमाला के तटवर्ती प्रदेशोमे तथा पालार पयस्विनी और कावेरी-महानदी के तटवर्ती प्रदेशो मे पाये जायेगे। विष्णु भगवान् अपना उद्धार विषयक कार्य यही से आरम्भ करेगे। देखिये—

खलु-खलु भविष्यन्ति नारायण परायपः।
क्वचित-क्वचित् महाराजा द्रविडेषुच भूरिसः॥
ताम्रपर्णी नदी यात्रा कृतमाला तपस्विनी।
कावेरी च महापुण्या प्रतीचुच महानदी॥
ये पिबन्ति जलम् तास्याम् मनुजा मनुजेश्वर।
प्रायोभक्तः भगवति वासुदेवे अमलास्यह॥

कहना न होगा कि अलवार सत इसी भूमि मे हुए।[1] यही वह साधना भूमि थी। स्त्री, पुरुष, ब्राह्मण, शूद्र सर्वत्र भगवद् भक्ति मे सराबोर होकर जो वानियाँ इन भक्तों के मुख से निकली है, स्पष्ट है कि उनमे भगवान् की दिव्य लीलायें ही मुखरित हुई हैं। इन आळवारो मे केवल वारह आळवार विशेष गौरव तथा प्रतिष्ठा के पात्र माने जाते है। द्रविड भाषा मे इनकी पदावली तमिल-वेद कहलाती है, और वेदो की ही तरह पवित्र और सरस समझी जाती है। ये भक्त बडे मस्त जीव थे, तथा इनका हृदयपक्ष वड़ा उदार और प्रवल था, इसलिए अपनी भक्ति का कोई शास्त्रीय विवेचन इनके द्वारा नही हुआ। भगवान नारायण के एकमात्र उपासक थे अतः विष्णु के विशुद्ध रूप मे लीन हो जाना ही इनका एकमात्र व्रत था। अपने इस आनन्द को सवको जी खोलकर वॉटने मे इन लोगो को मजा आता था। तमिल मे अपनी रचनाएँ प्रस्तुत कर सरस भक्ति रस की पयस्विनी का स्रोत वहाया जिसमें उस युग की जनता ने आप्लावित होकर डुवकियाँ लगाई। आनन्द की यह एक वहुत वडी उपलब्धि थी।

आळवारो के काल के विषय मे विद्वानों मे मतभेद है। कृष्णा जिले के चायना शिलालेख से यह ज्ञात होता है कि भागवत धर्म का प्रचार दूसरी शताब्दी से ही दक्षिण में हो रहा था तथा दूसरी से चौथी शताब्दी के लगभग आळवार सन्त हुए थे ऐसा माना जाता है।[2] कुछ विद्वान इनको तीसरी शताब्दी का मानते है। एक अनुमान यह भी है कि तीसरी से नवी शताब्दी तक अलवारो का युग था। क्योकि प्रमाण मे इसी प्रदेश के उसी समय के आडियार शैव सन्तो का हवाला

---

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साऊथ इण्डिया
—एस्० के० अयंगार, पृष्ठ ८।

२. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म—राय चौधुरी, पृ० १८।

दिया जाता[1] है। यों हम पूर्व ही कह आये हैं कि विक्रम की चौथी से दसवीं शताब्दी तक का समय आळवारों ने आत्मसात कर लिया था। निष्कर्ष यही है कि अधिक से अधिक आठ नौ सौ वर्ष या कम से कम छः सात सौ वर्षों का समय अपनी भक्ति के प्रचार मे इन लोगो ने व्यतीत किया। ये कुल बारह प्रसिद्ध सत इसी युग मे पैदा हुए थे। इनमे से दो एक को छोडकर प्राय: सभी साधारण स्तर की जाति में पैदा हुए थे।

अपने उपास्य के प्रति एक सी लगन इनमें थी। चौदह सहस्र पद्यात्मक गीतो का सग्रह 'नालायिरप्रबन्धम्' नाम से प्रसिद्ध है। इसमे भक्ति, ज्ञान, प्रेम, सौन्दर्य और आनन्द से ओतप्रोत अध्यात्म ज्ञान का एक अमूल्य ख़जाना है। इनके दो प्रकार के नाम मिलते है। एक तमिल नाम और दूसरा सस्कृत नाम। दक्षिण भारत मे इन भक्तो को इतना आदर और इतनी प्रतिष्ठा मिली है कि विष्णु मन्दिरो मे विष्णु के साथ इनकी भी मूर्तियाँ प्रस्थापित की गई है। इनके मधुर पद्य आज भी लोगो के द्वारा गाये जाते है। इनकी प्रभावशालिनी जीवन घटनाएँ नाटक के रूप मे उपदेश देने के लिए आज भी बनायी जाती हैं। वेद मत्रो की तरह पवित्र और अध्यात्मिक विचार इनमे होने से इस सग्रह को 'तमिल वेद' यह सज्ञा मिल चुकी है। पाराशर भट्ट ने इन सब के नाम एक श्लोक मे बतलाये है—

> भूतं सरश्च महदाह्वय भट्टनाथ—
> श्रीभक्तिसार—कुलशेखर—योगिवाहाम्।
> भक्तांघ्रिरेणु—परकाल यतीन्द्र मिश्रान्—
> श्रीमत् परांकुश मुनिं प्रणतोस्मि नित्यम्॥

इनमे से प्रथम तीन योगी कहलाते हैं जो क्रमशः इस प्रकार से है—(१) पोयगैआळवार-सरोयोगी, (२) भूत्ताळवार—भूतयोगी, (३) पेयाळवार—महत्योगी। ये तीनो समकालीन माने जाते हैं। इनके तीन सौ भजनो का सग्रह ऋग्वेद का सार माना जाता है। पोयगै आळवार कांची नगरी मे, भूत्ताळवार महाबलीपुरम् मे तथा पेयाळवार मदरास के निकट मैलापुर मे पैदा हुए थे। एक बार ये तीनो तिरुक्कोईलूर नामक स्थान पर यात्रा के लिए गये, जहाँ आपस मे इनका कोई परिचय नहीं था। सरोयोगी भगवान् की पूजा कर कुटिया में गये और लेटे। एक ही व्यक्ति के योग्य उसमे सोने को स्थान था। भूत योगी के आने पर दोनो बैठ गये। महतयोगी के आने पर तीनों खड़े हो गये और भगवद्भजन मे मग्न हो गये। भगवान की दिव्य माधुरी और प्रभा से कुटिया प्रकाशित हो उठी।

---

1. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णविज्म इन साऊथ इण्डिया—एस्० के० अयंगार, पृ० ८९।

ईश्वर से उन्होने भक्ति का वरदान माँगा। इनके पद्यों का संग्रह 'ज्ञान प्रदीप' नाम से प्रसिद्ध है।

(४) चौथे तिरुमडिसै आळवार—भक्तिसार के नाम से भी पहचाने जाते हैं। तिरुमडिसे गाव मे ही ये पैदा हुए थे। पैदा होते ही इनके माता-पिता ने इनको सरकडो के जगल मे छोड़ दिया था। इनका पालन-पोषण तिरुवाडन् नाम के एक व्याध्र ने और उसकी पत्नी पकजवल्ली ने किया। कई पद इनके बनाये हुए हैं। कहा जाता है कि अपने ग्रन्थो को इन्होंने कावेरी नदी मे बहा दिया था क्योकि लोग इनके पदो के कारण इनको प्रसिद्धी देने लग गये थे। ये अपने को प्रसिद्धि पराङ्मुख रखना चाहते थे। इनकी सब पुस्तको मे से केवल दो बच गई। इनके भक्ति पंथ के अनुसार भक्ति भगवान् की कृपा से प्राप्त होती है। भगवान् की ओर से दी हुई यह सब से बडी सपत्ति है। नारायण ही ज्ञाता, ज्ञेय, तथा ज्ञान और सब कुछ है।

(५) नम्माळवार—शठकोपाचार्य के नाम से सब आळवारो मे विशेष प्रसिद्ध है। विद्वानो ने इनके बारे में सब से अधिक चर्चा की है। वैसे ये सब से श्रेष्ठ भी है। डा० अयगार के मत से इनका समय छठी ईसवी शताब्दी के मध्य रखना ठीक होगा। तिन्नवेली के ताम्रपर्णी नदी के तीर पर के तिरुक्कुरुकूर ग्राम मे ये पैदा हुए। कुछ लोगों का मत है कि ये शूद्र कुल मे पैदा हुए, तथा कुछ इनको ब्राह्मण कुल का मानते है। इनके पिता कारिमारन् अपने गॉव के मुखिया थे। गुरु परपरा के अनुसार कारियर जाति का नाम वेल्लाल है। जन्म लेने पर शठकोप की आँखे बन्द थी तथा दस दिनो तक बिना खाये पिये ही रहे। तब चिन्ताग्रस्त होकर लोग इन्हे एक निकटस्थ विष्णु मन्दिर मे ले गए और इनका नाम 'मरण' या 'माडन' रखकर मन्दिर के पास के एक इमली के पेड के खोड़र मे रख आये। सोलह वर्ष तक वही रहकर तपस्या-पूर्ण जीवन व्यतीत कर ये भगवान् की उपासना करते रहे। अत मे भगवान् ने प्रसन्न होकर इनको अपूर्व शक्ति प्रदान की। इनके रचे चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। (१) तिरुविरुत्तम् (२) तिरुवाशिरियम् (३) पेरियतिरुवत्तान्ति (४) तिरुवाय मोळि। चौथे ग्रन्थ मे हजार से भी अधिक पद है। चार वेदों की तरह इनको तामिल देश मे मान्यता प्राप्त है। 'तिरुवाय मोळि' 'द्रविडोपनिषद' भी कहलाता है। शठकोप गोपी-भाव से उपासना करते थे। भगवान् को नायक तथा अपने आपको नायिका मानते थे। तमिल कविता मे इनके पद मधुरिमा के आदर्श माने जाते है। कबन जैसे तामिल भाषा के सर्व श्रेष्ठ कवि को भी अपने रामायण के आरम्भ मे शठकोप की स्तुति करनी पड़ी, तभी भगवान् ने उसे स्वीकार किया था। शठकोपने अपने पदो को रगनाथ को सुनाया तभी मूर्ति

मे से आवाज आई कि ये हमारे आळवार है। 'नम्म आळवार' तभी से विख्यात हुए और नम्माळवार कहलाये।

(६) मधुरकवि आळवार—ये गरुड के अवतार माने गये है। तिरुक्कालूर ग्राम मे किसी सामवेदी ब्राह्मरा के यहाँ वे पैदा हुए। वेद के ज्ञाता होने पर भी उन्होने भगवान् के प्रेम को ही अपने जीवन का सर्वस्व माना था। उत्तर भारत मे यात्रार्थ भ्रमरा करते हुए जब गगा तट पर आये तो अपनी मातृभूमि की ओर याने दक्षिरा दिशा मे एक ज्योति स्तभ दिखाई दिया। इसे दैवी आदेश मानकर उस ज्योति का अनुसररा करते हुए ताम्रपर्णी के कारुकूर गाव मे पहुँचे। ज्योति के मूल का पता एक इमली के पेड़ के खोडर मे मिला। देखा तो नम्माळवार के शरीर से वह ज्योति निकल रही थी। उनको ध्यानस्थ देखकर उन्हे ही अपना गुरु बनाया। उनकी कृपा से मधुर कवि भक्त बन गये। अपने गुरुदेव के पदो का प्रसार गागाकर इन्होने घर-घर मे किया। माधुर्य के काररा इनका नाम मधुर कवि पडा। इनके बनाये केवल दस ही पद उपलब्ध है।

(७) कुलशेखर आळवार—आळवारो की मध्यवर्ती श्रेरगी के अन्तर्गत आते है। वहाँ इनका नाम तीसरा आता है। ये छठी शताब्दी मे पैदा हुए थे। इनको विष्णु के वक्षस्थल पर लगे हुए कौस्तुभ मरिग का अवतार माना जाता है। कुल शेखर त्रावराकोर राज्य के अन्तर्गत कोल्ली अथवा विवलन नगर मे उत्पन्न हुए थे। ये वही के राजा दृढव्रत के पुत्र थे। बड़े होने पर राज्याधिकार प्राप्त किया और प्रजानुरजन मे बडा अनुराग दिखाया। किन्तु अतुल सम्पत्ति के होने पर भी बचपन से ही इनका झुकाव वैष्णव धर्म की ओर था, और इन्हे रामायरा विशेष प्रिय था। एक बार रामायरा सुन रहे थे जिसमे इस प्रकार का प्रसग था कि भगवान् श्रीराम सीता की रक्षा का भार लक्ष्मरा के ऊपर छोडकर स्वय अकेले खर-दूषरा की विपुल सेना से युद्ध करने जा रहे थे। तन्मयता के काररा व्यास के मुख से यह श्लोक निकलते ही अपने सेनानायक को आज्ञा देकर भगवान् राम की सहायतार्थ सेना लेकर चल पडे। श्लोक इस प्रकार है—

चतुर्दशसहस्राणि रक्षतां भीम कर्मणाम्।
एकश्च रामो धर्मात्मा कथं युद्धं करिष्यसि ॥

इस तरह इनको कई बार रोका गया। अन्त मे अपनी सम्पत्ति तथा वैभव को छोडकर ये भगवान् रगनाथ के शररा मे गए। गीत प्रबंध मे इनके १०३ पद सग्रहीत हैं। 'मुकुन्दमाला' नाम का स्तोत्र इनका ही बनाया हुआ बतलाया जाता है। भाषा की कोमलता और मधुर भावो के लिये ये अत्यधिक प्रसिद्ध है।

(८) विष्णुचित्त—परिआळवार का मद्रास प्रान्त के तिन्नेवेली जिले के 'विल्लीपुत्तूर' नामक पवित्र स्थान मे जन्म हुआ। इनके माता-पिता का नाम पद्मा और मुकुदाचार्य था। पद्मशायी भगवान् विष्णु की कृपा से यह पुत्र पैदा हुआ था। कुलशेखर के निकट सातवी शताब्दी तक इनका समय है, ऐसा अयंगार मानते है। वचपन से ही विशुद्ध भक्ति तथा ज्ञान का उदय इनके हृदय मे उत्पन्न हो गया था। पढ़े लिखे न होने से ये अपनी छोटी सी फुलवारी के फूलो को चुनकर उनकी माला गूथकर वटपत्रशयी वालमुकुन्द पर चढा देने का कार्य ही हमेशा करते रहते थे। स्वप्न में भगवान् का आदेश मिलने पर ये पाड्य देशके अध्यात्म-विद्या-प्रेमी तथा रसिक राजा वलदेव के दरवार मे चले गए। वहाँ के दिग्गज विद्वानो को शास्त्रार्थ मे हराकर भट्टनायक की उपाधि प्राप्त की। श्रीकृष्ण लीला के पद इन्होने लिखे है जो 'तिरुमोळी' नामक पदावली मे सग्रहीत है। कुल पचास कविताएँ इनकी मिलती है—जिनमे वैष्णव धर्म के गंभीर विषयो के सिवाय छद प्रयोग सवधी विचित्रताओ के उदाहरण भी है। राजा को भक्ति रहस्य की शिक्षा इन्होने प्रदान की थी। राजा ने इनका वडा सत्कार किया पर मिली हुई सब सपत्ति भगवान् को अर्पण करने मे ही इन्होने अपना हित माना। इनको 'विष्णुचित्त' भी कहते थे।

(९) गोदा को अन्दाल या रगनायकी के नाम से जानते है। विष्णुचित्त की ही ये एक पोष्य पुत्री थी, तथा रगनाथ की सेविका भी। कहा जाता है कि अपनी फुलवारी की भूमि गोडते समय विष्णुचित्त को यह किसी तुलसी वृक्ष के निकट जनमी हुई मिली। यह वालिका उनके यहाँ ही पाली पोसी गई। गोपी प्रेम की झलक इसमे पूर्ण रूप से मिलती है। भावावेश मे ये भगवान् के लिये बनाई गई मालाएँ स्वय अपने गले मे धारण कर लेती थीं जो भगवान् को विशेष प्रिय होती थी। कृष्ण के प्रति वचपन से ही इनकी आसक्ति बढ़ने लगी। श्रीकृष्ण को ही इन्होने अपना पति मान लिया था। इसलिये विवाह योग्य हो जाने पर जब उससे पूछा गया तो उसने कह दिया कि श्रीरगम् के भगवान को छोडकर मै दूसरे किसी को नही वर सकती। अन्दाल की उपासना माधुर्य भाव की थी। वह भगवान् रगनाथ से मिलने के लिए वडी व्याकुल रहती थी। अन्त मे भगवान् श्रीरगम् के मन्दिर मे उसे पहुँचाया गया तथा विवाह की विधियो सहित उन्हे अर्पण किया गया। मन्दिर मे जाते ही भगवान् की शेष शय्या पर वह चढ़ गयी। तब एक दिव्य प्रभा फूट निकली और अन्दाल मूर्ति मे समा गयी। 'तिरुप्पावै' और 'नाच्चियार-तिरोमळी' ये काव्यग्रन्थ इनके नाम से प्रसिद्ध है। प्रेम–भाव से

मग्न हृदयोद्गार इनकी कविता में मिलते हैं। मेडतगी मीराबाई में तथा इनमे बहुत साम्य है।

(१०) भक्त पदरेणु-विप्रनारायण आळवार का एक और नाम 'तोण्डर-डिप्पोलि' भी है। अनुमानतः लगभग अन्तिम श्रेणी के आळवारो का समय एक सौ वर्ष पीछे आरम्भ होता है इनका जन्म विप्रनारायण माडागुडी नाम के ग्राम मे हुआ। भगवान् के निमित्त फूल चुनकर उनसे माला आदि तैयार करना इनका कार्य था। श्रीरग के मन्दिर की एक रूपवती देवदेवी नाम की देवदासी थी। उसकी रूपज्वाला के ये शिकार हो गये। किंतु भगवान् रगनाथ की कृपा से इनका उद्धार हो गया। बाद मे सुधरने पर अपना नाम परिवर्तितकर तोडर डिप्पोडी' अर्थात् 'भक्तांध्रिपद-रेणु' कर दिया। प्रबधम् में केवल दो ही पद इनके मिलते है। मन्दिर मे आने वाली समस्त भक्त-मडली की चरणधूली का सेवन कर भजनानंद मे लीन होकर अपना जीवन व्यतीत किया करते थे।

(११) मुनिवाहन—योगवाह को तिरुप्पन आळवार भी कहा जाता है। इनकी जाति अत्यज की थी। बचपन से ही वीणा पर भगवान् के नाम के अतिरिक्त और कुछ भी नही गाते थे। त्रिचिनापल्ली जिले के उरैपुर या वोरीउर नाम के ग्राम के किसी धान के खेत मे एक पचम जाति के सतानहीन व्यक्ति के द्वारा पाये गये। निम्नतर श्रेणी के होने पर भी इनके हृदय मे भक्तिभाव आरम्भ से ही जाग्रत था पर अछूत होने से मन्दिर मे प्रवेश नही पा सकते थे। अतः कावेरी नदी के दक्षिणी किनारे पर खडे होकर वही से वे भगवान् की स्तुति कर लेते थे और सन्तोष पा जाते थे। श्रीरग की सवारी को दूर से ही देखकर ये सन्तोष कर लेते थे। एक बार भगवान् की आज्ञा से सारगमा या साज्ञा महामुनि ने भगवान् के आदेश से इनको अपने कधे पर बैठाया था, और भगवान के दर्शन कराये। इस तरह मन्दिर मे इनका प्रवेश हुआ। मुनि इनके वाहन बने अतः इनका नाम 'मुनिवाहन' पडा। इनके द[illegible] कुछ पद मिलते है।

(१२) तिरुमगैयाळव[illegible] नीलन या परकाल—आळवारो मे अन्तिम ये ही माने जाते है। नवमी शताब्दी के पूर्वार्द्ध या उत्तरार्द्ध मे इनको रखा जा सकता है। चोल देश के किसी शैव घराने मे ये पैदा हुए थे। इनके पिता चोलवंशी राजा के सेनापति थे। अत. ये भी सेनापति बनाये गये। राजा से खटपट हो जाने पर लुटेरो के सरदार बन गये। ये बड़े भयानक डाकू थे और लूट मे मिले द्रव्य से भगवान् के मन्दिरों को बनवाते थे। इनके बनाये छः पद्य ग्रन्थ तमिल भाषा के वेदाग माने जाते हैं। शठकोपाचार्य के बाद इनके ग्रन्थो का स्थान है। तिरुवल्ली मे

कुमुदवल्ली नाम की एक रूपवती कन्या थी जिसकी दो शर्ते थी। प्रथम यह कि उसका पति विष्णु भक्त हो और दूसरी यह कि वह रोज एक हजार आठ वैष्णवो को भोजन करा सके। तभी वह प्रसाद ग्रहण करेगी। नीलन ने इसे स्वीकार कर कुमुदवल्ली से विवाह कर लिया। इस कार्य के लिये वे लूट करने लगे। किसी ऐसे ही समय मे भगवान् विष्णु ने धनी व्यक्ति के रूप मे इनको नारायण मन्त्रोपदेश दिया। इसी के प्रभाव से इनका जीवन सुधर गया।[1]

निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि ये आळवार उच्चकोटि के भगवद्भक्त तथा आध्यात्मिक व्यक्ति थे। तिरुमङ्गलई को छोड़कर सभी मे मानवता का उच्च स्तर विद्यमान है। सभी जाति और श्रेणी के इन सतो ने विष्णु भक्ति का द्वार अबाध गति से निर्मुक्त होकर सबके लिए खोल दिया। दक्षिण के वैष्णव भक्ति-आन्दोलन में यह एक बहुत बड़ा ऐतिहासिक कार्य है। विष्णु की उपासना और साधना इनकी एकान्तिक भाव से थी। ये विष्णु को वासुदेव-नारायण आदि नामो से जानते थे। इनके मतानुसार भगवान् विष्णु नित्य; अनन्त और अखण्ड है। अवतार लेने पर भी भगवान् की अनन्त सत्ता बनी रहती है। राम और कृष्ण की भक्ति आळवारों ने वात्सल्य, दास्य और कान्ता भाव से की है। भक्ति के अंतर्गत प्रपत्ति को बड़ा महत्वपूर्ण स्थान ये लोग देते हैं। बिना आत्मसमर्पण के विष्णु की कृपा या प्रेम नही मिल सकता ऐसा इनका विश्वास है। इनकी पूर्वोक्त तीन श्रेणियो मे से प्राचीन एवम् मध्यवर्ती के बीच तीन सौ से भी अधिक अन्तर पड जाता है। तिरुमङ्गलई के बाद आळवारों का युग समाप्त हो जाता है। इसके बाद दसवी शताब्दी से आचार्यो का युग आरम्भ हो जाता है।

आचार्यो का भक्ति युग—

ये वैष्णव आचार्य तमिल प्रान्त के सस्कृत के गाढ़े विद्वान थे। आलवारों की भक्ति के साथ वेद प्रतिपादित ज्ञान और कर्म का समन्वय इन लोगो ने किया। हम कह सकते है कि इस तरह से वैष्णव साधना को एक नया मोड मिला। सस्कृत वेद और तमिल वेद में कोई अन्तर नही है, ऐसा प्रतिपादन इन आचार्यो ने किया। वैष्णव भक्ति के प्रति इन्होंने लोगो के हृदयो मे आस्था जगाई।

---

१. श्री एस्. कृष्णस्वामी अयंगार कृत दक्षिण के वैष्णव संप्रदायों का इतिहास; मध्यकालीन धर्म साधना—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी; मध्यकालीन प्रेम-साधना—पं० परशुराम चतुर्वेदी; भागवत धर्म तथा भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय और वैष्णव तथा शैव और अन्य संप्रदाय-भांडारकर कृत इन पुस्तकों का अध्ययन विशेष जानकारी के लिए द्रष्टव्य है।

आळवारो के सिद्धान्तो में तथा वेदो के तात्विक वातो मे सामजस्य प्रदर्शित किया। आलवारो की रचनाओ का मग्रह कर उसका सपादन रघुनाथाचार्य या नाथमुनि ने किया। आचार्य परम्परा के भक्तो मे ये सर्व प्रथम आचार्य है। इनका महत्व दो प्रकार का है। (१) प्रथम कार्य यह कि लुप्तप्राय. या उपेक्षित भक्ति से आप्लावित तामिल काव्यों का पुनरुद्धार कर श्रीरगम् के रगनाथ के मन्दिर में उनके गाने की व्यवस्था की और वैदिक ग्रन्थो के समान इन ग्रन्थो के अध्यापन की व्यवस्था का वैष्णव मडली मे प्रचार करने का सूत्रपात किया। (२) दूसरा कार्य यह कि नवीन सस्कृत ग्रन्थो की रचना करके दार्शनिक दृष्टि से सूत्रवद्ध विवेचन किया। इस कार्य के लिए ब्रह्मसूत्रो के कथनो का ममन्वय करने का प्रयत्न तथा मायावाद का खडन करते हुए भक्तिवाद की प्रतिष्ठा का प्रतिपादन करने वाले सिद्धान्तो का निर्माण भी किया।

सन् ८२४ से ६२४ तक नाथमुनि विद्यमान थे। इनके पूर्वज उत्तार भारत से आये हुए एक भागवत धर्मावलवी वैष्णव थे। वेदात-देशिक ने नाथमुनि रचित 'योगरहस्य' नामक ग्रन्थ का निर्देश अपने ग्रन्थो मे किया है। विशिष्टा-द्वैत का यह प्रथम मान्य ग्रन्थ है। वेद, उपनिषद और ब्रह्मसूत्र ही इनके दार्शनिक समन्वय के आधार थे। आलवार भक्तो का महत्व केवल उनके प्रतिपादित ग्रन्थो के सग्रह-सपादन मे नही था, वरन् किसी भी वर्ण के वैष्णव के लिए इसका पाठ करने मे रोक-टोक नही है, इस मत के आचार्यो द्वारा किये गये समर्थन मे था। यह वहुत वडी वात थी। वडे–वडे आचार्यो के भाष्यो के साथ इन्हे पढा जाना कितने गौरव का कार्य था यह अच्छी तरह से सिद्ध हो जाता है। इसी से तो आळवार सतो की मूर्तियाँ उसी तरह पूजी गयी जैसे कि उनकी उक्तियाँ। वैष्णव हृदय किस प्रकार का होता है, इसका यह ज्वलन्त प्रमाण है कि आचार्यो ने उच्च वर्णीय अभिमान छोडकर दक्षिण के जनवादी-आन्दोलन को इतना गौरव पूर्ण स्थान देकर उसकी प्रतिष्ठा कायम की और इस तरह वैष्णव भक्ति के प्रसार की भूमि तैयार की। सब से वड़ा आश्चर्य तो इस वात का है कि यह उस युग का कार्य है जव कि आजकल की परिपक्व बुद्धिवादी वैज्ञानिक दृष्टि का साक्षात्कार और सभी प्रकार की विषमताओ को दूर करने की कटिवद्ध तत्परता का ज्ञान भी असभव था। हाँ यह सत्य है कि इससे आध्यात्मिक क्षेत्र की विषमता ही नष्ट हो सकी फिर भी यह कम महत्वपूर्ण वात नही है।

नाथमुनि के वाद उनके पौत्र उन्ही के समान अध्यात्म निष्णात विद्वान थे, जिनका नाम यामुनाचार्य था। इनका तामिल नाम 'आलवदार' था। नाथमुनि के

वाद उनकी आचार्य गद्दी पर श्री पुडरीकाक्ष तथा राममिश्र बैठे। यामुन को राजसी वैभव मे ही दिन व्यतीत करते हुए देखकर राममिश्र को वडा दुख हुआ। उन्होने यामुन को समभा वुभाकर अध्यात्मतत्व की शिक्षा-दीक्षा दी। भक्ति शास्त्र का उपदेश देकर राममिश्र ने यामुन को अपना शिष्य भी वना लिया।[1] एक पद्य इस घटना को वतलाने वाला मिलता है, जो इस प्रकार है—

अयलवो यामुन आत्मदास अलर्क पत्रार्पणनिष्क्रयेण।
यः क्रीतवान् अस्थित यौवराज्यं नमामि तं रामयमेय तत्वम् ॥

इस तरह क्रमश. द्वितीय और तृतीय आचार्य के वाद चौथे आचार्य यमुनाचार्य हुए। इन आचार्यो के सम्प्रदाय को श्री सप्रदाय कहा जाता है। यामुनाचार्य ने इस सम्प्रदाय की नीव डालकर उनके सिद्धातो को सबसे पहले स्पष्ट रूप से समझाने एवम् प्रस्थापित करने का कार्य किया।[2] ये लगभग ९१६ ई० मे नारायणपुर मे पैदा हुए तथा मृत्यु सन १०४० में हुई। इनका दार्शनिक सवन्ध सीधा विशिष्टाद्वैत मत से है। इन्होने चौलवशी दरवारी कवि को अपनी विद्वत्ता तथा शास्त्रार्थ से पराजित किया तथा प्राचीन आलवारों के काव्यो का प्रचार, प्रसार तथा अध्यापन के अतिरिक्त नवीन ग्रन्थों का प्रणयन किया। इन्होंने ये मुख्य ग्रन्थ लिखे है—(१) गीतार्थसग्रह–विशिष्टा-द्वैतमतानुसार गीता के गूढ सिद्धान्तो का संकलन (२) श्री चतु.श्लोकी-भगवती लक्ष्मी की स्तुति इसमे की गई है। (३) सिद्धित्रय-इसमे स्वामी शंकराचार्य के मायावाद का खडन किया गया है तथा आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि और सवित् सिद्धि इन तीनो सिद्धियों का समुच्चय और आत्मा के स्वरूप का निर्देश है। (४) आगम-प्रामाण्य मे भागवत धर्म का प्रतिपादन है। (५) महापुरुष निर्णय मे विष्णु की श्रेष्ठता सिद्ध की गई है। (६) सब से लोकप्रिय ग्रन्थ–'स्तोत्ररत्न' नाम का है। इसमे ७० पद्य हैं, इसमे आत्मसमर्पण का सिद्धान्त तथा प्रपत्ति का प्रतिपादन किया गया है। यामुनाचार्य की वडी हार्दिक इच्छा थी कि ब्रह्मसूत्र पर कोई भाष्य लिखा जाय। उनके द्वारा यह कार्य न हो सका पर उसे उनके उत्तराधिकारी रामानुजाचार्य ने पूरा किया। रामानुजाचार्य का 'श्री भाष्य' प्रसिद्ध है। आचार्यो के वारे मे पद्मपुराण का यह श्लोक द्रष्टव्य है:—[3]

---

१. राय चौधुरी कृत अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णवीज्म, पृ० ११२–११३।
२. भागवत धर्म—वलदेव उपाध्याय, पृ० २००–२०३।
३. पद्मपुराण।

सम्प्रदाय विहीनाये मंत्रास्ते विफलामताः।
अतः कलौ भविष्यन्ति चत्वारः सांप्रदायिनः॥
श्री ब्रह्मरुद्र सन का वैष्णवाः क्षिति पापनाः।
चत्वार स्ते कलौ भाव्या ह्युत्कले पुरुषोत्तमः॥

प्रमेयरत्नावली मे एक श्लोक इसी विषय पर यो मिलता है।[1]

रामानुजं श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्य चतर्मुखः।
श्रीविष्णु स्वामिनं रुद्री निम्बादित्यं चतुःसनः॥

प्रसिद्ध गुजराती पुस्तक 'वैष्णवधर्म नो इतिहास' मे इन सम्प्रदायो पर इस प्रकार प्रकाश डाला गया है।[2]

आसन् सिद्धांत कर्तारश्चत्वारो वैष्णवाद्विजाः।
येरयं पृथिवीमध्ये भक्तिमार्गो दृढीकृतः॥
विष्णु स्वामी प्रथमतो निम्बादित्यो द्वितीतियकः।
मध्वाचार्य स्तृतीयास्तु, तुर्यो रामानुजः स्मृतः॥

इस तरह ये चार प्रसिद्ध वैष्णवाचार्य हैं जिनके बारे मे अब हम जानने की चेष्टा करेंगे।

रामानुजाचार्य—ये सन् १०१६ या १०१७ मे उत्पन्न हुए। बाल्यकाल प्रसिद्ध नगरी काजीवरम् मे बीता। अपनी पूर्व शिक्षा यादव प्रकाश नाम के किसी अद्वैती विद्वान से ग्रहण की। इन आचार्य के विचारो से मतभेद होने के कारण उनको छोडकर ये अलग हो गये। वे आलवारो के 'गीतप्रबन्धम्' का गहरा अध्ययन कर यामुनाचार्य के उत्तराधिकारी बने, और श्रीरंगम् मे रहने लगे। नाथ मुनि की तरह भारत-भ्रमण कर उत्तर भारत के तीर्थ स्थानो की यात्राएँ की। आचार्य श्री की इच्छानुरूप 'दिव्य प्रबधम्' की टीका, ब्रह्मसूत्र पर भाष्य और विष्णु-सहस्रनाम पर भाष्य लिखे। इससे वैष्णव समाज की साधना पर गहरा और व्यापक प्रभाव पडा। 'गीता भाष्य' भी लिखा। अन्य ग्रन्थो मे वेदातसार, वेदार्थ सग्रह, वेदात प्रदीप, ये विशेष प्रसिद्ध हैं। अपने पट्टशिष्य कुरेश (कुस्तालवार के ज्येष्ठ पुत्र पराशर) के द्वारा 'भगवद्गुणदर्पण'—विष्णु-सहस्रनाम की टीका लिखवाई तथा मातुल पुत्र कुरुकेश के द्वारा 'तिरुवायमोलि' नम्माळवार कृत पर तमिल भाष्य लिखवाया।

---

१. प्रमेयरत्नावली, पृ० ८।

२. वैष्णव धर्म नो इतिहास—दुर्गाशंकर केवलराम शास्त्री, बम्बई, पृ० ३३५ (१९३९)

रामानुजाचार्य के जीवन की महत्वपूर्ण तीन घटनाएँ।[1]

(१) महात्मा नाम्बिसे 'ॐ नमो नारायणाय' इस अष्टाक्षर मंत्र का उपदेश लिया। गुरु ने इस मत्र की जगदुद्धारक शक्ति के कारण अत्यन्त गुप्त रखने का आग्रह किया था, पर ससार के जीवों को विषम दुःखो से मुक्ति दिलाने की इच्छा मे श्रीरामानुज ने छतो पर से और पेड़ोके शिखरों पर से इसका जोरदार प्रचार किया। इम मन्त्र से उन्होने मवको दीक्षित किया। इस कार्य से उनको अपने काल का उद्धारक नेता माना जाता है।

(२) दूसरी घटना सन १०९६ के करीव-करीव श्रीरगम् के अविकारी राजा चोलनरेश कट्टर शैव कुलोत्तुग के भय से श्रीरगम् का परित्याग करना है। रामानुज को अस्सी वर्ष की अवस्था में भी जव राजा ने अपने दरवार मे वुलाया तव उनके पट्ट शिष्य कुरेश ने उनको जाने नही दिया। वे खुद वहाँ गए और राजा को वैष्णव धर्म का उपदेश दिया। तव क्रोधित होकर राजा ने इनकी आखे निकाल ली।

(३) तीसरी घटना सन १०९८ मे घटी। मैंसोर के शासक विट्टी-देव को वैष्णव धर्म मे दीक्षितकर उसका नाम विष्णुवर्धन रखा। इसके वाद सन ११०० के आसपास रामानुज ने मेलकोट मे भगवान् श्री नारायण के मन्दिर की स्थापना की और सोलह वर्षो तक वहाँ रहकर राजा कुलोत्तुग की मृत्यु के वाद सन १११८ मे वे श्रीरगम् लौट आये तथा ११३७ तक आचार्य पीठ पर विद्यमान रहे। अनेक मन्दिरो का निर्माण करके दक्षिण के विष्णु मन्दिरों मे वैखानस आगम के द्वारा होने वाली उपासना को हटाकर उसके स्थान पर पाचरात्र-आगम की स्थापना की।[2]

रामानुज ने अपने मत को प्राचीनतम और श्रुत्यनुकूल सिद्ध करने का अथक परिश्रम किया है। उनके कथनानुसार विशिष्टाद्वैत मत वोधायन, टक, द्रमिड, गुहदेव, कपर्दि और भारुचि आदि प्राचीन वेदान्ताचार्यो के द्वारा व्याख्यात उपनिषदो के सिद्धातो पर आधारित है। रामानुज के प्रयत्नो से दक्षिण मे वैष्णव मत की काफी वृद्धि तथा प्रचार एवम् प्रसार हुआ। रामानुजाचार्य द्वारा प्रस्थापित श्री सम्प्रदाय की आठ गद्दियाँ है। इनमें छः सन्यासियो की और अन्तिम दो गृहस्थियो की है। (१) तोताद्रि-तिन्नेवली स्टेशन से १८ मील दूरी पर नागनेरी नामक स्थान पर के आचार्य श्री रामानुजाचार्य कहलाते है। यह सर्वप्रथम गद्दी है तथा

---

१. दि लाईफ ऑफ रामानुज १९०६—श्री ग्रेट आचार्याज नटे सन मद्रास।
२. भागवत् संप्रदाय—वलदेव उपाध्याय, पृ० २०४-२०५।

यहाँ पर विष्णु भगवान् का एक मन्दिर भी है। (२) व्यंकटाद्रि—स्टेशन तिरुपति ईस्ट। यहाँ के आचार्य व्यकटाचार्य कहलाते है तथा यहाँ पर बालाजी का एक मन्दिर है। (३) अहोविल—स्टेशन कडप्पा, शृङ्गवेल कुण्ड के पास है। यहाँ के आचार्य शठकोपाचार्य कहलाते है तथा नृसिह देवता का मन्दिर है। (४) ब्रह्मतत्र परकाल—मैसोर मे है और आचार्य को ब्रह्मतत्र रामानुजाचार्य कहते हैं। (५) मुनित्रय—बगलोर के पास है। यहाँ के आचार्य को मुनित्रयाचार्य कहते हैं। श्रीरगम्, स्टेशन, त्रिचनापल्ली या श्रीरगम् है। यहाँ के आचार्य रगनाथाचार्य कहलाते है। मन्दिर श्री रगनाथ स्वामी का है। ६ ठी और ७ वी गद्दी गृहस्थियो की है जो श्रीरगम् मे ही स्थित है। इनके आचार्य क्रमशः आचार्य अनत स्वामी और वरदाचार्य कहलाते है। गृहस्थी आचार्य ही वरदाचार्य होते है। (८) विष्णु-काची—काजीवरम् स्टेशन है। यहाँ पर वरदराज विष्णु का मन्दिर है और आचार्य भयंकर स्वामी कहलाते है। इसके अतिरिक्त और भी अन्य मठ है।

रामानुज द्वारा प्रतिपादित भक्ति की लहर मे सारा विराट उत्तरी भारत तथा दक्षिणी भारत आप्लावित हुआ जिसमे जन-समाज के सभी स्तरीय लोग आए थे। प्रगति के तत्व इसमे निश्चित रूप से जान पडते है। रामानुज के आदि गुरु एक शूद्र सत थे। इस बात को ध्यान मे रखना चाहिए। तब सारी चीज समझ मे आ जाती है कि रामानुज शास्त्र का आधार लेकर भक्ति के व्यापक जन-आन्दोलन को रुढिवादियो की ओर से मान्यता दिला सके है, और परिणामतः इनके अनुयायियो मे ब्राह्मण, शूद्र, शास्त्रीय, अशास्त्रीय, सभी अपने आपको भूलकर एक ही स्तर पर आकर भक्ति-भावना मे लीन हो गए। नम्मालवार के ऋण को उन्होने पूरी तरह चुकाया। रामानुज सम्प्रदाय मे लक्ष्मीनारायण तथा विष्णु के अवतारो की उपासना की जाती है। फिर भी विशेषतः रामोपासना को इसमे अधिक महत्व मिला है। शिव के प्रति द्वेष भी इस सप्रदाय मे दिखाई देता है। चोल राजाओ के द्वेष के कारण यह भावना शायद आगई है।[1] मैक्समूलर के कथनानुसार रामानुज ने हिन्दुओ की आत्माएँ उनको वापस कर दी है। शूद्रो को केवल वेद पठन का वे अधिकार नही देते। भक्तिमार्ग का प्रतिपादन उन्होने मानव का मानव से व्याव-हारिक मूल्य स्वीकार करते हुए मानव के हृदय का मानव के हृदय से संबन्ध जोड़ कर किया है। इसे हम अत्यन्त महत्वपूर्ण कार्य कहेगे। रामानुज का धर्म मानवतावादी धर्म था तभी भक्ति के क्षेत्र मे भेद-भाव नही मानते। मीरा, रैदास, कबीर तथा रामानद जैसे भक्त इसी भक्ति परम्परा की देन है। यह ऐतिहासिक

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १४२–४३।

श्रेय उनका ही है।[1] रामानुज का वैकुण्ठवास सन ११३७ में हुआ। इनकी मृत्यु के बाद ही इनके मत के दो स्वतत्र मत बन गये। यह कार्य केवल डेढ़ सौ वर्षो मे उनकी मृत्यु के बाद हो गया। इसका प्रधान कारण तमिल और सस्कृत का सघर्ष है। एक मत तमिल वेद की अक्षुण्णता को मानकर सब प्रकार से उसी में श्रद्धा रखता था और सस्कृत को महत्व नही देता था। इस मत को टेकलई या टेनकडाई मत कहते है। दूसरा मत सस्कृत तथा तमिल को मानकर दोनो में निबद्ध ग्रन्थो को प्रमाण मानता था पर सस्कृत को विशेष प्राधान्य देता था। इसको बडकलै या बडकलाई मत कहते हैं। इन मतभेदो के अतिरिक्त सब से महत्वपूर्ण पार्थक्य प्रपत्ति वाले सिद्धात को लेकर है। टेकलै मत के वैष्णव एकमात्र शरणागति को ही मोक्ष का उपाय समझते है। इसमे वे कर्म के अनुष्ठान को वांछनीय बिलकुल नही समझते। बडकले मत के वैष्णव प्रपत्ति के निमित्त कर्म के अनुष्ठान को मानते है। मार्जार-किशोर क्रियाहीन होता है। बिल्ली के बच्चे की रक्षा बिल्ली स्वय करती है उसी प्रकार भक्त की रक्षा भगवान् स्वयम् करते है; कर्म की आवश्यकता नही है। कपि-किशोर अपनी रक्षा के लिए माता को पकडे रहता है तभी उसकी रक्षा होती। भक्त भी भगवान को पकडे रहता है, यह कर्म उसे करना पड़ता है तभी उसकी रक्षा होती है। प्रथम टेकलै मत को और द्वितीय बडकलै मत को सिद्ध करता है। टेकलै मत के प्रतिपादक आचार्य श्री लोकाचार्य थे जो तेरहवी शती मे हुए थे, बडकलै मत के प्रतिपादक वेदाताचार्य वेकट नाथ वेदातदेशिक थे और श्री लोकाचार्य के प्रतिपक्षी और समकालीन भी। ये सन १२६९ से १३६९ के बीच हुए थे ऐसा माना जाता है। प्रथम मतवाले वैष्णवो को शूद्रादि के साथ केवल बातचीत मे समान भाव रखना चाहिए और द्वितीय मतवाले उनके साथ सभी प्रकार से समान भाव रखना चाहिए ऐसा मानते है।

रामानुज के सिद्धान्त—

रामानुज के तात्विक सिद्धांत गीता, उपनिषद, न्यायशास्त्र, एवम् ब्रह्मसूत्र पर आधारित है। वे सृष्टि की उत्पत्ति साख्य तत्वानुसार मानते है। 'पाचरात्र सहिता' की विधि का अनुसरण अधिकतर विष्णु पूजा मे किया जाता है। भक्ति पक्ष अधिकतर गीता, पातंजल-योग, तथा आलवारो की परपरा मे आता है। स्नेह उपासना का मूल भाव है। ब्राह्मणो की सख्या इस सम्प्रदाय के अनुयायियों में अधिक है। अत्यज भी इसके सिद्धान्तानुसार एक समान होकर भी खान-पान तथा

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि — विश्वभरनाथ उपाध्याय, पृ० १५६—५७।

स्पर्शास्पर्श का विचार करते है। मूर्तिदर्शन और मन्दिर-प्रवेश के लिए दिन विशेष निर्धारित है। श्री वैष्णव-सम्प्रदाय और श्री सम्प्रदाय के नामो से भक्तो की दो श्रेणियाँ हैं। उत्तर-भारत मे श्री वैष्णव का प्रचार अधिक है। रामानुज मतानुसार पदार्थ तीन है—(१) चित (२) अचित् (३) ईश्वर। जीव चित् पदार्थ है। जड जगत् अचित है, तथा अन्तर्यामी शक्ति के रूप में ईश्वर है। शकराचार्य की तरह रामानुज को माया अमान्य है।

श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है—

एतद् ज्ञेयं नित्यमेवात्म संस्थं।
नातः परं वेदितव्यंहि किंचित्॥
भोक्ता, भोग्यं प्रेरितारं च मत्वा
सर्वं प्रोक्तं त्रिविधं ब्रह्ममेतत्।

—श्वेताश्वतर उपनिषद।

रामानुज के तीन पदार्थ ये ही है। ब्रह्म ही ज्ञातव्य है। जीव भोक्ता है, और जगत् भोग्य है। प्रेरक ईश्वर है। ब्रह्म निर्गुण निर्विशेष नही है, तो वह प्राकृत गुण रहित, कल्याण गुण गुणाकर, अनन्त-ज्ञानानद-रूप, तथा सकल जगत् का सृष्टा, पालक और सहारकर्ता है। इसे 'विशिष्टाद्वैत' के नाम से भी जानते है क्योकि ब्रह्म 'विशिष्ट यो. अद्वैतम्' अर्थात् विशिष्ट कारण और विशिष्ट कार्य की एकता वतलाने वाला है। ब्रह्म कारणावस्था और कार्यवस्था दोनो होने से अद्वैत है। सूक्ष्म चिदचिद्-विशिष्ट ब्रह्म कारण है और स्थूल चिद-चिद्-विशिष्ट ब्रह्म, कार्य है। ब्रह्म, जीव, और जड अपने से स्वरूपतः पृथक् है किन्तु जडचेतनात्मक वस्तु का अपना स्वतत्र अस्तित्व नही, वह ब्रह्मायत्त है। वह ब्रह्म से पृथक् स्थित नही, अपितु सर्वदा उससे अपृथक् सिद्ध है। वह ब्रह्म के द्वारा नियम्य है, कार्य है तथा ब्रह्म का शेष होने से उसका शरीर है। ब्रह्म उसका नियता, धारयिता और शेषी होने से उसकी आत्मा है। ईश्वर जीव तथा जगत् मे विशेष्य-विशेषण या अङ्ग-अङ्गी सवध है। ईश्वर विशेष्य तथा जगत् और जीव विशेषण है। दोनो मे एकत्व है। अतः वे अलग नही कि जा सकते। सयुक्त विशिष्ट ईश्वर की एकता प्रामाणिक है अतः ब्रह्म उसके अग चित् और अचित् अगी से पृथक नही है। जीव-जगत्-ईश्वर का सम्बन्ध समवाय रूप से वाह्य है तथा अपृथक सिद्धी रूप से आन्तर सम्बन्ध है। ईश्वर समस्त जगत् का निमित्त कारण होकर भी उपादान कारण है। जगत् की सृष्टि भगवान् की लीला से उत्पन्न होती है उसका सहार भी एक लीला ही है। इस विशिष्ट लीला मे ईश्वर आनन्द का अनुभव करता है। जगत् की नित्यसिद्धसत्ता है। सृष्टि-काल मे स्थूल रूप से जगत् की प्रतीति तथा प्रलय

काल मे वही जगत सूक्ष्म रूप से अवस्थान करता है। प्रलय काल में जीव, जगत्, सूक्ष्म रूपापन्न होने के कारण तत्सबद्ध ईश्वर सूक्ष्म चिद-चिद्-विशिष्ट ईश्वर कहलाता है। यही कारण-ब्रह्म है। सृष्टि काल मे स्थूल रूपापन्न होने पर वही चिद्-चिद्-विशिष्ट कार्य ब्रह्म है। ज्ञान शून्य विकारास्पद वस्तु अचित् कहलाती है। इसके तीन भेद है—(१) शुद्ध सत्व, (२) मिश्र सत्व और (३) सत्व शून्य। जीव अणु है, अल्पज्ञ है, तथा क्षुद्र है, तो ब्रह्म सर्वज्ञ और अति महान् है। ससारी दशा मे जीव ब्रह्म से पृथक है, मुक्त दशा मे वह वैसा ही बना रहेगा। मुक्ति दशा मे वह ब्रह्मानन्द का अनुभव करेगा। रामानुज भक्ति को मुक्ति का एकमात्र साधन मानते है। भक्ति-सेवित भगवत्प्रसाद ही जीव को मुक्ति लाभ देता है। 'तत्वमसि' का तात्पर्य तस्यत्वम् असि अर्थात् भक्त ईश्वर का ही सेवक है, यही है। अनन्य भाव से भगवान् का तथा उनके प्रिय पात्र भगवद्-भक्तो का कैंकर्य करना चाहिये यही परमधर्म है। कर्म तथा कर्म फल की अनित्यता को जानने वाला ब्रह्म जिज्ञासा का अधिकारी है। सकर्षण-रूप-जीव की उत्पत्ति भगवान से होती है। विवर्त के स्थान पर रामानुज ब्रह्म परिणामवाद को मानते है। नारायण नाम की सार्थकता इस प्रकार है—

नराज्जातानि तत्वानि नारायणेति विदुर्बुधा।
तस्य तान्ययनं पूर्वं तेन नारायण स्मृतः॥

अर्थात् पचभूत, पचतन्मात्रा, दश इन्द्रिया, मन, बुद्धि, अहकार, प्रकृति तथा जीव अर्थात् पच्चीसो तत्व नर से उत्पन्न होने के हेतु नार कहलाते है। इन सभी तत्वों मे व्यापक रूप से निवास करने के कारण भगवान् ही नारायण नाम से प्रख्यात है। जीव को चाहिए कि वह इसी स्वामी नारायण के चरणारविंद में आत्मसमर्पण करे। इसमे दास्य-भाव की भक्ति ग्रहित है, तथा भक्ति का सार प्रपत्ति मानी गयी है। बिना आत्मनिवेदन के भक्ति की अन्य साधना केवल बहिरग मात्र है। कर्मकाण्ड अनिवार्य है। ईश्वर में मिलकर एक हो जाना मुक्ति नही है वरन् ईश्वर का सामीप्य पाना मुक्ति है। ईश्वर के समान हो जाना मुक्ति है। ब्रह्म न निर्गुण है और न निर्विशेष, वह सगुण सविशेप तथा सर्वशक्तिमान है। ईश्वर और जीवात्मा दो भिन्न-भिन्न पदार्थ है। ईश्वर अनन्त और जीव सान्त है। रामानुज भ्रम-ज्ञान को 'सत्ख्याति' मानते हैं। भ्रमज्ञान का विषय सत् होता है। शुक्ति मे जो रजत दिखाई देती है, उसकी वास्तविकता होती है, जगत् का कोई ज्ञान अयथार्थ नही है। मोक्ष के साधनों की रामानुजीय कल्पना मनोवैज्ञानिक, मनोरम तथा स्वाभाविक है।

रामानुज का महत्व—

वैष्णव आचार्यों के प्रादुर्भाव के समय बौद्ध, जैन आदि धर्मों का प्रचार बढा हुआ था। अतः वैदिक धर्म के अनुयायी नई शैली मे उसके सिद्धान्तों की आलोचना करने लग गये थे। न्याय और मीमासा के आचार्यों ने इस क्षेत्र में आकर प्रथम आलोचना की। किन्तु इसके साथ-साथ अपने निराकरण में इन लोगो ने वेदात पर भी अनेक प्रहार अपने आक्षेपो से किए। अतः उपनिषदो के आधार लेकर वेदान्तियो मे से गौडपादाचार्य तथा श्री शकराचार्य ने यह प्रतिपादित किया कि एक मात्र परब्रह्म ही सत्य है, तथा जीवात्मा और परमात्मा एक ही है। जो विभिन्नता दिखाई देती है वह मिथ्या है। इसका कारण अविद्या या माया है। प्रत्यक्ष भक्ति या प्रेम को इन्होने स्थान नही दिया था। यह उपेक्षा रामानुज जैसे आचार्यों ने तथा उनके पूर्ववर्ती आळवारो ने पूर्ण की है। इनमे हृदय पक्ष का प्रावल्य विशेष रूप से है। इनके बाद के आचार्यों ने मस्तिष्क पक्ष को भी पूर्ण करके कोरे कर्मकाण्ड का खडन किया तथा भक्तिपक्ष का प्रबल समर्थन किया। शकराचार्यानुमोदित स्मार्त-धर्म द्वारा प्रतिपादित बहुदेवताप्रणाली के स्थान पर एक विष्णु की आराधना प्रस्थापित की तथा उपासना के क्षेत्र मे सबको साम्य तथा समता प्रदान की। एक तरह से श्री सम्प्रदाय या विशिष्टाद्वैत सम्प्रदाय पुराने भागवत धर्म, पाचरात्र धर्म का ही विकसित रूप कहा जा सकता है। अद्वैतवादियो से लोहा लेने का कार्य इस सम्प्रदाय के आचार्यों ने किया है जो महत्वपूर्ण है।

द्वैताद्वैतवाद तथा श्री निम्बार्काचार्य—

श्री सम्प्रदाय पाचरात्र धर्म एव भागवतधर्म का ही एक विकसित रूप था यह हम ऊपर कह आये हैं। निम्बार्क सम्प्रदाय को 'सनक सम्प्रदाय' कहते हैं। समस्त वैष्णव सप्रदायो के आचार्य भगवान् श्रीकृष्ण है और उनका ही उपदेश चार शिष्यो के द्वारा प्रसारित हुआ। ये चार शिष्य श्री, ब्रह्मा, रुद्र और सनक हैं। इनमे से श्री सम्प्रदाय का हम विवेचन कर आये है। वैसे इन सभी वैष्णव सम्प्रदायों ने परस्पर आदान-प्रदान किया है। उनमे सिद्धान्तः भेद हो सकते है, फिर भी वैष्णव विषयक न्यूनाधिक एकता से ये परस्पर अवश्य प्रभावित हुए है। निम्बार्काचार्य का मत 'स्वाभाविक भेदाभेद' माना जाता है। इनके बारे मे कोई सुसूत्र जानकारी नही मिलती। विद्वानो मे इनके निश्चित काल के बारे मे मतभेद है। अनुमानतः श्री रामानुजाचार्य के बाद और मध्वाचार्य के समकालीन अर्थात् सन् १०३७ से ११३७ तक इनका अस्तित्व मान सकते है। यो डा० भाडारकर

उनका समय सन ११६२ के लगभग बतलाते है।[1] डा० दासगुप्ता अनुमानतः चतुर्दश शताब्दी मानते है।[2] निम्बार्क सम्प्रदाय वाले पाँचवी शताब्दी में थे वे ऐसा बताते है। आधुनिक विद्वानो के मतो का सार यही है कि निम्बार्क ग्यारहवी शती में हुए थे। इनके कई नाम है जैसे 'भास्कराचार्य', 'निम्बादित्य', 'निम्ब-भास्कर', 'नियमानदाचार्य'। आचार्य बलदेव उपाध्याय इनके मत के बारे मे कहते है—'इस मत का इतिहास अभी भी गभीर अध्ययन का विषय है। समुचित सामग्री के अभाव मे अभीतक मोटे प्रश्नो का भी समाधान नही होने पाया है। यह मत कब उत्पन्न हुआ? कहाँ उत्पन्न हुआ? किस प्रकार वर्तमान दशा तक विकसित होकर पहुँचा? हिन्दी साहित्य के विकास में इस सम्प्रदाय के कवियो ने कितना महत्वपूर्ण कार्य किया? ये सभी प्रश्न अभी भी अपनी मीमांसा के निमित्त अवसर खोज रहे है।[3]

'हरि गुरु स्तव माला' की जानकारी के अनुसार इस मत के आचार्य हस-स्वरूप भगवान् नारायण है, जो राधाकृष्ण की युग मूर्ति के प्रतीक है। उनसे इस मत की दीक्षा सनत्कुमार को मिली, जिसे सनन्दन-नारद परम्परा से निम्बार्क ने प्राप्त किया। सभवतः बेलारी जिले के निम्बापुर नामक नगर में सन १११४ के करीब ये पैदा हुए थे। पर इनको वृन्दावन अधिक भाता था अत. वहीं रहकर उन्होने 'वेदांत पारिजात सौरभ' दशश्लोकी और सिद्धान्तरत्न आदि ग्रन्थो की रचना की। इनका असली नाम 'नियमानन्द' था। एक जैन साधु को रात्रि मे भोजन करने के लिए कहा पर वह प्रस्तुत न हुआ। तब नियमानन्दाचार्य ने भगवान् श्रीकृष्ण के सुदर्शन चक्र का आवाहन किया, जिसकी ज्योति सूर्यवत् चमकती थी। नीम के वृक्ष पर से आने वाला सूर्य प्रकाश देखकर उस साधु ने विधिवत् भोजन किया। तब से इनका नाम निम्बार्क या निम्बादित्य पड़ा।

इनके मत का निरूपण सक्षेप मे इस प्रकार है—

दशश्लोकी मे पदार्थ पचविध बताये है। ये पाँच पदार्थ ज्ञेय हैं। (१) उपास्य का स्वरूप (२) उपासक का स्वरूप (३) कृपाफल (४) भक्तिरस (५) फलप्राप्ति मे विरोध। इन पाँच विषयो के अतर्गत निम्बार्काचार्य के ब्रह्म, जीव, जगत्, मोक्ष, मोक्ष-साधन आदि सम्बन्धी सिद्धात बतलाए जाते है। इसे सनक सम्प्रदाय भी कहते है। दार्शनिक दृष्टि से निम्बार्क द्वैताद्वैत या भेदाभेद का

---

१. वैष्णविज्म, शैविज्म—भांडारकर, पृ० ८८
२. हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलासफी— डा० दासगुप्ता, पृ० ३९९–४०४
३. भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय, पृ० ३१२–१३

समर्थन करने वाले थे। ऐसा माना जाता है कि बादरायण के पूर्वज औडुलोमि तथा आश्मरथ्य भेदाभेदवादी थे। रामानुज के गुरु यादव-प्रकाश भी इसी मत के प्रतिपादक थे। निम्बार्काचार्य के सनक सप्रदाय का प्रचार जितना उत्तर भारत मे हुआ उतना दक्षिण मे नही। इनके दो प्रसिद्ध शिष्य हुए थे—केशव भट्ट तथा हरिव्यास। पहले विरक्त थे, तो दूसरे गृहस्थ। इस सम्प्रदाय का मुख्य ग्रन्थ भागवत है तथा हरिवश को भी मान्यता प्राप्त है। वैसे महाभारत और विष्णु-पुराण का भी पर्याप्त रूप मे प्रभाव स्वीकार किया जाता है। इस सम्प्रदाय की भक्ति प्रेमलक्षणा-प्रधान-भक्ति थी। बगाल और मथुरा पर इसका प्रभाव अधिक पाया जाता है।

निम्बार्क मत की प्रमुख बाते इस प्रकार है—

जीव बिना इन्द्रियो की सहायता के ज्ञान प्राप्त करता है अत' उसे प्रज्ञान घन कहा गया है। यद्यपि जीव, जगत् तथा ईश्वर तीनो भिन्न है, पर जीव तथा जगत् का व्यापार और अस्तित्व ईश्वरेच्छा पर निर्भर है। अपने से इनको स्वातत्र्य नही है। परमेश्वर मे ये दोनों तत्व सूक्ष्म रूप से रहते है। मुक्त दशा मे भी जीव का कर्तृत्व माना गया है। जीव ईश्वर का अश है अर्थात् टुकडा नही है। इसलिए जीव भिन्न और अभिन्न दोनो है। अचित् तत्व तीन प्रकार के होते है (१) प्राकृत (२) अप्राकृत (३) काल। बुद्धि से लेकर स्थूल महाभूतो तक सारे पदार्थ हैं तथा ये सब ईश्वराधीन है। अप्राकृत पदार्थो मे भगवान् के लोक आदि आते है जो प्रकृति द्वारा निर्मित नही है। काल ससार का नियामक अवश्य है, पर स्वय भगवान् के आधीन है।

साधना पद्धति—

भगवान् का अनुग्रह ही सब कुछ है तथा जीव को प्रपत्ति से मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है। अनुग्रह से भगवान के प्रति नैसर्गिक अनुरागरूपिणी भक्ति उत्पन्न होती है। भक्तो के लिए भगवान श्रीकृष्ण चन्द्र की चरण सेवा के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नही है। ब्रह्मा, शिव आदि समस्त देवता इनकी वंदना किया करते हैं। जैसे दशश्लोकी के इस श्लोक से स्पष्ट है—

नान्यागति : कृष्ण पदारविंदात्
संदृश्यते ब्रह्म शिवादि वंदितान्।
भक्तेच्छयो पात्त सुचिन्त्य-विग्रहा
दचिन्त्य शक्ते रविचिन्त्य साशयात् ॥८॥[1]

—दशश्लोकी।

---

१. दशश्लोकी—श्लोक, ८।

राधाकृष्ण की युगल उपासना के साथ माधुर्य तथा प्रेम शक्ति रूपा राधा की उपासना पर निम्बार्क अधिक जोर देते है। इसका कारण यह है कि राधा भक्तो की सकल कामनाओं को पूर्ण करने की शक्ति मानी गयी है। निम्बार्क राधा को 'अनुरूप सौभगा' कहते हैं अर्थात् वे कृष्ण के सर्वथा अनुरूप स्वरूप वाली हैं। राधा अर्थात् आत्मा और कृष्ण अर्थात् परमात्मा है। कृष्ण तथा श्री के अविभाज्य सम्वन्ध को भागवत मे सूचित किया गया है। श्री के दो रूप वेदो मे वतलाये गये है—श्री तथा लक्ष्मी। इन मे श्री का आविर्भाव वृषभानुतनया–राधा के रूप मे हुआ था और लक्ष्मी का रुक्मिणी के रूप मे। वैष्णव शास्त्र के विश्वासानुसार भगवान् के साथ श्री भी नाना रूप ग्रहण करती है। देवलोक मे देवी वनकर तथा मनुष्य लोक में मानुषी वनकर कृष्ण रुप के आविर्भाव के साथ श्री के भी इस मनुष्य लोक मे दो रूप हुए। इनमें राधा ही सर्व श्रेष्ठ है। 'त्राटक परिशिष्ट' राधा और कृष्ण के अभेद का प्रतिपादन करता है तथा भेद देखने वाले साधक को मुक्ति का निषेध करता है—

राधया सहितो देवा माधवेन च राधिका।
यो नयोर्भेदं पश्यति स संसृतेर्मुक्तो न भवति ॥

निम्वार्क मत मे राधा स्वकीया पटरानी ही है। यह वात 'व्रह्मवैवर्त' तथा गर्ग-सहिता के प्रमाणो से सिद्ध है। नित्य लीला मे यह प्रश्न ही नही उठता पर अवतार लीला मे राधिका का श्रीकृष्ण से विवाह शास्त्र-सिद्ध है।[1]

अगे तु वामे वृषभानुजां मुदां विराज माना मनुरूप सौभगाम्।
सखी सहस्रैः परिषेवितं सदा स्मरेम देवीं सकलेष्ट कामयाम् ॥

परकीयाभास केवल लौकिक दृष्टि से ही उत्पन्न हो जाता हैं। साधक की अभिरुचि के अनुसार साधक शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य तथा माधुर्य या उज्ज्वल को अपनाकर अपनी साधना मे अग्रसर हो सकता है। वस्तुतः यह सम्प्रदाय प्रेमलक्षणा अनुरागात्मिका पराभक्ति को ही साधन मार्ग मे सर्वश्रेष्ठ मानता है। भक्ति के वारे मे निम्वार्क का विचार है कि 'मधुविद्या', 'शाडिल्य विद्या' जैसी वैदिक अनुष्ठानों की भक्ति वैदिक कही जाती है तथा उस पर त्रैवर्णिको का अधिकार रहता है। पर पौराणिक भक्ति केवल भगवदाराधना से सवध रखती है तथा शूद्रो को भी उसे करने का अधिकार है।

निम्वार्क के शिष्यो मे से श्री भट्ट ने सर्व प्रथम व्रज भाषा मे कविता की है। इनका 'जुगल शतक' 'आदि-वानी' के नाम से प्रसिद्ध है। दूसरे शिष्य आचार्य हरिव्यास जी ने निम्वादित्य की आज्ञा से 'जुगल शतक' पर भाष्य लिखा। यह

१. निम्बादित्य दशश्लोकी–हरिव्यास देव, श्लोक—५।

'महावानी' के नाम से प्रसिद्ध है। ये सर्वप्रथम उत्तर भारतीय सप्रदायाचार्य माने जाते है। इनका सप्रदाय रसिक सप्रदाय कहलाता है। इनके वारह शिष्य थे। श्री महावाणी मे सेवा, उत्सव, सुरत, सहज तथा सिद्धात सुखो का वर्णन है जिसमे राधाकृष्ण की नित्य लीला की मार्मिक अभिव्यजना है। वल्लभ मतानुयायियो मे जो स्थान सूर का है वही निम्वार्क मतानुयायियों मे श्री हरिव्यासजी का है। हम अपने प्रवन्ध मे इन पर अधिक प्रकाश नही डालेगे। इतना निश्चित है कि निम्वार्क सप्रदाय ने हिन्दी साहित्य का वहुत वड़ा हित किया है। हिन्दी मे इस मत के मानने वालों ने पर्याप्त रचनाएँ की है। वृजकाव्य वैष्णव काव्य ही है। अष्टछाप की प्रधानता मे निम्वार्क मत को मानने वाले कवियों के काव्य की जैसे चाहिए वैसी परख अब तक नही पाई है। अष्टछाप से टक्कर ले सकने वाले कवि इसमे विद्यमान है। वल्लभ सप्रदाय का कवि जव वालकृष्ण की माधुरी पर रीझता है तव निम्वार्क सम्प्रदाय का कवि राधाकृष्ण की शृङ्गार लीला पर रीझता है। हिन्दी के प्रसिद्ध महाकवि विहारी, घनानन्द, रसखान तथा रसिक गोविंद आदि निम्वार्क मतानुयायी है। वृन्दावन का सखी सप्रदाय इसी की एक शाखा है।

माध्व या द्वैतवादी सम्प्रदाय—

अद्वैतमत के विरुद्ध द्वैतमत का जोरदार प्रचार करना यही कार्य माध्व मत का है। किसी भी साधक को साधारण अनुभव मे जगत्, जीव और ईश्वर का अलग-अलग ही अनुभव होता है। वैसे द्वैतवाद स्वभावतः यही सिद्ध हो जाता है। रामानुज मे द्वैतभाव दिखाई देता है। भेद तो सिद्ध हो गया था पर अभेद सिद्ध करने के लिए 'अपृथक स्थिति' की कल्पना करनी पडी। माध्वमत को ही 'ब्रह्म सप्रदाय' भी कहते हैं। मध्वाचार्य का कथन है कि 'ब्रह्मसूत्र', श्रीमद् भगवद्गीता तथा उपनिषदो मे द्वैत मत का ही प्रतिपादन किया गया है। उनके मत से प्रस्थान-त्रयी का यही सिद्धान्त है। हरि या भगवान्-प्रत्यक्ष ज्ञान या अनुभव से साध्य हैं। साधन रूप मे वे शम, दम, शरणागति, वैराग्य आदि अष्टादश साधनाएँ मानते है। माध्वमत के सस्थापक मध्वाचार्य थे। इनका दूसरा नाम आनन्द-तीर्थ था। दक्षिण भारत के उडिपी नाम के नगर के पास सन ११९७ मे इनका जन्म हुआ। कुछ लोग इनका जन्म ११९९ भी मानते है। वचपन मे इनका नाम वासुदेव था। अद्वैतवादी आचार्य अच्युतप्रेक्ष से उन्होने सन्यास ग्रहण किया। तव इनका नाम 'पूर्ण यज्ञ' रखा गया। वेदान्त मे पारगत हो जाने पर ये 'आनन्द-तीर्थ' कहलाने लगे। उन्होने अपने गुरु के साथ दक्षिण-दिग्विजय के लिए यात्रा की तथा कई अद्वैती आचार्यों से शास्त्रार्थ किया और उडुपी गये। यहाँ पर वेदव्यास को उन्होने

अपना भाष्य दिखाया तथा उनसे कृपा प्राप्त की और वेदव्यास से शालिग्राम की तीन मूर्तियाँ प्राप्त की, जिनको उदीपी, सुब्रह्मण्यम तथा मध्यतल में स्थापित किया। वे दिग्विजयी राम की भी मूर्ति बदरिकाश्रम से अपने साथ लेते आये। उन्होंने सीताराम, द्विभुज तथा चतुर्भुज कालीयदमन् विठ्ठल, लक्ष्मण-सीता आदि आठ मूर्तियो की स्थापना की, जहाँ पर इनके आठ शिष्य भी रखे गये। इन्होंने बहुत बडी सख्या में ग्रन्थ रचना की है। कुल सैंतीस ग्रन्थ इनके लिखे हुए मिलते है। इनकी मृत्यु सन १३०३ मे हुई ऐसा माना जाता है। अद्वैत मत की समीक्षा करके उन्होंने जनता की माग का ही अपनी सरल भक्ति मार्गीय साधना से समर्थन किया। यह इस वैष्णव सम्प्रदाय की एक बहुत बड़ी विशेषता है। पशु-हिंसा की इस सम्प्रदाय द्वारा पूर्ण मनाई की गई है। मध्वाचार्य के मत को सक्षिप्त रूप में एक पद्य में इस प्रकार दिया गया है।[1]

श्री मन्मध्वमते हरिः परतमः, सत्यं जगत् तत्वतो।
भेदो जीवगणा हरेरनुचरा. नीचोच्च भावंगतः॥
मुक्ति नैंज सुखानुभूति रमला भक्तिश्चतत्साधनम्।
अक्षादित्रितयं प्रमाण मखिलान्मायैक वैद्योहरिः॥

द्वैती मध्वाचार्य का मत और दार्शनिक सिद्धान्त—

इस मत को ब्रह्मा ने आचार्य रूप में प्रस्थापित किया था। ये व्यूह के सिद्धान्तो को नही मानते परन्तु रामकृष्णादि अवतारो को मानते है। इनके मत के नौ सिद्धांत प्रमुख है। (१) हरिः परतरः श्री विष्णु ही सर्वोच्च तत्त्व है। भगवान अनन्त गुणो से परिपूर्ण है और जड़ प्रकृति से सर्वथा विलक्षण है। चेतन दो प्रकार का होता है—जीव और ईश्वर। विष्णु ही परमतत्व है। (२) जगत् सत्य है। भगवान् की कोई भी कल्पना, इच्छा मिथ्या नही होती। ऐसी दशा मे सत्य सकल्प के द्वारा निर्मित जगत् असत्य नहीं हो सकता। (३) भेद पचधा होते है, तथा स्वाभाविक और नित्य हैं। ये पचधा भेद इस प्रकार के है—(क) एक जीव का दूसरे जीव से भेद। (ख) ईश्वर का जीव से भेद। (ग) ईश्वर का जड़ से भेद। (घ) जीव का जड़ से भेद। (ङ) एक जड का दूसरे जड़ से भेद। (४) जीव-गण हरि के अनुचर है। इसलिए समस्त जीवो का सामर्थ्य भगवताधीन है। जीव अपने से अल्पज्ञ है, अतः वह सर्वज्ञ विष्णु के अधीन रहकर ही अपना कार्य किया करता है। (५) नीचोच्च भाव जीव में केवल कार्य भिन्नता के कारण नही होता तो मोक्ष दशा मे भी वह तरतम भाव से युक्त रहता है। इस दृष्टि से ये तीन प्रकार के है (क) मुक्तियोग्य (ख) नित्य ससारी (ग) तमोयोग्य।

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय।

इन तीनो मे अन्तिम दो की कभी मुक्ति नही होती। गुणो की भिन्नता के अनुसार मुक्ति जीव भी परस्पर भिन्न होते हैं। (६) 'मुक्ति नैज सुखानुभूतिः' वास्तव सुख की अनुभूति ही मुक्ति है। मुक्ति मे ही इस वैष्णव मत मे आनन्द की उपलब्धि है। यह आनन्द परमानन्द स्वरूप है। मोक्ष चार प्रकार के हैं—कर्मक्षय, उत्क्रान्ति, अचिरादि मार्ग और भोग। भोग भी चार प्रकार के हैं—सालोक्य, सामिप्य, सारूप्य तथा सायुज्य। सायुज्य मुक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।—'सायुज्य नाम भगवन्त प्रविश्यतच्छरीरेण भोग।' (७) मुक्ति पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय अमला भक्ति–मलरहित निर्दोप भक्ति–है। भक्ति मे अहेतुकता तथा अनन्यता चाहिए। स्वार्थवश की गई भक्ति या हेतुवश की गई भक्ति दोषपूर्ण मानी जाती है। (८) माध्वमत के अनुसार प्रमाण ये है—(१) प्रत्यक्ष (२) अनुमान (३) और शब्द। इन्ही के आधार पर सारे प्रमेयो की सिद्धि प्राप्त होती है। (९) वेद का समस्त तात्पर्य ही विष्णु है। वेदो का प्रधान कार्य भगवत्तत्व का प्रतिपादन है। यह प्रतिपाद्य विष्णुतत्व ही है। विष्णु ही कार्यवश विभिन्न रूप लेते है जैसे इन्द्र, वरुण, सूर्य, सविता, उपा। अन्त मे ये सब उसी एक परब्रह्म का ही स्वरूप है। विष्णु को मध्वाचार्य महाभाग्यशाली देवता मानते हैं जैसे प्रसिद्ध है—[1]

'महाभाग्यात् देवताया एक एव आत्मा बहुधा स्तूयते।
एक स्यात्मनो न्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति॥'

मध्वाचार्य के प्रसिद्ध ग्रन्थ निम्नलिखित हैं ब्रह्मसूत्र-भाष्य अनुख्याख्यान, ऐतरेय, छान्दोग्य, केन, कठ, बृहदारण्यक आदि उपनिषदो पर भाष्य, गीताभाष्य, भागवत-तात्पर्य निर्णय, महाभारत-तात्पर्य निर्णय, विष्णुतत्व-निर्णय, गीता-तात्पर्य निर्णय, प्रपच-मिथ्यात्व निर्णय, तत्रसार सग्रह आदि। 'जयतीर्थ' के समान प्रगाढ़ पण्डित माध्वमत मे और दूसरा कोई नही हुआ। इस मत की बहुत सी ग्रन्थ संपत्ति अप्रकाशित ही पडी हुई है। यह उल्लेखनीय है कि कर्नाटक मे इस मत का प्रचार प्रसार अधिक रहा। वैष्णव धर्म का भक्ति आन्दोलन महाराष्ट्र मे कर्नाटक से होकर ही आया है। पद्मनाभ-तीर्थ, नरहरि-तीर्थ, माधव-तीर्थ और अक्षोभ्य-तीर्थ ये चार शिष्य मध्वाचार्य के द्वारा मठाधिपति बनाये गये थे। इन्होने द्वैती वैष्णव धर्म का प्रचार किया। जयतीर्थ अक्षोभ्य तीर्थ के शिष्य थे, जिन्होने मध्वाचार्य के ग्रन्थो का गभीर अध्ययनकर विद्वत्तापूर्ण टीकाये भी लिखी है। इनकी शिष्य-परपरा के कुछ मराठी शिष्यो ने इन टीकाओ के मराठी अनुवाद प्रस्तुत किए हैं। इनमे से कुछ पोथियां बंगलौर के मठ मे 'सुरक्षित' हैं।

१. निरुक्त ७–४, ८–९—यास्क।

'महाभारत तात्पर्य निर्णय' और भागवत का अनुवाद ऐसी ही दो मराठी पोथियाँ है। प्राध्यापक श्री ना. बनहट्टीजी के मत से मराठी वैष्णव काव्य पर माध्वमत के द्वैत का भी प्रभाव पड़ा है। पर उनके इस मत को हम इतना ही महत्व दे सकते हैं कि मराठी वैष्णवो का बहिरंग अद्वैताश्रयी और अंतरंग द्वैताश्रयी है। भक्ति मार्ग के प्रतिपादन मे सगुण भक्ति का महत्व अङ्कित करते समय वे द्वैती है ऐसा भास होने लगता है। पर ज्ञानाश्रित अध्यात्मपक्ष उन्हे सर्वदा ग्राह्य है और इस दृष्टि से वारकरी संप्रदाय वाले अपने को अद्वैती बतलाते है। माध्वमत की प्रतिष्ठा कितनी महत्वपूर्ण है इसका इस बात से पता चल जाता है कि माध्वमत ने भक्तिवाद का तर्कपूर्ण और सुसगत विवेचन किया है। शैव मतानुयायियो से भी माध्वीय मत वाले समान भाव रखते है। उत्तर प्रदेश मे वृन्दावन जैसे क्षेत्र मे भी इनके अनुयायी मिलते है। इस सम्प्रदाय के दीक्षागुरु केवल ब्राह्मण या सन्यासी हो सकते है। माध्वीद्वैत मत का भारतीय धर्म-साधना मे महत्व इस बात का है कि इसने भक्तिमार्ग को निष्कटक कर दिया तथा भक्तिमार्ग को प्रशस्त कर दिया। शकर के अद्वैत की पराकाष्ठा प्रतिक्रिया के रूप मे माध्वमत में पहुँचा दी गई है। इस चरम सीमा पर पहुँचने के बाद पुन. उसकी प्रतिष्ठा न हो सकी।[१] भारतीय दार्शनिक भेद को स्वीकार कर सकता है पर तात्विक रूप मे अभेद को स्वीकार कर सकना ही उसकी स्वाभाविक प्रकृति है। अतः वल्लभाचार्य, कबीर तथा सूफियो पर अद्वैतवाद का प्रभाव पड़ा है जिसे हम यथा स्थान देखेगे। इसलिए द्वैत भाव को छोड़कर वल्लभाचार्य ने इस मत के भक्ति विषयक, आत्मसमर्पण, भजन, जप, ध्यान आदि को तो स्वीकार किया और इनको ज्ञान से भी विशेष महत्व प्रदान किया। भाडारकरजी के मत से गोपालकृष्ण की उपासना का माध्वमत में विशेष महत्व नही है।[२]

आचार्य वल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैती वैष्णव संप्रदाय—

शुद्धाद्वैत की उपासना ने विशेषतः राजस्थान, गुजरात और ब्रज आदि प्रान्तो को कृष्ण भक्ति की पावन धारा से आप्लावित किया। इस सम्प्रदाय को 'रुद्र संप्रदाय' और 'विष्णु-स्वामी-संप्रदाय' भी कहा जाता है। वल्लभ सप्रदाय के 'सप्रदाय प्रदीप' नाम के एक ग्रन्थानुसार यह जानकारी उपलब्ध होती है।[३]

---

१. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि—डा० विश्वंभरनाथ उपाध्याय, पृ० १७३।

२. वैष्णविज्म शैविज्म—भांडारकर, पृ० ८७।

३. संप्रदाय प्रदीप, पृ० १४-३०।

'युधिष्ठिर राज्यकाल के पश्चात् एक क्षत्रिय राजा द्राविड देश मे राज्य करता था। उसका एक ब्राह्मण मत्री था। इसी ब्राह्मण मंत्री का एक बुद्धिमान; तेजस्वी तथा भगवद्भक्ति परायण पुत्र विष्णु स्वामी था जिसने वेद, उपनिषद, स्मृति, वेदान्त, योग आदि समस्त ज्ञान साहित्य का अध्ययन करने के बाद आचार्य की पदवी पाई। भगवान के साक्षात्कार से उसे ब्रह्म के स्वरूप का ज्ञान तथा भक्ति मार्ग की अनुभूति हुई, इसी सप्रदाय प्रदीप मे लिखा है कि विष्णु स्वामी ने बहुत समय तक भक्ति मार्ग का प्रचार किया और भक्ति को मुक्ति से भी अधिक महत्ता प्रदान की। इन्होंने वेद, तत्रोक्त-विधान, वेदात, साख्य योग, वर्णाश्रमधर्मादि सपूर्ण कर्तव्य भक्ति के ही साधन बताये है।[1]

'भाडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट एनल्स' के एक लेख मे विवेचित रायबहादुर श्री अमरनाथ राय के अनुसार मध्वाचार्य तथा सायणाचार्य के गुरु विद्या शङ्कर को ही विष्णु स्वामी बतलाया गया है। यह उनका दूसरा नाम था।[2]

पद्म पुराण के अनुसार रुद्र सप्रदाय के प्रवर्तक विष्णु स्वामी थे।[3]

रामानुज श्री स्वीचक्रे मध्वाचार्यः चतुर्मखः।
श्री विष्णु स्वामिनं रुद्र निम्बादित्यं चतु.सनः॥

गौडीय दशमखड मे एक लेख है जिसमे श्री भक्ति सिद्धांत सरस्वती महाराज कहते है[4]—'एक देव तनु विष्णु स्वामी सन ३०० पूर्व हुए जो मथुरा मे रहते थे। इनके पिता का नाम देवेश्वर भट्ट था। इन्ही विष्णु स्वामी के सात सौ त्रिदडी सन्यासी इनके मत का प्रचार करते थे। इस मत के अन्तिम सन्यासी श्री व्यासेश्वर थे। दूसरे एक और विष्णु-स्वामी थे जिनको 'राजगोपाल-विष्णुस्वामी' कहते थे। इनका जन्म सन् ८३० मे हुआ। ये काची मे रहते थे और उन्होने वहाँ पर श्री राजगोपाल देव अथवा श्री वरदराज की मूर्ति स्थापित की। ऐसा प्रसिद्ध है कि द्वारिका मे रणछोडजी तथा सप्त नगरियो मे से अन्य छः नगरियो मे भी इन्होने विष्णु मूर्तियो की स्थापना की थी। इसके अतिरिक्त एक और तीसरे विष्णु स्वामी हुए थे। कहा जाता है कि वल्लभाचार्य के पूर्व पुरुष उन्ही तीसरे विष्णु स्वामी के शिष्य थे।[5]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० ४१।
२. भांडारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट एनल्स—एप्रिल–१९१३ से जुलाई १९१३, —वाल्यूम १४ पार्ट ३–४ पृ० १६१–१९८।
३. पद्म पुराण।
४. गौडीय दशमखण्ड—पृ० ६२४–६२६।
५. गौडीय दशमखंड—पृ० ६२४–६२६।

नाभादासजी अपने भक्तमाल मे बतलाते है[1]—

नामत्रिलोचन शिष्य, सूर ससि सदृश उजागर।
गिरा गंग-उनहारि काव्य रचना प्रेमाकर॥
आचरज हरिदास अतुलबल आनन्द दाइन।
तिहि मारग वल्लभ विदित पृथुपाधित पराइन॥
नवधा प्रधान सेवा सुहृद मन वचक्रम हरिचरण रति।
विष्णु स्वामी सम्प्रदाय दृढ ज्ञानदेव गंभीर मति॥

उनके मतानुसार विष्णु स्वामी सम्प्रदाय मे ज्ञानेश्वर, नामदेव, त्रिलोचन आदि दीक्षित थे। नाभादास का कथन ऐतिहासिक दृष्टि से तथ्यपूर्ण नही जान पडता। मराठी साहित्य के मर्मज्ञ यह जानते है और प्रसिद्ध भी है कि ज्ञानेश्वर अपना सीधा सम्बन्ध नाथ सम्प्रदाय से जोडते है। नाथ संप्रदाय योग परक और ज्ञान मार्ग का प्रतिपादक है। 'अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय' के विद्वान लेखक डा० दीनदयालु गुप्त जन श्रुति के आधार पर बतलाते है कि वारकरी सप्रदाय जिसमे ज्ञानेश्वर, नामदेव इत्यादि भक्त हुए है वे, तथा महाराष्ट्र मे जिसे भागवत धर्म कहा जाता है वह विष्णु स्वामी मत का ही रूपान्तर है।[2]

'वारकरी सप्रदाय' के लेखक तथा ज्ञानेश्वरी के उद्भट विद्वान प्राचार्य ग० रा० दाडेकर इस मत को कही भी विवेचित करते हुए नही दिखाई देते तथा 'महाराष्ट्रांतील पॉच सप्रदाय' के लेखक श्री प० रा० मोकाशी भी अपने 'वारकरी सम्प्रदाय' के विवेचन में इस मत को मानते हुए नही दिखाई देते। कही भी उन्होने इस जनश्रुति की पुष्टि नही की। तात्पर्य यह है कि नाभादास का छप्पय केवल जनश्रुति के श्रद्धावल पर आधारित है सत्य पर नही। यह अवश्य कहा जा सकता है कि ज्ञानेश्वर ने जो भक्ति का प्रतिपादन किया वह, वैष्णवाचार्यो के मतो का सस्कार ही है।

डा० भाडारकर अपने 'वैष्णव शैव और अन्य सम्प्रदाय' मे ऐसा प्रतिपादन करते है कि विष्णु स्वामी के ही वेदात मत का अनुसरण वल्लभाचार्य ने किया। अपने इस मत के पुष्ट्यर्थ वे श्री निवासाचार्य के द्वारा रचयित 'सकलाचार्य मत सग्रह' का आधार देते है। इस ग्रन्थ को किस प्रकार प्रामाणिक माना जाय इस विषय पर वे मौन है। अपने प्रतिपादन मे डा० भाडारकर महोदय विष्णु स्वामी के

१. नाभादास—भक्तमाल, छप्पय ४८।
२. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० ४२।

'वृहदारण्यक उपनिषद' (१–४–३), तथा 'मुण्डकोपनिषद' (२–१) के अतिरिक्त और किसी ग्रन्थ का उल्लेख नही करते ।[1]

इस मत के प्रवर्तक यद्यपि श्री वल्लभाचार्य समझे जाते है और उन्होंने अपने ग्रन्थो मे बडी विनम्रतापूर्वक यह निर्देश किया है कि उनका यह दार्शनिक मत आमूलाग्र नूतन मत होते हुए विष्णु स्वामी और अन्य आचार्यों से सचालित है जो कि आठवी शताब्दी मे हो गये है ।[2]

विष्णु स्वामी को वल्लभाचार्य के ही मत का पूर्ववर्ती आचार्य मानने के सबध मे स्वय सम्प्रदायियो मे भी मतभेद जान पडता है। 'सप्रदाय प्रदीप' के रचयिता गदाधर जैसे पुष्टि मार्ग के अनुयायी उक्त दोनो आचार्यों के संवन्ध को स्वीकार करते है, तो गोपालदास जैसे वल्लभाचार्य के चरित्र लेखक इस वात की कोई चर्चा तक नही करते है ।[3] पता चलता है कि वल्लभाचार्य के पिता लक्ष्मण भट्ट सभवत· विष्णु स्वामी सप्रदाय के अनुयायी थे, इस कारण पुत्र का अपने पिता के मत का अपनी पूर्वावस्था मे अनुवर्ती हो जाना और पीछे निजी मत निश्चित कर लेना असभव तथा आश्चर्य जनक नही हो सकता ।[4]

वास्तव मे विष्णु स्वामी रामानुजाचार्य, निम्वार्क एवम् मध्वाचार्य इन तीनो से पहले ईसा की १० वी शताब्दी मे हुए थे ।[5] विद्वानो मे उनके सम्वन्ध मे मतभेद विद्यमान है और इस पर अभी अंतिम निर्णय नही हो पाया है, और अब तक की इस विषय की धारणाये जो भी बन गयी है वे अधिकाँश रूप में सत्य से अभी दूर हैं ।[6]

डा० फर्कुहर विष्णु स्वामी के सप्रदायानुवर्ती मठो का उल्लेख दो स्थानो पर है ऐसा करते हैं। एक मठ काकरोली मे है तथा दूसरा कामवन मे है। इनका भी पूरा विवरण उपलब्ध नही है ।[7]

---

१. वै. शै., पृ० १०९–१०—डा० भांडारकर ।
२. संप्रदायप्रदीप—पृ० १४–३० ।
३. विष्णुस्वामी संप्रदाय और वल्लभाचार्य—जगदीश गुप्त, हिन्दी अनुशीलन, ३–४ प्रयाग—पृ० २३ ।
४. वैष्णव धर्मनो इतिहास—शास्त्री, पृ० २४२ ।
५. वड़ौदा ओरिएन्टल कान्फरेन्स की रिपोर्ट, पृ० ४५१–४५२ ।
६. वैष्णव धर्म—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० ९० ।
७. एन आऊट लाइन आफ दि रेलिजस लिटरेचर ऑफ इण्डिया, पृ० ४० —डा० फर्कुहर ।

निष्कर्ष—

सचमुच विष्णु स्वामी कब हुए तथा अनेक विष्णु स्वामियो में से वल्लभ सम्प्रदाय जिस विष्णु-स्वामी के मत का अनुसरण करता है वे कौन से है यह कहना वड़ा कठिन है। फिर भी विष्णु स्वामी सप्रदाय कम महत्त्वपूर्ण नही है। इस सप्रदाय ने न्यूनाधिक रूप मे उनके पीछे आने वाले कई व्यक्तियों और सम्प्रदायो को प्रभावित किया है, इतना तो निश्चित माना जा सकता है। विष्णु-स्वामी के द्वारा लिखित कई ग्रन्थो के नाम गिनाये जाते है। कहते है फर्कुहर को ऐसी कई रचनाओ के नाम प्राप्त हुए थे। इन सब मे केवल एक 'सर्वज्ञ सूक्त' नामक रचना प्रमाण-स्वरूप मानी गई है। श्रीधर ने अपनी टीकाओ मे इस ग्रन्थ का उल्लेख किया है, इससे अनुमान किया जा सकता है कि यह उन्ही की रचना होगी। विष्णु-स्वामी के ईश्वर सच्चिदानन्द स्वरूप है और वे अपनी ल्हादिनी, सवित् के द्वारा आश्लिष्ट है, और माया ईश्वराधीन है। यही ईश्वर सत्-चित-नित्य, निजार्चित्य और पूर्णानन्द-मय विग्रहधारी नृसिंह भी है। नृसिंहावतार भगवान् विष्णु स्वामी के इष्टदेव जान पड़ते हैं। उनकी गोपालोपासना सभवत वाद मे आरभ हुई थी। 'नृसिंह पूर्णतापनी' उपनिषद का टीकाकार और प्रपचसार का रचयिता भी इनको माना जाता है। नृसिंह भगवान् की उपासना गोपालोपासना के साथ-साथ शाङ्कर मत के कई पीठो मे दिखाई देती है। अतएव कहा जाता है कि विष्णु स्वामी भी पहले शायद शङ्कराद्वैती रहे हो। जीव को विष्णु स्वामी 'स्वाविद्या सवृत' अर्थात् क्लेशो का घर मानते हैं। वह स्वयं आनन्द प्राप्त करने का अधिकारी है तथा आप ही दु ख भी भोगा करता है, इसलिए ईश्वर एव जीव मे परस्पर भेद है। इस प्रकार से विष्णु स्वामी द्वैती भी सिद्ध होते है। अपने सिद्धान्तो से इन्होने अनेको को प्रभावित किया। संतो के जीवन विषयक प्रश्न आधार न मिलने के कारण जब अधूरे एवम् समस्यापूर्ण वन जाते है, तव उनके दार्शनिक आचार्यो मे से कुछ आचार्यो के वारे मे भी इस प्रकार समस्या निर्माण हो जाय तो उसमे आश्चर्य की कोई वात नही है।

श्री वल्लभाचार्यजी का पुष्टि मार्ग—

विक्रम की १६ वी शताव्दी मे विष्णुस्वामी की उच्छिन्न गद्दी पर श्री वल्लभाचार्य बैठे। अपने दार्शनिक सिद्धान्तो के लिए इन्होने विष्णु स्वामी से प्रेरणा ग्रहण की तथा भगवद् अनुग्रह द्वारा—पुष्टि द्वारा प्रेम भक्ति के मार्ग की स्थापना की। हिन्दी व्रजभाषा के अष्टछाप कवि इसी सम्प्रदाय के भक्त थे। इनके उपास्य गोपी-वल्लभ तथा राधावल्लभ कृष्ण है। प्रमुख साप्रदायिक ग्रन्थ श्रीमद्

भागवत् है। पहले ही निर्देश आ चुका है कि वल्लभाचार्यजी के पिता का नाम लक्ष्मण भट्ट था। ये दक्षिण के तेलगी ब्राह्मण थे और कृष्ण के परमभक्त। ये तीर्थ यात्रा के निमित्त काशी मे आकर ठहरे ही हुए थे कि इतने मे सुना कि काशी पर मुसलमानो का आक्रमण होने वाला है। इस कारण उन्हे भाग कर चपारण्य जाना पडा। रास्ते मे ही वल्लभाचार्य का जन्म सवत् १५३५ (सन १४७६) विक्रमी के वैसाख मास मे हुआ। उपद्रव के समाप्त हो जाने पर लक्ष्मण भट्ट अपने नवजात शिशु के साथ हनुमानघाट पर आकर रहने लगे। बचपन से ही कुशाग्र और प्रखर प्रतिभावान होने से १३ वर्ष की उम्र मे ही वेद, वेदाग, पुराण आदि ग्रन्थ इन्होने पढ लिये। अपने पिता के गोलोकवासी हो जाने पर वे दक्षिण भारत मे विजयनगर मे अपने मामा के यहाँ गए और लौटते समय उनके शिष्य वन गए। 'कृष्णदास मेघन' नामक क्षत्रिय इनका सेवक वन गया। विजयानगराधीश के दरबार मे द्वैत मत के आचार्य व्यास तीर्थ की अध्यक्षता मे अद्वैतवादियो को परास्त किया तव इनका कनकाभिषेक हुआ था। इनके रचे ग्रन्थ ये है—अणुभाष्य, तत्वदीप निवध, श्रीमद्भागवत सुवोधिनी, भागवत सूक्ष्म टीका, पूर्व मीमासा भाष्य (त्रुटित) तथा सिद्धान्त मुक्तावली आदि।

वल्लभाचार्य ने भारत वर्ष की कई यात्राये की। उज्जैन, वृन्दावन, काशी तथा अडैल (प्रयाग) आदि स्थानो मे इनका सचार रहता था। इनके द्वारा गोवर्धन पर्वत पर देवदमन या श्रीनाथजी के रूप मे गोपालकृष्ण का प्राकट्य हुआ। जिस स्थान का भगवान् ने उनको सकेत स्वप्न मे दिया था, उसी स्थान पर श्रीनाथजी की स्थापना की गई, और पूजन विधियो की व्यवस्था प्रचार आदि की स्थापना की। कुभनदास को यही पर अपना शिष्य वना लिया। एक वार दक्षिण यात्रा मे पढरपुर भी गए और विठ्ठल को देखकर प्रभावित भी हुए। वहीं पर प्रेरणा मिलने पर काशी मे आकर अपना विवाह किया। बीच मे अनेक शिष्यो को प्रवोधन देकर अनेक मन्दिरो मे उनको सेवा मे लगाया। पुनः विवाह के बाद यात्रा के लिए चल पड़े। इस समय अलर्क-पूर (अडैल) को अपना निवास स्थान ही वना लिया। एक वार अडैल से व्रज को गए। आगरे से मथुरा जाने वाली सडक पर गऊ घाट स्थान पर रहने वाले सारस्वत ब्राह्मण सूरदास को अपने सप्रदाय की दीक्षा दी। वहाँ से गोकुल होते हुए गोवर्धन पहुँचे। यहाँ पर कृष्णदास को अपनी शरण मे ले लिया। निम्बार्क मत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चैतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्यजी की घनिष्ट मित्रता थी। इनके पिता ने १०० सोमयज्ञ पूर्ण कर लिए थे। जिस कुल मे ये यज्ञ पूर्ण हो जाते हैं, उसमे भगवान् स्वयं अवतार लेते है ऐसा प्रचलित विश्वास है। इस हिसाव से वल्लभाचार्य को स्वयम् भगवान् का अवतार

भी माना जाता है। राजनैतिक पुरुषों पर भी इनका बहुत प्रभाव बताया जाता है। वल्लभाचार्य की मन्त्रसिद्धि से तत्कालीन दिल्लीपति बादशाह सिकंदरलोदी इतना प्रभावित हुआ कि उसने वैष्णव सप्रदाय के साथ किसी प्रकार के जोर-जुल्म न करने की मनादी करवा दी थी।

इनके दो पुत्र हुए एक श्री गोपीनाथ आचार्य और दूसरे श्री विठ्ठलनाथ-आचार्य। श्री गोपीनाथ आचार्य ने गुजरात मे वल्लभ (पुष्टि) सप्रदाय का विशेष प्रचार किया। इनके एक पुत्र श्री पुरुषोत्तमजी उनके ही जीवन काल में गोलोकवासी हुए। स० १५९५ मे श्री गोपीनाथ का भी देहान्त हो गया। बाद में आचार्य पद पर श्री विठ्ठलनाथ आचार्य हुए। वल्लभ सप्रदाय के वैभव को इन्होने बहुत बढ़ाया। इनका भी बाल जीवन काशी, चुनार तथा अड़ैल मे बीता, तथा शिक्षा-दीक्षा भी यही पर हुई। अकबर से इनकी गाढी मित्रता थी। राजा बीरबल तथा टोडरमल भी इनके मित्र थे। इनके प्रभाव के वशीभूत होकर गोकुल की भूमि तथा गोवर्धन की भूमि बादशाह अकबर ने इन्हे भेट की। व्रज मडल मे गाय चराने के करो से माफी दी थी। इस विषय मे दो शाही फरमान आज भी मिलते है। पुष्टि सप्रदाय की दृष्टि, विस्तार तथा व्यवस्था का श्रेय उनको ही दिया जाता है। वल्लभाचार्य के ग्रन्थो के गूढ रहस्यों को इन्होने समझाया तथा नये ग्रन्थो का निर्माण भी किया। अणुभाष्य के अन्तिम डेढ अध्यायों की पूर्ति भी इन्होने की है। विद्वन्मण्डन, भक्तिहंस, भक्ति निर्णय, निबंध-प्रकाश-टीका, सुबोधिनी, टिप्पणी, और शृङ्गार-रस-मडन, आदि इनके ग्रन्थ है। इन्होने गुजरात की यात्रा तथा भ्रमण कर वल्लभ सम्प्रदाय की सेवा पद्धति का व्यवस्थित रूप स्थापित किया। इनके सात पुत्र थे जिनकी सात गद्दियाँ क्रमशः कोटा, नाथद्वारा, काकरोली, गोकुल, कामवन तथा सूरत मे है। भगवान् के सात स्वरूपों के मुख्य आचार्य ये सात पुत्र ही थे क्रमशः वे स्वरूप इस प्रकार है—

क्रम	पुत्र	स्वरूप	गद्दी का स्थान
१	गिरधरजी	श्री मथुरेशजी	कोटा
२	गोविंदरायजी	श्री विठ्ठलनाथजी	नाथद्वारा
३	बालकृष्णजी	श्री द्वारिकाधीशजी	कांकरोली
४	श्री गोकुलनाथजी	श्री गोकुलनाथजी	गोकुल
५	श्री रघुनाथजी	श्री गोकुलचद्रमाजी	कामवन
६	यदुनाथजी	श्री बालकृष्णजी	सूरत
७	घनश्यामजी	श्री मदनमोहनजी	कामबन

गुजरात मे वैष्णव धर्म का वैभवपूर्ण विस्तार करने का श्रेय गुसाई विठ्ठलनाथजी को ही है। वल्लभाचार्य के इस शुद्धाद्वैत तथा पुष्टि मार्ग का प्रचार व्रजमण्डल, राजपूताना तथा गुजरात मे सब से अधिक हुआ। वल्लभाचार्यजी का गोलोकवास संवत १५८७ मे हुआ। इनके बारे मे विशेष विवरण देना अनुपयुक्त होगा। गोसाई विठ्ठलनाथ के भी अनेक भक्त हुए। इस सम्प्रदाय की 'दो सौ बावन वैष्णव वार्ताएँ' प्रसिद्ध है। अष्टछाप की स्थापना विठ्ठलनाथजी ने अपने चार सर्वश्रेष्ठ भक्तकवि और अपने पिता के चार सर्वश्रेष्ठ भक्त कवियो को मिलाकर की। ये अष्टसखा थे तथा इनकी 'अष्टसखानकी वार्ता' प्रसिद्ध है। हिन्दी का उज्ज्वल साहित्य इन्ही अष्टछापी कवियो और भक्तो के द्वारा निर्मित हुआ। ये उच्च कोटि के कवि तथा संगीतज्ञ थे।[1] इस विषय मे डा० दीनदयालु गुप्त, डा० धीरेन्द्र-वर्मा, श्री प्रभुदयालजी मीतल और डा० भगवानदास तिवारी की पुस्तके द्रष्टव्य है।[2]

सूरदास का विवेचन करते समय अन्य अष्टछापी कवियो का भी विचार करेगे। यहाँ पर केवल अष्टछापी भक्त कवियो के नाम दिये जाते है—(१) सूरदास, (२) परमानन्ददास, (३) कुंभनदास, (४) कृष्णदास, (५) नन्ददास, (६) चतुर्भुजदास, (७) गोविदस्वामी, (८) छीत स्वामी या छीतदास।

वल्लभ संप्रदाय के शुद्धाद्वैत एवम् पुष्टि मार्ग का दार्शनिक स्वरूप—

स्नेह, आसक्ति और प्रीति के बल भगवान को दुलराने तथा अपनाने का कार्य वल्लभ-संप्रदाय ने किया। रामानुज से वैष्णवी साधना को सरल बनाने की जो प्रवृत्ति चल पड़ी उसे वल्लभाचार्य की साधना मे आकर अपनी चरम पूर्णता प्राप्त हो गई। वल्लभाचार्य ने भक्त के लिए केवल आत्मसमर्पण ही मुख्य शर्त रखी जो भगवान् को अपना सकती है। दूसरी विशेषता यह है कि वल्लभ-सम्प्रदाय मे मनुष्य के हृदय की रागात्मिका प्रवृत्तियो को भगवान की प्राप्ति मे माध्यम बना लेना। इस तरह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन मे दो भावनाएँ प्रमुख होती है।

(१) प्रेम और (२) वात्सल्य। वल्लभाचार्य ने भगवान् के इन दोनो रूपो अर्थात् 'स्वामी' और 'शिशु' को ही आराध्य बताया। भगवान् की मधुर लीलाएँ गाना ही इस सम्प्रदाय का ध्येय बनकर जनता मे इसका सर्वत्र प्रचार बढ़ा। तात्विक दृष्टि से इस मार्ग को शुद्धाद्वैत सिद्धात-वादी मार्ग कहते है—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त।

२. अष्टछाप—धीरेन्द्र वर्मा, तथा अष्टछाप परिचय—प्रभुदयाल मीतल, महाकवि नंददास प्रणीत भँवरगीत—डा० भगवानदास तिवारी।

माया सम्वन्धराहित्यं शुद्ध इत्युचते बुधैः।
कार्य कारण रूपं हि शुद्ध ब्रह्म न मायिकम् ॥[1]

यहाँ 'शुद्ध' का अर्थ है—माया के सम्बन्ध से रहित। माया के सम्वन्ध से रहित ब्रह्म ही जगत् का कारण और कार्य है। माया-शवलित् ब्रह्म कारण और कार्य नही है। इसे ब्रह्मवादी इसलिये कहा जाता है कि सब कुछ ब्रह्म ही है। यह संसार ब्रह्मरूप तथा जीव भी ब्रह्म रूप-अर्थात् दोनो सत्य है। जगत् ब्रह्म का अविकृत परिणाम है। दूध का दही यह सविकारी परिणाम है। इसलिए जीवों के लिए पुष्टिमार्ग उचित है। 'पोषण तदनुग्रहः' का अर्थ है, पात्रता और अधिकार से ईश्वर का अनुग्रह, कृपा, या पुष्टि प्राप्त करना। श्री वल्लभाचार्य अपने पुष्टि मर्यादा भेद मे तीन मार्गो का समर्थन करने हैं—(१) मर्यादा-मार्ग, (२) प्रवाह-मार्ग तथा (३) पुष्टिमार्ग।

(१) **मर्यादा मार्ग**—इसमे वेद शास्त्रों के अनुसार एवम् प्रदर्शित मार्ग पर चलना,। इसमे लोकसग्रह और लोकरक्षा के भाव लगे रहते है।

(२) **प्रवाह मार्ग**—इनमें ससार के साथ चलकर प्रवृत्ति परक साधनों के सम्पादन का कार्य करना पड़ता है। इस मार्ग से जाने वालों को ससार यातना से छुटकारा नही है। लौकिक काम्य कर्मों का अन्त नही है। प्रवाह मार्गीय ससार-चक्र के साथ भ्रमण करते रहते हैं।

(३) **पुष्टिमार्ग**—यह मार्ग भगवान् के अनुग्रह अथवा पुष्टि का मार्ग है। इसमे मुख्य साध्य भक्तो का भगवान् की कृपा द्वारा भगवद् प्रेम प्राप्त करना है। यही सर्वश्रेष्ठ मार्ग है। पुष्टि मार्गीय जीव दो प्रकार के होते है। शुद्ध और मिश्र। पुष्टिमार्गीय जीवो के भी तीन प्रकार है—(१) प्रवाही-पुष्ट-भक्त, (२) मर्यादा-पुष्ट-भक्त, (३) पुष्टि-पुष्ट-भक्त।

भगवान् के अनुग्रह का जरा सा आधार और आश्रय लेकर जो साधक प्रवाह मार्ग पर चलते है; तथा कर्म मे प्रीति रखते है, वे प्रवाही-पुष्ट-भक्त है। भगवत अनुग्रह के आसरे से अपनी मर्यादा के अनुसार भगवान् के गुणो को समझते हुए कर्म करते है वे मर्यादा-पुष्ट-भक्त हैं। जो केवल भगवान् के अनुग्रह का ही अवलंब लेते हैं वे पुष्टि-पुष्ट-भक्त हैं। जो भक्त भगवान् के अनुग्रह से प्राप्त प्रेम से

---

१. **शुद्धाद्वैत मार्तण्ड—श्री गिरधरजी।**
विशेष द्रष्टव्य—शुद्धाद्वैत मार्तण्ड और उसकी आलोक रश्मि—डा० भगवानदास-तिवारी का लेख-राष्ट्रवाणी, पूना, वर्ष २०, अङ्क ३, सितम्बर १९६६, पृ० ८५ से ८८ तक।

शुद्ध हो गये है वे शुद्ध-पुष्ट-भक्त है। भगवान् के अनुग्रह प्राप्त एवम् सम्पन्न किये विना पुष्टि मार्ग साध्य नहीं है। श्रीकृष्ण का अनुग्रह ही पुष्टि है। स्नेहपूर्वक भगवान् की सेवा तथा प्रभु कृपा अथवा पुष्टिजन्य प्रेम ही इस सम्प्रदाय मे मुख्य वस्तु मानी गयी है। मोक्ष-सुख की अवस्था भी भगवान् की कृपा से ही मिलती है। जिस मार्ग मे लौकिक तथा अलौकिक, सकाम अथवा निष्काम, मनजा, तनुजा, भयभावो, और साधन मूलक सम्पत्ति आदि का अभाव ही श्रीकृष्ण स्वरूप की प्राप्ति मे साधन है, अथवा जहाँ जो फल है वही साधन है उसे 'पुष्टि मार्ग' कहते है। जिस मार्ग मे सर्व सिद्धियो का हेतु भगवान् की अनुग्रह प्राप्ति हो, जहाँ देह के अनेक सम्बन्ध ही साधन रूप वनकर भगवान् की इच्छा के वल पर फल-रूप-सम्वन्ध वनते है, जहाँ भगवान् की विरह अवस्था मे भगवान् की लीला के अनुभव मात्र से सयोगावस्था, के सुख का अनुभव होता है, तथा जिस मार्ग मे सर्व भावो मे लौकिक विपय का त्याग है, और उन भावो के सहित देहादि का भगवान् को समर्पण है अथवा होता है, वह पुष्टिमार्ग कहलाता है।

इस मत मे ब्रह्म माया से अलिप्त, माया सम्बन्ध से विरहित माना गया है इसलिये नितात शुद्ध ब्रह्म ही जगत् का कारण है यह हम पूर्व मे ही कह आये है। वल्लभाचार्य की दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण तथा सगुण एक ही समय मे रहता है। वह 'अणोरणीयान महतोमहीयान' भी है। वह कर्तुम् अकर्तुम् तथा अन्य कथाकर्तुम् और सर्व भाव धारण मे समर्थ है। अविकृत होने पर भी भक्तो पर कृपा के द्वारा परिणामशील होता है। इस ब्रह्म का स्वरूप इस प्रकार है[1]—

निर्दोष-पूर्णगुण विगृह आत्मतंत्रो
निश्चेल तात्मक शरीर गुणैश्चहीना।
आनन्द मात्र कर पाद मुखोदरादिः
सर्वत्रं च विविध भेद-विवर्जितात्मा॥

श्रीकृष्ण ही परब्रह्म है। उनका शरीर सच्चिदानन्दमय है। जव वह अनत शक्तियो से अपनी आत्मा मे रमण किया करता है, तव आत्माराम कहलाता है। वाह्यरमण की इच्छा से अपनी शक्ति की अभिव्यक्ति करने पर वह पुरुपोत्तम कहलाता है। वह आनन्दमय, अगणितानन्द तथा परमानन्द स्वरूप है। गीता मे वताये गये पुरुषोत्तम का रूप इस प्रकार है[2]—

'यस्मात् क्षरमतीतो हम क्षरादपि चोत्तमः।
अतोस्मि लोके वेदेच प्रथित पुरुषोत्तमः॥

---

१. तत्वदीपनिबंध।
२. गीता, १५-१८।

वल्लभाचार्य गीता के द्वारा वर्णित परात्पर पुरुष को 'पुरुषोत्तम' कहते हैं। श्रीकृष्ण अपनी अनन्त शक्तियो से वेष्टित होकर अपने भक्तों के साथ 'व्यापी वैकुण्ठ' मे नित्य लीला किया करते है। गोलोक इसी वैकुण्ठ का एक अङ्ग मात्र है। भगवान् की शक्तियाँ इसके अधीन रहती है। इनमे श्री, पुष्टि, गिरा, कान्ता आदि वारह प्रमुख हैं। क्रीड़ा के वहाने अपनी समस्त शक्तियों और परिवार सहित लीला-परिकर का वैकुण्ठ, गोकुल के रूप मे भूतल मे अवतीर्ण होता है। चन्द्रावली-राधा, यमुना आदि के रूप मे ये शक्तियाँ तथा श्रुतियाँ भी गोपियो के रूप मे अवतीर्ण होती है। सूर ने भगवान् के—'निसदिन विहार' करने की वात इसीलिये लिखी है[1]—

जहाँ वृन्दावन आदि अजर जहाँ कुंज लता विस्तार।
तहा बिहरत प्रिय-प्रियतम दोऊ निगम भृङ्ग गुंजार॥
रतन जडित कालिन्दी के तट अति पुनीत जहँ नीर।
सूरस हँस – चकोर – मोर खग कूजत कोकिल तीर॥
जहाँ गोवर्धन पर्वत मनिमय संघन कन्दरा सार।
गोपिन मंडन मध्य विराजत निस दिन करत विहार॥

ब्रह्म के इस तरह तीन प्रकार है। (१) आधि-भौतिक=जगत्-ब्रह्म, (२) आध्यात्मिक=अक्षर-ब्रह्म, (३) आधि दैविक=परब्रह्म अर्थात् पुरुषोत्तम। अक्षर-ब्रह्म में आनन्द अंश किंचित् मात्रा में तिरोहित रहता है। परब्रह्म में वह सर्वथा परिपूर्ण रहता है।

जीव भगवान् की इच्छा से प्रकट होता है। ऐश्वर्य के तिरोधान से दीनता, यश के तिरोधान से सर्वहीनता, श्रीके तिरोधान से आपत्ति का पात्र तथा ज्ञान के तिरोधान से जीव देहात्म बुद्धि का पात्र बन जाता है। जीव शुद्ध मुक्त तथा संसारी होता है। निर्गमन के समय आनन्द अंश के तिरोधान से अविद्या से सम्बन्धित होकर संसारी जीव वन जाता है। उसके पूर्व वह शुद्ध जीव रहता है। आविर्भाव और तिरोभाव सिद्धांत जगत् की उत्पत्ति, तथा विनाश के स्थान पर वल्लभाचार्य मानते हैं। जीव व ईश्वर की ही तरह जगत् भी नित्य है। भगवान् की रागानुगा भक्ति का आविर्भाव भगवान् के अनुग्रह के बिना असभव है। यह अनुग्रह पुष्टिमार्ग से प्राप्त है। भगवान् सेवा एकान्त निष्ठा तथा शुद्ध अनुराग से की जाय। यह सेवा तनुजा, वित्तजा, तथा मानसी हुआ करती है। स्नेह, आसक्ति, तथा व्यसन केवल भगवान् के प्रति ही हो। भगवान् मे भक्त का स्नेह होने पर विषयों की विरक्ति हो

१. सूरसागर—ना. प्र. सभा संस्करण।

जाती है। भगवान् के प्रति आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। लौकिक सम्बन्ध बाधक सिद्ध होते है। भगवान् से आसक्ति ही व्यसन बन जाता है और जीव की कृतकार्यता सम्पन्न हो जाती है। अन्य वैष्णव मतो की तरह प्रपत्ति या शरणागति भी पुष्टि मार्ग मे उपादेय तत्त्व है। भक्ति मे साधनो की अपेक्षा रहती है, परन्तु प्रपत्ति मे साधनो की कोई गुंजाइश ही नही है। केवल भगवान् का ही इसमे स्वीकार है। उसका एकमात्र आश्रय ही प्रमुख है। पुष्टिमाग मे भागवत के आधार पर सारे दार्शनिक सिद्धात है। इस सप्रदाय मे गृहस्थाश्रमी भी साप्रदायिक नियमों का पालन करते है। प्रधान मत्र 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' और 'श्रीकृष्ण शरण मम' है। इन मन्त्रो का उपदेश गुरु से ग्रहण किया जाता है। गुरु-सेवा ही मोक्ष साधन है। आत्म निवेदन और शरणागति भगवान् की प्राप्ति मे सहायक है। सायुज्य मुक्ति को इस सम्प्रदाय के लोग मानते है। ज्ञानियो के लिए तो यह विशेष आवश्यक है। पर भक्त के लिये स्वरूपानन्द की प्राप्ति होती है। अभिप्राय यह है कि गोलोक मे पुरुषोत्तम की लीला मे प्रवेशकर सानन्द लाभ करना। इसी को सायुज्य मुक्ति कहते हैं। कलियुग मे ज्ञान तथा योग कष्ट साध्य हैं और पुष्टि मार्ग सहज साध्य है।

अचिन्त्य भेदाभेद तथा महाप्रभु का गौडीय सम्प्रदाय—

चैतन्य महाप्रभु के नाम से इनकी प्रसिद्धि है, और ये वल्लभाचार्य के समकालीन थे। अपने रसमय कीर्तनो से सारे बगाल को भक्ति से सरोबार करने वाले ये ही थे। इन्होने नवद्वीप मे जन्म ग्रहण कर वैष्णव धर्म के उत्थान के लिए बहुत परिश्रम एवम् सराहनीय कार्य किया है। इनका समय सन १४८५–१५३३ ईसवी तक का माना जाता है। प्रथम नाम 'विश्वभर' था। आगे वे 'श्रीकृष्ण चैतन्य कहलाए, तथा गोरे होने के कारण 'गौराङ्ग महाप्रभु' कहलाए। ये आगे चलकर श्रीकृष्ण के स्वरूप या अवतार माने गए है। प्रथम पत्नी लक्ष्मीदेवी के साथ गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करते समय इनका मुख्य कार्य गभीर अध्ययन और अध्यापन ही था। पर लक्ष्मीदेवी के देहान्त हो जाने पर अपना दूसरा विवाह करने के बाद गया मे अपने पितरो की श्राद्धक्रिया करने गए तो वही से इनमे भी परिवर्तन हो गया। विचार परिवर्तन के बाद कर्म-काण्ड की आलोचना की। मोक्ष के लिए केवल हरिनामस्मरण और कीर्तन को ही एकमात्र साधन बतलाकर वर्णव्यवस्था को भी तुच्छ समझने लगे। अपने सहयोगी नित्यानन्द, अद्वैताचार्य आदि के साथ घर मे ही भजन कीर्तन मे रत रहने लगे। किसी 'केशव भारती' नाम के सन्यासी से सन १५१० मे इन्होने ने सन्यास ले लिया। बङ्गाल की वैष्णव भक्ति स्वभावत:

चैतन्य के नाम से और उनकी उपासना पद्धति से अपना सम्बन्ध जोड़ती है। यह स्मरण रहे कि इसके पूर्व ही जयदेव की काव्य सरस्वती ने भक्ति की माधुर्ययुक्त-सस्कृत-कोमल-कान्त-गीति पदावली से बङ्गाल मे माधुर्य भावना को विशेष प्रश्रय दे दिया था। चडीदास के गीत भी राधाकृष्ण की भक्ति को लेकर वैष्णव अनुरक्ति की भावना जनता में भर रहे थे। चैतन्य के द्वारा इस भक्ति को एक विशिष्ट स्वरूप अवश्य प्रदान किया गया। इनकी इस भक्ति पद्धति मे कृष्ण भक्ति का सीधा तथा विशेष प्रकार का सम्बन्ध है। उत्तर भारत मे माध्व, वल्लभ और निम्वार्क सम्प्रदाय वालों ने श्रीकृष्ण भक्ति को विशेष महत्व दिया और वैष्णवोपासना का यही मुख्य स्वरूप वन गया। इन तीनों के श्रीकृष्ण, भगवदगीता के श्रीकृष्ण से अलग थे। मुख्यतः श्रीमद्भागवत मे वर्णित वृन्दावनवासी गोलोक के गोपालकृष्ण, गोपियो के प्रेमी वृन्दावन-विहारी मुरलीवादन करने वाले एवम् भक्ति के रहस्यात्मक स्वरूप के तथा नाना प्रकार की मनोभावनाओ और मनोदशाओ के एकमात्र आधार थे। परब्रह्म के साथ उसका अविच्छिन्न सम्बन्ध अवश्य था। भागवत के अनुसार श्रीकृष्ण की भक्ति तथा उसकी प्रतिष्ठा वढ़ाना और कृष्ण लीला की गरिमा प्रस्थापित करना ही प्रमुख ध्येय था। इसमे गोपियों का प्रेम, उनकी विरह दशाएँ, अपना सर्वस्व न्यौछावर करके आत्म समर्पण करने की भावना, गोपियो की अधीश्वरी का अपने प्रेमी कृष्ण से स्वच्छन्द रूप का प्रेम जीवात्मा का परमात्मा के मिलन की छटपटाहट का प्रतीक वनकर सामने रखा गया है। इन भक्तो ने उस नित्य लीला के लिए एक नित्य वृन्दावन की कल्पना कर ली है।

इस लीला में नित्य रूप से कृष्ण के साथ राधा की कल्पना वैष्णव उपासना मे इनके समय मे आकर मिल गई। भागवत में राधा का नाम नही मिलता। केवल किसी प्रिय गोपी का ही उल्लेख मिलता है, जिसके साथ कृष्ण सदा यत्रतत्र घूमते और खेलते रहे। वल्लभाचार्य तथा निम्वार्काचार्य सम्प्रदाय के लोग राधा को कृष्ण की आल्हादिनी शक्ति मानते है। यह नित्य कृष्ण की अलौकिक लीलाओ मे साथ देती है, तथा वे इस शक्ति का अवतार भी मान ली गयी है। पहाड़पुर मे मिली राधाकृष्ण की युगल मूर्ति को देखकर यह अनुमान किया जाता है, कि वगाल के लोग कृष्ण के इस रूप को जानते थे। भोजवर्मा द्वारा खोदे गये लेख मे कृष्ण को महाभारत का सूत्रधार तथा श्रीमद्भागवत का गोपी-सत-केलिकार कहा गया है। पाल राजा धर्मानुयायी होने पर भी विष्णु-उपासना के विरोधी नही थे। यह वात उस समय के विष्णु मन्दिरो से सिद्ध हो जाती है। गीत गोविन्दकार जयदेव सेनराजाओ के युग मे उत्पन्न हुए थे। सेन राजा

अपने को 'कर्णाट क्षत्रिय' कहते है। १४ वी शती मे चडीदास को श्रीकृष्ण कीर्तन मे प्रेरणा जयदेव की कविता से ही मिली थी। चैतन्य वैष्णव गीत-गोविन्द को एक सौन्दर्य परिपूर्ण महाकाव्य ही नही मानते वरन् भक्ति-रस-शास्त्र का एक धार्मिक ग्रन्थ भी मानते है। चैतन्य के तीन सौ वर्षों पूर्व जयदेव की कविता का सृजन हुआ था। चैतन्य का भक्तिरसशास्त्र भी इस समय तक निर्माण नही हुआ था।[1]

जयदेव की कोमल प्रवृत्ति ने शृङ्गार का आधार राधा-कृष्ण की चिरतन प्रेम-कथा को चुन लिया था और अपनी उज्ज्वल और असाधारण काव्य प्रतिभा से एक सुन्दर गीति-काव्य कोमलकान्त पदावली से लययुक्त भाषा मे लिखा। इन्होंने अलौकिक कृष्ण तथा अलौकिक राधा को मानवी स्तर पर लाकर रख दिये है। चैतन्य ने भक्ति और शृ गार दोनो को मिलाकर एक अद्‌भुत भक्तिशास्त्र ढूढ निकाला। अर्थात् इसका श्रेय सनातन तथा रूप गोस्वामी को ही दिया जायगा क्योंकि उन्होंने अपने सप्रदाय को एक शास्त्रीय तथा दार्शनिक एवम् सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत कर दिया। चैतन्य पर जयदेव की तरह विद्यापति के पदो का भी प्रभाव पडा था।

इस मत का सार अश बतलाने वाला यह पद्य बहुत प्रसिद्ध है—

आराध्यो भगवान् व्रजेश तनयस्तद्धाम वृन्दावनम्।
रम्या काचि दुपासना व्रजवधू गर्वेण या कल्पिता॥
शास्त्र भागवतं प्रयाण ममल', प्रेमा पुमर्थो महान्।
श्री चैतन्य महाप्रभोर्मतमिदं तत्रादरोनः परः॥

वृज की गोपिकाओ के द्वारा की गई रमणीय उपासना साधको के लिए प्रामाणिक उपासना है। श्रीमद्‌भागवत निर्मल प्रमाणशास्त्र है तथा प्रेम ही महान पुरुपार्थ है। धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चार प्रसिद्ध पुरुषार्थों की तरह प्रेम को पचम पुरुषार्थ के रूप मे ग्रहण किया गया है जो भागवतानुसार ही है।[2] श्रीकृष्ण अचिन्त्य शक्तिमान भगवान् परमतत्व है। वे अपने तीन विशिष्ट रूपो से विभिन्न लोको मे प्रकाशित होते है। इन रूपो के नाम यो है—(१) स्वय रूप, (२) तदेकात्म रूप, (३) आवेश। भगवान् का स्वय रूप वह है जो स्वय आविर्भूत होता है तथा जो दूसरे पर आश्रित नही होता। तदेकात्म रूप वह है जिसमे भगवान् का रूप जो स्वरूप से तो अभिन्न रहता है परन्तु अग सन्निवेश तथा चरित से उससे भिन्न रहता है। आवेश रूप इन दो भेदो से सर्वथा भिन्न होता है।

१. अर्ली हिस्ट्री ऑफ वैष्णव फेथ अँड मुव्हमेन्ट इन बंगाल—सुशीलकुमार डे, पृ० १–२०।

२. लघुभागवतामृत, १–११।

वे महत्तम जीव आवेश कहे जाते है जिनमें ज्ञानशक्ति आदि की स्थिति से भगवान् आविष्ट होते है। भगवान् की अनन्त शक्तियाँ है पर प्रमुख शक्तियाँ ये है— (१) सधिनी-भगवान् की स्वय सत्ताधारण की स्थिति रहती है। (२) सवित-भगवान् की स्वय चिदात्मा है अत: चेतनावान होना इसी शक्ति से होता है। (३) ल्हादिनी—इस शक्ति से भगवान् स्वय आनन्दित रहकर दूसरों को भी आनन्दित कर देते है। ब्रह्म वैदूर्य मणि के समान है जो नाना रंग प्रदर्शित करने पर भी एक ही बनी रहती है। (४) तटस्थ शक्ति वह है जो कि परिछिन्न भाव, अणुत्व विशिष्ट जीवो के आविर्भाव से बनती है।

प्रथम तीनो शक्तियो का समुच्चय पराशक्ति भी कहलाता है। चैतन्य मत में ईश्वर निमित्त कारण भी होते है, और उपादान कारण भी। जगत् ब्रह्म की वाह्य शक्ति का विकास है। प्रलयकाल मे वन मे छिपे हुए पक्षी की भाँति जगत् सूक्ष्म रूप से भगवान् मे छिपा रहता है। अचिन्त्य शक्ति के कारण भगवान् के साथ प्रपंच न तो भिन्न प्रतीत होता है न अभिन्न।

साधन मार्ग—भगवान् को अपने वश करनेका मुख्य साधन भक्ति है। हरिनाम स्मरण और कीर्तन से भक्ति प्राप्त होती है। भक्ति के दो प्रकार है—वैधी भक्ति तथा रुचि भक्ति या रागात्मिका भक्ति। वैधी भक्ति मे शास्त्र निर्दिष्ट उपायों का आलम्बन होता है। रागात्मिका भक्ति मे भक्त भगवान् को अपना पति मानता हैं। गोपियो का प्रेम इसी प्रकार का था। भगवान् श्रीकृष्ण के प्रति प्रदर्शित की जाने वाली रागात्मिका भक्ति भी पंचधा है। (१) शान्तरसमयी भक्ति—योगी तथा सनकादिक ऋषियो मे मिलती है। (२) दास्य भक्ति—हनुमान जैसे भक्तो मे पाई जाती है। (३) सख्य भक्ति—अर्जुन, श्रीदामा जैसो की है। (४) वात्सल्य भक्ति—नन्द व यशोदा के रूप मे मिलती है। (५) माधुर्य रसवाली भक्ति—दाम्पत्य भाव लिये हुए प्रीति मे हार्दिक ऊष्मा लिये हुए रहती है। इसमें परकीया भाव भी आता है। राधाभाव या महाभाव से भक्ति की इस उत्कर्षावस्था मे पहुँचा जा सकता है। इनके दार्शनिक विवेचन का मुख्य ग्रन्थ 'गोविन्द भाष्य' है। यह महाभावास्था प्रेम ही भक्ति की उच्चतम अवस्था है। इनमे कृष्ण और राधा के अभेद भाव का निर्माण हो जाता है। माधुर्य भाव भी तीन प्रकार का है-(क) साधारणी-रति, (ख) समजसा-रति, (ग) समर्था-रति।

(क) साधारणी रति—उपासक या भक्त अपने आनद के लिये भगवान् की सेवा या प्रीति से प्राप्त करता है जैसे कुब्जा।

(ख) समजसा रति मे कर्तव्य बुद्धि से ही प्रेम का विधान होता है जैसे—रुक्मिणी, जांबवंती आदि पटरानियाँ।

(ग) समर्थारति मे स्वार्थ की तनिक भी गध नही रहती। शास्त्र का उल्लघन करने मे सकोच नही होता इसमे उपासक या भक्त का लक्ष्य है भगवान् का आनन्द, दृष्टात—गोपिकाएँ। रस साधना की प्रेम लक्षणा भक्ति ही चैतन्य मत की विशेषता है। माधुर्य भाव की परम उपासिका मीरा पर इस सम्प्रदाय का विशेष प्रभाव पड़ा है। तथा सूर पर भी इसकी छाप पडी हुई है। गोपी भाव अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचकर राधा भाव या महाभाव बन जाता है। चैतन्य सप्रदाय के सन्तो ने ब्रजमण्डल का उद्धार किया।

हिन्दी क्षेत्र के कुछ अन्य वैष्णव सम्प्रदाय :

राम भक्ति में रसिक साधना का सम्प्रदाय—

इस सम्प्रदाय के प्रमुख सन्त अग्रदासजी हैं। इनके रसिक शिष्य नाभादासजी थे। इस सम्प्रदाय के कई नाम है, यथा—रसिक सम्प्रदाय, जानकी-वल्लभ सम्प्रदाय, सिया-सप्रदाय और जानकी-सम्प्रदाय। इसके साधक रसमयी लीलाओ का अध्ययन करते है और अंतरग सेवा पर आश्रित है। 'रसिक भक्तमाल' नामक ग्रन्थ महात्मा जीवाराम ने लिखा है। ये 'युगल प्रिया' नाम से प्रसिद्ध है। इनकेशिष्य जानकी रसिक शरण ने इस पुस्तक पर रसिक प्रबोधिनी टीका लिखी है। रसिक सम्प्रदाय की प्रधान प्रवृत्तियों का अध्ययन करने के लिए इसमे उपादेय सामग्री मिलती है। इस विषय का अधिकाश साहित्य हस्तलिखित पोथियो मे सुरक्षित है। इस सम्प्रदाय का विशेष अध्ययन करना हो तो डा० भगवतीसिह का 'रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय' तथा डा० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव' का 'रामभक्ति साहित्य मे मधुर उपासना' ये दो ग्रन्थ द्रष्टव्य हैं।

साम्प्रदायिक रूप मे रामभक्ति की इस रसिक शाखा के आचार्य अग्रदासजी माने जाते है। इनका नाम 'अग्रअली' भी प्रसिद्ध है। शठकोप मे रामोपासना के इस रूप का आभास [illegible] है। रामायत सम्प्रदाय मे माधुर्य भक्ति का उत्कर्ष तुलसीदासजी समका[illegible] [illegible]मकाव्य-धारा मे प्रारम्भ हो गया था। 'युगल सरकार' अर्थात् सीता राम [illegible] [illegible]र लीलाओ के ध्याता और गायक, रसिक तथा भावुक नाम से रसिको को पहिचाना जाता है। समूचे रामसाहित्य मे से परिणाम की दृष्टि से ⅔ अश इस प्रकार के साहित्य का है।

रामोपासना की रसिक भावना से की जाने वाली साधना का स्वरूप संक्षिप्त रूप मे इस प्रकार है—

सीताजी राम की रसरूपा शक्ति है या भगवान् राम की अपृथक सिद्धाशक्ति है। सीता की सखियाँ उनकी अगजा अथवा अंशोद्भवा मानी जाती है। ब्रह्म का

स्वरूप 'रसोवैसः' जैसा है। रामचन्द्रजी ही परब्रह्म है। पंच भावों से अर्थात् शान्त, सख्य, वात्सल्य, दास्य और माधुर्य भाव से भगवान् के सगुण रूप के प्रेमी मात्र रसिक भक्त हैं।

आचार्य अग्रदास अपनी 'ध्यान मंजरी' मे यह बतलाते हैं—

अमल अमृत रसधार रसिक जन यहि रस पागे।
तेहि को नीरस ज्ञान योग तप छोई लागे॥
यह दंपति वर ध्यान रसिक जन नित प्रति ध्यावै।
रसिक बिना यह ध्यान और सपनेहुँ नहि आवै॥

—ध्यान मंजरी—अग्रदास।

रसिक रसके एकनिष्ठ भोक्ता है। ये रसिक रामभक्त पचभावोपासक साधना मानकर अष्टयाम भावना मे भक्ति के पाचो रसों के अनुकूल सेवाओ का रूप अपनाते है। अपनी अन्तर्गत रुचि के अनुकूल पच भक्ति रसो मे से साधना चुनकर उसका आश्रय लेते हैं। माधुर्य रति ऐश्वर्य और शृङ्गार के माध्यम से ही हो सकती है। इसमें व्यक्तिगत भाव-साधना के साथ लोकधर्म को भी स्थान है। वैधी और प्रेमा भक्ति को ऐश्वर्याश्रय तथा माधुर्याश्रय की सज्ञा दी गयी है। उपास्य से पारिवारिक सम्बन्ध प्रस्थापित कर वैसा स्वरूप-साक्षात्कार किया जाता है। 'युगल-सरकार' के उपासक सखी भाव से अपने को निमि वशीय कुमारियो से अभिन्न मानते है। स्वामी से सम्बन्ध सीता के माध्यम से होता है। अतः सीता से पृथक इनका कोई अस्तित्व नही है। लौकिक बुद्धिवालो के लिए माधुर्य भाव की रामभक्ति एवम् रसमयी उपासना दुष्प्राप्य है। इसीलिए रसिक-साधना का साहित्य सजातीय अनुयायियों मे ही प्रचारित है। इस दिव्य साधना का दिव्य शरीर से सखा-सखी रूप मे प्रभु की सेवा मे समर्पण होता है। जीव मात्र भगवान् का भोग्य है। लीला रस की भावना केवल सखी भाव और स्त्री भाव से ही सभव है। १५ वी शती तक राम मर्यादा पुरुषोत्तम, दुष्ट दमनकारी तथा सन्त हितकारी रूप मे चित्रित हुए। इसके बाद की शतियों मे लीला विहारी और माधुर्य पुरुषोत्तम के रूप में रामोपासना चली। कृष्ण की माधुरी भक्ति का इसे प्रभाव माना जावेगा।

काव्यशास्त्र की दृष्टि से भक्ति भगवद् विषयक रति है, उसकी भावमात्र स्थिति रसदशा तक पहुँच नही सकती। पर रसिक राम भक्त के अनुसार समाज विश्व की उत्पत्ति, स्थिति, लय और प्राणिमात्र की भावना का केन्द्र हृदय का आधेय है। अतः उसके नाम, रूप, लीला, धाम के ध्यान में, गायन में सभी कभी न कभी आत्म विभोर हो सकते है। तन्मयता के रसोद्रेक की यही चरम स्थिति है। सखी, सखा, स्नेही, दास्य तथा प्रजा बनकर 'युगल-सरकार' की

रसोपासना पचभावो से की जाती है। अतः रस निष्पत्ति मे अनभिज्ञ होना रसिकोपासना मे अमान्य है। रसिक भक्तों को पूर्ण रूप से रसज्ञ होना ही चाहिए। 'सीताराम' रस के विषय है। वाल, पौगड और कैशोर लीला मे रस की अभिव्यक्ति होती है। सीता के अतिरिक्त अष्ट पटरानियाँ असख्य देव, मुनि, गधर्व और राजकन्याएँ रामचन्द्रजी की स्वकीया विवाहिता पत्नियाँ है। उन्हे सामान्य विहार लीला का अधिकार है। नित्य रास लीला मे सीता और उनकी अगोद्भवता अंगजा १८१०८ सखियाँ हैं ये सभी स्वकीया है। नायिकाभेद के अनुसार परकीया और सामान्या नायिकाएँ रसिक राम भक्ति साहित्य मे वर्णित नही हैं। इस रासलीला मे उपास्य के आनन्द स्वरूप की अभिव्यक्ति होती है। प्रभु की शृङ्गार-चेष्टाओं का चिन्तन कर, उस आनन्द का आस्वादन करना जीव का परम पुरुपार्थ है। परम विरक्त होकर ही रसिक भगवद् कृपा से इस साधना में आ सकता है। रसिक भक्तों के दिव्य नाम सखी, आली, प्रिया, मजरी आदि होते हैं। अयोध्या, चित्रकूट काशी और मिथिला मे इस सप्रदाय के भक्तो की सख्या अधिक है। युगल सरकार की यह रसमयी माधुरी-भक्ति द्वैत परक है। इसका साहित्य सस्कृत, वृज और रेख्ता हिन्दी में है। इसके प्रमुख भक्त कवि अग्रदास, वाल अली, रामसखे, रामचरणदास, वनादास, नाभादास आदि है। इससे अधिक विवेचन न कर, हम रसिक-राम-भक्ति सम्प्रदाय का अपना विवरण यही समाप्त करते हैं।

हरिदासी सम्प्रदाय—

इसे सखी-सम्प्रदाय भी कहते हैं प्रायः निम्बार्क की शाखा के रूप में इसे मानते हैं पर वास्तव मे साधन पद्धति मे भेद होने के कारण इसे हम स्वतन्त्र सम्प्रदाय मान सकते है। रस-मार्गीय उपासना होने से रस को ही सव कुछ मानते है।[1] नित्य विहारी युगल मूर्ति का ध्यान रसिक वनकर राधा की उपासना सखी वनकर करने का विधान है।

रसिक की परिभाषा—

श्री भगवत रसिक ने रसिक की परिभाषा इस प्रकार दी है[2]—

जीव ईस मिलि दोय, नाम रूप गुन परिहरै।
रसिक कहावै सोय, ज्यों जल छोडे सर्करा॥
दिया कहै सब कोय, तेल तूल पावक मिलै।
तमहि नसावे सोय, वस्तु मिले भगवत् रसिक॥

१. राधावल्लभ सम्प्रदाय-सिद्धांत और साहित्य, पृ० ३०—डा० विजयेन्द्र स्नातक।
२. भगवत रसिक।

सिद्धान्ततः सखी भाव से की जाने वाली उपासना मे दार्शनिक विवेचन का अभाव सा ही है।

हरिदास की भावना और साधना पद्धति—

नाभादास अपने भक्तमाल मे हरिदास के वारे मे वतलाते है[1]—

जुगल नाम सौं नेम जगत्, नित कुंजविहारी।
अवलोकत रहे केलि सखी-सुख को अधिकारी॥

उज्ज्वल-रस-पूर्ण-प्रेमा-भक्ति को अपनाने वाले व्रज मडलीय संप्रदायो मे प्रत्यक्ष या साक्षात् सम्वन्ध न हो पर परोक्ष सम्वन्ध सूत्रता है, जो राधा-कृष्ण को लेकर चली है।

वल्लभ, चैतन्य, निम्वार्क, हरिदास और हित हरिवश ने भक्ति तरु को राधा-कृष्णीय-भक्ति रस से सींचा है। वल्लभाचार्य, हित हरिवंश और हरिदास प्रायः सम-सामयिक हैं और भक्ति के रूप मे इनमे समानता है। माधुर्य पूर्ण राधाकृष्ण की रस परक भक्ति का वर्णन ये करते हैं। भागवत पुराण और भक्ति सूत्रों मे प्रेम लक्षणा भक्ति का रूप ही इस युग की भक्ति का आधार वना। तात्विक ऐक्य पर इन भक्तो की दृष्टि केन्द्रित थी। वेदान्त के दार्शनिक जटिलता पूर्ण विवेचन को इन्होंने छोड दिया था। प्रमुख रूप से प्रेम और प्रपत्ति को महत्व दे देते थे। भागवत धर्म का विभूतिवाद प्रवृत्ति और प्रेम लक्षणा भक्ति में परिणत हुआ।

हितहरिवश ने प्रेम को सर्वश्रेष्ठ माना और तत्सुखित्व की भावना से राधार्पण या राधानिष्ठ होकर करने का विधान प्रस्तुत किया। प्रेम लक्षणा भक्ति को व्यापक और व्यवहार्य वनाने का श्रेय हित हरिवश को दिया जाना चाहिए। लौकिक काम प्रसंगो को मिथ्या और राधाकृष्ण की दिव्य लीलाओ-काम क्रीडाओ को ही यथार्थ मानकर सहचरिरूप जीव को उस मार्ग मे प्रवृत्त कर उनके दर्शन की कामना करे।

राधाकृष्ण की दाम्पत्य उपासना का काव्यपरक और मोहक रूप वृजभाषा काव्य मे व्यापकतापूर्ण अभिव्यजित हुआ है। (विशेष अध्ययन के लिए देखिए—राधावल्लभ संप्रदाय : सिद्धान्त और अध्ययन—डा० विजयेन्द्र स्नातक)

राधावल्लभ सम्प्रदाय—

इस सम्प्रदाय के प्रमुख आचार्य 'हित हरिवश' है। इनका जन्म मथुरा के निकटवर्ती 'वाद' ग्राम मे वैसाख शुक्ला एकादशी सोमवार के दिन विक्रम

---

१. नाभादास—भक्तमाल, छप्पय ९१, १२३, पृ० ६०१।

संवत् १५५९ मे प्रातःकाल-सूर्योदय मे हुआ। वियोगी हरि का यह मत ग्राह्य है।[1] इनके पिता का नाम केशव मिश्र और माता का नाम तारामती था। श्री राधा ने स्वप्न मे इनको दीक्षा दी। गोस्वामी हित हरिवंश की माधुर्य भाव की प्रेम लक्षणा भक्ति ने राधा को परकीया भाव से दूर रखा। उनके मत में राधा स्वतंत्र अधिष्ठात्री देवी है। राधा ही उपास्य है। कृष्ण तो अनुषांगिक रूप मे राधा के कृपा-कटाक्ष से अपने को सफल मनोरथ बनाते है। भक्त की भावना मे राधा ही पूज्य हैं। वही कृष्ण का अपने द्वारा पूजन करवाने मे समर्थ है। राधा विषयक यह देन अपनी देन है जो परवर्ती भक्तो द्वारा समादृत हुई। राधा के इस स्वरूप की उपासना को रसोपासना इस शब्द से पहिचानते है। गोस्वामी हित हरिवंश विवाहित थे। श्री राधा इनकी गुरु और उपास्य दोनो है।

प्रेम पथ का त्याग न करना पडे, इसलिए शुष्क और तार्किक दार्शनिक मतवाद को अपने सप्रदाय मे स्थान नही दिया। हृदय की रसस्निग्ध भावनाओं की सहज स्वीकृति ही सरस अभिव्यक्ति के साथ राधा-वल्लभीय भक्ति-सिद्धान्त की नीव और रसोपासना का आधार है। भक्ति सिद्धात का मूल आधार है। हिततत्व एवम् प्रेम-तत्व इसे पूर्ण रूप से हृदयगम कर लेना अनिवार्य है जिसके बिना राधा-वल्लभीय भावना का बोध असभव है। 'नित्य विहार' रस दर्शन या 'वृन्दावन रस' ही इनका नाम है। माधुर्य भक्ति की परिणति इसी रस मे होती है। प्रेमतत्व की मीमासा प्रस्तुत करके तत्सबधी भावो और विषयों का उल्लेख किया है। रसदर्शन मे विहार के सपादक राधा, कृष्ण सहचरी और वृन्दावन के स्वरूप का विस्तार है। 'रसोवैसः' मे रसरूप भगवान् और परात्पर प्रेमतत्व सहज और नित्य है। राधा और कृष्ण के नित्य विहार की स्थिति में जो अनिर्वचनीय आनन्द उत्पन्न होता है यही रस है।

प्रेमा-भक्ति को शाण्डिल्य सूत्र मे दुर्गम बताया गया है। राधावल्लभ-सप्रदाय मे गोपी प्रेम भी शुद्ध प्रेम तक नही पहुंचता क्योकि उसमें आत्म-सुख की भावना आ जाती है। अत. शुद्ध प्रेम व्रज देवियो के पवित्र प्रेम से भी ऊपर दिखाया गया है। राधावल्लभ सप्रदाय मे प्रेम की परिभाषा—प्रेमी और प्रेमपात्र श्री राधा और माधव अपने प्रेम की परितुष्टि के लिए प्रयत्नशील न होकर दूसरे के परितोष मे ही आत्मसमर्पण करते है। राधा माधव के लिए और माधव राधा की परितुष्टि के लिए आत्म विसर्जन कर देते हैं। राधाकृष्ण एक ही प्रेम तत्व के दो विग्रह है। हित हरिवंश राधाकृष्ण को वृन्दावन प्रेम-पयोनिधि रूपी मानसरोवर के

१. व्रज माधुरी सार—वियोगी हरि, पृ० ६४।

हंस-हंसिनी मानते है। तथा इन दोनों का सम्वन्ध जल-तरगवत् अभिन्न है। इनको कौन पृथक् कर सकता है।

> जोई जोई प्यारी करै सोइ मोहि भावै,
> भावै मोहि जोई-सोइ, सोई-सोई करै प्यारे।
> मों को तो भॉवती ठौर प्यारे के नैननि में,
> प्यारौ भयौ चाहे मेरे नैननि के तारे।
> मेरे तन मन प्रान हूँ ते प्रीतम प्रिय,
> अपने कौटिक प्रान प्रीतम यों सो हारे।
> (जैश्री) हित हरिवंश हंस-हंसिनी सांवल गौर,
> कहौ कौन करै जल तरंगिनी न्यारै।

—हित चौरासी पद सं० १।

अपने प्रेमास्पद के सुख मे आसक्त होना ही प्रेम कहलाता है. वही प्रेमी है। इसे 'तत्सुख सुखित्व' कहते है। इसमे स्वसुख का विसर्जन होता है। प्रेम में अनन्यता प्रेम का प्राण और प्रेमी का जीवन है। इस सप्रदाय के भक्त को अपने इष्टदेव में अनन्य निष्ठा बुद्धि उत्पन्न करनी चाहिए। रसोपासना मे केवल माधुर्य पक्ष की ही स्वीकृति है। राधा ही अनन्य इष्टदेवी है।

प्रेम और नेम—

नेम—अर्थात् रससृष्टि मे सहायक होकर प्रेम के साथ नित्य भाव में वर्तमान—नित्य एक रम रहने वाले प्रेम के साथ अविर्भाव और तिरोभाव होने वाली क्रिया-चेष्टाएँ विविध रूप और परिणाम से उसी मे व्याप्त रहती है। विहार परक प्रेम और नेम प्रिया-प्रियतम की विविध केलि-क्रीडाएँ मान विरह आदि अवस्थाओ का स्वरूप है। साधारण प्रेम नेम रस की वह विवश दशा है जिसमे मन निमज्जित हो जाय, और किसी प्रकार की सुध न रहे यही प्रेम दशा है। इससे भिन्न सावधानता रहती है। तव नेम-काम कहा जाता है। सच्चे प्रेम-पयोनिधि मे नेम काम की भावना नही शेष रहती।

प्रेम और काम—

'काम रूप बिन प्रेम न हो ही। काम रूप जहाँ प्रेम न सोई।'

—श्री वल्लभ रसिक।

काम और प्रेम का साहचर्य सोने-सुहागे की तरह है। आग मे तपाने पर सुहागा नष्ट होकर स्वर्ण मात्र बच जाता है। प्रेमास्वद से आशा इच्छा के बने

रहने तक काम-वासना का स्वरूप रहता है। बाद मे मन रसमय बन जाता है और प्रेममय हो जाता है।

रसोपासना मे विधि-निषेध मर्यादा—

हित हरि वश प्रतिपादित भक्ति रस-भक्ति है, शास्त्र भक्ति नही। शास्त्र भक्ति मे मर्यादा मार्ग के साधन का पालन होता है पर इससे स्नेह की हानि होती है। रस भक्ति मे भाव, मान, प्रणय, स्नेह, राग और अनुराग ये छः भेद है। साधनो की आवश्यकता नही है। हित हरिवश ने बाह्योपचारो का निषेध इसलिए किया कि कही प्रेम बाह्योपचार मे फँसकर क्षति न प्राप्त कर ले। राधाकृष्ण के नित्य-विहार की स्थिति का आनन्द लाभ करने के लिए क्षमता; शुद्ध प्रेम से एवम् रस से ही उत्पन्न होती है। शुद्ध प्रेम मार्गी को जप, तप, यज्ञ, पाठ, व्रत आदि की आवश्यकता क्यो रहेगी ? 'विधि निषेध नहिं दास। अनन्य उत्कट व्रतधारी,' 'भक्तमाल' की नाभादासोक्ति इन दो विशेपताओ को हित हरिवशजी मे बतलाती है—(१) अनन्य व्रतधारी अर्थात अपनी राधा-भक्ति एवम् रस भक्ति मे अनन्य रहना और (२) विधिनिपेध का दास न होना।

राधा की प्रेम निकुज-विहार-स्थिति का दर्शन सहचरी (महली) रूप से जीवात्मा देख सके यही साधक के जीवन का फल है। हित-सम्प्रदाय मे राधा-प्रेम ही आराध्य है।

विधि निषेध के ऊपर उठा हुआ हित हरिवश कृत उपासना मार्ग यह बतलाता है कि—

- श्याम-श्यामा की उपासना एक साथ की जाती है। श्याम आराधक और श्यामा आराध्य है। दोनो निकुज मे नित्य विहार करते है। परस्पर प्रीति का गान और आत्म-विसर्जन करते है। सहचरी रूप जीवात्मा इनके सुख-भोग को देखकर आत्म सुख लाभ करता है, तथा इसे साध्य या इष्ट समझता है।

इस सप्रदाय मे हित हरवशजी के अतिरिक्त श्री नेही नागरीदास, चाचा वृन्दावनदास, ध्रुवदास, हरिराम व्यास, चतुर्भुजदास आदि प्रसिद्ध भक्त हो गये है। इस वैष्णव-सप्रदाय का विशेष अध्ययन करना हो तो डा० विजयेन्द्रस्नातक की 'राधावल्लभ-सप्रदाय : सिद्धात और साहित्य' पुस्तक द्रष्टव्य है।

नोट :—यहाँ पर समूचे वैष्णव सप्रदायो का विवेचन हमारा विषय नही है। अपने प्रबन्ध की सीमान्तर्गत मराठी और हिन्दी के प्रतिनिधि वैष्णव सत-कवि ही हमने लिये है।

रामानंद संप्रदाय—

उत्तर भारत मे वैष्णव भक्ति को विशेष प्रकार से प्रश्रय देकर उसका प्रचार और प्रसार करने वाले महापुरुष और आचार्य रामानन्दजी को ही माना जाता है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के मतानुसार इसका श्रेय रामानंद के गुरु राघवानन्द को दिया जाना चाहिए। दक्षिण और उत्तर भारत के वैष्णव आन्दोलनो के संयोजक ये ही माने जाते है।[1] इनको रामानुज मत का माना जाता है और उन्होने अपने प्रिय शिष्य रामानन्द को मृत्युयोग से योग विद्या के बल पर बचाया था। इनकी जीवनी अंधकारमय ही है। कोई सूत्र विश्वसनीय हमे नही प्राप्त होता। काशी के पचगगा पर ये निवास करते थे। यही पर इन्होने रामानंद को अपना शिष्य बनाकर मंत्रोपदेश दिया। राघवानद की साधना योग और भक्ति का समन्वित रूप है। रामार्चन—पद्धति में रामानदजी की अपनी गुरु परम्परा दी गयी है जिसकी परंपरा के अनुसार रामानुज की चोदहवी पीढ़ी मे रामानंद का आविर्भाव हुआ। अनुमानतः कहा जा सकता है कि इनका समय १५ वी सदी का अन्तिम भाग होगा। ऐसा प्रसिद्ध है कि सिकन्दर लोदी के समय ये विद्यमान थे। सिकदर लोदी ने सन १४८९ से सन १५१७ तक राज्य किया। कबीर रामानंद के शिष्य थे। कबीर तथा लोदी समकालीन थे। अतः रामानद का उस काल में होना माना जा सकता है। फर्कुहर रामानंद को दक्षिण से आया हुआ मानते हैं, पर ग्रियरसन को यह मत ग्राह्य नही है। उनके मतानुसार वे कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे तथा प्रयाग मे उत्पन्न हुए थे। अपने समर्थन मे वे 'भक्तमाल' का प्रमाण देते है। नाभादास ने 'भक्तमाल' में अपने गुरु अग्रदास की प्रार्थना पर लिखा है। ये अपने गुरु रामानद से तीसरी पीढी में आते है।[2]

स्वामी रामानन्द ने विष्णु के रूप को लेकर लोक के लिए कल्याणकारी सिद्ध किया और उदारतापूर्वक मनुष्य मात्र को इस सुलभ सगुण-भक्ति का अधिकारी माना। रामभक्ति का द्वार उन्होंने सब जातियों के लिए मुक्त कर दिया। भागवतो के इस समुदाय को 'विरागी' या वैरागी सप्रदाय कहा जाता हैं। इनके सिद्धान्तो का महनीय ग्रन्थ है 'वैष्णव मताब्ज भास्कर'। इसके सिद्धान्त विशिष्टा-द्वैत-मत सम्मत हैं। इस मत मे भगवान् रामचन्द्र को परमपुरुष मानकर उनकी उपासना का प्रचार बड़े आग्रह और निष्ठा के साथ किया गया है।

---

१. भागवत संप्रदाय—बलदेव उपाध्याय।

२. जर्नल ऑफ रायल एशियाटिक सोसायटी—१९२०।
'दि होम ऑफ रामानंद', पृ० ५९०।

राम, सीता तथा लक्ष्मण से युक्त ध्यान का आदेश उन्होने अपने अनुयायियो को दिया है। तत्व-त्रय-ईश्वर, चित् और अचित् उन्हे मान्य है। कर्म के क्षेत्र मे शास्त्र की मर्यादा उन्हे मान्य थी, पर उपासना के क्षेत्र मे उन्होने सबका समान अधिकार स्वीकार किया। श्रीरामचन्द्र ही परमेश्वर और भगवान है अतएव उन्ही के षडाक्षर मत्र की दीक्षा तथा जप का विधान अपने सप्रदाय मे उन्होने प्रचलित किया। उत्तरी भारत मे 'रामायत सप्रदाय' के आद्य प्रवर्तक श्री रामानद स्वामी ही है। हनुमान की एक प्रशस्ति तथा 'रामरक्षा' नामक दो कृतियाँ हिन्दी में मिलती है।

रामानद के प्रमुख शिष्य कबीर, पीपा, सेना नाई, धन्ना भगत, पद्मावती आदि है। इनके अतिरिक्त अनतानद, सुरसुरानन्द, नरहरियानन्द, योगानन्द, सुखानन्द, भवानन्द और गालवानन्द भी इनके शिष्य थे। इस विषय मे भी काफी मतभेद है। आरम्भ के पाँच शिष्यो के ग्रन्थो के अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है कि इनमे से किसी ने भी स्पष्ट शब्दो मे रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार नही किया है।[1]

'रहस्यत्रयी' के टीकाकार के अनुसार 'सार्ध द्वादश शिष्य' रामानन्द के बारह शिष्य थे जो वास्तव मे तेरह जान पड़ते हैं।[2]

राघवानन्द एतस्य रामानदस्तो भवत्। सार्द्ध द्वादश शिष्यासुः रामानन्दस्य सद्गुरो। द्वादशादित्य सकाशा ससार तिमिरापहा। श्रीमद्अनतानदस्तु सुरसु-रानद स्तथा ॥१६॥ नरहरियानदस्तु यो गानदस्तथैव च। सुखा भावा गालवच सप्तै तै नामनदना. ॥१७॥ कबीरश्च रामदास सेना पीपा धनास्तथा। पद्मावती तदर्द्धश्च षडे तेच जितेन्द्रियाः ॥१८॥

जो कुछ भी हो रामानद आचार्य के रूप मे बहुत महान् थे इसमे कोई शक नही है। रामानद के भाष्यो मे से 'आनद भाष्य' अन्यतम है। उसमे उन्होने ब्रह्म को ब्रह्मशब्दवाच्य-श्रीराम ठहराया है और वह सगुण तथा निर्गुण है ऐसा माना है। उनके अनुसार 'निकृष्ट प्राकृत गुणो से रहित' को निर्गुण कहते हैं और दिव्य गुणो के कारण भगवान् का सगुणत्व सिद्ध होता है। उनके अनुसार अनन्य भक्ति ही मोक्ष का अव्यवहितोपाय है तथा प्रपत्ति को भी वे मानते हैं। इस सप्रदाय का गुरुमत्र रामनाम हैं, तथा परस्पराभिवादन भी 'जय श्रीराम', 'सीताराम', 'जयराम', आदि द्वारा होता है। रामानन्द ने श्री सप्रदाय के

१. उत्तर भारत की संत परम्परा, पृ० २२३-२२७—श्री परशुराम चतुर्वेदी।
२. भक्ति सुधा विन्दुस्वाद—रूपकलाजी, पृ० २९४।

कठोर नियमों को यथासाध्य सुगम एवम् सरल कर दिया है और वे भजन भाव की ओर ही सबका ध्यान दिलाते रहे।

स्वामी रामानन्द ने जनता की रुचि तथा देशकाल की परिस्थिति को देखकर सगुण तथा निर्गुण दोनो प्रकार की शिक्षाएँ देने का समीचीन तथा प्रशसनीय कार्य किया। वस्तुतः रामानन्द को सगुण-भक्ति-धारा और निर्गुण भक्ति-धारा का केन्द्र विन्दु मानना चाहिए ऐसा आचार्य बलदेव उपाध्यायजी का मत है।[1] इनके कारण एक ओर तुलसीदास जैसे राम भक्तो के द्वारा सगुण भक्ति का प्रचार हुआ तथा कबीर आदि सतो के द्वारा निर्गुण भक्ति का प्रचार हुआ। हिन्दी को ही अपने उपदेश का माध्यम बनाकर रामानन्द ने जनता के हृदय को अपनी ओर आकृष्ट किया। इसी सहृदयता के कारण 'रामायत-सप्रदाय' का उत्तर भारत के कोने-कोने मे प्रचार हुआ। इससे एक लाभ यह हुआ कि रामानन्दी वैष्णवो ने अपने उपदेशो के माध्यम से हिन्दी को भारत की सार्वभौम और सार्वजनीन भाषा बनाया। यह कार्य वे तीर्थ यात्रा के प्रसगों मे भारतवर्ष में घूम-घूम कर करते रहे। स्वामी रामानन्दजी निश्चय ही एक महान् युग-प्रवर्तक पुरुष थे, यह निस्सदेह कहा जा सकता है। रामानदजी के अलौकिक व्यक्तित्व ने ही उदार वैष्णव धर्म को और उदार और व्यापक बनाकर प्रस्तुत किया। इनके शिष्यो मे ब्राह्मण, नाई, चमार, अधम, अंत्यज तथा कबीर जैसे अक्खड़ मुसलमान धर्म के जुलाहे के यहाँ पाले गए हुए व्यक्ति भी थे। समाज के चरण-स्थानीय, अंत्यजों के उद्धार की ओर इनकी विशेष दृष्टि थी। इसीलिये इन्हे राममत्र देने में रामानदजी को कोई झिझक न हुई। हिन्दू समाज की एकता स्थापित करने में तथा धार्मिक सगठन करने मे, और अपनी सस्कृति बचा रखने में, रामानन्दजी का कार्य अतीव महान् है। नाभादासजी उनकी तुलना राम के अवतार से करते है—'श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यो दुतिय सेतु-जग-तरन कियो।'[2]

मध्य देग में रामानन्दजी ने पाखड के दरवाजे खोल डाले। फलतः रामानन्द-सप्रदाय की इस देन को अत्यन्त सराहनीय और महत्वपूर्ण माना जावेगा।

वारकरी सम्प्रदाय—

अब हम महाराष्ट्र के दो वैष्णव सम्प्रदायों का वर्णन करेंगे, जिनका हमारे अध्ययन मे आने वाले मराठी वैष्णव संतों से सीधा और प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

---

१. भागवत धर्म—बलदेव उपाध्याय।

२. नाभादास—भक्तमाल, पृ० ७३, छ० ३६।

वारकरी सम्प्रदाय महाराष्ट्र का एक महत्वपूर्ण भक्ति सम्प्रदाय है। आबाल-वृद्ध नरनारी तथा ब्राह्मणो से लेकर शूद्रो तक, सुशिक्षितो से लेकर अशिक्षितो तक, तथा शहरो से लेकर ग्रामो और देहातो मे रहने वाले जन साधारण के बीच मे इस सप्रदाय के प्रति आस्था है। यह धर्म या पथ वैदिक परम्परा मे ही आता है। 'वारकरी' शब्द का अर्थ नियमित रूप से 'वारी' करने वाले या पढरपूर जाकर आषाढी शुद्ध एकादशी और कार्तिकी शुद्ध एकादशी के दिन प्रति वर्ष नियमित रूप से विठ्ठल-दर्शन करने वाले यात्री 'वारकरी' कहलाते है। हिन्दी के 'वार' शब्द से इसका नैकट्य है। (जो प्रति वर्ष हरबार यात्रा के लिए जाकर आषाढी और कार्तिकी एकादशी तिथियो के अवसर पर पंढरपूर मे पाडुरग का दर्शन करता है वही वारकरी है।)

ज्ञानेश्वरी मे 'वारी' शब्द आवागमन के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है—

ऐसे वैराग्य हेकरी। तरी संकल्पाची सरे वारी
सुखे धृतीचा धवळारी। बुद्धि नदि ॥[1]

ज्ञानेश्वर के एक अभङ्ग मे भी एक उल्लेख इस प्रकार आया है—

काया वाचा मने सर्वस्वी उदारू। बाप रखुमादेवीवरु।
विठ्ठलाचा वारिकरु।[2]

इसी सम्प्रदाय को नाथ भागवत मे भागवत धर्म भी वतलाया गया है—

दारा सुतग्रहप्राण। करावे भगवंतासी अर्पण।
हे भागवत धर्म पूर्ण। मुख्यत्वें भजन या नांव ॥[3]

अपनी स्त्री, पुत्र, गृह आदि सब कुछ भगवान् को समर्पित कर मुख्यत: भजन करना ही भागवत धर्म है। गले मे तुलसीमाला पहनकर यह वारी की जाती है। इस सम्प्रदाय का दूसरा नाम 'माळकरी पथ' अथवा 'भागवत पथ' भी है। भागवत धर्म का पुराना सकेत वासुदेव सकर्षण, प्रद्युम्न और अनिरुद्ध इन चतुर्व्यूहो की कल्पना रखने वाला, तथा जीव और ईश का द्वैत बतलाने वाला है। वारकरी पथ भक्ति प्रधान होने पर भी ज्ञानमय अद्वैत मत का भी समर्थन करता है। जो भगवान् को सब कुछ समर्पित कर दे वही भागवत है द्वारकाधीश कृष्ण का बालरूप उपास्य देवता होने से इसे वैष्णव सम्प्रदायो मे गिना जाता है। श्रीमद् व्यासकृत भागवत और भगवद्गीता वारकरियो के पूजनीय ग्रन्थ है। तुकाराम कहते है—

---

१. ज्ञानेश्वरी—ज्ञानेश्वर, ६–३७७।
२. ज्ञानेश्वर अभंग—सकल संत गाथा।
३. नाथ भागवत—एकनाथ, २–२९१।

गीता भागवत करिती श्रवण।
अखंड कीर्तन विठो वाचे ॥[1]

भागवत के द्वादश स्कधो मे से एकादश स्कध सम्पूर्ण और द्वितीय स्कंध अध्याय ६ पर श्री एकनाथ महाराज ने टीका लिखी है जो क्रमश: 'एकनाथी भागवत', और 'चतु.श्लोकी भागवत' के नाम से प्रसिद्ध है। वारकरी इन दोनों को प्रमाण ग्रन्थ मानते है। वारकरी सम्प्रदाय अपने उत्पादकों के नाम से नहीं चला है.। वैदिक धर्म के विरुद्ध आवाज इस सम्प्रदाय ने नही उठाई वरन् उसके तत्वों से ही मानवी समता भूमि पर समन्वय करते हुए इस सम्प्रदाय ने अपना विकास किया है। वारकरी सम्प्रदाय का आरम्भ कब हुआ इस पर कोई तथ्य या प्रमाण अभी तक उपलब्ध नही हो सका है। स्थूल रूप से वारकरी सम्प्रदाय के इतिहास की दृष्टि से पाँच कालखण्ड किये गए है जो इस प्रकार है—(१) पुडलीक से ज्ञानेश्वर का कालखण्ड। इसे हम वारकरी संप्रदाय का उत्पत्ति काल भी कह सकते है। (२) ज्ञानेश्वर तथा नामदेव का कालखण्ड। (३) भानुदास से एकनाथ का कालखड। (४) सन्त तुकाराम से निळोबा तक का कालखंड, तथा (५) इसके वाद से आज तक का अर्थात् २२५ वर्षो का कालखण्ड।

इस सम्प्रदाय की उत्पत्ति विठ्ठल मूर्ति तथा पुंडलिक के काल निर्णय पर निर्भर है। वैसे वारकरी सम्प्रदाय का प्रारम्भ इस सम्प्रदाय के श्रेष्ठ भगवद् भक्त पुंडलीक से माना जाता है। तुकाराम का कथन है—'भक्तामाजी अग्रगणी। पुंडलीक महामुनी। त्याच्या प्रसादे तरले। जडजीव उधरले। तोचि प्रसाद आम्हासी। विटेवरी हृषीकेषी ॥[2] पुडलीक भक्तो मे अग्रगण्य थे। उनपर अनुग्रह करने के लिए उनकी आज्ञा से पाडुरग ईंट पर खडे है। उनकी कृपा से जड़-जीवो का उद्धार हो गया। तुकाराम के लिए वही प्रसाद उपलब्ध हो गया है।

पांडुरंग मूर्ति के बारे मे हम प्रथम अध्याय मे ही विवेचन कर आये है। अत यहाँ पर इतना ही मान लेते है कि पढरीनाथ भक्तानुग्रह का कार्य भक्ताज्ञा से अनेक शतको पूर्व (ज्ञानदेव-नामदेव कालपूर्व) कर रहे थे और वारकरी सम्प्रदाय की वारी चला करती थी। इससे पता चलता है कि व्यापकता और कार्यक्षमता इन दोनो दृष्टियो से भी वारकरी सम्प्रदाय बहुत प्राचीन तथा लोकप्रिय था। ज्ञान और भक्ति का सङ्गम जिसे माना जा सकता है ऐसे ज्ञानेश्वर और नामदेव वारकर

---

१. तुकाराम-अभंग।
२. तुकाराम–अभङ्ग।

सम्प्रदाय मे विशेष प्रसिद्ध है। सन्त वहिणावाई इन वारकरी सन्तो के वारे मे इस प्रकार कहती है[1]—

> सन्त कृपा झाली। इमारत फळा आली।
> ज्ञानदेवे रचिला पाया उभारिले देवालया॥
> नामा तयाचा किंकर। तेणें केला हा विस्तार।
> जनार्दन एकनाथ। ध्वज उभारिला भागवत॥
> भजन करा सावकाश। तुका झाला से कळस॥

भागवत धर्म का यह मन्दिर इन सन्तो की कृपा से वनकर तैयार हुआ। इसकी नीव ज्ञानेश्वर ने रची और नामदेव ने भव्य प्रसाद खडा कर दिया। स्वामी जनार्दन के शिष्य एकनाथ ने भक्ति और मानव प्रेम की एकता के रङ्ग से इसकी ध्वजा फहराई। तुकाराम ने अपनी साधना से उस पर कलश चढाया। इस वारकरी सम्प्रदाय के लिए तात्विक और सैद्धान्तिक एवम् दार्शनिक ठोस आधार-शिला ज्ञानेश्वर का कार्य है। पढरी से पजाव तक भागवत धर्म का प्रचार और प्रसार नामदेव का महान कार्य है। ज्ञानदेव के गुरु उनके वडे भाई निवृत्ति नाथ ने छोटे भाई सोपान और वहन मुक्तावाई ने अपने ही समाज के द्वारा किये गये अत्याचारो को सहकर सहिष्णुता के साथ जीवन व्यतीत किया। ज्ञानेश्वर ने 'ज्ञानेश्वरी,' (भावार्थ दीपिका) 'अमृतानुभव' आदि प्रसिद्ध ग्रन्थो का सृजन किया। जिस तरह उत्तर मे 'रामचरित मानस' का घर-घर प्रचार है उसी तरह वारकरी पथ मे समूचे महाराष्ट्र मे ज्ञानेश्वरी का प्रचार है। इस ग्रन्थ मे ज्ञान और भक्ति का दिव्य समन्वय है। ज्ञानेश्वर को इसीलिये 'ज्ञानराज माउली' कहा जाता है। उनके समय मे स्वराज्य था पर वैदिक धर्म उखड रहा था। समाज की नीव ढह रही थी। ऐसे समय ज्ञानेश्वर ने सस्कृत की ज्ञान-संपदा को जनभाषा मराठी में सजोया और उस ब्रह्मविद्या को सार्वजनीन वनाकर सुलभ कर दिया। इस दार्शनिकता का सूत्र पकडकर नामदेव ने पजाव के धोमान गाँव तक इसका प्रचार किया; यह एक अतीव महत्वपूर्ण कार्य था। ज्ञानदेव की 'ओवी' और नामदेव के 'अभङ्ग' प्रसिद्ध हैं। 'सततम् कीर्तयन्तोमाम्' इस गीतोक्ति के अनुसार कीर्तनरग मे ज्ञानदेव कितने रगे हुए थे इसे नामदेव की कीर्तन-तल्लीनता से समझा जा सकता है। महाराष्ट्रीय कीर्तन परम्परा के 'नारद', नामदेव को ही माना जा सकता है। अपने नाम के अनुसार ज्ञान और भक्ति का समन्वय पढरपूर मे इन दोनो के द्वारा हुआ। नामदेव के साथ उनका पूरा परिवार, दासी जनावाई, सावता माली, रोहीदास चर्मकार,

१. वहिणावाई कृत अभङ्ग।

चोखा-मेला महार, नरहरि सोनार, जैसे समाज के निम्नतम स्तर के सत इस वारकरी वैष्णव सम्प्रदाय में बड़ी तन्मयता और लगन से अपनी कविताओं, अभंगों के द्वारा कीर्तनों से सारे महाराष्ट्र में वैकुण्ठ का सुख प्रस्तुत कर रहे थे।[1] ११९३ शक से १२७२ शक तक यह समय माना जावेगा।

भानुदास—एकनाथ का कालखण्ड :

ज्ञानेश्वर नामदेव काल से सौ सवासौ वर्षो तक, अर्थात् करीव करीव सन् १४५० से सन् १४७५ तक पढरी की वारी, कीर्तन भजन आदि की परम्परा जारी रही। इस सम्प्रदाय में भानुदास तक कोई महत्वपूर्ण सत पैदा नही हुआ। ये एकनाथ के प्रपितामह थे। विजयानगर से रामराजा के द्वारा अनागोदी नामक स्थान पर पढरपूर की विठ्ठलमूर्ति लाकर रखी मई। यही पाडुरङ्ग मूर्ति अपनी भक्ति से संत भानुदास पुन: पढरपूर लाने में सफल हो गए। वारकरी सम्प्रदाय का पुर्ननिर्माण और सङ्घटन करने का श्रेय सत भानुदास को दिया जाता है। इनके पोते एकनाथ महाराज ने, वही कार्य किया जैसा ज्ञानेश्वर—नामदेव ने किया था। ज्ञानेश्वरी का अनुशीलन कर उसमे घुसे हुए अपपाठो को दूर करने का महान् कार्य सत एकनाथ ने किया। वारकरी सम्प्रदाय को सुदृढ स्वरूप देने का श्रेय भी एकनाथ को ही दिया जा सकता है। एकनाथ ने अपने ग्रन्थ "एकनाथी भागवत" का वाराणसी में निर्माण किया जो वारकरी सम्प्रदाय का आधारस्तम्भ माना जाता है। तुलसी की तरह सभी शैलियों मे एकनाथ ने रचनाएँ की है। 'आळंदी', और 'ज्ञानेश्वर' की महिमा एकनाथ के कारण वढ़ी। कीर्तन-भक्ति की महिमा एकनाथ ने विशेप रूप से वढाई। उनकी ही वनाई परिपाटी से वारकरी सम्प्रदाय के लोग कीर्तन करते है। उनका कहना है—

सगुण चरित्रें परम पवित्र सादरवर्णावीं ॥ १ ॥
सज्जन वृन्दे मनोभावें आधी वंदावी ॥ २ ॥
संत संगे अनतरंगे नाम बोलावे प्रभूचे नाम वोलावे ॥
कीर्तनरंगी देवा सन्निध सुखेचि डोलावे ॥
भक्ति ज्ञाना विरहित गोष्टी इतरा न कराव्या ॥
प्रेम भरे वैराग्याच्या युक्तीं विवराव्या ॥ ३ ॥
जेणे करुनि मूर्ति ठसावै अंतरि श्री हरिची ।
ऐशी कीर्तन मर्यादा आहे संताच्या घरिची ॥ ४ ॥

---

१. सकल संत गाथा—एकनाथ अभंग, ५६१

श्रवण कीर्तने अद्वैय भजने वाजवी करराळी ॥
एका जनार्दनी भक्ति मुक्ति तात्काळी ॥ ५ ॥[1]

आदर सहित सगुण चरित्रो का परम् पावित्र्यता से वर्णन करना चाहिये। सज्जन वृन्दो के द्वारा प्रथम मनोभावो से उनका वदन करना चाहिये। सतो के साथ अतःकरण पूर्वक प्रेम रङ्ग मे भगवान् का नाम बोलना चाहिये, और कीर्तन रङ्ग मे आकर भगवान् के सान्निध्य मे सुख मे निमग्न हो जाना चाहिये। भक्ति ज्ञान के अतिरिक्त कोई बात भी नही करनी चाहिये। अन्य फालतू बातो का निराकरण वैराग्य की युक्तियो से करते हुए अनासक्ति को अपना कर, अन्तःकरण मे श्रीहरि की मूर्ति दृढ हो जाय ऐसी कृति होनी चाहिये। सतो के घर की यही रीति है। कीर्तन भजन करने से तत्काल मुक्ति मिल जाती है, ऐमा एकनाथ का निवेदन है।

तुकाराम–निळोबा का कालखण्ड.

भागवत सम्प्रदाय के मन्दिर का "कलश" तुकाराम को माना जाता है। एकनाथ के निर्माण के नौ वर्षो बाद तुकाराम का जन्म देहू मे हुआ। पारतत्र्य सब दुखो का मूल माना जाता है। शास्त्र-धर्म रक्षण करने वाले आचार्य, ब्राह्मण यवनो के दास बनकर अपनी आजीविका चलाते रहते थे। धर्म रक्षण करने वाली यदि राज-सत्ता विद्यमान न हो तो सारा समाज विपन्नावस्था को पहुँच जाता है। ऐसी विपन्नावस्था उस समय हो गई थी। तुकाराम को इसी की बडी चिन्ता थी। इसीलिए पाखड खडन करते हुए; धर्म को जीवित रखने का कार्य अपने पूरे जीवन भर वे करते रहे। अकाल आदि की और अनेक विपत्तियो के द्वारा प्रताडित तथा शूद्र वशोत्पन्न होने के कारण समाज के अत्याचारो द्वारा पीडित तुकाराम पूर्ण विरक्त सत बन गए। इनके द्वारा वारकरी सम्प्रदाय की प्रगति पर्याप्त रूप में हुई। अपनी परमार्थ साधना के द्वारा उन्होने यह सिद्ध किया कि भगवद् भजन की सार्थकता उसके समर्थ साधन मे है। और पढरपूर के विठोवा ही चैतन्य की जड़ है। अपनी तप.सिद्धी से अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति के माध्यम से सगुण को प्रतिष्ठा दी और उसकी महत्ता लोगो को बतला दी। वारकरी सप्रदाय मे ज्ञानेश्वर की ही योग्यता मे तुकाराम आते है। अपनी अभग वाणी से भगवद् सुख का आस्वाद जन साधारण तक को उन्होने चखाया। इससे भजन कीर्तन को भी प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। तुकाराम के अभग बड़े सरस और माधुर्य एवम् मार्मिकता से भरे हुए है। वारकरी सम्प्रदाय मे तुकाराम के बाद निळोवा का नाम महत्वपूर्ण है। इन्होने भी इस सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार किया तथा उत्कृष्ट अभग रचे।

१. एकनाथ अभंग—सकल संत गाथा, ५६१

निळोवा के बाद का सवा दो सौ वर्षों का कालखण्ड—

इस काल में कई भजनी मंडलियाँ और समुदाय स्थापित हुए। इनमें देहुकर तथा पढरपूर के वासकर के फड़ (भजन सडल) प्रसिद्ध है। ये अलग अलग मंडलियाँ अपने अपने गुट में पढरपूर की वारी करती हैं और आषाढ़ी तथा कार्तिकी शुद्ध एकादशी को पंढरपूर की पैदल यात्रा करती है और भगवद् भजन प्रवचन आदि करती है। अनेक पालकियाँ आळदी से ज्ञानेश्वर की पादुकाएँ लेकर चलती हैं। अन्य स्थानो से भी पालकियाँ चलती है और सम्मिलित रूप से सब पंढरपूर पहुँचती है। समूचे महाराष्ट्र में इस पंथ का प्रचार है। इसके चार अन्य उप सम्प्रदाय भी बतलाए जाते है जो इस प्रकार है—

(१) चैतन्य, (२) स्वरूप, (३) आनद, (४) प्रकाश।

इनको 'वारकरी-चतुष्टय' कहा जाता है। बगाल के चैतन्य सम्प्रदाय से इसका कोई सम्बन्ध नही है। तुकाराम के गुरु बाबाजी चैतन्य थे। वारकरी सम्प्रदाय के अधिकांश लोग चैतन्य सम्प्रदाय के ही है। 'रामकृष्ण हरी" और 'ॐ नमो भगवते वासुदेवाय' ये दो मत्र इस सम्प्रदाय के माने जाते है। 'स्वरूप-सम्प्रदाय' की उपासना का मंत्र "श्रीराम जयराम जय जय राम" है। आनद सम्प्रदाय वाले "श्रीराम" या "राम" मत्र का जप करते है। प्रकाश सम्प्रदाय "नमो नारायण" से अपनी साधना करते है।

वारकरी सम्प्रदाय की दार्शनिकता :

पूरा वारकरी सम्प्रदाय कृष्णोपासक है। श्रीकृष्ण का बालरूप ही पंढरीनाथ विठोवा या विठ्ठल है। उपास्य देवता पाडुरङ्ग विठोबा है। कृष्ण की तरह रामोपासना को भी ये मानते है। वारकरी रामनवमी और गोकुल अष्टमी दोनो उत्सव मनाते है। इस सम्प्रदाय की एक अन्य विशेषता यह है कि इसमे हर और हरि के ऐक्य का प्रतिपादन किया जाता है। पांडुरंग ने अपने मस्तक पर शिव को धारण किया है। इस संदर्भ मे 'ज्ञानेश्वर' और 'तुकाराम' के इन उद्गारो को देखिए:—

रूप पाहाता डोळसू। सुंदर गोप वेषु
महिमा वर्णिता महेशू। जेणे मस्तकी वंदिला ॥[1]

× × ×

तुका म्हणे भक्ति साठी हरिहर।
हरिहरा भेदोनाहीं नका करूवाद ॥[2]

---

१. श्री ज्ञानेश्वर अभंग—सकल संत गाथा—८९

२. तुकाराम— " —२९४

श्री विठ्ठल का स्वरूप वालगोपाल का सुन्दर गोप वेप है जो खुली आँखों देखा जा सकता है। जिसकी महिमा महेश ने वर्णन की है। इसीलिए पाडुरग उसे अपने मस्तक पर धारण करते है। भक्ति के लिए वे हरि और हर हैं अतः उनमे भेद है ऐसा व्यर्थ वितडावाद नही करना चाहिए। सन्त रामदास भी इस ऐक्य का हवाला देते हैं[1]—

विठोने शिरी वाहिला देव राणा।[1]

विठोवाने मस्तक पर देवधिदेव महादेव को धारण किया है। ज्ञानेश्वर की गुरु परम्परा नाथ सप्रदाय की है जिसके आदिनाथ भगवान् त्रिपुरारी थे। अतः पाडुरग को इस ऐक्य का प्रतीक हम मान सकते है। वारकरी सम्प्रदाय के ग्रन्थ श्रद्धायुक्त अन्त करण से लिखे गये होने के कारण, भावात्मक तथा ज्ञान और तात्विक सिद्धातो से भरे हुए होने से बुद्धि प्रधान विचारो से सम्पन्न है। वारकरी सन्तो मे क्रमश. निवृत्ति-ज्ञानेश्वर-सोपान-मुक्तावाई-नामदेव-एकनाथ-तुकाराम और निळोवा आते हैं। अपने दार्शनिक सिद्धान्तो का प्रतिपादन करने के लिए इनके रचित अभङ्गो को प्रमाण माना जाता है। शास्त्रीय सस्कृत ग्रन्थो मे वेद, श्रीमद्-भगवद्गीता तथा मराठी के श्री ज्ञानेश्वरी, श्री एकनाथी भागवत, तुकाराम के अभङ्गो की गाथा और ज्ञानेश्वर तथा एकनाथ कृत 'हरिपाठ' आदि का सदा पठन होता है और कीर्तनो मे इन्ही ग्रन्थो का आधार लिया जाता है। वेद-विहित और श्रुति-सम्मत हरिभक्त-पथ इन्हे स्वीकार हैं। सव वर्णो और जातियो के लिए भक्तिमार्ग और नामस्मरण का साधन एकमात्र सहायक समझा गया है। पंढरी की वारी का उल्लेख हम पूर्व मे कर ही आये है। गले मे तुलसीमाला धारण कर, गोपीचदन का उर्ध्वपुंड्र तिलक लगाया जाता है। 'आम्हा अलकार मुद्राचे शृङ्गार। तुळशीचे हार वाहूँ कठी ॥१॥ यह तुकाराम का कथन है।[2] नियम पूर्वक ज्ञानेश्वरी की कुछ ओवियाँ पढना तथा हरिपाठ के अभग गाना हर वारकरी का दैनदिन कार्य माना जाता है। इसे 'वारकरी की संध्या' भी कहते है। अहिंसा का पालन, मासाशन न करना आदि बाते आचरणान्तर्गत आती है। अपने लौकिक गृह–गृहस्थी का त्याग करने के लिए वारकरी सम्प्रदाय कदापि नही कहता, प्रत्युत अपने हिस्से मे आये हुए कर्म वडी दक्षता के साथ और सत्यता का पालन करते हुए करने चाहिए यही वारकरी सम्प्रदाय का आग्रही प्रतिपादन है। क्योकि इस सप्रदाय के अनुसार भगवान् के विश्व मे जो कार्य हमारे लिए नियोजित है उनका समावेश

१. सन्त रामदास—मनाचे, श्लोक संख्या ८४।
२. तुकाराम—सकल सन्त गाथा—१२६२।

भगवान् के कार्यो में ही सजोया हुआ है। अत. जब वे कार्य प्रभु प्रेरित ही है तब प्रेमपूर्वक उनको करने से प्रभु का सहज भजन हो जाता है। वारकरी सम्प्रदाय कर्म की यही दीक्षा देता है।

वारकरी सम्प्रदाय का आन्दोलन ज्ञानदेव से तुकाराम तक और उनसे आज-तक यह बराबर चल रहा है। इस सम्प्रदाय के सन्तो ने आध्यात्म-विद्या सबको मुक्त-हस्त होकर समान रूप से बाँटी। समाज के निम्न से भी निम्नतम लोगो के लिए इस विद्या की प्राप्ति का मार्ग खुल गया तथा बधु भाव बढ़ा। परमेश्वर की भक्ति और विश्वास दोनों का समन्वय होने से शिवाजी महाराज के स्वातत्र्यान्दोलन मे इन्ही लोगो की सहायता उपलब्ध हो गयी। स्वराज्य की स्थापना होने से वैचारिक पृष्ठभूमि भी तैयार होती गई। विनम्रता से सब प्राणियो मे भगवान् को देखना वारकरी सम्प्रदाय का दृष्टिकोण है। तुकारामोक्ति से इसे स्पष्ट किया जा सकता है—

नम्र झाला भूता तेणे कोंडिले अनंता।[1]

अनन्त शक्ति मान सर्वव्यापी को विनम्रता से सर्वत्र देखा जा सकता है। आर्त गुहार और पुकार के साथ परमेश्वर को दीनता से जन भाषा मराठी मे निवेदन किया है तथा परचक्र और परधर्म के विरुद्ध तथा ढकोसलेबाजी और पाखड के विरुद्ध कसकर आवाज लगाते हुए पर्दाफाश किया गया है। इस विद्रोही स्वर ने समाज मे आचरण-पक्ष को शुद्धता प्रदान करने मे सहायता दी है। वारकरी सम्प्रदाय के द्वारा अभिव्यजित भक्तिरस चिरतन स्वरूप का होने से किसी भी युग के किसी भी जाति के किसी भी स्तर का जीवन समृद्ध और उन्नत एवम् उदात्त कर सकने की क्षमता रखता है। इसका सबूत वारकरी सन्तो का भक्ति रस मिश्रित वाड्मय है। पारमार्थिक क्षेत्र की भ्रामक कल्पनाओ का खडन कर उसके स्थान पर नैष्ठिक और शुद्ध परमार्थ तत्त्वो की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्थापना अपने वाड्मय और आचरण से इन लोगो ने सिद्ध की है। सबसे बडी देन इस सम्प्रदाय की यह है कि इसने समाज के व्यक्तिगत और सामाजिक पक्ष को लेकर दोनो प्रकार से जीवन मे नैतिक मूल्यो की स्थापना की। शुद्ध आचरण, निर्मल अन्त करण और निष्ठायुक्त भक्ति ये तीन नैतिक मूल्य है जिन पर वारकरी सम्प्रदाय का सारा ढाँचा खड़ा है। 'अवघाचि ससार सुखाचा करीन। आनन्दे भरीन तिही लोक॥'[2]

'सारा ससार व्यक्तिगत आचरण से सुख पूर्ण बनाकर अध्यात्मिक आनन्द से

---

१. तुकाराम—अभंग गाथा—अभंग १४८०।

२. तुकाराम—अभंग।

त्रैलोक्य भर दूँगा।' यह तुकाराम के उद्‌गार एक वारकरी के अन्त करण का परिचय देने वाले है। आरभ से लेकर अन्त तक वारकरी सम्प्रदाय ने भक्ति तत्व का जोरदार प्रतिपादन किया है। यों 'एकमेवाद्वितीयम् ब्रह्म,' 'नेहनानास्ति किंचन', 'अहम् ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्य और सिद्धान्त 'वारकरी' मान्य करते है। अद्वैत के ज्ञान के साथ भक्ति का प्रतिपादन किया गया है। मुक्ति के स्थान पर अपनी साधना से सप्राप्त ज्ञान और आनन्दानुभूति से उस आनन्द को त्रैलोक्य मे बाँटने की इच्छा रखने वाला उदार अन्तःकरण भी वारकरियो को मिला है। इसे बाँटने के लिए अनवरत कर्मण्यता और प्रयत्नशीलता का इनमे अभाव नही है।[1] वारकरी सम्प्रदाय की मान्यता है कि भक्ति साध्य है और साधन भी। परमात्मा व्यापक, निर्गुण निराकार है परन्तु साथ ही वह सगुण साकार भी है। ज्ञानेश्वर का यह कथन देखिये—

बाप रखुमा देवीवरु सगुण निर्गुण। रूप विटेवरी दाविलें खूण ॥[2]

और एकनाथ का यह प्रतिपादन है कि—

भक्तिचे उदरी जन्मले ज्ञान। भक्ति ने ज्ञानासी दिधले महिमान ॥१॥
भक्ति ते मूळ ज्ञान ते फळ। वैराग्य केवळ तेथीचे फूल ॥२॥
भक्ति त्रिथा ज्ञान गिवसिती वेडे। मूल नाही तेथे फळ केवी जोडे ॥३॥
भक्ति युक्त ज्ञान तेथे नाही पतन। भक्ति माता तया करितसे जतन ॥७॥
एका जनार्दनी शुद्ध भक्ति क्रिया। ब्रह्म ज्ञान त्याच्या लागतसे पाया ॥८॥[3]

पढरीनाथ अर्थात् रखुमाई के पति ने सगुण और निर्गुण दोनो की साक्ष्य ईट पर खडे होकर अपने रूप से ही करा दी है। ज्ञान की प्रतिष्ठा भक्ति से ही सिद्ध होती है। क्योकि भक्ति पेड की जड है और ज्ञान उसका फल है। इस पेड का पुष्प वैराग्य है। विना भक्ति के ज्ञान की बाते करने वाले मूर्ख हैं। जहाँ पेड की जड ही नही वहाँ फल की प्राप्ति कैसे संभव है? एकनाथ के गुरु जनार्दन की यही सीख है कि शुद्ध भक्ति से जो कार्य प्रेरित हो जाता है ब्रह्मज्ञान स्वयम् उसके चरणो मे आकर लौटने लगता है।

निर्गुण स्वरूप का रहस्य सगुण साधना से ही सभव है। उस निर्गुण तक पहुँचने का मार्ग सगुणोपासना, नामस्मरण और भजन ही है। सगुणोपासना से भगवद् विपयक ज्ञानप्राप्ति होती है। वारकरी सम्प्रदाय के दार्शनिकता मे ज्ञानमार्ग

---

१. वारकरी सम्प्रदायाचा इतिहास—प्रा. शं. वा. दांडेकर, पृ० ५४।
२. ज्ञानदेव अभंग।
३. एकनाथ अभङ्ग।

और भक्तिमार्ग का आपस मे कोई संघर्ष नही है। भक्ति मोक्ष का साधन है, और ज्ञान का कारण भी। कोरा ब्रह्मज्ञानी न तो खुद अपना उद्धार कर सकता है और न दीनो का उद्धार करने की इच्छा रखता है। इसीलिए सन्त एकनाथ का यह निवेदन समीचीन ही है—

> पावोनिया ब्रह्मज्ञान। स्वये तरला आपण।
> नकरीच दीनोद्धारण। ते थंडपण ज्ञात्याचे ॥[1]

कालानुसार सर्व सग्राहकत्व और सहिष्णुता के साथ परमेश्वर प्राप्ति का सरल और सुलभ उपाय बतलाने वाला यह संप्रदाय है। दिनोदिन इस सप्रदाय की उन्नति ही हो रही है।

समर्थ संप्रदाय :

इस सम्प्रदाय के सस्थापक स्वामी समर्थ रामदास हैं। देवगिरी के पतन के बाद बडी विपदा का कालखड पराधीनता के साथ महाराष्ट्र में प्रारम्भ हो गया था। अनेक प्रकार के अत्याचारों का सामना लोगो को करना पडा था। मुगल बादशाह तथा विजापूर के आदिलशाह महाराष्ट्र को कोंचते जा रहे थे। इसी असहनीय दुर्दशा से ऊपर उठाने वाली परिस्थिति का निर्माण करने वाली 'रामोपासना' समर्थ रामदास ने अपने 'समर्थ-सम्प्रदाय' के द्वारा प्रस्थापित की। 'समर्थ-सम्प्रदाय' को महाराष्ट्र मे भौतिक और आध्यात्मिक दृष्टि से एक विशेष लाभ प्राप्त हो गया है। श्री रामचन्द्रजी को रामदास 'समर्थ' कहा करते थे। इसी नाम का विशेषण स्वामी रामदास को भी आगे चलकर प्राप्त हो गया और उनका सम्प्रदाय भी समर्थ-सम्प्रदाय कहलाने लगा। भागवत धर्म के अर्थात् वैष्णव धर्म के समर्थक ही समर्थ रामदास थे। रामदास के नाम से इस धर्म के अनुयायियों को समर्थ सम्प्रदायी कहा जाने लगा। वारकरी सम्प्रदाय ज्ञानेश्वरादि सन्तों के अनुयायियो को कहा जाता था। वास्तव में भागवत धर्म ही दोनो का मूल स्रोत है। विवेक और नीति को वारकरी सम्प्रदाय की तरह समर्थ सम्प्रदाय में भी स्थान और महत्व है। वारकरी सम्प्रदाय ने आध्यात्मिक और नैतिक उन्नति का ध्येय सामने रखकर जन साधारण अपने सासारिक दुःखों को आसानी से दूर करने ये सिखाया तो समर्थ सम्प्रदाय ने इस निस्सार जीवन में आस्था और आशा का संबल उत्पन्न किया। इनका प्रमुख कारण समर्थ रामदास की रामोपासना है। उपासना रामदास को विशेष अभिप्रेत थी। उपासना का आधार बहुत बड़ा है; यह इस सम्प्रदाय का मुख्य सूत्र है। 'उपासने चा मोठा आश्रयो।' और रामदास का यह कथन—

---

[1] वत—एकनाथ।

'उपासनेला दृढ़ चालवावें। भूदेव संतासि सदा लवावे।
सत्कर्म योगें वय घालवावें। सर्वांमुखीं मंगल बोलवावे ॥[1]

उपासना को दृढता के साथ चालू रखना चाहिए, ब्राह्मण और सन्तो का हमेशा आदर करना चाहिए, सत्कर्म करके आयु वितानी चाहिए, और सब लोगो के मुख से मगलदायक धन्यवाद प्राप्त करना चाहिए।

समर्थ रामदास की गुरु परम्परा भी समझ लेना आवश्यक है। वह इस प्रकार है—

आदि नारायणं विष्णुं ब्रह्माण च वशिष्ठकं।
श्रीरामं मारुति वंदे रामदासं जगत् गुरुं।

अर्थात् इस सप्रदाय या उपासना का रहस्य आदि नारायण ने महाविष्णु को दिया। महाविष्णु से हस को, हस से ब्रह्माजी को, और उनसे वशिष्ठ को, इसका ज्ञान प्राप्त हुआ। सद्गुरु वशिष्ठ ने राम को और प्रभु रामचन्द्र ने स्वयम् रामदास को यह रहस्य बताया। रामदासजी की सहायता हनुमानजी भी करते थे ऐसा वे स्वयम् बतलाते है—

साह्य आम्हासी हनुमंत। दैवत श्री रघुनाथ।
आराध्य गुरु श्रीराम समर्थ। उणे काय आम्हासी ॥[2]

हमारी उपासना के उपास्य प्रभु श्री रामचन्द्रजी है और इसमे हमारे सहायक श्री हनुमान है; अत. इस दास को किस चीज की कमी या अभाव हो सकता है ? इसी राम की उपासना कर रामदास समर्थ बने। स्वय अनुभूति और प्रचीति लेकर प्रथम रामोपासना से राम का साक्षात्कार लेकर फिर लोगो के सामने अपनी बाते उन्होने रखी। उनके बोल स्वानुभव के और सत्य-प्रतीति के थे। यो उनके समय मे ब्राह्मण और क्षत्रियो की कार्य प्रवणता और कर्मयोगिता उस युग के अनेक सतो के उपदेश वचनो के सुनने पर भी तिरोहित हो रही थी। इसे पुन. जागृत कर उसका प्रादुर्भाव करने का उपाय अर्थात् व्यवहार-धर्म की स्थापना कर लोगो को सजा करने के लिए रामदास स्वामीजी ने उपासना को भी व्यावहारिक रूप प्रदान किया। इसके लिए लोगो के सामने प्रभु रामचन्द्रजी का आदर्श चरित्र रखा, जो अनेक उज्ज्वल आदर्श गुणो का समुच्चय स्वरूप ही था। इसी का परिपाक यह हुआ कि लोग प्रतिकार क्षम बन गए। इसके दो रूप थे। प्रथम स्वसरक्षण और दूसरा मोक्ष प्राप्ति का आत्म विश्वास अर्थात् प्रपच और परमार्थ दोनो का सदुपदेश स्वामीजी ने दिया। 'मनी धरावे तेते होते। विघ्न अवघेपि नासोनी जाते। कृपा

१. श्लोक—समर्थ रामदास कृत।
२. श्री देव—समर्थ रामदास, भाग १।

केलिया रघुनाथे। प्रचीत येते।' 'अर्थात् रामोपासना करने से सब कार्य सफल हो जाते है।[1]' सगुण और निर्गुण दोनो का समन्वय इस सप्रदाय मे विवेचित है। ज्ञान से केवल कार्य नही हो सकता अतः भाव और भक्ति दोनो सहित होकर ज्ञान प्राप्त करना अच्छा माना गया है। विशेपत. होनहार और तत्पर ब्राह्मण युवको पर इनकी दृष्टि रहती थी। उन्हे अपना योग्य शिष्य बनाकर उनको धर्म प्रवण और कार्य प्रवण बनाया। समाज के नैराश्य और आलस्य को भगाने के लिए प्रथम उनके भीतर का आलस्य और नैराश्य भगाया। कर्तव्य और प्रयत्न तथा भगवान् का अधिष्ठान इन तीनो पर रामदास स्वामी हमेशा बल देते है।

कौटिल्य का सूत्र है :[2]

'धर्मस्य मूलं अर्थम् अर्थस्य मूलं राज्यं।'

राष्ट्र का अभ्युदय अर्थ और राज्य इन दोनो के पारस्परिक सहयोग पर निर्भर है। धर्म के लिए राज्य साधन है, अर्थ भी राज्य मे धर्म का आधार लेकर ही राज्य की उन्नति मे सहायक होता है। रामचन्द्र के भक्त को इस पृथ्वी पर कोई भी वक्र दृष्टि से नही देख सकते। जिनके पास रामदास्य है उनके राम ही रक्षक है। यह निश्चित है। 'समर्थ सम्प्रदाय' के मुख्य अङ्ग दो है। (१) धर्म कारण और (२) राजकारण। सर्वत्र अपने काव्य मे, और अपनी रचनाओ मे स्वामीजी ने धर्म कारण को ही महत्त्व प्रदान किया है। राजकारण देश, काल और उस समय की परिस्थिति-सापेक्ष, होने के नाते स्वत आ गया है। अतः समर्थ सप्रदाय के शाश्वत तत्वो की हम उपेक्षा कदापि नही कर सकते। उनके शब्दो मे जो चतु सूत्री अपने सप्रदाय की है उसे प्रथम समझने, का हम प्रयत्न करेगे—

'मुख्य ते हरिकथा निरूपण। दुसरे ते राज कारण।
तिसरे ते सावधपण सर्व विषयीं। चवधा अत्यंत साक्षेप॥'[3]

इसका अभिप्राय है कि संसार से ऊपर उठने के लिए मुख्य हरि-कथा-निरूपण ही एकमात्र साधन है। इससे भगवद् भक्ति और भगवद् प्राप्ति दोनो कार्य हो जाते है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपना प्रपच युक्ति और बुद्धि के साथ सुव्यवस्थित रूप मे करे। यह सतर्कतापूर्ण व्यावहारिक जीवन ही राजकारण के अतर्गत आता है। अन्यथा उसका जन्म सार्थक नही होगा। व्यक्तिस्वातत्र्य, कर्म-स्वातत्र्य, समाधान और जन्म का साफल्य इसी से उपलब्ध हो जाते है। इसीलिए काम

---

१. समर्थ रामदास—दिवाकर—जोगलेकर।
२. कोटिल्य धर्म सूत्र।
३. समर्थ रामदास कृत—दासबोध।

क्रोधादि पड्-रिपुओ से बचने की विशेष रूप से सावधानी बरतने की आवश्यकता का प्रतिपादन वे करते है। यह सावधानी इन्द्रियज-विषयो के लिये भी आवश्यक है। इस सिद्धी के लिए प्रयत्न और ईश्वरनिष्ठा आवश्यक है। आलस्य को छोड प्रयत्न मे रत रहने से साफल्य अवश्य मिलता है। इस चतुःसूत्री मे लोकसग्रह, लोक जागृति, लोककल्याण और आत्मकल्याण आ जाता है।[1]

साम्प्रदाय का दार्शनिक रूप—

यो तो इस सम्प्रदाय की चतु सूत्री अभी वर्णन की गई है। दासबोध मे और अन्यत्र समर्थ रामदास स्वामीजी ने कही पर बीस और कही पर चालीस लक्षण वतलाए है। शाश्वत रूपो से मूलभूत तत्व पॉच है जो इस प्रकार बतलाए जा सकते है—(१) शुद्ध उपासना, (२) विमल ज्ञान, (३) वीतराग (वैराग्य) (४) ब्राह्मण्य-रक्षण और (५) शुद्ध मार्ग-शुद्धाचरण। समर्थ इन लक्षणो का समावेश रामोपासको के लिए लिखे गये अपने सुप्रसिद्ध पत्र मे इस प्रकार देते है :[2]

शुद्ध उपासना विमल ज्ञान। वीतराग आणि ब्राह्मण्य रक्षण।
गुरु परंपरचे लक्षण। शुद्धमार्ग॥
ऐसे पंचधा बोलिले। इतकु पाहिजे येत्ने केले।
म्हणजे सकल ही पावले। म्हणे दासानुदास॥[3]

शुद्ध उपासना से रामदास का अभिप्राय वैदिक मार्गानुसारी वर्णाश्रम धर्म युक्त उपासना से है। शुद्ध उपासना मे ब्राह्मणों के द्वारा विमल हस्त से पूजा होने मे सबका कल्याण है यह उनका कहना है। इसमे प्रतिमा, अवतार, अंतरात्मा और निर्मलात्मा की पूजा, कर्म, भक्तिप्रेम, ज्ञान और विज्ञान युक्त होगी। इस उपासना मे कई सोपान है और वे एक से एक बढकर है। 'नारायण असे विश्वी। त्याची पूजा करीत जावी। या कारणे तोषवावी। कोणी तरी काया॥'

सारे विश्व मे नारायण भरा हुआ है उसी की पूजा करनी चाहिए। अतः अपनी कृति से, आचरण से मनुष्य मात्र को और अन्य किसी भी जीवधारी को यदि सतोप मिला, तो वह परमेश्वर की पूजा ही मानी जायगी। यही पर उनकी

१. श्री समर्थ रामदास—श्री दिवाकर जोगळेकर, पृ० ७६।
२. समर्थ रामदास के एक ओवीवद्ध पत्र से।
३. रामदास स्वामी के एक ओवीवद्ध पत्र के अंतिम अंश से ओवी, क्रमांक ११। समर्थ चरित्र भाग ३, पृ० १००।

शुद्ध उपासना मे भगवंत का अधिष्ठान भी सम्मिलित हो जाता है। यही रामोपासना है जो शुद्ध है। कोरी जनसेवा समर्थ रामदास को अभिप्रेत नही है।

विमलज्ञान—इसका तात्पर्य है कि उन्हे शुद्ध अद्वैत ही मान्य था। अतः जिससे सच्चे भगवान् की पहिचान हो सकती है वही ज्ञान उन्हे अभिप्रेत है। ज्ञान के द्वारा आत्मा को परमात्मा की पहचान होकर वह आत्माराम वन जाय और उस आत्माराम से चिन्हारी हो जाना ही विमल ज्ञान है।

विवेक वैराग्य—ही रामदास स्वामी के मत में सर्वश्रेष्ठ वीतराग है। विवेकहीन वैराग्य निष्क्रीयता का द्योतक हो जाता है। विचारपूर्वक किये गये ज्ञानाधिष्ठित वैराग से ही उनका सकेत प्रतीत हो जाता है। विषयो के प्रति विवेक-युक्त वैराग्य यदि न हो, तो शुद्ध ज्ञान प्राप्ति होना असम्भव है। यह संसार स्वभाव से ही सड़ा-गला है। इसलिए इसे विवेकपूर्ण करने से यह अच्छा हो जाता है और धीरे-धीरे उसकी क्षणभगुरता और नश्वरता भी समझ मे आने लगती है। इसको विना समझे परमार्थ करने से वडी फजीहत होनी है। वैराग्य से त्यागयुक्त प्रवृत्ति रखकर, विषयों से अपने आपको खीच लेना चाहिए तभी पारमार्थिक पात्रता आ सकती है।

ब्राह्मण रक्षण—जो व्रह्म का निरूपण कर सकता है तथा सपूर्णतया व्रह्म का जो जानकार है ऐसे व्रह्मविद को व्राह्मण कहना चाहिए। सात्विक प्रवृत्ति वाला, व्रह्मज्ञान का जिमके पास अधिष्ठान है ऐसा व्रह्म का अधिष्ठाता शमदमादि षड्गुणो का जिसमे सम्पूर्णतया दर्शन होते है वही पर व्राह्मण्य है। भगवद्गीता भी तो यही कहती है—

शमोदयस्तपः शौचं क्षान्ति रार्जव मेवच।
ज्ञान विज्ञान मास्तिक्यं व्रह्मकर्म स्वभावजम् ॥[1]

नाममात्र के व्राह्मणों से रामदास का कोई नाता नही है। वे तो शुद्धा-चरणी व्रह्मविदो और व्रह्मवेत्ताओ के लक्षणो से युक्त व्राह्मण्य रक्षण को महत्व प्रदान करते है।

शुद्ध मार्ग अर्थात् शुद्ध कर्माचरण से उनका अभिप्राय व्यक्त होता है। ईश्वरार्पण वुद्धि से शास्त्रविहित और स्ववर्णोचित कर्म ही स्वधर्म है। आलस्य का घोर विरोध वे करते है। वे स्वयम् कर्मयोगी थे। ज्ञानोत्तर भी कर्मयोग नही छोड़ना चाहिए ऐसा उनका आग्रह था।

आधी ते करावे कर्म। कर्म मार्गे उपासना।
उपासका सापडे ज्ञान। ज्ञाने मोक्षचि पावणे ॥

---

१. भगवद्गीता—१८४२।

प्रथम कर्म करना चाहिए। कर्म करते-करते उपासना होती है। उपासना से ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ज्ञान से उपासको को मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है। उनका कर्मठ मार्ग ही बतलाता है कि ब्रह्मज्ञान से सारासार विचारकर धर्म की स्थापना के लिए कर्मकाण्ड और उपासना की अतीव आवश्यकता है। शरीर-धारियो को सदा कर्म-तत्परता-युक्त रहना चाहिये यही उनका शुद्ध-कर्माचरण है। समर्थ सम्प्रदाय मे आत्मप्रतीति एवम् आत्मसाक्षात्कार का महत्व सबसे अधिक है। व्यक्ति की उन्नति पर जोर है। आत्मिक उन्नति के लिए प्रयत्नवाद का आश्रय और आलस्य का त्याग आवश्यक है। लोकसग्रह करने वाले मे स्वयम् भगवद्-कृपा से सामर्थ्यशाली बनकर ऐसे ही भगवद् कृपा सम्पन्न लोगो का सगठन लोक-कल्याण और लोकजागृति के लिए करना चाहिये। अनवरत प्रयत्न कर अनन्य भक्ति से रामोपासना करते हुए हर दिन कुछ न कुछ लिखना चाहिए ऐसी समर्थ की अपने सप्रदाय वालो को आज्ञा थी। अनुशासन-हीनता का समर्थ सप्रदाय मे तीव्र निषेध है। क्योकि अनुशासन युक्त होकर अखन्ड श्रवण मनन, चिंतन कर, भक्ति मार्ग को अपनाने से आत्म-कल्याण, देश-कल्याण और लोक-कल्याण प्रयत्नपूर्वक करने पर सिद्ध होता है। निश्चय का महामेरु बनकर प्रयत्न को भगवान् मानकर समर्थ ने जिस व्यक्ति मे जो गुण देखा उसको लेकर उसे स्वधर्म-निष्ठ बनाकर सङ्गठित किया।

आचरण पक्ष मे ऐहिक और पारमार्थिक क्षेत्रो मे 'समर्थ सम्प्रदाय' त्याग और विवेक युक्त वैराग्य को प्रधान प्रश्रय देता है। सासारिक कार्यो मे और आध्यात्मिक कार्यो मे युक्ति और चातुर्य का महत्व है। सर्वोपरिगुणो का ग्रहण और सर्वश्रेष्ठ उत्कटतापूर्ण भावो का अनुभव, किसी को भी उत्तम सामर्थ्य प्रदान करते है। सरसता के साथ उत्कट, भव्य और विशाल एवम् उदात्ततत्वो, वातो, और सिद्धान्तो को आत्मसात करना चाहिए। नीरस और छूँछा सदा त्यागना चाहिए। निस्पृहता से विश्व मे प्रसिद्ध होकर उत्तम गुणो का चयन और आचरण मे उनका ग्रहण कर भगवद्भजन मे लीन रहकर जन्म की सार्थकता सिद्ध करनी चाहिये। समर्थ सम्प्रदाय मे 'समर्थ' बनने का यही तरीका है। प्रचड अध्यवसाय, अतीव भगवद्आस्था, अनवरत प्रयत्न, अबाधकर्मण्यता से युक्त यह सम्प्रदाय महाराष्ट्र के लिये आत्मोद्धार मे उपकारक सिद्ध हुआ। कहा जा सकता है कि इन तत्वो से राष्ट्रोन्नति और जगदोद्धार कदापि असभव नही होगा। इस सप्रदाय ने व्यक्ति को आत्मनिर्भर, स्वधर्मनिरत, भगवद्कृपा सम्पन्न बनाकर, समाज को स्वधर्मनिष्ठ बनाया और सुसगठित किया।

वे कहते है—

'भिक्षामिसे लहान थोरे। परीक्षन सोडावी'[1] इस रामदासोक्ति में समर्थ सम्प्रदाय के कार्य का रूप सामने आ जाता है। 'समर्थ' छोटे बडे सभी व्यक्तियो का परीक्षण कर इस परीक्षण मे सफल होने वाले चुनिंदा तेजस्वी युवक 'समर्थ-सप्रदाय' मे रामदास के शिष्य बने। धनुर्धारी राम और हनुमान की उपासना से इस सप्रदाय के द्वारा श्रद्धा, आशा, और विश्वास को बढ़ाया गया, जिससे सारा महाराष्ट्र स्फुरण पाकर तेजस्वी बन गया। 'समर्थ-सप्रदाय' की यह विशेपता है, कि उसने व्यष्टि और समष्टि-जीवन मे आत्मविश्वास, सच्चरित्रता, भक्ति और सङ्गठन की आवश्यकता सिद्ध की जिसने राष्ट्रीय-स्वातत्रता सघर्ष के आदर्श छत्रपति शिवाजी जैसा प्रातःस्मरणीय नेता निर्माण किया तथा समाज मे आत्मबल, ज्ञान और उपासना का महत्व प्रतिष्ठित किया। लोकमगल, लोक-सग्रह, आत्म-कल्याण और मनोबल की कर्मठ प्रेरणा इस सप्रदाय की चिरतन प्रेरक शक्तियाँ है। इसीलिए 'समर्थ सप्रदाय' मे बलोपासना पर जोर दिया गया है।

---

१. दासबोध—रामदास।

तृतीय–अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

तृतीय अध्याय

हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य पर पड़े हुए भारतीय एवम् अभारतीय मतों का प्रभाव और उनका विवेचन

हमारे अध्ययन मे आने वाले मराठी और हिन्दी के नौ वैष्णव सन्तों के साहित्य पर और उनकी साधना पर जिनका प्रभाव पड़ा है उनके स्रोत कौन से थे, और उनके दार्शनिक आधार क्या थे, इसे समझने के लिए यहाँ पर प्रयत्न किया जावेगा। इन मराठी और हिन्दी वैष्णवो की भक्ति-साधना पर दार्शनिकता की दृष्टि से और धार्मिकता की दृष्टि से भारतीय प्रभाव और अभारतीय प्रभाव सास्कृतिक रूप मे प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष किस प्रकार पडा है, इसे देख लेना समीचीन होगा।

बौद्ध महायान और भक्तिमार्ग—

भक्ति दर्शन पर महायान की पूरी छाप है तथा उस पर नारद-भक्ति-सूत्र, शान्डिल्य और पाचरात्र एवम् भागवत पुराणादि की भक्ति परम्परा भी सन्निहित है। भारत मे वैष्णव-साधना तेरहवी से सत्रहवी शती तक जब विकसित हो रही थी तब बौद्ध धर्म नामशेष हो गया था। नेपाल, हिन्देशिया, हिन्दीचीन और सयाम मे महायान बौद्ध धर्म और वैष्णव भक्ति दर्शन का समन्वय साधन हो रहा था। बौद्ध महायान मे बुद्ध-भक्ति एक प्रमुख विशेषता है। महायान ने भगवान् बुद्ध को एक उपास्य रूप मे मान लिया। भक्ति और मुक्ति का आश्वासन महायान की विशेपता है। बुद्ध के मन मे प्रथम निर्वाण सुख अनुभव करने की इच्छा जगी और बाद मे उन्होने 'उदासीनता को जीतकर प्राणियो के दुःख का उपशमन' करने का सकल्प किया। यह सकल्प ही एक आश्वासन के रूप मे बुद्ध भक्ति का मुख्य आलबन था। भगवान् बुद्ध के पूर्व भक्ति की भावना भले ही रही हो यह विशेषता उसमे किसी प्रकार न थी।

ऋग्वेद मे ऋषियो ने वरुण के प्रति भक्ति के उद्गार प्रकट किये थे जो देवता भक्ति ही कही जा सकती है। देवताओ का आकर्षण कम हो जाने पर भक्ति निष्प्रभ हो गई। उपनिषदो मे बुद्ध जैसा कोई ऐतिहासिक महापुरुष नही है जिसके

प्रति सच्ची भक्ति का स्वाभाविक विकास होता । निर्गुण निराकार की भक्ति नही होती । पाली साहित्य मे विष्णु-वेण्हु और शिव-ईसाण गौण देवताओ के रूप मे वर्णित हैं । उनका स्थान इन्द्र और ब्रह्मा से निम्नतर है । बुद्धकाल मे इनकी उपासना पद्धतियाँ अधिक महत्वपूर्ण नही हो सकती थी । कृष्ण भक्ति का प्रचार बुद्ध युग के बाद वासुदेव कृष्ण को भागवत सप्रदाय के भगवान् के साथ एकीकरण किये जाने के परिणामस्वरूप हुआ । 'बेसनगर' के शिलालेख मे 'हेलियोडोरस' अपने को 'परम भागवत' की उपाधि से विभूषित करता है । 'छान्दोग्य' मे कृष्णाय-देवकी पुत्राय' और कौषीतकी ब्राह्मण मे कृष्ण आगिरस का वर्णन है । ईशोपनिषद मे ईश्वर की उपास्य के रूप मे विवेचना है । 'श्वेताश्वतर' मे भक्ति के सिद्धान्तो का प्रचलन है । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि प्राचीन भक्ति धारा का विकास होते-होते कृष्ण भक्ति मे कृष्ण को विष्णु का अवतार माना जाने लगा । क्योकि इस विश्वास के प्रचलन के आधार इन्ही उल्लेखों मे ही विद्यमान हैं । घुसुन्डी के शिलालेख मे वासुदेव का जना भगवद्भ्यासकर्षण-वासुदेवाभ्याम्' के रूप मे उल्लेख मिलता है । इस वासुदेव-पूजा का केन्द्र मथुरा था । कृष्ण भक्ति मे कृष्ण-पूजा का महत्व कृष्ण के महान वनने के बाद से ही सिद्ध हो जाता है । पाणिनि भी 'वासुदेवार्जुनभ्याम्' वासुदेव का देवता रूप मे उल्लेख करते है । 'पालिनिद्देम' मे वासुदेव-सम्प्रदाय' का उल्लेख इस प्रकार आता है—'वासुदेव कृतिकावाहोन्ति ।' यह उल्लेख वासुदेव पूजा के प्रचलन का ही समर्थन करता है । इन सब बातो से कह सकते है कि वासुदेव पूजा द्वितीय शताब्दी पूर्व ही भारत मे प्रचलित रही होगी । महायान मे जव बुद्ध भक्ति का उदय हुआ होगा तो उसने इस वासुदेव-सप्रदाय से ज्ञात और अज्ञात रूप से अवश्य प्रेरणा ग्रहण की होगी ।

रिचार्ड गार्बे गीता का मौलिक प्रणयन ३००–२५० ईसवी पूर्व मानते हैं । डा० हरदयाल अत्यत सतुलित विवेचन के बाद २५० ई० पू० से लेकर २०० ईसवी पूर्व तक गीता का प्रणयन काल मानते है । वैसे विटर निट्ज़, के०जे० साडर्स आदि गीता से महायान ने वहुत कुछ लिया है. ऐसा सिद्ध करते है । श्रीभरतसिह उपाध्याय के मतानुसार गीता के कृष्ण जिस प्रकार मुक्तिदाता प्रभु के रूप मे चित्रित है वह बुद्ध का अनुकरण ही है । महायान वौद्ध धर्म मे एक ऐतिहासिक तथ्य अर्थात् मुक्ति का आश्वासन तथागत की बोधिप्राप्ति और उनके प्राणियो की विमुक्ति के लिए दिए गए उपदेश के निर्णय पर आधारित है ।[1] धार्मिक इतिहास मे यह

१. बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ५९० ।

एक महान बात हैं जो श्रौत परपरा मे नही मिलता। इसी से प्रेरणा लेकर श्रौत-परपरा ने उसे अपनाया था। जिसमे से मूलतः भक्ति के विचार को महायान ने लिया था। श्रौत परपरा मे भक्ति देवताओ पर निर्भर रहती है जिनमे लेशमात्र ऐतिहासिक मानवत्व नही था। बुद्ध जैसे ऐतिहासिक व्यक्ति को महापुरुष के रूप मे भक्ति का आलबन बनाकर महायान ने एक महत्वपूर्ण कार्य किया। भागवतकार तो कृष्ण को साक्षात भगवान् तक मानते है। राम और विष्णु, तथा कृष्ण और विष्णु को ऐतिहासिक महापुरुषो के रूप मे मानकर उनको एकाकार करने का प्रयत्न किया गया और राम और कृष्ण भगवान् बनकर सामने आये। भरतसिह उपाध्याय का कहना है कि वे बाद मे बुद्ध के अनुकरण पर देवता बने। गीता मे प्राणियो को मुक्त करने का सकल्प है, पर स्वयम् उनके जीवन का वह आधार कहाँ है जो बुद्ध के जीवन से मिलता रहा है। सच्ची भक्ति मे मुक्ति का आश्वासन ऐतिहासिकता पर आधारित होना चाहिए। मुक्तिदाता भी ऐतिहासिक हो। महायान ने यही साधना भारतीय साधना को दी। राम भक्ति मे यह बात नही मिलती। कृष्ण और राम इन दोनो महापुरुषो का दैवीकरण किया ही इसलिए गया था; कि बुद्ध के अनुरूप भक्ति का आलबन श्रौतपरपरा के साधको को मिले। परन्तु उसमे उन्हे पूरी सफलता नही मिली।

राम अपने बाणो से सुबाहु, ताड़का और मारीच तथा रावण के मुक्तिदाता बने। वैसे रामनाम जपने से भवसागर सूख जाता है। ठीक है, पर स्वय राम के जीवन मे भवसागर को सुखाने का क्या आधार है ? राम और कृष्ण के जीवन मे अपने ही जीवन से मुक्ति का आश्वासन दिया जाय ऐसा ऐतिहासिक आधार उपलब्ध नही है। महायान के उपास्य देव के अनुकरण पर ही बाद मे यत्र तत्र प्रयास किया गया है ऐसा श्री भरतसिह उपाध्यायजी का विवेचन है। इसके कारण इस प्रयास मे बल नही बल्कि असगति है।

छठी शताब्दी ईसवी मे राम का एक रूप गढ डाला गया जो वाल्मीकि रामायण के राम से बिलकुल भिन्न था। परन्तु जिसमे राम के मुक्ति दाता राम के रूप के साथ सङ्गति थी। अध्यात्म साधको को भी आकर्षित करने की वह क्षमता रखता था। राम का यह रूप योगवासिष्ठ के राम का रूप है जहाँ राम किशोरा-वस्था से ही विरागी सिद्धार्थ का सा रूप धारण कर लेते है और ससार की समस्याओं पर विचार करते हुए पीछे पड जाते है।[1]

---

१. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिह उपाध्याय, पृ० ५६१।

आलोचना—

भरतसिंह उपाध्यायजी ने यह सिद्ध करने का वहुत प्रयास किया है कि वुद्ध के व्यक्तित्व ने ही कृष्ण और राम जैसे नामों के दैवीकरण करके बौद्ध महायान से भक्ति का सूत्र लेकर उसका अनुकरण किया। किन्तु इतिहास इससे विरुद्ध है। जिस वुद्ध के व्यक्तित्व की महत्ता उपाध्यायजी के अनुसार इतनी महान थी तथा जिसके चरित्र मे इतनी महान क्षमता थी कि उसके ही अपने काल मे उसकी पूजा या मूर्ति पूजा न होकर राम और कृष्ण की मूर्तियाँ पूजी गयी। राम और कृष्ण के व्यक्तित्व से परे वुद्ध को उपाध्यायजी सिद्ध करने की चेष्टा करते है यह बात इतिहास की दृष्टि से अनोखी जान पड़ती है। जिन कारणो से वुद्ध धर्म का उच्चाटन भारत से हुआ वे उतने ही प्रभावी होना जरूरी है। इसी बात की असमर्थता सामने वाले सामर्थ्यवान् को पराजित करने के सक्षम नही होती। अतः उपाध्यायजी का यह मत दुराग्रह जैसा लगता है।

काफी हद तक महायान भक्तिवाद भक्ति सम्वन्धी उन प्रवृत्तियों का विकास है जो हमें वुद्ध के मूल उपदेशो या स्थविरवाद से बौद्ध धर्म मे आ गया है। मुक्ति का आश्वासन एक ऐतिहासिक तथ्य पर आधारित होने से उसने महायान को प्रेरणा दी होगी यही कहना पड़ता है। यों भक्ति का विचार बौद्धों के पहले ही भारत मे जगा था; और हिन्दुओ में वह सर्वप्रथम जागा था, वाद मे बौद्धों में। राम और कृष्ण की उपास्य रूप मे भक्ति की परपरा ने ही महायान को प्रेरणा दी होगी, यही कहना पड़ता है। मध्ययुगीन वैष्णव साधना को अवश्य किसी न किसी रूप में महायान ने प्रभावित किया होगा।

महायान का शरणागति का महत्व गीता के भक्तिवाद का ही स्वरूप है। 'सद्धर्म-पुंडरीक' और 'गीता' मे अनेक समानताएँ है। वुद्ध के लिए प्रायः उन्ही विशेषणो का प्रयोग किया गया है जो कृष्ण के लिए गीता में। 'सद्धर्म पुडरीक' उनके लिए गीता का ऋणी है। हम डा० हरदयाल तथा उपाध्यायजी के मत से सहमत नही हो सकते कि उनका आविष्कार पहले बौद्धों ने किया और वाद मे वैष्णव नेताओं ने उसका उपयोग किया।

गीता और बौद्ध दर्शन—

गीता एक समग्र दर्शन है। इसमें सम्पूर्ण अविरोधी सत्य को दिखाने का प्रयत्न किया गया है। अनेक तात्विक चिन्ताओ का इसमे समाधान मिलता है। गीता एक कामधेनु है। सत ज्ञानेश्वर कहते हैं कि गीता-माता, ज्ञानी और अज्ञानी सतान मे कोई भेद नही करती। भगवान् कृष्ण की वाङ्मयी मूर्ति भी उसे कहा जा

सकता है। बौद्धों की परिभाषा मे गीता भगवान् कृष्ण का 'धर्मकार्य' है। मोक्ष रूपी प्रसाद गीता सबको बाँटने के लिए तैयार है। इससे कम तो वह किसी को देती ही नही और वह किसी को भी ना नही कहती। तथागत के प्रवेदित धर्म के समान गीता का आकलन भी अतर्क विचार है।[1] गीता तत्व अज्ञेय और अपरिमेय और इसी शरीर मे स्वसवेद्य है। स्वयम् गीताकार कृष्ण कहते है कि 'यह ज्ञान प्रत्यक्ष अनुभव मे आने योग्य अभ्यास करने मे सुगम और अविनाशी है। समत्व में पूर्णता प्राप्त मनुष्य योग्य काल आने पर स्वयम् अपने अन्दर इस ज्ञान के दर्शन करता है। विवस्वान मनु और इश्वाकू की परम्परा से प्राप्त यह ज्ञान नित्य नवीन है। इसका प्रभाव अतीन्द्रिय है और वह शब्दो की पकड मे नही आता। वस्तुतः गीता ज्ञान मार्ग का ग्रन्थ है। उपनिषदो के ज्ञान का ही उसमे गायन हुआ है। इसका अन्तिम प्रयोजन 'परम-निःश्रेयस' की प्राप्ति है और परम-निःश्रेयस' का लक्षण यह है कि वह सहेतुक ससार की आत्यतिक उपशान्ति ही है। यह प्राप्ति सर्वकर्म सन्यासपूर्वक आत्मनिष्ठा के धर्म से ही सभव है। महात्माजी गीता को श्रीकृष्ण के द्वारा अर्जुन को दिया गया बोध है ऐसा मानते है। निवृत्ति और प्रवृत्ति मे गीता कोई भेद नही करती। गीता के ज्ञान मे कर्म के साथ भक्ति का समन्वय है। कर्म पर उसका आग्रह इस चिन्ता को अभिव्यक्त करता है कि कही ज्ञान अक्रियावाद न हो जाय। गीता और बौद्ध साधना, भोगवाद और आत्मपीडा की अतियाँ स्वीकार नही करती। भगवान् कृष्ण श्रेय मार्ग का प्रतिपादन गीता मे इस प्रकार करते है[2]—

युक्तहार विहारस्य युक्तचेष्टस्यकर्मसु।
युक्त स्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःसहा ।।

जो मनुष्य आहार विहार मे दूसरे कार्यो मे सोने-जागने मे समानता रखता है, उसका योग दु खनाशक सिद्ध होता है।

गीता का भक्ति योग उसके दर्शन का मुख्य आश्वासन है। भगवान् की अनन्य भक्ति और भगवान् के द्वारा भक्त के योग क्षेम के भार को उठाने की प्रतिज्ञा गीता के दो बहुत बडे आश्वासन है। अनन्य भक्ति दुराचार को नष्ट करती है। भगवद् भक्त का कभी विनाश नही होता। भगवान् बुद्ध के 'आत्मदीप' और 'आत्मशरण' होने का उपदेश ही गीता दूसरे ढङ्ग से देती है। गीता के अनुसार मनुष्य आत्मा द्वारा आत्मा का उद्धार करे, उसकी अधोगति न होने दे। आत्मा ही

१. बौद्ध दर्शन और अन्य भारतीय दर्शन—भरतसिंह उपाध्याय, पृ० ७८८।
२. श्रीमद् भगवद्गीता—६-१७।

आत्मा का शत्रु और बंधु है। जो अपने बल से मन को जीत लेता है उसी का बधु आत्मा है। जिसने अपने आत्मवल से आत्मा को नही जीता वह अपने प्रति ही शत्रु का व्यवहार करता है। बुद्ध भी कहते है 'कर्म प्रति शरण बनो।' 'कर्म ही तुम्हारा अपना है।' इसमें भी गीता की ही ध्वनि निर्देशित हो जाती है। 'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्त प्रणश्यति।' अध्यात्मिक जीवन का इतना बड़ा आश्वासन अन्यत्र दुर्लभ है। एकान्तिक भक्ति का एकमात्र दर्शन गीता दर्शन है। भगवान् बुद्ध के विशुद्ध ज्ञान मार्ग मे भगवत कृपा जैसी कोई वस्तु सहायता के लिए नही आती। साधारण बौद्धानुयायी 'बुद्ध सरण गच्छामि' कहते है अत. कह सकते है कि महायान के भक्ति, धर्म, और गीता के भक्ति तत्व मे पारस्परिक आदानप्रदान पर्याप्त मात्रा मे हुआ और दोनो मे घनिष्ट सम्बन्ध भी है।

आलोचना—इससे यह सिद्ध होता है कि जो लोग गीता को बायबल से अनुप्राणित या बौद्ध धर्म प्रेरित मानते है, वे यह भूलते है कि गीता दर्शन की परपरा गीता में ही दी गयी है। अतः यह बाद मे नही जोडी गई। यह उसकी पुरातनता को सिद्ध करती है। जो लोग यह कहते है कि यह परपरा बाद की जोडी हुई है वे यह भूलते है कि इतिहास इसे गलत सिद्ध करता है। अतः उनका यह आक्षेप एकदम गलत और दुराग्रहपूर्ण जान पडता है। गीताकार का 'सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेक शरण व्रज' यह कथन बुद्धानुयायियो पर इतना प्रभाव छोडा गया कि 'बुद्ध सरणं गच्छामि' इस प्रकार की प्रतिज्ञा लेने के लिए उन्हे विवश हो जाना पडा।

सत्य और असत्य, चित् और अचित् से भरे हुए विवेकपूर्ण जीवन मे साक्षात्कार करना कितना कठिन है इसे वैष्णव सत भक्त तुलसीदासजी व्यक्त करते है[1]—

'जड़ चेतन हि ग्रांथी पड़ी गई। जदपि मृषा छूटत कठिनई॥

श्रेय को ग्रहण करने वाला सदा शुभ बातों को प्राप्त करता है, तथा प्रेय को ग्रहण करने वाले व्यक्ति को अपने पुरुपार्थ से भी वंचित हो जाना पड़ता है। श्रेय की खोज अध्यात्म-विद्या में प्रमुख रही है। गवेपणा हृदय और मस्तिष्क दोनो से की जाती है। गवेपणातत्व ही सत्य है। महाभारत के अनुसार 'सत्यानास्ति परोधर्म.' कहा गया है, तो तुकारामोक्ति है—'सत्या परता नाही धर्म। सत्य तेचि परब्रह्म। सत्यापाशी पुरुषोत्तम। सर्वकाळ तिष्ठत॥' इसका अभिप्राय है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नही और सत्य ही परब्रह्म है, तथा जहाँ सत्य की स्थिति है

१. श्रीरामचरितमानस–तुलसीदास।

वहाँ पर पुरुषोत्तम सर्वदा विद्यमान रहते हैं। तुलसीदासजी भी ऐमा ही कहते हैं— 'धरम न दुसर सत्य समाना। आगम निगम पुरान बखाना।' भारत की अध्यात्म साधना मे तपस्या को महत्व प्रदान किया जाता है। भारतीय जनजीवन मे जब-जब विपत्तियाँ आई है तब-तब तपस्या के बल पर ही आत्मविश्वास के साथ इन पर विजय प्राप्त की गयी है। प्राय भारत मे व्यक्ति रूप से और मामूहिक रूप से नव जागरण और नव्य भावनाओ का स्फुरण इसी तपस्या के अङ्ग से ही उपलब्ध हो सका है। मराठो के स्वराज्य की स्थापना इमी त्याग और तपस्या के बल पर की गयी थी। चैतन्य महाप्रभु के बारे मे यह प्रसिद्ध है कि वे मुखशुद्धि के लिए एक हर्र भी अपने पास न रखते थे। सभी वैष्णवो की प्रगति एवम् उन्नति, भारत का शिल्प, कला, विद्या, सगीत तथा सभी कुछ फिर चाहे अध्यात्मिक हो या आधि भौतिक सभी तपस्या से अनुप्राणित है। इस तपस्या तत्व की उपयोगिता बडे सशक्त स्वरो मे मध्ययुगीन वैष्णव भक्त कवियो ने प्रतिपादित की है। भक्त आत्मसाक्षात्कार का अभ्यासी होने से दु ख निरोध करता है। शीळ, सदाचार, ब्रह्मचर्य और तपस्या भक्त मे मूर्तिमान होती रही है। अपने जीवन मे दु खो का अनुभव करते हुए तथा उनसे प्रभावित हुए बिना उनको दूर करने मे प्रयत्नशील रहकर वे आत्माराम तपस्वी बने हैं। अतः भारत सदा ऐसे निष्कामी सतो पर सदा गर्व करता रहा है। ज्ञान भी बिना तपस्या के असभव है और बिना ज्ञान की तपस्या निष्फल है। तपस्या जीवन को सजीवनी और सौष्ठव प्रदान करती है। योग भी तपस्या से सफल होता है। इमीलिए गीता मे कहा गया है—

'युक्ताहारविहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु'[1]

अर्थात् आहार विहार मे युक्त रहना ही योग्य है। उसमे रत रहना या उमसे वचित रहना अयोग्य है। निरोध प्राणायामादि की साधनाएँ अयोग्य व्यक्तियो के हाथ मे पडकर भ्रष्ट और हानिकारक हो जाती हैं। इमकी साक्ष्य वज्रयान और सिद्धयान दे सकते हैं।

शकराचार्य ने इसीलिए अपने आश्रमानुसार विहितकर्म करना ही तप माना है और इसी से उन्होने बौद्ध धर्म के दोषो का निष्कासन किया और हिन्दू धर्म को विशुद्ध रूप देकर उसे परिष्कृत किया।

लोकधर्म की गरिमा रखने के हेतु वैष्णव सन्तो ने मन्त्रतन्त्रो के निकृष्ट प्रयोगो की निन्दा की। तुलसी ने कहा—'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग।' कबीर योग के अभ्यासी थे पर तपस्या की सराहना उन्होने भी की। उनका कथन है।

---

१. गीता, ६–१७।

साधो सहज समाधि भली।
गुरु प्रताप ते जा दिन उपजी दिन-दिन अधिक चली।
जहाँ-जहाँ डोलो सो परिकरमा। जो कछु करों सो सेवा।
जब सोवों तो करो दंडवत पूजो और न देवा।
आँख न मूंदो कान न रूंधो तन कण्ठ नहिं धारों।
खुले नैन पहिचानो हँसि-हँसि सुन्दर रूप निहारो॥[1]

तपस्या के दुर्ग पर चढना ऐसा दुर्गम है जैसे निराधार और फिसलाहट से युक्त पर्वतीय कगार पर चढना। आत्मविजय ही ब्रह्म विजय है। महात्मा गाँधीजी का इस विषय मे यह मत कितना समीचीन है—

'श्रद्धा और बुद्धि के क्षेत्र भिन्न-भिन्न है। श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान और आत्म ज्ञान की वृद्धि होती है इसलिए अन्तः शुद्धि होती है, परन्तु उसका अन्तः शुद्धि के साथ कार्यकारण जैसा कोई सम्वन्ध नही रहता। अत्यत बुद्धिशाली लोग अत्यत चरित्र भ्रष्ट भी पाये जाते है किन्तु श्रद्धा के साथ शून्यता का होना असभव है।'[2]

—महात्मा गाँधी।

इसी भक्ति युग ने कवीर जैसा निर्मम बुद्धिवादी उत्पन्न किया। भक्ति के कारण श्रद्धा तत्व की प्रधानता का पाया जाना इस युग की विशेषता थी। इतिहास इस बात को प्रमाणित करता है कि हम तभी उत्कर्पवान रहे जब श्रद्धा और बुद्धि का समन्वय किया गया। हमारा अध पतन तभी हुआ जब हमने बुद्धि का आश्रय छोड दिया। मध्ययुगीन भक्ति परम्परा में दक्षिण भारत मे वेदान्त भक्ति युक्त वैष्णव धर्म तथा वङ्गाल मे प्रेमोल्लासमयी रम निष्यदिनी वैष्णव धाराएँ उस समय चल रही थी। उत्तर भारत मे निर्गुण सन्तमत और सगुण भक्ति युक्त वैष्णव धर्म का प्रवाह वह रहा था। इन मे दार्शनिक कवि वनकर अपनी अनुभूति प्रधान वाते भक्ति की माधुरी के साथ अभिव्यजित कर रहा था। राम, कृष्ण और विठ्ठल, विष्णु के अवतार वनकर आराध्य देव वने। जो वेदान्तियो के निर्विशेष थे, वौद्धो के लिए सम्यक सम्बुद्धि से मौन होकर साध्य हो गये थे, उसे तानपूरे पर गाकर सार्वजनीन व सर्व-सुलभ वनाकर मीरा, कवीर, सूर, तुलसी, ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम, रामदास आदि ने अपनी वाणी से आश्वासन देते हुए प्रस्तुत किया। भारतीय विचार-साधना मे दो प्रकार का महत्व है। एक सगुण भक्ति तत्व जो श्रुति सम्मत-स्मृति प्रतिपादित था, तो दूसरा निर्गुण वादी और वौद्ध

१. कवीर ग्रंथावली।
२. आत्मकथा—महात्मागाँधी।

साधना की विरासत लेकर चल पडा था। प्रथम सगुण भक्त और दूसरे निर्गुण सत भक्त कहलाए। मध्य युग के वैष्णवो की भक्ति सगुण तथा निर्गुण और सगुण की राम-भक्ति और कृष्ण-भक्ति के रूप मे सामने आई है। एक के प्रतिनिधि तुलसीदास, एकनाथ और रामदास है, तो दूसरे के सूरदास, ज्ञानेश्वर, मीरा, नामदेव और तुकाराम है और निर्गुण के कबीर, नामदेव तथा अन्य सन्त है। बौद्ध धर्म का सीधा प्रभाव और श्रमण-सस्कृति मे जुडे हुए कबीर एकमात्र सन्त है। भारत का यह भक्ति-आन्दोलन उत्तर मे सगुण और निर्गुण की भक्ति का बाना पहनकर तथा दक्षिण मे वेदान्त से अनुप्राणित भक्ति ने सम्पन्न वैष्णव रूप लेकर तथा बङ्गाल मे प्रेम रूपा एवम् श्रेङ्गारिक रहस्यवाद इन तीन मुख्य स्वरूपो मे सामने आया। भक्ति दक्षिण मे उत्पन्न होकर पूर्व मे गई वहाँ से उत्तर भारत मे जाकर विकसित हुई। ठीक इसी तरह बौद्ध महायान का भी विकास हुआ। मध्ययुगीन भक्ति आन्दोलन श्रुति, स्मृति, पुराण, भागवत, गीता, हरिवंश, रामानुज, रामानन्द, वल्लभाचार्य, चैतन्य महाप्रभु आदि के दर्शन सिद्धान्तो और आचार्यो से अपनी परपरा जोडता है, तो इतिहास के पक्ष से उसे महायान की भक्तिशाखा मे भी जोड़ने का कार्य अनुचित नही माना जावेगा।

बौद्ध धर्म की भस्म पर मध्ययुगीन भक्ति का बीजारोपण होकर वह अकुरित, पुष्पित और फलित हुआ। सातवी और आठवी शताब्दियो मे जबकि पौराणिक धर्म का पुनर्गठन किया जा रहा था तथा वर्ण, धर्म और जाति भेद की नीव पुन दृढ की जा रही थी उस समय शैवो ने महायान के विरति विवेक तत्वों को आत्मसात कर लिया और महायान के मानवी और भक्ति तत्वो को वैष्णव साधको ने हृदयगम कर लिया। पुराणो के योगी शिव और ध्यानी बुद्ध मे साम्य है बल्कि कहना चाहिए कि नाममात्र भी अन्तर नही है। नेपाल मे यह समन्वयीकरण विशेष हुआ क्योकि कुछ मूर्तियाँ ऐसी है जिनको देखकर निर्णय नही कर सकते कि वे बुद्ध-मूर्तियाँ है या शिव-मूर्तियाँ। इसलिए बहुत से बौद्ध मठ और विहार आसानी से शैव मठो के अधीन हो गए। वही उपासक और वही उपास्य इस नाते बोध गया का मन्दिर शैवो के हाथो मे चला गया। बारहवी शताब्दी के जयदेव ने पुराणो के आधार पर भगवान् बुद्ध की विष्णु के आठवे अवतार के रूप मे स्तुति की है। तुलसीदासजी ने उनको इसी रूप मे लिया है। अन्य वैष्णव कवि भी इसी रूप मे मानते है। मध्ययुगीन भक्ति-साधना मे उसका पूरा रूपान्तर हो गया। चीनी यात्री फाहियान ने जगन्नाथ-बलराम-सुभद्रा की रथ यात्रा देखी थी जो बुद्धयात्रा का वैष्णव रूपान्तर ही था।

मायावाद और अवतारवाद के सिद्धात प्रथम बौद्ध साधना मे प्रकट हुए है।

तथागत स्वयम् निस्वभाव, निर्गुण और धर्मात्मा स्वरूप है। लोककल्याणार्थ माया निर्मित रूप को गौतमबुद्ध आदि अनेक बोधिसत्वो के रूप मे ग्रहण करते हैं। जिस प्रकार तुलसी के राम आज अनादि सच्चिदानद, अनाम, परमधामा, अखण्ड और अनन्त है उसी प्रकार वे दाशरथी राम कौसल्या की गोद मे खेलने वाले भी है और लोकपालक और रावण के सहारक भी है। कबीर के राम, 'दशरथसुत तिहुँ लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना', है। महायान मे तथागत को वैसा ही समझा गया। बुद्ध महायानियो के लिए बुद्ध धर्म–शून्य, तथागतस्वरूप और नि:स्वभाव है। इस तरह भक्ति की सगुण और निर्गुण दोनो कल्पनाएँ अपने समन्वय के साथ तथागत के व्यक्तित्व मे आ गई थी। राम और कृष्ण के अवतार वाद को लेकर मध्ययुगीन वैष्णव धारा मे यह समन्वय को लेकर विकसित और समृद्ध हुई। वैष्णव साधना मे महायानी साधना इस प्रकार रूपान्तरित हुई। डा० जदुनाथ सरकार बताते है कि मध्ययुग के एक उडिया कवि ने 'दारु ब्रह्म' नामक कविता मे जगन्नाथ भगवान् की बुद्ध रूप मे स्तुति की है, जिसमे जगन्नाथ से कहलवाया है कि 'मैं बुद्धावतार हूँ, मै कलियुग के जीवो का उद्धार करूँगा।'

तात्रिक धर्म के माध्यम से भी बौद्ध धर्म ने हिन्दू धर्म के भीतर अपने लिए एक स्थान कर लिया। यह कार्य विशेपत: पूर्वी बङ्गाल तथा आसाम मे विशेष रूप से सम्पन्न हुआ। वैष्णव साधना ने बौद्ध धर्म की ह्रासावस्था की दशाओ के मन्त्र-तत्रादि के प्रभावो को किस प्रकार ग्रहण किया यह देख लेना भी उपयुक्त होगा।

वाम मार्ग की प्रवृत्तियाँ तात्रिक साधना ने अपना ली थी। इनको बौद्धो ने अपना लिया था। इसके कारण बौद्ध परम्परा खोखली हो गई। तात्रिक अद्भुत प्रतीको का प्रयोग करते थे तथा बडे योगी होने का भी दावा करते थे। बौद्धो पर इनका विशेप प्रभाव पडने से परस्पर आदान-प्रदान भी हुआ। नेपाल तथा बङ्गाल मे शैवो और शाक्तो से बौद्धो ने ये साधनाएँ ली। तात्विक रूप से इनमे और बुद्ध की शिक्षाओ मे कोई समन्वय न था। स्वयम् बौद्ध धर्म मे हठयोग, मन्त्रयोग आदि को प्रोत्साहन न था। पर चौरासी सिद्धो के प्रभाव से बौद्धो पर भी इसका असर हुआ। स्व० महापडित राहुल साकृत्यायन अपनी पुरातत्व निबन्धावली मे विवेचन करते है कि बौद्धो के लिए यह काल उनके दुर्दिनो का सूचक था। भैरव[1] भवानी या बुद्ध-तारा की उपासना करके तात्रिक पृष्ठभूमि को इस साधना ने स्वीकार कर लिया। इसी माध्यम से अपने अतिम भग्न-तात्रिक रूप से वह नाथपथ निर्गुणी

१. पुरातत्व निबंधावली—स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन।

तथा सहजयान वैष्णवी साधना पर अपना अमिट प्रभाव और छाप छोड गया है; इसे स्वीकार करना ही पडेगा । इस बौद्ध तान्त्रिक धर्म की तारा तथा शैवी शक्ति मे कोई भेद नही है । इसने आसाम तथा वङ्गाल मे अपना सम्पूर्ण प्रभाव वैष्णव-भक्ति-आन्दोलन पर छोडा है । निर्गुणवादी सन्तो पर उत्तर कालीन बौद्ध साधना ने अपना प्रभाव अधिक छोडा है । डा० हरप्रसाद शास्त्री की गवेषणाएँ और निष्कर्ष निर्गुण सम्प्रदाय की सन्त साधना के उद्‌गम सम्बन्धी सिद्धातो पर प्रकाश डालने वाली है । मत्स्येन्द्रनाथ नाथसप्रदाय के सस्थापक थे और गोरखनाथ के गुरु । लामा तारानाथ का यह कथन है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद मे शैव । जो कुछ भी हो इतना तो कहा जा सकता है कि अपनी उपासना पद्धति मे वे भग्न बौद्ध धर्म का प्रभाव लिए हुए हैं । कबीर नाथ पथियो के विरुद्ध है पर अपनी हठयोग की भाषा के प्रयोग के लिए वे इनके ऋणी माने जायेगे । वे उस बौद्ध तान्त्रिक साधना के भी ऋणी है, जिसका उन्हे स्वयम् पता नही था । वङ्गाल के सहजिया, न्यारा, बाऊल-सम्प्रदाय आदि सभी वैष्णव सप्रदाय उत्तरकालीन बौद्ध सप्रदाय से प्रभावित है । चैतन्य महाप्रभु ने अपनी दक्षिण यात्रा के समय सन् १५५१ मे एक बौद्ध नैयायिक को परास्त किया था । महायान का अवशेष समूचे वैष्णव भक्ति-आन्दोलन मे छिपा पडा है । बौद्ध साधना ने अपनी विरासत सत साधना के लिए छोड दी थी, जिसे एक मात्र कबीर ने प्रतिनिधिक रूप से ग्रहण किया । कबीर का व्यक्तित्व बडा अक्खड बेपरवाही से युक्त, मस्त मौलापन से भरा हुआ, जीवन की कठोर अनुपासनात्मकता से परिपूर्ण था । उनके स्वभाव मे ये विशेषताएँ अपने ढङ्ग की मिलती हैं जो किसी बौद्ध भिक्षु के स्वभाव मे नही हो सकती । वज्रयानी चौरासी सिद्धो के साथ वे तुलनीय हो सकते हैं । वे सरहपा के समान खरी बात कहने वाले, जातिवाद पर कठोर प्रहार करने वाले है । ढेण्डणपाद के व्यक्तित्व और शैली मे वे अपनी उलट बासियो मे कहते है । कबीर मे कुछ बाते ज्ञानेश्वर की है तो कुछ प्रल्हाद की, कुछ बुद्ध तो कुछ स्वामी दयानन्द की । बुद्ध कहते है, 'य मया साम दिठ्ठ तदह वदामि' अर्थात्' जो मैने देखा, उसे मैं कहता हू ।' कबीर का भी निवेदन है कि, 'सो ज्ञानी जो आप विचारे', और 'मै कहता आँखिन की देखी ।' स्पष्ट है कि अनुभूति साम्यता दोनो की एकसी है । सचमुच कबीर की साधना विलक्षण थी । वे ज्ञानी भी है और भक्त भी । अत्यन्त विनम्रता के साथ वे हरिजननी के बालक है ऐसा एक बार कहते हैं, तो दूसरी बार वे बेहद के मैदान मे सोते है, और अनहदनाद सुनने वाले योगियो के साथ रहकर प्रेमोपासक सूफी कवियो का भी साथ देते है । राम और अल्लाह की एकता दिखा-कर भी जहाँ अल्लाह राम की गम नही वहाँ कबीर घर बसाने की बात कहते है ।

तुलसीदास तो परम कारुणिक थे, सब जगत् को सियाराम मय जानकर प्रणाम करते थे, परन्तु समाज व्यवस्था की दृष्टि से सामाजिक नीति मर्यादा का उल्लंघन उन्हे स्वीकार न था। लोकमत व श्रुति सम्मत मर्यादा मार्ग ही उन्हे अभिप्रेत था। वे कहते है—'पूजिय विप्र सकल गुणहीना। नाहिं शूद्र गुण गणहिं प्रवीना।'[1]

सहजयानी सिद्धो की मान्यताओ मे गुरु पर और विश्वास पर जोर दिया जाता था। गुरु भगवान् से भी श्रेष्ठ माना गया है। कवीर इसी तत्व के मानने वाले है। सत्गुरु का महत्व वज्रयानी सिद्धो और नाथपथी साधुओ मे समान रूप से व्यवहृत होता था। कवीर भगवान् के सर्वोत्तम नाम को 'संतनाम' या सत्तनाम' कहते है। पाली मे यही 'सच्चनाम' है। कवीर के 'सुरति' 'निरति' शब्दो की आचार्य क्षितिमोहंन सेन तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा अन्य संत मत के समीक्षको ने अनेक व्याख्याये दी है। उपाध्यायजी के मत से 'सुरति' शब्द वौद्धों की 'स्मृति' तथा 'निरति' वास्तव मे विरति है। कवीर की उलट वासियाँ सहजयानी वौद्धो की उलटवासियो से मेल खाती है। सहजयान के सहज मत को परिष्कार के साथ कवीर ने व्यक्त किया। 'साधो सहज समाधि भली।', 'सहज-सहज सव कोई कहे। सहज न वुझे कोई। सहजै जिन विषया तजी सहज कही जै सोई।'[2] 'शून्य' शब्द का भी कवीर ने वहुत प्रयोग किया है। शून्य मे समाधि लगाना, सहस्रार चक्र को शून्य चक्र से तथा अलख निरजन और शून्य तत्व को भी उन्होने मिला दिया है। इसी तरह हठयोग के वर्णन मे चन्द्र, यमुना, गङ्गा, सूर्य, सरस्वती की स्थापना भी उन्होने की है। यह सव भाषा और हठयोगी विचार वौद्ध योगियों से उन्होने लिये है। अपने रहस्यवादी प्रतीक भी पूर्ववर्ती वौद्धो एवम् सिद्धो से लिये है।

उत्तर भारत की सगुण-स्वरूपा-भक्ति व पूर्वी भारत की प्रेमरूपा-भक्ति तथा महाराष्ट्र सन्तो की साधना को देखने पर यह वाते सामने आती है। तुलसी तो 'श्रुति सम्मत हरि भगतिपथ, साधन विरति विवेक' को अर्थात् साधुमत और सत मत दोनों को अवकाश प्रदान करते है। श्रमण धर्म का अनुवाद साधु मत है और विरति विवेक वुद्ध धर्म के भी सदेश हे। तुलसीदासजी की भक्ति का अधिष्ठान नैतिक था। वुद्ध साधना भी इसे मानती है। तुलसीदासजी जैसे वेद भक्त कवि, देवताओ की पर्याप्त रूप से निंदा करते है, तथा इन्द्र को ईर्ष्यालू वताते है। देवता

---

१. रामचरित मानस—तुलसीदास।

२. कवीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दरदास, पृ० ७१।

दुदुंभी वजाना पुष्पवृष्टि करना आदि कार्य किया करते हैं। अप्रत्यक्ष रूप से इसे बुद्ध का अदृश्य प्रभाव कहा जा सकता है। महाराष्ट्र के भक्त कवियो ने कृष्ण के माधुर्य-मय जीवन को लेकर भी समाज-नीति का बहुत ध्यान रखा है। उनके वर्णन एकान्तिक साधना मे इतने दूर चले गये हैं जितने सूर के या अन्य कृष्णोपासक कवियो के। भक्ति का राग अन्ततः एक ही राग है। सूरदास ने अन्त समय कहा था 'खजन नैन रूपरस माते।' बौद्ध उपासक इस तरह नही कहेगा। भक्ति मे निश्चित रूप से आसक्ति को स्थान है। बौद्ध-साधना अनासक्तिवाद से युक्त है। भक्त बनकर हम कृष्ण या राम के चरणो मे रसमत्त हो सकते हैं। इस प्रकार बुद्ध के नही हो सकते। प्रपत्ति का तत्त्व अर्थात् शरणागति का तत्त्व भक्ति के क्षेत्र मे प्रधान रूप से होने के कारण वह आश्वासन युक्त जान पड़ता है। बौद्धमार्ग प्रतिपद पर जोर देता है। शरणागति मे आत्मविस्मृति और अपने उपास्य के प्रति प्रगाढ़ अनन्यतम निष्ठा अनिवार्य सी है। वैष्णव दर्शन की प्रपत्ति यही है। दक्षिण के वेदाती भक्त, वंगीय प्रेमा भक्ति मे डूबे हुए साधक, उत्तर भारत के निर्गुण मे समाधि लगाने वाले सत, रामचरण रस मत्त सगुणोपासक भक्त और वात्सल्य एवम् सख्यभक्ति के आवेग से सरस और माधुर्यमय कृष्ण के रसमय और सौन्दर्यमय सगुण की उपासना करने वाले सूर आदि सभी अनन्य भाव से प्रभु की भक्ति का उपदेश देते है। इन सबका प्रतिनिधित्व तुलसीदास मानों करते हुए कह रहे हैं—

'विष पीयूष हम करहु अगिनी हिम तारि सकहु बिन बेरे।
तुम सम और दयालु कृपानिधि पुनिन पाई हों हेरे॥'[1]

भगवान् की कृपा के बिना भक्त का दूसरा कोई सहारा नही है। कृष्ण अपने अनन्य भक्त को आश्वासित करते हैं कि, 'अह त्वाम् सर्व पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुच।' और 'तेपाम् अहम् समुद्धर्ता मृत्यु ससार सागरात्' ऐसा उद्घोष कर उसके साहस को बढाते है। बुद्ध पुरुषार्थ को प्रश्रय देते हैं। वहाँ आश्वासन नही है। 'प्रवृज्या लेकर वे बतलाते है कि यह धर्म सुआख्यात है, दुःख का क्षय करने के लिये ब्रह्मचर्य का आचरण करो।'

दक्षिण की भक्ति परम्परा मे प्रतिपद अर्थात् आचार मार्ग और प्रपत्ति अर्थात् शरणागति को लेकर वैष्णवो के दो भाग हो गये। तुलसी मे प्रपत्ति और आचार मार्ग का समन्वयात्मक सतुलन दिखाई पड़ता है। वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग मे प्रपत्ति पर विशेप जोर है। तुलसीदासजी को रामचरण मे रसमग्न रहना ही भाता है। उनको मुक्ति भी स्वीकार नही। उनका कहना है—

१. तुलसीदास–विनय पत्रिका, पद संख्या १८७, पृष्ठ संख्या २७६।

धरम न अरथ न काम रुचि पद न चहहुँ निर्वान ।
जनम-जनम रति रामपद यह वरदान न आन ॥[1]

तुकाराम का भी यही मत है। वे मोक्ष और योग को पैरतले पडी हुई चीजे समझते हैं क्योकि उन्हे वह आनन्द प्राप्त हुआ था जिससे परम और कुछ नही। वैष्णव भक्तों ने तत्व मीमासा पर जैसे ध्यान नही दिया उसी तरह प्रमाण मीमासा की भी उन्होने कोई चिन्ता नही की। वेद प्रामाण्य को सभी ने स्वीकार किया है। रामदास और तुलसीदास वेद श्रुति सम्मत हरि भगतिपथ अपनाते है। इसी स्वर में जायसी भी गाते है—

'वेद पन्थ नहिं चलहि ते भूलहि बन मांझ। और
वेद वचन मुख सांच जो कहा। सो जुग-जुग अहिथिर होई रहा।'[2]

बगीय वैष्णव भक्त और आगे बढ गये। वेद को ही प्रमाण न मानकर श्रीमद् भागवत पुराण को सर्वशास्त्र चक्रवर्तित्व का स्वरूप भी प्रदान कर दिया। 'भक्ति-सदर्भ' मे 'मदीय लीला शून्य वैदिक मपि वाच नाभ्य सेत।' भागवत से भक्ति की उपलब्धि होती है। इसलिए वे कहते है, 'वेदेर निगुढ अर्थ बूझते ना जाय। पुराण वाक्य सेई अर्थ कर ये निश्चय।' शब्द प्रमाण की सीमा को बढाना है। तर्कवाद के विरुद्ध प्रतिक्रिया के रूप मे उनका यह कथन—'तर्क शास्त्रे जड आमिये छे लोहदण्ड। आमि द्रवाइले तुमि प्रताप प्रचण्ड।' दक्षिण की भक्ति भावना जो वेदान्त की भावना से गभीर रूप मे निहित है। इस विषय मे बड़ी सयत है। उग्र रूप तो कवीर मे मिलता है—'साधु सती और सूरमा इन पटतर कोऊनाही।' वुद्ध की तरह अदम्य वीर्य कवीर मे मिलता है। वे अपने को सूरमा कहते है।[3] 'सूरघमसान है पलक दो चार का सती घमसान फलक एक आगे। साध सग्राम है रैन दिन जूझना देह पर्यन्त का काम भाई।'

वङ्गाल का वैष्णव धर्म श्रृङ्गारिक-रहस्यवादपूर्ण था। इमसे वह नैतिक तत्वो की कुछ अवहेलना करता रहा। अर्थात् प्रधान रूप से इसको उसने महत्व नही दिया। अन्य भक्ति-संप्रदायो ने भक्ति-तत्वो के साथ नीति-तत्व को स्पष्टतया अपनी साधना मे स्थान दिया है। वाह्य कर्मकाण्ड का प्राय. सर्वत्र अभाव है। मध्ययुगीन वातावरण भक्ति के रस से सरावोर हो रहा था। वैष्णव साधना कही साखी, कही सवदी, कही मङ्गल-मुददैनी-रामकथा सुनाकर, कही प्रभु की ल्हादिनी

---

१. रामचरित मानस—तुलसीदास।
२. पद्मावत—जायसी।
३. कबीर।

शक्ति के साक्षात्कार से तो कही अंत काल मे 'राम तुम को भवजाल से छुडायेगे', ऐसा आश्वासन देकर निर्बलो मे चारित्र्य गुणो को सचारित करने का अद्भुत सामर्थ्य प्रदर्शित किया है। इस मार्ग पर चलने वाले अपने भवबन्ध को काटते है। अपने लिये वे यही पर अमृत परोसा हुआ देखते है। 'राम जपत भवसिंधु सुखाहि।' और 'रामचरित जे सुनत अघाहि रसविशेष जाना तेहि नाहि।' ये उक्तियाँ यही सिद्ध करती है कि भक्ति की साधना मे अपरिमित आश्वासन है। कलियुग मे ज्ञान, और वैराग्य की साधना नही हो सकती। भक्ति, पथ, ज्ञान, वैराग्य तथा वैदिक ज्ञान को मिथ्या नही कहती। 'जाकी प्रीति प्रतीति जहाँ तहँ ताको काज सरो।' यह कहकर और 'सो सब भाँति खरो' ऐसी मान्यता देकर इन भक्तो ने समन्वय मार्ग अपनाया है। वैष्णव साधक जब 'कबहुँक हौ यह रहनि रहोगो' की भावना से युक्त हो जाता है तो प्रपत्ति और प्रतिपद अर्थात् आचार मार्ग मिल जाता है।

पशुहिसा जब वेदो के नाम पर होने लगी तब इनके विरोध मे जैन व बौद्ध सप्रदाय अहिसा प्रधान मतो को लेकर सामने आगये। जैन-साधना मे योग को महत्वपूर्ण माना गया है। जैन धर्म आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करता है। बौद्ध धर्म दु:खो का मूल इच्छा को समझता है। अतः इनको ही नष्ट करना चाहिए यही उसका निवेदन है। ज्ञान आचार की शुद्धता और योग को बौद्ध धर्म मानता है पर आत्मा को नही मानने से केवल सदाचार की बाते करना दार्शनिक दृष्टि से आधारहीन जान पडता है। जैन धर्मावलबियो ने ग्रीको के प्रभाव मे आकर तीर्थकरो की नग्न मूर्तियाँ पूजना शुरू किया। बौद्ध मूर्तियाँ भी पूजी गयी। वैदिक धर्मावलम्बियो ने रामायण महाभारत के नवीन सस्करण तैयार किये। चौबीस अवतारो की प्रतिष्ठा की गई। उनकी मूर्तिया बनी। नवीन सस्करणो मे शबूकवध, तुलाधार वैश्य, धर्म व्याध की कथाओ को जोडकर वर्णो के कर्तव्य कर्म पर बल दिया गया। बौद्धो की अहिसा, परोपकार, करुणा, शील आदि लोक कल्याणकारी भावनाओ को यज्ञ प्रधान ब्राह्मण धर्म मे नवीन रूप से सम्मिलित कर लिया गया।

वैष्णवी साधना मे सूफी रहस्यवाद से भी बहुत सी बाते स्वत: आ गयी है या अन्य पद्धति से भी ग्रहण की गई है। हम यहाँ पर उन्हे समझने का प्रयत्न करेगे।

रहस्यवाद क्या है ?

परमात्मा सम्बन्धी रहस्यो और ज्ञान का पता हो जाने पर उसे एक विशिष्ट साधना से और अनुभूति से रहस्यवादी प्राप्त करता है। आमतौर पर सर्व साधारण इस ज्ञान को या इस अनुभूति को नही उपलब्ध कर सकते। इसका ज्ञान और

अनुभूति अपने तक ही सीमित रखकर मौन रहकर ही उसे रहस्यवादी समझता है। रहस्यवादी अनुभूति गूगे की शर्करा ही है। जिसके द्वारा मनुष्य विश्व एवम् ब्रह्माण्ड को सम्पूर्ण और अखंडित समझता है। इस अनुभूति पर कुछ विशिष्ट व्यक्तियो का ही एकान्त अधिकार है ऐसा समझना भ्रामक है, ऐसा कुछ लोग कहते है। आज के व्याख्याकार रहस्यवाद को आतरिक सामंजस्य स्थापित करने की कला मानते हैं।[1]

सेलवी के मतानुसार रहस्यवाद उस धर्म का नाम है जिसमे अन्तिम सत्य या ईश्वर के साथ तादात्म्य तथा उसका उत्कट साक्षात्कार निहित है।[2] रहस्यवाद का दैवी सिद्धात तर्कानुमानाश्रित होने की अपेक्षा भीतरी आत्मप्रेरणा और साक्षात्कार पर निर्भर है। इसीलिए रहस्यवाद उन लोगो के लिए है, जो साक्षात्कार, दैवी दृश्य आदि वातो पर दुगुना विश्वास करते है। प्राय सभी धर्मो मे जो रहस्यवाद पाया जाता है वह व्यक्तिगत अनुभूति पर आधारित है। रहस्यवाद के किसी भी शाखा मे जो प्रारभिक वाते है उनमे अव्यक्त की अपरोक्षानुभूति प्रथम वात है। अतीन्द्रिय दृष्टि सस्कार या तप से सप्राप्त होती है। इसी शक्ति की सहायता से रहस्यवादी उन चीजो को देख सकता है जिन्हे सर्व साधारण नही देख पाते। किसी अभिजात कलाकार या कवि मे जो अतीन्द्रिय दृष्टि होती है वही रहस्यवादी मे परमात्मा के साक्षात्कार के लिए समझनी चाहिए। रहस्यवादी प्रवृत्ति साधारण जीवन के स्वार्थपरक और साधारण प्रसङ्गो से अपना लक्ष्य हटा लेना है और इसी लक्ष्य को किसी एक वस्तु पर केन्द्रित करना है। यही चिंतन कहलाता है। इस अवस्था मे विचार या मनन नही होता। ईसी का मतलब है अन्तर्दृष्टि से देखना। यह एक प्रकार की ध्यान-धारणा ही है जिसमे मन अतीव सवेदनाक्षम वन जाता है। इसमे कई वार एक प्रकार की समोहनावस्था भी आ जाती है। इसे हम आत्म-समोहन भी कह सकते है। इसके नित्य अभ्यास से मन की प्रवृत्ति मे उस प्रकाश एवम् ईश्वरी सत्ता की कृपा पर श्रद्धा उत्पन्न हो जाती है। रहस्यवादियो की यह सबसे ऊँची अवस्था मानी जाती है। ऐसे भी उदाहरण देखे गये है जिनमे रहस्यवादी समाधि एवम् उन्मनी में मस्त हो जाते है। यह सब रहस्यवादी अनुभूतियाँ आत्मिक प्रकार की है। यद्यपि उनमे विश्वसनीयता एवम् सत्यता है। कोई भारतीय दार्शनिक ब्रह्म का साक्षात्कार जब करता है, या कोई सूफी अल्लाह का साक्षात्कार जब कर लेता है तब उस परमतत्व के साथ की गई वातचीत और अनुभव उसी कोटि का समझना पड़ेगा।

---

१. थ्योअरी अॅन्ड आॅर्ट आॅफ मिस्टिसीज्म, पृ० ६—राधाकमल मुकर्जी।
२. सायकालाजी आॅफ रीलीजन—सेलबी—पृ० २४७–२६५।

रहस्यवादी अस्मितायुक्त होकर सतर्क जानकारी सहित जो कार्य करता है वह दो प्रकार का होता है। (१) आत्मा सम्पूर्ण रूप से अपने अस्तित्व मे आ जाती है ओर (२) हमारी साधारण शक्तियो से अधिक तेजस्वी शक्तियाँ कार्य करती हुई दिखाई देती है। हमारी सतर्क जानकारी एक आध्यात्मिक वातावरण का विस्तृत केन्द्र बन जाती है, जो सदा हमारे साथ बनी रहती है। इसे हम पूर्णतया वस्तुतः व्यक्तिगत अनुभूति ही कह सकते है। बाह्य रूप से इसकी कोई अधिकृत सूचना या विश्वास दिला सकने वाली प्रमाण की बाते उपलब्ध नहीं हो सकती।

यो रहस्यवादी जीवन की प्रमुख तीन अवस्थाएं मिलती हे—(१) अन्तः-शोधन या निषेध के माध्यम से प्राप्त होने वाली दशा या अवस्था। (२) आत्मा के प्रकाश की अवस्था, (३) तादात्म्य या साक्षात्कार की अवस्था।

'अडरहिल' के अनुसार रहस्यवाद सत्य के साथ साक्षात्कार है।[1] सत्य के साथ साक्षात्कार करने वाला मानव कम या अधिक मात्रा मे उसके साथ साक्षात्कार किया करता है। इसमे अपरोक्ष का परोक्ष के साथ अनुभूत्यात्मक सम्बन्ध की स्थापना हो जाती है। इसमे उसकी निजी अनुभूति उसे सत्य के साथ स्वसवेदन कराती है। इससे ईश्वर के अस्तित्व और उसकी उपस्थिति की निश्चिति उसे हो जाती है। वैसे ईश्वर का ज्ञान धार्मिक दर्शनशास्त्र से हो जाता है, परन्तु ईश्वर के साथ मानव का प्रेम का सम्बन्ध हो जाना उसके रहस्यवादी साक्षात्कार को बतलाता है और वह उसकी आत्मा का परमात्मा मे लय-योग सिद्ध करता है। इसका लक्ष्य और परिणाम यह होता है कि उसकी ससीम अच्छाइयाँ असीम हो जाती है और वह उसके साथ एकाकार हो जाता है।

आत्मा की जागृति या आत्म सुधार का सर्व साधारण स्वरूप इस प्रकार का माना गया है। यह सम्पूर्ण विस्तृत जगत और उसका जागृत स्वसवेदन व्यक्ति की अपनी अस्मिता को दबाता है। बहुधा वह अचानक छूट जाती है और सत्य के साथ उसका साक्षात्कार हो जाता है। परिणामत. नये तत्व उसके सामने आने लगते है। किसी को भी दैवी प्रकाश तब तक नही प्राप्त हो सकता जब तक प्रथम उसकी अन्त शुद्धि, अपरिग्रह, पवित्रता, आज्ञाधारकत्व एवम् आत्म-सयमन उसे प्राप्त न हो जाय।

अन्त शुद्धि की अवस्था आत्म प्रकाश की ओर ले जाने वाली ऐसी स्थिति है जिसमे सतर्क जानकारी तीव्रतर होकर इतनी तेज हो जाती है कि प्रत्यक्ष चिन्तन चिरतन और अज्ञात के बारे मे होने लगता है। दैनदिन जीवन मे अत्यत गहरे तथा तीव्रतम और शीघ्र उत्पन्न होने वाली सवेदनशील क्रियाएँ उत्पन्न होने लगती है

१. मिस्टीसीज़्म—एलविन अण्डर हिल–पृ० २२।

क्योकि, सर्वशक्तिमान् का आनंदयुक्त प्रभाव उस पर छाया हुआ रहता है। ईश्वर की उपस्थिति से प्रार्थना, उपोपण, ध्यान और अन्य धार्मिक क्रियाओ से आत्मिक शक्तियाँ वढाई जा सकती हैं। ऐसा कहा जाता है कि इससे अन्त.करण मे स्थित भगवान् स्वसवेद्य हो जाते हैं। परमेश्वर का अन्तदर्शन एक सचाई की चीज है यह वात सभी रहस्यवादी स्वीकार करते है। ईश्वर के विरह से उत्पन्न होने वाली वेचैनी, चिन्ता, वेदना साधक को दैनदिन जीवन के अभावों तथा दु.खों की तरह कष्टदायक हो जाती है। शरीरज सुखो की निवृत्ति से रहस्यवादी को उसकी मानसी और आत्मिक प्रवृत्ति उच्च स्तर पर ले जाकर परमात्मा की ओर अग्रसर एवम् केन्द्रित कर देती है। इस कार्य मे अनिवार्यत. सद् का असद् प्रवृत्ति से द्वद्व होता है--सघर्प होता है। परिणामत. अतीव वेदना और परम दुःख भी होता है।

साक्षात्कार अर्थात् आत्मा का परमात्मा से तादात्म्य और उसकी भावनात्मक अंतर्दृष्टि ही इस ऐक्य का मूल कारण है। साधक के हृदय की आँखे खुलकर परमात्मा मे विश्राम करती है। इस अवस्था के तीव्र और साधारण दोनो रूप होते हैं। इसके पहले कोई विद्वान एक और अवस्था मानते है जिसे आत्मा की 'अधकारपूर्ण-रात्रि' कहा जाता है। इसके वाद जागृति होती है जिसका वर्णन हम ऊपर कर आये हैं। तादात्म्य अवस्था तो एक तरफ रहती ही है तो दूसरी तरफ आत्मा का परमात्मा से 'आध्यात्मिक-विवाह' भी होता है। यह अनुभूति प्रतीको के सहारे अभिव्यक्त की जाती है। आध्यात्मिक विवाह का वर्णन करने वाली भापा भी चित्रोपम होती है और विचित्र रूप से घोर शृङ्गारी भी। देखने और श्रवण करने की अतीन्द्रिय शक्तियो का उत्पन्न होना, भावना की गहरी दशा मे जाना, वाह्य सवेदनशीलता का त्याग आदि प्राय· रहस्यवादी की प्रवृत्तियाँ वतलाई गई है। इनसे उसका चरित्र दृढ़ तथा नैतिक शक्ति वढकर अध्यात्म-प्रवण वनने में सहायक हो जाती हैं।

किसी व्यक्ति के चेहरे मे दैवी सौन्दर्य का आविष्कार होने के लिए जिन वातो की आवश्यकता है उनमे से एक 'दीक्षा' है। इस दीक्षा मे मत्र एवम् तत्र का मौखिक एवम् वैचारिक प्रभाव होता है जिसमे सौन्दर्य का मधुर भाव वढकर एक तीव्र सवेदना मे परिणत हो जाता है और उनके महान आनन्द से शक्तिपात होकर रौद्रस्वरूप के दर्शन दे देता है। इस दीक्षा के अवसर पर सारा जगत् किसी नये चैतन्य मे व्याप्त दिखाई पडता है। सत्य-सवेदन के अनिरुद्ध प्रवाह से परे है, जिसमे सारी सवेदना लिपटी दिखाई देती है। इस अवस्था मे साधक के कानो में वह परतत्त्व गूज उठता है कि 'तूने मुझे पा लिया है।'[1] रहस्यवाद का यही प्रथम

१. मिस्टीसीज्म—एलविन अण्डरहिल–पृ० २३।

सिद्धान्त है। हम सत्य की खोज करते हैं पर हम ससीम है। खोजने की तत्परता भी स्वयमेव एक मजिल है। मत्यान्वेपण करने वाले यात्री उसको देखते है और हमे उसके बारे मे निवेदन करते है। अध्यात्मिक जगत् से उन्हे सदेश प्राप्त हो जाते है। यह सदेश अनन्त के जीवन का प्रेम का और पारमार्थिक सत्य का होता है। रहस्यवाद सत्य का अन्वेषण करता है। रहस्यवादी केवल अनन्तसत्ता के अस्तित्व को ही सिद्ध नही करता अपितु उसे जानने की संभावना के साथ उसे प्राप्त करने वाले साधन सहित हमे सबद्ध कर देता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक सत डा० रामभाऊ रानडेजी के मतानुसार रहस्यवाद का विवेचन इस प्रकार है[1]—

इन्द्रियातीत, प्रत्यक्ष एवम् तात्कालिक अनुभूति ही ईश्वर-साक्षात्कार है। रहस्यवाद का अर्थ परमेश्वरी साक्षात्कार है। सामान्यत 'अज्ञेय गूढ तथा अद्भुत एवम् गुप्त बातो से उत्पन्न होने वाली अनुभूतियाँ', यह अर्थ इसका कदापि नही है। भक्ति युक्त शान्त अन्त करण से मानवी मन की उच्चतम सपादन की हुई श्रेष्ठ अवस्था जिसमे ईश्वरीय ध्यान सपन्न हो जाता है वही साक्षात्कार है। स्तब्धता के साथ ईश्वर मे रममाण हो जाना, या लीन होना इसी का स्वरूप है। अध्यात्मिक अनुभूति का वर्णन नही किया जा सकता। यह अनुभव अनिर्वचनीय माना जाता है। इस अनुभव की हम शास्त्रो की तरह चर्चा भी नही कर सकते। अत विस्तृत रूप मे शाब्दिक अभिव्यजन भी असभव है। प्लेटो भी कहता है कि इस साक्षात्कार के अनुभव पर मेरा कोई लेख कभी भी प्रसिद्ध नही होगा। इन्द्रियातीतता पार-मार्थिक अनुभव का दूसरा लक्षण है। अनिर्वचनीयता और इन्द्रियातीतता एक दूसरे से सलग्न है। बुद्धि, इच्छा-शक्ति और सवेदना इन तीनो से ईश्वर-साक्षात्कार किया जा सकता है। कला, शास्त्र तथा काव्य मे उच्चतम विचारो की श्रेणी मे हम तभी पहुच सकते है, जब अन्तिम सत्य या तत्त्व के साथ एकरूपता हो जाय। केवल बुद्धि की सहायता ईश्वरी साक्षात्कार मे सहायक नही होती। उसके लिए श्रेष्ठ शक्ति की आवश्यकता है। अतीन्द्रिय शक्ति बुद्धि, भावना और क्रियाशक्ति की आवश्यकता है। अतीन्द्रिय शक्ति बुद्धि भावना और क्रियाशक्ति से भिन्न नही है वरन्, इन सब मे वह ओतप्रोत भरी हुई है और इन सब का आधार भी है। अनुभूति-शास्त्र पूर्ण रूपेण चिकित्सात्मक है यह इससे सिद्ध हो जाता है। परमार्थ के क्षेत्र मे अन्तिम सत्य का अनुभव करने के लिए सतत, तथा अनन्त काल तक परिश्रम करना पडता है। इसके लिए अध्यात्म क्षेत्र मे Will Power क्रिया

१. मिस्टिसीज्म इन महाराष्ट्र—डा० आर. डी. रानडे।

शक्ति की अतीव आवश्यकता है। सच्चा आध्यात्मिक जीवन भावना प्रधान ही रहता है। इन्द्रियातीत प्रज्ञाशक्ति का आधार जीवन मे सबके लिए आवश्यक है। यह अनुभूति अनिर्वचनीय तथा बुद्धिग्राह्य है पर वह इन्द्रियो के परे होने से ऐसे साधकों का एक संप्रदाय बन जाता है। ऐसे अनुभव केवल परमेश्वर को ही ज्ञात रहते है।

ससार के सब कालों के, सब देशों के, इन आत्मज्ञ-रहस्यवादियों का एक दैवी तथा मनातनी समाज बनता रहता है। देश, काल, जाति के बधन इन्हे नही जकडते।

सूफी मत—

सूफी साधना में ब्रह्मवाद और शून्यवाद का अद्वितीय समन्वय है। प्राय. सूफी नाम से सभी इस्लामी रहस्यवादियों को पहचाना जाता है। इ. स. ७१६-८१४ मे इराक में हमे 'सूफी' शब्द मिलता है। यह शब्द 'सुफ' शब्द से निकला है जिसका अर्थ है बिना धुली हुई ऊन का वस्त्र या चोगा जो ईसाइ यति पहना करते थे। यतियो के जीवन विषयक बहुत से चिन्हों मे से यह भी एक है। पर सभी लोग इस बात को मानते है कि सूफीवाद वास्तव मे इस्लामी ही है। सूफियो को इसीलिए आदर की दृष्टि से देखा जाता है कि वे अपना मत पैगबर महम्मद से विरासत मे प्राप्त होने का दावा करते है। कुरान मे पैगबर के असली व्यक्तित्व के पर्याप्त प्रमाण मिलते है, लेकिन कुरान मे साधु जीवन सबधी एवम् रहस्यवादी तत्त्व दूसरे ही ढङ्ग से मिले जुले दिखाई देते है। कुरान मे जो साधु जीवन सबंधी प्रमाण मिलते हैं उन्ही पर सूफी लोग अधिक जोर देते है। महम्मद पैगबर ने किसी भी अपरिवर्तनीय सिद्धान्त की या रहस्यवादी धर्मनीति की प्रणाली जारी नही की, लेकिन यह सत्य है कि कुरान मे दोनो के निर्माण के लिए काफी सामग्री है। गहन विचार की अपेक्षा भावना से ही उत्स्फूर्त होने की वजह से महम्मद पैगंबर के ईश्वर सबंधी उद्गारों मे बहुत सी असंगतियाँ पायी जाती है। जब कि मुल्ला-मौलवियो ने अपने पथ का वैचारिक ढाचा बनाते हुए, 'ईश्वर की सत्ता विश्वव्यापी होकर भी उसके परे है।' 'इस कुरान के एक मत का अवलंबन लिया तो सूफीयों ने कुरान के सिर्फ उस मत का आश्रय लिया है, जिसमे ईश्वरी सत्ता विश्व अन्तर्व्यापी मानी गयी हैं। इन्ही दो तत्त्वो को अँग्रेजी मे transcendence और immanence के नाम से अभिहित किया जाता है। सूफियों की दृष्टि तत्व पर विशेष है।

अल्लाह सूफियों के लिये स्वर्ग एवम् धरती का नूर है। वही आदि है। और अन्त भी। बाहर भीतर सर्वत्र वही है। सिवा उसके स्वरूप के सब कुछ

नश्वर है। जिनको अल्लाह प्रकाश नही देता है उनको कभी भी प्रकाश नही मिल सकता। वस्तुत. रहस्यवादी तत्त्वो के बीज यही पर मिल जाते है। पुराने सूफियो के लिए कुरान ही केवल खुदा का शब्द नही है, वह तो ईश्वर के निकट ले जाने वाला प्रथम माध्यम है। हार्दिक प्रार्थना एवम् समग्र ग्रन्थो का चितन और विशेष प्रकार के रहस्यमय परिच्छेदो का चिन्तन जिनमे 'रात्रियात्रा एवम् स्वर्गारोहण, सम्बन्धी निर्देश है। सूफियो ने पैगबर के रहस्यमयी अनुभूतियो का स्वानुभव करने का भी प्रयत्न किया। यो सूफियो को कुरान के विशेष दीक्षित अध्येता समझा जाता है। ईसवी सन १००० के बाद सूफीवाद मे यूनानी दर्शन का मेल हुआ। कतिपय ऐसे प्रमाण मिलते है जिनसे यह पता चलता है कि सूफी-वाद की आरम्भिक प्रगति ईसाई-रहस्यवाद से अनुप्राणित हुई थी। ईसाई महत 'राहिब'का कथन है कि इस्लाम मे मठवास का कोई तत्त्व अङ्गीकार नही किया गया। महम्मद पैगबर 'रहबानि' (मठवास) यहाँ तक कि ब्रह्मचर्य का भी कुरान मे निषेध करते है। परतु कुरान की आयतो का वह भाष्य जो तीसरी हिज्र शताब्दी मे प्रचलित था, इस बात की पुष्टि करता है कि मठवास ईश्वर की आज्ञापित सस्था है और पैगबर के द्वारा मठवास की निन्दा उनकी की गई है जिन्होने मठवास को भ्रष्ट किया था।

आद्य इस्लामी नियतिवाद, आगामी ईश्वरीय कोप के स्वप्न, उपोषण करने वाले विरह की पीर से या पश्चाताप से रोने वाले, उसकी लगातार चलने वाली प्रार्थनाएँ, खुदा की कडी और अनुशासन युक्त भक्ति आदि बातो से सूफी रहस्यवाद सम्पन्न है। प्रेम से ईश्वर की प्राप्ति होती है अत उसी एक ईश्वर मे सम्पूर्ण आसक्ति रहस्यवाद मे निर्धारित है।

हमारे अधिकारी विद्वानो की दृष्टि मे सूफी-मत की सर्व प्रथम उल्लेखनीय उद्गात्री बसरा की स्त्री सत 'रबिया' है। इसका काल सन ८०१ ईसवी है। कहा जाता है कि उसके माता-पिता का कोई पता न था। निम्नलिखित पक्तियो मे इस गुलाम सत 'रबिया' के रहस्यवाद का आदर्श प्राप्त होता है—

'मै तुझसे दो तरह से प्रेम करती हू। एक स्वार्थवश होकर और दूसरे उस तरह जैसे कि तुझ से करना योग्य माना गया है। स्वार्थी प्रेम मुझे नही करना चाहिए। हर विचार तेरे बारे मे ही हो तो अच्छा है। पवित्र प्रेम वही है जिसमे तू केवल मेरी ओर भक्तियुक्त दृष्टिपात से पर्दा उठाता है न कि मेरी प्रार्थना से। तेरी सच्ची प्रार्थना स्वार्थ और परमार्थ दोनों मे निहित है।[1]

रहस्यवादी साक्षात्कार का तत्व कुरान की आयतो से परे है। और वह

१. लीगसी ऑफ इस्लाम—निकॉलसन और आर्नोल्ड।

ईश्वर कृपा से ही उपलब्ध होता है। किन्तु पैगवर की कुछ अविश्वसनीय पारपरिक गाथाओ मे इसके स्पष्ट प्रमाण मिलने हैं, जैसे ईश्वर ने कहा, 'वर्म निहित कर्तव्यो से अधिक कार्य करने वाला मेरा सेवक जव मेरे निकट आता है और जव मै उससे प्रेम करता हूं, तव मैं उसका कर्ण वन जाता हू, क्योकि वह मेरे द्वारा सुनता है, मै उसकी ऑख वन जाता हूं ताकि वह मेरे द्वारा देख सके, मैं उसकी जिह्वा वनता हूँ, जिससे कि वह मेरे माध्यम से वोल सके और मैं उसका हस्त वनता हूँ, जिससे कि वह मेरे द्वारा ग्रहण कर सके।'

सूफियों ने एक ऐसी अध्यात्मिक प्रणाली का निर्माण किया जिनमे आत्म-शुद्धि द्वारा आत्म प्रकाश पाने का मार्ग अपनाया गया है, जिसका परिपाक आत्मा का स्वसवेदन (मारिका) है। अपने हृदय से उसको देखने वाले सतो के द्वारा किये गये ईश्वरीय गुणो का ज्ञान ही आत्मा का स्वसवेदन है। उसकी प्राप्ति का मार्ग मार्ग (तरीका) उन गुणो के सपादन मे एवम् रहस्यवादी अवस्थाओं मे निहित है। प्रथम स्थिति पश्चाताप की है, जिससे हृदय परिवर्तन होता है। सन्यास, अपरिग्रह, तितिक्षा और आस्तिकता ये वाते इसके पश्चात् आती है। इनमे से प्रत्येक एक दूसरे का अध्ययन है। 'गभ्फाली' और 'मादी' नामके सूफी संतो ने इन सिद्धातो का उपयोग किया है। ईश्वरीय तादात्म्य की कल्पना ने सूफियो को ईश्वर निर्मित प्राणियो से प्रेम किये विना ईश्वर से प्रेम नही किया जा सकता यह सिखाया। ईश्वर का ज्ञान साधक को उसी के द्वारा हो सकता है। 'अवूयजीद' पर अद्वैत दर्शन का पर्याप्त प्रभाव पडा। उसने 'फना' का तत्त्व विकसित किया। फना' का अर्थ है, अपनी हस्ती मिटा देना। 'फना' का उत्तर पक्ष 'वका' है। वका का अर्थ ईश्वर के साथ तादात्म्य है। यह तत्त्व भी वाद मे इसमे जोडा गया।

यद्यपि लययोग से शुद्ध तादात्म्य की ओर वढने के प्रयत्न का अतिरेक हुआ फिर भी यह सिद्धान्त अपनी चरम सीमा पर पहुँच गया। 'वयाजीद' ने अपने निराभास होने का आत्म निवेदन किया। सूफियो का यह एक कथानायक ही है। उसकी परमानंदावस्था के उद्गारों का उल्लेख वे सर्वत्र करते है। प्रेमी, प्रिय और प्रेम के एकत्व का इस सूफी-संत ने अनुभव किया था क्योकि तादात्म्य की दुनियाँ मे सभी एक हो जाते हैं। हलाजने अनल-हक' (अहम् व्रह्मास्मि) का अकाट्य सूत्र-प्रस्तुत किया। उसके अनुसार ईश्वर का सार प्रेम-तत्व है। ईश्वर ने मानव को अपनी ही आकृति का वनाया। इसमे उसका उद्देश्य यही था कि मानव ईश्वर से ही प्रेम करे। इसी से मनुष्य अपनी आत्मिक उत्क्रान्ति कर, ईश्वर की मूर्ति अपने मे देखे तथा ईश्वरीय इच्छा और ईश्वरीय सत्ता मे तादात्म्य पाले। हलाज के नजरो में रहस्यात्मक ऐक्य इस सर्जनशील दुनियाँ के साथ ऐक्य है।

'हलाज' ने अपने उदाहरण से यह सिद्ध कर दिया कि आत्म त्याग और आत्म क्लेश से ही पावित्र्य की परिपूर्ति होती है। हलाज सत्य के लिए जीवित रहा और उसी के लिए मरा भी।

सूफी सतो मे गझाली, जलालुद्दीन रूमी आदि प्रमुख है। सूफी एकेश्वरवाद जीवन मे उतारने पर प्राय सैद्धान्तिक दृष्टि से ईश्वरीय व्यक्तित्व और नैतिक अधिकारो का महत्व उसमे निहित रहता है। यह विश्व उसका वाह्य रूप है जो भीतर से उसका आन्तरिक स्वरूप माना जाता है। प्रत्येक चमत्कार सत्य के किसी तत्व का उद्घाटन करता है। मानव उसका छोटा स्वरूप है जिसमे सभी ईश्वरीय तत्त्व, गुण आदि इकट्ठे होकर सामने आते है और केवल मनुष्य मे ही परमेश्वर ने अपना अस्तित्व प्रकट कर दिया है। ज्ञेयवाद के सारे तत्त्व इसमे आ गये है।

सर्वत्र परमात्मा विद्यमान है, वे सर्वत्र अपने विचारो सहित है। विश्व मे जितने स्वरूप या पदार्थ है वे सारे उसी के रूप है। प्रत्येक कार्य और प्रत्येक अस्तित्व मे ईश्वरीय शक्ति का प्रकाशन होता है। जिन रहस्यवादियो ने उसका अनुभव किया है वेही उसको समझ सकते है किन्तु वे उसको दूसरो को नही प्रदर्शित कर सकते। सिर्फ प्रतीको के सहारे ही वे वैसा करते है। प्रेम का सवेग परमानदावस्था मे आने वाली 'हाल' की दशाओ मे सादृश्यको स्पष्ट रूप से प्रकट कर देता है। इसे सूफी सत सदा ज्ञेयत्व के साथ सबधित करते है। इन्ही वातो को लेकर रहस्यवादी सूफी साहित्य भी 'जलालुद्दीन रूमी' जैसे लोगो ने लेकर लिखा है।

ईश्वर पर निर्भर रहना बका है। अपनत्व छोडकर जो अपना सर्वस्त्र ईश्वर मे लीन करता है अर्थात् फना कर सकता है, वह पूर्ण रूप से इनसान है। वह ईश्वर तक केवल यात्रा ही नही करता तो अनेकत्व से एकत्व मे प्रवेश करता है और ईश्वर मे तादात्म्य स्थापित कर लेता है। वैसे ससार मे रहकर उसके अनेकत्व मे भी एकत्व रख सकता है। जगत् का वेसुरापन एक ऐसी एकतानता है जो समझ मे नही आयी है। सभी अधूरे दुर्गुण सार्वजनीन अच्छाईयाँ है। ईश्वर, मसजिद, गिरजा, मदिर मे नही है वरन् वह शुद्ध हृदय मे है। सूफी सत रूमी को मानव के पापकर्मो की वात सही जान पड़ी थी। इसके साथ परमात्मा की अच्छाई पर भी उनका भरोसा था। निर्माता की दृष्टि से अन्य प्राणियो के साथ कुकर्म करते समय वे कुकर्म की असत्यता नही मानने। सपूर्ण स्वातत्र्य पूरे प्रेम के विना सभव नही। वह तो उस ऐक्य मे है जो मनुष्य की इच्छा शक्ति का ईश्वरी शक्ति से तादात्म्य स्थापित करती है।

हर प्राणी सव प्रकार की जीव पद्धतियो से प्रगति करता हुआ मनुष्ययोनि

तक पहुँचता है तथा आत्मिक उन्नति करते-करते वह परमात्मा मे मिल जाता है। परमात्मा से तादात्म्य और उसका विरह अज्ञान के कारण स्वप्नवत जान पड़ता है। सामाजिक रूढियों को तोडकर ये रहस्यवादी जब प्रेम मे विभोर होकर मस्त हो जाते है तब उनका व्यक्तित्व भगवान् में मिल जाता है। उनको हम साधारण नियमो से नही तौल सकते। यह तो उनका एकनिष्ठ प्रेम है जो भगवान् के प्रति रहा करता है।

सूफी साधना और वैष्णव मत—

रहस्यवाद का प्रभाव सूफियो के माध्यम से वैष्णव-साधना पर उत्तर और दक्षिण भारत मे सीधा और अप्रत्यक्ष दोनों प्रकारो से पडा है।

सातवी शती से मलाबार मे अरबी व्यापारियों ने अपने व्यापारी उपनिवेश बसाने आरम्भ किये। मलाबार के 'चेरमाण पेरूमल' ने इस्लामी धर्म स्वीकार किया। आठवी सदी से ही कोकण, दाभोल तथा मलाबार मे इनके पैर जमने लगे। महम्मद बिन कासिम ने सिंध पर आक्रमण कर दिया था। राजा के धर्म परिवर्तन से प्रजा पर बडा प्रभाव पडा। नवी शताब्दी मे मलाबार मे पूरी तरह इस्लाम फैला। मोपला लोग इन्ही की सन्तान है। अरबस्तान के कट्टर इस्लाम मे इरानी सूफीवाद ने उदारता लादी। इसी ने भारत में आकर, हमारे भक्ति सप्रदायो पर अपनी छाप छोडी और भक्ति साधना मे कुछ बातो का योग दान दिया।

आर्यो ने सम्पूर्ण जगत् मे कार्य करने वाली शक्तियों को उनके प्राकृतिक रूपो मे देवरूप बनाकर ग्रहण किया। बहुदेव-वाद की ब्रह्मवाद मे प्रतिष्ठा की। ईरान मे सूफियो पर भी इसका प्रभाव पड़ा। यह व्यक्त और अव्यक्त रूपो के माध्यम से सगुण तथा निर्गुण उपासना पथो मे प्रकट हुआ। पश्चिम मे हृदय पक्षीय भक्ति को और बुद्धि पक्षीय ज्ञान को लेकर क्रियाएँ और प्रतिक्रियाएँ निर्माण हुई। भक्ति ने ज्ञान को अपने ऊपर कभी भी आरूढ नही होने दिया। ईश्वर को जितना हम जानते है उतनी ही भक्ति होती है। जानकर हृदय को प्रवृत्त करने मे भक्ति की सार्थकता है। अत. भक्ति का प्रारभ ज्ञानपूर्वक होना है। प्रेमी प्रिय के स्वरूप को जितना जाने रहता है उतने मे मग्न होकर भी उसको अधिक समझने के लिए उत्कंठित रहता है। वैष्णव भक्तिमार्ग सीदा-सादा प्रेममार्ग है।

सगुणोपासक साधको की यह साधना मनुष्य की सहज रागात्मिका प्रवृत्ति पर आधारित है। योग साधनात्मक रहस्यवाद है। सूफियों के भावात्मक रहस्य-वाद को हृदय पक्ष की प्रधानता से वैष्णव भक्तिमार्ग ने अपने मे समाविष्ट कर

लिया। भक्तिमार्ग मानव की स्वाभाविक रागात्मिका प्रवृत्ति को साधन मानकर चला है। योगमार्ग विकारो को मारकर अन्त करण की रहस्यात्मक पद्धति द्वारा ब्रह्म के उस अव्यक्त स्वरूप के साक्षात्कार को लक्ष्य रखकर चला। कवीर ने इसी योग सयुक्त-प्रेम-मार्ग का प्रचार किया। निर्गुण भक्तिमार्ग का ढाँचा सूफियो का रहा। केवल उपास्य का स्वरूप वेदान्त के निर्गुण-परक ब्रह्म को ग्रहण कर लेने से अव्यवस्थित हो गया। प्रेमयोग या भक्तिमार्ग दृश्य जगत् और पर जगत् के सारूप्य भावना के विना चल नही सकता। अव्यक्त की अभिव्यक्ति व्यक्त या दृश्य जगत् है। भक्तिमार्गी को दोनो अभिन्न ही लगते है। पैगम्वरी मजहवो के रहस्यवाद का यही ब्रह्मवाद आधार वना। फारस की रहस्यात्मक सूफीवाद की आधारभूमि अद्वैत वेदान्त ही समझना योग्य होगा। उपनिषदो के 'तत्त्वमसि', और 'अहम् ब्रह्मास्मि' की नीव पर ही 'अनलहक की घोषणा हुई। इसे हम अपने विशुद्ध रूप मे 'धर्म-भावना का भावात्मक-रहस्यवाद' कह सकते है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कायह कथन ठीक ही है कि—

'स्वरूप की प्रतिष्ठा तत्त्व चिन्तन या ज्ञानकी प्रकृत पद्धति के द्वारा हो सकती है और सर्वत्र हुई भी है।'[१]

अज्ञात परम सत्ता के साथ सलाप और समागम रहस्यवाद की प्रथम विशेषता है। साधक का उपास्य से यह सीधा सम्वन्ध माना जावेगा। काव्य मे जिस प्रकार रसानुभूति का आनन्द अनिर्वचनीय होता है उसी प्रकार भक्तिरस की चरमानुभूति, अनिर्वचनीय वतलाई जाती है। प्रेम की रसलीनता की तुलना उन्मत दशा से हो सकती है अर्थात् वह देवोन्माद नही होगा। उदाहरणार्थ : चैतन्य महाप्रभु का भावावेश मे आकर किया गया नर्तन और सकीर्तन हो सकता है।

सूफियो के हाल की दशा का स्वरूप समय की परिस्थिति ही है। कृष्णो-पासना वालकृष्ण और गोपियो के प्रियतम प्रेममूर्ति कृष्ण को लेकर प्रकाशित हुई है। लोक और वेद के ऊपर प्रतिष्ठा ही कृष्णोपासक भक्तो की प्रेमलक्षणा भक्ति का सिद्धात वना है। श्रीकृष्ण के सौन्दर्य और माधुर्य का आकर्षण ही उसका एकमात्र कारण और उस स्वरूप के अधिक से अधिक सान्निध्य की अभिलाषा उसका लक्षण है। स्त्री-पुरुष का प्रेम सव से प्रवल और अन्तर्व्यापक होता है। उसमे आलम्वन के साथ सव से अधिक गूढ और घनिष्ठ समागम की लालसा होती है। इस माधुर्य-भाव का समावेश कई देशो की भक्ति-पद्धति मे किया गया है। मीराँवाई की उपासना इसी कोटी की है। दाम्पत्य वासना का भक्ति की साधना मे जो व्यवहार किया गया उसमें विशिष्ट इन्द्रियाँ भी उत्तेजित होकर योग देती है या नही इसे देखने पर

१. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल—चिन्तामणि।

दो पक्ष सामने आते हैं—(१) लीला पक्ष (२) ध्यान पक्ष। लीला पक्ष मे गोपियाँ कामिनी रूप से श्रीकृष्ण से प्रेम करती थी और उनको चाहती थी। ध्यान पक्ष मे काव्य की रसानुभूति के ढङ्ग पर भक्त अपने को गोपिका रूप मे रखकर शृङ्गार के आनन्द का अनुभव कर सकता है। पुरुष के साथ यह आलकारिक आरोप मात्र होगा। परन्तु स्त्री के ध्यान में आरोप की भावना हटने पर वह पुरुष के आलिंगन की कल्पना में मग्न हो जाने की सभावना है। सूफी और ईसाई भक्तों के माधुर्य भाव मे यह वात थोड़ी कठिन है। रहस्य भावना का यत्र-तत्र उपयोग रहस्यवाद नही है और भारतीय भक्ति मार्ग में ऐसा नही है।

भक्तो के कृष्ण व भक्तो के राम सौन्दर्य और मङ्गल ज्योति जगाने वाले है। भारतीय भक्ति मार्ग मे राम और कृष्ण उपदेशक के रूप मे नही देखे जाते तो उपास्य रूप में भगवान् के रूप मे ध्याये जाते है। भारतीय सगुण मार्गियो के उपास्य और उपासक इन दोनो का लक्ष्य मानवहृदय है और शास्त्र भी मानव हृदय ही है। भक्त-हृदय के सहारे मङ्गल विधायक सत्ता मे अपनी सत्ता को परिणत करता है, तथा दूसरो के हृदय पर भी प्रभाव डालकर, उन्हे कल्याण मार्ग की ओर आकर्षित करता है। गीता मे कृष्ण का कथन है कि जहाँ पर शील, शुभ गुण, सौन्दर्य, शक्ति, पराक्रम, ज्ञान अथवा बुद्धि का उत्कर्ष हो वहाँ मेरी विशेष कला समझनी चाहिए।

मुस्लिम साधना के वाद भारत की वैष्णवी साधना पर ईसाईयों का भी प्रभाव पड़ा है, ऐसा कुछ लोगो का मत है। ईसाई धर्म मे से ही भक्ति का प्रादुर्भाव हुआ है ऐसा आक्षेप लिया जाता है। इस आक्षेप का निराकरण हम यहाँ पर आवश्यक समझते है। यद्यपि अव यह मत सर्वमान्य हो गया है कि किसी भी प्रकार से ईसाई धर्म पर ही भारत के भक्ति तत्त्व का प्रभाव पडा है। इसे समझने के लिए गीता और महाभारत का भक्तिपरक विवेचन देखना समीचीन होगा।[1]

गीता और महाभारत—

भगवान् वासुदेव की एकान्त भाव से भक्ति करते हुए ससार के अपने व्यावहारिक एवम् लौकिक कार्य स्वधर्मानुसार करते रहने पर मोक्ष प्राप्ति हो जाती है। नारायणीय धर्म सीधे नारायण से नारद को प्राप्त हुआ था। गीता मे वही धर्म पुनः कथित है। प्रवृत्ति परक भागवत धर्म और नारायणीय धर्म में वासुदेव से संकर्पण, संकर्पण से प्रद्युम्न और प्रद्युम्न से अनिरुद्ध की उपपत्ति परंपरा दी गई है। व्यक्ति सृष्टि का क्रम इसके द्वारा समझ मे आजाता है। वासुदेव का भक्ति-

---

१. गीतारहस्य—लोकमान्य तिलक।

मार्ग एक प्रशस्त राजपथ है ऐसा गीता कहती है। दूसरे किसी भी उपास्य की भक्ति करने पर अन्त मे वह वासुदेव की भक्ति हो जाती है। ज्ञानी, आर्त, जिज्ञासू, और मुमुक्षु ये भक्तो की चार श्रेणियाँ है। गीता और भागवत मे भक्ति विषयक कोई अतर नही है। सात सौ श्लोको की श्रीमद्भगवद्गीता व्यास प्रणीत है। महाभारत का ही वह एक अश है। महाभारत के रचयिता भी व्यास मुनि है। व्यक्तोपासना अर्थात् भक्ति, गीता का विवेच्य विषय है। वैदिक भक्ति मार्ग बहुत प्राचीन है यह गीता और उपनिषदो के सम्बन्धो से ज्ञात हो जाता है। लोकमान्य तिलक के मत मे महायानी-भक्ति श्रीकृष्ण के भागवत धर्म से ही प्रभावित हुई थी। बुद्धपूर्व ६ सौ से अधिक ईसवी पूर्व भारत का भक्ति मार्ग प्रस्थापित हो गया था। नारद पाचरात्र, नारद और शाण्डिल्य भक्तिसूत्र उत्तरकालीन है। प्राचीन उपनिषदो मे जो सगुणोपासनाएँ वर्णित है उनसे ही क्रमशः भागवतो का भक्तिमार्ग विकसित हुआ। बाहर से यहाँ भक्ति आई ही नही और न कोई उसकी आवश्यकता ही प्रतीत होती है। पातजल योग के अनुसार चित्त स्थिर होने के लिए व्यक्त और प्रत्यक्ष चीज आँखो के सामने रहनी आवश्यक है। भक्तिमार्ग मे इससे सहायता ही मिली। गीता मे ब्रह्मज्ञान उपनिषदो पर आधारित है और सृष्टिक्रम साख्य दर्शनानुसार विवेचित है। वासुदेव भक्ति को मिलाकर क्षर और अक्षर ज्ञान का प्रतिपादन, सामान्य लोगो के लिए सुलभ और आचरणीय कर्ममार्ग से उद्बोधित किया गया।

ब्रह्मसूत्र के प्रणेता व्यास है। मूल भारत मे गीता का आज का प्रचलित रूप देने का और ब्रह्मसूत्र रचने का कार्य व्यास ने किया। बादरायणाचार्य ने अपने युग मे मिलने वाले महाभारत के भागो का अन्वेषण कर इस ग्रन्थ का पुनरुज्जीवन किया। कर्म-प्रधान भक्तितत्व गीता ने भागवत धर्म से लिए। जीव नित्य ही परमात्मा का अश है और क्षेत्रज्ञ जीव का स्वरूप उपनिषदो के ऋषियो की मतप्रणालीनुसार है। इन सब की एक वाक्यता ब्रह्मसूत्रो मे मिलती है। साख्य और योग का ही केवल समन्वय गीता मे नही है। पश्चिमी विद्वान 'साख्य' और 'योग' शब्द के अर्थ नही जान सके। ईसाई धर्म भक्ति प्रधान होने से दर्शनशास्त्र ईसाईयो को ज्ञात न था। फलतः युरोपीय विद्वान अपने मत के प्रतिवाद मे सदा भ्रम उत्पन्न करते हैं। यूनानी दर्शन के साथ ईसाई भक्ति का सम्बन्ध बाद मे जोड़ा गया है।

भारत मे भक्ति मार्ग का उदय होने के पूर्व मीमांसकों का यज्ञमार्ग, उपनिषदो का ज्ञान-मार्ग तथा साख्य और योग अपनी परिपक्व दशा मे थे। इसीलिए

इन सब शास्त्रों और विशेषतः ब्रह्मज्ञान को छोड़कर स्वतंत्र रूप से प्रतिपादित भक्ति मार्ग इस देश के लोगों को मान्य नही हो सकता था ऐसा लोकमान्य का कहना है।

औपनिषदिक-ज्ञान को छोडकर भक्ति की कल्पना अपने से स्वतन्त्र रूप मे अचानक उत्पन्न नही हुई और न वह बाहर से भारत मे आई। ब्रह्मचिन्तन में प्रथम यज्ञो के अङ्गो की, बाद मे 'ॐ' की, रुद्र की, विष्णु की और अन्य वैदिक देवताओं की या आकाशादि सगुणव्यक्त ब्रह्म प्रतीको की उपासना आरम्भ हुई। अन्त मे राम, नृसिह, श्रीकृष्ण, वासुदेव आदि की भक्ति एवम् उपासना आरम्भ हुई।

ऐतिहासिक दृष्टिसे रामतापनी, नृसिह तापनी आदि भक्ति प्रधान उपनिषदों की भाषा से सिद्ध हो जाता है कि वे अर्वाचीन है। छान्दोग्य आदि पुराने उपनिषदो मे वर्णित ज्ञान-कर्म समुच्चय का आविर्भाव हो जाने पर योग और भक्ति को प्राधान्य मिला। योग-प्रधान और भक्ति-प्रधान उपनिषदोका अन्तिम साध्य ब्रह्मज्ञान ही है। इसीलिये रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण, वासुदेव इनमे से जिनकी भी भक्ति करनी हो वे परमात्मा के रूप है—परब्रह्म के रूप है ऐसे वर्णन मिलते है।

भागवत धर्म को ही 'नारायणीय', 'सात्वत', 'पांचरात्र' आदि नामो से भी समझा गया है। उपनिषदकाल के बाद बुद्ध पूर्व वैदिक ग्रन्थो में से बहुत से ग्रन्थ उपलब्ध न होने से गीता के अतिरिक्त अन्य उपलब्ध होने वाले धर्म ग्रन्थो मे महाभारतान्तर्गत नारायणीयोपाख्यान, शाण्डिल्यसूत्र, भागवत-पुराण, नारद-पांचरात्र, नारद-भक्तिसूत्र और रामानुजाचार्य के ग्रन्थ शालीवाहन शक १२०० में लिखे गये है। इनकी सहायता से हम मूल भागवत धर्म पर प्रकाश नही डाल सकेंगे। नारायणीयोपाख्यान मे वर्णित दशावतारो मे बुद्ध का समावेश नही है जो अन्य उल्लिखित ग्रन्थो मे किया गया है। नर और नारायण इन दो ऋषियों ने भागवत धर्म आरम्भ मे कथन किया है। नारद को श्वेतद्वीप मे यह भागवत धर्म नारायण ने सुनाया था। यह द्वीप क्षीर-समुद्र में मेरुपर्वत के उत्तर मे है। 'वेबर' का अनुमान है कि भक्ति का तत्व ईसाई धर्म से भारत मे लिया गया है। लोकमान्य तिलक इसका खडन करते है।[1] पाणिनि को वासुदेव भक्ति का तत्व ज्ञात था। जैन और बौद्धधर्मो में भी वासुदेव-भक्ति का उल्लेख है। पाणिनि, बुद्ध और क्राईस्ट पूर्व थे। अतः स्पष्ट है कि किसी भी तरह ईसाई धर्म द्वारा भक्ति यहाँ पर प्रचलित नही हो सकती थी।

'सेनार्त' नामक एक फ्रेंच अपने एक लेख में लिखता है[2]—

---

१. लोकमान्यतिलक का गीता रहस्य।

२. दी इन्डियन इन्टरप्रेटर—त्रैमासिक, जनवरी १९०९–१०।

'No one will claim to derive from Buddhism or the Yoga. Assuredly Buddhism is the borrower.'

स्पष्ट है भागवत धर्म बुद्ध धर्मपूर्व यहाँ पर विद्यमान था।

भगवान् कृष्ण ने अर्जुन को लुप्त हो गये हुए भागवत धर्म का उपदेश दिया था। इसके दर्शन शास्त्रानुसार परमेश्वर को वासुदेव, जीव को सकर्षण, मनको प्रद्युम्न और अहकार को अनिरुद्ध कहा गया है। श्रीकृष्ण ही स्वय वासुदेव हैं, सकर्षण बलराम है, तथा प्रद्युम्न पुत्र है और अनिरुद्ध प्रपौत्र है। श्रीकृष्ण ने जो उपदेश अर्जुन को दिया वही तत्पूर्व काल मे नारायणीय वा पाचरात्र के नाम से प्रचलित रहा होगा। श्रीकृष्ण की सात्वत जाति मे उसका प्रचार होने से उसे सात्वत-धर्म कहा गया होगा। भगवान् श्रीकृष्ण और अर्जुन नरनारायण के अवतार है इसी कल्पना से इस धर्म को भागवत् धर्म कहने लगे होगे।

श्रीकृष्ण यादव, पाडव और कौरवो के बीच का भारतीय युद्ध का काल कलियुग का आरम्भ काल माना जाता है। विद्वानों के मतानुसार इ. स. के पूर्व १४०० वर्ष पाडव और भारतीय युद्ध हुआ था। यही श्रीकृष्ण का काल है। इसको मान लेने पर श्रीकृष्ण ने भागवत धर्म करीब-करीब बुद्ध के ८०० वर्ष पूर्व प्रवृत्त किया था। लोकमान्य के मत मे भागवत धर्म को आगे चलकर विभिन्न स्वरूप प्राप्त हुए। इसलिए श्रीकृष्ण के बारे मे अलग-अलग कल्पनाएँ निकली। अतः भिन्न-भिन्न कृष्ण मानने की आवश्यकता नही हैं। 'मैत्र्युपनिषद' के अनुसार रुद्र, विष्णु, अच्युत, नारायण सभी ब्रह्म है। ज्ञानी पुरुष भी ब्रह्ममय है। अतः श्रीकृष्ण भी परब्रह्म है। वैदिक काल की पूर्व मर्यादा ख्राइस्ट पूर्व ४५०० वरसो से कम नही मान सकते। वेदो की उदगयन स्थिति दर्शन वाक्यो के आधार पर 'ओरायन' मे लोकमान्य इसे सिद्ध कर चुके है। इसे पश्चिम पंडित भी मान्य कर चुके है। ब्राह्मण ग्रन्थ यज्ञ यागादि प्रधान ग्रन्थ है। वह ईसवी पूर्व २५०० वर्ष मे और छान्दोग्य उपनिषद जैसा प्रधान ग्रन्थ ईसवी पूर्व १६०० वर्ष मे लिखा गया है। इस तरह काल निर्णय हो जाने पर भागवत धर्म के उदय काल पाश्चात्य पडित जिन कारणों से जितना इधर खीचते है वे कारण ही नष्ट हो जाते हैं। श्रीकृष्ण और भागवत धर्म एक ही समय मे प्रचलित थे यह निष्कर्ष निकलता है। वैदिक काल समाप्त हो जाने से सूत्र और स्मृति ग्रन्थो का निर्माण काल आरम्भ हो गया है। अन्य ऐतिहासिक बाते और वस्तुस्थिति का भी मेल बैठ जाता है।

भागवत धर्म का उदय १४०० वर्ष पूर्व ईसवी और बुद्ध पूर्व सात आठ सौ वर्ष हो चुका है। यह काल बहुत प्राचीन है। ब्राह्मण ग्रन्थो का कर्म मार्ग इससे

भी प्राचीन है। उपनिषदों और साख्यशास्त्र का ज्ञान भी भागवत धर्म निकलने पूर्व प्रचलित होकर सर्वमान्य हो गया था।

भागवत धर्म के पूर्व भी किसी न किसी प्रकार की भक्ति आरम्भ हो चुकी थी। भक्ति के द्वारा परमेश्वर का ज्ञान हो जाने पर भगवद्भक्त को परमेश्वर की तरह जग के धारण पोषण के लिए कर्मरत हो जाना चाहिए। भागवत धर्म ने निष्काम कर्म प्रधान प्रवृत्तिमूलक मार्ग श्रेयस्कर है ऐसा प्रतिपादन किया। ज्ञान के के साथ कर्म और भक्ति के साथ कर्म का योग्य समन्वय कर दिया। मूल भागवत धर्म मे इसे निष्काम प्रवृत्ति तत्व माना गया है। यही नैष्कर्म्य है। धीरे-धीरे वैराग्य प्रधान वासुदेव भक्ति इस धर्म मे प्रधान हो गई। ज्ञान और भक्ति के साथ पराक्रम का नित्य मेल रखने वाला मूल भागवत धर्म आगे चलकर सन्यास-प्रधान जैन और बौद्ध धर्म के प्रसार से कर्मयोग पीछे रहकर उसे वैराग्य युक्त भक्ति स्वरूप प्राप्त हो गया। बौद्ध धर्म के ह्रास के वाद जो वैदिक-सप्रदाय वने उनमें से कुछ ने भगवद्गीता को सन्यास-प्रधान तो कुछ ने केवल भक्ति-प्रधान और कुछ ने विशिष्टाद्वैत का स्वरूप दिया।

गीता का धर्म भी मूल भागवत धर्म के स्वरूप को ही वतलाता है। गीता और मूल भारत ख्रिस्त पूर्व १४०० वर्ष भागवतो के दो प्रधान ग्रन्थ थे। किन्तु उनका निर्माण वाद मे हुआ होगा। किसी भी धर्म के प्रादुर्भाव काल मे लिखे गये ग्रन्थ उसी समय धर्म ग्रन्थ नही वनते। महाभारत और गीता के वारे मे भी यही न्याय लागू हो जाता है। भारतीय युद्ध के वाद, पाँच सौ वर्षो के भीतर ही आर्ष-महाकाव्यात्मक मूल भारत निर्माण हुआ होगा। आर्षमहाकाव्य मे केवल नायक के पराक्रम का वर्णन करने से काम नही चलता। नायक जो कुछ करता है वह योग्य है या अयोग्य यह भी कहना पड़ता है। यही आर्ष महाकाव्य का एक मुख्य भाग रहता है। इसीलिए महाकाव्यात्मक मूल भारत में ही कर्मयोग प्रधान भागवत धर्म का निरूपण करना पड़ा। यही मूल गीता ग्रन्थ है। इसमे भागवत धर्म का मूल स्वरूप सोपपत्तिक प्रतिपादन के साथ व्यक्त हुआ है। अनुमानतः ६६० वर्ष ख्रिस्तपूर्व इस ग्रन्थ का निर्माण हुआ होगा।

अज्ञानियों के लिए भक्तिमार्ग सुलभ सोपान है, तथा ब्रह्मनिष्ठ व्यक्तियो के लिए प्रवृत्तिमार्ग की स्वीकृति उचित है यही गीता का प्रतिपादन है। बुद्ध धर्म मे वासनाक्षय का निवृत्तिपरक मार्ग उपनिषदों से लिया गया है। श्रीकृष्णोक्त भगवद्-गीता के अतिरिक्त प्रवृत्तिपरक भक्तितत्व वैदिक मत मे न होने से महायान पंथ के अस्तित्व में आने के पूर्व भागवत धर्म और भगवद्गीता का तत्व प्रचारित था यह स्वयं सिद्ध हो जाता है। बुद्ध निर्वाण के सौ वर्ष वाद बौद्ध धर्मीय भिक्षुओ की

दूसरी परिषद हुई थी। उसके बाद सिलोन मे प्रचार करने के लिए लिखे गये विनय पीटकादि ग्रन्थ आते है। यह काल २४१ ईसवी पूर्व का है। इस युग मे प्रचलित वैदिक ग्रन्थो मे से इन बौद्ध ग्रन्थो मे कुछ बातें ले ली गई हैं। महाभारत के कई श्लोक बौद्ध ग्रन्थकारो ने ले लिये है। यही कहना पड़ेगा कि महाभारतकार ने बौद्ध ग्रन्थो से कुछ नही लिया।

अतः यदि महाभारत का काल निर्णय न भी हो सका, तो भी केवल अनात्मवादी तथा मूलतः सन्यासपरक बौद्धधर्म से क्रमशः विकसित होने वाले भक्तिपरक और प्रवृत्तिपरक तत्व स्वाभाविक रीति से निकलना असंभव है। महायान पथ की उत्पत्ति के बारे मे स्वय बौद्ध ग्रन्थकारो के द्वारा किया गया श्रीकृष्ण नाम निर्देश बतलाता है कि भक्तितत्व महायान ने उनसे ही लिए है। गीता मे पाया जाने वाला प्रवृत्तिपरक और भक्ति प्रधान तत्वो का महायान पथ के मतो मे सादृश्य और साम्य इसीलिए है। बौद्धधर्म के साथ समकालीन जैन और वैदिक पथो मे प्रवृत्तिपरक भक्तिप्रधान तत्वो का अभाव यही सिद्ध करता है कि महायान पथ के प्रादुर्भाव होने के पूर्व भागवत धर्म प्रचलित था और भगवद्गीता सर्वमान्य थी।

अतः निर्णय मे कह सकते है कि गीता के आधार पर महायान पथ निकला है और श्रीकृष्णोक्त गीता के तत्व बौद्ध धर्म मे से नहीं लिये गये है।

साख्य, योग और वेदात दर्शन वैष्णव मतो पर अपना प्रभाव पर्याप्त रूप से छोड चुके है। यहाँ पर क्रमश इनके प्रभावो का विवेचन किया जाता है।

सांख्य और वैष्णव मत—

साख्य दर्शन के प्रणेता महामुनि कपिल थे। यह बहुत पुराना दर्शन है। 'सख्या' शब्द से इसका कोई सम्बन्ध रहा होगा। इस दर्शन मे सख्याएँ अन्तिम तत्वो को बतलाने वाली हैं। 'सांख्य' शब्द का दूसरा अर्थ सम्यक ज्ञान या परिपूर्ण ज्ञान लिया जाता है। यह एक व्यक्ताव्यक्त यथार्थवादी द्वैती सिद्धात है। सत्य की अन्तिम परिणति दो तत्वो मे हो जाती है। ये दो स्वतत्र तत्व पुरुष और प्रकृति माने गये हैं।

प्रकृति का अस्तित्व अनुमान से पहिचाना जाता है। ससार के पदार्थो का एक योग्य कारण होता है। यह कारण क्या हो सकता है? यह पुरुष नही क्योकि वह कारण और परिणाम दोनो नही है। केवल भौतिक अणु परमाणु जगत् निर्माण नही कर सकते क्योकि इसमे मन और बुद्धि जैसी सूक्ष्म चीजे भी है। इस जगत् का अन्तिम कारण प्रकृति है जो प्रधान और अव्यक्त है। यह अन्तिम तत्व असवेद्य और अबोध तत्व है जो स्वयम् अकारण, सनातन और सर्वव्यापी है तथा अत्यन्त

सूक्ष्म और अतीव शक्तिमान भी। इसका विकास और विनाश चक्रनेमिक्रम से होता रहता है।

प्रकृति तीन गुणों से बनी है, जो सत्व, रज और तम के नाम से पहचाने जाते है। इन त्रिगुणों की एकता जगत् के साम्यावस्था को बनाये रखती है। इन गुणों को हम प्रत्यक्षानुभूति के रूप में नहीं ले सकते। इनके होने वाले परिणामों से हम अनुमान मात्र कर लेते है जो इन भौतिक जगत् के पदार्थों पर होता रहता है। प्रत्येक ऐसा पदार्थ अपने मे सुख और दुख तथा तटस्थता उत्पन्न करने की क्षमता रखता है। कारण मे ही परिणाम को रहना चाहिये। प्रकृति सब पदार्थों का मूल कारण है अतः सुख, दुख और तटस्थता ये विशेषतायें इसमें होती है। इन्हें ही सत्व, रज और तम के नाम से पहिचानते है। सुख की प्रकृति सत्व कहलाती है और वह प्रकाशक, तेजस्वी तथा उत्स्फूर्त होती है। उसका यह स्वरूप पदार्थों की स्वच्छेन्द्रिता में प्रकट हो जाता है। अग्नि अपनी ज्वालाओं से प्रकट होता है। ज्वालाओं का ऊपर उठना, अनेक प्रकार की सुगन्ध, वायु आदि बातें रजस प्रकृति में आती हैं। यह तत्व पदार्थों को कृति और गति देने वाला है। इसी के कारण अग्नि फैलता है, हवा बहती है तथा तन मन बेचैन होता है। इसी से दुख उत्पन्न होता है और दुख की अनुभूति भी होती है। पदार्थों की नकारात्मकता या अक्रियात्मकता के तत्व को 'तम' कहते है। मनमे अहकार और अज्ञान उत्पन्न करना इसका कार्य है। गति को रोकने वाला, भारी बनाने वाला, मोह तथा सभ्रम की ओर अग्रसर करते हुए हमारी क्रियाशीलता रोककर निद्रा, आलस्य और तन्द्रा मे ले जाने वाला यही तत्व है।

ये तीनो गुण परस्पर संघर्षी और परस्पर सहायक दोनों हैं। ससार का हर पदार्थ त्रिगुणात्मक होता है [illegible] उनका अनुपात कम अधिक मात्रा का हो सकता है। एक ही [illegible] दबाने या प्रभाव डालने का प्रयास करते रहते है। ससार के [illegible] अपने मे तिरोहित हो जाता है। इसे 'स्वरूप-परिणाम' [illegible] उपकारी सिद्ध होते है। अपने [illegible] है तब उस अवस्था को साम्यावस्था [illegible] कहता है। गुणों [illegible] सपूर्ण 'साम्यावस्था' [illegible] उस [illegible] नही होती। [illegible]

मूलमार स्वमवेदिता है और वह अकस्मात् उत्पन्न नही हुआ है। आत्मा शरीर से भिन्न है। साख्य दर्शन द्वैती है। प्रकृति और पुरुष ये दो स्वतन्त्र अन्तिम सत्य है जो इन विश्व मे पाये जाते हैं। पुरुष के सामने प्रकृति आती है और तभी से जगत् की उत्क्रान्ति आरम्भ हो जाती है। प्रकृति कर्तृत्वपूर्ण किन्तु अज्ञानी और नि.संवेद्य होती है। मूल प्रकृति एक है जो अव्यक्त है। यही अव्यक्त प्रकृति बाद मे व्यक्त हो जाती है। अव्यक्त प्रकृति नित्य, स्वतन्त्र, निरवयव, निष्क्रीय, त्रिगुणी अविवेकी (object of knowledge) ज्ञान का विषय अचेतन और प्रसवधर्मी एवम् एक होती है। व्यक्त प्रकृति अनित्य, परतत्र, सावयव सक्रिय, अविवेकी, ज्ञान का विषय, अचेतन, प्रसवधर्मी और अनेक होती है। पुरुष नित्य, स्वतत्र, निरवयव, निष्क्रिय, निर्गुण, विवेकी चितक, चेतन, अप्रसवधर्मी और अनेक है।

प्रकृति की उत्क्रान्ति मे प्रकृति से प्रथम महत् (Cosmic-Intelligince) या बुद्धि उत्पन्न होती है। इस विस्तृत भौतिक संसार मे बुद्धि तत्व सब से बड़ा तत्व हैं। मनोविज्ञान की दृष्टि से उसका कार्य निश्चित करना और निर्णय लेना है। बुद्धि की सहायता से ससार के पदार्थ हमे ज्ञात होते है। प्रकृति से अहङ्कार उत्पन्न हुआ जो महत् से उद्भूत होता है। इसके कारण ससार के पदार्थो को एक दूसरे से अलग कर उसका अतर समझते है। मनो वैज्ञानिक दृष्टि से हमे अपने 'अहम्' को पहचानने की अनुभूति इसी से होती है। भ्रान्ति या गलती से बदली हुई प्रकृति से इसी के कारण आत्मा मिल जाती है अर्थात् अपने आपसे मुलाकात होती है। इसी के कारण व्यक्ति अपने आपको स्वयम् उसका कर्ता और फलो का भोक्ता भी समझता है।

अहंकार से सोलह तत्व निकले हैं। मन, पंचकर्मेन्द्रिय, पाँच ज्ञानेन्द्रिय और पच तन्मात्राएँ मिलकर ये सोलह माने गये हैं। पच तन्मात्राओ से पच महाभूतों की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी, आप, तेज, वायु और आकाश ये पाच तत्व है। इस तरह कुल २४ तत्व आत्मा को छोड़कर साख्य ने माने है। प्रकृति की उत्क्रान्ति के पीछे एक निश्चित ध्येय रहता है। परन्तु प्रकृति स्वयम् उसके बारे मे अनभिज्ञ रहती है। पुरुष के आनन्द के लिए ही उसका प्रथम उत्कर्ष होता है। इसी मे ही वह सतुष्ट नही है वरन् पुरुष की मुक्ति के लिए भी वही प्रयत्नशील होती है क्योकि यही उसका अन्तिम ध्येय भी है। यह अचेतन और जड प्रकृति पुरुष को प्रभावित करने के लिए किस तरह कार्य कर सकती है? इस प्रश्न का उत्तर साख्य इस प्रकार देते हैं कि प्रकृति पुरुष के लिये उसी प्रकार कार्य करने लगती है जैसे एक बछड़े को देखकर गाय दूध को प्रवाहित करना आरम्भ कर देती है।

साख्यदर्शन मे 'प्रधान' का कोई उद्देश्य न होने से उसे ग्राह्य नही माना जा सकता। यदि पूछा जाय कि वह पुरुष की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है तो पुरुष तो स्वय मुक्त है, उदासीन है, आनन्द और दुःख से तटस्थ है। तव प्रश्न उपस्थित होता है दोनो मे सम्बन्ध कैसे प्रस्थापित किया जा सकता है? सांख्यों के अनुसार प्रधान प्रकृति और पुरुष मे लगडे और अन्धे का सम्वन्ध है। पुरुप निष्क्रिय-लगड़ा है और प्रकृति अन्धी है अतः दोनों का सम्वन्ध स्वाभाविक है। उदासीन और निष्क्रिय पुरुष प्रधान प्रकृति मे क्रिया कैसे उत्पन्न करता है? केवल पुरुप की उपस्थिति प्रकृति को गतिमान कर देती है ऐसा माने तो उसे सर्वदा गतिशील रहना चाहिए। परन्तु प्रलय भी होता है। प्रकृति और पुरुप इन दोनों को सांख्य नित्य मानते हैं इस कारण उनका सम्वन्ध भी नित्य हो जाता है। इसी से साख्यवादी नाना जीववादी वने है। इनका पूर्वजन्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तो पर अपना कोई अभिप्राय नही मिलता। पुरुष प्रकृति की अन्तिम प्राप्ति की साधना के लिए इसमें कोई कार्यक्रम नही दिखाई देता। प्रकृति प्रसवशीला होने के कारण जीव के भले वुरे कार्यो का कर्मविपाक होता रहता है। वैष्णव सन्तो के साहित्य पर सृष्टि व्यापार और कर्मविपाक सिद्धान्तों का गहरा असर पड़ा हुआ दिखाई देता है। त्रिगुणात्मिका-प्रकृति प्रशवशीला, और जड होने से, तथा पुरुष चेतन और अकर्ता होने के कारण, सृष्टि व्यापार के लिए ईश्वर जैसे तत्व का प्रतिपादन, साख्य दर्शन-कारो ने नही किया है। इसी से कपिल-साख्य को निरीश्वरवादी सांख्य माना गया है।

योगशास्त्र का वैष्णव साधना पर प्रभाव—

योग सूत्रकार महर्षि पातजली योग सूत्रो के और दर्शन के प्रणेता माने गये गये है। साख्यो के सृष्टि व्यापार को एवम् तत्वो को ये भी मानते है। ये कैवल्य और मोक्ष की प्राप्ति के लिए ईश्वर को मानते है। ईश्वर योग सावना से प्राप्त होता है। 'योग. चित्तवृत्ति निरोध.।' इसका मुख्य सूत्र है। परन्तु इसके साथ वे ईश्वरी कृपा से भी मोक्ष प्राप्ति हो सकती है इसे मानते है। परमेश्वर भक्ति से वश किया जा सकता है यह उन्हे मान्य है। 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' यह ईश्वर विपयक सूत्र है। इसमे हठयोग [illegible] राजयोग का वर्णन किया गया है। ईश्वर

हठयोग—यह एक विशिष्ट शारीरिक क्रिया है जिसमे विशिष्ट प्रकार से प्राण वायु का रोधन कर उसे समाधि अवस्था तक पहुँचाया जाता है।

राजयोग—केवल बुद्धि या विवेक सामर्थ्य से समाधि अवस्था प्राप्त कर लेना राजयोग कहलाता है। बुद्धि के जटिल मार्ग को छोड़कर केवल हठयोग का आश्रय लेकर भी ध्येय सिद्धि कर ली जाती है। पर यह भी अधिकारी और पात्रतम ही कर सकते है। हठयोग मे प्राणवायु का शरीर मे से विशिष्ट क्रियाओ द्वारा भ्रमण कराया जाता है। इन प्रक्रियाओ मे जिन चक्रो का शोधन आवश्यक है वह यदि न हुआ तो सारी क्रियामात्र शारीरिक क्रिया बन जायगी। उदाहरणार्थ—मूलाधार चक्र का शोधन होते समय उस स्थान की चार मातृकाएँ एवम् चार अक्षर मात्र दिखाई देना आवश्यक है। इससे कम या अधिक अक्षर दिखाई दे तो वह अनुचित होगा। गणपति इस चक्र के अधिष्ठाता है। मूलाधार-चक्र शुद्ध होते समय जो योगी चार मातृकाओ को देखेगे और जिनको गणपति की प्रसन्नता प्राप्त हो जायगी, उनका ही चक्र शोधन, क्रिया द्वारा शुद्ध हो गया है, ऐसा निश्चित होगा। अन्य षड्चक्रो के बारे मे भी यही नियम है। इस प्रकार षड्चक्र-शोधन से साधक, समाधि अवस्था तक पहुचकर सच्चा योगी बन जाता है। अन्यथा सारी क्रियाएँ केवल शारीरिक क्रियाएँ बन जाती है और समाधि भी केवल शारीरिक क्रिया ही मानी जावेगी ऐसे योगी भी शारीर-दृष्टिकोण से ही समाधि लगाते है। उनको इससे न तो ब्रह्म प्राप्ति होती है और न ज्ञान प्राप्ति।

वस्तुत योग का तात्पर्य परमेश्वर प्राप्ति का मार्ग है। अर्थात् अन्य मार्ग भी अन्त मे योग मे ही आकर समाविष्ट हो जाते है। इसी से भगवद् प्राप्ति के साधन प्रकारो के साथ आगे चलकर योग शब्द जोडा गया है। जैसे हठयोग, राजयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोग, कर्मयोग आदि। जिस मार्ग से जो जाता है वैसे ही उसकी पहचान होती है। जैसे ज्ञानमार्ग से जाने वाला ज्ञानयोगी, भक्तिमार्ग से जाने वाला भक्तियोगी इत्यादि।

हर एक व्यक्ति को यह ज्ञान नही रहता कि वह किस मार्ग से जावे। उसे गुरु के पास इसीलिए जाना पडता है, कि वह किस मार्ग का अधिकारी है इसका ज्ञान उसे मिल जाय। यदि उत्तम गुरु मिल जाता है तो अपने शिष्य का अधिकार और पात्रता देखकर गुरु उसे उसके योग्य मार्ग बतला देता है। अलग-अलग योगो का सम्बन्ध तो एक दूसरे के साथ आता ही है। रोगी शरीर वाले को ज्ञान-मार्ग से जाने के लिये प्रथम अपना शरीर निरोगी रखना आवश्यक है। हठयोगी को भी भक्ति आदि का विचार थोडा बहुत करना ही पडता है। अत. प्रसङ्ग और

परिस्थिति के अनुसार जिसे जितना आवश्यक है उतना उस योग का उपयोग होकर उसे अपना इष्ट और अभीप्सित मार्ग मिल जाता है। तभी वह उस विशिष्ट पथ का (school) का योगी कहलाता है। उपयुक्त और योग्य मार्ग का गुरु के द्वारा अथवा स्वयम् समझ बूझकर अपनाना ही 'योग कर्मसु कौशलयम्।' माना गया है।

अर्जुन से भगवान् कृष्ण ने कहा कि 'योग युजन् मदाश्रय.' अर्थात् मेरे आश्रय के लिए जिसने आचरण मे जो योग लिया है वही योग है। इसीलिए योगाचरण या योगमार्ग की कुशलता रहने पर भी ईश्वरी आश्रय का हेतु भी आवश्यक है। हठयोग में कुडलिनी का क्या अर्थ है ? उसकी जागृति कैसे होती है यह समस्या सदा रहती है। इसे भी जरा देख लिया जाय।

एक योग सूत्र है 'अपाने जुह्वति प्राणम्' अपानवायु मे प्राण वायु का हवन करने वाला अपनी जीवन-शक्ति बढ़ा सकता है। साधारणत. मनुष्य १०–१२ अगुल सास ले सकता है। वह उसे वीस अगुलो तक बढा सकता है। इतना कर लेने पर वह प्राणवायु अपान वायु के साथ सयुक्त कर सकता है। अपान वायु का आगार नाभि के निचले विवर मे रहता है। जो व्यक्ति इस विवर मे प्राणवायु को पहुचा सकता है अर्थात् जिसे इस कार्य मे सफलता मिलती है, वही अपनी जीवन शक्ति सहज बढा सकता है। इसका कारण यह है कि मनुष्य को जीवन मे नित्य अपान वायु का हवन करना पडता है। प्रत्येक के पास अपान वायु का एक निश्चित परिमाण और सचित रहता है और इसी मे से नित्य का जीवन व्यतीत करते हुए उसे खर्च करना पडता है। इस कार्य को करते हुए उसे सामान्यत. कोई कष्ट नही होता। भोजन के भोज्य पदार्थो मे से कोई कम या अधिक खा लिया जाय, या निद्रा अनियमित एवम् अधूरी हो जाय तो उसे इन वातों से कोई कष्ट नही होता। साधारण रूपेण वीस अगुल तक कोई सास नही ले सकता और केवल जोरों से भीतर सास खीचने से भी कोई कार्य नही हो सकता। इस कार्य के लिए पहुँचे हुए गुरु की आवश्यकता रहती है। अपान वायु का विवर इतना रिक्त भी नही रहता कि जितनी मात्रा मे चाहे उतनी मात्रा मे प्राणवायु उसमे डाल दी जाय। यह कार्य परिश्रम और विशेष अध्ययन से साध्य है।

इस तरह प्राणवायु को नाभि के निचले विवर मे पहुँचाने पर वह उसे वैसे ही एक विशिष्ट प्रकार से और क्रिया से, तथा एक विशिष्ट रास्ते से ही पीछे की ओर मुड़ना पड़ता है। इसकी प्रत्येक क्रिया गुरु के सान्निध्य मे और मार्गदर्शन मे होना अनिवार्य है। इसमे गलती होने से भयकर परिणाम भोगने पड़ते है। अतः किसी भी प्रकार की गलती इसमे खप नही सकती। प्राणवायु को पीछे घुमाने पर

उसे फिर वापस पीठ की ओर से धीरे-धीरे ऊपर चढाना आवश्यक है। मेरुदण्ड के मन के एक पर एक रखे रहते है। उनमे आर-पार रध्र रहता है। सामान्यत. इसे खुला रहना चाहिए। पर सहसा वह खुला नही रहता। इस रध्र के वद रहने से जव प्राणवायु ऊपर चढाई जाती है, तो छिद्र खुल जाता है। इस घर्षण-क्रिया से ऊष्णता उत्पन्न हो जाती है और अत्यत दाह होता है। शरीर गरम हो जाता है, और अत्यत कष्ट होता है। योग्य मार्गदर्शन से ये क्रियाएँ यशस्वी होने लगती है। मुक्तावाई ने ज्ञानेश्वर की पीठ पर तन्दूर की रोटी की तरह माडा सेका था। इस तरह की एक किवदती प्रसिद्ध है। इस कथा का इङ्गित यही है कि जो उष्णता उत्पन्न हुई उसका यह लाक्षणिक वर्णन है। इस तरह पूरे मनकों का मार्ग रिक्त हो जाने पर वायु ऊपर चढने लगती है। ऊपर चढते-चढते वह अन्तिम मनके मे से वडे मस्तिष्क मे जहाँ वह छोटे मस्तिष्क से जुडा रहता है, वहाँ प्रवेश करती है। वहाँ से वडे मस्तिष्क मे से होते हुए मस्तक के ठीक मध्यभाग मे से उसे आगे सरकाकर कपाल के मध्य मे से फिर उसे नीचे लाना पडता है। यहाँ तक की सारी यौगिक क्रियाएँ साध्य हो जाने पर सर्व साधारण तथा मनुष्य नासिका में से प्राणवायु को भीतर लेते समय इस वायु के वरावर ऊपरी ओर पिछली ओर से चढाकर मस्तक मे लायी हुयी वायु मार्गस्थ हो जाती है और ऊपर और नीचे के भार के कारण वहाँ का मार्ग भी खुला होकर वहाँ की वायु से यह वायु मिल जाती है। इन दोनो वायुओ का सयोग दोनो भौहो के वीच मे स्थित है। इस स्थान को आज्ञाचक्र कहते है। यही अमृतप्राशन है। इसे ही कुडलिनी-जागृति कहा जाता है। कुँडलिनी के काव्यात्मक वर्णन कई ग्रन्थो मे मिलते है। उसे शरीर की सव चीजे खा डालती है। मनुष्य वलवान हो जाता है, उसका शरीर कातिमान हो जाता है। उसकी त्वचा, केश स्वर्ण जैसे बन जाते है। इस तरह के वर्णन ज्ञानेश्वर आदि सतो के साहित्य मे मिलते हैं। षड्चक्र-भेदन इसी तरह हो जाता है, और वे स्थान शुद्ध हो जाते हे। प्रत्येक चक्र पर एक देवता का अधिष्ठान है। अत प्रत्येक चक्र भेदन के समय उसके अधिष्ठात को प्रसन्ना कर लेना पडता है। केवल शारीरिक क्रिया करते हुए प्राणवायु को षड्चक्रो तक पहुँचाकर समाधि तक पहुँच सकते हैं।

पर इससे ज्ञानप्राप्ति, ब्रह्मप्राप्ति नही होती। समाधि-अवस्था मे जाने पर मरण मे जीव का आत्यतिक लय नही है ऐसा साक्षात्कार योगी को होता है। जिस चक्र पर जो अक्षर या मातृका होगी उन तक प्राणवायु के पहुँचने पर योगी का अन्य अक्षर सुनना या परावाचा से उच्चारण करना असभव हो जाता है। इसे ही उन चक्रो की शुद्धि क्रिया माना जाता है।

अपनी आयु बढाने के लिये भी योगी इसका उपयोग कर सकते है। मनचाहे दिनो तक वह जीवित रह सकता है। ईश्वर प्राप्ति के लिए प्रत्येक चक्र की शुद्धि के समय उसके अधिष्ठता की कृपा और प्रसन्नता की प्राप्ति आवश्यक है। यह सब साध्य होने के लिए अच्छे व उच्च कोटि के गुरु की आवश्यकता रहती है। आधुनिक काल मे जो योगी हम देखते है वे केवल शारीर क्रिया के जानकार है। अतः समाधि लगाने पर भी उन्हे कोई विशेष लाभ नही होता। उन्हे फिर सगुणोपासना करनी ही पड़ती है। शरीर की शुद्धि के साथ और विकास के साथ मनका विकास और शुद्धि नही हुआ करती है। ईश्वरी प्रसाद भी नही रहता। अतः उसे सगुणोपासना से ही प्राप्त कर लेना पडता है। जिनके पास मन और वुद्धि की पहुँच रहती है वे निर्गुणोपासना से समाधि के वल पर ब्रह्मप्राप्ति कर लेते है। प्रायः ऐसे लोग विरले और नगण्य प्राय ही मिलते है। पातजल योग के अनुसार ब्रह्मप्राप्ति का यही मार्ग है।[१]

कपिल साख्य जिस तरह निरीश्वरवादी है वैसे ही पातजल योगदर्शन सेश्वरवादी है। पातंजल योगदर्शन के चार पाद है। (१) समाधि-पाद, (२) साधन-पाद, (३) विभूति-पाद और (४) कैवल्य-पाद। सत्य की स्वरूप सिद्धि करके उस अवस्था मे तदाकार होने की भूमि को समाधि कहा गया है। इस समाधि के हेतु यम, दम नियम, आसन, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधि है। इसको अष्टाग-योग कहते है। इसका विवरण साधनपाद मे किया गया है। विभूतिपाद मे योगी के अधिकारानुरूप क्रिया वताकर हर क्रिया से होने वाली सिद्धि का वर्णन किया गया है। वैसे ही उसमे केवल अभ्यास से हर यौगिक क्रिया सिद्ध होने की आशंका के कारण ईश्वर कृपा का औचित्य दिखाया है। 'पुरुष विशेषो ईश्वरः' इस प्रकार ईश्वर की व्याख्या करते हुए 'तस्य वाचक प्रणवः' इस सूत्र में उसका नामाभिधान किया गया है। उसकी प्राप्ति के लिए अर्थात् उसकी भावना करने के हेतु 'तज्जप स्तदर्थ भावनम्' सूत्र द्वारा प्रणव अर्थात् ॐकार का जप करने का विधान वतलाया गया है। इसीलिए योगदर्शन सेश्वर-साख्य कहलाता है। इस तरह पिंड-ब्रह्माण्ड रचना के हेतु योग दर्शनाकार को कपिल-साख्य ही अभिप्रेत है। अत. उसे नीरीश्वर-साख्य और इसे सेश्वर-साख्य कहा जाता है।

शौच, अस्तेय, नियम, अहिसा, अपरिग्रह आदि नियमो का योग सिद्धि के हेतु योगदर्शन में विशेप अनुरोध दिखाई देता है। उसी का उपयोग लोगो का चारित्र्य वनाने के हेतु मराठी और हिन्दी के वैष्णव सतों ने प्रकर्षेण रूप से

१. तोंडओळख—डा० रा. प्र. पारनेरकर, पृ० ७०–७२–७५।

किया है। योगदर्शन से यदि मुमुक्षु चाहे तो साधन सम्पन्न भी बन सकता है तथा आगे चलकर चाहे तो अपनी स्वेच्छा से योग, ज्ञान या भक्ति इनमे से किसी भी साधन मे जुटकर कृतार्थ होने के लिए सूक्ष्म बन जाता है।

वेदान्त दर्शन का वैष्णव मत पर प्रभाव—

प्रसिद्ध वेदान्त दर्शन उसकी अध्यात्मवादी दृष्टि से भारतीय दर्शन शास्त्र मे अपना एक विशिष्ट स्थान रखता है। वेदान्त का अर्थ वेदो का अन्त कुछ लोग वतलाते है। विशेषतः उपनिषदो मे वर्णित एवम् वतलाये गये विचारो और तत्वो को लेकर वह आगे बढा है।

उपनिषदो मे भी वेदो का अत कई ढङ्ग से माना गया है। वैदिक युग की वे अन्तिम साहित्यिक कृतियाँ समझी जाती है। प्रथम वैदिक मत्र ऋचाएँ और सहिताएँ निर्माण हुई। ब्राह्मणो मे इन ऋचाओ को लेकर यज्ञकर्मो में विनियोग किया है और अन्त मे उपनिषदो मे उसकी दार्शनिक समस्याओ पर विचार किया है। व्यक्तिगत जीवन मे प्रथम सहिताओ का अध्ययन, बाद मे ब्राह्मण ग्रन्थो का और अन्त मे उपनिषदो का अध्ययन किया जाता है। तब तक वृद्धावस्था आजाती थी, उपनिषदो मे आध्यात्मिक विचार-सपदा अपनी चरम सीमा पर पहुँच गई है। उपनिषद का अर्थ सत्य के निकट जाना है। विशिष्ट चुने हुए शिष्यो को ही पढाया जाता था। भिन्न-भिन्न रचयिताओ के द्वारा वे रचे गये थे। बादरायणाचार्य ने उनके प्रमुख विचारों का सकलन 'ब्रह्मसूत्र' के नाम से किया है। यही आगे चलकर वेदान्तसूत्र कहलाया गया। वेदान्त दर्शन का यह प्रमुख आधारभूत ग्रन्थ है जिस पर अनेक भाष्य लिखे गये और अपने-अपने ढङ्ग से उसके अर्थ लगाये गये। ये ही आगे चलकर वेदात दर्शन के अनेक उपसिद्धात बनकर सामने आये। इनमे शङ्कर, रामानुज, वल्लभ, मध्व और निम्बार्क आदि सम्प्रदाय आते है। इसके बाद भी भाष्यो पर और उपभाष्य आदि लिखे गये। यह सारा साहित्य वेदात वाङ्मय के नाम से पहचाना जाता है। वेदात की सब से महत्वपूर्ण विशेषता उपनिषदो के अद्वैत सिद्धात पर जोर देना है। सत्य को इस ससार मे केवल एक ही अन्तिम स्वरूप मे रखा जाता है। इसमे एक तत्व स्वसवेद्य और दूसरा आध्यात्मिक स्वरूप का है। ब्रह्म और जगत् के स्वरूप का परस्पर सम्बन्ध, अतिम सत्य और जगत् का सम्बन्ध आदि की चर्चा उसमे होती है।

शङ्कराचार्य के अनुसार जगत् का निर्माण ही नही हुआ। जो अनुभव हमे जगत् का होता है वह माया या अविद्या के कारण होता है। उनके मतानुसार प्रत्येक व्यक्ति की आत्मा परमात्मा से बहुत साम्य और अभिन्नत्व रखती है।

साधारण जीवन के अनुभव मे उन दोनो का जो अन्तर सामने आता है वह केवल अविद्या के कारण आता है। रामानुज-सप्रदाय, विशिष्टाद्वैत और मध्व का द्वैताद्वैत माना जाता है। हम अपने अन्य अध्याय मे इस पर पर्याप्त रूप से विवेचन करु चुके हैं अत. यहाँ पर उन पर कोई विवेचन नही है।

वेदात के सभी सप्रदाय आत्मज्ञान अर्थात् अध्यात्म-विद्या को उच्च कोटि का ज्ञान मानते है। इन्द्रियों पर विजय प्राप्त करने से इस मार्ग का अधिकार मिल जाता है और वह अभ्यास, ध्यान और मनन से प्राप्त होता है। ब्रह्म का साक्षात्कार अपने आत्म साक्षात्कार से सम्पन्न है। इससे सच्चे अपरिमित आनन्द की प्राप्ति होती है। इस आनन्द के सामने सासारिक सुखों का कोई मूल्य नही होता। पारमार्थिक आनन्द का स्रोत आत्मा मे होता है। ईश्वर सर्वत्र और सर्वव्यापी है। वह बाहर भीतर और सर्वत्र है। वैदिक वाङ्मय से ईश्वर को जानते हैं। तर्को के द्वारा उसे नहीं जान सकते। वैसे निष्ठावान साधक कडे अनुशासन-पूर्ण, नैतिक और धार्मिक अध्यवसाय से स्वयम् परमात्मा का साक्षात्कार कर सकते है। श्रद्धा मूलतः ध्यान और धार्मिक बातो पर होना आवश्यक है। वेदो मे ईश्वर को 'नेति-नेति' कहा गया है। इस विश्व का वही कर्ता-धर्ता और सहारक है एवम् नियामक भी।

शङ्कराचार्य परमतत्व को दो दृष्टियो से देखते है। प्रथम तो ससार को व्यावहारिक रूप से सत्य मानते है। इसके लिए इस ससार का निर्माता, पालनकर्ता और सहारकर्ता ईश्वर है। उसकी हम पूजा कर सकते है। दूसरे पारमार्थिक दृष्टि से यह ससार असत्य है। अत: इस स्तर पर आकर जब ससार ही नही तब उसका निर्माता भी नही है। केवल अद्वैत ब्रह्म ही सब कुछ है। इसका कोई दूसरा रूप सभव नही है। ईश्वर तत्व ब्रह्म का तटस्थ लक्षण है वह उसका स्वरूप लक्षण नही है। केवल सगुण या ईश्वर ही पूजा का आधार बन सकता है, जिसकी भक्ति की जा सकती है। लेकिन अन्त मे परमार्थ के ऊपरी स्तर पर आकर यह अंतर लुप्त हो जाता है। क्योकि ब्रह्म के परे कुछ है ही नही। वह अनिर्वचनीय भी है। इसके कुछ सूत्र इस प्रकार है—'एकोब्रह्मः द्वितीयो नास्ति', 'नैहनानास्ति किंचन, और ब्रह्मम् सत्य जगन्मिथ्या' तथा 'जीवो ब्रह्मैव नापर.' आदि।

मायावाद क्या है ?

मायावादी दो प्रकार के भाव पदार्थो को मानते है। एक ज्ञान और दूसरा अज्ञान। ये दोनो भाव पदार्थ है। अज्ञान का अर्थ ज्ञान का अभाव नही वरन् वह भी एक स्वतन्त्र भाव पदार्थ है। अज्ञान रूपी भाव पदार्थ के दो विभाग है प्रथम

आवरण और दूसरा विक्षेप। रजोगुणयुक्त अविद्या ही आवरणयुक्त अज्ञान है। सत्वगुणयुक्त माया विक्षेप युक्त अज्ञान है। रजोगुणयुक्त अविद्या से आगे चलकर जीव निर्माण होता है। सत्व गुणयुक्त माया से ईश्वर निर्माण होता है। जीव अविद्योपाधित होने से अविद्या का ही निर्माण कर मकता है और करता है। वह कार्य रूप है। ईश्वर मायोपाधित होने से माया को ही उत्पन्न कर सकता है और करता है। वह कारण रूप है। पुरुष–प्रयत्न अविद्या को मिटा सकता है। ब्रह्म पद अध्यात्मिक दृष्टि से मिद्ध हो सकता है। सर्प-रज्जु का दृष्टात इसे समझाने के लिए दिया जाता है। आवरण युक्त अज्ञान से रज्जु–मर्प जैसी भासित हुई यही अविद्या है। इसका निराकरण ज्ञान से हो सकता है और दीपक ले आने पर जव देखा तव अज्ञान नष्ट होकर मूल रज्जु स्वरूप गोचर हो गया। यहाँ ज्ञान से अज्ञान का निराकरण हो गया पर विक्षेपयुक्त अज्ञान का निराकरण ज्ञान से नही हो सकता क्योकि ज्ञान के प्राप्त हो जाने पर भी यह अज्ञान विद्यमान रहता है। जैसे नदी के तट पर खडे होकर तटवर्ती वृक्ष की ओर देखने पर उसका तना नीचे और शाखाये तथा उप-शाखाये ऊपर वढती चली गई है ऐमा दिखाई देता है। इतना ही नही तो पानी मे हम अपना निजी प्रतिविम्व भी उलटा देखते है। इससे यह सिद्ध हुआ कि एक ही समय जब ज्ञान रहता है तव अज्ञान का निराकरण नही होता वरन् वह कायम रहता है। अर्थात् विक्षेपयुक्त अज्ञान का निराकरण सत्य ज्ञान से नही हो पाता। वह कायम रहता है। अव तक के विवेचनानुसार अविद्या का निराकरण पुरुष-प्रयत्न से हो जाने पर 'ब्रह्मसत्य' यह पद सिद्ध हो जाने पर और उसकी प्रतीति हो आने पर 'जगन्मिथ्या' यह पद सिद्ध नही होगा, क्योकि उसकी निष्पत्ति विक्षेपयुक्त अज्ञान से उत्पन्न है। पुरुष-प्रयत्न से वह साध्य नही हो सकता, क्योकि वह वात उसके अधीन नही परन्तु वह ईश्वराधीन है। जगन्मिथ्यात्व की प्रतीति यदि लेनी हो तो उपासना से और भगवान् की कृपा प्राप्त करने से ही वह हो सकेगी। यहाँ पर आधिदैविक पक्ष आता है। 'ब्रह्म सत्य' के प्रतीत होने मे आध्यात्मिक पक्ष है। यह वही पक्ष है जिसे आज मनोविज्ञान (Psychology) कहते है। पुरुष-प्रयत्न से मनुष्य चित्तचतुष्टय की शुद्धि का अर्थ यही है कि यह मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया है। जगत् आदि पदार्थ आधिभौतिक के अन्तर्गत आते है। इससे सिद्ध हुआ कि 'ब्रह्म सत्यम्' की प्रतीति हो जाने पर जगन्मिथ्यात्व की प्रतीति प्राप्त करने के लिए ईश्वर की कृपा, करुणा-दया आदि की अपेक्षा सिद्ध हो जाती है। इस तरह मायावादी आचार्यो ने भी अध्यात्मवाद की अपेक्षा आधिदैविक पक्ष की श्रेष्ठता स्वीकार की है। श्रेष्ठता इसलिए क्योकि उसमे पराधीनता है। ईश्वर यदि कृपा करे तो ही यह सभव है अन्यथा नही।

गीता का यह श्लोक इस पर प्रकाश डालने वाला है।[1]

दैवी एषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायाम् एताम् तरन्ति ते ॥

श्रीमद् आद्य शङ्कराचार्यजी का इस श्लोक पर किया गया भाष्य मननीय और ऊपर किये गये विवेचन की दृष्टि से महत्व रखता है अत. वह द्रष्टव्य है। ईश्वर की शरणागति लेने के हेतु अपने अद्वैत सिद्धान्त का ध्यान रखते हुए वे कहते है[2]—

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं नमाम कीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरंगः क्वच न समुद्रो न तारङ्गः ॥

'जीवो ब्रह्मैव नापरः', अहं ब्रह्मास्मि' आदि महावाक्यो का अनुभव करने के पश्चात् भी जीव के लिए ईश्वर-ईश्वर ही रहता है। ईश्वर जीव का स्वामी ही है। अत. अभेदानुभूति करने के कारण ईश्वर की शरण लेने मे शरमाने की कोई आवश्यकता नही है, ऐसा अपना स्पष्ट अभिप्राय ईश्वर को सादर अभिवादन कर शरणागति की वे अपनी तीव्र लगन प्रकट करते है।

जीव अविद्या की उपाधि से जन्ममरण के चक्र मे पड़ जाता है। अविद्या ही जीव का बधन है। अत. अविद्या नाश और ब्रह्म एवम् आत्मज्ञान से उसे इस बधन से छुटकारा मिल जाता है। यही मोक्ष है। इस मोक्ष का साधन ज्ञान ही है। वेदान्तरो का यह आग्रह होते हुए भी ईश्वर की उपासना या आराधना की आवश्यकता वे महसूस करते है। अविद्या बधन के हेतु पूर्वजन्म और पुनर्जन्म मानकर क्रियमाण, सचित और प्रारब्ध मे से प्रारब्धवाद का सिद्धात सम्मुख रखकर मानव के ऐहिक जीवन मे होने वाले सुख-दुःखो के साथ सम्बन्ध जोडते है। इससे इनसान पुण्यकर्म करने के लिए प्रोत्साहित तथा पापकर्म करने के लिए हिचकिचाने वाला पाप-भीरु होता है। मोक्ष और प्रारब्धवाद को मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने माना है। अपने साहित्य मे ये सत मानव-जीवन का लक्ष्य मोक्ष बतलाते है। तथा सुख-दुख का हेतुपूर्वक कर्म पाप पुण्य के परिणाम का कारण है ऐसा बतलाकर मनुष्य को सत्य पथ पर लाने का अथक परिश्रम भी वे करते हुए दिखाई देते है। दारिद्र्य और विपन्नता सदियो तक सहने वाला भारत इसी के कारण नीतिमान बना रहा। जीवन की नश्वरता, सुखो का क्षणभगुरत्व और दुःखो का आधिक्य बताकर मानव को सदाचार पर चलने के लिए प्रवृत्त करने का वैष्णव सतो ने प्रयत्न किया है।

---

१. श्रीमद्भगवद्गीता—अध्याय ७, श्लोक १४।
२. आचार्य षट्पदी—शंकराचार्य स्तोत्र ॥३॥

नाथ-संप्रदाय और वैष्णव मत—

मराठी और हिन्दी वैष्णव सन्तो के साहित्य पर नाथ सप्रदाय का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। कबीर और सन्तमत उससे सीधा प्रभावित है ही परन्तु मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ आदि का नाथ–सप्रदाय से सम्बन्ध रहा है। यहाँ पर उसे ही समझने का प्रयत्न किया जावेगा।

प्रसिद्ध सत ज्ञानेश्वर अपनी गुरु परम्परा देकर इस सप्रदाय का उद्गम[1] कैसे हुआ उसे बताते है—

क्षीर सिधु परिसरीं। शक्तिच्या कर्ण कुहरी।
नेणो कै श्री त्रिपुरारी सागितलें जें ॥५२॥

मग आर्ताचानि वोरसे। गीतार्थ ग्रंथनमिसे। वर्षला शांतरसे तो हा ग्रंथ् ॥१७६२॥[2]

क्षीरसागर के तट पर भगवान शकर ने जो ज्ञान पार्वती से उसके कानो में निवेदन किया उसे कब कथन किया यह तो ज्ञात नही है। वह ज्ञान क्षीर समुद्र मे मछली के पेट मे गुप्त रूप से रहने वाले मत्स्येन्द्रनाथ ने सुनकर ग्रहण कर लिया। सप्तश्रृङ्ग पर्वत पर सहज सचार करते हुए मत्स्येन्द्रनाथ आए, तो वहाँ पर भग्नावयवी चौरगीनाथ पडे हुए थे। उनको मत्स्येन्द्र के दर्शन हो जाने से सारे अवयव प्राप्त हो गए। तब अपनी अचल समाधि का उपभोग लेने की इच्छा से अपना सारा यौगिक एवम् आध्यात्मिक ऐश्वर्य उन्होंने श्री गोरखनाथ को प्रदान किया। योगरूप कमलिनी अपने भीतर धारण करने वाले सरोपर की तरह और विषयो का विध्वस करने वाले इस यश को सपादन करने वाले 'विषयविध्वसक वीर' श्री गोरखनाथ को श्रीमत्स्येन्द्र ने अपने योगैश्वर्य के पद पर स्थित कर उसका राज्याभिषेक किया। उसके बाद आशुतोष शङ्कर से प्राप्त अद्वयानद सुख गोरखनाथ ने गहिनी नाथ को प्रदान किया। कलि के द्वारा सारे प्राणियो को ग्रस लिया गया है ऐसा देखकर गाहिनीनाथ ने निवृत्तिनाथ को आदेश देकर उनका उद्धार करने की आज्ञा दी और वह ज्ञान भी दे दिया जो उन्हे सम्प्राप्त था। निवृत्तिनाथ से श्री गाहिनीनाथ ने कहा कि आदिगुरु महादेव से परम्परागत यह ज्ञान ऐश्वर्य हमारे कुल को प्राप्त हुआ है। इसी साधन से कलि द्वारा सताये गये जीवो की दुःख से निवृत्ति करो। श्री निवृत्तिनाथ स्वभाव से ही कृपालु थे। श्रीगुरु की आज्ञा से पीडित लोगो के दुःख की निवृत्ति हो जाय, इसलिए मेघ जिस प्रकार पानी बरसाकर

१. ज्ञानेश्वरी–अध्याय १८, ओवी १७५२–६२।
२. ज्ञानेश्वरी–अध्याय १८, ओवी १७५२ से ६२।

मिस ज्ञानेश्वर ने शान्त आतप क्षोभ निवारण कर देते है वैसे ही गीतार्थ करने के रस की वृष्टि की। यहाँ चातक की तरह गुरु का प्रसाद प्राप्त हो जाय ऐसी इच्छा करके बैठे हुए मुझ जैसे अनन्य शिष्यों को देखकर उन्होने मुझ पर कृपा की, मै इसलिए इस सुयश को प्राप्त कर सका हूँ।

—ज्ञानेश्वरी।

नाथ सप्रदाय की महाराष्ट्रीय परम्परा का पता इससे लग जाता है। कुछ लोगों का यह मत है कि गोरखनाथ पहले बौद्ध थे और बाद मे शैव हो गए। पर यह मत हमे समीचीन नही लगता। ज्ञानेश्वरी से उपलब्ध गुरु परम्परा–वे बौद्ध नही थे। इसे स्पष्ट रूप से प्रकट कर रही है। दसवी शताब्दी मे तांत्रिक साधना मे जो वामाचार विकृत रूप धारण कर चुका था उसका शुद्धिकरण गुरु गोरखनाथ ने किया और शुद्धाचार से युक्त नाथ पथ का विकास किया। नाथ सप्रदाय मध्ययुगीन भारतीय साधना की गंगाजी मानी जा सकती है।

नाथ सप्रदाय का उदय उत्तर भारत में ही हुआ ऐसा बतलाया जाता है। 'नाथ सप्रदायाचा इतिहास' के लेखक श्री रा. चिं. ढेरे के मत से नाथ-सम्प्रदाय की उदय भूमि दक्षिण का श्री शैल 'कदलीवन' है और इस सम्प्रदाय की प्रथम लीला स्थली आंध्र, कर्नाटक और महाराष्ट्र है।[1]

नाथ सम्प्रदाय के उदयकाल पूर्व श्री शैल मे तांत्रिक साधना का प्रभावी केन्द्र था। यहाँ शैव, बौद्ध और शाक्त तांत्रिको के अड्डे थे। यहाँ योगिनियों का जमघट भी था। स्त्री प्रधान साधना पद्धति की प्रक्रियाएँ भी बडी जोर शोर से यहाँ पर चल रहीं थीं। कदलीवन श्री शैल के आसपास ही था। यहाँ पर मत्स्येन्द्रनाथ योगिनियों के जाल मे फँस गये। उत्तर के पडित तत्र साधना को रोकने का कार्य नाथ सम्प्रदाय ने किया इसे मानते हैं, तथा श्री शैल तत्र साधना का केन्द्र था वह भी स्वीकार करते हैं। पर कदलीवन दक्षिण में था यह उन्हें मान्य नही है। भारतीय साधना की सामग्री मे दक्षिण के साधनो का विचार करना उन्हे शायद अमान्य है। वास्तव मे यदि कदलीवन श्री शैल के आस-पास था इसे स्वीकार कर लिया जाय, तो नाथ-सम्प्रदाय का उदगम् किस स्थल से हुआ इसका पता लग सकता है। श्री शैल और कदली वन की अभिन्नता बतलाने वाले कई प्रमाण उपलब्ध है। इस विषय मे अधिक जानकारी के लिए 'नाथ सम्प्रदायाचा इतिहास' यह पुस्तक द्रष्टव्य है।[2]

१. नाथ संप्रदायाचा इतिहास, पृ० २८–श्री रा. चिं. ढेरे।

२. नाथ संप्रदायाचा इतिहास, रा. चिं. ढेरे, २४–२८।

श्री शैल पर मजुनाथ (आदिनाथ) कदलीश्वर नामक स्थान नाथ सम्प्रदाय का पुरातन पीठ माना गया है। सर्व साधारण रूप से यह भी माना गया है कि गोरखनाथ दसवीं शताब्दी मे हुए थे।

ज्ञानेश्वर का जन्म सन १२६० मे हुआ। अपनी आयु के ३१ वे वर्ष मे उन्होने समाधि ली। सन १२९० मे ज्ञानेश्वरी लिखकर समाप्त हुई। इस तरह ऐतिहासिक दृष्टि से हम किसी भी तरह नाथ सप्रदाय को ११ वी शताब्दी के पूर्व नही ले जा सकते। गोरखनाथ के समय शैव, शाक्त और वौद्ध धर्म के ह्रासावशेप अनेक सप्रदायो मे बँट गए थे। इन सबको सङ्घटित कर बारह सम्प्रदायो को मुसलमान होने से बचाया। उनकी 'गोरखवानी' प्रसिद्ध है, 'अवधूत-गीता' दत्तात्रेय द्वारा रचा गया ग्रन्थ मानते हैं, और नाथ सम्प्रदाय का प्रमाण ग्रन्थ भी। यह बात तो निश्चित ही है कि नाथ सप्रदाय एक शैव अद्वैत मत है। पर दत्तात्रेय भैरव, शक्ति तथा योग सम्प्रदाय से भी नाथ सम्प्रदाय सम्बद्ध है। 'सिद्ध सिद्धान्त पद्धति' एक और अलग ग्रन्थ है जो नाथ सम्प्रदाय का प्रमाणभूत ग्रन्थ माना जाता है। तात्रिक साधना से मुक्त करने के लिये पूर्ववर्ती साधनाओ मे जो ग्राह्य था उसे अङ्गीकार कर लिया, अशुद्ध था उसे शुद्ध किया, त्याज्य था उसे नष्ट किया। शिव-शक्ति का प्रधान्य, गुरु सस्था का महत्व, अद्वैत विचार, प्रतीति-प्रामाण्य, अवधूता-वस्था आदि बातो का विशेप प्रतिपादन उन्होने किया। गिरनार पर्वत पर गोरख और दत्तात्रेय मिले थे। 'दत्त गोरक्ष सवाद' प्रसिद्ध है दत्तात्रेय ने ही गोरख को योग सिद्धि प्राप्त करा दी। तत्र मार्ग की विकृत यौगिक प्रक्रियाओ का शोधन करके उसे विशुद्धि बनाकर मद्य, मास, मत्स्य, मुद्रा मैथुनादि पच मकारी स्त्री-प्रधान-वामाचार को साक्षेपपूर्वक दूर किया। और 'विपय विध्वसक वीर' यह वीरुद धारण किया। गोरखनाथ का व्यक्तित्व बडा प्रभावशाली व्यक्तित्व है। अपने अलौकिक योग-सामर्थ्य से और अतलस्पर्शी प्रज्ञा से तत्रमार्गी के अनेक दल गोरक्ष-मतानुयायी बने और उन्होने पूर्व सस्कार और गोरक्षोपदिष्ट मार्गो के विचित्र सम्मिश्रण से अपना स्वतन्त्र मार्ग चलाया। हिन्दी वैष्णव कवियो मे कबीर नाथपथ से प्रभावित हैं। उत्तर भारत मे यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का विकास न होकर बाद मे उसमे अनेक विकृतियाँ आ गई थी जिनका कबीर ने निषेध किया है। अवधू, निरजन आदि अनेक शब्द तथा काया-साधना की बाते नाथ पथियो की विरासत के रूप मे कबीर और अन्य निर्गुनियो सन्तो को मिली है। नाथ सम्प्रदाय ने सूफियो पर भी अपना प्रभाव डाला है। महाराष्ट्र मे ज्ञानियो के गुरु श्री ज्ञानेश्वर सीधे नाथ पथ से जुडे हुये हैं। इस तरह कहा जा सकता है कि वैष्णवो मे एक तरफ की

कडी ज्ञानेश्वर को लेकर और दूसरी कडी कबीर को लेकर नाथ सम्प्रदाय को वैष्णवो से जोडती है ।

मूलत. नाथ पथी होने पर भी उनके द्वारा वैष्णवो का भागवत धर्म बहुत ही प्रभावित हुआ । इसी से शैव तथा वैष्णवो मे ऐक्य भावना निर्माण हुई और वे पारस्परिक रूप मे एक दूसरे के देवता के प्रति आदर करने लगे । श्री क्षेत्र पढरपुर के विठोबा की मूर्ति इन लोगो की पूजा और भक्ति का विषय बनी । इस देवता की मूर्ति मे शिव और विष्णु सुचारु रूप से एकत्रित किये गये है । विठोबा बालकृष्ण ही है । बालकृष्ण या श्रीकृष्ण का नाम लेते ही जो वैष्णवी भावना मनुष्य मे पाई जाती है उस तरह विठ्ठल भजन करने से शैवी या वैष्णवी किसी भी एक प्रकार की भावना निर्माण नही होती । 'विठ्ठल' नाम मे ऐसा जादू भरा हुआ है कि इस नाम के लेने से शिव तथा विष्णु की अनुभूति एक ही रूप मे एक ही समय हो जाती है । मराठी के वैष्णव सन्त कवियो ने अपने ग्रन्थो द्वारा भागवत धर्म पर प्रवचन कर उस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है वैसे ही ईश्वर प्राप्ति के हेतु भक्ति को सुलभतम साधन बतलाया है । स्थान-स्थान पर अपने आपको वे भागवत कहलाते है । उनमे हमे किसी तरह की साप्रदायिकता, या कटुता नही दिखाई देती जो स्वय को वैष्णव या शैव कहलाने वाले साप्रदायो मे आज तक भी बनी हुई है । पढरीनाथ विठोबा के भक्त ज्ञानेश्वर से लेकर आज तक जितने भी हुए है वे सब वारकरी कहलाते है । वास्तविक रूप से ये सब भागवत धर्मानुयायी ही है, और वैष्णव होते हुए भी शैव और अन्य सम्प्रदायों के साथ इनमे सहिष्णुता है ।

ज्ञानेश्वर के द्वारा नाथ सम्प्रदाय मे जो शैव और वैष्णवो का समन्वय किया गया उसी का ही यह मूर्त रूप है । नाथ सम्प्रदाय के आदिनाथ शङ्कर-महादेव-शिव का समन्वयात्मक रूप कानडा विठोबा अर्थात कर्नाटक के विठ्ठल कृष्ण रूप मे परिणत हुआ ।

उत्तर भारत के नाथ सम्प्रदाय मे यह परिणत रूप नही दिखाई देता । वहाँ तात्रिक साधना का आडम्बर दिखाई देता है । कबीर ने नाथ सम्प्रदाय पर भागवत धर्म के सस्कार अवश्य किये है । नाथ सम्प्रदाय मे नौ नाथ प्रसिद्ध है, और इनके बारे मे विभिन्न कथाएँ भिन्न-भिन्न भाषाओं मे प्रचलित है ।

तन्त्र सम्प्रदाय और वैष्णव मत—

अथर्व वेद मे मन्त्रो तन्त्रो आदि की भरमार है । तांत्रिकों की साधना प्राचीन है । तन्त्र शब्द की परिभाषा—'तन्यते विस्तार्य ते ज्ञान मनेन इति तत्रम् । तनोति विपुला नर्थान तत्रमत्र समन्वितान् त्राणंच कुरुते यस्मात् तत्रम इत्यभि

धीयते। स्मृतिश्च तंत्राख्या परम ऋषि प्रणीता।' गौतम के न्याय सूत्र मे 'समान तत्र', 'न्याय तत्र' ऐसे शब्द आये है।

तंत्रकारो की ऐसी श्रद्धा है कि कलियुग की अवस्था ऐमी है कि जिसमे कोई भी वेदाचार, वैष्णवाचार, शैवाचार आदि ठीक प्रकार से नही कर सकता। सभी पशु बनकर कार्ययापन करते है, अत शिव ने लोगो के मोक्ष के लिये आगम-तन्त्रो का निर्माण किया है। गुरु-शिष्य-महिमा अन्य भारतीय शास्त्रो की तरह इसमे भी है। निगम वेद को कहते है और आगम दर्शन को कहते है। आगम की परिभाषा—आगच्छति बुद्धिम्—आरोहति यस्मात् अभ्युदय निश्रेय सोपाया: स आगम.। आगम तन्त्रो मे वैष्णवागम, शैवागम, शाक्तागम, पाचरात्र आगम और भागवत आगम आदि है। वैदिक ग्रन्थो मे तन्त्रों का पाचवाँ और छठा स्थान है। जैसे—श्रुति, स्मृति, पुराण और तन्त्र। दत्तात्रेय का तन्त्रोपासना से सम्बन्ध है। त्रिदेवोका ऐक्यावतार श्री दत्तात्रेय है। तन्त्र की पुस्तको मे 'तन्त्र कौमुदी', 'शक्ति आगम', 'रुद्रीय माला', 'कलिका-कुलार्णव', 'तत्र-तत्व' तथा 'हितोपदेश' और 'महानिर्वाण' आदि पुस्तके प्रमुख है। ब्रह्मा, विष्णु और महेश मे से शिव ही प्रमुख है। शिवजी ने अपनी पत्नी दुर्गा को कई रहस्यात्मक बाते बतलाई हैं। वेद, सूत्र और पुराणोक्त धर्म तो सामान्य धर्म है। किन्तु शैवी तन्त्र शास्त्र रहस्यात्मक है तथा सब के पहुँच की चीज नही है। अत. यह असामान्य और अलौकिक है।

तन्त्रो का दूसरा नाम आगम भी है। इनके रचयिता का पता नही लगता। किसी युग मे तन्त्रो का बडा जोर-शोर था और वेदो से भी उनका महात्म्य बढ गया था। अत यहाँ के लोग धर्मशास्त्र, पुराण और तत्रो से अनुशासित होते थे। कलियुग मे इनका प्रभाव स्वाभाविक है। हमारे यहाँ की धार्मिक क्रियाएँ तात्रिक है। तन्त्रो मे से आधे तो औषधियो का काम करते है। इस प्रकार की धारणा वास्तव मे ठीक नही है। रूडरॉफ जैसे लोग इसलिए इस प्रकार की धारणा रखते थे क्योकि उनको धर्मशास्त्रो का कोई ज्ञान न था।

शाक्तो के धर्म ग्रन्थ भी तन्त्र कहलाते है। इनके सिद्धातो को वामाचारी दक्षिणाचारी कहा जाता है। इनका स्वर कही-कही वेदानुकूल है तो कही-कही वेद विरोधी, एवम् शूद्रो के लिये भी है। बहुत से वैष्णव और शैव जो अपने आपको वाह्यत. वैसा कहलवाते है पर जिनका व्यवहार वामाचारी होता है, वे छिपे रूप मे शाक्त ही है। जैनो और बौद्धो ने तन्त्रो से अपनी कई धार्मिक क्रियाओ को अनुप्राणित किया है। तिब्बत का लामा सप्रदाय, तथा नैपाल का हीनयान बौद्ध सप्रदाय ऐसे हा तन्त्रकारो से सम्बद्ध है। भक्ति मार्ग की ही तरह तन्त्र मार्ग का

अध्ययन एवम् साधना होती है। तत्रमार्गी अपने मार्ग को उपनिषदों से बढ़कर तथा ज्ञान और कर्ममार्ग से श्रेष्ठ वतलाते हैं। शिव की पत्नी कालिका ही उपासना की प्रमुख उपास्या है। प्रकृति-शक्ति को प्रधान माना जाता है। सृष्टि की उत्पत्ति, संहार और पालन पुराणों की तरह वर्णित है। उपासना दैवी शक्ति प्राप्त करने की विधि तथा सिद्धि और परब्रह्म (Supreme Being) के साथ तादात्म्य की चर्चा प्रत्येक तन्त्र मे की गई है।

आज के उपलब्ध तात्रिक ग्रन्थ भले ही ९ वी–१० वी शताब्दी के हो किन्तु आठवी शताब्दी के शकराचार्य, वौद्ध, जैन, नागार्जुन और अन्य लोग इन सब पर तत्र का प्रभाव पडा हुआ है। तन्त्रकारो की रीति अपनाये हुए श्रीमदाद्य शकराचार्यजी की 'सौंदर्य लहरी' यह रचना प्रसिद्ध है। तत्रकारो के सिद्धात सांख्य दर्शन से प्रभावित होते हुए भी आगे चलकर वेदान्तियो ने भी तत्रकारो की शक्तिको अपनी माया के रूप मे ढाल दिया है। इनके ग्रन्थो की भाषा ऊवड-खाबड़ सस्कृत है। ह्रासावस्था मे पहुँचे हुए बुद्ध धर्म का स्वरूप इनमे देखने को मिल जाता है। तिव्वती अक्षरो में तात्रिक देवता उल्लिखित हैं। इनको रयद (Rayad) कजूर और तंजूर (Kanjure & Tanjure) कहते है। मंजुश्री यह एक नाम और मिलता है।

दुर्गा के कई नामो मे से एक नाम योगनिद्रा है। विष्णु और कृष्ण से इसका विशेष सबध है। शिव की दुर्गा और विष्णु की ल्हादिनी, सधिनी और सवित् आदि शक्तियाँ है। इन मुख्य देवताओं की ये सगुण साकार सहचारियाँ है। गौड देश तात्रिको की भूमि माना गया है।

हिमालय के केदारनाथ, तुङ्गनाथ, रुद्रनाथ, मधमाहेश्वर, कल्मेश्वर आदि पाच स्थानों मे महार्णव तन्त्र पैदा हुआ ऐसा वतलाया जाता है। यह वर्फ से ढका हुआ पार्वत्य प्रदेश है, जहाँ से गगोत्री जमनोत्री निकलती है। वही केदारनाथ और वद्रीनाथ है। शिवजी कैलाश मे रहते हैं। मानसरोवर अपनी पवित्रता से वहाँ पर विद्यमान है।

शिव के द्वारा वर्णित तन्त्र, यमल, डमर आदि है। शिवसूत्र मे संवादशैली मे इनका लिखा मिलता है।[1] ये सवाद शिव और पार्वती के बीच हुए थे। श्रीगणेशजी ने प्रथम देवयोनि को तन्त्र पढाया जो उनको शिवजी से प्राप्त हुआ था। महानिर्वाण तन्त्र मे उसका उल्लेख है।[2] जो विद्यमान है, वह 'तत्सत्' है। ब्रह्म दो प्रकार का है। 'निष्कला' और 'सकला'। प्रकृति ही कला है। शक्ति सर्वत्र

१. शिवसूत्र।
२. महानिर्वाण तंत्र।

रहती है। ब्रह्म केवल उचित का स्वरूप है। शक्ति और वह स्वयम् अनादि रूप है। वह ब्रह्मरूपा है तथा सगुण और निर्गुण दोनो है। उसे चैतन्य–रूपिणी देवी भी समझा जाता है। सब भूतो मे वह अभिव्यक्त होती है। इन सबके द्वारा ब्रह्म प्रकट होता है। शारदा के शब्दो को सारा विश्व घेरे हुए है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे तिल मे तेल। ब्रह्म और शक्ति से नाद उत्पन्न हुआ। पहले केवल ब्रह्म था उसने कहा—'एकोऽहम् बहुस्याम्।' नाद से बिंदु उत्पन्न हुआ। सूक्ष्म शरीर की अवस्था को अमाकला कहा जाता है। वही मूल मत्र है। विन्दु तीन प्रकार के होते है—(१) शिवमय, (२) शक्तिमय, (३) शिवशक्तिमय। पराग विन्दु से एक वृत्त का बोध होता है।

शब्द ब्रह्म ही अपरब्रह्म है। शिव शक्ति के मिलने पर उसे पराशक्तिमय कहते है। देवी उन्मुखी हो जाती है। शब्द ब्रह्म से तीन शक्तियां निसृत होती है—(१) ज्ञानशक्ति, (२) क्रियाशक्ति, (३) इच्छाशक्ति। शिवशभू से सदाशिव, उससे ईशान और रुद्र, विष्णु तथा ब्रह्मा निर्माण होते है। ये सब शक्तिमय होते है पर इनके बिना वे कुछ भी नही है। तन्त्र-मार्ग योग और वेदान्त दर्शन से प्रभावित है।

मनुष्य के भीतर शब्द ब्रह्मा देवी कुण्डलिनी का रूप धारण करते है। मनुष्य मे मूलाधार के स्वयभू लिंग में पराशक्ति माया स्थित रहती है। यह कुडलिनी कुडल मारकर बैठी रहती है। (A coiled serpent) यही स्वय प्रकाशित जीव-शक्ति कहलाती है। प्राण उसी के द्वारा प्रकट होते है। मूलाधार मे यही सोती है। कान बद करने पर यदि फुसफुसाहट की आवाज (Hissing sound) न सुनाई दे तो मृत्यु हो जाती है। यही देवी, महामाया, अविद्या, विद्या, प्रकृति अबामाता तथा ललिता है। ललिता–जो निरतर क्रीडा करती है, जिसकी क्रीड़ा ससार का खेल है। जिसकी आँखे सुन्दर पानी मे तैरती हुई मछली की तरह खेलती रहती है। जो उसकी स्वर्गीय मुखाकृति पर विराजित है, तथा जो कभी खुली, तो कभी वद अर्थात् अर्धोन्मिलित रहती हैं। जो दृश्य है और अदृश्य भी। अपनी आभा से अपरिमेय शब्दो को प्रकाशित करना इसी का कार्य है। ये अपने ही अतीव अधकार मे लिपटी हुई है।

तन्त्रशास्त्रीय मान्यताओ के अनुसार देवी ही परब्रह्म है। वे गुणो और स्वरूपो के परे है और ब्रह्माण्ड की माता है, तथा तीन प्रकार की है। (१) पररूपा (Supreme) इस स्वरूप को कोई नही जानता, ऐसा वर्णन विष्णु यमल के अनुसार है। (२) सूक्ष्म रूपा (Subtle) यह स्वरूप मत्रमय है। इसीलिये यह मन मे स्थिर नही हो पाता कारण सूक्ष्म है। (३) स्थूल (Concrete) रूपा या

साकार सगुण रूप हाथ पैर युक्त आकृति देवी ही प्रकृति रूप से ब्रह्मा, विष्णु और महेश रूपी हैं तथा उसके पुरुष और स्त्री रूप भी है। पर स्त्री रूपों में उसका अंश अधिक है। महादेवी के रूप मे वह सरस्वती, लक्ष्मी, गायत्री, दुर्गा, त्रिपुरा, सुन्दरी, अन्नपूर्णा तथा अन्य देवियो के रूप मे परब्रह्म की अवतार है।

आठ प्रकार के बंधनों को तोड़कर उससे मुक्त होने के लिए साधना की जाती है और वह कई प्रकार की होती है। भागवत के गोपी वस्त्र-हरण की कथा को तंत्रकारों ने अपने ढङ्ग से समझाया है। कात्यायनी व्रत करने वाली गोपियों ने यमुना मे स्नान किया। अपने कपड़े यमुना के किनारे उन्होंने उतारकर रखे थे। श्रीकृष्ण ने उनके वस्त्र चुराये और उनको अपने पास नग्न ही आने के लिए विवश किया। इस ससार मे उलझे हुए मनुष्य के कृत्रिम प्रावरण या वस्त्र ही वे पटल हैं जो मनुष्य पर लादे गये है। आठ गोपियाँ संसार की अष्टधा-प्रकृति का मार्ग है और जो गलतियाँ जीव को भ्रम मे डाल देती है, वे ही मानों वस्त्र हैं जो श्रीकृष्ण ने चुराये थे।

मन्त्र शास्त्र और वैष्णव मत—

मत्र शास्त्र मे या तत्र मे तत्रकारों की दृष्टि से भिन्न-भिन्न मन्त्र प्रयोग करते समय तथा गुरुभक्ति मे प्रगति करने के लिए गुरु वदलने में कोई आपत्ति नही दिखाई देती। इस वारे में इस प्रकार के कई उल्लेख मिलते हैं[1]—

मधुलुब्धो यथा भृङ्गः पुष्पात् पुष्पान्तरं व्रजेत्।
ज्ञानलुब्धस्तथा शिष्यः गुरोर्गुर्वंतरं व्रजेत्॥

जिस प्रकार मधु की इच्छा करने वाला भृङ्ग एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर उड़कर चला जाता है, उसी तरह जिसे ज्ञान लालसा है ऐसे व्यक्ति को चाहिए कि वह जहाँ से जो कुछ तथ्य उपलब्ध हो जाय उतना वहाँ से लेकर अपनी प्रगति के मार्ग पर आगे चलता रहे। इससे सिद्ध हो जाता है कि मन्त्र शास्त्र अंधश्रद्धा का विपय नही, शास्त्र का विपय है।[2]

षड्दर्शनो के वारे मे तन्त्रकारो का यह अभिप्राय था—

अन्यान्यशास्त्रेषु विनोद मात्रम्।
न तेषु किञ्चित् भुवि दृष्टमस्ति॥
चिकित्सिते, ज्योतिषतंत्रपादाः।
पदे–पदे प्रत्यय मावहान्ति॥१॥

---

१. तंत्र और मंत्र सप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।
२. ,, ,, ,,

न्यायादि शास्त्र हमे प्रत्यक्ष अनुभव बतलाने वाले नही है। परन्तु वैद्यक-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र और मंत्र-शास्त्र आदि से हम पग-पग पर प्रत्यक्ष अनुभव ले सकते है।[1]

तन्त्रकार और मंत्रशास्त्रज्ञ के अनुसार वेद शब्द की व्याख्या इस प्रकार है--
'इष्टप्राप्तनिष्टपरिहारयोरलौकिकमुपाय यो ग्रन्थो वेदयति स वेदः।'

—सायणाचार्य (ऋग्वेदभाष्यभूमिका)[2]

इष्टफलप्राप्ति और अनिष्ट का परिहार करने के लिए अलौकिक उपाय बतलाने वाला ग्रन्थ वेद कहलाता है। वेदो का वेदत्व और अमोघत्व इस प्रकार बतलाया गया है—

प्रत्यक्षेणानुमित्यावा यस्तूपायो न बुध्यते।
एवं विन्दति वेदेन तस्मात् वेदस्य वेदता ॥

जिस कार्य के लिये प्रत्यक्ष, व्यावहारिक उपायो का अथवा तर्को पर आधारित अनुमानो का उपयोग नही होता और किसी भी प्रकार से न हो सकने वाला कार्य वेद से निश्चित सफल हो जाता है। वेदो का वेदत्व और अमोघत्व इसी मे समझना चाहिए।

मंत्रशास्त्र को उपनिषद् वाङ्मय मे तथा सूत्र वाङ्मय मे और तन्त्रकारो द्वारा 'इत्यधिदैविक्रम' से अभिहित किया गया है। भिन्न-भिन्न यंत्रो के प्रयोग और प्रमुख अधिष्ठाताओ के विषय को 'विद्या' कहा जाता है। प्राचीन ऋषियो मे से मंत्र शास्त्र के अध्वर्यु और तन्त्रकार शुक्राचार्य अथर्ववेद के बारे में अपना मत इस उक्ति से प्रकट करते हैं[3]—

अथर्वांगिरसो नाम सूपास्योपासनात्मकः।
इति वेद चतुष्कंतु ह्युद्दिष्टं च समासतः।
विविधोपास्य मंत्राणाम् प्रयोगस्तु विभेदतः।
कथिता सोपहारास्त धर्म्मश्च नियमैश्चषट्।
अथर्वणा चोपवेदस्वतंत्ररूपः स एव ह ॥

'अथर्वांगिरस' नामक वेद मे उपास्य और उपासना का विषय प्रधान है। चार वेदो का उद्दिष्ट एकत्रित रूप मे सिद्ध होकर अथर्ववेद मे देखने को मिलता है। 'तन्त्ररूप' नाम का पाँचवा वेद इसी अथर्वण वेद का उपवेद ही है। तात्पर्य यह है

---

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।
२. सायणाचार्य—ऋग्वेदभाष्यभूमिका।
३. तंत्र और मंत्रशास्त्र—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।

कि अथर्ववेद काल में मत्र शास्त्र को मूर्त स्वरूप प्राप्त हो गया था। इस काल से आगे के काल मे भारतवर्ष मे कुछ समय तक मत्रशास्त्र की काफी उन्नति हुई। इस शास्त्र की उन्नति की दृष्टि से जो-जो नये अनुसन्धान हुए तथा इस शास्त्र की जो-जो शाखाएँ निर्माण हुई वे सब अथर्ववेद की उपाग समझी गयी।

मत्रशास्त्र की मंत्रसिद्धि के लिए अथवा मत्र के अधिष्ठाता की प्राप्ति के लिए जो आराधना की जाती है उसे उपासना कहते है। इस उपासना-विषय पर प्रकाश डालने वाले साहित्य को 'उपासनाकाण्ड' कहा जाता है। वेदों में या उपनिषद् ग्रन्थों मे ज्ञान-काण्ड उपासनाकाण्ड, और कर्मकाण्ड ऐसे तीन कांण्ड मिलते हैं। अत. तंत्रकारो का इतिहास उपनिषद्काल से उपलब्ध हो जाता है। इसे आठवीं-शती या दसवी शती की उपज मानने की कोई आवश्यकता नही है। तत्रकार अपने विषय का तीन रूपो मे विभाजन करते है—(१) मत्र, (२) यन्त्र और (३) तन्त्र। मत्र—ऐसा कोई अक्षर समुच्चय मत्र कहलाता है जिसके जपने से देवतादर्शन, तथा निज इष्ट-प्राप्ति हो जाती है।

यंत्र—यत्र एक विशेष रेखाकृति होती है जिसमें मत्रो के बीजाक्षर भी लिखे जाते है। इसकी अर्चना से और पूजन से उपास्य की पूजा का फल प्राप्त होता है। अपनी अभिलाषा की तृप्ति के लिए और अरिष्ट के नाश के लिये इन यन्त्रो का उपयोग कई ढङ्ग से किया जाता है।

तत्र—तत्र मे मंत्र सिद्ध करने के लिए किया जाने वाला विधि-विधान और तत्सबंधी अन्य क्रियाएँ आती हैं। तन्त्र संप्रदाय में प्रमुखत. आगम्, शाबर, गारुड, कापालिक, महाकापालिक ये पाँच संप्रदाय विशेष प्रसिद्ध है।[१]

वैदिक साहित्य के युग से ही उपासना काण्ड मिलता है। यह तन्त्रकारो का ही विषय है। इनके प्रयोगों को 'अभिचार' कहा जाता है। ये अभिचार छः प्रकार के होते है—(१) जारण, (२) मारण, (३) वशीकरण, (४) सम्मोहन, (५) स्तभन और (६) उच्चाटन। इनको अभिचार कहा जाता है। तन्त्रकार इन अभिचार-कर्मो का उपयोग करते है। कभी-कभी इसका प्रत्यक्ष प्रयोग भी देखने के लिए मिलता है। इस कर्म से लोगो को कष्ट होता है एवम् पीडा होती है इसलिए भागवत-धर्म मे और स्मार्त-धर्म में इन बातों का निषेध है। साधु सन्त हमेशा इनको उपेक्षा की दृष्टि से देखते हैं। किन्तु तान्त्रिक संप्रदाय में जो सात्विक उपासना-मार्ग है उसकी छाप भागवत संप्रदाय पर अवश्य पडी है। जैसे-स्नान के बाद किये जाने वाले नित्य नैमित्तिक विशुद्ध कर्म, तान्त्रिको का भागवत धर्म पर पडा हुआ

---

१. तंत्र और मंत्र संप्रदाय—डा० रा. प्र. पारनेरकरजी का एक अप्रकाशित ग्रंथ।

प्रभाव ही है। साधु संतों के जीवन मे ये नित्यकर्म प्रत्यक्ष देखने के लिये मिलते है। इन्हे बरतते हुए वैष्णव संतो ने भागवत धर्म के अनुसार भजन, नाम-संकीर्तन आदि किया है जिसका इतिहास साक्षी है। वैसे तन्त्र सप्रदाय वालो की निंदा संत-वाङ्मय मे पर्याप्त रूप से की गयी है। उपासना का विषय मूलतः वैदिक ही है अतएव उसका श्रेय तन्त्रकार को नही दिया जाता। वस्तुतः यह ठीक ही है पर वेदो के युग से चला आता हुआ यह विषय होने पर भी तन्त्रकार की छाप लग जाने से वह आज भी विद्यमान है इतना तो मानना ही पड़ेगा।

भागवत धर्म और राधा—

वैष्णव भक्ति एवम् भागवत धर्म मे 'राधा' का प्रमुख स्थान होने से 'राधा' भक्ति का साकार सगुण रूप एवम् आदर्श बन गयी। अतः राधा के बारे मे यहाँ पर स्वतन्त्र रूप से विवेचन किया जा रहा है।

पद्म पुराण, वाराह पुराण और ब्रह्म-वैवर्त-पुराण मे राधा का विशद एवम् व्यापक वर्णन मिलता है। वैष्णव साधना का प्रमुख ग्रन्थ भागवत है पर उसमे राधा नाम कही भी उपलब्ध नही होता। पर भागवत से ही गौडीय-गोस्वामियो ने राधा का आविष्कार कर लिया है। भागवत के दशम स्कध मे रासलीला के प्रकरण प्रसग मे कृष्ण की एक अत्यत प्रिय गोपी का वर्णन आता है। रास मंडल मे कृष्ण अपनी इस प्रियतमा गोपी को लेकर अदृश्य हो गए। तब विरहातुरा गोपियो ने उस गोपी का पदचिन्ह देखकर कहा[1] —

अनयाराधितो नूनं भगवान हरिरीश्वरः।
यन्नो विहाय गोविन्दः प्रीतो माम नयद्रह ॥

यहाँ पर 'अनयाराधितो' पद की व्याख्या करते हुए श्री सनातन गोस्वामी ने 'वैष्णव तोषिणी' टीका मे राधा का संकेत किया है। अन्यो ने अनयैव आराधितः, आराध्य, वशीकृत., न तु अस्माभि। 'राधयति—आराधयतीति राधेति नाम कारण च दर्शित'। इस तरह राधा का व्यक्तित्व स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। विश्वनाथ चक्रवर्ती ने इसकी व्याख्या करते हुए कहा है —'नून हरिरयं राधितः राधा इत प्राप्त.' इस तरह राधा से उसका सम्बन्ध जोडा है।

परमेश्वर की शक्तिके अर्थ मे 'राधस' शब्द भागवत मे आया है—

निरस्त साम्यातिशयेन 'राधसा'।
स्वधामनि ब्रह्मणि रंस्यते नमः ॥

राध=ससिद्धौ। यह धातुपाठ मे मिलता है। इस धातु का अर्थ मनोरथ या

---

1. भागवत—दशमस्कंध।

भगवद्-प्राप्ति की इच्छा होना है। 'राधस' का ही आगे चलकर 'राधा' यह स्वरूप बना। वैष्णव शास्त्र मे और साहित्य मे ल्हादिनी नामक अतरग शक्ति मे उसका समावेश किया जाता है—

ल्हादिनी संधिनी संवित् अभिधाना अन्तरङ्गिका।
बहिरङ्ग तटास्थाश्च जयन्ति प्रभु-शक्तयः॥

भाडारकर राधा को आभीरो की इष्ट देवी बतलाते है जो सीरिया से आकर भारत मे बस गए थे। उनके बाल गोपाल सात्वत धर्म के उपदेष्टा भगवान् कृष्ण से सम्मिलित हो गये बाद मे राधा भी आर्य जाति मे स्वीकार कर ली गई।[1] डा० मुन्शीराम शर्मा के अनुसार आभीर भारतीय ही थे। उनकी उपासना पद्धति की मौलिकता के कारण वे आर्यो से पृथक माने गए।[2] डा० हजारीप्रसादजी के मतानुसार राधा या तो आभीर जाति की प्रेम देवी रही होंगी जिनका सम्बन्ध बाल-कृष्ण से रहा होगा। बालकृष्ण का वासुदेव कृष्ण से एकीकरण होने पर प्रारम्भ में राधा का उल्लेख नही हो सकता था। बालकृष्ण की प्रधानता हो जाने पर राधा भी प्रधान बन गई होगी। दूसरी कल्पना उनकी इस प्रकार है 'राधा इसी देश की आर्य जाति की प्रेम देवी रही होगी।[3] डा० मुन्शीराम की दृष्टि मे राधा अपने मूल रूप मे साख्य की प्रकृति ही है।[4] वेदो मे कृष्ण की तरह 'राधा' नाम भी अनेक स्थानो पर आया है। रैवाराधस् अर्थात् धन अथवा अन्न के अर्थ मे वर्णित है। अग्नि को 'सुराधा' कहा गया है। अग्नि सुराधा है अर्थात् अच्छे रैव अथवा धन से ओतप्रोत है। ऋग्वेद में इन्द्र को राधा नां पते' अर्थात् धनो का पति कहा गया है।

ईसा की बारहवी शताब्दी मे बङ्गाल में जो वैष्णव साहित्य निर्माण हुआ उसमे 'राधावाद' की प्रमुखता है। जयदेव ने अपने 'गीतगोविन्द' मे प्रेमलीला का विषय श्रीकृष्ण को चुना और आश्रय 'राधा' को बनाया। बङ्गीय और भारतवर्ष के अन्य भाषीय साहित्य मे राधा की जो मूर्ति हमारे सामने अकित की गई है उसके दो स्वरूप सामने आते हैं। प्रथम तो दार्शनिक है और दूसरा धार्मिक है। इन दोनों से बनी साकार प्रतिमा राधा है। सामान्य रूप से राधावाद का बीज भारतीय

---

१. वैष्णविज्म, शैविज्म और अन्य मत—भांडारकर, पृ० ३८।
२. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० १६४।
३. सूर साहित्य संशोधित संस्करण—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १६–१७।
४. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा, पृ० १७५।
५. ऋग्वेद—३–५१–१०।

शक्तिवाद मे है। वैष्णव धर्म और दर्शन मे भिन्न-भिन्न प्रकार से सयुक्त होकर, भिन्न-भिन्न रूपो और अवस्थाओ मे परिणत होकर शुद्ध शक्तिरूपिणी राधा परम प्रेमरूपिणी वन गई। मूल प्रकृति आद्यशक्ति है। साख्य के पुरुष और प्रकृति दार्शनिक की दृष्टि मे चाहे जो कुछ भी क्यो न हो किन्तु जनता के मन के पुरुष प्रकृति शिव शक्ति का रूपान्तर है। पुराणो मे विष्णु की शक्ति श्री–लक्ष्मी अनेक प्रकार से विष्णु माया के तौर पर कीर्तित हैं। कूर्म पुराण के द्वितीय अध्याय मे नारदादि महर्षियो से विष्णु ने लक्ष्मी का परिचय इस प्रकार दिया[१]—

इयंसा परमाशक्तिर्मन्ययी ब्रह्म रूपिणी।
माया मम प्रियानन्ता ययेदं धार्य ते जगत्॥
अनयैव जगत् सर्वं सदेवासुर मानुषम्।
मोहयामि द्विज श्रेष्ठा ग्रसामि विसृजामिच॥

'ये वही परमाशक्ति है, ये मन्मयी ब्रह्म रूपिणी है, ये मेरी माया है। मेरी प्रिया है—अनन्ता है—इन्ही के द्वारा यह ससार विवृत है। हे द्विज श्रेष्ठ! इन्ही के द्वारा मैं सदेवासुर-मनुष्यादि सारे ससार को मोह से घेर लेता हूँ। उनको ग्रसता हूँ, फिर सृजन करता हूँ।'

पुराणो मे विष्णु-माया के दो प्रधान भेद वर्णित हैं। (१) विष्णु की आत्ममाया, और (२) त्रिगुणात्मिका वाह्य माया। इस त्रिगुणात्मिका माया से विष्णु का कोई सीधा सवध नही है। यह विष्णु की आश्रिता माया है। विष्णु की आत्ममाया ही वैष्णवी माया कहलाती है। यह लक्ष्मी नही है। अनत शयन मे जब विष्णु सो रहे थे तब उस समय की निद्रा उनकी वास्तविक निद्रा न थी। वह विष्णु की योग-निद्रा थी। विष्णु पुराण का यह उल्लेख देखिए[२]—

योगनिद्रा महामाया वैष्णवी मोहितं मया।
अविद्यया जगत् सर्व तामाह भगवान हरिः॥

'खिलहरिवंश' का यह उल्लेख भी द्रष्टव्य है[३]—

विष्णोः शरीरजो निद्रां विष्णु निर्देश कारिणीम्।

गीता मे भी भगवान् इस वैष्णवी माया की चर्चा करते हैं। यही योगमाया है। यह योगमाया भगवान् की स्वरूपभूता 'दुर्घटघटनी चित्शक्ति.' है। सारी क्रीडा और लीलाएँ इसी योग माया के आश्रय से होती हैं। गौडीय वैष्णव इसे मान्य करते हैं। शक्तिमान भगवान् ने रमणेच्छा से अपनी शक्ति को दो भागो मे

---

१. कूर्म पुराण (पूर्व भाग)–१–३४–३६।
२. विष्णु पुराण–५–१–७०।
३. खिल हरिवंश–४–१०।

विभक्त किया। इस तरह भगवान् स्वयम् अपने निकट 'आस्वाद्य' और 'आस्वादक' बन गये है। डा० शशिभूषणदास गुप्ता के मतानुसार राधावाद का बीज शक्तिवाद मे है।[1] हो सकता है कि राधा की कल्पना पर शाक्तमत का प्रभाव हो पर इसे कल्पनाश्रित ही माना जावेगा।

विष्णु की दो शक्तियाँ प्रसिद्ध है (१) परा (२) अपरा। देवताओं की युगल मूर्तियाँ जनता मे मान्य हैं। जैसे ब्रह्म-माया, पुरुष-प्रकृति, शिव-शक्ति आदि। इसी प्रचलित विश्वास ने राधाकृष्ण युगल को भी मान्यता प्रदान कर दी। तंत्रादि मे पराशक्ति को ललिता देवी कहा गया है। पद्म पुराण मे कृष्ण ही स्वय ललिता देवी है, जिनको 'राधिका' कहकर गाया जाता है ऐसा उल्लेख है[2]—

अहं च ललिता देवी राधिका या च गीयते।
अहं च वासुदेवाख्यो नित्यं कामकलात्मक.॥
सत्यं योषित् स्वरूपोहं योषिच्चाहं सनातनी।
अहं च ललिता देवी पुंरुपा कृष्णविग्रहा॥
आपयोरन्तरंनास्ति सत्यं-सत्यं हि नारद।

पुराणो मे ऐसे कई समीकरण ढूँढने पर अनेक रूपो से बने हुए मिल जाते है। चतुर्वैष्णव संप्रदायो मे, रुद्र और सनक सप्रदाय मे लक्ष्मी की जगह श्री राधिका का आविर्भाव मिलता है। गौड़ीय वैष्णवो मे राधा-तत्व का सम्यक विकास दिखाई देता है। मूलत साहित्यिक उज्ज्वल के माध्यम से राधा का धर्म मत मे प्रवेश हुआ। बारहवीं शताब्दी के पूर्व विष्णुशक्ति के बारे मे जो भी मत प्रचलित थे उसी मे राधा-तत्व आकर मिल गया।

किसी ज्योतिषी पडित का मत है कि राधा-कृष्ण तत्व मे मूलतः ज्योतिष का सम्बन्ध है। विष्णु ही सूर्य है ऐसा उल्लेख वेद मे मिलता है। कृष्ण सूर्य का प्रतिबिम्ब है और गोपी-तारका का। गो अर्थात् रश्मि। अतएव सूर्य ही गोप और तारका गोपी है। योगेशचन्द्र के मतानुसार राधा नाम पुराना था और विशाखा का वह नामान्तर था।[3] कृष्णयजुर्वेद मे विशाखा, अनुराधा आदि नक्षत्रो के नाम हैं। 'राधो विशाखे' ऐसा उल्लेख यह स्पष्ट करता है कि विशाखा का नाम राधा है। राधा=सिद्धि। महाभारत मे कर्ण की धातृमाता राधा नाम की है और कर्ण 'राधेय' कहलाता है। राधा का दूसरा नाम तारा था। रूप-गोस्वामी के द्वारा लिखित 'ललित माधव' नामक नाटक मे यह उल्लेख है—

---

१. श्री राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषण दास गुप्ता, पृ० ३।
२. पद्म पुराण—पाताल खण्ड—४४, ४५, ४६।
३. भारतवर्ष। पत्र। माघ–१३४०।

दनुजदमनवक्षः पुष्करे चारुतारा।
जयति जगद पूर्वाः कापि राधाभिधाना ॥

दनुज-दमन श्रीकृष्ण के वक्षरूपी आकाश मे राधा नामक एक जगद्पूर्णा चारु तारा है—उसी की जय हो। ज्योतिप शास्त्र विषयक आधार से राधा के स्वरूप पर कोई यथार्थ प्रकाश नही पड सकता। डा० विजयेन्द्र स्नातक का यह कथन ठीक ही है कि विगत डेढ सहस्र वर्षो से राधा तत्व भक्ति क्षेत्र का आराध्य तत्व रहा है, अत. उसे नक्षत्र-विद्या तक सीमित करने का दुस्साहस नही करना चाहिए।[1]

कृष्णदास कविराज चरितामृत मे कहते है[2]

कृष्ण वांछा पूर्तिरूपकरे आराधने।
अतएव राधिका नाम पुराणे बाखाने ॥

इससे स्पष्ट है कि कृष्ण प्रियतमा प्रधाना गोपी का इशारे से राधा नाम का आभास दिया है। पद्मपुराण मे 'राधा' नाम की एक प्रकार से वहुतायत है। रूप गोस्वामी से 'उज्ज्वल-नीलमणि' ग्रन्थमे और कृष्णदास कविराजने 'चैतन्य-चरितामृत' मे पद्मपुराण से राधा नाम का उल्लेख किया है[3]—

यथा राधा प्रिया विष्णो स्तस्याः कुण्डं प्रियं तथा।
सर्व गोपीषु सेवैका विष्णो रत्यान्तवल्लभा ॥

वैसे अनुमानत. पद्मपुराण छठी या आठवी शती का वतलाया जाता है। ऊपर दिया गया श्लोक सोलहवी शती मे या उसके पूर्व पद्मपुराण मे आकर मिल गया है ऐसा डा० शशिभूषणदास गुप्ता का अनुमान है।[4]

मत्स्यपुराण मे राधा का उल्लेख है[5]—

श्रीकृष्णो रसिया राधा यद्वामांशेन संभवा।
महालक्ष्मीश्च वैकुण्ठे साच नारायणो रसि ॥

'ब्रह्मवैवर्त-पुराण' मे राधा कृष्ण को प्राणो से भी अधिक प्रिय वतलाई गयी है। और वे कृष्ण की शक्ति भी वतलायी गयी है।[6]

---

१ राधावल्लभ संप्रदायः सिद्धान्त और साहित्य—डा० विजयेन्द्र स्नातक पृ० १८१।
२. आदि ४—चरितामृत—कृष्णदास कविराज।
३. पद्मपुराण।
४ राधा का क्रम विकास—डा० शशिभूषणदास गुप्त, पृ० १०८।
५. मत्स्यपुराण—२६–१४–१५।
६. ब्रह्मवैवर्त पुराण—कृष्ण जन्म खंड—१५।

प्राणाधिके राधिके त्वं श्रूयतां प्राणवल्लभे ।
प्राणाधि देवि प्राणेश प्राणाधारे मनोहरे ।।

'गोपालोत्तर-तापनी' मे राधा गाधर्वी नाम से विश्रुता है। 'द्रविड गीत प्रबन्धम्' राधा की नाई गजगामिनी गौरी एवम् सौन्दर्य की प्रतिमा सब गोपियो मे प्रधान और श्रीकृष्ण की निकट आत्मीया एवम् कृष्ण की प्रियतमा गोपी 'नाप्पिन्नाई' का वर्णन है। अनुमान किया जाता है कि यह 'नाप्पिन्नाई' राधा ही है। आठवी शताब्दी मे पहाडपुर मे पायी गयी युगल मूर्ति मे राधाकृष्ण का स्वरूप है। कहा जा सकता है कि राधावाद का प्रचलन आठवी शती से पूर्व रहा होगा।

'गीत गोविन्द' बारहवी शती का ग्रन्थ है। जयदेव के इस ग्रन्थ का महाप्रभु चैतन्य ने कृष्णा-वेणा नदी के तीर पर स्थित तीर्थो मे, विशेषत. वैष्णव ब्राह्मणो मे बहुत प्रचार देखा था। इससे कहा जा सकता है कि बारहवी सदी के आसपास राधावाद का आश्रय लेकर वैष्णव धर्म दक्षिण मे पर्याप्त रूप से फैल गया था। 'कृष्ण कर्णामृत' दसवी से लेकर १५ वी शताब्दी तक रचा गया ग्रन्थ है। दक्षिण मे गोदावरी नदी के तीर पर ही चैतन्य महाप्रभु ने रामानदरॉय से राधा प्रेम के गूढ तत्वो को सुना था ऐसा कृष्णदास कविराज कृत 'चैतन्य चरितामृत' मे प्रमाण मिलता है।

लक्ष्मी के प्रेम की अपेक्षा गोपी-प्रेम श्रेष्ठ है। अतएव प्रेम के धन मे सबसे अधिक धनी श्रीमती राधा ही है। प्रेममयी राधिका का सौन्दर्य लक्ष्मी के सौन्दर्य से अधिक माधुर्य युक्त है। निष्कर्ष यही है कि कृष्ण की प्रेम कहानी से ही राधा का उद्भव हुआ है और वह भी मूलतः भारतवर्ष के साहित्य का ही अवलम्बन करके विकसित और प्रचारित हुआ है।

प्रेम के साम्राज्य मे स्त्री और पुरुष-सबध के अनेक स्वरूप हुआ करते है। कृष्ण चरित्र मे इन सब को उचित और सम्यक स्थान मिला है। व्यास ने विविधता युक्त इन सब का विशद वर्णन किया हैं। भगिनी के रूप मे सुभद्रा, द्रौपदी, माता के रूप मे यशोदा और सब प्रकार के प्रेमरस का सॉचा बनाकर उसमे से ढाली गई प्रेमरस की साकार प्रतिमा राधा तथा गोपियॉ जब हम देखते है तो कहना पडता है कि इनकी तुलना किसी से भी नही हो सकती। राधा ने कभी मॉ की तरह कृष्ण को भोजन खिलाया, कभी तुरन्त रमणी बनकर अपने प्रियतम कृष्ण का मन रिझाने के लिए उत्सुका बनकर सामने आयी है, तो पुन प्रेयसी बनकर किसी भी व्यवहार मे पीछे न रहते हुए कभी गाना गाकर आनन्द की दात्री बन गई है, तो कभी नाचकर कृष्ण को लुभाया है और कभी कृष्ण की विरहिणी बनकर चिन्तामग्न बन गयी है। साराश यह कि एक राधा मे स्त्री-प्रेम के सारे व्यापार

महर्षि व्यास ने अपनी आँखो के सामने रखे थे और उन सारे स्वरूपों के साथ तद्रूप होकर उनको एक रस और तन्मयता से कर दिखाने वाली—श्रीकृष्ण के प्रेम को अभिव्यक्त करने वाली राधा का निर्माण किया है। राधा का समूचा जीवन कृष्णमय था इससे कृष्ण के जो भाव थे वे सब राधा मे मिलते है। इसलिये इसमे नानात्व देखने के लिए मिलता है। प्रेम की उच्चतम अवस्था राधा और कृष्ण के बीच का भेद भाव नष्ट होकर अभेद भाव निर्माण होने पर प्राप्त होना ही सभव है अन्यथा नही।

भारतवर्ष मे कही भी चले जाने पर भक्ति की परा काष्ठा जिसमे प्रकट हो गई हो ऐमी मूर्ति सिवा राधा के और कौनसी हो सकती है? वैसे देव मन्दिर मे देवमूर्ति के साथ उसकी विवाहित पत्नी अर्थात् शक्ति खडी रहती है। जैसे शङ्कर-पार्वती, विष्णु-लक्ष्मी, राम-मीता पर श्रीकृष्ण के साथ-गोपालकृष्ण के माथ उनकी शक्ति-भक्ति राधा सातत्य से खडी हम देखते है। राधा को हम भक्ति की मूर्तिमान प्रतिमा कह सकते है। वेद की 'योपाजारमिव प्रियम्' यह श्रुति प्रसिद्ध है। राधाकृष्ण के सबध मे भक्ति की साधना जब प्रशसात्मक रूप मे सर्वत्र प्रचलित हुई तब राधा-भक्ति शक्ति के रूप मे पूजनीय बन गई। नारदमुनि भक्तिशास्त्र के प्रवर्तक है। राधा-कृष्ण भक्ति की प्रतिमाएँ है। इसमे कृष्ण परमात्मा है तथा राधा उनकी शक्ति-भक्ति है। राधा का भक्तिशास्त्र के अनुसार यही स्थान है।

राधा मे लीलावाद की प्रतिष्ठा बारहवी सदी तक परिपूर्ण हो जाती है। गीतगोविन्द के अनुसार यह कथन है कि[1]—

राधा माधवयोर्जयन्ति यमुनाकूले रहः केलयः।

मधुररस आधार की प्रमुख सूत्र राधिका-राधा है। लीलावाद और मधुर-रस की प्रधानता ये दो लक्षण वैष्णव साहित्य मे प्रधान है। चैतन्य के पूर्ववर्ती युग मे विद्यापति और चडीदास ने राधाकृष्ण पर काव्य लिखकर प्रसिद्धि पाई थी। निम्बार्क-सप्रदाय भी राधा को कृष्ण के साथ अभिन्न रूप से उपास्य भाव मे स्वीकार करता है। राधा भाव की भक्ति दाक्षिणात्य वैष्णवो की देन है और चैतन्य पर उसका सब से अधिक प्रभाव है। जीव गोस्वामी ने राधा को दार्शनिक प्रतिष्ठा का आधार दिया।

राधा-प्रेम में स्वकीया-परकीयातत्व—परकीया तत्व का प्रचार स्वय चैतन्य ने किया था। प्रेम के विभिन्न स्तरो और भेदो मे इसकी विशेषावस्था परकीया तत्व का रूप है[2]—

---

१. गीत गोविन्द—जयदेव (संपादक-आचार्य विनयमोहन शर्मा), पृ० ८५।
२ चैतन्य चरितामृत—आदि चतुर्थ।

'परकीया भावे अति रसेर उल्हास।
ब्रज बिना इहार अन्यत्र नाहि बास॥
ब्रज वधु गरोर एइ भाव निरवधि।
तारमध्ये श्री राधार भावे अवधि॥'

परकीया भाव मे रस का उल्लास आत्यन्तिक रूप से हो जाता है। यह भाव लेकर सिवा ब्रज के अन्यत्र कही निवास नही हो सकता। ब्रज-वधु-गरण मे इसी भाव से जाया जा सकता है और उसमे भी राधा-भाव सर्वश्रेष्ठ है। कान्ता-भाव से की गई प्रीति मे परकीया प्रेम ही सर्वश्रेष्ठ है। इसी प्रेम का परिरगति राधा-प्रेम मे होती है। इस प्रेम मे सर्वस्व का त्याग करना पडता है। लज्जा-भय-बाधा से मुक्त प्रेम परकीया प्रेम है। अनेक धर्म साधनाओ का और तत्रो का प्रभाव सम्मिलित होकर वैष्णव सहजिया से परकीया तत्व को लेकर राधा मे परकीया भाव दृढ किया गया है। भगवान् की प्रेम रूपा ल्हादिनी शक्ति का राधिका पूर्णतम आधार है। भक्ति की दृष्टि से भागवत-श्रेष्ठ-भक्तिन राधिका ही है। राधा भाव ही महाभाव हैं। राधा प्रेम ही पूर्ण मधुर रस का रागात्मक प्रेम है। यह राधा के सिवा अन्यत्र संभव ही नही है।

वैष्णव साहित्य में राधाकृष्ण के वर्णन अनेक स्थलों पर किये गये मिलते है। मन्दिरो में राधाकृष्ण की युगल मूर्तियाँ भी प्रायः मिलती है। कृष्ण की सत्यभामा, रुक्मिरणी ये पत्नियाँ कृष्ण के साथ नही दिखाई देती। कृष्ण के साथ राधा ही मन्दिरो मे स्थापित की गयी है। इससे राधा श्रीकृष्ण की तरह एक ऐतिहासिक व्यक्तित्व है ऐसा निराधार विश्वास उत्पन्न हो गया है। राधा ऐतिहासिक पात्र नही है किन्तु इसके बारे मे एक कथा इस प्रकार मिलती है—ब्रह्म-वैवर्त-पुराण में राधा कृष्ण की भक्ति का रहस्य इस प्रकार समझाया गया है, कि गोपियो के साथ रासक्रीड़ा करते-करते श्रीकृष्ण के अन्त करण से राधा उत्पन्न हुई। वैश्य वृषभानु की कलावती से राधा उत्पन्न हुई ऐसा भी उल्लेख मिलता है। यज्ञ के लिए भूमि जोतते समय वृषभानु को यह कन्या मिली ऐसा भी एक उल्लेख हैं। पद्मपुराण के अनुसार इसी का कन्यावत् पालन वृषभानु ने किया। सब गोपियो मे कृष्ण की अत्यत प्रिय गोपी राधा ही थी। देवी भागवत और नारद-पुराण मे भी राधा का उल्लेख है।

विष्णु की पाँच सृष्टि–निर्माणात्मक शक्तियों मे से राधा एक शक्ति है। राधा भक्ति के विकास के लिए 'श्री-राधिका-तापनीयोपनिषद्', 'श्री राधोपनिषद्' आदि ग्रन्थ निर्माण हुए। लीला के लिए ही राधा कृष्ण से भिन्न हुई है। राधा कृष्ण बनकर बाँसुरी बजाती है तो श्रीकृष्ण राधा बनकर फूलों की सहायता से

शृङ्गारचेष्टा करते है, ऐसा उल्लेख इन उपनिषदो मे आया हैं। इन सब बातो का सार यह है कि श्रीकृष्ण की आल्हादिनी भक्ति राधा है, जो गधर्वा कहलाती है। ये श्रीकृष्ण की सर्वेश्वरी सपूर्ण सनातनी विद्या है। राधा को छोडकर श्रीकृष्ण पूजन व्यर्थ है। जयदेव, विद्यापति, चडीदास और नरसी मेहता ने राधा का गुणगान किया है। जयदेव की राधा विलासिनी, यौवनपूर्ण प्रेमाकुल है तो 'शैशव यौवन दुहुँ मिली गैल' कहने वाले विद्यापति ने राधा को शैशव और यौवन की दहलीज पर कदम रखने वाली किशोरी के रूप मे वर्णित किया है। विद्यापति ने युवा राधा का वर्णन किया है। यह राधा विलासप्रिय है। चंडीदास की राधा प्रभु की अनत-सगिनी है। विद्यापति की राधा चचल, मधुर और नव-यौवना है, चडीदास की प्रेम-गभीरा, व्याकुल, लोकाचार से डरनेवाली है। सूर की राधा स्वकीया है—व्रजेश्वरी है। भक्ति का अनेक प्रकार का रूप इन मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने तन्मयता से वर्णन कर एक उत्कृष्ण कोटि का साहित्य सर्जन किया है।

नर-नारी के मीलित परस्पर भाव से धर्म-साधना की धारा भारतवर्ष मे बहुत पुराने युग से चली आ रही है। अद्वयतत्व परमानन्द स्वरूप है और यही चरमतत्व भी। इसकी दो धाराएँ है एक शिव और दूसरी शक्ति। पुरुष शिव तत्व का प्रतीक और नारी शक्ति तत्व का प्रतीक है। यही सकल भावना वैष्णव धर्म मे प्रविष्ट हो गई। मूलत यह योग-साधना से आप्लावित थी पर बाद मे उसने प्रेम साधना मे अपना रूपान्तर कर लिया। राधाकृष्ण के मिलन-जनित-आनन्द को प्रेम के सिवा और कुछ नही कह सकते। यह युगल तत्व ही परमतत्व है और इसी मे महाभाव की दशा सभाव्य है अन्यत्र नही। नर-नारी का जागतिक प्रेम याने स्थूल दैहिक आकर्षण भी जाने अनजाने उसी एक सहज रस की धारा का उपभोग है जो प्रेम रस-धारा कहलाती है। वैष्णव सहजियो के अनुसार यह लीला स्वरूप-लीला और श्रीरूप लीला के रूप मे सर्वत्र विद्यमान है। प्राकृत जगत् मे एक पुरुप का पुरुप बाह्य रूप है और इस रूप का आश्रय कर जो रूप भीतर रहता है वह कृष्णस्वरूप है और वही पर वह अवस्थान करता है। इसी प्रकार से प्रत्येक नारी के बाहरी रूप के अन्दर अवस्थान करने वाला रूप राधास्वरूप है। यह भीतरी स्वरूप ही महाभाव को ग्रहण कर सकता है जिसमे एक 'आस्वाद्य' और दूसरा 'आस्वादक' बन जाता है।

सौन्दर्य और माधुर्य की प्रतिमा-मूर्तिमती प्रेम रूपिणी नारी के भीतर से ही राधातत्व का आस्वादन हो सकता है। भारतीय साहित्यकारो ने नारी-सौन्दर्य और नारी-प्रेम माधुर्यके अवलबनसे एक अपरूप मानसी प्रतिमा निर्माण की जो राधा

वनकर भारतीय मानसपटल पर अविच्छिन्न रूप से अङ्कित हो गई है। धमार और होली के पद सूरदासादि अष्टछाप के कवियो ने गाये है। इसमे विरह का करुण स्वर गूँज उठा है। राधा मानवीय प्रेम की मूर्ति के साथ-साथ ही अकृत्रिम प्रेम की मानवीय सहज स्नेह की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई साकार प्रतिमा है। श्रीकृष्ण-राधा की लीलाओ का आधार भागवत ही है, तथा वैष्णव कवियो का वर्ण्य और काव्य विपय राधाकृष्ण-प्रेम ही है। कान्तासक्ति और मधुरा-भक्ति को प्रकट करने वाले आलवारों की रगनाथ की अन्दाल और मेडतणी मीरा इसके अन्यतम उदाहरण है। इन दोनो की साधना राधा की भाँति की गई प्रेम-साधना ही है। कृष्ण कान्तशिरोमणि है, तो राधा कान्ता-शिरोमणि। भक्ति ने ही स्वयम् राधा वनकर उसकी माधुरी सबको चखाई है। ब्रज की ललनाओ ने गोपिकाओ के रूप मे सर्वव्यापिनी मानवी प्रीति को भक्ति के उदात्तीकरण से श्री राधा को उसका प्रतिनिधित्व प्रदान कर दिया है। इस सर्व-व्यापिनी-नारी ने नट-नागर रस पुरुषोत्तम और सौन्दर्य सागर कन्हैया को अपना लिया है।

स्त्री और पुरुप मे परस्पर सहज सुलभ प्राकृतिक आकर्षण रहता है। इसी आकर्पण को लेकर मधुरा भक्ति और कान्तासक्ति के माध्यम से परिणत करते हुए, भगवान् मे अपने आपको सम्पूर्णतया लीन कर देने का एवम् प्रारम्भ से अन्त तक समस्त लौकिक मानवी भावनाओं का अलौकिक भगवान् के प्रति विन्यास (समर्पण) राधा-भाव है। इस महाभाव की स्त्री रूप मे सगुण साकार प्रतिमा राधा के रूप में सामने आई है। इससे बढकर क्या राधा की अन्य परिभाषा बन सकती है ?

मराठी के प्रसिद्ध कवि श्री राम गणेश गडकरी जीवात्मा राधिका की परमात्मा-कृष्ण के प्रति बड़े ही अदभुत ढङ्ग से प्रीति एवम् भक्ति की सीमा रेखा पर राधा की स्थापना करते है। सच है प्रीति की परमोच्च अवस्था भक्त और भगवान् की एकता में ही विद्यमान है।

मी अगदी भोळी राधा ॥ तू माधवजी। नव साधा ॥
मोहिनी करी सुख बाधा ॥
तुज दासी विनवुनी भुरली। कन्हैया। बजाव-वजाव मुरली ॥[१]

मैं तो भोली-भाली राधा हूँ। पर तू सीदा-सादा माधव नही है। तेरी मोहिनी सब सुखों के लिये बाधा बन गई है। तुझ से यह दासी विनन्ति कर थक गई है, अब तो अपनी मुरली बजाओ। सर्वत्र चाँदनी छिटकती हुई है और सारे प्रस्तर भी फूले-फूले जान पड़ते है। सारा विश्व आनन्द से झूल रहा है। ऐसा

१. वाग्वैजयन्ती—श्री राम गणेश गडकरी, १०२–१०७।

जान पडता है कि उसमें तुम्हारी स्फूर्ति प्रविष्ट हो गई है। अणु-अणुओं मे और शरीर के कण-कण मे स्वच्छन्दता व्याप्त हो गई है और भिन्नता अपना शत्रुत्व भूलकर अभिन्न हो गई है। हे नन्दलाल ! अब अपनी कृपा भर दे दो। केवल प्रेम की दुनियाँ शेष बची है, बुद्धि का धैर्य छूट गया है। शरीर आशामय हो गया है, जल मे जलधि का तीर डूब गया है। देखते-देखते सारी दृष्टि ही लुप्त हो गई है। मुझे क्या लग रहा है, उसे कह नही सकती। केवल मानस मे आनन्द छा गया है। वृक्ष के शीर्ष पर उसकी जडें चढ गई है। शून्य मे परार्धो के क्षण भर गये है। फूलोके बिना सुगध आने लगा है। हवाके बिना साँस और प्रश्वास चल रहे है। बिना मृत्युके ही सब कुछ छूट गया है। कन्हैया एक बार मेरे साथ बोले तो मैं अपने जीवन की बाजी लगा दूँगी। अन्यथा तुझे राधा को खो देना पडेगा। मेरे अस्तित्व को सम्हालकर यह विश्व-गोल घुमाइये। मेरे प्रेम से मुझे पकड़कर उसे शरीर से अलग कर लीजिये और देखिये तुम्हारी राधा तुम्हारे पीछे दौडी आ रही है। मैं इसे शरीर की लहर मानूँ या आनन्दावस्था की हलचल समझूँ अथवा इस जीवात्मा की चेतनावस्था जानूँ। क्या करूँ कुछ समझ मे नही आता ? ये सब के सब मुझ मे साकार होकर तुम से मिलते आये है। शृङ्गार रस से सुसज्जित हो यह राधा तुझे मनाने आ गई है। कई जन्म-जन्मान्तरो की पहिचान आज सजग हो गई है और कृष्ण मे राधा रम गई है—समा गई है। अब बाँये अधरो पर तिरछे होकर, बाँकपन के कटाक्ष सहित मुरली बजाकर मेरी ओर देखिये। मैं इसी तरह तुम्हारा ध्यान करना चाहती हूँ। इसी खेल को हे वनमाली ! सदा खेलते रहो। अब ऐसी भावना बन गई है कि शीत और उष्ण शुभ्र और कृष्ण का कोई ज्ञान ही नही बचा है। अब तो राधा और कृष्ण एक रूप हो गये है ऐसी जयनाद यह मुरली ही घोषित करने लगी है। सर्वत्र सब कुछ शान्त हो गया है विश्व मे शान्ति है, आत्मा मे शान्ति है, कृष्ण और राधा भी शान्त है। मानो मुरली मे ही शान्तता समा गई है। शीत और उष्ण तथा ताप और पीडा को सहन कर जिस साधना को अपनाकर यह मुरली अपने स्वन से गूँज रही है उस से मेरा यह विश्वास दृढ हो गया है कि राधा-कृष्ण प्रेम की अमर कहानी ससार सदा गाता रहेगा। श्री गडकरी का यह विवेचन राधा के भाव को सुस्पष्ट कर देता है।

चतुर्थ–अध्याय

मराठी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

चतुर्थ अध्याय

मराठी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

वैसे मराठी साहित्य के आदि कवि के रूप मे मुकुन्दराज को उनके प्रसिद्ध ग्रन्थ 'विवेक सिंधु' के कृतिकार के रूप मे पहचानते है। हमे यहाँ पर मराठी साहित्य का आलोचन नही करना है, किन्तु हमने मराठी के जिन पाँच वैष्णव कवियो को अध्ययनार्थ लिया है उनका विवेचन करना हमारा अभीष्ट होने से यहा पर वही विवेचन किया जाता है।

श्री ज्ञानेश्वर :

श्री ज्ञानदेव के पूर्वजो की जानकारी हमे उनके प्रपितामह के प्रपितामह से उपलब्ध होती है। इनके प्रपितामह के प्रपितामह का नाम हरिपत था और वे सन् ११३८ के आसपास जीवित थे। इनके पोते श्री त्र्यबकपत सन् १२०७ के लगभग देवगिरी के यादव राजाओ के यहाँ नौकरी करते थे। जैत्रपाल यादव राजा ने सन् १२०७ मे एक आज्ञा पत्र इनको दिया था जो आज भी उपलब्ध है। ये पैठण के पास गोदावरी तीर पर बसे हुए आपे गाँव में रहते थे। त्र्यबकपत के दो लड़के थे, हरिपत और गोविन्द पत। हरिपत राजा सिंघण की ओर से लड़ते-लडते मारे गये। ज्येष्ठ पुत्र गोविन्द पत सत ज्ञानेश्वर के प्रपितामह थे। उनकी पत्नी का नाम निराई था जो पैठण के कृष्णाजी पत देवकुळे की भगिनी थी। गोविन्द पत और निराई ने गाहिनीनाथ से उपदेश लिया था। ये यजुर्वेदी वत्सगोत्री वाजसनेयी शाखा के थे। गाहिनीनाथ के कृपापात्र और भगवद् भक्त होने से वैराग्य की साकार मूर्ति के रूप मे इनको पुत्र लाभ हुआ। इस पुत्रका नाम विठ्ठलपत रखा गया। विठ्ठलपत सत ज्ञानेश्वर के पिता थे और ये बचपन मे वेदपठन, काव्य, व्याकरण, शास्त्र आदि पढकर तीर्थ यात्रा करने निकले। भगवान् श्रीकृष्ण के अवतार से संबंधित सभी स्थलो की उन्होंने यात्रा की। इस प्रकार तीर्थाटन करते हुए वे आळदी वापस लौट आये। आळदी के सिद्धेश्वर पत कुलकर्णी ने इनके ज्ञानमय और तेज पुज शरीर को देखा और स्वभावत: इनके प्रति आदर की भावना जागृत हो गई। वे उन्हे अपने घर लिवा ले गए। उनसे पूछताछ करने पर विठ्ठलपत ने उनको अपनी पूरी जानकारी दे दी। विठ्ठलपंतके स्वभाव और गुणो पर रीझकर सिद्धेश्वर कुलकर्णीने

अपनी एकमात्र कन्या उनको समर्पित कर उन्हे अपना जामाता बना लिया। विवाहोपरात विठ्ठलपत अपनी अधूरी तीर्थयात्रा पूरी करने निकले और रामेश्वर तथा दक्षिण के अन्य तीर्थो की यात्रा पूर्णकर वे अपनी ससुराल आळदी मे लौट आए। इसके वाद वे अपने वृद्ध माता-पिता से मिलने के लिए अपनी पत्नी तथा श्वसुर के साथ आपे गाँव पधारे। वैराग्य-प्रवण विठ्ठलपत का मन गृह-गृहस्थीमे रमना असभव ही था। वे सासारिक कार्यो के प्रति उदासीनता बरतने लगे। वृद्धावस्था प्राप्त हो जाने के कारण उनके माँ-बाप चल वसे। तव उनके श्वसुर ने उन्हे आळदी लाकर रखा।

पारिवारिक जीवन—

यहाँ पर भी विठ्ठलपत का मन नही रमा। वैराग्य-प्रवणता बनी ही रही। इसी प्रवृत्ति ने उनके मन मे पितृऋण से मुक्त होकर सन्यास लेने की इच्छा उत्पन्न की। वहुत समय वीत जाने पर भी पुत्र न होने से सन्यास लेने की इच्छा इनमे वलवती होने लगी। इसी विषय को लेकर एक दिन पति-पत्नी मे कुछ कहा-सुनी हो गई और घर को त्यागकर विठ्ठलपत काशी चले गए। वहाँ श्रीपाद स्वामी से सन्यास दीक्षा ले ली। उनका नाम चैतन्याश्रम रखा गया। उनके गुरु उनको वही छोडकर दक्षिण मे तीर्थयात्रा के लिए निकले। सौभाग्यवश आळदी भी गए। अश्वत्थ वृक्ष की नित्य परिक्रमा करने वाली रुक्मिणी को उन्होने देखा। उसने श्रीपादस्वामी को नमस्कार किया। तव 'पुत्रवती भव' यह आशीर्वाद उसे मिला। इस आशीर्वाद को सुनकर वह सिटपिटाई। यह देखकर उन्होने विशेष पूछताछ की और पता लगाया कि उनका शिष्य चैतन्याश्रम ही उसका पति है। तव वे तुरन्त काशी लौट आये और विठ्ठलपत को पुन गृहस्थाश्रम मे प्रवेश करने की आज्ञा दी। गुर्वाज्ञा से विठ्ठलपत पुन लौटे और उन्होने गृहस्थाश्रम स्वीकार किया। इनकी चार सताने हुई। शक ११९५ मे निवृत्ति, शक ११९७ मे ज्ञानदेव, शक ११९९ मे सोपानदेव और शक १२०१ मे मुक्ताबाई का जन्म हुआ।[1] इन भाई-वहनो के जन्म-शको के वारे मे दो मत प्रचलित है। प्रथम मत के समर्थको मे श्री भिगारकर, पागारकर, प्रा वा. अ. भिडे, और डा० रा. द रानडे तथा डा. श गो. तुळपुळे है, तथा दूसरे मत के समर्थको मे श्री वि ल भावे, प्रा. श. वा दाडेकर है। द्वितीय मत का आधार सत जनाबाई का एक अभङ्ग है। यहाँ पर दोनो मतो की तालिका दी जाती है।

---

१. पांच संतकवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ४।

	प्रथम मत	द्वितीय मत
निवृत्तिनाथ जन्म	११९५	११९०
ज्ञानदेव ,,	११९७	११९३
सोपानदेव ,,	११९९	११९६
मुक्तावाई ,,	१२०१	११९९

दूसरे मत का आधार :[१]

शालिवाहन शके अकराशे नव्वद। निवृत्ति आनंद प्रकटले।
त्र्याण्णवचे शकीं ज्ञानदेव प्रगटले। सोपानदेखिलें। शाहाण्णवांत।
नव्याण्णव सालीं मुक्ताई देखिली। जनी म्हणे केली मात त्यांनीं॥

प्रथम मत के अनुसार चारो भाई-वहनो मे दो-दो साल का अन्तर पड़ जाता दूसरे मत के अनुसार तीन-तीन साल का। जनावाई के अभङ्ग का एक और भिन्न पाठ मिलता है जो इस प्रकार है—

शके अकराशे पंचाण्णव संवत्सरीं निवृत्ति उदरीं प्रकटले।
सत्याण्णव सालीं ज्ञानदेव जाले। नव्याण्णवीं देखलें सोपान देवा।
वाराशतें एकीं मुक्तावाई जन्मली। जनी म्हणे केली मात त्यांनीं॥

यह भिन्न पाठ देखकर ऐसा लगता है कि जनावाई का मूल अभङ्ग ही प्रक्षिप्त होगा। जो कुछ भी हो डा० श. गो. तुळपुळे का मत ग्राह्य और सर्वमान्य है।[२]

सन्यासी की सतान होने से समाज मे उन्हे कोई स्थान प्राप्त नही था। सन्यासी के पुत्रो को यज्ञोपवीत सस्कार का भी अधिकार नही है। अतः उनसे कहा गया कि पैठण जाकर वहाँ के पण्डितो से आज्ञापत्र और प्रायश्चित ले लो। वहाँ जाते ही ज्ञानेश्वर ने देखा कि एक भैंसे को उसका स्वामी पीट रहा था। इस करुणाजनक दृश्य को देखकर ज्ञानेश्वर के अन्त.करण मे करुणा उत्पन्न हुई। ज्ञानेश्वर सब की आत्मा को समान मानते थे। उन्हे चिढाने के निमित्त से पैठण के ब्राह्मणो ने ज्ञानेश्वर से पूछा, 'क्या यह भैंसा वेद पढ सकता है ?' इस पर ज्ञानेश्वर ने उस भैंसे से वेद पाठ करवाया। इस करामात से हेमाद्रि पण्डित और वोपदेव आदि ने उन्हे शक १२०९ मे शुद्धिपत्र प्रदान किया। फिर ये चारों भाई नेवासे नामक स्थान पर पधारे।

ज्ञानेश्वर की कृतियाँ—

नेवासे मे ही ज्ञानेश्वर ने अपनी प्रसिद्ध कृति 'ज्ञानेश्वरी' प्रस्तुत की।

---

१. जनावाई कृत अभंग—सकल संत गाथा, पृ० ५४९।
२. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे—पृ० ५।

इसका नाम उन्होने 'भावार्थ दीपिका' रखा। यह टीका गीता पर आधारित है। इसकी शैली, उपमाएँ तथा कल्पना द्वारा प्रकट किये गये शब्दचित्र आदि सब कुछ अत्यन्त मनोरम और सुन्दर है। पाठक के मन मे कवि के विचार प्रत्यक्ष साकार हो उठते है। उपमाओ की भरमार वे नही करते। स्वाभाविक रूप से अर्थ प्रतीति हो जाय यही उनका प्रयत्न है। जहाँ अर्थ प्रतीति नही होती वही पर वे एक से अधिक उपमाओं द्वारा अपना आशय प्रकट करते हैं। उनका निवेदन है कि 'मैने यह सारस्वत का पेड़ वोया है इसके मधुर फल आप चख सकते है। 'ब्रह्म-विद्या की वर्षा करने के लिये वे मराठी और संस्कृत को एक ही सिंहासन पर प्रतिष्ठित करते है।[1]

'माझा मराठाचि बोल कौतुके।
परि अमृता ते ही पैजेसि जिके।
ऐसी अक्षरेचि रसीके मेळवीन।'
जेथ संपूर्ण पद उभारे। तेथ मनचि धावे वाहिरे।
बोलु भुजाहि आशा भरे। आलिंगावया॥
तैसे या शब्दांचे व्यापक पण। देखिजे असाधारण।
पाठियाँ भावज्ञा पावति गुण। चिंतामणि चे॥[2]

मेरी यह मराठी वाणी अमृत की मिठास से बढकर है ऐसा सिद्ध कर सकती है ऐसी मैं होड वदता हूँ। इसमे शब्दों की व्यापकता असाधारण कोटि की है। इसके पढ़ने वाले भावज्ञों को इसमे गुण ही गुण दिखाई देगे। उन्हे ऐसा लगेगा जैसे उनके हाथ मे चिन्तामणि ही पड़ गयी हो।

ज्ञानेश्वर की यह कृति ज्ञानेश्वरी के साथ वागीश्वरी भी है। ज्ञान के सुवर्ण के द्वारा वुद्धि के नग में काव्य का जड़ा हुआ हीरा ही चमक रहा हो ऐसा उसका महत्व है। इसमें शृङ्गार के मस्तक पर शान्ति रसने अपने चरण रख दिये हों ऐसा जान पड़ता हैं। वे प्रतिज्ञा पूर्वक कहते है कि मैं इस प्रकार से अपने वोल वोलूगा जिससे अरूप को रूप प्राप्त हो जावेगा और अतीन्द्रिय ज्ञान भी इन्द्रियों से उपलव्ध करा दूँगा। देखिये—

मी बोलेन। वोली अरूपचि दावीन।
अतिन्द्रिय परि भोगवीन। इन्द्रियाकरवी।[3]

---

१. ज्ञानेश्वरी ६–१४, १६।
२. ज्ञानेश्वरी ६–२१।
३. ज्ञानेश्वरी ६–३६।

मराठी भाषा को अमृत से भी अधिक मिठास श्री ज्ञानेश्वर ने प्रदान कर दी है। गीता के अठारह अध्याय है और ज्ञानेश्वरी की ९००० ओवियाँ है। आज उसकी ८८९६ ओवियाँ उपलब्ध है। ज्ञानेश्वर ने अपनी पद्रह वर्ष की आयु मे इस महत्वपूर्ण ग्रन्थ का निर्माण किया। महाराष्ट्रीय विद्वानो का यह अत्यन्त प्रिय ग्रन्थ रहा है। इसमे भी नवाँ अध्याय सबको अधिक अच्छा लगता है। उनकी यह विशेषता है कि वे अपने सामने बैठे हुए श्रोताओ को बडा और श्रेष्ठ मानकर उन्हे वैसा सम्बोधित करते हुए अपनी लघुता और क्षुद्रता को स्वीकार कर अत्यन्त विनम्रता से और प्रेम से अपने वक्तव्य को उनके अन्त करण-पटल पर अङ्कित करते चलते है। समता, बधुता और विश्वात्मकऐक्य की भावना से सराबोर होकर वे विश्वात्मक देवताके प्रति विनम्रता और ऋजुता से प्रार्थना करते हुए यह 'पसायदान' (प्रसाददान) माँगते है[1]—

आतां विश्वात्मके देवें। येणे वाग्यज्ञे तोषावें।
तोषोनि भज धावे पासायदान हे॥

× × ×

किंबुहना सर्वसुखीं। पूर्ण होऊनि तिहीं लोकीं।
भजि जो आदि पुरुषी। अखंडित॥[2]

इस वाग्यज्ञ से तुष्ट होकर विश्वात्मक भगवान् मुझे इतना प्रसाद-दान दीजिये। इस कृपा से खल अपनी दुष्टता छोड दे और वे सत्कर्म मे रति रखने लग जायँ। परस्पर प्राणिमात्र सौहार्द्र भावना को अपनाये। पापी लोग अपने पापो से मुक्त होकर पवित्र बन जायँ। विश्व मे स्वधर्म का सूर्य प्रकाशित होने लगे जिससे प्रत्येक प्राणिमात्र की वॉछाए तृप्त हो जायँगी। इस भूतल पर अनवरत रूप से ईश्वर कृपा की वृष्टि हो तथा सब मे आस्तिकता और आस्था का प्रादुर्भाव हो जाय। जो आदि पुरुष नारायण का अखड भजन करेगे वे कल्पवृक्षो की तलहटी मे बैठेगे। चेतना-चिन्तामणि के गॉव मे वसेगे। जो लोग सबके हितू है, तथा सज्जन है और अपने व्यवहार मे निष्कलक चन्द्रमा की तरह और तापहीन मार्तण्ड की तरह लाभ पहुँचाने वाले है, वे सव ईश्वर कृपा के पात्र है। अर्थात् समार के सव लोग ऐसे वन जाय यही बात भगवान् से ज्ञानेश्वर माँगते है। ज्ञानेश्वरी की कुछ प्रतियो मे निम्नलिखित ओवी मिलती है[3]—

---

२. ज्ञानेश्वरी १८–१७९३।

१. ज्ञानेश्वरी १८–१७९४, १७९९।

३. ज्ञानेश्वरी १८–१८१०।

'शके बाराशेतबारोत्तरे । तैं टीकाकेली ज्ञानेश्वरे ।
सच्चिदानंद बाबा आदरे । लेखकू जाहला ।'

इससे पता चलता है कि ज्ञानेश्वर-ज्ञानेश्वरी कहते थे और सच्चिदानंद बाबा लेखक के रूप मे उसे लिखते थे। शक १२१२ में यह ग्रन्थ लिखा गया। इस ओवी के रचयिता ज्ञानेश्वर नही है वरन् सच्चिदानद बाबा हैं। नाथपथियों की इन भाइयों ने दीक्षा क्यों ली? ज्ञानेश्वरी लिखने का क्या प्रयोजन है? आदि प्रश्न हमारे सम्मुख महत्व के हैं। श्रीपाद स्वामी का जब इन पर आग्रह था तो फिर नाथपंथ की ओर ये क्यों मुड़े? यहाँ पर संक्षेप में इसी का अब विवेचन किया जावेगा।

ज्ञानेश्वरी लिखने का प्रयोजन—

विठ्ठलपंत के सन्यासाश्रम से पुनः गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने पर उन्हें चातुर्वर्ण्य में कोई स्थान न मिलने से तथा सन्यासियों के इन पुत्रों को समाज मे विशेष आदर न दिये जाने से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है, कि ये नाथ पंथ की ओर झुके हों। इनके अतिरिक्त इनकी दो पूर्व पीढियो मे नाथ सप्रदाय के पुरुषों से अच्छा सम्पर्क था, यह भी इसका एक कारण हो सकता है। सबसे बड़े भाई निवृत्तिनाथ ने गाहिनीनाथ से गुरुमत्र लिया। निवृत्तिनाथ से वह अन्य भाइयो को प्राप्त हो गया। किन्तु इनके उपदेश लेने के पहले से ही ज्ञानेश्वर को मोक्ष, ज्ञान तथा वैराग्य की जानकारी प्राप्त थी। ज्ञानेश्वरी मे नाथ पंथ के शैवाद्वैत दर्शन का तथा शांकर मत के सिद्धान्तो का समन्वय दिखाई देता है। ज्ञानेश्वर का यह कार्य महान् माना जावेगा।

वेदमार्गी शंकराचार्य को मोक्ष या आध्यात्मिक ज्ञान का दरवाजा समाज के चारों वर्णों के लिये तथा स्त्री शूद्रादि को मुक्त करना स्वीकार न था। ज्ञानेश्वर ने व्यवहार मे मर्यादा का पालन उचित है, ऐसा कहकर अध्यात्म के क्षेत्र में स्त्री शूद्रादि के लिए समानता का द्वार मुक्त कर दिया। मोक्ष की प्राप्ति के लिये इस मर्यादावाद की पाबंदी को वे नही मानते थे। रामानुज के पांचरात्र-सिद्धांत की ओर भी उनकी दृष्टि गयी है। सव्यूह और निर्व्यूह मार्गो मे से ज्ञानेश्वर को निर्व्यूह मार्ग पसन्द था। श्री ज्ञानेश्वर ने अलवार संतों के भी भावों का आश्रय लिया है। स्वयम् ज्ञानेश्वर का कथन है कि—

तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु। भाष्य कारातें वाट पुसतु॥[1]

कुछ विद्वान ये भाष्यकार शंकराचार्य होंगे ऐसा मानते है, तो कुछ रामानुजाचार्य। सूक्ष्म रूप से देखने पर उपनिषद्, गीता, गौड़पादकारिका, योगवासिष्ठ,

१. ज्ञानेश्वरी १८-१७२२।

शाकराद्वैत मत, काश्मीरी-शैव-सप्रदाय और गुरु-परम्परा से प्राप्त नाथ-संप्रदाय का शैवाद्वैत तत्वज्ञान सम्मिलित रूप से ज्ञानेश्वरी के अद्वैत सागर मे आकर मिल गये है। ज्ञानेश्वरी एक सर्वोत्कृष्ट गीता-टीका है। वे केवल अनुवादकर्ता नही है अपितु स्वतन्त्र भाष्यकार भी है। उनकी स्वतत्र प्रज्ञा स्फूर्तिवाद के रूपसे 'ज्ञानेश्वरी' मे तथा अमृतानुभव मे देखने के लिए मिलती है। यह विश्व ईश्वर का चिद्विलास है ऐसा सिद्धात ज्ञानेश्वर प्रस्थापित करते है।

श्री ज्ञानेश्वर का दूसरा ग्रन्थ 'अमृतानुभव' है। यह शुद्ध रसायन ग्रन्थ है। वह लोकप्रिय इसलिए नही हो सका क्योकि वह अत्यन्त तर्कप्रधान और कठिन है। यद्यपि यह मराठी मे लिखा हुआ ग्रन्थ है फिर भी उसका अध्ययन केवल दर्शन शास्त्र के विशेष अध्येता ही कर सकते है। इसमे कुल ८०४ ओवियाँ है। शिवशक्ति का ऐक्य, शब्द खडन, शब्द मडन, अज्ञान का निरसन और अन्त मे ज्ञान का भी निरसन किया गया है। परमात्मा केवल स्फूर्तिमात्र' है अत: वहाँ दृष्टा और दृश्य ये दोनों दशाएँ व्यर्थ सिद्ध होती है। इस वाक्यज्ञ का प्रयोजन केवल पारमार्थिक सुख प्राप्त्यर्थ किया गया है। इसमे शब्द-योजना की मितव्ययिता अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गयी है। अत्युच्च तत्वज्ञान तर्क-पद्धति से और दृष्टातो की सहायता से कैसे अभिव्यजित किया जाय इसका आदर्श 'अमृतानुभव' से ज्ञानेश्वर ने प्रस्तुत किया है। अमृतानुभव का क्लिष्टत्व और नीरसत्व भी प्रसिद्ध है। यह पूर्णत. स्वतत्र एवम् प्रज्ञायुक्त दार्शनिक ग्रन्थ है। इसकी रचना का काल सभवत: शक १२१४ एवम् सन् १२९२ है।

इसके अतिरिक्त 'चागदेव पासष्टी' ज्ञानेश्वर की तृतीय कृति है। इसकी रचना शक १२१६ अर्थात् सन् १२९४ की है। इसे एक प्रासगिक प्रकरण ही माना जाता है। यह आलदी मे लिखा गया। विख्यात हठयोगी चागदेव ने ज्ञानेश्वर की कीर्ति सुनकर उन्हे एक कोरा पत्र भेज दिया। वे इस द्विविधा मे पडे थे, कि ज्ञानेश्वर को कैसे सबोधित किया जाय। क्योकि ज्ञानेश्वर आयु मे छोटे थे पर कीर्ति मे और योग्यता मे बडे थे। अपने गुरु निवृत्तिनाथ की आज्ञा से ६५ ओवियों का प्रश्नोत्तर लिखकर चागदेव को पूर्ण बोध का उपदेश दिया। अपने गुरु की कृपा से स्वानुभव का रसीला आम्रफल चागदेव के बहाने से मुझे प्राप्त हो गया ऐसा वे कहते है। आरम्भ देखिये[1] —

स्वस्ति श्री वटेशु। जो लपोनि जगदाभासु।
दावी सग ग्रासु। प्रकटला करी॥
प्रकटे तंव न दिसे। लपे तंवतंव आभासे।
प्रकट ना लपला असे। न क्षोमता जो॥

१. चांगदेव पासष्टी, १–२।

इसमें स्वस्ति श्री बटेशु लिखकर आत्मा, अनात्मा का विवेचन सुन्दर दृष्टांतो से करते हुए अध्यात्म-विचार बडी कुशलता से प्रस्तुत कर दिये गये है। 'अमृतानुभव' ज्ञानेश्वरी का सार माना जाता है और चांगदेव पासष्टी अमृतानुभव का सार माना जाता है। अध्यात्म का साररूप चागदेव के निमित्त से सबके लिए ज्ञानेश्वर ने उपलब्ध कर दिया है।

योगवासिष्ठ तथा कुछ और अन्य ग्रन्थ ज्ञानदेव के नाम पर गिनाये जाते है। योगवासिष्ट को लेकर विद्वानो मे काफी चर्चा चली थी। निष्कर्ष रूप मे माना गया कि 'योगवासिष्ट' ज्ञानदेवकृत नही है। श्री य खु. देशपान्डे और अ. का. प्रियोलकर ने पुन यह मत प्रतिपादन किया है कि योगवासिष्ठ ज्ञानदेव कृत है। पर डा० श दा. पेडसे ने इसका उत्तर समाधानपूर्वक देकर यह बतलाया है कि शैली, विषय दर्शन आदि सभी अङ्गो को देखते हुए यह बात स्पष्ट हो जाती है कि योग-वासिष्ठ ज्ञानदेव कृत नही है।[1]

ज्ञानदेव ने स्फुट अभङ्गो की रचना भी की है। कुछ लोगो के मत मे अभङ्ग का कर्ता ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरी कार ज्ञानेश्वर दो भिन्न-भिन्न व्यक्ति थे। इसी बात को लेकर महाराष्ट्र के विद्वानो मे काफी वाद-विवाद भी चला था। अभङ्गो की हस्तलिखित पोथियाँ उतनी पुरानी उपलब्ध नही होती, जितनी ज्ञानेश्वरी की हो जाती हैं। इसका कारण यह है कि प्राय. मराठी सत कवियो की अभङ्ग रचनाएँ मौखिक परम्परा से ही अधिक मात्रा मे उपलब्ध होती रही है। वारकरी और कीर्तनकारो की कृपा से आज भी सुरक्षित रूप मे अभङ्ग रचनाएँ मिल जाती है। अतएव हर पीढी मे भाषा और वाक्प्रयोग की दृष्टि से इन रचनाओं मे परिवर्तन तथा क्षेपकों का मिलना आश्चर्य की बात नही है। फिर भी आज तक वे अभङ्ग भोली-भाली जनता के पास एवम् वारकरियो की जिह्वा से हम सुनते आये है। ज्ञानेश्वरी और अभङ्गो की शब्दावली मे कई स्थलो पर विलक्षण साम्य मिलता है। दोनो कृतियाँ एक ही कृतिकार की है, इसे सिद्ध करने का यह ठोस प्रमाण माना जावेगा। कुछ उदाहरण देखिए—

(१) आत्मरूपी नाही पाठी ओणि पोट एकचि निघोट जाणार या।
देवासी पाठी पोट आघी की नाही।[2]

(२) रत्नाचिया आशा घात झाला तया राजहंसा॥
जैसा नक्षत्राचिया आभासा। साठी घात झाला तया हंसा॥[3]

---

१. म. सा. पत्रिका-पूना वर्ष १६ अङ्क ३।
२. अभङ्ग—८९८ सकल संत गाथा और ज्ञानेश्वरी अ ११–५३०।
३. अभङ्ग ५१८ ,, ,, अ ६–१४६।

(३) राजयाचि कांता काय भीक मागे ।
काय समर्थाची कांता कोरान्न मागे ॥[१]

इस तरह शब्द साम्य, विचार साम्य और उपमारूपको की शैली तथा कृष्ण भक्ति दोनो मे पूर्ण रूप से एक सी ही अभिव्यजित है। अतः निष्कर्ष यही निकलता है कि अभङ्गकर्ता ज्ञानेश्वर और ज्ञानेश्वरीकार ज्ञानेश्वर एक ही व्यक्ति है।[२]

ज्ञानेश्वरकृत अभङ्गो मे बाप रखुमा देवीवर् विठ्ठला' की छाप मिलती है। कीर्तन-भक्ति, हरिहर-ऐक्य, सतो को गौरव प्रदान करना, विठ्ठल और कृष्ण का अभेदत्व आदि कई बाते ऐसी है जो यह सिद्ध करती है कि दोनो कृतियाँ एक ही कृतिकार की हैं। ज्ञानेश्वर कृत कुल अभङ्गो की छानबीन कर उसका सपादन बहुत आवश्यक है। इस विषय मे प्रा. गजेन्द्रगडकर जी का प्रयत्न विशेष उल्लेखनीय है।[३]

ज्ञानेश्वर के भाई बहन –

ज्ञानदेव के बडे भाई और गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा लिखी गयी निवृत्तेश्वरी, उत्तरटीका आदि ग्रन्थ बतलाये जाते हैं। निवृत्तेश्वरी उनकी ही है इसका निर्णय अभी नही हो पाया है। तीन चार सौ अभङ्ग अवश्य उनके मिलते है जिनसे उनकी काव्यशक्ति का पता चल जाता है। ज्ञानदेव के लिए वे चित्सूर्य है। इनका भी 'हरिपाठ' उल्लेखनीय और उत्तम ग्रन्थ है। निवृत्तिनाथ के द्वारा रचे गये अभङ्गो की पक्तियाँ सुन्दर और बोधगम्य शैलीपूर्ण है यथा—

नाहीं आम्हा काळ, नाहीं आम्हा वेळ
अखण्ड सोज्वळ हरि दिसे ॥
ध्यानेवीण मन विश्रांति विण स्थान
सूर्येविण गगन शून्य दिसे ॥[४]

स्मरण रहे कि निवृत्तिनाथ के अभङ्ग ज्ञानमय है, वे ज्ञानेश्वर की तरह काव्यमय नही है। सोपानदेव के द्वारा रचित पचास अभङ्ग मिलते हैं। वैसे इनके रचे गये 'सोपानदेवी', पचीकरण, प्राकृतगीता आदि ग्रन्थ बतलाये जाते है। सोपानदेव कृत यह अभग अन्त करण मे करुणा की ऊर्मियाँ पैदा कर देता है—

---

१. अभङ्ग २५२ सकल संत गाथा और ज्ञानेश्वरी अ १२–८५।
२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खं. १, पृ० ५९८, ६०१।
३. ज्ञानेश्वरदर्शन भाग २ साहित्य खण्ड, पृ० ३०६ ते ३१५।
४. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ८९९।

'चलारे वैष्णव हो जाऊँ पंढरीसी। प्रेमामृत खूण मागो
त्या विठ्ठलासी ॥'[१]

मुक्ताबाई काव्य और अध्यात्म इन दोनों विषयो की दृष्टि से ज्ञानेश्वर के स्तर पर आजाती है। इनके अभङ्गो मे मिठास बडी सरसतासे भरी हुई मिलती है। उसमे स्वाभाविक रूप से पाई जा सकनेवाली स्त्रियो की कोमल हृदयवृत्ति का प्रकाशन सुकुमार ढङ्ग से हुआ है। इनके अभङ्गो मे ताटी के अभग विशेष रूप से द्रष्टव्य है। प्रसग इस प्रकार का था। किसी निन्दक ने इन सन्यासियो के पुत्रो को देखकर कहा कि ये भाई-बहन बडे अपशकुनी है। तब ज्ञानेश्वर खिन्न मन से अपनी झोपडी का दरवाजा बद कर बैठे। तब कमरे की ताटी अर्थात् दरवाजा खोलने के लिए मुक्ताबाई ने प्रार्थना की तभी इन अभगो की सृष्टि हुई।

मजवरी दया करा ताटी उघड़ा ज्ञानेश्वरा।
संत जेणे व्हावे। जग बोलणे सोसावे॥

× × ×

लडिवाळ मुक्ताबाई। बीज मुद्दल ठायी-ठायी।
तुम्ही तरोन विश्व तारा ताटी उघड़ा ज्ञानेश्वरा॥[२]

'हे बंधू ज्ञानेश्वर! मुझ पर दया कीजिए और शीघ्र द्वार खोल दीजिए। सत बनने वाले को इस दुनियाँ मे रहने वाले लोगो की टीका टिप्पणियाँ सहनी ही चाहिए। बड़प्पन तभी प्राप्त होता है जब अहकार, गर्व, तथा अभिमान चला जाता है। जहाँ बडे लोग रहते है वही भूतदया एवम् करुणा का निवास रहता है। जब ब्रह्म सर्वत्र रहता है तब क्रोध भी किस पर किया जाय? इसलिए समदृष्टियुक्त होकर मुझे दरवाजा खोल दीजिए। पवित्र मनवाला योगी लोगो के द्वारा किये गये अपराधो को सहता है। यदि विश्व अग्निवत बन जाय तो प्राणियों को संत-मुखो की ओर ही ताकना पडता है। विश्व तो परब्रह्म का एक सूत्र है, जिसे वे जैसा चाहे खीचते रहते है। आपकी बहन मुक्ताबाई आपकी लाडली है अतः मैं और आपसे क्या कहूँ। बीज और उसका पूर्ण विकास कहाँ और किस ठौर नही है? आप खुद तर जाइये और दूसरों को भी तार दीजिए। कृपा करके दरवाजा खोलिए।'

चौदह पद्रह वर्ष की अवस्था वाली इस लडकी मे इतनी उच्च कोटि का

१. सकल संत गाथा सोपानदेव अभंग ७६६३, पृ० ५२८।
२. महाराष्ट्र सारस्वत : वि. ल. भावे और डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १५६।

वैराग्य देखकर बडा आश्चर्य होता है। मुक्ताबाई को काव्य और अध्यात्म इन दोनो बातो मे ज्ञानेश्वर के स्तर पर रखा जा सकता है। हिन्दी उलटवासियों की तरह चमत्कृतिपूर्ण शैली मे मुक्ताबाई वर्णन करने मे पटु है। इसकी एक बानगी देखिये—

मुंगी उड़ाली आकाशी। तिने गिळिले सूर्यासी॥
थोर नवलाव झाला। वांझे पुत्र प्रसवला।
माझी वियाली घार झाली। देखोनि मुक्ताई हासली॥[1]

चीटी आकाश मे उडी और उसने सूर्य को निगला। अर्थात् सन्त जीवात्मा अनन्त परमात्मा को प्राप्त कर लेती है। अज्ञान को नष्ट कर ज्ञान सूर्य का प्रकाश उसे उपलब्ध हो जाता है। यह कैसे आश्चर्य की बात है कि वन्ध्या को पुत्र पैदा हुआ और मक्खी से चील पैदा हुई। इसे देखकर मुक्ताई हँसने लगी।

इसी शैली मे एक ओवी भी देखिए कितनी ज्ञानमय और काव्यमय है।

'पहिली माझी ओवी। परतुनि पाहिले।
दृष्टि ने देखिले। निजरूपी॥'[2]

अपने आत्मस्वरूप को मैंने देख लिया और जब मैं उसका अनुभव लेकर पुन. वापस आई तो वही दृश्य देखा।

पते की बात तो यह है कि इस तरह की ओवियाँ समान अधिकार और समान आयु की जनाबाई और मुक्ताबाई ने एक साथ बैठकर गाई है।

तीर्थ यात्रा और समाधि—

ज्ञानेश्वर ने अपने समकालीन नामदेव आदि अन्य सन्तो को साथ लेकर भारतवर्ष के तीर्थो की यात्राएँ भी की थी। पढरपुर मे कार्तिक शक १२१८ मे एकान्त सुखलाभ प्राप्त करने के लिए समाधि लेने का उन्होने निश्चय किया। कार्तिक वदी त्रयोदशी के दिन इन्द्रायणी के तीर पर दोपहर को उन्होने समाधि ले ली। इसके बाद ही शके १२१८ मे मार्गशीर्ष वदी त्रयोदशी को सोपानदेव ने सासवड मे समाधि ले ली। दो भाइयो के विरह के बाद अपनी जन्मभूमि देखने के लिये निवृत्ति और मुक्ताबाई आपे गाँव गए। वहाँ बचपन की सारी स्मृतियाँ सजग हो आई। इसी से विशेषत मुक्ताबाई अधिक खिन्न और उद्विग्न-मना होकर शक १२१९ के वैशाख शुक्ल द्वादशी के दिन एदलाबाद के पास के माणगाँव मे समाधिस्थ हो गई। इस प्रकार एक के बाद एक अपने भाई बहन के चल बसने से निवृत्तिनाथ

---

१. महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी, पृ० ६००—डा० शं. गो. तुळपुळे।
२. ,, ,, पृ० ६०० ,,

को वडा दुख हुआ। उन्हें नारायण के द्वारा उनके साथ यह किया गया व्यवहार विपरीत लगा और उन्होने कहा[१]—

ज्येष्ठाच्या आधी कनिष्ठाने जाणे।
केले नारायणे उफराटे ॥
उपराटे फार वाटे माझे मनीं।
वळचणीचे पाणि आढ्या गेलें ॥

'ज्येष्ठ के पहले कनिष्ठ चल वसे। नारायण ने यह क्या विपरीत क्रम चलाया। मेरे मन मे इसका वड़ा शोक है। ओलती का पानी मगरे पर कभी नही चढता पर इस प्रसग मे उलटा हो गया अर्थात् मगरे का पानी ओरी पर चला गया।'

इसी उद्विग्न मनस्थिति ने शक १२१९ की ज्येष्ठ वदी द्वादशी को अपनी देह त्र्यबकेश्वर मे गोदावरी नदी मे विर्मजित कर दी। इस तरह इन प्रसिद्ध चार सतों का एवम् भाई-बहन का चरित्र पूर्ण हो गया।

प्रा. न. र. फाटक के मतानुसार ज्ञानेश्वर का अन्तरंग मुख्यतः सामाजिक था। इस्लाम के राक्षसी आक्रमण से आभ्यतर रूप में महाराष्ट्र झुलस गया था, तथा समाज देवधर्म के वारे मे अध.पतित हो गया था। ऐसे समय मे सामाजिक और धार्मिक सघटना करते हुए ज्ञानदेव ने उसे नवधर्म का रसायन पिलाकर जीवित किया।[२] परन्तु प्रा. श. गो. वाळिवे और डा० श. गो. तुळपुळे के मत में यह ऐतिहासिक असत्य मात्र है।[३] वस्तुतः ज्ञानेश्वरी का प्रमुख सूत्र आत्म साक्षात्कार है। आत्मानुभव के बलपर सवके लिए भक्तिज्ञान का मन्दिर खडा करके कुल, जाति आदि का भेद न मानते हुए सवके लिए उसे मुक्त करना तथा अध्यात्म-क्षेत्र की राह दिखलाकर उन्हे समत्व की भूमि पर अर्थात् मानव्य की भूमि पर ले आना ही उनका प्रमुख कार्य जान पडता है।[४]

ज्ञानेश्वर और उनके बंधु सोपानदेव तथा भगिनी मुक्ताबाई निवृत्तिनाथ के द्वारा नाथ पंथ मे समाविष्ट हो गये थे। इनके पिता विठ्ठल पत को आळदी के ब्राह्मणों ने देहांत प्रायश्चित लेने के लिए कहा तो ब्रह्मवृन्दों का शास्त्राधार शिरोधार्य मानकर प्रयागराज के त्रिवेणी सगम मे उन्होने अपने आपको सर्मपित कर दिया।

---

१. निवृत्तनाथ अभंग।
२. ज्ञानेश्वर आणि ज्ञानेश्वरी, पृ० १०५–७–१०, प्रा. न. र. फाटक।
३. ज्ञानेश्वर चरित्र आणि ज्ञानेश्वरी चर्चा, पृ० ५८–६३, प्रा. शं. गो. वाळिंबे।
४. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे ५।

सन्यासी के पुत्र होने से जो कष्ट उठाने पड़े उन सबको उठाकर एकमात्र भगवद् भक्ति का प्रचार इन लोगो ने किया। इनकी कर्मभूमि व संचार भूमि आळंदी, प्रतिष्ठान, नेवासे, आदि रही। ग्रन्थ रचना समाप्त हो जाने पर इन चारो ने नामदेव और अन्य लोगों के साथ तीर्थयात्रा की। इस यात्रा मे नामदेव और ज्ञानदेव ने भक्ति प्रेम का अपूर्व सुख लूटा था। कृष्ण-विष्णु-हरि-गोविन्द के नाम से कीर्तन, स्मरण, भजन आदि करते हुए पंढरपुर मे ये लोग लौटे। यात्रा के बाद आळंदी मे आकर समाधि लेने का जब ज्ञानेश्वर ने निश्चय किया तो नामदेव भी साथ थे। यह संजीवन-समाधि इस परिवार के जीवन की सबसे बडी दुखद घटना है। नामदेव के इस प्रसग पर लिखे गये अभग करुण रस से ओतप्रोत हैं। ज्ञानेश्वर के रचे गये अभग इसी यात्राकाल के जान पड़ते हैं।

ज्ञानेश्वर मे नाथ और भागवत संप्रदाय का सुन्दर समन्वय दिखाई देता है। नाथ सम्प्रदाय की योग-साधना है किन्तु उसका उद्देश्य आत्मानुभूति है। भक्ति वाह्यसाधन के रूप मे न होकर आतर स्वरूप की है। अर्थात् वह नाम स्मरणादि भाव-साधना की हैं। योगमार्ग श्रेष्ठ अवश्य है पर वह सर्वसुलभ नही है। उसमे सदा यह भय बना रहता है कि योग साधना की परिणति आत्मानुभूति मे न होकर शरीर संपदा बनने मे हो सकती है। उसी प्रकार से भागवत सप्रदाय की भक्ति सर्वश्रेष्ठ और सर्वसुलभ साधन होने पर भी उसकी मर्यादा सगुण और मूर्तिपूजा तक ही सीमित रह सकती है। इसलिए नाथ सप्रदाय के योग मार्ग को भक्ति का आधार देकर भागवतो की भक्ति को ज्ञान की आँखें उन्होने प्रदान की। योग और भक्ति के ऐक्य से परमार्थ की प्राप्ति ही उनका प्रमुख लक्ष्य है।

नामदेव—

सत नामदेव का चरित्र प्रामाणिक रूप से उपलब्ध न होने के कारण नामदेव के चरित्र में जन्मस्थान, समाधिस्थान जन्म शक तथा चरित्र की चमत्कारपूर्ण घटनाओ से भरी बातें, किवदतियाँ, जनश्रुतियाँ आदि सामग्री होने से प्रामाणिक चरित्र प्रस्तुत कर सकना एक अत्यत जटिल कार्य बन गया है। फिर भी जो सामग्री मिल सकी है उसका यहाँ पर विवेचन मे उपयोग कर लिया गया है।

नामदेव का जन्म स्थान—

नामदेव के जन्म स्थान के बारे मे निम्नलिखित मत प्रचलित हैं। नामदेव के जन्मस्थान का नाम नरसीबामणी बतलाया जाता है। निश्चित रूप से इस स्थान के बारे मे भी एक मत नही है। डा० तुळपुळे, कोरटकर आजगाँवकर,

वि. ल. भावे आदि प्रभृति के मत में यह स्थान परमणी जिले में है।[1] अन्य लोग और श्री यो. ना. पाटसकर यह स्थान कराड जिले के पास के नरसिंगपुर अर्थात् नरसीवामणी को नामदेव का जन्मस्थान मानते हैं। परम्परा नामदेव पढरपुर मे ही पैदा हुए ऐसा मानती है। एकनाथ का एक अभङ्ग इस बारे मे यह जानकारी देता है[2]—

> द्वारकेहुनि विठू पंढरिये आला।
> नामयाचा पूर्वज दामाशेटी वाहिला ॥
> दामा आणि गोणाई नवसी विठूसी।
> पुत्रदेई आम्हा देवभक्त करिशी ॥

श्री ल. रा. पांगारकर आदि लोग नामदेव के पूर्वज नरसीवामणी मे थे, तथा जन्म वहीं हुआ पर वचपन में ही सारा परिवार पढरपुर मे विठोवा की भक्ति के लोभ से आकर के वस गये ऐसा कहते है।[3] परम्परा के अनुसार नामदेव के पूर्वज उनके जन्म से पहले ही पढरपुर मे आकर वस गये थे। नामदेव का जन्म सन् १२७० तथा शक ११९२ मे हुआ। कम से कम यह निष्कर्ष तो सब को मान्य है।

नामदेव अपने पूर्व चरित्र में डाकू थे और बाद में पश्चाताप हो जाने से वे भक्तिमार्ग में आ गए।[4] इसके लिए वे जिस ५६ चरणों के अभंग का आधार लेते हैं वह अभंग नामदेव का नहीं है। तथा अपनी वात की पुष्टि के लिए वे नामदेव का जन्मशक बदलते हैं जिससे नामदेव के जीवन की अन्य वाते और डाकूगिरी का व्यवसाय आदि की संगति वैठ जाती है। परन्तु ये सब वाते सिद्ध नहीं होती है।[5] मुक्ताबाई जिस नामदेव के विषय में यह कहती है, 'अखंड जयाला दे वाचा शृंजार' वे उनके इस पूर्व व्यवसाय के वारे में कुछ भी नही कहती है। इसके अतिरिक्त आजगाँवकर के मत का सप्रमाण खंडन श्री मो. ना. हाटसकर ने एक पुस्तिका लिखकर किया है जो द्रष्टव्य है।[6]

---

१. पाँच संत कवि—पृ० १३३–१३४–१३६, डा० शं. गो. तुळपुळे।
२. एकनाथकृत अभङ्ग, १९२९, सकल संत गाथा, पृ० २६७।
३. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खं. १–पृ० ५५७, ल. रा. पांमाकर।
४. नामदेव चरित्र–आजगाँवकर, पृ० ९५।
५ पाँच संतकवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १३६।
६. वालभक्त नामदेव दरोडेखोर होते काय ?
(पूना इ. स. १९३५), ले. मो. ना. पाटसकर।

नामदेव के जन्म शक के बारे मे विवेचन करने वाला निम्नलिखित अभंग पढरपुर के नामदेव घराने की एक पुरानी हस्तलिखित पोथी मे से यहाँ पर उद्धृत किया जाता है—माझे जन्मपत्र बावाजी ब्राह्मणे। लिहिले त्याची खूण सारु ऐका अधिक व्याण्णव गणित अकराशते। उगवता आदित्य तेजोराशी शुक्ल एकादशी-कार्तिकी रविवार। प्रमोद सवत्सर शालीवाहन शक ऐशी वर्षे आयुष्य पत्रिका प्रमाण। नाम सकीर्तन नामया वृद्धि।[1] इस अभग मे दी गई जानकारी की गणना करने पर शालीवाहन शक ११९२ कार्तिक शुक्ल एकादशी के दिन रविवार आता है। इसी की अग्रेजी गणना से दिनाक २६ अक्टूबर १२७० ई. स. आता है। इस तरह नामदेव, ज्ञानदेव के समकालीन सिद्ध होते हैं। अल्लाउद्दीन खिलजी का आक्रमण शक १२१६ मे दक्षिण मे प्रथम बार हुआ था। यह वह समय था जब ज्ञानदेव को समाधि लेकर कुछ ही वर्ष बीते थे। नामदेव कम से कम ५० साल तक इस घटना के बाद जीवित थे। ज्ञानदेव और नामदेव को किसी भी तरह अलग कर सकना सभव नही है।

नामदेव की जीवनी सम्बन्धी सामग्री के सूत्र—

नामदेव परिवार के अन्तर्गत आने वाली नामदेव की दास जनाबाई के रचित अभंग भी नामदेव के चरित्र पर प्रकाश डालते है। देखिये[2]—गोणाई ने मानता ली थी और विठ्ठल से ऐसे पुत्र की याचना की कि जो उसका भक्त हो। उसके शुद्ध भाव को देखकर पाडुरग प्रसन्न हुए और नामदेव पैदा हुए। दामाशेटी को आनन्द हुआ। नामदेव की पत्नी का नाम राजाई था। नामदेव के नारा, विठा, गोदा और महादा ये चार पुत्र और लिंबाई नाम की पुत्री थी। बहन का नाम आऊबाई था। इन चारो पुत्रो की पत्नियो के नाम क्रमश: लाडाई, गोडाई, येसाई, और साखताई थे। जनाबाई कहती है, 'मैं नामदेव की अज्ञानी और गँवार दासी हू।' भक्ति की अपूर्वता से पढरिनाथ ने उसके यहाँ मजदूर बनकर उसके घर का छप्पर छवाया। बचपन से ही विठ्ठल के कृपा पात्र नामदेव के जीवन से सबधित अन्य चमत्कारपूर्ण बातो का उल्लेख इन अभंगो मे मिलता है। वे उसके हाथ का नैवेद्य ग्रहण करते है और दूध पीते है। भक्ति और नाम सकीर्तन करने वाले नामदेव का यह यथातथ्य वर्णन जनाबाई ने इस तरह किया है[3]—

१. पंढरपुर की हस्तलिखित पोथी से उद्धृत।

२ नामदेव गाथा चित्रशाळा प्रेस—जनाबाईचे अभंग २७१, ८०, ८५, ९१, ९२, ९३ पृ० ५९७–९८।

३. नामदेवगाथा–अभंग २८१, पृ० ५९७।

सुंभाचा करदोडा रकट्याची लंगोटी । नामा वाळवंटी कथा करी ॥
ब्रह्मादिक देव येओनि पाहाती । आनंदे गर्जती जयजयकार ॥
जनी म्हणे त्याचे काम वणूं सुख पाहाती जे । मुख विठोबा चे ॥

'मुज की वटी हुई रस्सी का करदोडा पहनकर उसमें चीथड़े की लगोटी लगकर चद्रभागा नदी की रेती मे नामदेव विठ्ठल का नाम स्मरण, हरिसकीर्तन करते हैं इसे देखने ब्रह्मादि देवता आते और भगवान् के जयजयकार मे सम्मिलित होते हैं। विठोवा इमसे प्रसन्न हो जाते है। उनके मुख की शोभा और अपूर्व सुख को जो देखते है उनका मैं भोली-भाली जनावाई क्या वर्णन करूं ?'

(२) मराठी मे नामदेव के चरित्र के साधनो मे महिपति का 'भक्त-विजय' नामक ग्रन्थ है। 'भक्तमाल' के आधार पर यह लिखा गया है। 'भक्तमाल' की नामदेव वाली जीवनी मे जो विलक्षण वाते दी गई है उसमे कुछ सुधार महिपति ने किया है। महिपति के अनुसार नामदेव अयोनिज थे और भीमानदी की एक सीपी मे मिले थे। नामदेव के पजाव निवास का वृत्तान्त देने वाली एक पुस्तिका बाबा पूरणदास द्वारा लिखित 'श्री स्वामी नामदेवजी की जनम साखी' यह प्रसिद्ध है। इसमे नामदेव लक्ष्मावती नामक एक वाल विधवा से ईश्वर कृपा से पुत्र रूप मे उत्पन्न हुए ऐमा वर्णित है। ज्ञानदेव, नामदेव के गुरु वतलाये गये है। जन्मकाल शक-१२८५ वतलाया गया है। महिपति नामदेव की पजाव यात्रा पर कुछ भी नही कहते।

(३) नामदेव ने अपना आत्मचरित्र पूरा तो नही लिखा परन्तु अपने जीवन के कुछ महत्वपूर्ण प्रसगो की जानकारी वे उसमे देते है। नामदेव मराठी के आद्य आत्मचरित्रकार है। यह आत्मचरित्र नामदेव कृत है या उनके किसी अज्ञात शिष्य या भक्त द्वारा लिखा गया है ऐसा माना जाता है। इसमे मिलावट कितनी है और उनका निजी कितना है इसका निर्णय नही हो सका है। परन्तु इसका अर्थ यह नही लिया जा मकता कि यह नामदेव कृत है ही नही। उनके आध्यात्मिक जीवन के तीन प्रसग इसमे महत्वपूर्ण हैं जो उनके पारमार्थिक आतरग को प्रकाशित कर सकने मे पूरे सक्षम है। वे तीन प्रसग ये है—(१) नामदेव को भगवान् की भक्ति करने मे कौटुम्बिक विरोध पर्याप्त रूप मे हुआ। (२) ज्ञानदेवादि भाइयो से इनकी प्रथमवार भेट हुई और (३) विसोवा खेचर से उनको गुरुपदेश मिला। नामदेव अपने चरित्र की स्वय इस प्रकार समालोचना करते है[1]—

१. नामदेवाचा गाथा (चित्रशाला प्रेस)—पृ० २७५, अभङ्ग १।

शिंपियाचे कुळीं जन्म मज जाला। परि हेतु गुंतला सदाशिवीं।
रात्री माजीं शिवीं दिवसामाजी शिवी। आराणुक जीवीं नाही माझ्या।
सुई आणि सातुळी, कात्री गज दोरा। मांडिला पसारा सदाशिवीं।
नामा म्हणे शिवीं विठोबाचे अङ्गीं। त्यावेनि मी जगीं धन्य जालो॥

दर्जी के कुल मे मेरा जन्म हुआ। परन्तु मेरा ध्येय परमात्मा की प्राप्ति है। वैसे दिनरात मे कपडे सीते रहता हूँ। मुझे जरा भी चैन लेने की फुरसत नही। सुई, धागा, कैंची, कपडे नापने का गज यह सारा प्रपच उसी सदाशिव के द्वारा फैलाया गया है। पर मै तो विठोवा को ही अपने शरीर मे सी लेता हूँ जिसे मेरा जन्म सार्थक और सफल हो गया है।

(४) आजगाँवकर, पागारकर, और श. पा. जोगी की पंजाबातील नामदेव' आदि नामदेव पर लिखी गयी पुस्तके भी विशेष जानकारी के लिये द्रष्टव्य है। इनके अतिरिक्त और भी पुस्तके और लेख डा० ट्रम्प, मकॉलिफ, प्रियोळकर, भिंगारकर, पांडुरङ्ग शर्मा आदि ने लिखे है जो विशेष रूप से द्रष्टव्य है।

(५) हिन्दी साधनों मे 'भक्त-माल' भक्तों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण है। 'भक्तमाल' मे नामदेव के जीवन की विलक्षण बाते मिलती है। इससे भी पूर्व लिखी गयी अनन्तदास कृत 'नामदेव परिचयी' मिलती है।[1] अनन्तदास के अनुसार नामदेव कलियुग मे प्रथम भक्त है। केशव को दूध पिलाना, मन्दिर का द्वार फेरना, बादशाह से झगडा, मृत बैल को जीवित करना तथा हरि का अपने हाथ से छप्पर छवाना आदि घटनाएँ है।

(६) 'उत्तर भारत की सत परम्परा' मे सर्वप्रथम हिन्दी मे नामदेव के बारे में विस्तृत जानकारी दी गयी है। विद्वान लेखक का कहना है[2]—'ऐतिहासिक तथ्यो के आधार पर लिखी गई, पूर्णत. विश्वसनीय समझी जाने वाली जीवनियो का नितात अभाव है और जब तक नामदेव की समझी जाने वाली सारी रचनाओ की पूरी छानबीन नही हो जाती, तव तक उनमे दी गई बहुत सी बातो को भी हम असदिग्ध नही कह सकते। इनके अनुसार नामदेव नरसीवामनी नाम के कराड़ के निकटस्थ ग्राम मे दामाशेट दर्जी के यहाँ पुत्र रूप मे पैदा हुए। छीपी कहलाने वाली जाति दर्जी और कपडे छापनेका कार्य महाराष्ट्रमे करती थी। अन्य सब जीवनी-सबधी बाते कुछ हेर-फेर के साथ वे ही है जो अन्यत्र मिलती है। श्री परशुराम

---

१ नामदेव की परिचयी—हस्तलिखित ग्रन्थ क्रमांक २७८, पूना विश्व विद्यालय, (जयकर ग्रंथालय), अनंतदास।

२. उत्तरी भारत की संत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०६।

चतुर्वेदी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि, 'नामदेव के परिचय मे आगे चलकर किंचित् परिवर्तन भी करना पडे तो आश्चर्य की बात नही होगी।'[1]

(७) आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कृत 'हिन्दी साहित्य के इतिहास' में नामदेव की कुछ विशेष जानकारी दी गई है। सत-मंडली में नामदेव की परीक्षा तथा उन्हे कच्चा घडा कहा जाना. बाद मे ज्ञानेश्वर के प्रयत्नो से नाथपंथी योगमार्गी विसोबा खेचर को गुरु बनाना आदि का उल्लेख है तथा 'भक्तमाल' में वर्णित चमत्कारों का विवेचन किया गया है।[2] आचार्य शुक्लजी के नामदेव विषयक ये वाक्य अत्यंत महत्वपूर्ण है—'महाराष्ट्र मे नामदेव का नाम सबसे पहले आता है। मराठी अभगो के अतिरिक्त इनकी हिन्दी रचनाएँ प्रचुर परिमाणमे मिलती हैं। इन हिन्दी रचनाओं मे विशेष बात यह पाई जाती है कि कुछ तो सगुणोपासना से सबध रखती है और कुछ निर्गुणोपासना से।'[3] 'नामदेव की रचनाओ मे यह बात साफ दिखाई पड़ती है कि सगुण भक्ति के पदो की भाषा तो ब्रज या परम्परागत काव्य-भाषा है, पर निर्गुन बानी की भाषा नाथ पथियो द्वारा गृहीत खडी बोली या सधुक्कडी भाषा है।'[4] 'नामदेव की रचना के आधार पर कहा जा सकता है कि 'निर्गुन पंथ' के लिये मार्ग निकालने वाले नाथ-पथ के योगी और भक्त नामदेव थे।'[5] 'सब सगुण मार्गी भक्त भगवान् के व्यक्त रूपके साथ-साथ उनके अव्यक्त और निर्विशेष रूप का भी निर्देश करते आये है जो बोधगम्य नही। वे अव्यक्त की ओर सकेत भर करते है, उसके विवरण मे प्रवृत्त नही होते।[6] नामदेव इधर इसलिये प्रवृत्त हुए थे क्योंकि उन्होने अपने गुरु विसोबा से ज्ञानोपदेश लिया था और शिष्य के नाते उसकी उद्धरणी आवश्यक थी।

(८) 'हिन्दी को मराठी सतो की देन' के लेखक आचार्य विनय मोहन शर्मा नामदेव की हिन्दी रचनाओ के बारे मे अपने विचार यो प्रकट करते हैं—'यह सत्य है कि कबीर के समान नामदेव की हिन्दी रचनाएँ प्रचुर मात्रा में नही मिलती, परन्तु जो कुछ प्राप्त है उनमे उत्तर भारत की सत परम्परा का पूर्व आभास मिलता

१. उत्तरी भारत की सत परम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० १०७।
२. हिन्दी साहित्य का इतिहास दशम संस्करण–आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ६४, ६६, ६७।
३. „ „ „ पृ० ६६।
४. „ „ „ पृ० ७०।
५. „ „ „ पृ० ७०
६. हिन्दी साहित्य [illegible] म संस्करण) आचार्य [illegible]

है और उनके परवर्ती सतो पर निश्चय ही उनका प्रभाव पडा है जिसे उन्होंने मुक्त कठ से स्वीकार किया है। ऐसी दशा मे उन्हे उत्तर भारत मे निर्गुण भक्ति का प्रवर्तक मानने मे हमे कोई झिझक नही होनी चाहिये।[1]

नामदेव के जीवन की महत्वपूर्ण बाते और रचनाएँ—

अब तक नामदेव की जीवनी के विभिन्न आधार और सूत्रो को हमने देखा। अब निष्कर्ष रूप मे कहा जा सकता है कि नामदेव पढरपुर मे सन् १२७० शक-११९२ मे पैदा हुए। बचपन से ही वे विठ्ठल भक्त थे। विठ्ठल की मूर्ति, विट्ठल का नाम, विठ्ठल का जयघोष, पढरपुर का निदिध्यास इन बातो से वे सौ फीसदी विठ्ठल भक्त बन गये। विठ्ठल मूर्ति सचेतन है और यही एकमात्र उपास्य है ऐसी उनकी दृढ श्रद्धा थी यह ल. रा. पागारकरजी का मत सही जान पडता है।[2] लौकिक जीवन की ओर उनकी दृष्टि उदासीन थी अत· उनकी गृहस्थी सुचारु रूप से चलने के बदले विरोध पूर्ण वातावरण से युक्त ही सदा रही। 'मैं भक्त हूँ' यह अहंकार उनमे उत्पन्न हो गया था। उनकी इस स्थिति का तिरोभाव होकर विशुद्ध भक्ति की स्थापना उनके अन्त करण मे होने का प्रसग शक १२१३ मे आया। यह वह प्रसग था जब नामदेव ने आळदी मे जाकर ज्ञानेश्वर से भेंट की। इस मिलन मे उन्हे अपना आत्म-निरीक्षण करने का सुअवसर मिला और वे अंतर्मुख बन गए। ज्ञानदेव के आदेशानुसार 'आवढ्या-नागनाथ' मे जाकर विसोबा खेचर से गुरूपदेश लिया। इसके पूर्व का प्रसग बडा मार्मिक है। नामदेव जब नागनाथ के मन्दिर मे पहुँचे तो शिवलिग पर टागे फैलाये विसोबा खेचर को उन्होंने सोया हुआ देखा। नामदेव को यह देखकर विस्मय हुआ। उन्होने विसोबा खेचर के पैरो को वहाँ से हटाया तो एक आश्चर्य नामदेव ने देखा। वे जिधर पैर हटाते उधर शिवलिंग ही दिखाई देता। इससे उन्हे भगवान् सर्वत्र है यह ज्ञात हुआ। विसोबा के अनुग्रह से वे ज्ञानी बन गए। इस गुरु कृपा का वे स्वयम् वर्णन करते है—

श्रवणी सांगितली मात। मस्तकी ठेवियला पद पिंडा।
विवर्जित केला नामा। खेचरु विसा। प्रेमाचा पिसा।
तेणे नामा कैसा उपदेशिला तया सांगितले गुज। दाखविले निज।
पाल्हाळी हो तूज। काय चाडा। खेचरु म्हणे मज।
ज्ञानराज हे गुरु तेणे अगोचरु नाम्या केला।[3]

---

१. हिन्दी को मराठी सन्तो की देन—आचार्य विनयमोहन शर्मा, पृ० १३९।

२. मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खण्ड १—ल रा. पांगारकर।

३. नामदेवाची गाथा—चित्रशाला प्रेस, अभङ्ग १३८, पृ० ३१३ भाग २।

विसोवा ने नामदेव को नाम-मत्र देकर कृतार्थ कर दिया। विसोवा भक्ति-प्रेम मे पागल बन गये थे। उसका रहस्य बतलाकर उन्होने नामदेव को विदेही बना दिया। यही ज्ञान वास्तव मे गुरु-मत्र है। ईश्वर प्राप्ति का नाम ही एक अमोघ साधन है यह बतलाकर उसे नामदेव को सौप दिया। 'पढरिनाथ की नगरी मे मोक्ष और अध्यात्म के क्षेत्र मे सब लोग एक ही धरातल पर है इस तथ्य को नामदेव ने आत्मसात कर लिया और अपने आचरण से भागवत-धर्मीय कैसा होता है उसे प्रत्यक्ष दिखा दिया। गृहस्थाश्रम तो उन्होने न छोडा परन्तु उसकी उपेक्षा करते हुए भगवद् भक्ति मे इतने लीन हो गए कि वे वारकरी सप्रदाय के एक आदर्श भक्त और एक बडे सन्त का स्वयम् आदर्श बन गये। नामदेव ने इसी भक्ति के आवेग मे शत कोटी अभग रचने की प्रतिज्ञा की ऐसा कहा जाता है। वे स्वयम् कहते है—'शतकोटी तुझे करीन अभग।' इतनी बडी सख्या में न तो उनके अभग मिलते है न उन्होने इतने रचे होगे। इस प्रतिज्ञा का तात्पर्य ऐसा है कि बहुत अभङ्ग नामदेव ने रचे। वैसे कुल २५०० अभङ्ग उपलब्ध है। इनमे भी लगभग ५०० या ६०० अभङ्ग मूल नामदेव के होगे। 'विष्णुदास नामा' के भी अभग नामदेव की गाथा में मिल गये है। और भी अन्य नामदेव हुए होगे जिनकी रचनाएँ इसमे मिल गयी होगी। महाराष्ट्र सरकार की ओर से नामदेव की प्रामाणिक अभगो की गाथा प्रकाशित करने के लिए एक समिति स्थापित की गई है। 'असली अभगो मे नामदेव और ज्ञानेश्वर का अभिन्नत्व बराबर देखने को मिल जाता है।

चरित्रकार नामदेव—

ज्ञानेश्वर के साथ और अन्य सतो के सहित नामदेव ने तीर्थ यात्रा की थी। उस प्रसग को लेकर रचे गये अभंग 'तीर्थावली के अभग' नाम से प्रसिद्ध है, जो ज्ञानेश्वर के चरित्र का ही एक भाग है। नामदेव मराठी के आद्य चरित्रकार भले ही न हो पर उनका ज्ञानेश्वर चरित्र रसपूर्ण है। 'आदि', 'समाधि' और तीर्थावली' नाम के तीन प्रकरणो मे पूरा ज्ञानेश्वर चरित्र नामदेव ने करीब-करीब साढ़े तीन सौ अभगो मे गाया है। आदि' मे ज्ञानेश्वर, उनके भाई और बहन का पूरा जीवन वर्णित है। तीर्थावली' मे ज्ञानदेव के साथ की गयी यात्रा और मिली हुई आत्मानुभूति का सरसता पूर्ण वर्णन है। ज्ञानेश्वर के विसोबा शिष्य थे और विसोवा के शिष्य नामदेव थे। अत: अपने परात्पर गुरु के प्रति नामदेव का अन्त:करण श्रद्धा पूर्ण भावों से भरा हुआ होगा इसमे क्या आश्चर्य हो सकता है? इसमे ज्ञान और भक्तिका पूर्ण समन्वय दिखाई देता है। 'समाधि' प्रकरण में ज्ञानेश्वर के वियोग का परम दुख करुण रस को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर नामदेव ने प्रकट कर दिया। अपना

आर्त हृदय ही मानों इस बहाने अभंगो में नामदेव ने अभिव्यक्त कर दिया है। ज्ञानदेव को समाधि लेते हुए प्रत्यक्ष नामदेव ने देखा था। अतः उनका वियोग नामदेव को असह्य होना स्वाभाविक ही था। इसके बाद वे उत्तर भारत मे सुदूर पजाव में गये और भागवत धर्म का प्रचार बीस-पच्चीस साल तक करते रहे। पजाव मे वे घोमान नामक स्थान पर रहते थे। उनकी हिन्दी रचना तभी रची गयी होगी। शं. पा. जोशी की 'पजाबातील नामदेव' यह पुस्तक इस विपय मे विशेष द्रष्टव्य है।

नामदेव की हिन्दी रचना या पद—

सिखो के ग्रन्थ साहब मे 'भक्त नामदेवजी की मुखवानी' नाम से ६१ पद मिलते है। इधर विभिन्न स्थानो मे पाई जाने वाली हस्तलिखित प्रतियो के आधार पर कुल हिन्दी पदो की सख्या २३२ हो जाती है तथा साखियों की सख्या १३ है। इन प्रतियो मे पढरपुर, काशी, नागरी-प्रचारिणी-सभा वाराणसी, धोमान, पटियाला और पूना विश्वविद्यालय की हस्तलिखित प्रतियाँ आती है। पूना-विश्वविद्यालय के हिन्दी विभाग से अव नामदेव के हिन्दी पदो की पदावली और साखियाँ सपादित होकर प्रकाशित हो गयी है। एक पद देखिये[1] —

मन मेरे गजु जिव्हा मेरी काती। मपि-मपि काटऊ जमकी फाँसी ॥
कहा करऊ जाती कहा करऊ पांती। राम को नाम जपऊँ दिन राती ॥
रांगनी रागऊँ सीवनी सीवऊँ। रामनाम बिनु घरिअन जीवऊँ ॥
सुहने की सूई रुपे का धागा। नामे का चीतु हरि संगलागा ॥

'मन रूपी गज और जिह्वा रूपी कैंची की सहायता से यम का फदा मे काट रहा हूँ। मै तो दिन-रात रामनाम जपता हूँ मुझे जाति-पाँति से क्या लेना देना है। कपडे रँगना और कपडे सीना मै अपने हाथो से करता हूँ। परन्तु मेरा एक क्षण भी रामनाम के बिना नही बीतता है। मैं तो अपनी सूई को स्वर्ण की समझता हूं और सूई के छेद से वाहर आने वाला डोरा चाँदी का है ऐसा मानता हूँ। मेरा सारा चित्त पूर्णतः भगवान् की ओर ही लगा है।' इन पदो में मराठी की छाप प्रत्यक्ष दिखाई देती है संबध कारक का च' और भूतकाल का 'ल' प्रत्यय क्वचित् प्रयुक्त हुए है। नामदेव के मराठी काव्य मे मिलने वाली सगुण-भक्ति हृदय की आर्तता, रूपक चातुर्य और दृष्टात योजना उनकी हिन्दी रचनाओ मे भी यत्र-तत्र मिलती है पर इसमे जो एक विशेष बात देखने को मिलती है वह है सन्तो की 'निर्गुण-शैली।' कबीर उनके गुरु रामानन्द, पीपा, रज्जव आदि ने आगे चलकर

१. पंजाबातील नामदेव पद ४—शं. पा. जोशी, पृ० ८४।

जिस शैली मे लिखा वह यही शैली थी। इस तरह नामदेव ही हिन्दी निर्गुण शैली के आदि कवि है। पंजाब मे नामदेव के बहोरदास जाल्लो, लध्धा आदि प्रमुख शिष्य थे। राष्ट्रभाषा की आज की समस्या एक तरह से नामदेव ने अपनी कृति से उसी समय हल कर दी थी। माघ शुद्ध द्वितीया को घोमान मे (गुरुदास पुर जिले में) एक मेला लगता है। इस नामदेव स्मारक को 'गुरुद्वारा बाबा नामदेव जी' कहते हैं। पंजाब मे नामदेव सप्रदाय मे 'छीपा' बुनकर, दर्जी जाति के लोग अधिक मिलते है। भागवत धर्म की पताका इस तरह पढरपुर से पजाब तक नामदेव ने फहराई। यह एक बहुत बडा कार्य है। उन दिनों यातायात के साधन नही थे। मुसलमानो के आक्रमणो से और शासन से राजनीतिक और सामाजिक जीवन क्षत-विक्षत और जर्जर हो गया था। इसलिए नामदेव के इस महान कार्य का बड़ा महत्व है। नामदेव का सारा परिवार भक्त होने से सब ने अभग रचना की है। इन सब मे जनाबाई दासी के अभंग' विशेष प्रसिद्ध है। ऐसा कहा जाता है कि साक्षात भगवान् विठ्ठल जनाबाई की एक निष्ठा से प्रसन्न होकर उसके हर काम जैसे पीसना, कूटना आदि मे मदद किया करते थे। कम से कम इस भक्तिन का ऐसा विश्वास था यह तो हम अच्छी तरह कह सकते है। जनाबाई का एक अभग बानगी के रूप में दृष्टव्य है[1]—

'येई येई विठाबाई। माझे पंढरीचे आई॥
भीमा आणि चंद्रभागा। तुझ्या चरणीच्या गंगा॥
इतुक्या सहित त्वा बा यावे। माझे रंगणी नाचावे॥
माझा रंग तुझीया गुणीं म्हणे नामयाची जनी॥'

काम काज करते-करते जनाबाई की विठ्ठलमय भक्ति की धुन लग जाती थी और सर्वत्र उसे विठ्ठलमय ही सब कुछ दिखाई देता था। और भी एक अभंग देखिये[2]—

'झाड लोट करी जनी। केर भरी चक्रपाणी॥
पाटी सड्यास काढी। पुढे जाऊनि उखळ झाडी॥
सांडुनिया थोरपण। करी दळण कांडण॥
राना जाये शेणी साठी। वेचू लागे विठोबा पाठी।
जनी जाई पाणियासी। मागे धावे हृषीकेशी॥

सूक्ष्म तथा निष्पाप एकाग्रता जनाबाई के अभङ्गो मे हमे मिलती है। इस भक्तिपूर्ण आर्द्र हृदय से उसने हरिश्चन्द्राख्यान', 'प्रल्हाद-चरित्र , 'कृष्ण-जन्म', 'बाल-क्रीड़ा' आदि विषयो पर बहुत रचना की है। विसोबा खेचर के भी रचे हुए अभंग मिलते हैं। नामदेव के साथी ज्ञानेश्वर मडल के अन्य सत कवियो मे 'परसा-भागवत', 'सावतामाली', 'गोरा-कुम्हार' ये भी नामदेव के साथ गाते-नाचते व अभग रचना करते थे। 'परसा-भागवत' और नामदेव का आपस मे प्रगाढ़ स्नेह था। 'गोरा-कुम्हार' पर भी इनकी विशेष कृपा रही। सन्त मडल के ये सबसे ज्येष्ठ थे। ये आयु से श्रेष्ठ तथा विरक्ति मे भी ज्येष्ठ जान पडते है। अपना अलाव तपाने के लिये मिट्टी लाना, उसे भिगोकर तैयार करना, तपाना, रूँधना आदि सब क्रियाओ मे बराबर उन्हे अपने इष्टदेव का ही ध्यान बना रहता। परिश्रम के मूल्य को समझने वाले श्रमदान का महत्व जानने वाले इन सतों ने कर्म की भी उपेक्षा नही की, यही इनकी विशेषता मानी जावेगी। एक और कुम्हार राका, पत्नी बाका तथा उसकी कन्या देऊबाई भी इस वैष्णव मडल के सदस्य और भक्त थे। स्वर्णकार मे नरहरि स्वर्णकार, मालियो मे सावता-माली ये सभी जातियो के उत्कृष्ट कोटि के सन्त ही माने जायेगे। इनका एक ही धर्म था—मानव धर्म। यही उनका भागवत धर्म था। इनकी एक ही दीक्षा थी भक्ति और एक ही ध्येय था भगवत् चिंतन। चोखा महार का यह प्रसिद्ध पद इस बात को सिद्ध करता है[1]—

विठ्ठल-विठ्ठल गजरी। अवधी दुम दुमली पंढरी।
होतो नामाचा गजर। दिंड्या पताकांचे भार।
निवृत्ति ज्ञानदेव सोपान। अपार वैष्णव ते ध्यान।
हरि कीर्तना ची दाटी। तेथे चोखा घाले मिटी।

ऐसा जान पडता है कि इन लोगो ने भूतल पर ही वैकुठ लाकर प्रस्थापित कर दिया हो। सेना नाई की रचनाओ मे से लिया हुआ एक पद ग्रन्थ साहब मे है। दक्षिण के लोग इसे नही जानते। यह नामदेव का भक्त था तथा जबलपुर के पास बादोगढ़ का रहने वाला था। आश्चर्य तो इस बात का है कि मातृ भाषा हिन्दी होने पर भी पढरी का वारकरी होने के नाते मराठी भाषा की उसे उत्तम जानकारी थी। इसकी सब रचनाएँ मराठी मे मिलती है। पजाब से राजस्थान तक इस सेनानाई के अनुयायी मिलते हैं तथा मन्दिर भी पाये जाते है। (विशेष जानकारी के लिए पढिये—पजाबातील नामदेव—श पा. जोशी)। सन् १३५० मे करीब-करीब ८०–८५ वर्ष के होकर नामदेव ने पजाब से पढरपुर मे आकर

१. सकल संत गाथा—चाखोबा—अभंग २२१७, पृ० ३०७, भा. पां. बहिरट।

समाधि ली। वैसे घोमान मे भी नामदेव की समाधि मिलती है। विठ्ठल के प्रेम भंडारी नामदेव एकान्तिक वृत्ति के सगुणोपासक भक्त के रूप में मराठी में प्रसिद्ध हैं परन्तु नाम संकीर्तन करने वाले निर्गुणी भक्त बनकर वे उत्तर भारत में भी प्रसिद्ध हुए यही उनकी विशेपता है। अत· वे मराठी और हिन्दी दोनो के वैष्णव सन्त कवि है।

श्री एकनाथ :

अन्य संतों की तरह श्री सत एकनाथ के चरित्र के वारे मे सामग्री वहुत कम मिलती है। अत. वहिर्साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्य के आधार पर एकनाथ के चरित्र की सामग्री अध्ययन के लिये लेनी पड़ेगी। भारत इतिहास सशोधन मडल के एक प्रमुख सचालक और पूना विश्व-विद्यालय के कुलगुरु महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदारजी को एकनाथ के पौत्र के द्वारा लिखित एक हस्तलिखित पोथी उपलब्ध हो गई है। उसके आधार पर एकनाथ के वारे मे कुछ निष्कर्ष निकाले जा सकते है। इस हस्तलिखित पोथी मे निम्नलिखित उल्लेख है—

। इत्याहिताग्नि मरण विधि ।[1]

शके १५६८ व्यय सवत्सरे आषाढ कृष्णैकादश्या सोमवासरे प्रतिष्ठान निवासिना एकनाथ पौत्रेण हरि पडितानां पुत्रेण रघुनाथेन इदं अत्येष्टि पुस्तक स्वहस्तैनैव स्वार्थ परार्थंच लिखित ।। शुभमस्त ।। छ ।। छ ।। छ ।।

एकनाथ के पूर्वज—

इससे यह भली-भाँति प्रतीत होता है कि श्री एकनाथ के पौत्र रघुनाथ ने अपने हाथो से इस पोथी की नकल की है। इसके साथ अपने पिता हरि-पण्डित और अपने पितामह एकनाथ का भी नाम निर्देश किया है। शक १५६८ मे यह पोथी लिखी गयी है। नाथ चरित्रकारो के द्वारा राघोबा नाम से जिसे पहचाना जाता है वह यही रघुनाथ है। हरि पडित का यह सव से छोटा लड़का था। परम्परा के अनुसार वतलाया जाता है कि हरि पडित एकनाथ से झगड़कर काशी चले गए। अपने साथ वे अपने दो वडे पुत्रो को भी लेते गये। तीसरा लडका एकनाथ के पीछे कीर्तन मे खडा रहकर ध्रुपद गाया करता था। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि नाथ-निर्माण के समय राघोत्रा की आयु कम से कम पन्द्रह या वीस वर्ष की रही हो। अत·एव किसी भी अवस्था मे श्री सत एकनाथ का जन्म शक १५४० के वाद समझना उचित न होगा। वैसे भावुकतावश लिखे गये

---

१. एकनाथ-दर्शन भाग १, पृ० ३४६—महामहोपाध्याय दत्तो वामन पोतदार
'एकनाथांचे अक्षर असेच असेल काय ?'

तथा ऐतिहासिक अनुसधान की दृष्टि से लिखे गये कई चरित्र उपलब्ध हैं। स्वयम् एकनाथ अपने चरित्र के बारे मे कहते है[1]—

मुळीच्या मुळीं एका जन्मला। मायबापे थोर धाक घेतला।१।
कैसे मूळ नक्षत्र आले कपाळा। स्वये लागलो दोहीच्या निर्मूळा।२।
शांति करिता अवघ्याचि झाली शांती। मुळी लागोनिया लाविली ख्याती।३।
एका जनार्दनी मूळीच्या गोठी। माय सकट सगळा बापचि घोंटी॥

मूल नक्षत्र मे एकनाथ पैदा हुये। तब उनके माँ-बाप को चिंता उत्पन्न हुई। यह मूल नक्षत्र मेरे भाग्य मे क्या आया मैंने तो दोनो का विनाश कर दिया। मूल माया के मूल को अर्थात् परब्रह्म को ही एकनाथ ने आत्मसात कर लिया और आत्मस्वरूप को पहचान लिया।

एकनाथ चरित्र व जीवनी—

सुप्रसिद्ध सत भानुदास के वश मे एकनाथ उत्पन्न हुए। कृष्णदेवराय के समय भानुदास जीवित थे। सन् १४३० से १४५२ तक कृष्णदेवराय का काल माना जाता है। विजयनगर के राजा ने पढरपुर की विठ्ठल मूर्ति अपनी राजधानी मे ले जाकर रखी। पढरपुर मे विठ्ठल दर्शन का सुख लूटने वालो के लिए यह बडे सकट का समय था। इसी विकट बेला मे भानुदास विठ्ठल की मूर्ति को साहस पूर्वक पढरपुर ले आये। मूर्ति चुराने का उन पर अभियोग लगाया गया पर वे ईश्वर कृपा से इस अभियोग से मुक्त हो गए। सत भानुदास के पुत्र चक्रपाणि, चक्रपाणि के पुत्र सूर्यनारायण और सूर्यनारायण के पुत्र एकनाथ हुए। प्रा. न. र. फाटक के मतानुसार और बहुमान्य मत से एकनाथ का जन्म सन् १५३२ मे हुआ।[2] डा० श. गो तुळपुळे के मत मे यह शक १४५५ है। अर्थात् अन्य सब ऐतिहासिक आधारो को लेकर वे बतलाते है कि किसी भी तरह शक १४५० के बाद एकनाथ का जन्म मानना समीचीन न होगा।[3]

एकनाथ के माँ-बाप उनके जन्म के कुछ ही दिनो के बाद मर गए। तब उनका पालन-पोषण चक्रपाणि ने किया। बचपन से ही कुशाग्र बुद्धि वाले बालक एकनाथ ने सस्कृत का अध्ययन कर डाला। भगवद् भक्ति मे बचपन से ही इनका झुकाव था। अपनी वृद्धावस्था के कारण उस समय के प्रसिद्ध सत श्री जनार्दन

---

१. एकनाथ कृत अभंग—मराठी वाङ्मयाचा इतिहास खंड २, पृ० २१७।
२. एकनाथ वाङ्मय आणि कार्य, पृ० १—न. र. फाटक।
३. पाँच सन्त कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १९५, १९९।

स्वामी के उत्तर दायित्व में एकनाथ को सौप दिया। इस विषय मे श्रीकृष्णदास जगदानदन अपने 'प्रतिष्ठान चरित्र' नामक ग्रन्थ मे इस प्रकार विवेचन करते है।[1]

'मग पाचारुनि येकनाथ। चक्रपाणि जाला सागत। म्हणे आमुच्या वशात। तूं येकत्वे येकला ॥२५॥ म्हणे आमुचे भरले पूर्ण दिवस। आम्हां जाणे निज धामास। आता तुझ्या सरक्षणास तुज कोणास निखावे ॥२६॥ तरी आहे ऐक विचार। आमदावती नाम नगर जेथे जनार्दन साधु थोर। अति उदार सुखदाता ॥२७॥ श्री दत्तात्रेय आदि पुरुष। तोचि चंद्रशेखर प्रत्यक्ष। त्या चद्र-शेखराचा नि.शेष। पूर्ण शिष्य जनार्दन ॥२८॥......। जनार्दनाशरण जासी। सर्व सुखाचे सार लाभसी। हे सत्य मानले आम्हासी निश्चयेसी निर्धार ॥३२॥'

'चक्रपाणि ने स्वयम् एकनाथ को बुलाकर कहा कि तुम हमारे वश मे केवल अकेले बचे हो। अब हमारे दिन पूरे हो गये है। अतः यही चिंता है कि तुम्हारा उत्तरदायित्व अब हम किसे सौप दे। अमदावती (अहमदनगर) मे जनार्दन स्वामी साधु पुरुष रहते हैं। वे अत्यत उदार है। आदि पुरुष दत्तात्रेय और प्रत्यक्ष भगवान् चद्रशेखर के पूर्ण रूप से शिष्य है। ऐसे जनार्दन पत की शरण जाने से सब सुखों का सार तुम्हें मिल जावेगा। ऐसा हमने निश्चय कर लिया है अतः तुम जनार्दन स्वामी के पास शरण जाओ।'

अन्य चरित्रकार और डा० श गो. तुळपुळे के मत मे अपने पितामह की आज्ञा के बिना स्वयम् एकनाथ ही भागकर जनार्दन पत की शरण मे गये।[2] जो कुछ भी हो यहाँ पर प्रचलित दोनो मत दे दिये गये है। दक्षिण मे देवगिरी पर अल्लाउद्दीन खिलजी के द्वारा प्रथम चढाई हुई थी। उसके बाद मुसलमानी सत्ता का उदय और उत्कर्ष बहमनी राज्यकाल से दक्षिण मे आरम्भ हो जाता है। चौदहवी सदी से मुस्लिम शासन दक्षिण मे था, तथा हिन्दू जनता से ही कर्मचारी नियुक्त होते थे। अहमदनगर प्रमुख सूबे का स्थान था। प्रतिष्ठान भी एक महत्व-पूर्ण स्थान था। एकनाथ के गुरु जनार्दन स्वामी चालीस गॉव मे शक १४२६ के रक्ताक्षी नाम सवत्सर मे पैदा हुए। ये देवगिरी किले के एक प्रमुख कर्मचारी थे। अपना व्यवसाय सम्हालते हुए वे ईश्वर भक्ति मे लीन रहते थे और कहा जाता है कि ये बड़े साक्षात्कारी पुरुष थे। दत्त के उपासक होने से दत्त की स्तुति करने वाले पद और अभग इन्होने रचे। दत्त भगवान् की उन पर पूर्ण कृपा थी। एकनाथ का उत्तरदायित्व उन्होने सम्हाला। अपने गुरु द्वारा प्रदत्त पाठभी एकनाथ शीघ्र याद कर

---

१. अध्याय १—प्रतिष्ठान चरित्र (एकनाथ दर्शन भाग १), पृ० २५८।
२. पांच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० १९६।

लेते। पूरा अध्ययन अपने गुरु के मार्गदर्शन मे एकनाथ ने कर लिया। सरस्वती गगाधर ने नरसिंह-सरस्वती का चरित्र और गुरुचरित्र लिखा। उसमें तत्कालीन महाराष्ट्र का सामाजिक दर्शन हो जाता है। यह १५ वी शती मे लिखा गया है। 'महाराष्ट्र-धर्म' यह शब्द प्रथमवार इसमे प्रयुक्त हुआ है। इसी धर्म का प्रभाव अपने गुरु की कृपा से एकनाथ पर पडा था। प्रपच करते हुए परमार्थ का लाभ किम प्रकार लिया जाय, इसका प्रात्यक्षिक जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को अपने जीवन से दिया और आचरण से सिखाया। ये गुरु शिष्य अभिन्न हृदय थे इसकी साक्ष्य 'एका जनार्दन' इस एकनाथ की छाप से उनकी कृतियों मे देखने को मिलती हैं।

एकनाथ की ग्रन्थ कृतियाँ—

अपने गुरु के मुख से ज्ञानेश्वरी सुनकर गुरु भक्ति की महिमा एकनाथ के अन्त'करण मे समा गई। इसका वे बरावर अपने आचरण मे सदुपयोग करते रहे। इसी गुरु भक्ति के फलस्वरूप भगवान् दत्त का सगुण-साक्षात्कार हो गया। इसके वाद अपने गुरु की आज्ञा से उनके साथ कई तीर्थ यात्राएँ की। चद्रभट नाम के एक और शिष्य भी उनके साथ थे। चद्रभट व्याख्यान देते और पुराण कथन किया करते। एक दिन उन्होने चतुः श्लोकी भागवत पर व्याख्यान दिया जो जनार्दन स्वामी और एकनाथ को वडा प्रिय लगा। पचवटी मे त्रिवकेश्वर स्थान पर आने पर एकनाथ ने अपने गुरु की आज्ञा से चतु. श्लोकी भागवत की रचना की। वह प्रसङ्ग इस प्रकार वर्णित है—

जनार्दन म्हणती एकनाथा। सागतो वचन ऐक आता। श्रीदत्त वरद तुझिया माथा। साधला अवचिता निज भाग्ये ।। चतु श्लोकी जे भागवत चद्रभटे आणिले से सागत। त्याजपरी टीका करावी प्राकृत प्राजळ वहुत ये स्थानी।'[1]

'जनार्दन ने एकनाथ से कहा सौभाग्य से तुम पर भगवान् दत्त की पूर्ण कृपा है इसलिए मेरा यह वचन सुनकर चंद्रभट ने जिस चतुः श्लोकी भागवत को सुनाया है उस पर प्राजल रूप मे प्राकृत मे इसी स्थान पर एक टीका लिखकर प्रस्तुत कर दो।' उनकी आज्ञानुसार एकनाथ ने उस पर टीका लिखना आरम्भ किया और उसे वहीं समाप्त कर दिया। विपय का विवेचन वडी सरसता के साथ एकनाथ करते है। व्रह्मदेव चिन्तित थे कि सृष्टि कैसे निर्माण हो ? तव एक अशरीरी वाणी ने उन्हे कुछ कहकर उसे दूर करना चाहा। पर उसे वह समझ मे नही आया। तव चतुर्भुज मूर्ति रूपधारी भगवान् ने अपना गुह्य ज्ञान व्रह्मदेव को प्रदान किया। व्रह्मदेव से श्री नारद मुनि के द्वारा वह श्री महर्पि व्यास को प्राप्त हुआ। व्यास से

१. चतुः श्लोकी भागवत—एकनाथ।

वह शुकाचार्य को मिला। ये सभी स्वानन्द-साम्राज्य के चक्रवर्तीपद पर आसीन हो गये थे। शुकाचार्य ने अपने सुन्दर श्रीमद् भागवत के दूसरे स्कध के नवे अध्याय मे यह गुह्य ज्ञान केवल चार श्लोकों मे सचितकर जग को प्रदान किया। पर वह सस्कृत मे होने से केवल संस्कृतज्ञ ही उसका आस्वाद ले सकते थे। इसलिए एकनाथ ने उसे सार्वजनीन बनाने की दृष्टि से मराठी में अभिव्यक्त कर दिया। यों भागवत ग्रन्थ अपने आप मे ही लोकप्रिय है। पर अपने आख्यान से उन्होने उसे और भी अधिक लोकप्रियता प्रदान कर दी। वे कहते हैं[1]—

माझे वेडे वाकुडे आरुष बोल। त्या माजि ब्रह्मज्ञान सखोल।
नित्य नव प्रेमाची वोल। हे कृपा संताची॥

'मेरे ये उलटे-सीधे आर्ष बोल हैं, परन्तु इनमे गहरा ब्रह्मज्ञान भरा हुआ है। मैं नित्य नये प्रेम की आर्द्रता उसमें ला सका यह सन्तो की कृपा का फल मानना चाहिए।' वे आगे और कहते है[2]—

भागवत मराठे। हे बोलणे नवल वाटे।
पूर्वी नाही ऐकले कोठे। अभिनव मोठे घिटावा केला॥

'मराठी मे भागवत' रचने की यह कल्पना ही वडी अद्‌भुत लगेगी। आज-तक ऐसा किसी ने सुना नही होगा। पर यह अभिनव कार्य करने की धृष्टता मैंने की है।

इस प्रकार चतुःश्लोकी भागवत का यह विवरण देखकर जनार्दन स्वामी ने उनको भागवत के एकादश स्कध पर टीका करने के लिये कहा तब पैठण मे एकनाथी भागवत की रचना आरम्भ कर उसे वाराणसी मे जाकर पूर्ण कर दिया। इसके वारे में आगे विवेचन किया जावेगा।

एकनाथ ने अकेले भी कुछ तीर्थ यात्राएँ की और जव वे प्रतिष्ठान लौट आये तव तक करीव-करीव वे २५ वर्ष के हो गये थे। यही पर अपने गुरु की कृपा से दौलतावाद के त्रिविक्रम शास्त्री की कन्या गिरिजाबाई के साथ उनका विवाह सम्पन्न हुआ। उनको यशोदा, हरिपडित और गगा ये सताने हुई। मराठी के प्रसिद्ध कवि मुक्तेश्वर उनकी लड़की के एक सुपुत्र थे। एकनाथ की गृहस्थी को हम प्रपंच और परमार्थ, प्रेम और भक्ति, तथा जीव और ब्रह्म का समन्वय मान सकते है।

अपने सव से वडे महाग्रन्थ के बारे में वे कहते हैं—

---

१. चतुश्लोकी भागवत–एकनाथ, ९८४–९८६।
२. ,, ,, ,,

'ग्रंथारभ प्रतिष्ठानी । तेथ पंचाध्यायी संपादुनि ।
इतर ग्रंथाची करणी । आनंदवनी विस्तारली ॥'[१]

इस महाग्रन्थ का आरम्भ प्रतिष्ठान मे ही हो गया था। प्रथम पाँच अध्याय यही पर लिखकर उन्होने उसे वाराणसी मे जाकर वहाँ पूरा किया। शक १४९२ से शक १४९५ तक उसका लेखन जारी था। इस ग्रन्थ को 'उद्धवगीता' भी कहा जाता है और भागवत धर्म का धर्म ग्रन्थ भी वह माना जाता है। इसमे काव्य और अध्यात्म, भागवत धर्म का विस्तारपूर्वक विवेचन, रूपको की भरमार, भक्ति ही एकमात्र परमार्थ का श्रेष्ठ मार्ग है इस सिद्धांत की प्रस्थापना उन्होने की है। सब मे भगवद्भाव देखते हुए भक्ति विरक्ति और ईशप्राप्ति को एकनाथ एक-रूप मानते है। कई कथाएँ, आख्यान, उपाख्यान, दृष्टात आदि से भक्ति की महिमा बखानी है। इसमे कृष्ण-भक्ति, गुरु-भक्ति, भाषा-भक्ति और भागवत भक्ति के विवेचनो मे कई स्थानो पर पुनरावृत्ति भी हुई है। पर अठारह हजार ओवियो के इस अतिप्रचड ग्रन्थ मे लौकिक जीवन मे जो भाषा अपनाई जाती है उसी को अपनाकर सीधी-साधी शैली मे कठिन पारमार्थिक सिद्धान्त ससारी जीवो को सरमता के साथ समझाते है। जनार्दन स्वामी भी उनकी इस कृति से परम सतुष्ट होकर उन्हे आनद युक्त वाणी मे यह आशीर्वाद देते है[२]—

'हे टीका तरी मराठी । परि ज्ञानदाने होईल लाठी ॥'

मराठी मे टीका होने पर भी इसके ज्ञानदान से वह श्रेष्ठ मानी जावेगी।

इसी समय वे 'रुक्मिणी स्वयवर' भी रच रहे थे। शक १४९३ मे इसे उन्होने रचा। इसी वाराणसी के वास्तव्य मे हिन्दी के वरेण्य वैष्णव सत तुलसीदासजी के बारे मे उन्होने अवश्य सुना होगा। सभवत: वे उनसे मिले भी हो तो कोई आश्चर्य की बात नही है। वैसे इन दोनो के ऐतिहासिक मिलन का कोई प्रमाण उपलब्ध नही है। इस विषय पर श्री जगमोहन चतुर्वेदी द्वारा लिखित 'एकनाथ और तुलसीदास' यह ग्रन्थ दृष्टव्य और उल्लेखनीय है। दोनो के चरित्र मे अधिक साम्य है, दोनो मे भावसाम्य है, दोनो का वाराणसी से सम्बन्ध था और दोनो ने रामकथा पर रचनाएँ की है। तुलसीदासजी एकनाथ से आयु मे बड़े थे। दोनों ने जन-भाषा मे ग्रन्थ रचना की है। एकनाथ के भागवत का प्रथम वाराणसी के मराठी भाषियो के द्वारा विरोध हुआ पर बाद मे इस प्रसिद्ध ग्रन्थ का काशी के कर्मठ विद्वानो के द्वारा स्वागत किया गया और उसे पालकी मे रखकर उसका जुलूस

---

१ एकनाथी भागवत।

२. एकनाथ भागवत पर जनार्दन स्वामी का अभिप्राय।

निकाला गया था। वैसे स्मरणीय वात यह है कि काशी के कर्मठ विद्वानों को प्राकृत मराठी भाषा में रचना की यह वात आरम्भ में जँची नहीं थी।

एकनाथ की स्फुट अन्य रचनाएँ—

एकनाथ ने हस्तामलक, शुकाष्टक, स्वात्मसुख, आनन्द लहरी, गीतासार, चिरंजीव पद, गीता-महिमा आदि छोटी स्फुट रचनाएं लिखी है। शकराचार्य के चौदह श्लोकों से युक्त स्तोत्र पर ६७४ ओवियों में 'हस्तामलक' नाम की मराठी सरस टीका एकनाथ ने लिखी है। 'शुकाष्टक' मे ४४७ ओवियो में शुकमुनि के अद्वैतावस्था मे संप्राप्त आनन्दरूप स्थिति का वर्णन है। यह अद्वैतावस्था त्रैगुण्य और विधि-निषेध के परे रहती है। यही भावार्थ के द्वारा इसमें एकनाथ ने प्रकट किया है। 'स्वात्मसुख' ५१० ओवियों मे गुरुस्तवन, अद्वैतभक्ति आदि विषयों का विवेचन करने वाली छोटी रचना है। 'आनन्द लहरी' में एकनाथ की अपनी स्वात्मानुभूति, एकनिष्ठ गुरु-भक्ति की महिमा आदि वर्णित है। 'चिरजीव पद' मे केवल ४२ ओवियो में देह-सुखो के प्रति उदासीनता वरतकर अनुताप युक्त वैराग्य से और मृत्यु का स्मरण रखकर परमार्थ-क्षेत्र मे चिरंजीव पद की प्राप्ति कैसे की जाय इसे वतलाया है। अन्य दोनो रचनाएं छोटे स्फुट प्रकरण है। रुक्मिणी-स्वयम्वर शक १४९३ मे अपने वाराणसी निवास के समय मे एकनाथ ने रचा, यह उल्लेख हम पहले ही कर आये हैं। यह एक खड काव्य है। भागवत के दशम स्कध के कुल १४४ श्लोकों पर आधारित १७१२ ओवियो मे एकनाथ ने इसको अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से रचा है। एकनाथ की यह एक अमर कृति है। इसमे काव्य, अध्यात्मज्ञान और भक्ति, कल्पना और भावना, परमार्थ और प्रपंच ये सबके सब कृष्ण कथा के ताने-वाने में एकरूप हो गये हैं।[1]

अन्य कृतियाँ और अभंग—

सत एकनाथ के पद और अभगों की गाथा प्रसिद्ध है। सङ्कीर्तन करते-करते समय-समय पर इनकी रचना वे करते थे। निर्गुण का वोध और सगुण की भक्ति दोनों की अनुभूति इन अभङ्गों से व्यक्त की गई है। कृष्ण की सगुण भक्ति तो उनके हृदय मे सदा विद्यमान रहा करती थी। वालक्रीडा के अभग, ग्वालिने और अनेक वेदांतपरक अध्यात्म के रूपकों को इन अभङ्गो का और पदों का वर्ण्य विषय वनाया गया है। विपुल मात्रा में हिन्दी पदों की भी रचना एकनाथ ने की है। उनके अभङ्गो का रस मूलतः भक्ति है, यों विषयानुसार शृङ्गार, अद्भुत और

---

१. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० २११, २१४, २१८,

वात्सल्य रसो मे वे पद रचते हैं, पर सब मे भक्ति रस प्रधान हो जाता है उनके अभङ्गो की प्रशसा उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने भी की है। अपने अनुपम सौंदर्य सहित चंचल नेत्र मटकाती हुई, वायु के झोको से कर्ण कुडल हिलाती हुई जाने वाली राधा का शब्द चित्र देखिये[1]—

> वारियाने कुण्डल हाले। डोळे मोडित राधा घाले ।।ध्रु०।।
> राधा पाहुनि भुलले हरि। बैल दुभे नंदा घरी ।।
> हरि पाहुनि भुलली चित्ता। राधा घुसली डेरा रिता ।।
> मन मिनलेसे मना। एका भुलला जनार्दना ।।

'राधा के कर्ण कुडल हवा के झोके से हिलते है, सावले कन्हैया की ओर आँखे मटकती हुई चलती है। राधा के अनुपम सौन्दर्य को देखकर हरि लुब्ध हो गये है और नद के घर गाय के बदले बैल दुहने लगे हैं। राधा की भी यही अवस्था है। वह हरि को देखकर अपने चित्त मे चकित हो गई है और परिणामत: रिक्त मटुकी ही मथानी से मथ रही है। दोनो के मन परस्पर आकर्षित हो गये है। इसी तरह अपने गुरु जनार्दन के प्रति एकनाथ भी श्रद्धा से लुब्ध है। 'इन अभङ्गो की शब्द योजना, कल्पना प्रवणता, भावना की आर्दता सभी अध्ययन करने योग्य है। एकनाथ के वाङ्मय का एक और प्रकार 'भारुड' नाम का है। 'भारुड' शब्द 'बहुरूढ' से बना है। अँग्रेजी मे जिसे (Folk-Lore) कहा जाता है उसी तरह एकनाथ ने अपने तद्युगीन महाराष्ट्रीय सामाजिक जीवन से सबधित लोकगीत ही इन भारूडो के माध्यम से रचे है। इनमे अद्भुतता के साथ प्रचलित सामाजिक रूढियो पर फब्तियाँ कसी गई है। व्यग्यात्मक चुटकियाँ ली गई है। हिन्दी-पदो मे 'हिन्दु-तुर्क सवाद', विशेष प्रसिद्ध है। इन सब मे वेदात युक्त अध्यात्म के रूपको का प्रयोग एकनाथ ने मुक्त हस्त से किया है।

श्री एकनाथ के बडे लड़के हरि पडित बहुत बड़े शास्त्री थे। श्री एकनाथ से उनकी न निभने के कारण वे उनसे रूठकर वाराणसी मे जाकर रहने लगे थे। बाद मे श्री एकनाथ के समझाने बुझाने पर हरिपडित वापस पैठण को लौट आये। एक बार वे दासोपत नाम के एक और अपने समकालीन सत्पुरुष से मिलने गए और अपने साधुत्व और सतत्व से उनके अहकार को दूर कर आए। शक १५०६ मे एकनाथ ने एक और महत्वपूर्ण कार्य किया। ज्ञानेश्वर ने एकनाथ को स्वप्न मे आदेश दिया। एकनाथ अपने एक अभग मे उसका वर्णन इस प्रकार करते है—

---

१. एकनाथ कृत पद—एकनाथ गाथा।

श्री ज्ञानदेवे येऊनि स्वप्नांत । सांगितली मात मजलागी ॥
दिव्य तेजःपुंज मदनाचा पुतळा । परब्रह्म केवळ बोलतसे ॥
अजानवृक्षाची मुळी कंठासी लागली । येऊनि आळंदी काढीं वेगी ॥
ऐसे स्वप्न होतां आलो अलंकापुरीं । तंवनदी माझारी देखिले द्वार ॥
एका जनार्दनी पूर्व पुण्य फळलें । श्रीगुरु भेटले ज्ञानेश्वर ॥[1]

मुसलमानों के आक्रमणो मे आलंदी का ज्ञानदेव का समाधिस्थान नष्ट हो गया था। इसका जीर्णोद्धार एकनाथ ने किया। स्वप्न में आकर तेज.पुंज ज्ञानेश्वर ने उनसे कहा कि अजान वृक्ष की जड़ो ने उनके गले को जकड़ दिया है। अतः शीघ्र आकर मुझे उनसे मुक्त करो। वे आळंदी गए समाधि को देखा और उन जड़ो को साफ किया। गुरु जनार्दन स्वामी की कृपा के पुण्य फलस्वरूप श्री ज्ञानेश्वर गुरु से प्रत्यक्ष मुलाकात हो गई। ज्ञानेश्वरी के प्रचार मे एव अध्ययन मे पाये जाने वाले तद्युगीन में अज्ञान जन्य और दुराग्रहमूलक सकटो का एकनाथ ने निराकरण किया। उसके अपपाठो को दूर कर उसका पाठानुसंधान किया इसका वे यो निरूपण करते हैं।

शकें पंचराशते सखोत्तरी तारण नाम संवत्सरी ।
येका जनार्दने अत्यादरीं । गीता ज्ञानेश्वरी प्रति शुद्ध केली ॥
ग्रन्थ पूर्वीच अति शुद्ध । परिपाठांतरे शुद्धावद्ध ।
ते शोधुनि एवंविध । प्रति शुद्ध सिद्ध ज्ञानेश्वरी ॥[2]

'शक १५०६ मे, तारण नाम के संवत्सर मे जनार्दन स्वामी के एकनाथ ने अत्यन्त आदरपूर्वक गीता-ज्ञानेश्वरी की प्रति को शुद्ध रूप मे प्रस्तुत किया। वैसे अपने से ग्रन्थ शुद्ध था। पर अनेक पाठ भेदो ने उसके मूल स्वरूप को विकृत कर दिया था। अतः उनका अनुशीलन कर पुन. ज्ञानेश्वरी का पाठानुसंधानयुक्त संपादन कर उसे शुद्ध रूप से सिद्ध किया है।' इस तरह एकनाथ को हम मराठी के प्रथम पाठानुसधापक और सपादक मान सकते है। उनके इस कार्य के वाद ज्ञानेश्वरी मे जो मराठी में अपनी ओवी क्षेपक रूप मे मिला देने का कार्य करेगा वह अमृत से भरी थाली मे फूटा ठीकरा रखने जैसा कार्य करेगा ऐसी चेतावनी भी एकनाथ ने दे रखी है।[1]

भावार्थ रामायण एकनाथ की अन्तिम कृति—

अपनी तद्युगीन राजनैतिक अस्थिरता और सामाजिक पारस्थिति से उत्पन्न

---

१. एकनाथ गाथा–अभंग ३५२४, पृ० ३३७।
२. ज्ञानेश्वरी शं. वा. दांडेकर कृत—एकनाथकृत ओवियाँ, पृ० ८२६।

दुर्दशा को देखकर और तुलसीदास की रामोपासना से प्रेरित होकर आदर्श रामराज्य की कल्पना से भावार्थ रामायण का एकनाथ ने प्रणयन किया। इस सप्तकाडात्मक रामायण के प्रथम पाच काड और छठवे काड के प्रथम ४४ अध्याय एकनाथ पूरा कर सके और उसको पूरा करने का कार्य अपने शिष्य गाववा पर छोडकर वे स्वर्ग सिधारे। पूरी पुस्तक के २९७ अध्यायों मे से १७२ नाथ रचित और अन्त के १२५ अध्याय गाववा के रचित है। गाववा ने अपना नाम कही भी नही दिया है। अत तक 'एका जनार्दन' यही छाप और शैली रखी है। भावार्थ रामायण मे गृह, ससार, लौकिक, पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन का सूक्ष्म और यथातथ्य वर्णन मिलता है। इस रामायण के लिये वाल्मीकि, अध्यात्म, क्रौंच, शिव-रामायण से तथा वासिष्ठ योग तथा कालिकाखण्ड आदि से एकनाथ ने आधार लिये है। यहाँ पर भी उनकी ज्ञान, भक्ति और वेदान्तपरक आध्यात्मिकता की दृष्टि बरावर बनी हुई है। तत्कालीन अत्याचारी शासन नष्ट होकर रामराज्य की स्थापना हो जाय, स्वधर्म प्रतिष्ठित हो जाय इसकी चिन्ता एकनाथ को इस ग्रन्थ मे लगी दिखाई देती है। यह उनका ओजस्वी महाकाव्य है। एकनाथ की समाजोन्मुखता अद्वितीय और अपूर्व है। भागवत के धर्म मन्दिर को दृढ लोकाभिमुखता का एवं लोकजागृति का स्तभ एकनाथ ने दिया था यह वात त्रिवार सत्य है। एकनाथ स्वयम् गृहस्थाश्रमी जीव थे। अपने आचरण से शूद्रादि को भी उनका प्रेम प्राप्त हुआ था। वे उनके यहाँ भोजन तक कर आये थे। रामेश्वर को अर्पण करने वे गगाजल ले जा रहे थे। पर राह मे एक तृषार्त गधे को देखकर वह गगाजल उसे प्राशन करा दिया। उनमे समत्व बुद्धि थी। वे परम कारुणिक थे। एक यवन के वार-वार उन पर थूकने पर भी उन्होंने अपनी शाति कायम रखी और वार-वार स्नान करते रहे। इस घटना से उनकी सहिष्णुता और समतानता दिखाई देती है। वे सचमुच लोकोत्तर पुरुप थे। एकनाथ ने अपनी लेखनी से रसयुक्त, प्रसादयुक्त, कवित्व से स्फुरित सद्भाव से आर्द्र और प्राजळ भाषा मे अध्यात्मिक विवेचन अपनी समस्त कृतियो मे प्रस्तुत कर दिया है। ईश्वर प्राप्ति का सरल मार्ग एकनाथ ने अपने तद्युगीन समाज के सामने आचरण, अनुभूति और अभिव्यक्ति से महाराष्ट्रीय जनता को दिखाया। शक १५२१ मे फाल्गुन वदी षष्ठी को पैठण में अपना जीवित कार्य एकनाथ ने समाप्त किया। अपने गुरु के वे सचमुच पात्रतम शिष्य थे।

तुकाराम :

स्व० पु० म० लाड के मतानुसार तुकाराम किसी ऊसर एवम् वंजर जमीन मे खाद देकर उत्पन्न किये गये अनाज की तरह नही उत्पन्न हुए, वरन् अनेक

अनेक पीढियो से उपजाऊ जमीन मे वोये गये हरि भक्ति के पुण्य वीज से अंकुरित सरस मधुर वृक्ष के रसीले पक्व फल की तरह उत्पन्न हुए है।[1] इनके पूर्वज विश्वंभर ने भगवान् से विठ्ठल भक्ति को वंशपरपरागत वरदान के रूप मे माग लिया था। विठ्ठल ने ही उनको देहू में बसाया। तुकाराम मोरे कुल के आवळे उपनाम वाले वनिया (कुणवी) थे। वे देहू के महाजन थे। तुकाराम अपनी हीनता के वारे में वतलाते है[2]—

'बरा कुणबी केलो। नाही तरि दभेचि असतो मेलो।'

और

आळस न करी या लाभाचा। तुका विनवि कुणबियाचा ॥'

अच्छा हुआ मै कुनवी जाति मे उत्पन्न हुआ अन्यथा व्यर्थ अभिमान और भूठे दभ से ही मर जाता। अतएव यह जो लाभ हुआ इसमें विना आलस्य के अपना भला कर लेना चाहिए ऐसा विनम्रतापूर्वक तुकाराम वनियेका निवेदन है। पढरी की यात्रा इनके कुल मे पुश्तैनी रूप मे थी। इनके पिता का नाम वोल्होवा और माता का नाम कनकाई था। शक १५२० अर्थात् सन् १५९८ में तुकाराम का जन्म हुआ। तुकाराम के दो भाई सावजी और कान्होबा नाम के थे। सावजी बचपन से ही विरक्त थे। शकर की कृपा से ये जन्मे थे। तुकाराम की दो शादियाँ हुई थी। प्रथम पत्नी का नाम रखमाई था जो खाँसी और तपेदिक से नित्य वीमार रहती थी। दूसरी पत्नी पुणे के धनवान साहूकार आप्पाजी गुळवे की लडकी अवलो उपाख्य जिजावाई थी। तुकाराम का दूसरा विवाह अपनी तेरहवी वर्ष की आयु मे हुआ। वचपन वडे सुख मे वीता। सुखोपभोग की सारी सामग्री और अनन्त सम्पदा उनके पास मे थी। महिपती अपने भक्ति-विजय मे कहते है[3]—

माता-पिता बंधू सज्जन। परी उदण्ड धन्य।
शरीरी आरोग्य लोकांत मग्न। एक हि उणे असेना ॥

दुखो का आक्रमण—

सत्रह वर्ष की उम्र मे माँ-वाप चल बसे। वडे भाई की स्त्री मर गई। इसी दुख से विरक्त होकर सावजी तीर्थाटन करने के लिये घर छोड़कर निकल गए। तुकाराम अपनी दो स्त्रियो के साथ सुख पूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे। पर अव धीरे-धीरे वह सुख नष्ट होने लगा। अकाल पड़ने से व्यवसाय मे घाटा होने लगा

---

१. तुकाराम चरित्र पूर्वाध—पु. म. लाड, पृ० १।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ३२०, पृ० ५३।
३. भक्तिविजय—महिपती।

और प्रतिष्ठा नष्ट होने लगी। अन्त मे दिवाला निकल गया। दुष्ट और नीच साहूकारो ने काल की तरह घेर लिया। इसी अकाल मे उनकी प्रथम पत्नी अन्न-अन्न कहते हुए ही मर गई। अनाज बहुत महगा हो गया। इस तरह वे सब तरह से क्षत विक्षत हो गये। उनको निराशा ने पूरी तरह से व्याप लिया। इसी में उनका बेटा सतू भी चल बसा और गाय बैल भी मर गए। वे अपनी इस विपन्नावस्था से पूर्ण विरक्त और उद्विग्न हो गये।

'प्रिया पुत्र बंधु। याचा तोडिला सम्बन्धु।
सहज झालो मंदू। भाग्यहीन करंटा।
तोंडून दाखवे जनी। शिरे सांदी, भरेराना।
एकांत तो जाणा तया साठी लागला॥'[1]

प्रिया, पुत्र और बधु का चिर विछोह हो जाने से मैं मदभाग्य और रंक वन गया हूँ। लोगो को अपना काला मुह नही दिखा सकता इसलिये जंगल मे कही किसी कोने मे छिपकर एकान्त मे बैठा रहता हूँ। नियति के क्रूर प्रहारो ने उन्हे ऐसा फल चखाया कि व्यवसाय और गृहस्थी ने ही उनका परित्याग कर दिया। तुकाराम इनको दुखमय मानने लगे। दूमरी पत्नी धनवान की वेटी थी। परि-स्थिति जब तक अच्छी रही तव तक वह प्रसन्न थी। परन्तु ऐसे सकट कालीन प्रसग तथा अवस्था मे वह उनको टोकने लगी। ससार के प्रति वे पूर्ण उदासीन वन गए। अविद्या की रात्रि नष्ट होकर भक्ति के अंकुर उनके अन्तःकरण मे प्रादुर्भूत हुए। माया मोह के पाश-आसक्ति के वंधन जलभुनकर नष्ट हो गये। भक्तों की वडी कठिन परीक्षा होती है। इम विपय पर तुकारामोक्ति प्रसिद्ध है—

देव भक्तालागी करु नेदी संसार। अङ्गी वारावार करुनिया॥
भाग्य ध्यावे तरी अंगी भरे ताठा। म्हणोनि करंटा करोनि ठेवी॥
स्त्री ध्यावी गुणवंती नाती गुंते आशा। या लागी कर्कशा पाठी लागी।
तुका म्हणे मज प्रचित आलो। देखा आणिक या लोका काय सांगो॥[2]

'भगवान् भक्तो को गृहस्थी भी चलाने नही देता। अहकार पूर्ण होकर सौभाग्यशाली वनने की अपेक्षा निरहकारी वन दरिद्री वनना अच्छा है। गुणवती स्त्री के रहने पर उसी मे आसक्ति वढ जाती है। शायद इसीलिये मेरी स्त्री कर्कशा याने झगड़ालू प्रवृत्ति की है। हे भगवान् मुझे इसका पूरा अनुभव आया है और इन लोगो को मैं क्या कहूँ?' इस तरह पूर्ण रूप से परमार्थी वन गए। विठ्ठल भक्तिको

१. भक्ति विजय—महिपती।
२. तुकाराम अभङ्ग गाथा—अभङ्ग ३०५१, पृ० ५११।

वे अपनी बपौती मानते हैं। वे भार्मनाथ नाम के देहू के पास की पहाडी पर या पास के ही भंडारा नाम की पहाडी पर एकान्त मे तपस्या साधन करने लगे। अपने गाँव के एक टूटे हुए जीर्ण विठ्ठल मन्दिर का गाँव के चार लोगों की सहायता से उन्होने जीर्णोद्धार किया। उस मन्दिर मे दिनरात नामस्मरण, सङ्कीर्तन, भजन अभंग रचना करते हुए उसी में मग्न रहने लगे। एकनाथी भागवत को सहस्रवार पढ़कर उसका पुनः पुन पारायण करते रहे। नामदेव के अभङ्गो को पढ़ा। अन्य साधु सन्तों के ग्रन्थो को भी पढ़ते रहे। परिणामतः उन्हें पर-द्रव्य और परनारी विषवत लगने लगे। अपने व्यावसायिक सारे कागजो को इन्द्रायणी मे डुबोकर वे पूर्णतः निस्संग बनने की साधना करने लगे। रोज प्रात.काल उठकर भगवद्-साधना में लीन रहना उनका ध्येय बन गया। अध्ययन, मनन, चिंतन यही जीवन क्रम-सा बन गया।

पारमार्थिक पात्रता प्राप्त करने की साधना—

अपनी अनवरत साधना में कही निद्रा न आजाय इसलिए वे अपनी चोटी को रस्सी से बाँधकर खूँटी में टांगते जिससे झपकी आजाने पर निद्रा भग हो जाती और वे एकाग्रता से मनन, चिंतन, निदिध्यामन करने मे रत रहा करते। बुद्धि कुशाग्र और स्मरण शक्ति तीव्र होने से ग्रन्थो के अध्ययन ने उन्हे पूर्ण विद्वान बना दिया। सत-समागम भी बढता गया। सभी सगे संबधियो ने उनका द्वेष करना आरम्भ कर दिया फिर भी वे अपना कार्य करते ही रहे। एकान्तवास मे उनका मन रमने लगा। अरण्य के पेड, लताएँ, पशुपक्षी उनके लिये सगे कुटुम्बी जनो की तरह भासित होने लगे :[१]

'हमारे लिये वृक्ष-लताएँ और वनचर ये हमारे सगे-हितू है। सुस्वर ध्वनि मे पक्षी गाते है। इसलिये एकान्त सेवन बड़ा अच्छा लगता है। कोई गुण अथवा दोप भी शरीर से नही चिपकते। देह की शोभा के लिए कथा कमंडल आदि की आवश्यकता हवा से ही परिपूर्ण हो जाती है। हरिकथा विस्तारपूर्वक करना यही भोजन बन गया है। इसके विविध प्रकार ढूँढ-ढूँढकर रुचि सहित हरिकथा सेवन करना उचित है। यहाँ रहकर अपने मन से ही सवाद किया जा सकता है और चर्चा और प्रतिवाद भी अपने आप से ही सभव है।' इस तरह तुकाराम का मन विठ्ठल-चरण में मग्न हो गया। पत्नी जिजाबाई उनसे सदा झगडती-गालियाँ, देती, परन्तु फिर भी उनका ध्यान रखती। जंगल में अपनी एकान्त साधना में अपनी साधना में मग्न इस साधक को ढूँढ़-ढूँढ़कर खाना खिलाती, इधर तुकाराम

१. तुकाराम अभङ्ग गाथा, पृ० ४२२–अभङ्ग २४८१।

दानी बनकर अपना घर लुटवाते। एक बार तो स्नान करने बैठी हुई अपनी पत्नी का वस्त्र भी एक गरीब महारिन को उठाकर दे दिया। उनकी इस दान-शूरता और निर्लज्जता पर वह तुकाराम को बहुत कोसती। इस तरह तुकाराम का घरेलू जीवन था। एकबार स्वप्न मे नामदेव ने आकर अपने शतकोटी अभङ्ग रचने के अधूरे कार्य को पूरा करने का आदेश दिया। नामदेव की तरह विठ्ठल ने भी उनको स्वप्न मे यही आदेश दिया।

कवित्त स्फुरण और गुरु कृपा—

नामदेव का स्वप्न मे आदेश वे अपने एक अभङ्ग मे वर्णन करते है[1]—

नामदेव केले स्वप्नामाजि जागे। सवे पांडुरंगे घेऊनिया ॥१॥
सांगितले काम करावे कवित्व। वाऊगे निमित्त बोलो नको॥
माप टाकी सळ धारिली विठ्ठले। थापटोनि केले सावधान ॥२॥
प्रमाणाची संख्या सांगे शत कोटी। उरले शेवटी लावी तुका॥

'नामदेव पाडुरग सहित स्वप्न मे आये ओर आदेश दिया कि तुम कविता करो। किसी तरह की कोई अडचन इस कार्य मे उसे न करने के लिये मत दिखाना। मुझे अपने हाथ से स्पर्श कर विठ्ठल ने सावधान किया और आदेश दिया कि तुम नामदेव के शतकोटि अभङ्ग रचने के बचे हुये कार्य को पूरा कर डालो। मै स्वयम् विठ्ठल अभिमानपूर्वक तुम्हे आदेश दे रहा हूँ। अतः इस कार्य को कर डालो।' परिणामत उनमे कवित्त का स्फुरण हुआ और वे अभङ्ग रचना मे लग गये। इसी तरह फक्कड और निरीह बनकर वे पहुँचे हुये सत-महात्मा बन गये। अपने मन से भक्तिमार्ग का अनुसरण करते हुये एक दिन अचानक उन पर गुरु कृपा हुई।

'सदगुरु राये कृपा मज केली। परी नाही घडली सेवा कांहीं॥
सांपडविले वाटे जाता गंगास्नाना। मस्तकी तो जाणा ठेविला कर॥
भोजना मागती तूप पावशेर। पडिला विसर स्वप्नामाजीं॥
कांही कळे उपजला अन्तराय। म्हणोनियां काय त्वरा जाली॥
जाणत्या नेणत्या ज्या जैसी आवडी। उतार सांगडी तापे पेटी॥
तुका म्हणे मज दावियेला तारु। कृपेचा सागरु पांडुरंग॥[2]

सदगुरु बाबाजी चैतन्य ने मुझ पर कृपा की परन्तु कोई सेवा मुझसे नही ली। गगास्नान अर्थात् इन्द्रायणी स्नानार्थ जाते हुये सदगुरु ने उनके मस्तक पर

---

१. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग १३२०, पृ० २३१।
२. तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ३६८–३६९, पृ० ६०।

वरदहस्त रखा और अपनी गुरु परम्परा वतलाई। राघव चैतन्य, केशव चैतन्य और वावाजी चैतन्य की परम्परा में वावाजी चैतन्य ही उनके गुरु थे। उपासना के लिए तुकाराम को उन्होने 'रामकृष्ण हरि' यह मत्र दिया। यह घटना माघ शुद्ध दशमी, गुरुवार के दिन घटी। तुकाराम कहते है मेरे मन के भाव को ठीक तरह जानकर मेरी रुचि और चाव का सरल मत्र मुझे उपदेश के रूप मे दिया। अतएव साधना मे किसी तरह का व्यवधान उत्पन्न नही हुआ। भवसागर के उसपार जाने के लिये यह नाम रूपी नौका मिल जाने से मैं कृतकृत्य हो गया। स्वप्न में सदगुरु ने भोजनार्थ एक पाव घी मॉगा था परन्तु तुकाराम को इसका विस्मय हुआ। इसीलिए उनको ऐसा लगा कि गुरु-सेवा मे गलती हो जाने से वे शीघ्र ही अन्तर्धान हो गए। यह गुरुपदेश शक १५४१ मे हुआ।[1]

इसके वाद कीर्तन रग मे तुकाराम के मुख से अभग-काव्यगगा अवाध गति से प्रवाहित होने लगी। उनका यह काव्योत्कर्ष रामेश्वर भट्ट नाम के एक ब्राह्मण को सहन नही हुआ। वह तथा अन्य लोग उनका द्वेष करने लगे। कुनवी जाति का एक व्यक्ति महान् आदमी वनकर कवित्व करता है यह देखकर वे उनके कार्य को पाखड समझने लगे। उनका गाँव मे रहना भी मुश्किल कर दिया। तुकाराम कहने लगे[2]—

काय खावे आतां ? कोणीकडे जावें ? गावांत रहावे कोण्यावळें ?
कोपला पाटिल गाविचे हे लोक आतां घाली भीक कोण मज ?

अव मैं क्या खाऊँ और कहाँ जाऊँ और गाँव में किस के वल पर या आधार पर खड़ा रहूं ? गाँव का पाटिल नाराज है ओर ये अन्य ग्रामवासी लोग और उनका यह व्यवहार ! अव मुझे भीख भी कौन देगा ? लोगो का संपर्क न उत्पन्न हो तथा कोई लाछन न लगे और वे खुश रहे इसी आत्मसहिष्णु वृत्ति से उनकी दी इच्छानुसार अपनी अभंग की पोथियाँ इन्द्रायणी में डुवो दी। पहले व्यावहारिक दृष्टि से अपनी चोपडियाँ डुवो दी थी अव पारमार्थिक साधन की पोथियाँ भी गँवानी पडी। लोग भी कहने लगे वेचारे पूरे लुट गये। तेरह दिन प्रायोपवेशन करते रहे। न अन्न ग्रहण किया न जल। एक शिला पर ध्यानस्थ होकर वैठे रहे। अन्त में अभग की पोथियाँ फूलकर ऊपर आ गईं। अव उन्हे सगुण साकार का दर्शन हो गया। रामेश्वर भट्ट और अन्य विरोधक मवाजी जैसे भी उनके शिष्य वनकर नाम सङ्कीर्तन मे झाझ वजाने वालो मे स्वयम् सहकार्य देने लगे। अव वे निश्चित होकर गाने लगे।

---

१. **पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३०० ।**
२. **तुकाराम अभंग गाथा—अभंग ६७६, ३८८१, पृ० १३० ।**

गाईन तुझे नाम । ध्याईन तुझे नाम । आणिक न करी काम जिव्हा मुखें ।
पाहिन तुझे पाये ठेवीन तेथे डोये । पृथक ते काय । न करी वाणी ।
तुझे चि गुण वाद । आई के न कानीं । आणि कायी वाणी । पुरे आतां ।
करीन सेवा करी । चालेन पाई । आणिक नव जेठाई तुजवीण ।
तुका म्हणे जीव । ठेविला तुझ्या पाई । आणिक ती काई । येऊ कवणा ।[1]

मैं तेरा नाम गाऊँगा । तेरे नाम का ध्यान करूँगा और कोई भी कार्य नही करूँगा । तुम्हारे चरण देखकर उन पर अपने मस्तक को झुका दूगा । जीभ और मुख तेरा नाम लेने के अतिरिक्त और कुछ भी नही करेगे । कानो से तेरा गुणानुवाद ही मात्र सुनूगा और कोई शब्द नही सुन सकता । हाथों से तेरी सेवा करूँगा । अपने पैरो से चलकर तेरे पास ही आऊँगा । मैंने अपने प्राण तुझे सौंप दिये है, अब अन्य किसी की शरण नही जा सकता ।

अनेक लोग उनके कीर्तन मे आने लगे । कीर्तन के लिये केवल वीणा तथा मजीरे का एक जोड इतनी सामग्री पर्याप्त थी । पंढरपुर का माहात्म्य तुकाराम के अभग संकीर्तन से पत्थर मे भी निर्झर बहने लग जाय ऐसी भक्ति की धूम-धाम मचा देना यही उनका ध्येय बन गया । वे कहते है कि यह भगवान् भाविकों के हाथ की चीज है । इसकी प्राप्ति चित्त मे चैतन्य को रङ्ग लेने के बिना नही हो सकती । मैं निश्चय पूर्वक कहता हूँ कि हरिकथा गाने से सर्वथा सब का उद्धार हो जावेगा । उनका कहना है[2]—

नाम संकीर्तन साधन पैं सोपे । जळतील पापे जन्मांतरें ।
न लगे सायास जावे वनांतरा । सुखे येतो घरा नारायण ।।
रामकृष्ण हरि विठ्ठल केशवा । मंत्र हा जपावा सर्वकाळ ।।

'नाम सकीर्तन यह बहुत सरल और सुलभ साधन है । इस साधन से जन्म जन्मांतर के पाप नष्ट हो जायेगे । इसलिये आरम्भ से ही दत्तचित्त होकर उस अनत को मनाना चाहिये । उसके लिये कही भी जगल मे जाने की कतई आवश्यकता नही है । बड़े चाव से रामकृष्ण हरि-विठ्ठल-केशव यह नाममंत्र सर्वदा जपना चाहिये । ऐसा अन्य कोई सुलभ साधन नही है यह मैं विठोबा की शपथ लेकर कहता हूँ ।

तुकाराम और रामदास तथा शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्ध—

तुकाराम और रामदास के जन्मकाल मे दस वर्षो का अन्तर है । पर इससे वे

---

१. तुकाराम अभंग— तुकारामची सभंग गाथा ।
२. तुकाराम अभंग—अभङ्ग २४५८, पृ० ४१८ ।

दोनो आपस मे मिले ही नही ऐसा नही कहा जा सकता। तुकाराम और शिवाजी की भेट हुई थी और उसके ऐतिहासिक प्रमाण भी उपलब्ध है। रामदास तुकाराम भेट का हनुमत स्वामी कृत रामदास की खबर, आत्मारामकृत दास विश्राम धाम, और उद्धव सुत कृत 'समर्थ चरित्र' इन तीनों ग्रन्थो मे उल्लेख मिलता है। डा० श. गो. तुळपुळे के मतानुसार यह भेट शक १५७१ मे पढरपुर मे हुई होगी।[1] इस भेट के समय दोनो ने दो अभग रचे थे जो इस प्रकार है[2]—

(१) कधि बा रिकामा होसी। कधि संतापासी जाशी ॥
काधी नाम वाचे स्मरसी। काधी सद्गुरूते वंदिसी ॥
ऐसे म्हणता जन्म गेला। माझे माझे म्हणता मेला ॥
रामी भजावे भजावे। रामदासीं रामचि व्हावे ॥

—रामदास।

(२) जधि मी निवारी कामा। तधि होईन बा रिकामा ॥
जाऊँ म्हणतो संतापासीं। पोरे आणिती संतापासी ॥
कथा ऐकूँ जरि भवतारणी। जाऊँ नेदी बाइल तरणी।
जालो शास्त्री वैय्याकरणी। बोला सारखी नाही करणी ॥
विठ्ठल भजन न ये कदापि। करिता खळ जन येकदापी।
तुका म्हणे ऐशा नरा। न चुकती येरझारा ॥ —तुकाराम।

ऐसा लगता है कि जब ये दोनो सत आपस मे मिले तब किसी ससारी गृहस्थ से रामदास ने कुछ प्रश्न पूछे तब उस गृहस्थ की ओर से तुकाराम ने उत्तर दिये है। 'वताओ कि तुम कव रिक्त रहते हो? कव क्रोध छोडते हो? और कव मुख से नाम-स्मरण करते हो, और कव सद्गुरु की शरण जाते हो? मतलव यह कि कुछ भी ठीक से नही कर पाते हो। सारा जन्म 'यह मेरा है', 'यह मेरा है' यही कहते हुए वीत गया और एक दिन इसी तरह मर जाओगे। अतः रामदास कहते है कि भक्त वनने के लिये नित्य राम को भजना चाहिए और राम होकर राम का भजन करना चाहिये। इस पर तुकाराम ने कहा कि इसका उत्तर इस प्रकार है—'जव मैं अपनी काम वासना का निवारण कर लूँगा तव रिक्त हो जाऊँगा। क्रोध को भगाने की चेष्टा करता हूँ तब लडके क्रोध करने पर मजबूर करते है। यदि मैं भवसागर से तारने वाली हरिकथा सुनने लगता हूँ तो मेरी युवा पत्नी इस कार्य मे भाग लेने से रोकती है। यदि शास्त्री और वैय्याकरणी पडित वनता हू, तो

१. पॉच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३१३।
२. भारत इतिहास संशोधक मंडळ वार्षिक इतिवृत्त शक १८३५।

उक्ति की तरह मेरी कृति नही बन पाती है। इस तरह खलजनो के वीच रहकर विठ्ठल-भजन कदापि नही हो सकता। तुकाराम कहते है कि ऐसे व्यक्ति के लिये जन्म-मरण का चक्र अनिवार्य है।'

तुकाराम और शिवाजी की भेट तुकाराम-रामदास भेट के पूर्व हुई होगी। प्रथम भेट पुनवडी मे कीर्तन के अवसर पर हुई थी। तुकाराम कीर्तन कर रहे थे और शिवाजी उसमे उपस्थित थे। तभी मुसलमानो का आक्रमण हुआ तव अभङ्गो की पुकार सुनकर भगवान् ने शिवाजी का रूप धारण कर परस्पर उसका निवारण कर दिया। जनपरम्परा और प्रचलित विश्वास इस बात को स्वीकार करते है। शिवाकालीन पत्र व्यवहार से यह प्रतीत होता है कि प्रथम भेट शक १५६७ से शक १५७१ के वीच कभी हुई होगी। इसके वाद शिवाजी ने तुकाराम को सम्मान-पूर्वक वुला भेजा। तब जो अभगात्मक उत्तर उन्होने शिवाजी को भेजा वह वहुत प्रसिद्ध है। उस पत्र में शिवाजी को वे 'गुरुभक्त', 'चातुर्य सागर', 'सर्वज्ञ राजा' आदि विशेषणो से भूषित करते हैं। यह मुलाकात तुकाराम के जीवन के अन्तिम काल मे ही हुई होगी ऐसा अनुमान है। इसका आधार यह अभङ्ग है—

'घेओनिया भेटी कोण हा सन्तोष। आयुष्याचे दिस गेले गेले'[1]

इस प्रसग के समय शिवाजी की आयु १९ और तुकाराम की आयु ५१ थी। तुकाराम को काव्य स्फूर्ति शक १५४६ मे हुई थी। अत अनुमान से कहा जा सकता है कि इनकी काव्य-गङ्गा अवाध गति से २५ वर्षो तक वहती रही। तुकाराम के अभगो की सख्या पाँच हजार है क्यो कि इतने अभग उपलब्ध है। वैसे पाँच कोटी एक लक्ष, चौदह सहस्र अभंग उन्होने रचे ऐसा वतलाया जाता है। सभवतः अन्य कवियो की तरह इनकी भी रचना काल के उदर में समा गई हो। नये अनुशीलन मे तुकाराम कृत भानुदास-चरित्र, और सुदाम चरित्र, मिले है।[2] तुकाराम के अभङ्गो की गाथा महाराष्ट्र सरकार ने प्रसिद्ध की है। अभङ्गो मे आरम्भ मे वालक्रीडापरक अभङ्ग है। अन्य अभङ्गो मे उनकी अपनी आत्मानुभूति और स्वसवेद्य अनुभवो की अभिव्यजना है। ये गीती-काव्य के अन्तर्गत रखे जायेगे। कुछ अभङ्ग विशिष्ट प्रसङ्गो और घटनाओ पर आधारित है। समाज का उद्धार, सदाचार की स्थापना, भगवद् भक्ति की प्रतिष्ठा इन अभङ्गो का मुख्य लक्ष्य है। उपनिषद एकनाथ, ज्ञानेश्वर और नामदेव की कृतियो की छाया तुकाराम के अभगो मे दिखाई देती है।

---

१. तुकाराम—डा० रा. ग. हर्षे, पृ० ९७।
२ भारत इतिहास मंडल त्रैमासिक वर्ष २३ अङ्क ४, संपादक रा. म. आठवे, दा. के. ओक।

तुकाराम कृत श्रीमद् भगवद् गीता का अभंगात्मक अनुवाद 'मंत्र-गीता' के नाम से श्री वा. सी. वेन्द्रे ने अनुसंधानकर प्रकाशित करवाया है। विद्वानों ने निर्णयात्मक रूप से कोई निष्कर्ष संकेत रूप में नहीं दिया है। तुकाराम के साथियों पर प्रकाश डालने वाली पुस्तक भी वेन्द्रे जी ने 'तुकारामाचे संत सागाती' प्रसिद्ध की है। 'तुकारामाची गुरु परम्परा' ग्रन्थ प्रकाशित हो गया है। तुकाराम के अध्ययनार्थ वेन्द्रे जी की पुस्तके दृष्टव्य है। अभङ्ग गाथा मे तुकाराम रचित हिन्दी अभङ्ग और पद भी मिलते है। तुकाराम के भाई कान्होबा के अभङ्ग भी मिलते हैं।

तुकाराम-शिष्या-वहिणाबाई—

वहिणाबाई द्वारा रचित आत्मचरित्र के ५३ और निर्माण के ८८ अभग मिलते है। कुल चार सौ और अभग भक्ति भावना के भी मिलते है। ये अपने पिछले बारह जन्मों का व्योरेवार विवरण भी देती है। तुकाराम के बारे मे वहिणाबाई का यह अभग विशेष प्रसिद्ध है[1]—

संत कृपा झाली। इमारत फळा आली ॥
ज्ञानदेवे रचिला पाया। उभारिले देवालया ॥
नामा तयाचा किंकर। तेणे केला हा विस्तार ॥
जनार्दन एकनाथ। खांब दिला भागवत ॥
तुका झालासे कळस। भजन करा सावकाश ॥
बहेणी फड़कती ध्वजा। निरूपण केले बोजा ॥

'वारकरी सन्त सम्प्रदाय अर्थात् भागवत धर्म की इमारत सन्त कृपा से बनकर तैयार हुई ज्ञानदेव ने इसकी नीव डाली और देवालय बना। उसका किंकर नामदेव बना जिसने भागवत धर्म का प्रसार किया। जनार्दन के एकनाथ ने उसे सुदृढ़ स्तम्भ देकर प्रतिष्ठित किया और उसका कलश तुकाराम बन गये। उस पर फहराने वाली ध्वजा की तरह वहिणाबाई है जिसने यह निरूपण किया है।' वहिणाबाई को तुकाराम ने स्वप्न में गुरुपदेश दिया था। अपने जीवन के उत्तर-काल मे वे समर्थ रामदास के आश्रम में थी।

तुकाराम का व्यक्तित्व उनके अभगों मे मूर्तिमान हो उठा है। बिना किसी माध्यम के प्रासादिक वाणी मे अपनी प्राजल अनुभूतियाँ वे जब कहने लगते है, तो वे सबके हृदय में समाविष्ट हो जाती है। अगूठी में जडे हुए नग की तरह उनके शब्द उनकी रचना में अपनी चमक-दमक दिखाया करते है। कबीर की तरह

---

१. सकल संत गाथा—अभङ्ग ३८२१, वहिणाबाई, पृ० ५४७।

मुँहफट शैली मे अटपटी वानि से धक्का-मार-भाषा में दम्भ और पाखड का वे स्फोट करते है। इनके हिन्दी पदो की भाषा वृज है। अभग मे दो से लेकर दो सौ तक कडियाँ हो मकती है। उसकी कोई बधी-वधाई परम्परा नही है। अभंग मे चार चरण से एक चौक वन जाता है। इन चार चरणो मे मात्राओ अक्षरो, गणो का कोई नियम लागू नही होता। तुकाराम का सदेह वैकुठागमन सारस्वतकार वि. ल भावे के अनुसार शक १५७२ मे है। देहुकरो की पोथी मे शक १५७१ दिया हुआ है। वि. का. राजवाडेजी भी इसी मत के है। तुकाराम ने अपनी पत्नी को ग्यारह अभगो मे अपने निर्याण काल के पूर्व 'पूर्ण वोध' नाम का उपदेश दिया था। यह उपदेश फाल्गुन शुद्ध द्वादशी सोमवार को दिया था। फलत उनका सदेह वैकुण्ठागमन शक १५७१ मानना उचित है।

तुकाराम परम्परा के अन्तिम सन्त वैष्णव कवि निळाबो पिपळनेरकर :

वारकरी सम्प्रदाय के ये अन्तिम वैष्णव सन्त कवि है। नगर जिले के पिंपळनेर ग्राम मे ये रहते थे। वचपन से ही इनकी प्रकृति शिवभक्ति मे रमती थी। अत राजसेवा अपने से नही होगी ऐसा निश्चयकर उन्होने अपनी लेखनी को ईश्वर के चरणो पर अर्पण कर दिया। तीर्थ यात्रा करते-करते वे पंढरपुर आगए। तुकाराम की दिगत कीर्ति सुनकर उनके मन मे तुकाराम के प्रति अत्यत प्रगाढ श्रद्धा उत्पन्न हो गई थी। तुकाराम के निर्याण हो जाने पर बीस-पच्चीस वर्ष वीत गए थे। तब निळोवा का जन्म हुआ। वे देहू आए और वहाँ तुकाराम के दर्शन किये। ज्ञानेश्वरी, नाथ भागवत और तुकाराम की गाथा का अखड पठन वे कर आए थे। इन तीनो की वाणी का प्रभाव निळोवा की रचना पर अनिवार्य रूप से पड़ा है जो अत्यत स्वाभाविक ही था। वे कहते है—

'निला म्हणे आम्ही भोळापूचि देवा। तुकयाचाधांवा करित्तसे ॥'
'मार्गदावुनि गेले आधी। दयानिधि संत ते।
येणेंचि पंथे चालो जाता। न पड़े गुंता कोठे काही ॥'

वारकरी सप्रदाय मे तुकाराम के वाद के किसी सत वचन को लेकर कीर्तन-प्रवचन नही किया जाता। पर अपवाद रूप मे निळोवा के अभग लेकर कीर्तन प्रवचन होते रहे है। तुकाराम की रचना समाजनिष्ठ है उनका चरित्र उनके किसी वशज ने साढ़े तीन हजार ओवियो मे लिखा है।

रामदास :

चैत्र शुद्ध नवमी अर्थात् रामनवमी के दिन जाव नामक ग्राम मे सूर्याजी पंत ठोसर के यहाँ उनकी पत्नी राणूवाई ने रामदास को जन्म दिया। बचपन मे इनका

नाम नारायण था। बड़े भाई का नाम गङ्गाधर था, जो आगे चलकर रामी रामदासके नामसे प्रसिद्ध हुए। रामदाससे ये तीन साल उम्रमे बड़े थे। बड़े भाई का विवाह हो गया और उसके बड़े हो जाने पर सूर्याली पंत ने उसे मन्त्रोपदेश और अनुग्रह दिया। छोटे भाई रामदास भी यही चाहने लगे। तब पिता ने कहा अभी तुम्हें अधिकार और पात्रता प्राप्त नही हुई है। इस पर चिढ़कर वे बाढ आई हुई नदी मे कूद पडे। बडे वेग का प्रवाह नदी मे होने से वे तीन गाँवो तक नदी मे बहते हुए गये। इसके बाद वे तैरकर नदी के पार लगे। तब एक ब्राह्मण ने करुणा करके उनको एक यज्ञोपवीत और एक वस्त्र दे दिया। नदी के किनारे चलकर वे पंचवटी पहुँचे। वहाँ के राम मन्दिर मे रहकर उसकी पूजा, सेवा करने लगे तथा उसी राम से मत्र और अनुग्रह लेने का निश्चय कर लिया। बारह वर्ष तक गोदावरी नदी के तट पर टाकळी नामक स्थान में गायत्री पुरश्चरण करते रहे। एक रात को भगवान् रामचन्द्रजी के द्वारा उनको अनुग्रह प्राप्त हो गया। सारे देश का उन्होने पर्यटन कर समूचे देश की राजनीतिक और सामाजिक दुर्दशा का अवलोकन किया था। अत. उन्हे सारे वातावरण का पूरा ज्ञान था। अनुग्रह प्राप्ति के बाद आसेतु हिमाचल पुन. घूमकर परिस्थिति को देखा उस पर चिंतन और मनन कर एक सर्वंकश स्वतंत्र सिद्धान्त और साधन तथा तन्त्र सुनिश्चित कर जिस प्रकार कार्यन्वित किया उसे उनके ग्रन्थो मे अभिव्यंजित विचारो से देखा जा सकता है।

बचपन से ही उनको चिंताग्रस्त देखकर उनकी माँ ने उन्हे उसका कारण पूछा तो उन्होंने उत्तर दिया, 'माँ मैं सारे विश्व की चिन्ता करता हूँ। विदेशियों के विद्यार्थियो के राज्य से देश भर में जो दैन्य फैला था उससे लोग हताश एवम् निराश हो गये थे। वे उसका वर्णन करते है[1]—

बहु साल कल्पांत लोकासि आला।
महर्षे बहू घाडि केली जनाला॥
किती येक ते देश त्यागोनि गेले।
किती एक ग्रामेच्चि ते वोस जाली॥
पिके सर्व धान्ये चि नाना बुडाली।
किती गुज्रिणी ब्राह्मणी भ्रष्टविल्या॥
किती शांमुखी जाहर्जी पाठविल्या।
किती येक देशांत ही पाठवील्या॥

---

१. श्री समर्थ चरित्र—ज. स. करन्दीकर, समर्थस्फुट प्रकरण, पृ० २१—२२।

किती सुन्दरा हाल होऊनि मेल्या ।
कांही मिळेना, मिळेना खावयाला ॥
ठाव नाही रे, नाही रे जायाला ॥ —स्फुट प्रकरण ।

'कई वर्षो तक जनता मे ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई थी जैसे कल्पान्त का समय आ गया हो। लोग हताश होकर मर गए, या मारे गए। कुछ देश को छोड़कर भाग गये। कई ग्राम उजड गये इससे अनाज आदि सब नाना प्रकार से नष्ट और महगा हो गया। कई गूजर स्त्रियो को एवम् ब्राह्मणियो को भ्रष्ट किया गया। कई सुन्दर कुलवन्तियों को जहाज मे भरकर बादशाहो के पास भेजा गया। कइयो को अन्य विदेशो मे भेजकर बेचा गया। कई सुन्दरियाँ अत्याचारो से मर गईं। ऐसी दुस्थिति उत्पन्न हो गई कि लोगो को खाने के लिये कुछ न बचा। रहने के लिए ठौर तक न रही।' देश की ऐसी भयङ्कर दुर्दशा तथा सामाजिक परिस्थिति बडी भयानक हो गई थी। इससे रामदास को बडा दुख हुआ। वे इस बात का उन्मूलन करने का उपाय खोजने लगे। सन्तो के निवृत्तिपरक मार्ग का उपदेश महाराष्ट्र ने पढ़ा। पर कृति से वे आलसी बन गए थे। रामदास को यह अच्छा नही लगा। महत, गुरु और सत केवल नाम-महिमा का उपदेश करते रहते। पर समाज की विपन्नावस्था इससे कदापि सुधरने वाली न थी। अतः सम्प्रदाय बनाने की दृष्टि से मठ स्थापना करने का उन्होने निश्चय किया। उसके अनुसार यह निष्कर्ष कितना मार्मिक है—

'जितुका भोळा भाव । तितका अज्ञानाचा स्वभाव ॥
अज्ञानेतरी देवाधि देव । पाविजेलकैसा ॥'[1]

जितना भोला भाव होगा उतना ही वह अज्ञान का सूचक होता है। इससे भगवान् की प्राप्ति कठिन हो जाती है। अपने धुवाधार प्रयत्नो से उन्होने अनेक शिष्य-प्रशिष्य तैयार किये। कई मठ निर्माण किये। सब मठो का केन्द्रिय मठ जाफल मे स्थापित किया। यहाँ पर स्वयम् श्री समर्थ रामदास रहा करते थे। उनके पट्ट शिष्य कल्याण स्वामी डोमगाँव मठ मे रहते थे। उनके प्रथम शिष्य उद्धव दो मठो के मठाधीश थे। एक मठ टाकळी मे और दूसरा इन्दूर-बोधन मे था। इसके अतिरिक्त औरङ्गाबाद, काशी, रामेश्वर, सूरत, बद्रीकेदार आदि समूचे भारत मे उनके मठ थे। इन मठो मे रामदास के चुने हुए महत थे। इनका कार्य सर्वत्र सचरण करना, परिस्थिति का निरीक्षण करना, समर्थ रामदास का कार्य करना, रामनाम का जप करना, तथा राम और हनुमान के मन्दिर बनवाना और

१. दासबोध—समर्थ रामदास, २०—१—९९।

सतर्क रहने के लिए शिक्षा देना था। रामदास स्वयम् देखते कि ये सब शिष्य इन बातों मे पटु और निपुण हो जाय। ललितकलाओं की शिक्षा भी इनको दी जाती थी। विद्यादान का कार्य दिनरात चला करता था। उनके मत में ये बाते अच्छी थी[1]—

'आवडी सगळे लोका। प्रीति ने भजती जनी।
इच्छिले पुरविती सर्व। धन्य ते गायनी कळा ॥
ये काकी महंती येते। उदंड किती वाढते ॥
विख्यात सकळे लोकीं। धन्य ते गायनी कला ॥
राहती लोक ते रानी। आवडी उपजे मनी ॥
वर्णिता कीर्ति देवाची। धन्य ते पावती फळा ॥

'गायनसे सब लोक रीझकर महतका सम्मान करते है। प्रतिष्ठा रखकर उसकी बात मानते है। उसकी सारी इच्छाएँ पूर्ण करते है। तात्पर्य यह है कि गायनकला धन्य है। इससे महती बढती है। लोग परस्पर कहते है कि फलाना महन्त विद्वान है और बड़े अच्छे भजन गाता है, भगवान् का गुणानुवाद कर जगल में रहता है सब कलाओ को देवताओं के कार्य मे लगाना चाहिए, तभी उनका उद्धार होता है।' उनका अपना शिष्यो को यह उपदेश था, कि अपना शरीर परोपकारार्थ लगाना चाहिए। किसी को किसी चीज की कमी हो, कोई आवश्यकता हो तो उसकी पूर्ति कर तथा उसकी सहायता कर एवम् दूसरो को सतुष्ट कर स्वयम् सुखी हो जाना ही अच्छा कार्य है। खुद कष्ट सहनकर कीर्ति रूप में बचे रहना ही श्रेष्ठ लक्ष्य है। शरीर तो नष्ट होने वाला है ही। इस तरह के उपदेशो द्वारा समर्थ रामदास अपने शिष्यों द्वारा समाज का उद्धार करना चाहते थे।

एकनाथ के निर्याण काल और रामदास के जन्मकाल में दस वर्ष का अन्तर मिलता है। रामदास की माँ और एकनाथ की पत्नी ये दोनो सगी बहने थी। अतः समर्थ रामदास के एकनाथ सम्बन्धी ठहरते हैं। इस निष्कर्ष का आधार तजावर मे प्राप्त एक हस्तलिखित कागज है।[2] एकनाथ की रामोपासना का अधूरा कार्य समर्थ ने अपनी रामोपासना से सुसम्पन्न किया।

रामदास के पिता उनकी आयु के आठवे वर्ष मे ही स्वर्गस्थ हुए। इसी साल अर्थात् शक १५३८ के श्रावण शुक्ल अष्टमी के दिन उन्हे रामदर्शन मिला और अनुग्रह भी प्राप्त हुआ। तब से वे अन्तर्मुख बन गए। पुनः वैराग्यपरक प्रवृत्ति के

१. रामदास-पद स्फुट प्रकरण-समर्थ चरित्र भाग २, श्री०शं०श्री० देव०, पृ० १५४।
२. तंजावर में उपलब्ध गोविंद बाळ स्वामी के मठ के कागज से।

प्रभाव से अपनी तेरहवी वर्ष की अवस्था मे विवाह के अवसर पर 'शुभ मगल सावधान' सुनकर वे अपने गाँव जांब से भागकर सब की नजर बचाते हुए ग्यारह दिनो मे नाशिक पचवटी आये। यह घटना शक १५४२ मे घटी। शक १५४२ से शक १५५४ तक का काल गायत्री-पुरश्चरण और त्रयोदशाक्षरी राम नाम जप यज्ञ मे व्यतीत किया। ऐसा कहा जाता है कि उन्होने तेरह कोटि जप किया था। इसी काल मे वेदाध्ययन और अन्य ग्रन्थ निर्मिती की तैयारी कर ली। उनके लिखे करुणाष्टक इसी काल मे रचे गये। कहा जा सकता है कि यह उनकी साधक दशा थी। उनकी जाज्वल्य और नैष्ठिक उपासना से प्रभु रामचन्द्र ने प्रसन्न होकर उन्हे पुनः दर्शन देकर अभय दिया और धर्म सस्थापना का कार्य भी करते रहने का आदेश दिया। रामदास की रामदास्य-भक्ति का मधुर फल उनको रामदर्शन से प्राप्त हो गया। प्रभु रामचन्द्र ने रामदास को हनुमानजी के हाथो सौंपकर उन्हे आश्वस्त किया। यह घटना शक १५५४ में घटी। इसके बाद वे देश पर्यटनार्थ और तीर्थ यात्रा करने निकले। अपनी तीर्थयात्रा का वर्णन तथा देश की दुस्थिति का विवेचन 'तीर्थावली', अस्मानी-सुल्तानी, परचक्र-निरूपण नामक स्फुट प्रकरणों मे काव्य बद्ध किया है।[१] रामदास की यह विशेपता जान पड़ती है कि वे केवल अपने वैयक्तिक उत्कर्य और उद्धार मे ही नही लगे थे वरन् विश्वात्मक नारायण की उपासना कर जगदोद्धार तथा लोकमगळ की चिन्ता उन्हे बराबर लगी हुई सी जान पड़ती है। इसके लिये उपासना के अतिरिक्त अन्य किसी साधन मे उनका विश्वास नही था। अनवरत उपासना ही उन्होने की। 'उपासनेचा मोठा आश्रयो' उपासना का आश्रय सबसे बडी आधार-शिला है ऐसा वे मानते थे। इसीलिये यात्रा से लौटकर आने पर वे 'समर्थ 'रामदास' बन गए।

उनकी साधना मे १२ साल बचपन के, १२ साल पुरश्चरणके और १२ साल तीर्थाटन के व्यय कर ३६ वर्ष तक पक्की साधना करने के अनन्तर वे कृष्णा तट पर आये और समर्थ सम्प्रदाय की स्थापना की। भगवान् का अधिष्ठान तथा आश्वासन मिलने से समर्थ सशरचापधारी प्रभु रामचन्द्रजी के सेवक रामदास की ओर वक्रता से देख सकने की भूमंडल पर किसी की हिम्मत तक नही थी। हनुमान मन्दिरो की स्थापना कर बलोपासना से शरीर समृद्ध कर अपने साम्प्रदायिको के शरीर बलवान कर उनके मन भी प्रखर, तेजस्वी और ओजस्वी बनाये। चाफळ मे रामनवमी का बड़ा महोत्सव राममन्दिर की स्थापना कर व्यापक रूप मे शक १५७० से होने लगा। इसके पूर्व शक १५६७ मे रामनवमी का प्रथम उत्सव मैसूर मे हुआ था। चाफळ के राम मन्दिर को शिवाजी से सहायता प्राप्त हुई थी।

१. श्री सांप्रदायिक विविध विषय, खं. १, पृ० १–८।

शिवाजी-रामदास-भेंट—

डा० श. गो. तुळपुळे के मतानुसार श्री समर्थ चरित्र भाग ६ (स. खं. आळतेकर) वाकेनिशी प्रकरण कलम १८, समर्थांची गाथा (अनन्तदास रामदासी), गिरधर स्वामी का 'समर्थ प्रताप', हनुमन्त स्वामी कृत हनुमन्त स्वामी की बखर और अन्य सांप्रदायिक कागज पत्रो के साधनो से शिव छत्रपति और समर्थ रामदास की भेट कब हुई थी इसका पता लग सकता है। शिवाजी और समर्थ का साक्षात् सम्पर्क कब हुआ तथा उन्होने अनुग्रह कब लिया इस विषय पर इतनी चर्चा चल पड़ी थी कि बहुत समय तक निष्कर्ष निकालना कठिन हो गया था पर आज उसका निर्णय हो चुका है। इन सब के आधार पर कहा जाता है कि चाफळ के निकट शिगणवाड़ी के बगीचे में शक १५७१ मे शिवाजी ने समर्थ रामदास ने अनुग्रह लिया।[1] पुनः प्रा. न. र. फाटक अपने समर्थ चरित्र मे यह प्रतिपादन करते है कि यह भेट शक १५६४ मे हुई।[2] परन्तु श्री ज. स. करदीकर उसे १५७१ ही मानते है।[3] राजवाडे तथा समर्थ शिवाजी के केवल मोक्ष गुरु नही थे वरन् राष्ट्र गुरु भी थे। ऐसा मानने मे कोई हिचकिचाहट नही होनी चाहिए। वैसे ऐतिहासिक तथ्य और प्रमाण दोनो पक्ष वाले प्रस्तुत कर देते है। तारतम्य रूप से विचार करने पर विरोधियों का स्वर ठण्डा पड़ जाता है। रामवरदायिनी, आनन्दवन भुवन जैसे समर्थ के ऐतिहासिक प्रकरण, शिवाजी की राजनीति से सम्बन्धित ही जान पडते है। समर्थ रामदास ने शिवाजी को सावधान रहने के लिये जो उपदेश दिये है उनका महत्व शक १५७२ से शक १५८० के कालखण्ड में परिलक्षित हो जाता है। शक १५८३ में प्रतापगढ पर तुळजा भवानी की प्रस्थापना की गई है। शक १६०० मे समर्थ रामदास को जो सनद दी गई है, उसे अन्तिम प्रमाण माना जा सकता है।[4] चाफळ मे समर्थ रामदास के द्वारा श्री रामचन्द्र की मूर्ति स्थापना से शिवाजी और समर्थ सम्बन्ध का प्रमाण ही कहा जावेगा। इस तरह करीब-करीब तीस वर्षो तक यह गुरुशिष्य सम्बन्ध रहा। धुलिया के प्रसिद्ध रामदास साहित्य अनुसंधायक श्री शंकरराव देव ने स्थानो-स्थानो से समर्थ साहित्य की

---

१. पाँच संत कवि—डा० शं. गो. तुळपुळे, पृ० ३६१-६२-६४।
२. सह्याद्री, अगस्त १९५१।
३. समर्थ चरित्र—ज. स. करंदीकर।
४. श्री सदगुरुवर्य श्री सकल तीर्थ श्री कैवल्यधाम श्री महाराजांचे सेवे सी महाराष्ट्र सारस्वत पुरवणी—शं. गो. तुळपुळे, पृ० ६६८ तथा पाँच संत कवि, पृ० ३६५।

हस्तलिखित पोथियाँ एकत्र की है और उन्हे समर्थ वाग्देवता मन्दिर मे प्रतिष्ठित कर दिया है। अपना सारा जीवन, तन, मन, धन सभी इसी के अनुशीलन मे व्यतीत किया है। रामदास की ग्रन्थ रचना के अतिरिक्त इस साहित्य सभार मे अनेक सतो के द्वारा निर्मित हस्तलिखित पोथियाँ अनेक रामदासी मठों से लाकर यहाँ पर रख दी गई है। इनका अनुसधान और अध्ययन किया जा सकता हैं। स्वयम् रामदास के हाथ का लिखा एक असली पत्र भी यहाँ सुरक्षित रूप से सग्रहीत है। समर्थ और समर्थ सम्प्रदाय की हिन्दी रचनाएँ पर्याप्त मात्रा मे यहाँ विद्यमान है।

समर्थ रामदास का व्यक्तित्व—

रामदास की शरीराकृति और परिवेप के वारे मे उनकी शिष्या वेणावाई की उक्ति इस प्रकार है।

'पाई पादुका हातांत तुम्वा। मर्जरी भगवी फांकली प्रभा।
कटबंध कौपीन मळसूत्र शोभा। नवा नवे मूर्ति साजिरी॥
तैसी मूर्ति दृष्टि पडो। तैशा पाई वृत्ति जडो॥
ब्रह्मचारी ही सूत्र शिखा। पाई शोभती पादुका॥
कटी अटबंद कौपीन। कंठी तुळसी मणि भूषण॥
दिव्य मुख दिव्य नेत्र भाळी। आवाळूं सुन्दर।
रामदास दिव्य नाम। सखा जयाचा आत्माराम॥'[1]

'पैरो मे खडाऊँ हाथो मे तुम्बा और भगवा वस्त्र परिधान किये हुए, कमर मे कौपीन धारण कर नयी आभावाली उनकी मूर्ति थी। ब्रह्मचारी, यज्ञोपवीत और चोटी धारण करने वाले समर्थ रामदास का व्यक्तित्व वड़ा दिव्य था। वे गले मे तुलसीमाला आभूषण की तरह धारण करते है। उनका मुख दिव्य है, नेत्र दिव्य है। भालप्रदेश पर एक सुन्दर गुमडा उठा है। उनका नाम रामदास है तथा जिसके सखा आत्माराम भगवान् रामचन्द्रजी है। ऐसे भव्य स्वरूप धारी समर्थ सदगुरु की मूर्ति सदा आँखो के सामने आती रहे यही वेणावाई की मनोकामना है।

रामदास बहुत तेज चलते थे। उन्हे सगीत प्रिय था और वे वहुत अच्छा गाते भी थे। अपने प्रदत्त मत्र का दुरुपयोग करने पर ऐसा करने वाले को वे वेत से पीटते थे। उनका अपने इष्टदेव से यह कहना था[2]—

क्षण भर सुख नाही जन्मदारम्य कोठे।
कठिण ची बहुवाटे लोटते दुःख मोठे॥

---

१. वेणाबाई कृत अभंग।

२. रामदास—मनाचे श्लोक।

'बहुत विषयकाळ दाटणी थोर झाली ।
म्हणऊनि चरणाब्जी वृत्ति गुंगोनि गेली ।।
बहुताचि सुकुमारा स्वस्त नाही शरीरा ।
निशिदिनी जनचिंता लागली से उदारा ।।
सकळजन सुखावे तो कसा काळ फावे ।
भजन जन उकावे सर्व आनन्द पावे ।।'[1]

'जन्म के आरम्भ से ही पता चला कि कहीं भी एक क्षण का सुख उपलब्ध नहीं है। बडा कठिन लग रहा है यह बड़ा दुख कैसे निवारण होगा। काल ने अपना प्रभाव छोडा और विषयों के स्वरूप अनेक है इसीलिए भगवद् चरण कमलों मे मेरी वृत्ति रंग गयी है। मुझे घोर जनचिंता लगी हुई है। हे उदार रामचंद्रजी कुछ ऐसा कर दो कि जिससे सारे लोग सुख प्राप्त करें तथा भजन पूजन करते-करते सब काल व्यतीत करने लग जाँय, और सर्वत्र आनन्द फैल जाय। क्या ऐसा काल कभी आवेगा ? तुळजापुर की भवानी से भी यही वरदान उन्होंने माँगा है कि—

'येकचि मागणे आतां द्यावे ते मजकारणें।
तुझा तू वाढवी राजा सीघ्र आम्हासी देखता ।।
दुष्ट संहारिले मागे ऐसे उदण्ड ऐकितों ।
परन्तु रोकडे काही मूल सामर्थ्य दाखवी ।।
रामदास म्हणे माझे सर्व आतुर बोलणे।
क्षमावे तुळजे माते। इच्छा पूर्णचि ते करी ।।'[2]

'मेरी एक ही माग है और उसे हे भवानी माता, तुम मेरे लिये मान्य कर दो। हमारे देखते-देखते राजा शिवाजी को उत्कर्षपथ पर ले चलो। ऐसा मैने बहुत सुना है कि पहले तुमने दैत्यो का एवम् दुष्टों का सहार किया है परन्तु आज प्रत्यक्ष कुछ भी नही इसलिए अपनी मूल शक्ति का प्रताप सचमुच कर दिखाओ। रामदास कहते है कि मेरा आतुरतायुक्त निवेदन और मेरी इच्छा पूर्ण करो और मुझे क्षमा कर दो। समर्थ रामदास ने विपुल मात्रा मे साहित्य रचा है। ये सारी रचनाएँ अब प्रकाशित हो गई है।

रामदास के रचे ग्रन्थ—

दासबोधकार समर्थ रामदास बडे व्यासगी और अखंड अनवरत अध्ययनशील,

१. समर्थ मनाचे श्लोक।
२. रामवरदायिनी तुळजाभवानी देवी प्रार्थना—समर्थ चरित्र पृ० १७८,
श्री ज. स. करंदीकर।

महन्त और सद्गुरु थे। रामदास को स्वयम् भगवान् राम और हनुमानजी ने अनुग्रह उपासना और दीक्षा दी थी। इसलिए समर्थत्व उनमे सब प्रकार से था। अपने पूर्व सूरियो के सारे ग्रन्थ उन्होने अध्ययन कर उसका पाचन कर डाला था उनकी आत्मानुभूति विवेकयुक्त और सारभूत होने से आत्म प्रतीति और शास्त्र प्रतीति का सामजस्य उनके प्रवचनो मे दिखाई देता है। वाल्मीकि रामायण की स्वयम् उन्होने नकल की थी। भगवद्गीता, उपनिषद, वेद आदि का उनके इस ग्रन्थ पर प्रभाव पडा हुआ दिखाई देता है। इसमे गुरु शिष्य की संवाद-पद्धति अपनाई गई है। मुकुन्दराज और एकनाथ के ग्रन्थो का विशेष अध्ययन समर्थ ने किया था। यह ग्रन्थ तीन वार लिखा गया है। अपने पूर्ववय मे अर्थात् शक १५५४ मे एकवीस समासी अध्यात्मपरक निरूपण करने वाला दासवोध रचा। फिर समर्थ सम्प्रदाय की वृद्धि हो जाने पर कुछ पुराने समास लेकर कुछ नये जोडकर शक १५८१ मे शिवीथर नामक स्थान मे सप्तदश की दासबोध सिद्ध किया। सप्तदश की दासबोध स्वयपूर्ण ग्रन्थ है। केवल पारमार्थिक निरूपण ही उसमे मुख्य रूप से है। इसके बाद स्वतन्त्र रचे हुए और अन्य स्फुट समास को मिलाकर अपने प्रयाण काल पूर्व शक १६०३ मे 'वीस दशकी दो सौ समासी दासवोध' पूर्ण किया। इसके दो भाग मुख्य है। पूर्वार्ध की ओवी सख्या ३८६६ और उत्तरार्ध की ३८८५ है। पूरे दासवोध की ओवी सख्या ७७५१ है। इसका विषय अध्यात्म है। पूर्वार्ध मे अध्यात्म के अतिरिक्त और कुछ नही। उत्तरार्द्ध मे अध्यात्म के साथ राजकारण, समाजकारण, बुद्धिवाद, प्रयत्नवाद आदि विषय आये है। दासवोध मे प्रथम एक ही क्रम से रचना की गई है। 'सरली शब्दाची खटपट। आला ग्रन्थाचा शेवट।' कहकर उसका अन्त सूचित किया गया है। इसके आगे के दशकों मे परम्परागत वेदात चर्चा नही है। ग्यारहवे दशक के पाँचवे और छठे समास में समर्थ राजनीति के विषय मे प्रविष्ट हो गये है। हरि कथा की तरह राजकारण अर्थात राजनीति भी आवश्यक है ऐसा उनका प्रतिपादन है। वारहवे दशक मे 'प्रपच' और 'परमार्थ' का समन्वय किया गया है। भजन के स्थान पर यत्न' को वे परमेश्वर ही मानते है। चौदहवाँ तथा पन्द्रहवाँ व सोलहवाँ दशक रामदासी संप्रदाय की शिक्षा-दीक्षा बताता है। रामदास का निरीक्षण पैना, सूक्ष्म और बारीकी से युक्त था, ऐसा उनके इस ग्रन्थ से विदित हो जाता है। अन्य किसी भी सत ने रामदास की तरह प्रवृत्तिपरक वेदात का उपदेश, प्रपच, परमार्थ का समन्वय राजनीति का सामाजिक महत्व, हरिभजन आदि का इस तरह अपने ग्रन्थ मे प्रयोग नही किया। अखण्ड सावधान रहने के लिए वे बोध करते है। अनेक दिनो से म्लेच्छो का विद्रोह चल रहा था उसको मिटाने के लिये वे तत्पर और जागरूक रहे है।

दूसरा ग्रन्थ 'करुणाष्टक' है, जिसमे भक्त रामदास का भगवान् के साथ अत्यन्त करुणापूर्वक किया गया आत्मनिवेदन अष्टको में व्यक्त किया गया है। ऐसे दस बारह अष्टक समूचे समर्थ वाङ्मय मे मिल जायेगे। भक्त की आर्तता, अगतिकता, एकाकीपन, प्रभु को करुणापूर्ण वाणी से गुहारना–सबोधन करना आदि भावनाएँ साधक रामदास ने इसमे अभिव्यक्त की है। अन्त.करण को गहराई तक पहुँचाने की तीव्रता तथा क्षमता उपलब्ध हो जाती है।

अनुष्टुप और ओवी छन्द मे सोलह लघु काव्य रचे हैं। इनमे पाँच अनुष्टुप छन्द मे और अन्य ग्यारह ओवी बद्ध है। इनके नाम इस प्रकार है—(१) षड्रिपु (२) पंचीकरण योग, (३) चतुर्थमान, (४) मानपचक, (५) पचमान, (६) पूर्वारभ, (७) जुनाट पुरुष[1], (८) अंतर्भाव, (९) आत्माराम, (१०) पच समासी, (११) सप्त समासी (१२) सगुण ध्यान, (१३) निर्गुण ध्यान, (१४) मानस पूजा, (१५) एकवीस समासी और (१६) जनस्वभाव गोसावी है। प्रथम पाँच मे अष्टाक्षरी ५५५ श्लोक है। अन्तिम ग्यारह ग्रन्थो की ओवी सख्या २५६४ है। ये सभी गुरु-शिष्य-सवाद रूप है। समर्थ ने इनमें परमार्थ के बारे में स्पष्ट विवेचन प्राजल और अक्खड़तापूर्ण शैली मे प्रकट किया है। मानस पूजा, जनस्वभाव और निर्गुण ध्यान विशेष महत्वपूर्ण हैं। अपने 'चाफळ' के शिष्यो के दैनंदिन कार्य व्यवस्था के लिये इनकी रचना हुई थी। श्रीराम के सगुण रूप का विस्तारपूर्वक रूपक के आश्रय से किया गया निर्गुण ध्यान मे असमान्य कल्पना और अनुभव का समिश्र स्वरूप मिलता है। यह शैली एकनाथ के प्रभाव को स्पष्ट करती है। एकवीस समासी को पुराना दासबोध मानते हैं। इसमें केवल अध्यात्म विषय विवेचित है। अपने सर्वस्व की आहुति देकर साधक रामदास की सिद्ध रामदास बनने की पूर्णावस्था इसमे मिलती है। भक्त और भगवान् की एकता, रामदास्य की साकार भावना इसमे ओतप्रोत है। राम की पूर्ण कृपा से कृतकृत्य रामदास इसमे दिखाई देगे।

समर्थ रामदासकृत दो रामायण—

(१) लघुरामायण प्रमाणिका छन्द में लिखा है। इसमें १२५ श्लोक है। (२) दूसरा बड़ा रामायण है। यह 'भुजगप्रयात' वृत्त मे लिखा गया है। इसमे १४६२ श्लोक हैं। प्रथम में केवल युद्ध काण्ड है तो दूसरे में युद्धकाण्ड और सुन्दर काण्ड है। केवल ये दो कांड ही उन्होंने क्यों चुने ऐसा प्रश्न उपस्थित किया जाने पर उसका उत्तर यही दिया जा सकता है कि समर्थ की दृष्टि मे प्रभु रामचन्द्रजी

---

१. जुनार—पुराणपुरुष।

देवताओ के बध विमोचक है। वे रावण के कारागृह से उनको मुक्त करते हैं। एकनाथ के भावार्थ रामायण की दृष्टि रामदास ने आत्मसात कर ली है। रामराज्य की स्थापना रामदास का लक्ष्य था। तत्कालीन राजनीतिक दशा का प्रतिविम्ब इन रामायणो के चरित्रो मे उत्पन्न किया गया है। शिवाजी की स्वराज्य स्थापना से उनका लक्ष्य साकार हुआ था।

चौदह ओवी शतक—

वस्तुतः यह रचना अभग मे है। पर रामदास इसको ओवी-शतक ही मानते थे। हरएक मे १०० के हिसाव से कुल १४०० ओवियाँ है। इसमे प्रयत्न-वाद का जोरदार विवेचन है। इसके सवादकर्ताओ मे सगुणवादी, निर्गुणवादी, सर्व ब्रह्मवादी, विमल ब्रह्मवादी, मुमुक्षु, मुक्त प्रयत्नवादी और प्रारव्धवादी है। इसमे परस्पर प्रश्नोत्तर है। सत-सग महिमा का वखान भी इसमे है।

स्फुट कवितायें पद और अभंग—

रामदास अन्त समय तक लिखते ही रहे। इसमे कुछ विपय आत्मनिष्ठ और कुछ समाजनिष्ठ है। आत्मनिष्ठ पदो मे वे अन्तर्मुख हैं तो समाजनिष्ठ पदों मे के वहिर्मुख है। इनमे अभिव्यक्त विपयो मे राजनीति, आत्मोन्नति, प्रवृत्ति, निवृत्ति उपदेश, उपासना, तत्व और काव्यात्मक अन्य विपय भी है। इन सवको समर्थ गाथा मे सग्रहीत किया गया है। कई श्लोक, ओविया तीन चार सौ अभग और हजार की सख्या मे गेय पद विपुल रूप मे समर्थ ने लिखे है। कई आरतियाँ और अन्य स्फुट रचनाएँ उन्होने रची है। इनके रचित कई हिन्दी पद भी मिलते है।

'मनोबोध' या मनाचे श्लोक—

भुजगप्रयात वृत्त में कुल २०५ श्लोक समर्थ ने रचे। इसे 'मनोवोध' नाम से भी जानते है। यह रचना अपने परिणत प्रज्ञ अवस्था मे रची हुई और दासबोध के वाद की रचना हो सकती है। भक्तिपथ को अपनाया जाय, अहर्निश राम भजन करना चाहिए, जो-जो निंद्य हो उसका परित्याग और जो-जो वंद्य हो उसका ग्रहण, रामनाम का आश्रय मुख से राम भजन आदि विविध विषय मन को वोध के रूप मे सिखाये गये है। उसमे एक प्रवाह है एक उत्स्फूर्त प्रेरणा है इसलिये यह कृति वडी लोकप्रिय भी बन गयी है। रामवरदायनी और आनन्दवन-भुवन ये दो महत्वपूर्ण प्रकरण हैं।

समर्थ रामदास ५० वर्षो तक अखड रूप से लिखते रहे। पदो मे वे अपने को रामी रामदास और अन्य कई नामो से अभिहित करते हैं। शक १६०२ मे शिवाजी स्वर्गस्थ हो गए। शक १६०३ मे छत्रपति शिवाजी के द्वारा बनवाये गये

सज्जनगढ़ की एक भव्य इमारत मे वे रहने गए। धीरे-धीरे वस्त्र अन्न आदि सब वर्ज्य करते गए। शिवाजी के बाद वे जीवित रहना नही चाहते थे। सभाजी को उन्होने अनमोल उपदेश पत्र रूप से दिया था। माघ कृष्ण ९ मी के दिन सज्जनगढ में शक १६०३ में उन्होने अपना अवतार कृत्य समाप्त किया।

रामदास सम्प्रदाय की शिष्यायें—

वेणाबाई—समर्थ की विदूषी तथा ज्ञान सम्पन्न मानस कन्या और शिष्या है। यह बचपन मे ही विधवा हो गई थी। इसका मायका मिरज मे और इसकी ससुराल कोल्हापुर मे थी। इसका जन्म शक १५५० के लगभग हुआ होगा। अपने वैधव्य-काल मे 'एकनाथी-भागवत', गीता आदि ग्रन्थ वह पढ़ने लगी। अचानक रामदास भिक्षा माँगने आये और 'मुखी राम त्या काम बाधू शकेना' यह श्लोक पढा। वेणूबाई भागवत पढ रही थी। रामदास ने उससे पूछा बेटी जो भागवत तुम पढ़ रही हो उसका अनुभव भी तुम्हे होता है या नही ? निरुत्तर हो जाने पर रामदासजी ने उसे उपदेश के चार शब्द सुनाये। अपने गुरु के प्रति उसकी आस्था बढ गई। 'देह माझे मन माझे। सर्व नेले गुरुराजे' अर्थात् देह और मन सभी सद्गुरु ही ले गए ऐसी उसकी भावावस्था बन गई। आँखो के सामने सद्गुरु रामदास की मूर्ति विराजने लगी। वे कहती है—

'पाई पादुका हातात तुम्बा। मर्जरी भगवी फांकली प्रभा।
कटबन्ध, कौपीन, माळ, सूत्र, शोभा। न वानवे मूर्ति साजिरी ॥'

'पैरो मे खडाऊँ हाथ मे तुम्बा और जरीकाम किया हुआ भगवा वस्त्र, कौपीन परिवेश, माला, यज्ञोपवीत और शिखा की शोभायुक्त ओजस्वी मूर्ति सजी हुई है।' ऐसे व्यक्तित्व का उन पर प्रभाव पडा था।

वे मिरज मे रामदास के कथाकीर्तनादि सुनने लगी। उसने रामदास का अनुग्रह और उपदेश ले लिया। लोगों को उसका यह कार्य अच्छा न लगा। वे उसकी निन्दा करने लगे। परन्तु उसने अपना मार्ग नही छोडा। यथा—

कोणी वंदिती कोणी निंदिती। वास भी त्यांची पहिना।
हृदयीं धरिले सदा गुरु चरणा। प्राणांती हि विसंबेना॥

उसके माँ बाप ने निन्दको के अत्याचार से उसे विष भी दे दिया पर गुरु की कृपा से विपबाधा भी नष्ट हो गई। समर्थ अपने सभी शिष्याओ को कन्या कहते है। उन सब मे इसकी योग्यता महत की है। उसके लिये मिरज मे मठ-स्थापना कर दी गई है। लोग उसे वेणुस्वामी कहने लगे। उसके रचित पद, अभग और अन्य इन तीन चार ग्रन्थ भी मिलते है। सब मे 'सीता स्वयंवर' यह ग्रन्थ बहुत

सुन्दर है। ग्रन्थ निर्मिती करने वाली एक स्त्री होने के कारण यह ग्रन्थ अन्य लोगो के द्वारा रचे गए सीता स्वयवर की अपेक्षा बहुत सुन्दर है। उनकी यह प्रार्थना द्रष्टव्य है[1]—

'समर्था कधी पाप बुद्धि न को रे। समर्था प्रभु भाग्ययेथेष्ट दे रे।
प्रिती ने प्रजा पाळी रे रामराया, नको दैन्यवाणी करु दिव्य काया।।'
दिनानाथ जी उदण्ड दे रे।।

'हे समर्थ ! मेरे मन मे पापवुद्धि कभी भी न उत्पन्न हो तथा अच्छा भाग्य यथेष्ठ रूप मे प्राप्त हो जाय। हे रामचन्द्रजी ! प्रेम से प्रजा का पालन करो और इस दिव्य शरीर मे दैन्य युक्त वाणी के वदले दिव्य वाणी प्रकट हो जाय।

इनका स्वर्गवास शक १६०० मे चैत्र वदी चतुर्दशी को हुआ। वयावाई, अम्वावाई आदि समर्थ शिष्याएँ प्रसिद्ध है। वयावाई की हिन्दी रचना मिलती है। जैसे—

वाग रंगेली महल वना है। महाल के बीच में झूलना खुला है।
इस झुलने पर झुलोरे भाई। जनम मरन की भूल न आई।
दास वया कहे गुरु मैयाने। मुझकु झुलाया सोहि झुलाने।।[2]

इस तरह देखने पर सार मे कहा जा सकता है कि रामदास वचपन से ही विरक्त थे। अपने सङ्कटो के वारे मे वे मौन रहते है। रामदास की चिन्ता महाराष्ट्र मे स्वराज्य कैसे बनेगा यह है। वे आचार्य थे, और ज्ञान और विद्या की प्रतिष्ठा को मानने वाले थे। देश और राजनीतिशास्त्र रामदास के काव्य मे प्रमुख रूप से विद्यमान है, यद्यपि वह परमार्थ से अलग नही है। रामदास महत और राजयोगी थे। उनका कार्य काफी विशाल था। हिमालय से लेकर कन्याकुमारी तक कुल ११०० मठो की स्थापना उन्होंने की है। रामदास वुद्धिवादी है। नये मार्ग और नयी परम्परा को रामदास ने ढूँढ निकाला।

---

१. वेणावाई कृत—प्रार्थना।
२ वयावाई कृत हिन्दी पर रचना।

पंचम–अध्याय

हिन्दी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

पचम–अध्याय

हिन्दी के वैष्णव साहित्य की विविध शाखाएँ : सामान्य परिचय

कबीर :

हिन्दी के वैष्णव कवियो मे सर्वप्रथम कवीर का नाम आता है। हिन्दी साहित्य का इतिहास पढने पर तथा कबीर पर किये गये शोध ग्रन्थो के अध्ययन से यह बात भली-भाँति ज्ञात हो जाती है कि कवीरके जन्म समय की स्थिति अनीश्वरवाद के लिए बडी अनुकूल थी। अन्य सन्तो की तरह कवीर के जीवन काल के बारेमे तथा उससे सबद्ध प्रसगोके बारे मे अनेक प्रकार की अनुश्रुतियाँ प्रसिद्ध है। इन सारे मतो मे परस्पर अनुकूल मतोकी अपेक्षा प्रतिकूल मत ही अधिक है। अत: इन सारे पचडो से दूर रहकर ही केवल प्रमुख मतो का उल्लेख कर हमको कवीर का सामान्य परिचय और उनकी कृतियो का विवेचन करना है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल के मत से कवीर का जन्म ज़ेठ सुदी पौर्णिमा सोमवार विक्रम सवत्-१४५६ है।[1] कवीर पथी कवीर के बारे मे यह बतलाते है—

चौदह सौ पचपन साल नए. चंद्रवार एक ठाठ ठए।
जेठ सुदी वरसायत को पुरनमासी तिथि प्रकट भए।
घन गरजे दामिनी दमकै बूँदे बरसे झर लाग गए।
लहर तालाब में कमल खिले है तहँ कबीर भानु प्रकट हुए ॥

कवीर का मृत्युकाल भी इसी तरह चर्चा का विषय है। ये दो चार उद्धरण देखिए[2]—

(१) **संवत् पंद्रह सौ पछहत्तरा किया मगहर को गवन।**
माघ सुदी एकादशी, रलो पवन में पवन ॥

(२) **पन्द्रह सौ औ पाँच में मगहर कीन्हो गौन।**
अगहन सुद एकादसी, मिल्यो पौन में पौन ॥

(३) **पंद्रह सौ उनचास में मगहर किन्हौ गौन।**
अगहन सुदि एकादसी. मिलौ पौन में पौन ॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचंद्र शुक्ल, (दशम संस्करण), पृ० ७५।

२. कवीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, पृ० २१८।

(४) सुमंत प्रदासौ उनहत्तरा रहाई।
सतगुरु चले उठि हंसा जाई ॥

इससे यह दिखाई देता है कि कुछ लोग कवीर के मृत्युकाल को संवत् १५७५ कुछ १५०५ तो कुछ १५०७ के आस-पास मानते हैं। कवीर को १२० साल तक की आयु मिली थी, ऐसी जनश्रुति है। आचार्य क्षितिमोहन सेन के अनुसार सवत् १५०५ कवीर का मृत्युकाल है। सिकदर लोदी कवीर के समकालीन थे। सिकंदर लोदी सवत् १५५१ मे वनारस आया था, इसलिए कवीर और सिकदर लोदी की भेट हुई होगी ऐसा विद्वानो का अनुमान है। पर इस अनुमान से उनकी भेट विश्वसनीय या सिद्ध नही हो जाती। 'भक्तमाल' जैसी पोथियों मे, 'ग्रन्थ साहव' में तथा अन्यत्र कही भी सिकदर का नाम नही आया है। वस्ती जिले मे कवीर के मुस्लिम शिष्य विजली खाँ के रोजे का निर्माण उनकी कीर्ति का केवल स्मृतिचिह्न मात्र है। रामानन्द उनके गुरु थे ऐमा तो सर्वत्र ही प्रसिद्ध है। अनन्तदास की 'कवीर परिचयी' के सहारे कवीर का प्रादुर्भाव 'तीस वरस ते चेतन भयो' अर्थात् सवत् १४५५–३०=सवत् १४२५ होता है। प० परशुराम चतुर्वेदी इसी के पक्ष मे है। उनके अनुसार कवीर साहव का मृत्यु काल स० १५०५ ही है। इससे वे स्वामी रामानन्द के समकालीन, उनके द्वारा प्रभावित सतमत की वुनियाद को दृढ़ करने वाले, सेना, धन्ना, पीपा आदि को अपने आदर्शों के प्रति आकृष्ट करने वाले आदि वातो के महत्वपूर्ण उन्नायक सिद्ध होते हैं।

कवीर एक विधवा ब्राह्मणी के पेट से पैदा हुए थे। अतएव उनको लहरतारा तालाव के किनारे पैदा होते ही उनकी माता ने छोड़ दिया। भाग्यवश कुछ ही क्षणो के उपरान्त नीरू नामक एक जुलाहा वयनजीवी उधर आ निकला जिसने उस वालक को उठाकर अपनी पत्नी नीमा को सौप दिया। मुसलमानगृह मे पाले जाने के कारण उनको वयनजीवियो के सस्कार विरासत मे ही मिले थे। वैसे कवीर अपने माता-पिता का उल्लेख कही भी नही करते। पर वे अपने को वाराणसी का रहने वाला और जुलाहा अवश्य कहते है—

जाति जुलाहा मति को धीर। हरषि-हरषि धुन रहे कवीर।
मेरे राम की अभैपद नगरी, कहे कवीर जुलाहा ॥
तू वाह्मन में कासीका जुलाहा।

पूर्व जन्म मे अपना ब्राह्मण होना वे स्वीकार करते है। वे एक जगह कहते है[1]—

---

१. कवीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४–१८५।

पूरव जनम हम ब्राह्मन होते वोछे करम तपहीना ।
रामदेव की सेवा चूका । पक्‍रि जुलाहा कीना ।।

जनश्रुति के अनुसार कबीर का एक वाक्य प्रसिद्ध है—'काशी मे हम प्रकट भए है रामानन्द चेताए ।' इसके बारे मे यह कथा प्रचलित है कि कबीर भजन गा गाकर उपदेश देते थे । पर निगुरे होने से लोग उन्हे कहते कि जो किसी गुरु के द्वारा उपदिष्ट न हो उसे दूसरो को उपदेश देने का क्या अधिकार है ? तव वे गुरु के बारे मे चिंतित हुए । काशी मे उस समय स्वामी रामानन्द सबसे बडे महात्मा प्रसिद्ध थे । कबीर के उनके पास जाने पर मुसलमान होने से रामानन्द ने उनको अपना शिष्य बनाना स्वीकार नही किया । तव एक युक्ति उन्होने सोची । रामानद पचगङ्गा घाट पर नित्य बड़े तडके ब्राह्ममुहूर्त मे स्नान करने जाते तव कबीर वहाँ की सीढियो पर लेटे रहे । स्वामीजी ने अँधेरे मे उन्हे न देखा । उनके सिर पर स्वामीजी का पैर पड़ गया । मुख से तुरन्त राम-राम निकल पड़ा कबीर ने चट उठकर उनके चरण पकड़ लिए और कहा कि आज आपने रामनाम का मत्र देकर मेरा गुरुपद स्वीकार किया है । रामानन्दजी मौन रह गए । कबीर ने तबसे ही अपने को रामानन्द का शिष्य प्रकट और प्रसिद्ध कर दिया ।

कबीर मे आरम्भ से ही हिन्दू भाव से भक्ति करने की प्रवृत्ति हम देखते है । आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदीजी द्वारा लिखित एक पुस्तक 'कबीर' बहुत प्रसिद्ध है । कबीर का विशेष अध्ययन करने के लिये वह द्रष्टव्य है । कबीर के बारे मे उनका यह कहना ठीक ही है कि—

'इस प्रकार सब बाहरी धर्माचारो को अस्वीकार करने का अपार साहस लेकर कबीरदास साधना के क्षेत्र मे अवतीर्ण हुए । केवल अस्वीकार करना कोई महत्व की बात नही है । हर कोई हर किसी को अस्वीकार कर सकता है । पर किसी बड़े लक्ष्य के लिए बाधाओ को अस्वीकार करना सचमुच साहस का काम है । बिना उद्देश्य का विद्रोह विनाशक है, पर साधु उद्देश्य से प्रणोदित विद्रोह शूर का धर्म है । उन्होने अटल विश्वास के साथ अपने प्रेम-मार्ग का प्रतिपादन किया । रूढियो और कुसंस्कारो की विशाल वाहिनी से वह आजीवन जूझते रहे । प्रलोभन और आघात, काम और क्रोध भी उनके मार्ग मे जरूर खड़े हुए होगे, उन्होने उनको असीम साहस के साथ जीता । ज्ञान की तलवार उनका एकमात्र साधन थी, इस अद्‌भुत शमशीर को उन्होने क्षण भर के लिये भी रुकने नही दिया । वह निरन्तर इकसार बजती रही । पर शील के स्नेह को भी उन्होने नही छोड़ा, यही उनका कवच था । इन कुसस्कारों, रूढ़ियों और बाह्याचार के जजालो को उन्होने बेदर्दी के साथ काटा । वे सर हथेली पर लेकर ही अपने भाग्य का सामना करने निकले

थे। क्षणभर के लिए भी वे नही डगमगाये, माथे पर बल नही पड़ा वे सच्चे शूर की तरह लड़ते ही रहे। देखिये[1]—

एक समशीर इक सार बजती रहे
खेल कोई सूरमाँ सन्त झेले।
काम–दलजीति करि क्रोध पै माल करि
परमसुख–धाय तहँ सुरति मेले।
सील से नेह करि ज्ञान को खड़गले
आप चौगान में खेल खेले।
कथे कबीर, सोइ संतजन सूरमा
सीस को सौंपकरि करम ठेले॥'[2]

हरिऔधजी के अनुसार कबीर साहब का काव्य आध्यात्मिक अनुभूति के कारण उच्च कोटि का है। कबीर ने 'मसि कागज छूयो नही कलम गही नही हाथ' ऐसा अपने बारे मे कहा है तब वे अपनी रचनाओ को लिखते ऐसा तो कतई सभव नही था। कबीर के नाम पर बहुत से सग्रह निकल चुके है। अभी-अभी डा० पारसनाथ तिवारीजी ने कबीर के अनेक पदों को, साखियो को, रमैनियों को कई पाडुलिपियों के सहारे वैज्ञानिक दृष्टि से देखकर तथा परख कर हिन्दी परिषद् प्रयाग विश्वविद्यालय से 'कबीर ग्रन्थावली' का प्रकाशन कराया है। कबीर पर भविष्य मे होने वाले अनुशीलनो में इसका अध्ययन महत्वपूर्ण होगा। यह पुस्तक द्रष्टव्य है।[3] वैसे तो नागरी प्रचारिणी सभा वाराणसी की कबीर ग्रन्थावली महत्वपूर्ण है ही। कबीर बहुश्रुत थे, सत्सङ्ग करने वाले थे। उनके गुरु रामानन्द भक्ति का एक उदार और सर्वसग्राहक मार्ग निकाल रहे थे। इस मार्ग मे जाँति-पाँति का भेद, तथा खान-पान का आचार दूर कर दिया गया था। कबीर ने रामनाम रामानन्द से लिया अवश्य पर उनके राम साकार धनुर्धारी राम न रहकर निर्गुण राम और उसके भी परे परब्रह्म के पर्याय बन गए। उनका यह कथन प्रसिद्ध ही है—

दशरथ सुत तिहुँ लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना॥

---

१. कबीर—आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी।
२. शब्दावली, पृ० १०६।
३. कबीर ग्रंथावली—पारसनाथ तिवारी हिन्दी परिषद्, विश्वविद्यालय, प्रयाग।

तथा

हमारे राम-रहीम-करीमा, कैसो अलह-राम सति सोई ।
विसमिल मेटि बिसंभर एकै, और दूजा न कोई ॥[१]

यहाँ पर व्यवहृत 'अल्लाह' शब्द मुसलमानी धर्म का प्रतिनिधित्व करता है और 'राम' शब्द हिन्दू सस्कृति का है ऐसा यदि हमारा मत हो तो कवीर दोनो को सलाम करते है, ऐसा आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का मत है, जो ठीक ही है ।[२] कवीर सूफी मुसलमानो का भी सत्सग करते थे । इसी से कुछ लोग शेखतकी को कवीर का गुरु मानते है । पर गुरु को जिस आदर की भावना से अभिहित किया जाता है उस तरह तकी का नाम उन्होने कही भी नही लिया है जैसे—'घट-घट है अविनासी, सुनहुँ तकी तुम शेख ।' यहाँ पर कवीर शेख तकी को उपदेश देते हुए से जान पडते है । सत्सङ्ग के द्वारा कवीर ने उपयुक्त वातो का अपने भीतर सग्रह कर लिया था । अपने स्वभावानुसार वे किसी को भी बड़ा नही मानते थे । धक्कामार शैली मे अक्खडता से वे सवकी खवर लिया करते और जो कुछ कहते उसे अपना वचन मानने को कहते थे ।

शेख अकरदी सकरदीं तुम मानहुँ वचन हमार ।
आदि अन्त औ जुग-जुग देखहु दीठि पसार ॥[३]

कवीर ने ब्रह्ममार्गी निरूपण को अपने तक ही सीमित न रखकर उस ब्रह्म को सूफियो की तरह केवल उपासना का विषय न वनाकर उसे प्रेम का विषय बनाया । उसकी प्राप्ति के लिए हठयोगियो की काया-साधना को प्रश्रय दिया आचार्य शुक्लजी का यह कथन है कि[४]—'कवीर ने भारतीय ब्रह्मवाद के साथ सूफियो के भावात्मक रहस्यवाद, हठयोगियो के साधनात्मक-रहस्यवाद और वैष्णवो के अहिंसावाद तथा प्रपत्तिवाद का मेल करके अपना पथ खडा किया । उनकी वानी मे ये सव अवयव अवश्य स्पष्ट परिलक्षित होते है ।' कवीर के रहस्यवाद को समझने के लिए डा० रामकुमार वर्मा का 'कवीर का रहस्यवाद' यह ग्रन्थ द्रष्टव्य है । रहस्यवादी के अनुभव स्वसवेद्य होने से कवीर इस अनुभूति को 'गूँगे की शर्करा' कहते है । इस रहस्यानुभूति की दशा का वर्णन कवीर के शब्दो मे इस प्रकार है[५]—

---

१ कवीर ग्रंथावली पद ५८—वावू श्यामसुन्दर दास, पृ० १०६ ।
२. कवीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १८४ ।
३ हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० ७६ ।
४. ,, ,, ,, पृ० ७७ ।
५. कवीर ग्रंथावली, ७, ६ पृ० १ ।

सतगुरु साँचा सुरिवा, सवद जुवाह्या एक ।
लागत ही में मिलि गया, पड्या कलेजे छेक ॥
सतगुर लई कमांण करि, वाहण लागा तीर ।
एक जु वाह्या प्रीति सूँ भीतरि रह्या सरीर ॥

इस अनुभूति का परिणाम साधक पर जिस प्रकार से होता है उसका वर्णन कवीर के शव्दों में—

कवीर वादल प्रेम का हम परि वरस्या आई ।
अन्तर भीगी आतमा हरी भई वन गाई ॥[1]

इस अनुभूति में अतृप्ति वरावर वनी ही रहती है। वह साधक को अर्थात् उसके शरीर को एक दीपक जैसा वना देते हैं। इस दीपक में प्राणों की वत्ती जलती है। वह रक्त के स्नेह से भरा रहता है और उसके प्रकाश में वह अपने इष्ट की झाँकी देख लेता है। कवीर अपने को 'हेरे राम मैं तो राम की वहुरिया' कहते हैं तो कभी अन्यत्र अपने को 'कवीर कूता राम का मुतिया मेरा नाऊँ। गले राम की जेवडी जित देखो तित जाऊँ ॥' भी कहते हैं। विरह की तीव्रतम अवस्था, साधक की सिद्धावस्था, अव्यभिचारी पातिव्रत्य-पूर्णनिष्ठा, कठिनाइयों पर विजय प्राप्त कर लेने का प्रखर आत्मविश्वास, घर फूँक मस्ती और जीवात्मा तथा परमात्मा की ऐक्य अद्वैत भावना भी वे प्रदर्शित करते है। इस तरह की आत्म तत्ववेत्ता की दशा प्राप्त हो जाने पर कवीर का किसी से कोई वैर नही है। उनके इस प्रेम पथ का स्वरूप आसान नही है। वह किसी खाला (मौसी) का घर नही है क्योंकि—

कवीर यह घर प्रेम का, खालाका घर नाहीं ।
सीस उतारे भुइँ धरै तव पैठे घर माहि ॥
कवीर निजघर प्रेम का, मारग अगम-अगाध ।
सीस उतारि पगतलि धरै, तव निकटि प्रेम कर स्वाद ॥[2]

अपने राम की प्राप्ति मुफ्त भला कैसे हो सकेगी ? इस साधकावस्था में सिद्धत्व प्राप्त करने के लिए एक विरले ही शूरवान की तरह प्रतीत होते हैं। अपने ज्ञान को और गुरु को कभी भी सदेह की दृष्टि से नहीं देखते। यदि साधना मे कोई कमी रह गई है तो इस कमी का कारण अपने को न मानकर वे इस कमीका कारण साधन मे या उसकी प्रक्रिया मे ही हो सकता है ऐसा उनका विश्वास था। कवीर का व्यक्तित्व समझने मे इससे सहायता हो सकती है।

---

१. कवीर ग्रंथावली ३४, पृ० ४ ।
२. ,, ६६, १६–२० ।

कबीर का पालन जिस जुलाहे ने किया वह उस जुगी वयन जीवि व्यवसाय करने वाली जाति का था जिसका सस्कार ऐसे तत्वों से बना हुआ था जो समाज मे मुसलमानो या हिन्दुओ दोनो के द्वारा आदर युक्त भावना से मान्य न था। ये वयनजीवी जाति के लोग नाम मात्र मुस्लिम होने से अपने पुराने योगमार्गीय विश्वासों को लिए हुए अपनी गरीबी मे आटा गीला किया करते थे। ऐसे समाज मे जाति व्यवस्था की श्रृङ्खला तर्क और चर्चा का विषय नही बन सकती। जिन्दगी और मौत का वह ज्वलन्त प्रश्न होने से ऐसे वयन जीवी सहनशीलता को मौनरूप से अपनाये हुए थे। कबीर का पालन ऐसे ही वयनजीवी जुलाहे दपति नीरू और नीमा ने किया था। उन्ही से अपनी वानियो मे लापरवाही, फक्कड़ता कबीर ला सके है। पडितो के लिए यह वाणी अटपटी है। कबीर के व्यग्य कितने तीखे और मार्मिक होते है एक वानगी देखने लायक है[1]—

चली है कुलबोरनी गंगा नहाय।
सतुआ कराइन बहुरि भुँजाइन, घूँघट ओटे भसकत जाय।
गठरी बाँधिन मोटरी बाँधिन, खसमके मूँड़े दिहिन धराय।
विछुआ पहिरिन औंठा पहिरिन, लात खसमके मारिन धाय।
गङ्गा न्हाइन, जमुना न्हाइन, नौमन मैल है लिहिन चढ़ाय।
पाँच पचीस के धक्का खाइन, घरहुँ की पूँजी आइ गँवाय।
कहत कबीर हेत कर गुरुसों, नाहि तोर मुकुती जाइन साई।

द्राविड देश से आई हुई भक्ति को रामानन्द उत्तर भारत मे ले आये जिसको कबीर ने सातदीपो और नवखण्डो मे प्रकट किया।

कबीर का गार्हस्थ्य जीवन—

प्राय. लोग कबीर के साथ लोई का नाम भी लिया जाता है। वह कबीर की शिष्या थी जो आजन्म उनके साथ रही ऐसा लोगों का मत है। कुछ लोई को उनकी परीणिता स्त्री वतलाते है और इससे उनको कमाल नामक पुत्र और कमाली नामक पुत्री हुई। एक जगह वे कहते है—

रे यामे क्या मेरा, क्या तेरा लाज न मरहि कहत घर मेरा।
× × ×
कहत कबीर सुनहु रे लोई, हमतुम बिनसि रहेगा सोई॥

इससे लोई उनकी स्त्री थी इतना तो सभव जान पडता है। लोई का नाम भी उनकी रचनाओ में कई जगह मिलता है परन्तु एक स्थल पर 'धनिया' भी नाम

---

१. कबीर वचनावली, पृ० १४४।

मिलता है जिसे लोगो ने 'रमजनिया' कहना आरम्भ कर दिया। एक छोटे से परिवार मे रहकर जब अपने माता पिता का देहान्त हो गया तब अपने पैतृक व्यवसाय को वे सम्हाले रहे। इस कताई-बुनाई से आय इतनी नही हो पाती थी जिसमे वे सरलतापूर्वक गुजार सकते। पर उनकी सतोषी प्रवृत्ति से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि कदाचित् वे पर्याप्त मात्रा मे थान तैयार नही कर पाते थे। और न बचत ही सभव थी। वैसे उनके यहाँ सदा साधु सतो की भीड बनी ही रहती थी। अत· उनके स्वागत सत्कार के लिए कुछ न कुछ करना ही पड़ता था। यह बात तो प्रसिद्ध ही है कि निरन्तर ऐसे अतिथियो के घर पर आने के कारण उन्हे कई बार कष्ट झेलना पडा था।

कबीर की रचनाएँ—

उनकी यह प्रतिज्ञा प्रसिद्ध ही है—

'मसि बिनु द्वात कलम बिनु कागज,
बिनु अच्छर सुधि होई।'[1]

उनकी दूसरी साखी तो सर्वश्रुत है[2]—

मसि कागद छूयो नहीं, कलम गही नहीं हाथ।
चरिऊ जुग को महातम, मुखहिं जनाई बात ॥

उपदेश के लिए कबीर ने लिखित साधन की आवश्यकता नही समझी फलतः मौखिक रूप मे ही उन्होने अपनी महत्वपूर्ण बाते सबसे प्रत्यक्ष ही कही। कबीर की मूल कृतियो का कोई प्रामाणित सग्रह नही मिलता। आदि ग्रन्थ मे जिसे ग्रन्थ साहब कहते है उसमे कबीर रचित पद है। सदगुरु की बानियो का कही कोई पता नही है। इस विषय मे हाल ही मे जितनी भी हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ कबीर की मिली तथा उनमे उनके जितने पद, रमैनियाँ और साखियाँ मिली है उनकी कुल सख्या सोलह सौ पद, साढ़े चार हजार साखियाँ और एक सौ चौतीस रमैनियाँ है। ऐसा इन सब का वैज्ञानिक दृष्टि से अध्ययन और सपादन तथा पाठ निर्धारण करने वाले डा० पारसनाथ तिवारी का निवेदन है।[3]

इसी सामग्री का वैज्ञानिक और कबीर कृत स्वरूप निर्धारण कर डा० पारसनाथ तिवारीजी ने इनकी प्रामाणिक सख्या निर्धारित की है जो इस प्रकार है—पद सख्या २००, रमैनी २१ तथा साखियाँ ७४४ है।[4]

१. कबीर बीजक, पृ० १५।
२ कबीर बीजक, कबीर ग्रंथ प्रकाशन समिति, पृ० १६०। १८७।
३. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी-प्रस्तावना (अ)।
४. ,, ,, —परिशिष्ट, पृ० २४७–२७७।

अन्य लोगो के अनुसार कबीर की रचनाओ का ऐसा लेखा-जोखा मिलता है।

१—विलसन साहब कबीर की आठ रचनाओ का उल्लेख करते है।[1]
२—वेस्टकॉट महोदय के अनुसार यह सख्या बयासी तक पहुँच जाती है।
३—कबीर बीजक मे कबीर की सारी रचनाएँ सग्रहीत है ऐसा मिश्र-बधुओ का मत है। यही मत कबीर पथियो का भी है।
४—डा० रामकुमार वर्मा अपनी 'सत कबीर' की प्रस्तावना मे, काशी-नागरी प्रचारिणी सभा मे की गई सवत् १९४८ से सवत १९७९ तक की गई खोजों के आधार पर बतलाते है कि स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे यह सख्या अधिक से अधिक ५६ होगी। वे ग्रन्थ साहब का पाठ विश्वसनीय मानते हैं।[2]
५—की महोदय ने अपनी पुस्तक मे महत्वपूर्ण उल्लेख किये है।[3]
६—डा० पीताम्बरदत्त बडथ्वाल की पुस्तक 'हिन्दी साहित्य मे निर्गुण सप्रदाय' मे इस विषय पर विचार किया गया है।
७—डा० क्षितिमोहन सेन द्वारा सपादित कबीर के पद मौखिक परम्परा से सुनकर सग्रहीत किये गये है।

डा० बडथ्वाल आचार्य क्षितिमोहन सेन के प्रकाशित पदो का उल्लेख करते है तथा बेलवेडियर प्रेस से प्रकाशित चार अन्य सग्रहो, वेकटेश्वर प्रेस द्वारा प्रकाशित साखियो आदि ग्रन्थो, कबीर बीजक, कबीर ग्रन्थावली आदि सग्रहो की विस्तृत चर्चा करते है।

८—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी भी इन सभी पुस्तको का विवेचन करते है।
९—डा० रामरतन भटनागर इनमे से कुछ को कबीर की निश्चित मानते है तथा अन्यको कबीरकृत नही मानते। उदाहरणके लिये वे क्रमशः बीजक, आदि ग्रन्थ और कबीर ग्रन्थावली के नाम लेकर उनका वर्णन करते है।

कबीर पथियो के लिए कबीर-बीजक एक विश्वसनीय और पूज्य ग्रन्थ है। कबीर की एक साखी है—

> **पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।**
> **ढाई आखर प्रेम का पढ़े सो पंडित होइ॥**

---

१. ए स्केच ऑफ दि रेलिजस सेक्ट्स एँण्ड दि हिन्दूज़—विलसन।
२. सत कबीर—रामकुमार वर्मा।
३. कबीर एँण्ड हिज फालोअर्स—की।

इससे एक बात स्पष्ट हो जाती है कि ग्रन्थो और पोथियों इत्यादि को उन्होने कभी प्रोत्साहन नही दिया। उन्हे तो ग्रन्थ रचना के बदले मौखिक प्रवचनो का अधिक मूल्य है। वे इसे प्रचारकार्य का साधन स्वीकार कर चुके है। आज तो कबीर की रचनाएँ विभिन्न सग्रहो के रूप मे ही हमे उपलब्ध है। इनमे पद, रमैनी, साखियाँ, दोहे आदि सग्रहीत है। वैसे ये पचवानी सर्वड्गी आदि ग्रन्थ जैसे पुराने बडे सग्रहो में भी ये सग्रहीत है। इसके अतिरिक्त 'कबीर बीजक' 'कबीर की बानी', 'सत्य कबीर की साखी' जैसे स्वतन्त्र संग्रह भी मिलते है। इन रचनाओ की भाषा पर पूरबी हिन्दी का प्रभाव अधिक दिखाई पडता है। कही-कही राजस्थानी तो कही-कही पजाबी का पुट और 'सकल सन्त गाथा' जैसी मराठी पुस्तको मे इनके पदो पर गुजराती एवम् मराठी भाषाओ का रंग चढा हुआ सा जान पड़ता है।

१८—'कबीर ग्रन्थावली' के सपादक स्व० श्यामसुन्दरदास ने अपनी भूमिका मे बतलाया है कि यह ग्रन्थ दो पुरानी प्रतियो पर आधारित है जिसमे एक का लिपि-काल सवत् १५६१ और दूसरी का सवत् १८८१ है। प्रथम मे दूसरी से १३१ साखियाँ तथा ५ पद अधिक है। कबीर बीजक की रमैनियो के क्रम के सम्बन्ध मे ऐसी जनश्रुति प्रसिद्ध है कि कबीर साहब के दो शिष्य 'जग्गोदास' और 'भग्गोदास' थे। इनकी माँ को उन्होंने कबीर-बीजक की मूल प्रति अपने अन्तकाल-पूर्व दी थी। फिर दोनो मे वाद-विवाद चला कि उक्त ग्रन्थ उसकी निजी सम्पत्ति है। कोई भी अपने हाथ से उसे दूसरे के हाथ मे देना स्वीकार न करता था। तब माँ ने बीच बचाव करने की दृष्टि से दोनो को ही उसे दे दिया। किन्तु एक की प्रति की रमैनियो का आरम्भ 'जीवरूप' वाली रमैनी से तथा दूसरी प्रति का आरम्भ 'अन्तरज्योति' वाली रमैनी से होना स्पष्ट कर दिया।

कबीर-बीजक मे सग्रहीत रचनाओ की विशेषता उनमे सृष्टि-रचना विषयक वर्णनो की प्रचुरता है। कबीर साहब किसी दार्शनिक की भाँति विश्व के मूल तत्त्व का प्रतिपादन करते है, उसके विकासक्रम का भी प्रश्न छेडते है। कबीर पथी इसे बहुत महत्व देते है। पौराणिकता युक्त उनके व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध मे भी इसमे कई बाते मिलती है। पर इससे हम उनके सुन्दरतम लौकिक जीवन के स्वरूप को देखने समझने से वचित हो जाते है। कबीर जन-जीवन के सम्यक उत्थान के हेतु एक सुधारक, तार्किक प्रचारक, लोक चतुर व्यग्यकर्ता व्यक्ति भी है।

कबीर की भाषा सधुक्कडी है, शैली धक्कामार है। उलट-बाँसियो जैसी नाथ पथियो की अक्खडता-पूर्ण शैली उनको विरासत मे मिली है। कहते है कि कबीर के पुत्र कमाल उनके बडे विरोधी थे। कबीर की उक्ति प्रसिद्ध ही है—

डूबा वंश कबीर का, उपजा पूत कमाल ।
हरिका सुमिरन छाँड़ि के, घर ले आया माल ।।

कबीर का जीवन अन्धविश्वासो का घोर विरोध करने मे ही बीता । वास्तव मे जन्म से अन्त तक कबीर का जीवन समस्यामूलक है । उनका अपना जीवन तथा दैनदिन आचरण और उनकी कृतियाँ ही इन समस्याओ के उत्तम हल है । मोक्षदापुरी-वाराणसी मे रहकर जो मगहर मे मरते है वे नरक मे जाते है । इस अन्धविश्वास को दूर करने के हेतु कबीर मगहर जाकर मरे । उनका कथन है—

'जो कासी तन तजै कबीरा । तो रामहि कहा निहोरा रे ।।'

कबीर पुनर्जन्म के सिद्धान्त को मानने वाले थे । पर उन्हे अपनी मुक्ति मे चरम विश्वास था इसीलिए उन्होने कहा 'मुश्रा कबीर रमै श्रीराम' रामनाम का जप करते-करते वे शरीर त्यागने जा रहे थे । कबीर की अ्रत्येष्टी क्रिया के बारे मे भी विलक्षण लोक-प्रवाद प्रसिद्ध है । कहा जाता है कि मरने पर जब इनके शव पर से चादर हटाई गई तो वहाँ केवल कुछ फूल मिले । हिन्दुओ ने आधे फूलो का अग्नि सस्कार किया और मुसलमानो ने अपने हिस्सो के फूलो को लेकर मगहर मे ही उन पर कब्र बनाई । हिन्दुओ ने फूलो की रक्षा को लेकर वाराणसी मे समाधिस्थ किया । यह स्थान 'कबीर-चौरा' के नाम से प्रसिद्ध है ।

कबीर निर्गुण और सगुण के परे की सत्य सत्ता के परम भक्त थे । वैसे उनको निर्गुणियो मे गिना जाता है । ब्रह्म से ही सब की उत्पत्ति होती है ऐसा उनका मत है[1]—

पाणी ही ते हिम भया, हिम व्है गया बिलाइ ।
जो कुछ था सोई भया, अब कुछ कहा न जाइ ।।

कबीर का कहना था 'मैं कहता आँखिन की देखी ।' कबीर कोरे ज्ञानमार्गी शुष्क निर्गुणी नही है । अपनी प्रेम-भक्ति-मूला साधना का आरम्भ वे सब कुछ छोडकर, उत्कृष्ट साहस के साथ ज्ञान के बोझ को न ढोते हुए भगवद् प्रेम पर दृष्टि रखकर हृदय से कर चुके थे । उनके लिए प्रेम ही साध्य है और प्रेम ही साधन । वे व्रत, रोजा, पूजा, नमाज आदि कुछ भी नही मानते । उनका यह कथन है—

एक निरंजन अलह मेरा, हिंदू तुरक दहूँ नही मेरा ।
राखूँ व्रत न मुहरम जाना, तिसही सुमिरूँ जो रहे निदांनां ।।
पूजा करूँ न निमाज गुजारूँ, एक निराकार हिरदै नमस्कारूँ ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—कबीर साखी १७, पृ० १३ ।

नां हज जाऊँ न तीरथ-पूजा, एक पिछाण्यां तो क्या दूजा ।
कहै कबीर भरम सब भागा, एक निरंजन सूँ मन लागा ॥

यह विवेचन आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, 'कबीर ग्रन्थावली', 'हिन्दी साहित्य का इतिहास, 'हिन्दी साहित्य', 'कबीर साहित्य की परख' आदि ग्रन्थो पर आधारित है, जो द्रष्टव्य है ।

कबीर का भाषा पर जबरदस्त अधिकार था। आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का यह कथन ठीक ही है कि, 'हिन्दी साहित्य के हजार वर्षो के इतिहास में कबीर जैसा व्यक्तित्व लेकर कोई लेखक नही पैदा हुआ ।'[1] कबीर वास्तव में भक्त ही थे। कबीर ने अपनी रचना से अपनी साफ और जोरदार भाषा मे अपने तत्वो को ध्वनित किया है। उनकी भाषा मे परम्परा से चली आती हुई विशेषताएँ वर्तमान है।

कबीर का युग ऐसा था जब कि उत्तर भारत मे मुसलमानी शासन विद्यमान था। बहुजन समाज पर हठयोगियों के प्रभाव का प्रावल्य था। समाज की ऊँच नीच भावना उपहास और आक्रमण का विषय थी पर दूसरों के लिए वही मर्यादा और स्फूर्ति का विषय बन गई थी। वज्रयानी और नाथपथी योगी डटकर जाति भेद पर आघात कर रहे थे। बाह्याचार और जन्मूलक-श्रेष्ठता को फटकारते हुए केवल चौरासी लाख योनियो मे निरन्तर भटकते हुए माया के गुलाम गृहस्थो से अपने को वे श्रेष्ठ समझते थे। नाथ सम्प्रदाय से यह अक्खडता उन्हें प्राप्त हुई थी। देश-भ्रमण, तीर्थाटन आदि कबीर ने सत्सङ्ग और सन्तों के अनुभवो को सुनने के हेतु किये थे। वे दक्षिण मे पढरपुर भी गए थे। नामदेव कबीर से वड़े थे और कबीर ने उन का नाम सुना था। पजाब में नामदेव का दीर्घकालीन निवास नामदेव के कबीर पर पडे हुए प्रभाव का सूचक माना जा सकता है। सांस्कृतिक आदान-प्रदान जाने अनजाने प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सभी तरह से होता ही रहता है। कबीर के पदो मे 'विठ्ठल' का उल्लेख, नामदेव के पदो का ग्रन्थसाहब मे समावेश ये सब इस आदान प्रदान के उदाहरण या फल कहे जा सकते है। अनेक साधनाओं के विभिन्न मार्गो को जानकर कबीर ने अपने ढङ्ग से उनको ग्रहण कर लिया है। कबीर की भावात्मक और साधनामूलक रहस्यवादी अनुभूतियो को स्वसवेद्य बनाने के लिये उस युग की इन सभी साधनाओ मे बैठना पड़ेगा।

कबीर की हस्तलिखित पोथियाँ न होने से उनके नाम पर सग्रह की गई अनेक पुस्तको मे उनकी प्रामाणिक भाषा का और शैली का ज्ञान प्राप्त करना

१. कबीर—आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० २१७ ।

अत्यन्त कठिन है। 'आदिग्रन्थ' मुद्रित किया गया है। इस सग्रह की भाषा प्राचीनता की दृष्टि से विचारणीय है। वैसे प्रामाणिकता फिर भी विश्वसनीय नही है। बाबू श्यामसुन्दरदास द्वारा सम्पादित 'कबीर ग्रन्थावली' मे कबीर का मूलरूप अधिक सुरक्षित है। इधर नयी 'कबीर ग्रन्थावली' डा० पारसनाथ तिवारीजी की और भी अधिक वैज्ञानिक और प्रामाणिक रूप प्रस्तुत करती है। आगे के अनुसंधानो के लिए इस कृति का विशेष महत्व होगा।

'कबीर-बीजक' के भी कई सस्करण है तथा इस पुस्तक का कबीर-सम्प्रदाय मे विशेष प्रतिष्ठायुक्त स्थान है। उसकी रमैनियाँ ही उसका प्रमुख अग है। भाषा की आधुनिकता भी इसमे विद्यमान है और यह वर्तमान रूप सभवत. १८ वी शती का होगा। कबीर के बाद चल पडे हुए कबीर सम्प्रदाय की एक धार्मिक पुस्तक के नाते उसका महत्व मान्य करना ही पडेगा।

'कबीर अपने युग के सब से बडे क्रान्तदर्शी है। सहज सत्य की पहचान उनको है। उनका प्रेम एक आदर्श नैष्ठिक भक्त का प्रेम है। साधु होकर भी वे अगृहस्थ नही, वैष्णव होकर भी वैष्णव नहीं, मुसलमान होकर भी मुसलमान नही, हिन्दू होकर भी हिन्दू नही है। वे भगवान् नृसिंहावतार की प्रतिमूर्ति थे।'[१] आचार्य हजारीप्रसाद द्विवेदीजी का उक्त मत समीचीन और यथार्थ ही है।

तुलसीदास :

तुलसीदास एक महापुरुष थे। ग्रियरसन उनको बुद्ध-देव के बाद सबसे बड़ा लोक नायक मानते है। उनकी 'रामचरित मानस उत्तर भारत मे ही नही वरन् सारे भारत मे इस तरह प्रचारित है जितनी बायबल भी नही है। वैसे कभी-कभी उसका प्रचार बायबल की तरह है ऐसी उक्तियाँ सुनाई पड जाती है। इतना होने पर भी गोस्वामी तुलसीदासजी के जन्म-स्थान और उनकी जन्मतिथि का निश्चित पता नही चलता। तुलसीदास के साथ कोई न कोई सम्बन्ध जोडकर उन्हे अपने गाँव का सिद्ध करने की प्रवृत्ति भी बहुत बार उभरती हुई दिखाई देती है। तुलसी की कृतियो मे अपने युग के समाज का जीवन प्रतिबिम्बित हुआ है।

लोक-मर्यादा से युक्त भक्ति का मार्ग लोग तिरस्कार की दृष्टि से गर्ह्य मानते थे और अपने मनमाने ढङ्ग से चलते थे। तुलसी की उक्ति मे उसका स्वरूप झाँक उठा है[२]—

> श्रुति सम्मत हरि-भक्ति पथ, संयुत बिरति बिबेक।
> तेहि परिहरहिं बिमोह बस, कल्पहि पंथ अनेक॥

---

१ कबीर—हजारीप्रसाद द्विवेदी।
२. दोहावली दो० ५५५।

मराठी में ज्ञानेश्वर की 'ज्ञानेश्वरी' को लेकर विद्वानों ने जितने ग्रन्थ लिखे उनकी संख्या सबसे अधिक है। ठीक उसी तरह हिन्दी मे तुलसीदासजी पर वरेण्य एवम् मूर्धन्य चोटी के विद्वानों ने अपनी लौह लेखनी से अनेक विद्वत्तापूर्ण कृतियाँ प्रसूत की है। इनमे श्यामसुन्दरदासजी का गोस्वामी तुलसीदास, 'रामचन्द्र शुक्लजी का तुलसीदास' डा० माताप्रसाद गुप्त का 'तुलसीदास', डा० बलदेव मिश्र का 'तुलसी-दर्शन', डा० भगीरथ मिश्र का 'तुलसी-रसायन', डा०राजपति दीक्षित का 'तुलसीदास और उनका युग' आचार्य विश्वनाथजी का 'तुलसीदास' जैसे ग्रन्थ विशेष उल्लेखनीय और महत्वपूर्ण है।

तुलसी के युग मे लोग साधना के मनमाने मार्ग ढूँढ़ निकाल रहे थे। वेदों और पुराणो के निंदक बनकर भक्ति को अपनाने के बदले केवल उदरभरणार्थ धर्म सिखाने वाले लोगो को देखकर तुलसी की आत्मा रो उठती थी। इसीलिये वे कह उठे—

साखी सबदी दोहरा, कहि किहनी उपखान।
भगति निरूपहिं बदति कलि, निंदहि बेद पुरान॥[1]

और

बरन धरम नहिं आश्रम चारी।
श्रुति-विरोध-रत सब नर नारी॥

तुलसीदासजी अपने आराध्य राम के प्रति एकनिष्ठापूर्ण भक्ति भावना रखते थे। वे सगुन और अगुन के भेद को देखने वाले न थे। पर समाज इतना अन्धा हो गया था कि पेट के लिए बेटा-बेटी तक को बेचना उन्हे अधर्म नही मालूम होता था। तुलसीदासजी नीलवर्ण के सावले रामचन्द्रजी के नयन-मनोहारी रूप को देखकर गदगद हो जाते थे। मतलब यह कि तुलसीदासजी मे विश्वास अखंड था, और अध्ययन भी उनका गहन और गम्भीर था।

तुलसीदास की जीवनी के सूत्र—

तुलसीदास ने अपने बारेमे यत्र तत्र अपने ग्रन्थों में कहीं कुछ लिख दिया है। वैसे अन्य बाहरी सामग्री मे ये पुस्तके है—(१) 'भक्तमाल' नाभादासकृत, (२) प्रियादास की भक्तमाल पर रची गई टीका, (३) गोसाई गोकुलनाथकृत 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता।' इसके अतिरिक्त दो और पुस्तके है जिन्हे विशेष प्रामाणिक नही माना जाता। वे ग्रन्थ ये है—बेनी माधवदास रचित मूल गोसाई चरित' और कोई बाबा २

१. दोहावली—दो, ५५

तुलसीदासजी नन्ददास के भाई थे, गुसाँई विठ्ठलनाथ से मिले थे, तथा राम के अनन्य भक्त थे और भाषा मे रामायण लिखी थी। इस प्रकार की सूचना हमे वैष्णवन की वार्ता से प्राप्त होती है। तुलसीदासजी राजापुर के रहने वाले सरवरिया ब्राह्मण थे। वैसे सूकरखेत या सोरो उनकी जन्मभूमि मानी जाती रही है। तुलसीदासजी का जन्म सन् १५३२ मे हुआ। वे सम्राट अकबर से केवल दस वर्ष बड़े थे। तुलसी के युग मे दो मुगल सम्राट हो गये है एक अकबर और दूसरे जहाँगीर। तुलसी का जन्म सवत् १५५४ माना जाता है—

पन्द्रह से चौवन विषै, कालिन्दीके तीर।
सावन शुक्ला सप्तमी, तुलसी धरेऊ सरीर॥

अब्दुल रहीम खानखाना तुलसीदास के प्रेमियो मे से थे। तुलसी ने एक वार एक दोहे का चरण वनाकर रहीम के पास भेजा—

'सुरतिय, नरतिय, नागतिय, सब चाहत अस होय।'
गोद लिये हुलसी फिरे तुलसी सो सुत होय॥

कहने की आवश्यकता नही कि रहीम ने दूसरा चरण बनाकर दोहा पूर्ण कर भेजा था। इसमे 'हुलसी' शब्द इनकी माता के लिए आया है। 'रामचरित मानस' मे एक जगह 'रामहि प्रिय पावन–तुलसी–सी। तुलसिदास हित हिय हुलसी–सी।' यहाँ पर भी 'हुलसी' शब्द से तुलसी की माता का संकेत प्राप्त होता है। ये अभुक्त–मूल नक्षत्र मे पैदा हुए थे तथा अपनी माता के गर्भ मे साल भर रहे। ऐसे अशुभ–लक्षणी वालक के पैदा होते ही उनके माँ बाप ने उनको छोड दिया। उनका अपना स्वय कथन 'कवितावली' मे मिलता है जो इस विषय पर अधिक प्रकाश डालने वाला है—[1]

'मातुपिता जग जाय तज्यो विधिहू न लिख्यौ कछु भाल भलाई।'

मुनिया नाम की दासी ने इनका पालन पोषण कुछ दिनो तक किया। वाद मे वह भी मर गई। विनय पत्रिका मे वे कहते है—'जनक जननी तज्ये जनमि करम विनु विधिहु सृज्यो अवडेरे,' 'यथा तनु जन्यो कुटिल कीट ज्यो तज्यो मातु-पिता हू।' किसी तरह वालक तुलसी के वचपन के दिन बीते। अन्त मे वावा नरहरिदास या नरहर्यानन्द नामी एक महात्मा ने इनको अपने यहाँ रख लिया। इन्ही गुरु से उन्होने रामकथा सुनी। काशी मे एक विद्वान शेष सनातनजी रहते थे। उन्होने गोस्वामी तुलसीदासजी को वेद, वेदाग, दर्शन, इतिहास-पुराण आदि में प्रवीण कर दिया। १५ वर्ष तक अध्ययन करके गोस्वामी तुलसीदास अपनी जन्मभूमि राजापुर

१. कवितावली उत्तरकाण्ड—७३।

लौट आए। उनका बचपन का नाम रामबोला था। कवितावली मे इसे वे एक स्थान पर स्पष्ट करते है[1]—'राम बोला नाम है गुलाम राम साहि को' इसी तरह विनय पत्रिका मे वे कहते है—'राम को गुलाम नाम रामबोला राख्यौ राम'। बाद में वे तुलसीदासजी के नाम से ही पहचाने जाने लगे। अपने गुरु की वंदना बालकाण्ड मे वे इस प्रकार करते हैं—

'बंदऊ गुरुपद कंज, कृपासिंधु नर-रूप-हरि।
महामोह तम पुंज, जासु वचन रविकर-निकर॥'[2]

इसमें 'नर-रूप-हरि' के आधार पर कुछ विद्वानो ने नरहरिदास को इनका गुरु माना है। अपने गुरु से बार-बार उन्होने रामकथा सुनी थी। इसके बारे मे वे कहते है—'मै पुनि निज गुरु सन सुनी कथा सो सूकर खेत। समुझि नही तस बालपन, तब अति रहेऊ अचेत॥ तदपि कही गुरु बारहि बॉरा। समुझि परी कछु मति अनुसारा॥' वे रामकथा सुनाने लगे। उनके गुणो पर मुग्ध होकर दीनबधु पाठक ने अपनी कन्या रत्नावली का उनसे व्याह कर दिया। उन्होने तुलसीदासजी का विनय और शील देखकर ही यह व्याह तय किया था। अपनी पत्नी पर वे बहुत अनुरक्त थे। एक बार वह अपने मायके गई हुई थी। तब बाढ आई हुई नदी को पारकर आधी रात को वे अपनी पत्नी से मिलने पहुँचे, तब उस स्त्री ने उनसे कहा—

लाज न लागत आपको दौरे आयेहु नाथ।
धिक–धिक ऐसे प्रेम को कहॉ कहौं मैं नाथ।
अस्थि-चर्म-मय देह मम तामें जैसी प्रीति।
तैसी जो श्रीराम मँह होति न तौ भव भीति।

अपनी पत्नी से ये वचन सुनकर उनके अन्त करण की आँखे खुल गईं। वे विरक्त होकर काशी मे रहने लगे। काशी से अयोध्या मे जाकर रहे। फिर तीर्थ यात्रा करते-करते रामेश्वर, जगन्नाथपुरी, द्वारका बदरिकाश्रम, कैलास और मानसरोवर तक हो आये। अयोध्या मे जाकर रामचरित मानस रचना आरम्भ कर दिया। उसे दो वर्ष सात मास मे समाप्त किया। किष्किन्धा काण्ड काशी मे रचा गया। रामायण पूरी करके वे वाराणसी मे ही रहे। यह बात प्रसिद्ध है कि—

'संवत सोरह सौ इकतीसा। करहुँ कथा हरिपद धरि सीसा।
नौमी भौमवार मधुमासा। अवधपुरी यह चरित प्रकासा॥
जेहि दिन राम-जन्म श्रुति गावहिं।'

---

१. कवितावली उत्तरकाण्ड, १००।

२. रामचरित मानस बालकांड, ५।

तुलसीकृत कृतियो के नाम—

तुलसीदासजी की कुल बारह कृतियाँ प्रसिद्ध है। उनमे पाँच बडे और सात छोटे ग्रन्थ है। दोहावली, कवित्त रामायण अर्थात कवितावली, गीतावली रामचरित मानस, विनय पत्रिका ये बडे ग्रन्थ है तथा रामलला नहछू, पार्वतीमंगल, जानकी-मगल, बरवै-रामायण, वैराग्य-सदीपिनी, कृष्णगीतावली और रामाज्ञा प्रश्नावली छोटे ग्रन्थ है।

सस्कृत का पक्ष छोडकर तुलसी ने भाषा का पक्ष प्रतिपादित किया क्योकि वे कहते थे—

का भाषा का संस्कृत प्रेम चाहिये साच।
कामजु आवै कामरी कालै करिअ कुमाच ।।

उनका स्वतन्त्र स्वभाव ऐसा था कि वे बिलकुल निश्चिन्त थे।

'मेरे जाति-पाँती न चहौं काहू की जाति पाँति,
मोरे कोऊ काम को, न हो काहू के काम को।
साधु कै असाधु, कै भलो, कै पोच सोच कहा,
का काहू के द्वार परो ? जो हों सो हो राम को ।।
धूत कहौ अवधूत कहौ रजपूत कहौ, जुलहा कहो कोऊ।
काहू की बेटी से बेटा न व्याहवे, काहू की जाति बिगारो न कोऊ ।।
तुलसी सरनाम गुलाम है राम को, जाको रुचै सो कहौ कछु दोऊ।
मांगिकै खैबो मसीत के सोइबो, लैबेको एक न देवे को दोऊ ।।'[१]

रामचन्द्रजी की भक्ति मे उनका हृदय दुराव छिपाव युक्त नहीं है। देखिये—

'सूधे मन, सूधे वचन सूधी सब करतूति।
तुलसी सूधी सकल विधि रघुवर प्रेम प्रसूति ।।'

उनके समय मे गोरख पथी साधु योग की रहस्यमयी बातो का जो प्रचार कर रहे थे उसके कारण उन्हे जनता के हृदय से भक्ति-भावना भागती सी दिखाई पडी तभी तो उनको कहना पडा—

'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग,
निगम नियोग ते, सो केलि ही छरो सो है ।।'

वे ईश्वर को अपने भीतर देखने की अपेक्षा बाहर के लिए विवेचन करते है। 'अतर्यामिहु ते बड बाहर जामी है राम जो नाम लिए ते। पैज परे प्रहलादहु को

१. कवितावली उ. ८४।

प्रकटे प्रभु पाहन ते न हिये ते ।। 'यदि परमात्मा को देखना है तो उनको व्यक्त जगत् के सम्बन्ध से देखना चाहिए। वे तो 'सियाराममय सब जगजानी। करहूँ प्रनाम जोरि जुग पानी' की भावना से सबको देखते है। उनकी विनम्रता ही उनसे इस प्रकार मुखर हो उठती है—

'कवि न होऊं नहिं वचन प्रवीनू। सकल कला सब विद्या हीनू।
कवित विवेक एक नहिं मोरे। सत्य कहउँ लिखि कागद कोरे।
कवि न होऊँ नहि चतुर कहावऊँ। मति अनुरूप रामगुन गावऊँ ।।'[1]

तुलसीदासजी की कृतियों का संक्षिप्त परिचय—

रामचरितमानस एक प्रबन्ध काव्य है। उनकी कारयित्री और भावयित्री प्रतिभा के मधुर सयोग से यह कृति सरस और सुरस बन पड़ी है। अपने 'स्वान्तसुखाय' 'रघुनाथ गाथा' को भाषा में निबद्ध करते हुए बहुजन हिताय अपनी मजुल मति से वे उसे प्रस्तुत करते है। यह ग्रन्थ तुलसी ने संवत् १६३१ मे विक्रमी चैत्र शुक्ल ६ मंगलवार को आरम्भ किया है। इसके सात काण्ड हैं। दोहा, चौपाई के अतिरिक्त बीच-बीच मे छंदों का प्रयोग भी हुआ है। ये छन्द वर्णिक और मात्रिक दोनो है। चार-चार चौपाइयों के बाद एक-एक दोहा रखा गया है। रामचरित मानस के अन्त में इस पर तुलसीदासजी ने इस शैली के बारे मे लिखा है[2]—

रघुवंश भूषन चरित यह नर कहहि सुनहि जे गावहीं।
कलिमल मनोमल धोइ बिनु श्रम रामधाम सिधावहीं ।।
सत्त पंच चौपाई मनोहर जानि जे नर उर धरै।
दारुण अविद्या पंच जनित विकार श्री रघुवर हरै ।।

५१०० चौपाई या १०२०० अर्धालियो की संख्या इस पूरे ग्रन्थ मे है। इसके नायक रामचन्द्र एक मध्ययुगीन नायक के रूप मे हमारे सामने नही आते वरन् वे सबसे बड़े देवताके रूपमे आते है जो 'परित्राणाय साधूनाम् विनाशाय च दुष्कृताम्'। इस सूत्र के अनुसार राक्षसो के अत्याचारों से पीड़ित मुनियो को अभय देते है। उनकी यह प्रतिज्ञा है—'निसिचरहीन करौ महि भुज उठाय पन कीन्ह' इस प्रतिज्ञा का वे बराबर पालन करते हैं। तुलसीदासजी कहते है कि इस कथा को स्वयम् शिवजी ने रचा है। अपने गुरु से बचपन मे इसे सुनकर स्मृति से वे उसे कहते है। शकर ने इसे पार्वती को सुनाया था। याज्ञवल्क्य ने भरद्वाज को यह

---

१. रामचरित मानस बालकाण्ड—८। ८ तथा ११। १।
२. ,, उत्तरकाण्ड—१३०।

कथा उनकी प्रार्थना किये जाने पर सुनाई है। काक भुसुडी गरुड को इस कथा की दार्शनिक, धार्मिक और नैतिक विचारो की व्याख्या कर सुनाते है। महाकाव्य के प्रायः सभी लक्षण इसमे आ गए है। सुभाषित और काव्योक्तियाँ ऐसी है जो भारतीय जनता की सूक्तियाँ बनकर लोगो की जिह्वा पर सुअवसर पर विराजमान हो जाती है। सप्तकाडो के आरम्भ मे सस्कृत श्लोक है, जिनमे देवताओ की स्तुति है और कविता की कथावस्तु का संकेत मिलता है। भाषा परिष्कृत अवधी है। तुलसी ने उसे माँजकर सुव्यवस्थित कर दिया है। उन्हे यह शैली जायसी से प्राप्त हुई थी। दार्शनिक के रूप मे उनका रूप ऐसा है जो ज्ञान और तर्क के सहारे अद्वैत की स्थिति तक पहुँच जाता है। इस पारमार्थिक दृष्टि से केवल परब्रह्म की सत्ता के रूप मे ब्रह्म स्थित है। यह 'अज अद्वैत अगुन हृदयेसा' रूप के साथ ज्ञान-गिरा-गोतीत भी है। राम की प्रभुताई बिना रामकृपा के नही जानी जा सकती। उनकी रामकथा का यह स्रोत 'वाल्मीकि-रामायण', अध्यात्म रामायण', 'कवि जयदेव के प्रसन्न राघव', हनुमन्नाटक' और अन्य सस्कृत ग्रन्थो से उन्होंने लिये है। भागवत और गीता से भी उन्होने आधारभूत सामग्री ली है। इसका प्रधान रस शान्त है। महाकाव्य के नाते और रामचरित नायक के लोकोत्तर और मर्यादा पुरुषोत्तम होने के नाते अन्य सभी रसो का यथास्थान यथोचित रूप मे प्रयोग हुआ है। अनेक संवादो और कथानको का गुफन और गठन परिनिश्चित रूप से हुआ है। जीवन के विविध सास्कृतिक दृश्य अपने आदर्श स्वरूपो के साथ इसमे विद्यमान है। आस्था के सबल से प्रत्यक्ष अनुभव और विश्वास के साथ ईश्वर का साक्षात्कार किया जा सकता है इसे रामचरितमानस के महान पात्रो द्वारा तुलसी ने दिखा दिया है।

दोहावली—यह मुक्तक काव्य है। इसमे तुलसीदासजी धर्मोपदेशक, नीतिकार और सूक्तिकार के रूप मे सामने आते है। तुलसी की भक्ति को चातक के माध्यम से इसमे व्यक्त किया गया है। कूट और आलकारिक चमत्कार विधान भी इसमे मिलता है। इसका कारण इसका समास-शैली मे लिखा जाना है। सुदीर्घ काल मे यह रचना लिखी गई है।[1] डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार सतसई, दोहावली, हनुमान बाहुक आदि स० १६६१ से १६८० तक लिखी गई रचनाएँ है। तुलसीकी अन्य रचनाओमे से भी कुछ दोहे इसमे मिलते है। डा. भगीरथ मिश्रका यह कथन ठीक ही है कि रुद्रबीसी का उल्लेख 'उसे सवत् १६५६ से १६७६ तक की तक की रचना होने का सकेत करता है।[2] इसमे कई विषयो को वैविध्य विवेचन के लिए तुलसी ने अपनाया है।

---

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७६।
२. तुलसीरसायन – डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ७६।

कवितावली और हनुमान बाहुक—

इन दोनो की एक ही प्रति मिलती है तथा केवल कवितावली और केवल बाहुक की अलग-अलग प्रतियाँ मिलती है। बाहुक कवितावली के परिशिष्ट की भाँति अधिकतर मिलता है। बाहुक की रचना सवत् १६८० की है क्योकि यह उनकी अन्तिम रचना है। बाहुक मे ४४ कवित्त है। भिन्न-भिन्न समयो पर लिखे गये कवित्त सवैयो का काण्डो के अनुसार स्फुट सग्रह है। बालकाण्ड और अयोध्याकाड की शैली साहित्यिक, ललित और मधुर है। लङ्का काड ओजपूर्ण तथा प्रसाद गुण से युक्त है। यह प्रौढ रचना है। उत्तर काड मे विभिन्न स्थानो का स्वच्छन्द रूप से स्वतन्त्र वर्णन है। सारे काडो के विविध प्रसङ्गो पर और जीवन से सबध रखने वाले विविध हक्को की झाँकियाँ सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत की गई है। तुलसी की अपनी समकालीन दशा, दुर्दशा तथा अपने जीवन के कई सदर्भ कवितावली मे मिलते है। कलियुग का यथातथ्य वर्णन है। अपनी वृद्धावस्था तथा मृत्यु के निकट सम्बन्ध का उल्लेख यथेष्ट रूप से मिलता है। लङ्कादहन तथा युद्ध के सजीव वर्णन और सभी रसो के दर्शन इस मुक्तक काव्य मे हो जाते है।

रामललानहछू—सोहर छन्द मे विवाह के अवसर पर गाने के लिये बनाया गया है। व्यावहारिक और सामाजिक प्रथाओ मे भी भगवान् राम चरित्र विषयक सास्कृतिक और भक्ति का स्वरूप सम्मिश्र हो जाय इसी बहाने यह रचना की गई है। एक साधारण दूल्हा के रूप मे राम प्रस्तुत है। उसके फूहड और भद्दे गीतो के स्थान पर अच्छे गीत प्रचलित हो जाय यह हेतु तुलसीदासजी का जान पडता है। तुलसी की यह प्रारम्भिक रचना है। परन्तु लोकगीत-शैली मे लिखी गई यह कृति फिर भी यथातथ्य रूढियो का चित्रण करने वाली और रसिकतापूर्ण है। इसकी भाषा लोकगीतो की अवधी है। यह सवत् १६१६ मे अनुमानत रची गई।[1]

वैराग्य संदीपिनी—यह भी प्रारम्भिक रचना ही मानी जावेगी। चार प्रकरणो मे सन्त-सङ्ग, सदाचार तथा वैराग्य आदि से भक्ति का भाव प्राप्त कैसे किया जाय इसका विवेचन किया गया है। ये चार प्रकरण (१) मगलाचरण (२) सत स्वभाव वर्णन, (३) सत महिमा वर्णन और (४) शान्ति वर्णन है। यह कृति वैरागियो और साधुओ के लिये लिखी जान पडती है। कुछ लोग इसे तुलसीकृत नही मानते।

विनय पत्रिका—इसका नाम 'रामगीतावली' भी है। इसमे कलि के द्वारा सताये जाने पर भगवान् राम के पास हृदय कारुण्य भाव से भेजी गयी अत्यन्त

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २७६।

विनम्रतापूर्ण शैली मे विनम्र-पत्रिका है इसमे भक्त तुलमी साकार हो उठे है। इसे आत्म दैन्य, आत्मग्लानि, आत्मभर्त्सना, बोध, हर्ष, उपालभ, चिन्ता, विपाद, प्रेम कृतकृत्यता आदि विविध आत्मनिष्ठ मनोभावो का गीति शैली में लिखा गया गीति काव्य कह सकते है। अपनी भावगीतियो का ऐसा सुन्दर प्रवध रूप प्रस्तुत कर अड़िग आस्था से व भक्तिमार्ग पर क्यो चले इसका प्रमाण इसमे उपलब्ध हो जाता है। किसी भावुकता के आवेश मे आकर इस राजसोपान पर वे नही चले हैं वरन् अनुभूति, तथा सदसदविवेकिनी बुद्धि और अन्तःकरण की सहज प्रेरणा से उन्होने यह निर्णय लिया है। यह एक तप पूत साधक का आस्थापूर्ण निश्चयात्मक अटूट और अचूक निर्णय है। तभी तो उन्होने कहा है—

'नाहिन आवत आन भरोसो।
× × ×
गुरु कह्यो राम भजन नीको।
मोहि लगत राज डगरो सो।'

विनय पत्रिका का यह पूरा पद ही महत्वपूर्ण है। यह स्वयम् निर्णय और गुरु का आदेश इन दोनो का ऐकमत्य ही तुलसी की सेव्य-सेवक एव दास्य भक्ति-भावना है। तुलसी के आध्यात्मिक व्यक्तित्व के दर्शन हमे इसमे मिल जाते है। रामचरितमानस के वाद उनकी यह उत्तम और श्रेष्ठ कृति हे। कोई भी सेवक सीधे अपने प्रमुख कर्मचारी के पास अर्जी नही भेजता। वह सव योग्य अधिकारियो के हाथो होती हुई मुख्य अधिकारी तक पहुँचती है। इस दरवारी प्रणाली को तुलसी जानते थे अत. सभी देवताओ की प्रार्थना करते हुए 'राम चरण रति देहू' माँगते है तथा अपनी सिफारिश करवाते है। जगत्-जननी-जानकीजी से भी वे प्रार्थना करते है[२]—

'कबहुँक अम्ब अवसर पाई।
मेरियो सुधि द्याइवी कछु करुन कथा चलाई॥
जानकी जगजननि जनकी किए वचन सहाई॥'

इस तरह सब के माध्यम से पहुँची हुई अर्जी स्वीकृत होती है और राम कहते है[३]—

'बिहँसी रामकह्यो सत्य है सुधि मै हू लही है।
मुदित माथ नावत वनी तुलसी अनाथ की परी सही है॥'

---

१. विनयपत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५७, प० १७३।
२. विनय पत्रिका—तुलसीदासजी, पृ० २५४, प० ४७।
३. विनय पत्रिका तुलसीदासजी, पृ० ४२५।

भक्त और भगवान् के परस्पर सम्बन्ध और रघुनाथ विश्वास की यह कृति एक अमोघ प्रमाण है। इसे हम तुलसीदासजी का निजी मनोविश्लेषण कह सकते हैं।

बरवै रामायण—इसमें कुल ६६ छन्द हैं। अपने मित्र रहीम के आग्रह से तुलसीदासजी ने इसे लिखा था। यह सात काण्डो मे विभक्त है। मुक्तक रूप में और कलात्मक सौन्दर्य के साथ यह कृति सामने आई है। डा० माताप्रसाद गुप्तजी इसको अन्तिम और अपूर्ण कृतियो मे से एक मानते है।[1] अवधी का यह एक विशेष छन्द है और अवधी मे यह बढिया बनता भी है। कहा जाता है कि यह ग्रन्थ सवत् १६६६ मे लिखा गया था।

जानकी मंगल और पार्वती मगल—

ये दोनों ग्रन्थ शैली की दृष्टि से एक से ही हैं। जानकी परिणय और पार्वती परिणय के प्रसङ्गो पर लिखे गये ये खड काव्य है। पार्वती-मगल के एक सौ चौसठ छन्द हैं और जानकी मगल के २१६ छन्द हैं। पार्वती-मगल का रचना काल विक्रम संवत् १६४३ है। जानकी-मङ्गल भी इसी के आसपास बना होगा। वैसे डा० माताप्रसाद गुप्त के अनुसार यह सवत् १६२६ की कृति है।[2] दोनो सफल खंड काव्य है।

गीतावली—यह ललित और गेय पदो का सग्रह है। इसमे भाव की गहराई और तीव्रता अवश्य विद्यमान है। रामचरितमानस के कथानक से इसमे भिन्न कथानक को अपनाया गया है। उत्तरकाड मे लवकुश और सीता निष्कासन का भी उल्लेख है। रामराज्य की समृद्धि, राम की दिनचर्या का स्वाभाविक और सुन्दर वर्णन है। कृष्णकाव्य के सास्कृतिक उत्सवो का भी इस पर पड़ा हुआ प्रभाव परिलक्षित हो जाता है—जैसे दीपावली, हिंडोलोत्सव का वर्णन आदि। शृङ्गार, हास्य, वीर, करुण आदि रसो की सुन्दर अभिव्यक्ति इसमे मिलती है। यह कृति अनुमानतः संवत् १६५८ मे रची गई।[3] यह भी तुलसी की प्रौढ रचना है और वह तुलसी की कृतियो मे महत्वपूर्ण है।

कृष्णगीतावली—यह श्रीकृष्ण लीला के पदो का सग्रह है। इसमे ६१ पद हैं और कृष्ण का बड़ा सजीव वर्णन मिलता है। इसमे मुहावरेदार ब्रजभाषा मे कृष्ण बाललीला का सुन्दर अभिव्यंजन हुआ है, और सगुणोपासना का महत्व,

१. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० ३७६।
२. ,, ,, पृ० २३८, २७६।
३. तुलसीदास—डा० माताप्रसाद गुप्त, पृ० २४८, २७६।

गोपियो के प्रेम की अनन्यता आदि बातें सरसता से चित्रित है। तुलसी के अवधी और व्रज भापा के अधिकार को यह कृति स्पष्ट कर देती है। सूर की कृति के साथ यह तुलनीय भी है। इसकी रचना गीतावली के साथ या वाद मे हुई जान पडती है।

रामाज्ञा प्रश्न—इसका रचनाकाल सवत् १६२१ है। इसमे सात-सात दोहों के सात सप्तको वाले सात सर्ग है। स्वयम् कवि अपने रचनाकाल का सकेत देता है[1]—

सगुन सत्य ससि नयन गुन अवधि अधिक नयवान।
होइ सुफल सुभ जासु जस प्रीति प्रतीति प्रमान॥

इसमे ससि=१ नयन=२ गुन=६ वान नय अधिकावधि (५-४=१) कवि प्रथा के अनुसार इस प्रकार की तिथियो का उल्टा क्रम पढने पर १६२१ निकल आता है। यह पुस्तक तुलसी ने अपने एक मित्र गगाराम ज्योतिषी के लिए सगुन प्रश्न पूछने के सदर्भ मे लिखी थी। इसमे कुल २४३ छन्द है। इस पर वाल्मीकि रामायण का प्रभाव पडा हुआ जान पडता है।

तुलसीदास सगुण राम के वडे जोरदार समर्थक है। सामाजिक मर्यादा की दृष्टि से उनकी दास्य भक्ति विनीत मनोभावो की जन्मदात्री सिद्ध होती है। उनकी कृतियो मे उत्तम कोटि के भक्त भगवान् से सदा यह वर माँगते हैं कि उनका सगुण रूप सदा उनके मन मे अङ्कित हो जाय। अलख जगाने वाले को वे फटकारते हैं—

हम लखि, लखहिं हमार, लखि हम हमार के वीच।
तुलसी अलखहि का लखै रामनाम जपु नीच॥[2]

राम को जव तक लोग मान्यता देते है तव तक जगत् के सम्वन्धों को मानने मे औचित्य है। राम भजन मे विरोध करने वाले, सुहृद, निकट सम्वन्धी भी हो तो उनका कहना है कि—'जाके प्रिय न राम वैदेही। तजिये तिन्हे कोटि वैरी सम।'[3] जीवन मे यदि राम से नाता नही तो जीवन का कोई मूल्य ही नही। उनके रामराज्य मे लोग परस्पर वन्धुभाव और प्रीति करते है। अपने-अपने स्वधर्म से आचरण करते है। कोई किसी से वैर नही करता। किसान को खेती, वणिक को व्यवसाय मिलता है और सव को सारी चीजे यथास्थान उपलव्ध हो जाया करती है। व्यष्टि और समष्टि सभी अपना ऐहिक और पारमार्थिक ध्येय सिद्ध कर लेते हैं। लोकधर्म, युगधर्म, और स्वधर्म मे निरत होकर सभी अभ्युदय कर लेते हैं।

---

१ रामाज्ञा प्रश्न ७-७-३।
२. दोहावली—तुलसीदास।
३. विनय पत्रिका—तुलसीदास, पृ० २६०, प० १७४।

ऐसा कहा जाता है कि यात्रा करने के वाद जव गोस्वामी तुलसीदासजी चित्रकूट में जाकर स्थित हो गये तथा वहाँ की नित्य चर्या के अनुसार वे रोज शौच निवृत्ति के लिए जाते और वचा हुआ लोटे का जल पीपल के पेड़ की जड़ पर डाल देते थे। इससे एक प्रेतात्मा संतुष्ट हो गई। उसने एक दिन प्रसन्न होकर तुलसीदास से कहा कि मेरे योग्य कोई सेवा हो तो आज्ञा कीजिए, मैं उसे करने को प्रस्तुत हूँ। उन्होने रामचन्द्रजी के दर्शन कराने के लिए कहा। तव प्रेतात्मा ने कहा—'मैं तो असमर्थ प्रेतात्मा हूँ। पर उपाय वतला सकता हूँ। चित्रकूट में आप रामकथा सुनाते हैं उसे सुनने के लिए कोढी के रूप मे सवसे पहले आने वाला और सवके अन्त मे जाने वाला एक व्यक्ति है, वह हनुमान के अतिरिक्त और कोई नही है। गोस्वामी ने एक दिन अवसर पाकर उनके चरण पकड लिए और उन्हे न छोडा तव रामचन्द्रजी के दर्शन का आश्वासन देकर और चित्रकूट मे रहने का आदेश देकर वे चले गए। तुलसीदासजी ने चित्रकूट मे दो राजकुमारों को आखेट करते हुए देखा। पर वे रामलक्ष्मण है इसे वे पहचान न सके। हनुमानजी ने प्रकट होकर भेद खोला। तव पश्चाताप हुआ। हनुमानजी ने पुनः आश्वासन दिया। दूसरे दिन प्रात.काल राम भजन मे मग्न होकर रामघाट पर वैठे राम-विरह से वे पीडित थे। इसी समय रामचन्द्रजी ने प्रकट होकर चंदन माँगा। तव सकेत से समझाने के लिए हनुमानजी ने तोते के रूप मे यह दोहा पढा—

'चित्रकूट के घाट पर भई संतन की भीर।
तुलसीदास चंदन घिसे तिलक देत रघुवीर॥'

वे मुग्ध होकर उनका सौन्दर्य देखने लगे पर मूर्छित हो गए। रामचन्द्रजी के वार-वार कहने पर जव तुलमी ने नहीं सुना तव वे स्वयम् तिलक लेकर अन्तर्हित हो गये। यह निश्चित मानना पडेगा कि उनको कभी तो अवश्य रामदर्शन हुआ होगा।

'हिय निर्गुण नयनन्हि सगुण रसनाराम सुनाम।
मनहु पुरट संपुट लसत तुलसी ललित ललाम॥' —दोहावली।

गीतावली मे वर्णित यह धनुर्धारी राम की मूर्ति उनके हृदय-पटल पर अंकित हो गई थी।

सुभग सरासन सायक जोरे।
खेलत राम फिरत मृगया वन वसती सो मूरति मन मोरे॥
जटा मुकुट सिर सारन नयननि,
गौंहें तकत सु भौंह सकोरे।[1]

---

१. गीतावली—पृ० २६७, अरण्यकाण्ड प० २, तुलसीदास।

उनको सदा चित्रकूट अच्छा लगता था। तुलसी अयोध्या मे रहे तथा वाराणसी मे तो उनके जीवन का बहुताश बीता था। अपने उत्तर काल मे वे काशी मे ही थे। सकट-मोचन हनुमान उनका ही बनाया हुआ है। विनय-पत्रिका तो काशी मे ही लिखी गयी थी।

गोस्वामी तुलसीदास के कुछ मित्र—

काशी के एक टोडरमल नाम भुई-हार जमीदार थे जो तुलसीदास के घने मित्र थे। उनकी मृत्यु पर उन्होने ये दोहे कहे—

'चार गाँव को ठाकुरो मनको महा महीप।
तुलसी या कलिकाल में अथए टोडरदीप॥
तुलसी राम सनेह को सिर पर भारी भार।
टोडर कांधा ना दियो सब कहि रहे उतार॥
× × ×
राम धाम टोडर गए तुलसी भए असोच।
जियबो मीत पुनीत बिनु यही जानि संकोच॥'

इनके पुत्रो के झगड़ो का निपटारा पचनामा करके जायदाद का बँटवारा निर्णय रूप मे किया था। उनके वशज आज भी तुलसीदासजी की पुण्य तिथि के दिन सीधा दिया करते है।

रहीम और तुलसी भी परम मित्र थे। अकबर के दरबारी गवैये रामदास के सुपुत्र हितहरिवश भी मथुरा मे उनसे मिले थे। सूर और तुलसी का मिलन चित्रकूट के पास कामद-वन मे सवत् १६१६ के आरम्भ मे हुआ था और तब अपना 'सूरसागर' भी उनको दिखाया था, ऐसी किवदती है। कुछ लोग सूर और तुलसी व्रज मे मिले ऐसा मानते है। वहाँ किसी ने तुलसी से सूर की प्रशसा की तब तुलसीदास ने कहा—

'कृष्णचन्द्र के सूर उपासी। ताते इनकी बुद्धि हुलासी॥
रामचन्द्र हमरे रखवारा। तिनहि छाँड़ि नहि कोऊ संसारा॥'

मीरा ने तुलसी से पत्र लिखकर सलाह माँगी थी ऐसी जनश्रुति है पर वह ऐतिहासिक दृष्टि से सही नही ठहरता। वैसे जो बात प्रसिद्ध है वह यह है कि जब मीरा को परिवार के लोगो द्वारा सताया गया और विष दिया गया तब उन्होने तुलसीदास से पूछा कि अब क्या करना चाहिए तब तुलसी ने यह लिख भेजा—

जाके प्रिय न राम वैदेही।
तजिए तिन्हे कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही॥
तज्यौ पिता प्रह्लाद विभीषन बन्धु भरत महतारी।'

—विनय पत्रिका—पद १७४।

तुलसीदास की निधन-तिथि परम्पराके अनुसार संवत् १६८० है। इसके बारे मे एक दोहा प्रसिद्ध है—

सम्वत् सोरह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तज्यौ सरीर ॥'

इसके बारे मे एक और पाठ इस दोहे का मिलता है जो गणना की दृष्टि से सही है—

'संवत् सोलह सै असी, असी गङ्ग के तीर।
श्रावण स्यामा तीज शनि, तुलसी तज्यौ सरीर ॥'

उनकी मृत्यु के बाद उनका शव गगा में प्रवाहित किया गया और तुलसी का वह विरुआ—

'राम कृपा हुलसी जनित, तुलसी बिरवा सोय।
लै हलरावली सुरधुनी, जल श्रंचल में गोय ॥'

वे मरते दम तक रामनाम स्मरण करते रहे। अन्त समय क्षेमकरी गङ्गा का दर्शन कर उन्होने कहा था—

'प्रेखु सप्रेम पयान समै सब सोच विमोचन छेमकरी है।'

उनका अन्तिम दोहा यह बतलाया जाता है—

'राम नाम जस बरनि कै, भयो चहत अब मौन।
तुलसी के मुख दीजिए अब ही तुलसी सोन ॥'

बाहु पीड़ा से जर्जर और ग्रस्त होने पर हनुमानजी का उन्होने आवाहन कर कहा था—

'आन हनुमान की दोहाई बलवान की।
सपथ महावीर की जो रहे पीर बाँह की ॥
साहस समीर के दुलारे रघुवीर जी के।
बाँह पीर महावीर बेग ही निवारिये ।'

—हनुमान बाहुक।

तुलसी के मत मे भक्ति अर्थात् ज्ञान, कर्म से समन्वित भक्ति ही है। केवल ज्ञान मार्ग को वे कृपान की धारा कहते थे। राघव की भक्ति करने मे अत्यन्त कठिनाई है। वह कहने मे सुगम है किन्तु करने मे अत्यन्त कठिन है। वह विना राम कृपा के प्राप्त नही हो सकती।

असल मे रामकृपा ही परम दुर्लभ है। उसके प्राप्त हो जाने पर सब बाते सुलभ हो जाती है। तुलसीदासजी का एक मात्र आधार, भरोसा प्रभु रामचन्द्रजी पर ही है—

'एक भरोसो एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनस्याम कहँ चातक तुलसीदास॥' —दोहावली।

स्वाति नक्षत्र के समय बरसने वाले जल को ही चातक तुलसी पीते है। अन्य जलवृष्टि को ये मानी भक्त स्वीकार ही नही कर सकते। उनको अपने राम वैसे ही प्रिय है जैसे-कामी को नारी प्रिय है, अथवा लोभी को दाम। जब जब धर्म की हानि होती है तब उसकी रक्षा करने के हेतु रामचन्द्र विविध शरीर धारण कर सज्जनो की पीडा हरण करते है। तुलसी प्रभु के शील, शक्ति और सौन्दर्य पर मुग्ध थे, और लोक कल्याण पर इस सत की सदा दृष्टि थी। वे भक्ति को श्रुति सम्मत तथा विरति विवेक युक्त मानने है। वे साधुमत और लोकमत के मेल को अनिवार्य मानते है। मनुष्य का जीवन सामाजिक है। मनुष्य को केवल अपने ही आचरण पर लज्जा या सकोच नही होता बल्कि अपने इष्ट मित्र, साथी या कुटुम्बियो के भद्दे आचरण पर भी लज्जा या सकोच होता है। हमारा अपना ही निकट सम्बन्धी यदि बातचीत करते समय अभद्रता या अश्लीलता से पेश आता हो तो हमे लज्जा मालूम होती है। तुलसी ने इसीलिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम का चरित्र सुनकर उसका अभिव्यजन किया जो सर्वथैव उपयुक्त है। कही भी रामचन्द्र का आचरण ऐसा नही है जिस पर आक्षेप किया जा सके। प्रभु रामचन्द्रजी के चरित्र मे सबसे महत्वपूर्ण गुण है शरणागत की रक्षा करना। भारत वासियो का शरणागत की रक्षा करना एक बहुत बडा धर्म निरतर रहा है। सारे ससार मे इस बात की प्रसिद्धि है।

'सरनागत कहँ जे तर्जाहि, निज अनहित अनुमानि।
ते नर पाँवहि पाप भय तिनहि विलोकत हानि॥'
—रामचरित मानस।

तुलसीदासजी का आदर्श भक्त भरत है। भरत के हृदय मे लोक भीरुता, स्नेहार्द्रता, भक्ति और धर्म प्रवणता का समन्वित रूप देखने को मिलता है। तुलसी ने मानव अन्त:करण की सूक्ष्म से सूक्ष्म वृत्तियो को देखा था—निरीक्षण किया था इसका प्रमाण उनकी कृतियो मे नाना रूपो मे देखने को मिल जाता है। बहिरग विधान और अतरग विधान की दृष्टि से काव्य के उपकरणो मे तुलसी की परख इतनी अच्छी है कि वह सबको अपनी ओर आकृष्ट किये विना नही रह सकती।

जीवन की सपूर्ण दशाओं का मार्मिक चित्रण करने वाले सबसे बडे कवि तुलसी भारतीय सस्कृति का प्रतिनिधित्व करते हैं। तुलसी केवल इने गिने रस विशेषो पर अधिकार नही रखते वरन् एक महाकवि की हैसियत से मानव की सारी भावनात्मक सत्ता पर तथा सभी रसों पर अधिकार रखते है। तुलसीदासजी से टक्कर ले सकने वाले एक मात्र महाकवि सूरदास ही है। तुलसीदास केवल हिन्दी के ही वडे कवि नही वरन् भारत के प्रतिनिधि कवि है। उन्हें विश्व साहित्य में स्थान दिया जा सकता है।

भाषा की दृष्टि से विचार करने पर इस बात का पूर्ण रूप से पता लग जाता है कि तुलसी ने रामचरित मानस मे तथा अन्य कृतियों मे तीन भाषाओ का प्रयोग किया है। अपने जन्मस्थान की भाषा अवधी (पूर्वी हिन्दी), अपने इष्टदेव प्रभु रामचन्द्रजी की राजधानी अयोध्या की भाषा, व्रज तथा पश्चिमी हिन्दी का रूप, और संस्कृत इन तीनो भाषाओं का साहित्यिक, प्रौढ, परिनिष्ठित रूप तुलसी ने अपनाया है। तुलसी की इन भाषाओं पर अपनी छाप है। इस तरह सब क्षेत्रों में सब तरह से वैष्णव भक्तो मे गोस्वामी तुलसीदास वरेण्य और अग्रगण्य हैं।

सूरदास :

'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार सूर के बारे मे यह कहा जाता है कि वे गऊ घाट पर रहते थे। वे एक स्वामी या साधू थे तथा अपने शिष्य बनाया करते थे। गोवर्धन पर्वत पर जब श्रीनाथजी का मन्दिर बन गया तब एक बार वल्लभाचार्य गऊ घाट पर उतरे। सूरदास उनके दर्शनार्थ आए और उनको अपने दो पद गाकर सुनाये।' १. 'प्रभु हौ सब पतितन को टीको।' और २. 'हौ हरि सब पतितन को नायक।' 'तब महाप्रभुवल्लभाचार्य ने उन्हें डाँटकर कहा कि सूर होकर इस प्रकार क्यो घिघियाते हो? कुछ भगवद् लीला वर्णन करो।' सूरदास ने उत्तर दिया कि उन्हे भगवद् लीला का कोई ज्ञान नही है। तब महाप्रभु ने उनको स्नान कर आने के लिए कहा। उसके बाद प्रभु ने उनको नाम सुनाया और समर्पण करवाया और भागवत के दशम स्कध की अनुक्रमणिका कहकर भगवत् लीला गान करने की आज्ञा दी। वे इस तरह वल्लभाचार्यजी के शिष्य बन गए। उनको श्रीनाथजी के मन्दिर की कीर्तन सेवा सोपी गई थी।

'सूर सारावली' के पद के अनुसार यह जानकारी द्रष्टव्य है[1]—

गुरु परसाद होत यह दरसन सरसठ बरस प्रवीन।
शिव निधान तप कियो बहुत दिन तऊ पार नहि लीन॥

---

१. सूर सारावली–पद १००२, पृ० ८०, प्रभुदयाल मीतल।

यह मत विद्वानो मे सर्वमान्य है कि दीक्षा के समय सूरदासजी ६७ वर्ष के थे। आचार्य नद दुलारे वाजपेयी के मतानुसार सारावली की रचना के समय का यह पद हो सकता है[1]—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरि नन्द को लिखि सुबल संबल पेख॥
नंदनंदन मास छै तै हीन तृतिया बार।
नंदन-नंदन जनमते हैं वान सुख आगार॥
तृतीय ऋक्ष सुकर्म जोग विचारि सूर नवीन।
नन्दनन्दन दास हित साहित्य लहरी कीन॥

—साहित्य लहरी पद सख्या १०९।

इसमें 'रसन' शब्द पर बडी चर्चायें हुई है। 'रसन' का अर्थ शून्य या रस से हीन करते हुए इस ग्रन्थ का निर्माण काल सवत् १६०७ निश्चित किया गया है। कुछ लोगो ने रसना का अर्थ जिह्वा करके, एक कार्यानुसार वाक् एक सख्या का वाची मानकर उसको सवत् १६१७ माना है। कुछ लोग स्वाद और वाक् मानकर उसको २ सख्या का वाची समझकर सवत् १६२७ के पक्ष मे है। निष्कर्प के रूप मे साहित्य लहरी के पदानुसार वैसाख की अक्षय तृतीया रविवार, कृत्तिका नक्षत्र और सुकर्म-योग लिखा गया है तथा गणित करने पर सवत् १६१७ ही आता है। अतः यही मानना समीचीन है। श्री नलिनी मोहन सान्याल के अनुसार चैतन्य महाप्रभुजी का जन्म सन् १४८५ और संवत् १४५२ मानते हैं और कुछ प्रमाणो के आधार पर यह बतलाया जाता है कि सूरदास की जन्मतिथि सवत् १५४०–४१ के आसपास ठहरती है।[2]

पुष्टि-सम्प्रदाय मे सूरदासजी आचार्य वल्लभाचार्य से दस दिन छोटे माने जाते है।[3] आचार्यजी का जन्म सवत् १५३५ वैशाख कृष्ण ११ रविवार को हुआ था। अत· सूर की जन्मतिथि १५३५ वैशाख शुक्ल पचमी को ठहरती है। पर यह उपयुक्त नही जान पड़ता।

बडौदा कॉलिज के सस्कृत के प्रोफेसर श्री भट्टजी के अनुशीलनात्मक खोजो से यह सिद्ध हुआ है कि आचार्य वल्लभाचार्य का जन्म सवत् १५३० मानना उचित ही

१. महाकवि सूरदास—पृ० ६०–६१, आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी।
२. भक्त शिरोमणि महाकवि सूरदास—श्री न. मो. सन्याल, पृ० ६।
३. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल व द्वा. ना. पारीख, पृ० ५२–५३।

है अतएव सूरका जन्म संवत् १५३० ही मानना पड़ेगा।[1] डा० हरवंशलाल शर्मा के अनुसार सवत् १५३५ सूर का जन्म सवत् है।[2] हम सवत् १५३० मानने के पक्ष मे है।

सूरदास की जाति तथा वंश—

साहित्य लहरी का ११५ वाँ पद जिसका आरम्भ 'प्रथम ही प्रभु जाग ते भे प्रगट अद्भुत रूप' इस पक्ति से होकर अन्त 'सूर है नँदनन्द जूको लयौ मोल गुलाम।' इस पंक्ति मे होता है।[3]

इस पद के अनुसार प्रभु के यज्ञ से एक अद्भुत पुरुष ब्रह्मराव उत्पन्न हुए। उस ब्रह्मस्वरूप वंश मे चद बरदायी हुए। महाराज पृथ्वीराज ने ज्वाला (नागोर) देश उन्हें दान मे दिया। चन्दके चार पुत्र हुए जिनमे द्वितीय गुणचन्द थे। उनके पुत्र सीलचन्द, सीलचन्द के वीरचद हुए। ये राणा हमीरके यहाँ प्रतिष्ठित थे। इसी वशमे हरिचन्द हुए। इनके पुत्र गोपाचल आए। उनके सात पुत्र हुए जिनके नाम क्रमशः ये थे—कृष्णचद, उदारचन्द, रूपचन्द, बुद्धचन्द, देवचन्द, प्रबोधचन्द और सूरजचद। ये सब वीर थे और युद्धक्षेत्र मे परलोकगामी हुए। सातवे सूरजचन्द ही सूरदास है।[4]

नागोर निवासी नानूराम भाट के पास की वंशावली मे और साहित्य लहरी के अनुसार बनाये गये वंश वृक्ष में पर्याप्त अन्तर मिलता है। नानूराम भट्ट अपने को चंदबरदाई का वशज बतलाते है। यह वंशावली महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री को नानूराम से प्राप्त हुई। डा० ब्रजेश्वर वर्मा, मुन्शीराम शर्मा आदि विद्वान सूर को ब्राह्मण एवम् भट्ट ब्राह्मण बनाने के विविध पक्ष मे हैं। सूर के समकालीन एक कवि प्राणनाथ सूरदास को स्पष्ट रूप से ब्राह्मण लिखते है।[5]

श्री वल्लभ प्रभु लाड़िले, सीहो सर जल जात।
सारसती दुज तरु सुफल, सूर भगत विख्यात॥

वल्लभ द्विग्विजय के अनुसार—ततो ब्रज समागम ते सारस्वत सूरदासो अनुग्रहीतः।[6] वार्ता साहित्य के अनुसार वे सारस्वत ब्राह्मण थे। वास्तव मे

---

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नंद दुलारे बाजपेयी, पृ० ६२–६३।
२. सूर और उनका साहित्य—पृ० ३७, डा० हरवंशलाल शर्मा।
३. साहित्य-लहरी पद ११५ सम्पादक डा० मनमोहन गौतम, पृ० १६५–१६६।
४. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० ४५।
५. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ५०।
६. वल्लभ द्विग्विजय, पृ० ५०।

सूरदास न तो ब्रह्म भट्ट थे न भाट। अतएव उनको सारस्वत ब्राह्मण मानना ही उचित होगा।

सूरदासजी के पिता का नाम कही भी उपलब्ध नही होता। अकबर के 'आइने अकबरी' मे अकबर के दरबारी कवियो और गायको के नाम मिलते है। नामो मे ग्वालियर निवासी रामदास और उनके पुत्र सूरदास का नाम आया है। अतः कुछ लोग इन्ही को 'सूरसागर' रचने वाले सूरदास मान लेते है। अकबर सवत् १६१३ मे गद्दी पर बैठा। सूरदासजी आचार्य के शिष्य उसके ही कई वर्ष पूर्व ही बन चुके थे। ऐसी परिस्थिति मे सूरदास दरबारी कवि कदापि नही हो सकते और न वे रामदास के पुत्र सिद्ध होते है।

हिन्दी साहित्य के इतिहास मे आचार्य रामचन्द्र शुक्ल द्वारा उल्लिखित 'साहित्य-लहरी' की यह पक्ति 'प्रबल दाच्छिन विप्रकुल ते शत्रु ह्वै है नास।'[१] तथा उनके ग्रन्थ सूरदास मे कथित विप्रकुल का अभिप्राय पेशवाओ की ओर सकेत करता है।[२] परन्तु यह अनुमान प्रामाणिक इसलिए नही माना जा सकता क्योकि 'साहित्य-लहरी' का उक्त पद भी सूर द्वारा रचा जाना असभव है। सूर के जन्म स्थान के बारे मे भी कई मत सामने आते है। आगरा मे गोपाचल नामक स्थान सूर का जन्म स्थान है क्योकि इनके पिता यहाँ आकर बस गए थे। यही गोपाचल और गोपाद्रि ग्वालियर के पुराने नाम है। अत कुछ लोगो के मतानुसार ग्वालियर सूर का जन्म स्थान है। डा० पीताम्बर दत्त बडथ्वाल ने ग्वालियर का नाम गोपाचल सिद्ध किया है।[३] कुछ लोग मथुरा प्रान्त मे कोई ग्राम जो अनाभिक है उसे ही सूरदास का जन्म स्थान मानते है। कवि मियासिह कृत 'भक्त विनोद' मे सूर के जन्म स्थान का इस प्रकार उल्लेख है—

'मथुरा प्रान्त विप्रकर गेहा, भो उत्पन्न भक्त हरिनेहा॥'[४]

इसमे स्थान का कोई उल्लेख नही है। 'रुनकता' भी सूर का जन्म स्थान माना जाता है। रुनकता आगरा से मथुरा जाने वाली सड़क पर एक छोटा सा गाँव है। यहाँ से दो मील के अतर पर यमुना के किनारे 'रेणुकाजी' का स्थान और परशुरामजी का मन्दिर है। इसी से कुछ दूरी पर गौ घाट है। रुनकता को सूर का जन्म स्थान मानने का कारण सभवत सूरदासजी का गऊघाट पर रहना हो

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—पृ० १६१, आचार्य रामचन्द्र शुक्ल।
२. सूरदास—पृ० १४३।
३. सूरदास—डा० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, संपादक—डा० भगीरथ मिश्र।
४. भक्त विनोद—कवि मियासिह कृत।

सकता है। वार्ता-साहित्य के अनुसार सूर का जन्म स्थान सीही है।[१] दिल्ली के आस-पास इस सीही ग्राम का आज कहीं कोई पता नही है। वैसे दिल्ली-मथुरा सड़क पर वल्लभगढ़ के निकट सीही नाम का ग्राम है। जनश्रुति के अनुसार यही सीही सूरदास का जन्म स्थान है। डा० हरवंशलाल शर्मा भी सिही ग्राम को सूर का जन्म स्थान मानते हैं।[२]

सूर और उनका अन्धत्व—

क्या सूरदास जन्मान्ध थे? या बाद मे अन्धे हो गये थे। जनश्रुति उनको अन्धा बतलाती है। यत्र-तत्र सूरसागर में अपने अन्धत्व के बारे मे सूर के उल्लेख मिलते हैं। जैसे[३]—

१. यहै जिय जानिकै अंध भाव त्रास ते।
सूर कामी कुटिल सरन आयो॥

× × ×

२. सूरदास सो कहा निहोरौ नैनन हूँ कि हानि।

× × ×

३. सूर कूर आँधरो मैं द्वार परे गाऊँ॥
४. रहौ जात एक पतित जनमको आँधरौ 'सूर' सदा करे॥
५. सूर की बिरीयाँ निठुर होइ बैठे, जन्म अंध करयो॥
६. रास रस रीति नहिं वरनि आवै।
इहै निज मंत्र यह ज्ञान, यह ध्यान है दरस दम्पति भजन सार गाऊँ॥
इहै माँगो बारबार प्रभु सूर के नयन ह्वै रहौ नर देह पाऊँ॥

इस तरह देखने पर कुछ पद उनके जन्मान्धत्व को स्पष्ट करते हैं। दूसरे इन पदों से यह कल्पना भी की जा सकती है कि जब ये लिखे गये तब वे चक्षुविहीन हो गये हो, और जन्म से अन्धे न रहे हो। सूरदास के जीवन मे कोई घटना ऐसी घटी होगी, जिससे ससार से उन्हें विरक्ति हो गई हो अथवा किसी विषय भोग के सीधे फलस्वरूप उनके नेत्रों की ज्योति चली गई हो। इस तरह के आधार इन पदो में मिल जाते है[४]—

---

१. चौरासी वैष्णवन की वार्ता में अष्ट सखान की वार्ता, पृ० २।
२. सूर और उनका साहित्य—डा० हरवंशलाल शर्मा, पृ० ३५।
३. सूरसागर, १०। १६२४।
४. सूरसागर १।१९८, १।१९५ तथा सूरदास—आचार्य नन्द दुलारे वाजपेयी, पृ० ६९।

सूरदास अन्ध अपराधी सो काहे विसरायो।
ऐसो अन्ध अधम अविवेकी खोटनि करत खरे।

वार्ता-साहित्य के अनुसार सूरदास जन्मान्ध थे। जनश्रुति प्रसिद्ध है कि किसी तरुणी के सौन्दर्य युक्त रूप को देखकर वे उस पर आसक्त हो गये। बाद में पश्चाताप करते हुए उन्होने अपनी आँखे फोड ली।

कविकुलगुरु रवीन्द्रनाथ ने इसी प्रसङ्ग को लेकर एक बंगला कविता लिखी है जो 'सूरदासेर प्रार्थना' नाम से प्रसिद्ध है। इसमे आत्मग्लानि से वे उस स्त्री को अपनी आँखे फोडने के लिए कहते हैं ऐसा प्रसङ्ग है। डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी अपने सूर साहित्य मे उक्त प्रसङ्ग को उद्‌धृत कर चुके हैं जो इस प्रकार है[1]—

'तो फिर वही हो देवि, विमुख न होओ, इसमे दोष ही क्या है? हृदयाकाश में जगी रहने दोन, अपनी स्नेहहीन ज्योति। वासना-मलिन आँखों का कलंक उस पर छाया नही डालेगा, अन्ध हृदय चिर दिन तक नील-उत्पल पाता रहेगा।

'तुममे देखूगा अपने देवता को, देखूगा अपने हरि को, तुम्हारे आलोक मे जगा रहूँगा इस अनन्त विभावरी मे (रात्रि मे)।' यह कथन रवीन्द्र की उक्त कविता की अन्तिम पक्तियो मे है। आगे चलकर सूर की इस उदात्तीकरण की ऊँची भावना और साधना को देखकर रवीन्द्रनाथ कहते हैं—

'सत्य करे कहो मोरे हे वैष्णव कवि,
कोथा तुमि पेये छिले एइ प्रेमच्छवि?
कोथा तुमि शिखे छिले एइ प्रेम गान,
विरहतापित? हेरि काहार नयान?'[2]

यह प्रेम की छवि हे वैष्णव कवि! सच बताओ तुम्हे कहाँ उपलब्ध हो गई? किसकी आँखे देखकर राधिका की आँसुओ से भरी आँखे याद आगई। निर्जन वसत रात्रि की मिलन शय्या पर किसने तुम्हे भुज-पाशो से बाँध रखा था, और अपने हृदय के अगाध समुद्र मे मग्न कर रखा था। इतनी प्रेम-कथा, राधिका के चित्त को विदीर्ण कर देने वाली तीव्र व्याकुलता तुमने किसके मुँह और किसकी आँखों से चुरा ली थीं? आज क्या इस सगीत पर उसका कुछ भी अधिकार नही है? क्या तुम उसी के नारी हृदय की सचित भाषा से उसी को सदा के लिए वंचित कर दोगे? सूरदास ने अपने लौकिक प्रेम का सर्वस्व भगवान् को समर्पित कर दिया। क्योंकि—

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ६६।
२. रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव' कविता से।

'देवतारे याहा दिते पारि, दिन ताइ
प्रिय जने, प्रिय जने याहा दिते पाइ
ताइ दिइ देवतारे, आर पावो को था ?
देवतारे प्रिय करि, प्रिय देवता।'[1]

'हम जो चीज देवता को दे सकते हैं वही अपने प्रिय को देते हैं—और प्रिय जन को जो दे सकते हैं वही देवता को देते हैं। और हम पायेगे कहाँ ? देवता को हम प्रिय कर देते हैं और प्रिय को देवता।'

रवीन्द्रनाथ की इस कविता से और आचार्य द्विवेदीजी के उद्‌गारो से सहमत होते हुए हम इस मार्मिक रहस्य को समझ सकते हैं, कि सूर चाहे जन्माध रहे हों या प्रसग वशात् बाद मे अधे बने हों, उन्होने अपने लौकिक सर्वस्व का समर्पण भगवान् को कर उस दिव्य दृष्टि को प्राप्त कर लिया, जिससे वे कह सके 'जाकी कृपा पंगु गिरि लघे अंधे को सब कछु दरसाई।' 'सूरदास के प्राकृतिक शोभा और रूप की बारीकियों का सूक्ष्मतम वर्णन देखकर विद्वानों को सूर के जन्मान्ध होने में सदेह होता है। सूर अपने को भगवान् का भक्त मानते थे और अपने पदों मे भगवान् की अघटित घटना घटाने वाली शक्ति पर आस्था प्रकट करते थे।[2] सूर को दिव्यचक्षु से सब कुछ दिखाई देता था। श्री प्रभुदयाल मीतल का कहना है[3]—'अत. हमें यह मानना होगा कि सूरदास महाप्रभु वल्लभाचार्य की कृपा से तत्वज्ञानी और आत्मा में रति करने वाले पूर्ण भक्त हो चुके थे। वे स्वयं प्रकाश हो गए थे, अतएव बाह्य चक्षुओं के आश्रित नहीं थे। उन्होंने जो कुछ भी वर्णन किया है वह अपनी आध्यात्मिक ज्ञान-शक्ति के आधार पर किया है।'

वार्ता साहित्य के अनुसार सूर ने देशाधिपति अकबर को एक पद सुनाया जिसकी अन्तिम पक्ति मे यह उल्लेख आया है[4]—

हौं जो सूर ऐसे दास को मरत लोचन प्यास।'

तब अकबर ने पूछा—

सूरदासजी तुम्हारे लोचन तो देखियत नाही,
सो प्यासे कैसे मरत हैं ?

---

१. श्री रवीन्द्रनाथ ठाकुर की 'वैष्णव कविता' से।
२. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० ७१।
३. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ६४ से ६७।
४. चौरासी वैष्णवन की वार्ता, वार्ता क्रमाङ्क ३।

इस पर वे मौन रहे। अकवर को विना उत्तर के ही समाधान प्राप्त हो गया। सूर के समकालीन श्रीनाथ भट्ट ने सूर को जन्मान्ध वतलाया है।[१]

'जन्मान्धौ सूरदासोऽभूत।'

प्राणनाथ कवि भी उन्हे जन्मान्ध कहता है—

बाहर नैन विहीन सो, भीतर नैन विसाल।
जिन्हे न जन कछू देखिबो लखि हरि रूप निहाल।।

'भाव प्रकाश' मे हरिरायजी ने सूर के बारे मे यह कहा है कि 'सो सूरदास को जनम ही सो नेत्र नाही है।'

मीतलजी की पुस्तक 'सूरनिर्णय' इस विषय मे द्रष्टव्य है। निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि सूरदास जन्मान्ध थे। इनके काव्य के वर्णित विषयो और वस्तुओ के आधार पर उन्हे जन्मान्ध न मानना उचित नही होगा।[२]

पुष्टिमार्ग की दीक्षा और गुरु कृपा—

चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार आचार्यजी से दीक्षित होने के वाद का जीवन पढने को मिल जाता है। वल्लभ-दिग्विजय के और वार्ता के अनुसार आचार्य वल्लभाचार्य दक्षिण देश मे शास्त्रार्थ-विजय प्राप्त करके लौटे थे। यह उनकी तृतीय यात्रा थी। वे अडैल से व्रज को गये तव मार्ग में गऊघाट पर ठहरे थे। सूर की ख्याती सुनकर वे उनसे मिले और उनके पद सुने तथा उनको भगवान् की लीला का गान करने के लिए कहा। तब आचार्य से उन्होंने कहा कि मेरी उसमे पैठ नही है। जव आचार्य वल्लभाचार्य ने उनको पुष्टि सप्रदाय की दीक्षा दी और भगवान् को समर्पित किया। अपने गुरु से भागवत दशम स्कध की कथा सुनकर भगवान् की लीला गान करने का स्फुरण उनको हुआ। आचार्य के सान्निध्य मे यह पद वनाकर गाया—

'चकईरी चलि चरण सरोवर जहाँ न प्रेम वियोग।
जहँ भ्रम निसा होत नहि कबहू सोइ सायर सुख जोग।।'[३]

सूरदास को आचार्य अपने साथ गोकुल ले गये। नवनीत प्रिया के दर्शन करने के वाद सूर ने गाया 'सोभित कर नवनीत लिए।' इसी स्थान पर वल्लभाचार्य ने सूर के अन्त.करण मे भागवत की सारी कृष्ण लीला स्थापित कर दी। वहाँ से व्रज जाकर गोवर्धन पर स्थित श्रीनाथजी के दर्शन सूर को कराये। तव सूरने यह

---

१. संस्कृत मणिमाला।
२. महाकवि सूरदास—पं० नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० ७२।
३. सूरसागर, १।३।३७।

पद गाया अब हौ नाचो बहुत गोपाल।' विनय के पदो को सुनकर आचार्य ने कहा कि अब तो तुम्हारे अन्त:करण की सारी अविद्या दूर हो गई है। फलतः भगवान् के यश का वर्णन करो। सूर ने 'कौन सुकृत इन व्रज वासिन को।' यह पद गाकर सुनाया। प्रसन्न होकर आचार्य ने मन्दिर का कीर्तनभार उनको सौप दिया।

वल्लभाचार्य की दक्षिण-यात्रा सवत् १५६५ के बाद हुई थी। श्रीनाथजी की स्थापना के बाद और आचार्य के अडैल से व्रज की यात्रा के समय गौ घाट पर वे आचार्य के शिष्य हुए। श्रीनाथजी की स्थापना डा० धीरेन्द्र वर्मा के अनुसार सवत् १५५८ की श्रावण सुदी ३ बुधवार को गोवर्धन पर्वत पर एक छोटे से मन्दिर मे श्रीनाथजी की स्थापना हुई।[1] संवत् १५५६ की चैत्र सुदी २ को पूर्णमल खत्री ने बड़ा मन्दिर बनवाने का सकल्प किया। एक लाख खर्च करने के बाद भी वह अधूरा ही रहा। २० वर्ष बाद व्यापार मे पूर्णमल को तीस लाख का लाभ हुआ तब सवत् १५७६ मे यह मन्दिर पूरा हुआ। वल्लभाचार्य ने इसमें श्रीनाथजी की स्थापना की। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल भी मन्दिर की स्थापना तिथि संवत् १५७६ मानते है।[2] सूरदास का शरण आना सवत् १५८० के आस-पास हुआ होगा ऐसा शुक्लजी का मन्तव्य है।[3] वल्लभ दिग्विजय के अनुसार आचार्य जब व्रज से अडैल गए तब गोपीनाथ का जन्म सवत् १५६७ मे हुआ। इस यात्रा में पाँच छः महीने अवश्य लगे होगे। अतएव सूर का शरण काल संवत् १५६७ ही निश्चित किया जा सकता है। मीतलजीने सवत् १५७६ का खंडन किया है। वे कहते है श्रीनाथजी की स्थापना १५५६ मे हुई। अड़ैल में गृहस्थाश्रम संवत् १५६५ में करने के बाद श्रीनाथजी के मन्दिर की व्यवस्था के लिए व्रज जाते हुए मार्गमें सूरका शिष्य होना वे बतलाते है। 'श्री वल्लभ दीजै मोहि बधाई।' यह पद उनके अनुसार विठ्ठलनाथजी के जन्म के समय का है। विठ्ठलनाथ का जन्म संवत् १५७२ का है। अतः वे इसके पहले अवश्य शरण गए होंगे। इसीलिए यह पद उन्होने गाया।[4]

सूर अकबर भेंट—

डा० दीनदयाल गुप्त के अनुमान से अकबर सूर से सन् १५७४ व १५८२ के

---

१. श्रीनाथजी का इतिहास—डा० धीरेन्द्र वर्मा।

२. सूरदास तृतीय संस्करण—आचार्य रामचंद शुक्ल, पृ० ११७।

३. ,, ,, पृ० ११८।

४. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ८४।

बीच मिला होगा ।[१] अकबर के द्वारा वल्लभ संप्रदाय वालो के लिए फर्मान जारी किए गये थे जो सन् १५७७ और सन् १५८१ के बीच के है । चौरासी वैष्णवन की वार्ता के अनुसार दिल्ली से आगरा जाते समय सूरदासजी से अकबर मिला था । 'अष्ट सखान की वार्ता' मे लिखा है अकबर को जब सूर से मिलने की इच्छा हुई तब उनकी खोज के लिए, गोवर्धन पर एक दूत भेजा तब पता चला कि सूरदासजी मथुरा गए हैं ।[२] सवत् १६२३ मे विठ्ठलनाथ गोवर्धन से बाहर गए हुए थे । तब उनके पुत्र गिरिधरजी मथुरा में श्रीनाथजी को ले आए, तभी साथ मे सूरदासजी भी आए । तानसेन अकबर के दरबारी गायक थे । उनसे सूरदास का पद सुनकर अकबर ने सूर से मिलना चाहा । अकबर से भेट होने पर सूर ने 'मना तू कर माधव सो प्रीति ।' यह पद गाया । जब अकबर ने अपना यशोगान करने के लिए कहा तब उन्होने 'नाहिन रह्यौ मन मे ठौर ।' यह पद गाया, और उनसे विदा लेकर मन्दिर आ गए । सूरदास का वैराग्य देखकर अकबर पर उसका प्रभाव जरूर पड़ा होगा । अपनी मस्ती मे मगन और भाव विभोर रहने वाले सूरदास को भला देशाधिपति से क्या प्रयोजन हो सकता है ?

सूर और तुलसी-मिलन—

'मूल गुसाँई चरित' मे बतलाया गया है कि सवत् १६१६ में श्री गोकुलनाथजी की प्रेरणा से सूरदासजी तुलसीदासजी से चित्रकूट पर मिले ।[3] प्राचीन-वार्ता-रहस्य मे यह लिखा है कि तुलसीदासजी अपने भाई नददास से मिलने ब्रज मे आये, उस समय परासोली ग्राम मे सूरदासजी से भेट हुई ।[४] सवत् १६१६ मे गोसाँई विठ्ठलनाथजी जगन्नाथ पुरी की यात्रा को गए, साथ मे सूरदासजी थे । रास्ते मे कामतानाथ पर्वत पर सूर ने तुलसी से भेट की ।

अष्टछाप की स्थापना और उसमें सूर का समावेश—

गोस्वामी विठ्ठलनाथ ने जब पुष्टिमार्ग के सम्प्रदाय का आचार्यत्व ग्रहण किया तब संवत् १६०२ मे अपने सम्प्रदाय के सर्वश्रेष्ठ आठ कवि भक्तो की एक अष्टछाप की स्थापना की । इनमे चार वल्लभाचार्य के और चार अपने शिष्य थे । इनका क्रम इस प्रकार है—१. सूरदास, २. कुभनदास, ३. कृष्णदास,

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २१७ ।
२. अष्टछाप (सूरदास की वार्ता) स० डा० धीरेन्द्र वर्मा ।
३. 'मूल गुसाँई चरित', पृ० २९–३० ।
४. प्राचीन वार्ता रहस्य द्वि० भाग, पृ० ३७४ ।

४. परमानंददास, ५. गोविन्दस्वामी, ६. नन्ददास, ७. छीत स्वामी और ८. चतुर्भुजदास। हिन्दी राधाकृष्ण परक काव्य मे 'अष्टछाप' का साहित्य सर्वश्रेष्ठ है, तथा उसमें सूर-साहित्य सर्वोपरि है। अष्टछापी कवियों की कृतियों मे सूर सागर यह कृति सर्वोत्तम है।

सूर का निधन संवत्—

सूर के जन्म सवत् की तरह सूर के निधन संवत् के बारे में कई तरह के मत हैं। उनका निधन संवत् १६२० से १६४२ तक का माना जाता है। शुक्लजी 'साहित्य लहरी' का रचना काल सवत् १६०७ मानकर उससे दो वर्ष पूर्व 'सारावली' का रचना काल मानते है अर्थात् कह सकते है कि संवत् १६०५ में सारावली रची गई होगी। उनके अनुसार मृत्यु समय सूर की आयु ८०–८२ वर्ष की रही होगी।[1]

गोसाँई विठ्ठलनाथजी का स्थायी व्रजवास संवत् १६२८ से गोकुल मे हो गया था। नवनीत प्रिया के दर्शनों के लिये कभी-कभी सूरदासजी भी आया करते थे। सूरदासजी की मृत्यु के समय विठ्ठलनाथजी जीवित थे। विठ्ठलनाथजी का तिरोधान सवत् १६४२ में हुआ। अत· 'परासोली' मे सवत् १६४० के आसपास सूरदासजी का देहावसान मानना समीचीन होगा। डा० दीनदयालु गुप्त इसका समर्थन करते हैं।[2] मीतलजी अपने 'सूर-निर्णय' में इसकी चर्चा करते है जो द्रष्टव्य है उनके अनुमान से भी सवत् १६४० का ही समर्थन हो जाता है।[3] गोसाँई विठ्ठलनाथ नित्य श्रीनाथजी का पूजन, शृङ्गार करते तब सूरदासजी पद गाकर सुनाते। एक दिन कीर्तन न करते हुए देखकर उन्होंने सूर के बारे में पूछताछ की। तब पता चला कि सूरदासजी नश्वर शरीर को छोड़कर नित्य शाश्वत् वृन्दावनधाम जा रहे है। वे उस समय परासोली मे थे। आचार्यजी का स्मरण कर इस आशा से लेट गये थे कि अन्त समय मे श्रीनाथजी के दर्शन होगे। तब वहाँ उपस्थित समस्त भक्तों से विठ्ठलनाथजी ने कहा कि आज 'पुष्टिमार्ग का जहाज' जा रहा है जिसको जो कुछ लेना हो तो लेले। मैं स्वयम् राजभोग आरती आदि करके आ रहा हूँ। गोसाँईजी की आज्ञानुसार भक्त गए। सेवा सम्पन्न कर गोसाँईजी भी आ गए। खबर पूछी। सूरदास ने दडवत किया और 'देखो देखो हरिजू को एक सुभाव।' यह पद गाया। तब गोसाँईजी प्रसन्न हुए। चतुर्भुजदासने पूछा जनम भर

१. सूरदास (तृतीय संस्करण)—आचार्य रामचंद्र शुक्ल, पृ० १२०।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० ७८।
३. सूर निर्णय—पृ० ९९–१०१।

भगवद् यश गान किया है पर महाप्रभु का वर्णन नही किया। इस पर सूर ने दोनो को अभिन्न वतलाया और कहा कि मैंने जो कुछ भगवद् यश गाया है वही आचार्यजी का यशोगान है, मै दोनो मे कोई फर्क नही समझता। पर गुरु स्मरण मात्र से विव्हल होकर सूरदास गा उठे।[१]

भरोसो दृढ़ इन चरनन केरो।
श्री वल्लभ-नख-चंद्र-छटा बिनु सब जग मझँधेरोंझ।
साधन और नहीं या कलि में जासौं होत निबेरो।
सूर कहा कहै दुविध आँधरो बिना मोल को चेरो॥

सूरदासजी ने प्रथम वल्लभाचार्य और वाद मे गुरुपीठ पर आसीन गुसाईं विठ्ठलनाथ के प्रति अत्यन्त ऊँची भावना से अपने इष्टदेव श्रीकृष्णजी की ही तरह पूज्य भाव रखे। यह पद सूर की प्राप्त प्रतियो मे नही मिलता। पर यह प्रसङ्ग अत्यंत महत्व पूर्ण है। सूरदासजी से गुसाईंजी ने पूछा, 'सूरदासजी चित्त की वृत्ति कहाँ है?' तब उन्होनें यह पद गाया—

'बलि बलि हौं कुमरि राधिका नंद सुवन जासो रति मानी।
वे अति चतुर तुम चतुर सिरोमनि प्रीति करी कैसे होत है बानी॥
वे जु धरत मने कनक पीत पट सो तो सब तेरी गति रानी॥
वे पुनि स्याम सहज वे सोभा अम्बर मिस अपने उर आनी।
पुलकित अङ्ग अवहि ह्वै आयौ निरखि देखि निज देह सयानी।
सूर सुजान स्याम के बूझै प्रेम-प्रकाश भयो बिहँसानीं॥

राधा और कृष्ण दो शरीर वाले होने पर भी मन से अभिन्न हैं। राधा मे कृष्ण के स्मरण मात्र से ही सात्विक भाव उत्पन्न हो जाते है। इस समय सूरदासजी का भाव यह है कि वे भी उसी तरह कृष्ण का ध्यान कर पुलकित हो गये हैं जैसे राधिकाजी हो जाती हैं। यह पद भी सूरसागर मे नही मिलता। पर इस भाव को व्यक्त करने वाले अनेक पद हमे मिल जाते है। स्वयम् भगवान् श्रीकृष्ण भी सूर के भाव को देखकर सजल नेत्रयुक्त हो गये थे। गुसाँईजी ने इसे अन्तर्दृष्टि से पहचानकर फिर सूर से पूछा कि उनके नेत्रो की वृत्ति इस समय कहाँ लगी है? तब उन्होने अपना प्रसिद्ध अन्तिम पद गाया—

'खंजन-नैन रूप-रस-माते।'
× × ×
सूरदास अंजन-गुन अटके नतरु कवै उड़ि जाते॥[२]

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० २१०।
२. सूरसागर १०।३२८५।

राधा के मिलनोपरांत प्राप्त सुख के प्रसङ्ग मे यह पद सूरसागर में मिलता है। सूरदासजी अपने इष्टदेव के प्रति राधा के महाभाव से एकाकार होने के लिए चंचल हो उठे थे। इस पद को गाते-गाते उनके प्राण पंछी उड़ गए और सदा प्राप्त होने वाले श्रीकृष्ण लीला-सुख में निमज्जित हो गए। प्रारम्भ में दैन्य, विनय, वैराग्य भाव से संयुक्त, सेव्य सेवक-भाव से उत्पन्न भक्ति उत्तरोत्तर सख्य, वात्सल्य एवम् माधुर्य-भाव की ओर अग्रसर होती गयी। इन भावों की तन्मयता भी अपनी पराकाष्ठा पर पहुँच गई।

सूर के ग्रन्थ—

वार्ता साहित्य में सूर द्वारा रचित ग्रन्थो की संख्या एवम् सूचना प्राप्त नही होती। केवल सहस्रो पद रचे हैं यह उल्लेख या सवा लाख पदों की रचना का सकेत अवश्य मिलता है। काशी नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्ट, इतिहास ग्रन्थ आदि मे सूर द्वारा रचित ग्रन्थो की सख्या २५ तक पहुँच जाती है। वस्तुत ये सब ग्रन्थ प्रायः सूरसागर के ही अग हैं। केवल कुछ टेक के कारण उनको सूरकृत समझ लिया गया। डा० दीनदयालु गुप्त के मतानुसार सूर के केवल तीन प्रामाणिक ग्रन्थ हैं।[1] १. सूरसागर, २. सूर-सारावली, ३. साहित्य-लहरी। वे प्राणप्यारी, नलदमयंती, रामजन्म, हरिवंश टीका और एकादशी महात्म्य, इनमे से प्रथम को संदिग्ध और अन्य को अप्रामाणिक मानते हैं। 'सूर-निर्णय' के विद्वान लेखक मीतलजी सूर की ये सात प्रमाणिक रचनाएँ मानते है[2]—१. सूर-सारावली, २. सूरसागर, ३. सूर साठी, ४. सूरपचीसी, ५. सेवाफल, ६ साहित्य-लहरी और ७. सूर के विनयादि स्फुट पद। कुछ रचनाएँ अप्रमाणिक है तथा दूसरी सूरसागर की ही अग मानी गयी है।

१. सूरसागर—

वार्ता में इस प्रकार लिखा हुआ मिलता है—'सो तब सूरदासजी मनमे विचारे, जो मैं तो सवालाख कीर्तन करिवे को सकल्प कियो है। सो तामें ते लाख कीर्तन प्रकट भये हैं। सो भगवद् इच्छा से पच्चीस हजार कीर्तन और प्रकट करने है।'[3]

सवालाख पद तो आज उपलब्ध नही हैं। 'वार्ता साहित्य' से यह निर्णय

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, भाग १, पृ० २९८।
२. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल, पृ० १०५–१०७।
३: सूरदास की वार्ता—(अग्रवाल प्रेस मथुरा), प्रसङ्ग १०, पृ० ५५।

अवश्य लिया जा सकता है कि सूर ने सवालाख पद रचे थे, पर अब वे काल के गर्भ में विलीन हो गये है। मतलब यह है कि सूर ने अनगिनत पदो की रचना अपने पुष्टि सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के पूर्व, आचार्य वल्लभाचार्यजी के द्वारा पुष्टि सम्प्रदाय मे दीक्षित होने के बाद तथा अष्टछाप मे सम्मिलित हो जाने के बाद तक वे पदो को रचते रहे, गाते रहे। इन पदो का सग्रह 'सूरसागर' कहलाता है। अपने जीवन-काल मे ही इसका किसी न किसी रूप मे सकलन हो गया हो ऐसा सभव है। सूरसागर की हस्तलिखित प्रतियाँ भी उपलब्ध है। नागरी प्रचारिणी सभा की खोज रिपोर्टो मे इनका उल्लेख है। इनके बारे मे विशेष अध्ययन के लिये डा० हरिवशलाल शर्मा कृत 'सूर और उनका साहित्य' द्रष्टव्य है। मुद्रित प्रतियों मे सबसे प्रामाणिक प्रति नागरी प्रचारिणी सभा काशी द्वारा प्रकाशित 'सूरसागर' की है। यह दो भागो मे प्रकाशित हुई है। यह प्रति द्वादश स्कधात्मक है। सूरदास कीर्तनिया थे, इसलिए इन पदो की रचना दैनदिन और सामयिक तथा विशेष उत्सवो और नित्य कार्यक्रमो के अवसरो पर होती गयी। सूरसागर की सग्रहात्मक और स्कंधात्मक ऐसी दो प्रकार की प्रतियाँ मिलती है।

द्वादशस्कधात्मक सूरसागर मे वर्णित विषयो का अत्यन्त सक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है—प्रथम स्कध मे विनय के पद, मगलाचरण, भागवत प्रसङ्ग आदि हैं। द्वितीय स्कध मे नाम-महिमा, शुक नारद-सवाद, चौबीस अवतार वर्णन आदि है। तृतीय स्कंध मे शुकवचन, उद्धव-पश्चाताप, भक्ति माहात्म्य, भक्त महिमा और अन्य पौराणिक प्रसङ्ग है। चतुर्थ स्कध मे दत्तावतार, पार्वती विवाह, ध्रुव कथा, आदि है। पाँचवे मे ऋषभ-अवतार, जड़भरत, रहूगण सवाद है। षष्ठ मे परिक्षित प्रश्न, गुरु महिमा, शुक उत्तर, नहुष अहिल्या कथा आदि हैं। सप्तम स्कध मे नारद जन्म, नृसिहावतार, भगवान् की शिव को सहायता आदि है। अष्टम मे गजमोचन, कूर्म, वामन, मत्स्त, अवतारो की कथाएँ है। नवम् मे रामायण तथा अन्य पौराणिक कथाएँ है। दशम् पूर्वार्ध मे श्रीकृष्ण बाललीला तथा असुरों का वध, कस-वध, गोपीप्रेम प्रसङ्ग, रासलीला, दानलीला, मानलीला, राधा का मान, सयोग तथा विरह वर्णन, ऊधो का व्रज आगमन, भ्रमरगीत, अक्रूर के साथ गमन, ऊधो का प्रत्यागमन आदि बाते विस्तार के साथ है। दशम स्कध उत्तरार्ध मे कालयवन दहन, द्वारका प्रवेश, रुक्मिणी-विवाह, पाण्डव, तथा अन्य कृष्ण जीवन की घटनाएँ, असुरो का वध, अर्जुन को निजरूपदर्शन आदि का विस्तार मे वर्णन है। एकादश स्कध मे नारायण और हसावतार वर्णन है। द्वादश स्कध मे बुद्ध, कल्कि अवतार वर्णन, परिक्षित हरिपद प्राप्ति, जनमेजय कथा परिशिष्ट एक और दो है। कुल पदो की सख्या ४९३६ है। परिशिष्टों मे २०३+२७०=४७३ पद है। इस तरह

कुल पद ५४०६ है। इस तरह द्वादश स्कधात्मक प्रतियो की स्थिति और सकलन संग्रहात्मक प्रतियो के वाद की चीज है।

सूरदास ने अपने सूरसागर मे श्रीमद्भागवत तथा कई पुराणों का आधार लेकर अपने पद रचे है। विशेषत: भागवत पुराण को प्रश्रय दिया है। गोपियों के प्रेम का और गोपालों की प्रेम चर्या का विस्तारपूर्वक वर्णन इसमे है। कृष्ण परम पुरुष हैं इसे सिद्ध किया गया है। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल कहते है[1]—'सूरसागर किसी चली आती हुई गीत काव्य परम्परा का चाहे वह मौखिक ही रही हो—पूर्ण विकास सा प्रतीत होता है। 'सूरदास का एक लम्वा पद है—चौपरिजगत् मडे जुग वीते।' इस पद में वालक के माता के गर्भ से लेकर मृत्यु तक का वर्णन है जो मानव-जीवन के विफलता की कहानी ही है। इस मनोरजक विफलता का कारण भजन का मानव-जीवन में अभाव ही है। यह वाजी हाथ आ सकती है यदि मानव भजन करने लग जाय। सूर के भक्ति सिद्धान्त पुष्टि मार्ग पर आधारित है। इसका सीधा सम्वन्ध आचार्य वल्लभाचार्य के प्रतिपादित प्रपत्ति मार्ग से है। सूर की राधा स्वकीया है। वचपन से ही स्नेह का सहज स्वाभाविक विकास युवावस्था तक कृष्ण और राधा मे होता दिखाया गया है। इसकी अन्तिम परिणति विवाह में हुई है। श्याम ने श्यामा को वचपन में ही देखा था इसलिए उसमे झिझक या सकोच नही है कृष्ण उमसे यह पूछते है—

'तुम्हारो कहा चोरि हम ले है।
खेलन चलो संग मिलि जोरी॥'

उनकी गुप्त प्रीति वचपन से ही प्रकट हुई थी। प्रात. और साझ एक फेरा लगाने के लिए वावा वृषभानु की शपथ कृष्ण ने राधा को दी है। वचपन मे राधाकृष्ण मिलन मे अनूठापन है। भय अथवा आशका नही है। मुरली की चोरी माखन का हिस्सा, आँखो की लड़ाई दिन भर चलती है। कृष्ण के साथ राधिका के वाल भी सँवारकर स्वयम् यशोदा उन दोनो को अपने हाथो भेजती है। सूरकी राधा प्रेममयी है केवल विलासिनी या निपट ग्वालिन नही है। मानिनी अवश्य है पर उसका मान कृष्ण के प्रति अगाध आस्था के आश्वासन पर निर्भर है। कृष्ण के मथुरा चले जाने के वाद राधा अपनी दशा का निवेदन करती है[2]—

आजु रैनि नहीं नींद परी।
जागत गनत गगन के तारे रसना रटत गोविंद हरी॥

---

१. हिन्दी साहित्य का इतिहास—आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, पृ० १६५।
२. सूरसागर १०।३६२२।

वह चितवन वह रथ की बैठनि जब अक्रूर की बाँह गही।
चितवत रही ठगी सी ठाढ़ी कह न सकति कछु काम दही॥
इतने मन व्याकुल भयो सजनी आरज पथहु ते बिडरी।
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे कितिक दूर मथुरा नगरी॥

उद्धव प्रसङ्ग मे सगुण की सुन्दर स्थापना करके गोपियों ने उद्धव की-ऊधो की उपालभ एवम् परिहास के बहाने भौरे की दुर्गति कर डाली है। पर राधा मौन रहती है कुछ भी नही कहती। 'सूर-सागर' में प्रेमिका का, माता का, परस्त्री का, कामिनी का, लडकी का, रानी का तथा स्त्री के मातृरूप का सूर ने अपूर्वता से वर्णन किया है। बाल लीला के जौहरी सूरदास अद्वितीय है। यशोदा और राधा सूर की दो विलक्षण मूर्तियाँ है। एक माता है और दूसरी प्रेमिका। एक मे वात्सल्य और दूसरी मे प्रेम का अथ से इति तक सर्वस्व निहित है। डा० हजारी-प्रसाद द्विवेदीजी का यह कहना ठीक ही है कि, 'सूरसागरका केन्द्रीय वक्तव्य' 'छबीले मुरली नेकु बजाऊ', है।[1] सूर ने लौकिक कृष्ण की अलौकिक रूप छटा तथा महिमा वर्णन की है। इसका कारण—सूर जैसे साधक का अत्यन्त ऊँचे स्तर पर रह कर एक अलौकिक मन:स्थिति से भावनाओ के क्षेत्र मे विचरण करना ही है। सूर ने कृष्ण की उपासना उन्हे सब कुछ मानकर की है। ब्रज भूमि के गोपाल गोपी-वल्लभ कृष्ण है। सूर के सयोग और वियोग पक्ष मे कृष्ण उपास्य है उनकी लीलाओंका यशोगान वे सदा करते रहे है। सूरसागर केवल काव्य नही वह तो धार्मिक काव्य है। राधा और कृष्ण आत्मा और परमात्मा है यह जब मानकर सूरसागर मे अवगाहन करेगे तो उसमे डुबकियाँ लगा सकेगे अन्यथा नही। उसकी तन्मयता, सङ्गीत की माधुरी, भावो की मिठास आदि सब रत्न इकट्ठे हाथ लग जायेगे। रस-विशेष की प्रतीति और अनुभूति काव्य का लक्ष्य होती है। सूर इसमे सफल हुए है। सूर की कला उदात्त मानसिक भूमि पर खड़ी है। अपने परम रहस्यमयी सत्ता के परम उपास्य कृष्ण की आराधना करने के लिए सूर की एक ही प्रतिज्ञा है[2]—

'अविगति गति कछु कहत न आवे।
× × ×
सब विधि अगम विचारहिं ताते सूर सगुन लीला पद गावे॥'

आचार्य नन्ददुलारेजी वाजपेयी के शब्दो मे यह कहना ठीक ही है कि, 'सूरदासजी अविज्ञात निर्गुण के समकक्ष विज्ञात सगुण कृष्ण के रहस्यमय पद

---

१. सूर साहित्य—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२९।
२. सूरसागर ६।६१७।

सुनाते है,[1] 'सम्पूर्ण भागवती भक्ति का यह बेजोड़ आधारस्तंभ अद्वितीय एवम् अनुपम है। क्योंकि प्रेमी और प्रिय, भक्त और भगवान्, उपास्य और उपासक की अनन्यता अन्यत्र अत्यंत दुर्लभ है जो केवल सूर की साधना में दृष्टि गोचर हो सकती है।

(२) **सूर सारावली**—इसे सूरसागर की भूमिका भी माना जाता है। पर वास्तव रूप मे ऐसा नही है। इसमे कुल ११०७ पद है। ससार को होली के खेल का रूपक मानकर लीला पुरुष की अद्भुत लीलाये निरन्तर चलती है, उनका वर्णन इसमे किया गया है। सूर इसमे एक जगह अन्त मे कहते है, कि हरि लीला सर्वोपरि है।[2]

करम-जोग पुनि ज्ञान-उपासन सब ही भ्रम भरमायौ ॥
श्री वल्लभ गुरुतत्व सुनायो, लीला भेद बतायो ॥
ता दिन ते हरि लीला गाई, एक लक्ष पद बन्द ॥
ताकौ सार 'सूर-सारावलि', गावत अति विस्तार ॥

इसकी रचना सवत् १६०२ मे हुई है। भाषा, कथावस्तु, शैली तथा रचना की दृष्टि से स्वतन्त्र रूप मे सूर की प्रामाणिक रचना है। पुरुषोत्तम सहस्रनाम 'सारावली' का आधार है। होरी खेल की कल्पना सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत करती है। सारावली मे साधारणतया वैष्णव भक्ति और विशेपतया पुष्टि-सम्प्रदायी सेवा-भावना का समर्थन किया है। इस सेवा-भावनाका सुन्दर और क्रमबद्ध विवेचन सूर-सारावली मे किया गया है। पुष्टिमार्गीय सेवा मे नित्योत्सव और वर्षोत्सव की भावनाओ का समावेश होता है। सारावली में दोनो का आयोजन किया गया है। ये सव लीलाएँ रसात्मक ब्रह्म की होने से 'सरस' होती है। अतः नित्य लीला और वर्पोत्सव लीला का विवेचन सरसता से इसमे किया गया है। दोनो मिलाकर सवत्सर की सरस लीलाओ का व्यवस्थित वर्णन है। इसके गायन से गर्भ रूप वदी खाने में आने की आवश्यकता नही रहती। देखिये[3]—

सरस संवत्सर लीला गावै, जुगल चरन लावे।
गरभ-वास बन्दी खाने में 'सूर' बहुरि नहि आवै ॥

(३) **साहित्य लहरी**—इसमे दृष्टिकूट जैसे पदों का संग्रह है। रस, अलकार और नायिका भेद जैसी शैली से यह सबद्ध है। इसकी कोई प्राचीन हस्तलिखित

---

१. महाकवि सूरदास—आचार्य नन्ददुलारे वाजपेयी, पृ० १५६।
२. सूर सारावली–पृ० ११०२–३।
३. सूर सारावली–पद ११०७, पृ० ८८, संपादक प्रभुदयाल मीतल।

प्रति नही मिलती। इसकी सटीक सस्करण प्रतियाँ कई निकली है। कुछ लोग इसे स्वतन्त्र रचना मानते है, तो कुछ सूरसागर मे ही आये हुए दृष्टिकूट पदो का संग्रह मानते हैं। कहा जाता है कि सूरदास ने इसे नन्ददास के लिए लिखा था। अपनी ६७ वर्ष की आयु मे सूर ने इसे लिखा था। इसमे कुल ११८ पद हैं। साहित्य-लहरी का यह पद देखिये[1]—

मुनि पुनि रसन के रस लेख।
दसन गौरी नंद कैं लिखि सुवल संवत पेख॥
नंद नंदनदास छैते बाल सुख आगार॥
त्रितिय रीछ सुकर्म जोग विचारी 'सूर' नवीन।
नन्द-नन्दनदास हित साहित्य-लहरी कीन॥

नदनदनदास का अर्थ कृष्ण भक्त लिया जाना चाहिये। जिससे कृष्ण लीला के साहित्य पक्ष को सिद्ध करने के लिए साहित्य-लहरी की रचना की गई है। सूरदासजी आरम्भ से ही साहित्यिक प्रवृत्ति के थे। पुष्टि मार्गीय भक्ति मे भगवान् श्रीकृष्ण का स्वरूप आनन्द रसरूप है और भागवत के मतानुसार उन्होने काव्य शास्त्रोक्त प्रकारो से ही लीला की। जिस तरह सारावली की रचना दार्शनिक तथ्यो को स्पष्ट करने के लिए की है, उसी तरह साकेतिक कृष्ण लीला के साहित्यिक पक्ष को स्पष्ट करने के लिए 'साहित्य-लहरी' को रचा। डा० मुन्शीराम के मत से नन्द-नन्दनदास का अर्थ नदनदास है और इसे सूरदासजी ने नददास को भक्तिमार्ग मे प्रवृत्त करने के लिए तथा उनकी उद्दाम वासना श्रीकृष्णार्पण करने के हेतु 'साहित्य-लहरी' रची।[2] इसकी रचना विभिन्न मतो के अनुसार सवत् १६०७, १६१७ या सवत् १६२७ बतलाई जाती है। इस विषय मे 'सूर निर्णय' यह पुस्तक विशेष द्रष्टव्य है।

साहित्य-लहरी के पद मे उसकी समाप्ति के दिन वैशाख की अक्षय तृतीया, रविवार, कृत्तिका नक्षत्र और सुकर्म योग लिखा है। यह दिन गणित करने से सवत् १६१७ मे ही आता है। अतः संवत् १६१७ 'साहित्य-लहरी' का रचनाकाल मानना उचित होगा।[3] टीकाकारो का सरल अर्थ इस प्रकार है—सवत् १६०७ वैशाख मास, अक्षय तृतीया तिथि रविवार को कृत्तिका नक्षत्र मे सुकर्म योग विचार कर सूरदास ने कृष्ण भक्तो के लिए 'साहित्य-लहरी' बनाई।[4] सबसे पुरानी टीका सरदार कवि की है।

---

१. साहित्य लहरी–पद ११३, पृ० १६१, डा० मनमोहन गौतम।
२. सूर सौरभ भाग १—डा० मुन्शीराम 'सोम'।
३. सम्मेलन पत्रिका, पौष २००६।
४. साहित्य लहरी—डा० मनमोहन गौतम, पृ० १२–१३।

सूर साहित्य में सूरदासजी के नाम—

सूर के पदों में सूर, सूरदास, सूरज, सूरजदास, और सूरश्याम ये पाँच नाम आते हैं। डा० मुन्शीराम शर्मा ने सूर के इन सभी नामो को प्रामाणिक स्वीकार किया है।[1] मीतलजी 'अष्ट सखामृत' के आधार पर 'सूरजदास' मानते हैं।[2] वार्ता साहित्य उनको 'सूर' और 'सूरदास' मानता है। यह नाम जन्मान्धत्व का परिचायक भी है। नामों की विविधता से सूर के साहित्य को प्रामाणिक रूप से जानने में कठिनाई उपस्थित हो जाती है। साहित्य लहरी के पदो की अन्तिम पंक्ति में 'सूर', 'सूरजश्याम', 'सूरज', 'सूरजदास', 'सूर प्रभु' की छाप मिलती है। सूर सागर के विभिन्न पदो मे ये सभी नाम छाप के रूप में मिलते हैं। सारावली मे भी 'सूरश्याम' को छोड़कर, अन्य सभी नाम उपलब्ध हो जाते है। मीतलजी ने सूर सारावली की भूमिका मे इसे सिद्ध कर दिया है कि ये सभी नाम अष्टछापी सूर के ही हैं।[3] वैसे इस विषय में डा० मुन्शीराम का विस्तृत विवेचन भी द्रष्टव्य है जो इन नामों की प्रामाणिकता को पुष्ट करता है।[4]

अष्टछाप के अन्य वैष्णव कवि

१. परमानंददास :

सूरदास के वारे में इतना सामान्य परिचय कर लेने के पश्चात् यह परमावश्यक हो जाता है कि अष्टछाप के अन्य सन्त कविगणो के वारे मे भी कुछ विवेचन किया जाय। 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' के अनुसार परमानन्ददास का जन्म कन्नोज जि० फरुखावाद में हुआ। वार्ता के अतिरिक्त अन्यत्र उनके वारे मे कहीं भी कोई वृत्तांत हमे उपलब्ध नही होता। एक वैठक वल्लभाचार्य की अव तक यहाँ मिलती है। परमानन्ददास का जन्म एक निर्धन कान्य कुब्ज के घर मे हुआ था। इनके माता-पिता का नाम ज्ञात नही होता। कवि के माता-पिता निर्धन थे। जव एक सेठ ने उन्हे वहुत द्रव्य दान मे दिया, तव परमानंद पैदा हुए। वचपन वड़े सुखपूर्वक व्यतीत हुआ। वड़ी धूप धाम से यज्ञोपवीत आदि हुआ। अकाल पड़ने पर सारा द्रव्य लुटेरो ने लूट लिया। तव अपने वेटे का विवाह भी वे नही कर पाये। उसके पहले ही धन लूटा गया। इस पर उन्होने दुख प्रकट किया।

---

१. सूर सौरभ भाग ३—डा० मुन्शीराम शर्मा 'सोम', पृ० ५०।
२. सूर निर्णय—प्रभुदयाल मीतल।
३. सूर सारावली—भूमिका—प्रभुदयाल मीतल, पृ० २५–३०।
४. भारतीय साधना और सूर साहित्य—डा० मुन्शीराम शर्मा।

परमानददास वचपन से ही वैराग्य प्रवृत्ति के थे। अतः विवाह और द्रव्य-सचय के प्रति उन्होने अस्वीकृति प्रकट कर दी। पर पिता को धन की लालसा थी। अतः वे प्रथम पूर्व मे गये, किन्तु परमानददास कन्नोज में ही रहे। जव धन वहाँ न मिला तो वे दक्षिण मे गए। वल्लभ सप्रदायी कीर्तन करने वालो के समाज मे परमानन्ददास 'स्वामी' कहलाते थे। इन्होने अपना विवाह नही किया। अतः गृहस्थी के वन्धन से भी विरक्त और मुक्त रहे। कन्नोज मे ही इनकी शिक्षा आदि हुई थी। वचपन से ही कविता करने गाने वजाने का शौक था। अतः वल्लभ-सम्प्रदाय मे आने के पूर्व ही ये एक योग्य कवि, गायक और कीर्तनिया इस रूप मे मशहूर हो गए थे। ये एक वार मकर स्नान के अवसर हर प्रयाग गये। वल्लभाचार्य निकट ही अडैल मे रहते थे। अडैल मे इनके कीर्तनो की प्रसिद्धि पहुँची। लोग भी वहाँ गये। एकादशी की सम्पूर्ण रात्रि मे कीर्तन करने पर स्वप्न मे प्रेरणा पाकर वे अडैल चले आए। आचार्य ने भगवद् लीला गान करने को कहा तव परमानन्ददास ने विरह के पद गाये। वाल-लीला वर्णन करने के लिए कहा तो अपना अज्ञान वतलाया। तव आचार्य ने परमानन्ददास को स्नान कराकर शरण मे लिया और लीला के दर्शन करवाये। इस प्रकार सम्प्रदाय मे आने पर अड़ैल मे नवनीत प्रियाजी के सामने कीर्तन करते रहे। यह वात लगभग सवत् १५७६ की है। फिर उन्ही के साथ व्रज गए। रास्ते मे कन्नोज मे वे सवको अपने घर ले गये और सवका अतिथि सत्कार किया। एक विरह का पद गाया जिससे आचार्य तीन दिन ध्यानावस्थित रहे। वह पद इस प्रकार है[1]—

> **हरि तेरी लीला की सुधि आवे।**
> **कमल नैन मन मोहनी मूरति मन-मन चित्र बनावै।**
> **एक वार जाहि मिलन मया करि सौ कैसे विसरावै।**
> **मुख मुसकानि वक अवलोकनि चाल मनोहर भावै।**
> **कबहुँक निबड़ तिमर आलिंगित कवहुँक विक सर गावै।**
> **कवहुँक संभ्रम क्वासि-क्वासि कहि संग ही न उठि धावै।**
> **कवहुँक नैन मूंदि अन्तरगति मनिमाला पहिरावै।**
> **परमानन्द प्रभु स्याम ध्यान धरि करि ऐसे विरह गमावै।**

चौथे दिन सावधान हो जाने पर दूसरा पद गाया[2]—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय–भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २२३।
२. ,, ,, ,,

विमल जस वृन्दावन के चन्द को।
कहा प्रकास सोम सूरज को सो मेरे गोविंद को।
कहत जसोदा सखियन आगे वैभव आनँदकंद को।
खेलत फिरत गोप वालक सँग ठाकुर परमानंद को।

अपने शिष्यो को भी उन्होने आचार्य को सौप दिया। सभी उनकी शरण मे आ गए। स्वामीपना जाकर वे परमानन्ददास वन गए। आचार्य के साथ गोकुल गए। वाललीला के पद वनाए तथा वाद में उन्ही के साथ गोवर्द्धन गए और गोवर्धननाथ के दर्शन किए। इसी मन्दिर में अनेक पद गाये। वही पर उनको कीर्तन सेवा मिली जिसको अन्त तक वे निभाते रहे। इनके सखा भाव के पदों में उच्छृङ्खलता नही है। उच्च कोटी के कीर्तनकार होने से अन्य अष्टछाप कवियों में इनका वड़ा मान था, तथा ये प्रभावशाली कीर्तन-काव्य और कीर्तन भक्ति करते थे। गोस्वामीजी अष्ट सखाओ मे सूर और परमानन्ददास को सर्वश्रेष्ठ मानते थे। इन दोनों को उन्होने सागर कहा है। कृष्ण की सपूर्ण लीलाओ का मार्मिक शव्दो मे दोनो ने गान किया है। अन्त समय मे उनका मन युगल-लीला मे लगा था। गोस्वामीजी के पूछने पर उन्होने गाया[1]—

राधे वैठी तिलक सँभारति।

इनकी मृत्यु सुरभिकुड पर हुई। यह स्थान उनके नाम से प्रसिद्ध है। ये वल्लभाचार्य से १५ वर्ष छोटे थे। अत. इनका जन्म सवत् १५५० आता है। उन्होने विठ्ठलनाथ के सातों वालको की प्रशंसा की है। अनुमानतः स० १६४० में इनकी मृत्यु हुई।

२. कुम्भनदास :

इनका जन्म जमुनावती गाँव में गोरखा क्षत्रिय कुल में हुआ था। परासौली चन्द्र सरोवर के पास इनके पूर्वजो के खेत थे। जमुनावतो मे रहकर वे यहाँ की खेती कराते थे। श्रीनाथजी के मन्दिर मे समय-समय पर कीर्तन करने के लिए सेवा पर जाते थे। जिस समय गोवर्धन पर्वत पर श्रीनाथजी के मुखारविंद का प्राकट्य हुआ तव ये दस वर्प के थे। यह प्राकट्य सं० १५३५ वैसाख सुदी १३ को हुआ। अतः हिसाव से इनका जन्म सवत् १५२५ ठहरता है। सवत् १५४९ में वल्लभाचार्य ने श्रीनाथजी के छोटे मन्दिर मे पाठ वैठाया उसी समय ये अपनी स्त्री सहित इनके शरण में आए। कुम्भनदास ने गोस्वामी विठ्ठलनाथ के सातों वालको की वधाई गाई है। तथा सं० १६१५ मे प्रथम सांप्रदायिक छप्पन भोग का उत्सव किया तव

1. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १, पृ० ३३८, डा० दीनदयालु गुप्त।

अष्टछापी भक्त जीवित थे ऐसा विश्वास है। आठो कवियो के छप्पन भोगो के पद भी गाये जाते है। गोस्वामी विठ्ठलनाथ के साथ ये गुजरात यात्रा मे भी गये थे। श्रीनाथजी के विरहका वर्णन कुम्भनदासने किया है। यह घटना स० १६३१ की है। वे सवत् १६३९ के लगभग गोलोकवासी हुए। अकवर ने फतहपुर सीकरी का राज भवन और नगर वनवाया। यही उसकी राजधानी सन् १५८० से सन १५८७ तक रही। अकवर ने कुम्भनदास को सन् १५७० से १५८५ तक किसी समय मे वुलवाया। उसकी उदार सहिष्णु मनोवृत्ति यही पर रमी थी इसीलिए धार्मिक प्रवृत्तियो पर वहसे यहीं पर हुई थी। इसी अवसर पर कुम्भनदासकी भक्तिकी प्रशसा सुनकर उनको दरवार मे वुलाया तव उनको हठात् जाना पडा। वे पैदल ही गए। वहाँ सीधे-साधे फटेहाल वेश मे जा पहुँचे। देशाधिपति को देखकर उनको वड़ा दुख हुआ। अकवर ने गाने के लिए कहा तव यह पद गाया[1]—

सन्तन को कहा सीकरी सों काम।
आवत जात पनहिया टूटी विसरि गयौ हरिनाम।
जाको मुख देखै डर लागत ताको करन परी परनाम।
कुम्भनदास लाल गिरधर विन यह सव झूठो धाम।

अकवर के पूछने पर इन्होंने कहा कि मुझे फिर कभी मत वुलाना। इसी तरह राजा मानसिंह भी इनकी त्यागी प्रवृत्ति देखकर वड़े प्रभावित हुए थे। राजा मानसिह से उनकी भेट सवत् १५७६ मे हुई थी। इसी समय श्रीनाथजी का पाटोत्सव हुआ था। तव उन्होने यह पद गाया[2]—

रूप देखि पल लागै नाहीं।
गोवर्द्धनधर के अङ्ग-अङ्ग प्रति निरखि नैन मन रहत तहीं।
कहा कहौं कछु कहत न आवै, चित्त चोखो माँगि पे वैसे ही॥
कुम्भनदास प्रभु के मिलन की सुन्दर वात सखियन कही॥

मानसिंह ने इनको कुछ देना चाहा। पर इन्होंने सव वापस फेर दिया। एक वार उनके अन्य भक्त सखाओ ने उनसे पूछा आपने युगल-स्वरूप का कीर्तन तो वहुत किया है पर स्वामिनीजी के कीर्तन हमने आपसे नही सुने। तव एक पद गाकर उन्होंने सुनाया।

कुंवरि राधिके तुव सकल सौभाग्य सीमा।
या वदन पर कोटि सत चन्द्र वारि डारौं।'

---

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १, डा०—दीनदयालु गुप्त, पृ० २३६।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २३७।

स्वामी हरिदास और हित-हरिवंश ने उनका पद सुनकर भूरी-भूरी प्रशंसा की। इनका काव्य उत्कृष्ट कोटि का था यह तो सिद्ध होता है। कुम्भनदासजी को विठ्ठलनाथ के साथ गुजरात और द्वारिका जाना पडा। प्रथम दिन अप्सरा कुंड पर ठहरना पड़ा। श्रीनाथजी मे इनकी वड़ी आसक्ति थी। उस विरह में दुखी होकर उनकी आँखो से अश्रुधारा उमड पडी और वे गा उठे[1]—

किते दिन ह्वै जु गए बिनु देखे।
तरुन किसोर रसिक नँदनंदन कछुक उठति मुख देखे।
वह सोभा वह कान्ति बदन की कोटिक चन्द विसेषे।
वह चितवनि वह हास मनोहर वह नटवर वपु वेषे।
स्याम सुन्दर सङ्ग मिलि खेलन की आवत जीय उपेषे।
कुम्भनदास लाल गिरिधर बिन जीवन जनम अलेषे।

यह दशा देखकर गोस्वामीजी ने कहा इस दशा से तुम परदेश नही चल सकोगे। जाओ, गोवर्धननाथजी के दर्शन करो। वे वड़े प्रसन्न हुए और श्रीनाथजी के दर्शन कर गा उठे[2]—

जो पै चोप मिलन की होय।
तो क्यों रहै ताहि बिनु देखे, लाख करे किन कोय।
जो यह विरह परस्पर व्यापै तो कुछ जीय बनै।
लोक लाज कुल की मर्यादा एकौ चित न गनै।
कुम्भनदास प्रभु जाय तन लागी और न कछु सहाय।
गिरधरलाल तोहि बिनु देखे छिन-छिन कलप बिहाय।

उनके त्याग की और विनम्रता की भूरि-भूरि प्रशंसा गोस्वामीजी किया करते थे। कुभनदासजी सादे जीवन और उच्च विचार को अपनाये हुए थे। कभी भी द्रव्य प्राप्ति के विचार से भगवद् आश्रय को उन्होने नही छोड़ा। देह अशक्त हो जाने से एकवार आन्यौरके पास सकर्षण कुण्ड पर जा वैठे। पुत्र चतुर्भुजदास उनको गोदमे उठाकर जमुनावतो ले जाना चाहते थे। तव कुभनदास ने कहा अव तो दो चार घड़ी मे देह छूटेगी। गोस्वामीजी उनके पास पहुँचकर उनसे पूछने लगे, 'तुम्हारा मन किस लीला मे लगा है। वे गा उठे[3]—

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय—डा० दीनदयाल गुप्त, पृ० २३९।
२. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २३९।
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—दीनदयालु गुप्त, पृ० २४२

लाल तेरी चितवन चितहि चुरावै ।
नन्दग्राम वृषयान पुरा बिच मारग चलन न पावै ।
हौं मरिहौं डरिहौं नहि काहू ललिता दृगन चलावै ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धन धरे धर्‌यो सो क्यों न दतावै ।

फिर पूछा अन्त करण कहाँ रमा है तव उन्होंने गाया[1]—

रसिकनी रसमें रहत गड़ी ।
कनक बेलि वृषभानु नन्दिनी स्याम नमाल चढ़ी ।
विहरत श्री गिरधरनलाल संग को ने पाठ चढ़ी ।
कुम्भनदास प्रभु गोवर्धनवर रति रस केलि वढ़ी ।

यह कहकर अपनी देह छोड दी । युगल स्वरूप का ही वर्णन अन्त समय में किया और उसी के ध्यान मे प्राण समर्पण किये । चतुर्भुजदास ने उनका क्रिया-कर्म किया । उनका गो-लोकवास डा० दीनदयालु गुप्त के मतानुसार सवत् १६३६ के लगभग हुआ । अष्ट सखाओ मे कुम्भनदास वहुत वडी उम्र पाये थे । वे ११३ वर्ष की आयु पाकर गोलोकवासी हुए । उनके निधन पर रामदास चौहान कह उठे—'जो ऐसे भवदीय अन्तर्धान भये, अव भूमि मे भक्तन को तिरोधान भयो ।'

३. कृष्णदास अधिकारी :

ये शूद्र थे, पर अपनी योग्यता के वल पर श्रीनाथजी के मन्दिर मे अधिकारी नियुक्त हुए थे । गुरु और सम्प्रदाय की रक्षा के लिए वे अच्छा वुरा सव करने को प्रस्तुत थे । उनकी भक्ति का वाह्यरूप अनेक प्रकार से अवांछित और विसदृश रूपो मे सामने आया है । इनका जन्म गुजरात मे राजनगर (अहमदावाद) राज्य के एक चिलोतरा नामक गाँव मे हुआ । ये कुनवी जाति के शूद्र थे । इनका जन्म संवत् १५५२ के लगभग अनुमाना गया है । विठ्ठलनाथ के सात पुत्रों की वधाईयाँ वनाई है । इनका निधन एक कुएँ मे गिरकर हुआ तथा निधन स० १६३१ से सवत् १६३८ के वीच मे हुआ । वचपन मे अपने पिता को राजा के सामने उनका अपराध प्रकट करके उनके मुखियापद से उनको हटवाया । वे वडे व्यवहार कशल जीव थे । वचपन मे पिता ने उनको घर से निकाल दिया । तव ये तीर्थाटन करते रहे और वाद मे वल्लभाचार्य के शरण मे आये । उन्होने विवाह नही किया । व्यवहार कुशलता देखकर वल्लभाचार्य ने उनको मन्दिर का अधिकारी वनाया । गोवर्धननाथ के दर्शन से उनका मन भगवान् के स्वरूप मे जा लगा । वल्लभाचार्यजी ने उनको रुद्रकुण्ड पर स्नान करने के वाद नाम दिया । पहले वे

१. अष्टछाप और वल्लभ सम्प्रदाय भाग–१—दीन दयाल गुप्त, पृ० २४२ ।

भेंटिया नियुक्त हुए और बाद में मन्दिर के अधिकारी होकर कार्य बड़ी योग्यता से सपन्न किए। सूरदास जैसे परम भक्तों के संपर्क में गान और काव्य कलाएँ इन्होंने सीख लीं। इनका शासन कड़ा था। बङ्गाली सेवकों को इन्होंने बड़ी क्रूर निर्दयता से निकलवाया। स्वयम् विठ्ठलनाथजी को भी इन्होंने ड्योढ़ी पर आना बंद करवाया था। सूरदासजी को परासोली जाना पड़ा था। श्रीनाथजी भी सशंक रहते थे। राधाकृष्ण के प्रेम को लेकर शृङ्गार रस के पद लिखे हैं—देखिये[1]—

कंचन मनि मरकत रस ओपी।
नंद सुवन के संगम सुखकर अधिक विराजत गोपी।
मनहुँ विधाता गिरधर पिय हित सुरत-धुजा सुखरोपी।
वदनकांति कै सुनुरी भामिनी। सघनचंद श्री लोपी॥
प्राननाथ के चित चोरन को भौंह भुजंगन कोपी।
कृष्णदास स्वामी बस कीन्हे, प्रेम पुन्ज की चोपी।

अधिकार के कारण कुछ अहंकार प्रवृत्ति भी उनमें जगी थी। एक नर्तकी का इन्होंने उद्धार किया। सांप्रदायिक दृष्टि से यह कार्य परोपकार पूर्ण था पर लौकिक दृष्टि से इन्द्रिय-लोलुपता पूर्ण ही माना गया है। बीरबल ने इनको कैद कर रखा था। विठ्ठलनाथ ने कृपा कर उनको छुड़वाया और पुनः अधिकार सौंप दिया। एक क्षत्राणी गङ्गाबाई इनकी मित्र थी। इसी बात को लेकर उनके चरित्र पर सन्देह प्रकट किया जाता है। अन्तकाल की एक घटना है। किसी वैष्णव ने ३०७ रुपये श्रीनाथजी का कुआँ बनवाने के लिये इनको दिये थे। इसमें से सौ रुपये छिपाकर दो सौ में कुआँ बनवाया, वहीं उनका पैर फिसल गया और कुएँ मे गिरकर मर गए और प्रेत योनि को प्राप्त हुए। गोपीनाथ-ग्वाल से प्रेत रूप में उन्होने बतलाया कि अमुक स्थान पर सौ रुपये गड़े है। अधूरा कुआँ बनवा दीजिए तो मेरी प्रेत-योनि छूट जायगी। इनकी अन्तिम पद यह गाथा—

मोमन गिरधर छबि पै अटक्यो।
ललित त्रिभंग-चाल पै चलिकै चिबुक चारु गड़ि ठटक्यो॥
सजल स्याम-घन बरन लीन ह्वै फिरिचित अनत न भटक्यो।
कृष्णदास किए प्रान निछावर यह तन जग सिर पटक्यो।

इनकी कविता साधारण कोटि की है।

४. नन्ददास :

गोस्वामी विठ्ठलनाथ के शिष्यों में से ये सब से प्रमुख हैं। सूर के

समकालीन हैं। तुलसीदास के भाई भी बतलाए गए है। शुक्ल आस्पद वाले सनाढ्य ब्राह्मण कुल मे पैदा हुए। तुलसीदास उनके सगे भाई थे या चचेरे यह बात वार्ता मे स्पष्ट नही हो पाई है। इनका अध्ययन गभीर था, तथा विद्वत्ता के लिए इनका बडा मान था। सस्कृत के अच्छे विद्वान थे और इनको हिन्दी भाषा से बड़ा प्रेम था। सर्व साधारण की आवश्यकताओ को सामने रखकर भाषा मे भागवत के सम्पूर्ण दशम स्कध का अनुवाद किया। इन्होने और भी कई पुस्तके लिखी है। रास-पंचाध्यायी, रूप-मजरी, रस-मजरी अनेकार्थ-मजरी, विरह-मंजरी, मान-मजरी, नाममाला, स्यामसगाई, सुदामा चरित, भँवर-गीत आदि। प्रसिद्ध पुस्तके दो ही है। (१) रासपचाध्यायी और (२) भँवर-गीत। कही भी इन्होने अपनी रचना का रचनाकाल नही दिया है। मथुरा जाते समय एक खत्री साहूकार दपति का साथ पड़ गया। क्षत्राणी वडी रूपवती थी। उस पर मोहित होकर वे बार-बार उसको देखते रहे। उसके विरह मे नाविक के द्वारा इनको पार न उतारने पर इन्होने जमुना स्तुति की। वह खत्री विठ्ठलनाथ का शिष्य था।

जीवन की यह लौकिक घटना थी। पर वियोगजन्य अनुभूति ने इनके कवित्व शक्ति को जगा दिया। रूपवती क्षत्राणी के दर्शन मे सौन्दर्य को देखा। प्रेम की भावना को आँका। वासना को तोला। विरहातुरता को समझा। सम्मिलन की सुखद कल्पना की। अन्त मे ससार मे लिप्त मनुष्य के हृदय की विफलता को भी समझा। रास पचाध्यायी इसीलिये सजीव हो गई है। निरुपाय नददास को विट्ठलनाथ ने बुला लिया। उनके दर्शन से ही नंददास का मन सासारिकता से छूटकर भगवान कृष्ण के चरणो मे जा लगा। गुरु वंदना और बालकृष्ण के पद गाने लगे। 'रहौ सदा चरनन के आगे।' यह इन की कामना है। बीच मे मन गृहस्थी मे रमा था पर फिर वे वापस लौट आए।

ये अपनी आँखो के सामने कृष्ण की लावण्यमयी मूर्ति को रास मे थिरकते हुए देखा करते थे—

मोहन पिय की मुसकनि, ढलकनि मोर मुकुट की।
सदा बसौ मन मेरे, फरकनि पियरे पटकी।

—रास पंचाध्यायी।

नन्ददास सहृदय, सौन्दर्य प्रेमी और रसिक व्यक्ति थे। दृढ चरित्र वाले, चपल और धर्म-भीरु थे। सूरदास ने साहित्य लहरी' को नददास का मन एकाग्र करने की दृष्टि से रचा था। नददास की शरणागति सवत् १६१६ के लगभग हुई थी। इनका जन्म संवत् १५९० के लगभग माना गया है। २५२ वैष्णवन की वार्ता के अनुसार अकबर वादशाह के समक्ष नन्ददास की मृत्यु हुई। नन्ददास की

मृत्यु का समय सवत् १६३६ अनुमानत. हो सकता है । अकवर जव गोवर्द्धन पर्वत पर गया था तव वीरवल के माथ अकवर ने नददास से भेट की है । इनकी कविता के वारे मे प्रसिद्ध है नन्ददाम जडिया । और कवि गढिया ।' इनका 'देखो-देखो री नागर नट निर्तत कालिन्दी तट ।' यह पद तानसेन से सुनकर नन्ददास एक भक्त थे, यह अकवर ने समझा था ।

५. चतुर्भुजदास :

ये कुम्भनदास के सुपुत्र थे और गोरखा क्षत्री थे । अपने पिता के ये सवसे छोटे और सातवे पुत्र थे । प्रथम विवाह के कुछ ही दिन उपरान्त इनकी पत्नी मर गई । तव दूसरा विवाह एक विधवा स्त्री से हुआ । अपने पिता की तरह गृहस्थ होने पर इन्हे गृहस्थी का मोह नही था । सदैव श्रीनाथजी की कीर्तन-सेवा मे ही रहते थे । कुभनदासजी ने अपने वालक चतुर्भुजदास को विठ्ठलनाथजी के पास ले जाकर कहा—महाराज कृपा करके इसे नाम सुनाइये । तव यह सुनकर वालक चतुर्भुजदास हँसे । उसी दिन राज-भोग के समय गुसाँईजी ने उसे अपने शरण मे लिया । इनकी शिक्षा पिता कुम्भनदास तथा विठ्ठलनाथजी की देखरेख मे हुई । ये श्रीनाथजी के समक्ष कीर्तन किया करते । इनके पद वाल-लीला, विनय और विरह के भावो को लेकर वनाये गये है । इनकी जन्मतिथि और शरणागति का सवत् १५९७ है । इसका गोलोकवास सवत् १६४२ मे हुआ । इनकी पहली कविता का एक चरण कुम्भनदासजी ने इस प्रकार वनाया—

वह देखो बरत झरोकन दीपक हरि पौढेऊँची चित्रसारी ।

दूसरा चरण चतुर्भुज ने बनाकर प्रस्तुत किया ।

सुन्दर वदन निहारन कारन राखे है बहुत जतन कर प्यारी ।

अष्टसखान की वार्ता के अनुसार जव श्री विठ्ठलनाथजी ने, श्री गिरिराज की कन्दरा मे प्रवेश किया और नित्य लीला मे सम्मिलित हुए । उस समय चतुर्भुजदास अपने गाँव से इस समाचार को सुनकर गिरिराज पर आये और कन्दरा के आगे गिरकर विलाप करने लगे । कहने लगे महाराज पधारते समय मुझे आपके दर्शन भी नही हुए । मैं अब इस पृथ्वी पर किसको देखूँगा । मुझे अव जीवित मत रखो । विरह मे ये दो पद गाये[1]—

१. फिर ब्रज वसहु श्री विठ्ठलेश ।

तथा

२. विठ्ठल सो प्रभु भये न ह्वै हैं ।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २६५ ।

इस प्रकार विरह के कीर्तन करते-करते चतुर्भुजदास ने भी अपनी देह छोड दी।

६. गोविन्द स्वामी :

इनका जन्म ऑतरी-ग्राम मे हुआ। जीवन की किसी विपम परिस्थिति से ठेस पाकर तथा साधु महात्माओ के उपदेशो से उनके मन की प्रवृत्ति भगवान् की भक्ति की ओर झुक गई थी। वे श्रीनाथजी की सखाभाव से भक्ति करते थे। इनकी प्रकृति बडी विनोदशीला थी। गान-विद्या मे निपुण होने से वल्लभ सप्रदाय मे ग्राने के पूर्व ही इनके कई शिष्य हो गये थे। आँतरी से ये महावन में रहने लगे थे। वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित हो जाने के वाद वे गोवर्धन चले गये। उसके पूर्व वे गोकुल और महावनके टीलो पर वैठकर कीर्तन करते थे। अन्त समय तक गोवर्धन पर ही रहे। उनकी गिरिराज की कदम-खण्डी इनका स्थायी निवास स्थान है। उनकी यह जगह गोविन्द स्वामी की 'कदमखण्डी' नाम से प्रसिद्ध है।

इनका जन्म सनाढ्य व्राह्मण कुल मे लगभग सवत् १५६२ मे हुआ। सवत् १५९२ मे ये वल्लभ-सम्प्रदाय मे आये। शरणागति के पूर्व वे कवीश्वर और प्रसिद्ध गवैये थे। गायन विद्या को सीखने के लिए अनेक शिष्य इनके वन गए। इसलिए लोग इनको 'स्वामी' कहने लगे। इस समय इनका विवाह भी हो गया था। तथा सन्तान भी थी। अत कुछ समय गृहस्थी का भोग करने के वाद ही इनके चित्त मे भगवद्-भक्ति प्राप्ति की इच्छा प्रवल हुई होगी। इनके फुटकल पद ही प्राप्त होते है। इनके गान की मनोहारिता की ख्याति सुनकर श्री तानसेन स्वयम् इनके गाने सुनने आये थे ऐसा कहा जाता है। इनके दो पद वहुत प्रसिद्ध है। गोस्वामी विठ्ठलनाथजी जब नित्य लीला मे प्रवेश कर गये, तव इन्होने भी देह सहित कन्दरा मे प्रवेश किया और नित्य लीला मे पहुँचे। गोविन्द स्वामी की गोलोकवास तिथि सवत् १६४२ फाल्गुन कृष्ण सप्तमी है। इनका एक पद इस प्रकार है—

> प्रात समय उठि जसुमति जननी गिरिधर-सुत को उबटि नहावति।
> करि सिंगार वसन भूषन सजि फूलन रचि-रचि पाग बनावति॥
> छूटे बंद बागे अति सोभित, विच-विच चोव अरगजा लावति।
> सूथन लाल फूँदना सोभित, आजु की छवि कछु कहति न आवति।
> विविध कुसुम की माला उर धरि श्रीकर मुरली बेत गहावति।
> लै दरपन देखे श्रीमुख कों, गोविन्द प्रभु चरननि सिर नावति॥

७. छीतस्वामी :

ये मथुरा के एक सम्पन्न पडा थे। महाराज बीरवल इनके यजमान थे। पहले अत्यन्त उद्दण्ड प्रकृति के थे और बडे अक्खड़ थे। पर गोसाँईजी की शरण मे आने पर विनम्र और मृदु स्वभाव के वन गए। इनके कुछ फुटकल पद मिलते हैं। ये गान-विद्या-निपुण थे। इनका जन्म लगभग सवत् १५६७ मे हुआ। तथा सवत् १५९२ मे वल्लभ-सम्प्रदाय की शरणागति स्वीकार की। इस सम्प्रदाय मे आने के पूर्व छीतस्वामी पाँच प्रसिद्ध गुण्डे चौबों में सबसे अधिक प्रसिद्ध थे। इनके चार चौबे मित्रो ने इनके सहित विठ्ठलनाथजी की परीक्षा करनी चाही। अतः एक खोटा रुपया और राख से भरा नारियल लेकर गोकुल मे विठ्ठलनाथजी की मसखरी करने आये। छीतस्वामी के चार मित्र बाहर बैठे रहे। वे स्वयम् भीतर चले गए। गोस्वामीजी के स्वरूप की मोहिनी इन पर पड़ते ही मसखरी गायब हो गई, और पश्चाताप का भाव इनके मन मे प्रादुर्भूत हुआ। हाथ बाँधकर कहने लगे— महाराज मेरा अपराध क्षमा करो और मुझे शरण दो। स्वामित्व छूट जाय। मन की कुटिलता आपके दर्शन से ही भाग गई। मुझे अब अपना लीजिए। गोस्वामीजी ने उनको नाम सुनाया और शरण मे ले लिया। तब यह पद उन्होने गाया[1]—

> **भई अब गिरधर सों पहचान।**
> **कपट रूप धरि छलि-बे आयो, पुरुषोत्तम नहिं जान।**
> **छोटो बड़ो कछु नहि जान्यो, छाय रह्यो अज्ञान।**
> **छीत-स्वामी देखत अपनायो श्री विठ्ठल कृपा-निधान।**

फिर शरण मिलने से प्रसन्न होकर हर्ष से गा उठे—'हौं चरणात पत्र की छैयाँ।' 'फिर नवनीत प्रिया और गोवर्द्धननाथके दर्शन कर और भी निर्मल हो गए। फिर अपना आत्म-समर्पण कर गुसाँईजी से आज्ञा माँगकर मथुरा वापस आ गए। गुसाँईजी की कृपा से छीत-स्वामी भवदीय-कवीश्वर और कीर्तनकार बने। फिर जीवन भर श्रीनाथजी की सेवा मे अपना जीवन व्यतीत किया। गोस्वामी विठ्ठल-नाथजी का गोलोकवास सुनकर उस शोक-सवाद से ये मूर्छित हो गये। इस मूर्छा मे उनको श्रीनाथजी के दर्शन हुए। उनको सात्वना देते हुए कहा कि अब तकमे आचार्य और गुसाँईजी के रूपो द्वारा अनुभव कराता था। पर अब मे सात रूपो से अनुभव कराऊँगा। अनुभव करते ही चेतना जगी। विठ्ठलनाथजी के सात पुत्रों की बधाई गाकर उन्होने देह त्याग दी। सवत् १६४२ फाल्गुन कृष्ण ८ के दिन इनका गोलोक-वास हुआ।

---

१. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय भाग १—डा० दीनदयालु गुप्त, पृ० २७५।

इन अष्टछाप के सभी कवियो मे लीला-गान और भगवान् का रूप माधुर्य वर्णन करने की प्रवृत्ति है। नददास ने इन विषयो के बाहर जाकर भी रचनाएं की हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन कवियो की रचनाओ मे प्रौढ और परिमार्जित भाषा का व्यवहार देखकर उनकी एक सुनिश्चित परम्परा ही रही हो। अपने परवर्ती काल की व्रज भाषा को लीला-निकेतन भगवान् श्रीकृष्ण के गुणगान के साथ एकात भाव से बाँध देने का श्रेय इन कवियो को दिया जा सकता है।

मीराबाई :

मीरावाई के वारे मे एक छप्पय प्रसिद्ध है जो नाभादास का रचयित है वह इस प्रकार है[1]—

लोकलाज कुल शृङ्खला तजि मीराँ गिरधर भजी।
सदृश गोपिका प्रेम प्रकट कलियुगहि दिखायो।
निर अंकुश अति निडर रसिके जस रसना गायो।
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयो।
वार न बाँको भयो, गरल अमृत ज्यों पीयो।
भक्ति निसान बजाय कै, काहू ते नाहिन तजी।
लोक लाज कुल शृङ्खला तजि मीराँ गिरधर भजी॥

पचमुखी भक्ति के सिद्धात के अनुसार भक्त अपनी भावना के अनुकूल अपने उपास्य का रूप अपने लिए स्वयम् स्थापित करता है और तभी उसके प्रति साधक अपनी एकान्तिक भक्ति की स्थापना कर सकता है। मीरा पूर्ण रूप से निरकुश होकर निडरता के साथ परम रसिक कृष्ण के यश की रसना द्वारा रसिकता से ओतप्रोत गायन करती रही। मीराँ ने क्या प्राप्त किया ? माधुर्य भाव की यह चेतना हृदय की सहज अनिवार्य प्रवृत्ति है। तथा भक्ति-मार्ग के साधक या साधिका के लिए भी एक सीमा तक पहुँच जाने पर निश्चित रूपेण आवश्यक सी हो जाती है। मीराँ ने बराबर इसी साधन को अपनाया और अपने 'जनम-जनम रो साथी।' की पुरानी प्रीत को और अपने को 'जरणम-जरणम री क्वारी' रहकर की हुई साधना को पूर्ण रूप से प्राप्त कर लिया। डाकोर की प्रति का यह पद इस प्रकार है[2]—

कॉई म्हारो जरणम वारम्बार।

इसमें जो कुछ विवेचित है उससे यह प्रतीत होता है कि पूर्व जन्म की पुण्य-दशा समाप्त हो जाने के कारण मानवी-रूप मे पुनः उनका अवतार हुआ। भक्ति की

१. भक्तमाल नाभादासकृत—नवलकिशोर प्रेस लखनऊ, पृ० २४०।
२. डाकोर प्रति पद संख्या ६७ क।

पराकाष्ठा जितनी स्त्री-हृदय मे मिलती है उतनी पुरुष-हृदय में नही। डा० जगदीश-गुप्त के मतानुसार मीराँ १६ वी शताब्दी की हैं।[1] गुजराती तथा हिन्दी की विद्वान-मण्डली का यही मत है। 'वृहद काव्य दोहन' के भाग १, २, ५, ६ और ७ में मीराँ के १६० गुजराती पद मिलते हैं। डाकोरवाली प्रति की भाषा शुद्ध राजस्थानी है। मीराँ के कुछ पद मिश्रित भाषा के भी मिलते हैं। किसी भी परिस्थिति में मीराँ को हम गुजराती नही कह सकते। डा० कन्हैयालाल माणिक-लाल मुन्शी के मतानुसार मीराँ के पदो द्वारा शुद्ध भक्ति का प्रचार जितना गुजरात में हुआ उतना नरसी मेहता के पदो द्वारा नही हुआ। मीराँ न तो गुजराती थी न उनके पद गुजराती में लिखे गए थे। यह निष्कर्ष मुन्शीजी ने गुजरात से प्राप्त मीराँ के पदों से युक्त एक हस्तलिखित प्रति को देखकर निकाला है। यह प्रति संग्रहालय, गुजरात-विद्या-सभा अहमदाबाद में दृष्टव्य है।[2]

मीराँ की जीवनी—

मीराँ की जन्म भूमि राजस्थान है अतः उनकी मातृ भाषा राजस्थानी है। उनका पतिकुल मेवाड़ का है और पितृकुल मेडता का है। इसीलिए वे अपने आपको 'मेडतणी' कहती हैं। जोधपुर के संस्थापक राठोड़राव जोधाजी के चतुर्थ पुत्र राव दूदाजीने मेड़ता नगर वसाया। इन्ही राव दूदा का ज्येष्ठ पुत्र वीरमदेव संवत् १५३४ से संवत् १६०२ तक जीवित रहा। इनके पुत्र का नाम जयमल था। चतुर्थ पुत्र का नाम रतनसी रत्नसिह था। इनका जन्म संवत् १५३० में हुआ और मृत्यु सवत् १५८० में हुई। मीराँ का जन्म सवत् प्रामाणिक रूप से नहीं प्राप्त होता। अनुमानत. मीराँ का जन्म संवत् १५६० माना जाता है। डा० श्रीकृष्णलाल मीराँ का जन्म १५५६ से संवत् १५६० के वीच किसी समय मानते हैं।[3] मीराँ रत्नसिह की एकमात्र पुत्री थी। ये कुड़की गॉव मे पैदा हुई। वचपन मे ही माता चल वसी। दूदाजी ने इनको अपने यहॉ वुला लिया। वही इनका पालन-पोषण हुआ। जव ये विवाह योग्य हो गई तव राणा संग्रामसिह के द्वितीय पुत्र भोजराज से इनका विवाह हुआ। वे चित्तौड़ गई। पर भोजराज १५७३ से १५८३ के वीच स्वर्गस्थ हुए। अतः मीराँ विधवा हो गई। अपने वालपन के मीत गिरिधारीलाल की मूर्ति को वे अपने पतिगृह मे ले गई। मीराँबाई के पूर्वज वैष्णव और

१. गुजराती और व्रज भाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन
—डॉ० जगदीश गुप्त, पृ० १६।

२. ह० प्र० नं० ५, ४७७ क० सं० १६६५।

३. मीराँवाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, पृ० ५७।

भागवत थे। इन पूर्वजो मे कई भागवत् भक्त कहलाते थे। बचपन से ही चतुर्भुज विष्णु मूर्ति से मीराँ ने अपना नाता जोड लिया था। इसी मूर्ति से खेलते-खेलते दिल लगा बैठी थी। विधवा हो जाने पर रात दिन उस मूर्ति की सेवा और पूजा जी जान से करने लगी। राणाजी के खानदान में मीराँ की भक्ति-भावना और उपासना एक अभिशाप रूप मे देखे गए। विक्रमाजित ने मीराँबाई को बहुत कष्ट दिया। उनका संत-समागम रोक दिया गया तथा जहर का प्याला भी भेजा गया। उसे वे चरणामृत समझकर पी गई। राजनीति के बवडरो से उकताकर मीराँ फिर मेड़ते मे रही। यहाँ पर भी साधु सन्तो की देखभाल उसी तरह होती थी जैसी चित्तौड मे होती थी। सवत् १६०३ मे मीराँ का देहान्त हुआ। वे द्वारका मे रणछोड़जी के दर्शनार्थ गयी। एक ब्राह्मण ने यहाँ धरना दिया था, जिसे राणा ने उन्हे लौटाने के लिए भेजा था। पर मीराँबाई ने जाना स्वीकार नही किया। परन्तु वे रणछोड़ के मूर्ति मे समा गई। यह मूर्ति डाकोर के इलाके मे गुजरात मे है। अत यह कहा जा सकता है कि उनकी मृत्यु द्वारका मे हुई। मीराँबाई वृन्दावन भी गयी थी। वहाँ पर वे जीव-गोस्वामी से मिली थी। पहले तो उन्होने मीराँबाई से मिलने से इन्कार कर दिया था, तब उन्होने कहा—'कृष्ण के अतिरिक्त परम-पुरुष और कोई नही है।' यह सुनकर वे फौरन उनसे मिलने दौड़े चले आए। ये चैतन्य के शिष्यो मे से थे। चैतन्य महाप्रभु राधाकृष्ण की भक्ति और कीर्तन के अनन्य उपासक और प्रबल प्रचारक भी थे। ये गुजरात और राजस्थान भी गए थे। मीराँबाई का कृष्ण के प्रति माधुर्य भाव था। मीराँ चैतन्य से दीक्षित नही थी। परन्तु यह कहा जा सकता है कि वे चैतन्य द्वारा प्रचारित भक्ति से अनुप्राणित एवम् प्रभावित अवश्य कही जा सकती है। चैतन्य द्वारा की गई सङ्कीर्तन भक्ति के अनुसार मीराँबाई के अनेक पद मिलते है। पर वे चैतन्य से मिली होंगी ऐसा अनुमान भ्रमात्मक ही है। उसी प्रकार तुलसीदास को उन्होने पत्र लिखा था, यह अनुश्रुति भी प्रमाणिक नही मानी जा सकती।

कुछ किवदन्तियाँ—

कृष्णदास अधिकारी की वार्ता से ऐसा ज्ञात होता है कि उन्हे वल्लभ-सम्प्रदाय मे दीक्षित करने की चेष्टा की गई थी। पर मीराँ ने उसे स्वीकार नही किया। द्वारका से रणछोड़ के दर्शन कर लौटते समय वे मीराँबाई के गाँव गये। वहाँ हरिवंश आदि वैष्णवो को बैठा देखकर वे वहाँ पर नही ठहरे। मीराँ द्वारा दी गई मोहरो को भी अस्वीकार कर दिया और कहा कि तुम महाप्रभू की सेविका नही हो अतः हम तुम्हारे हाथ की भेट नहीं छुवेंगे। चौरासी-वैष्णवन की वार्ता मे

एक प्रसङ्ग रामदास को लेकर मिलता है। मीराँ वल्लभाचार्य के समकालीन थी। इसका इस बातसे पता चलता है। मीराँने रामदासके साथ शान्तिपूर्ण व्यवहार किया यद्यपि वे विगडे और उठ खड़े हुए थे। हरि भक्तों की सेवा मे उन्होने काफी खर्च किया। साम्प्रदायिकता और सकीर्णता का मनमें लेशमात्र अंश भी न था। बाल्य-काल की अनुचरी के रूप मे उनकी एक प्रिय दासी ललिता उनकी सखी थी। यह जीवन पर्यन्त उनके साथ छाया की तरह रही थी। उसे 'माई' कहकर वे संबोधन करती थीं। कहा जाता है कि जिस दिन मीराँ रणछोड़जी की मूर्ति में समा गईं तब नवविवाहिता की तरह शृङ्गार कर मीराँ के सामने उपस्थित हो गयी और उनको प्रणाम कर समुद्र की लहरो मे समा गई। यही ललिता मीराँ के पदो को लेख-वद्ध किया करती थी।

मीराँ की रचनाएँ—

मीराँ के नाम पर चार रचनाएँ मिलती है। (१) गीत-गोविन्द की टीका (गीत-गोविन्द की भाषा टीका) (२) नरसीजी रो माहेरो—नानीबाई की पहरावनी का वर्णन, (३) फुटकल पद—दस भक्तो का पद-सग्रह और (४) राग सोरठ पद-संग्रह। (कबीर, नामदेव और मीराँ के पद।) (१) इनमे से पहले के बारे मे यह निश्चित है कि वह मीराँ कृत नही है। मुन्शी देवीप्रसाद ने इस रचना के कुछ अश प्रकाशित किए हैं। रचना की भाषा शिथिल है। पूरी पुस्तक प्रकाशित हुए विना कोई निर्णय कर सकना कठिन है। (२) गीत-गोविन्द की टीका वास्तव मे महाराणा कुम्भा द्वारा रचित है। मीराँ को तो लोगो ने राणा कुम्भा की पत्नी तक बना दिया था। अतः यह भी मीराँ कृत नही हो सकता। (३) फुटकर पद कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं है। पर इसमे मीराँ के पदो का सग्रह है जिसमे अन्य भक्तो के भी पद सम्मिलित है। अन्य रचनाएँ भी इसी तरह यही निर्णय देती है कि या तो वे सग्रहीत पद है अथवा सङ्कलन है। मीराँ रचित गर्वा-गीत तथा मीराँ की मल्हार भी उनके नाम पर बतलाई जाती है। पर इन गीतो मे भाषा का नयापन होने से यह स्पष्ट रूप से मालूम होता है कि वे मीराँ कृत नही हो सकते। मीराँ ने किसी ग्रन्थ विशेष की रचना नही की थी। वे पद मात्र बनाया करती थीं जिन्हें सुनकर लोगों ने लिख लिया होगा। 'मीराँ पदावली' ही एक मात्र उनकी रचना मानी जावेगी। वैसे मीराँ ने स्वयं इस पदावली का कोई नामकरण नही किया था। मीराँ में वैराग्य प्रवणता और भक्ति भावना वचपन से ही दृढ़ थी। उन्हे जोगिन का वेश बहुत प्रिय था। एक पद से इस भाव को देखा जा सकता है—

हार सिंगार सभी ल्यो आपणों चूड़ी करली पटकी।
मेरा सुहाग अब मोकूँ दरसाँ और न जाने घटकी।

जोगिन होइ मैं वन-वन डोलूँ तेरा पाया भेद।
तेरी मूरत के कारणैं, धर लिया भगवा भेस।[1]

मीराँ के आविर्भाव काल का वातावरण भक्तिमय था। मीराँ की माधुरी भावना प्रेम-मूला थी। साँवरे रग में रग कर उसका सब कुछ उज्ज्वल हो गया था। कृष्ण प्रेम के पारस स्पर्श ने उसके हृदय को कंचन बना दिया था। उसका प्रेम अपने जनम-जनम के साथी से है। इसीलिए इस प्रेम मे एक निष्ठता और सघनता है। नारी एक ही बार अपना वर चुनती है। लौकिक वर प्राप्त होने के पूर्व ही उसने अलौकिक वर को चुन लिया था। वे कहती है[2]—

राणाजी मै गिरिधर के घर जाऊँ।
गिरधारी म्हारो साँचो प्रीतम देखत रूप लुभाऊँ।
मेरी उनकी प्रीत पुरानी उन विन पल न रहाऊँ।
पूर्व जनम की प्रीति हमारी अब नहीं जात निवारी॥
तुमतजि और भतार को मनमें नहिं आवतो हो।
बालापन तो मीराँ किन्हीं गिरधरलाल मिताई।
सो तो अब छूटत क्यों हूँ नहिं लगन लगी बारी जाऊँ।

मीराँ के पद आत्मनिष्ठ दिव्य प्रेम के व्यजक है। शैली उत्तम पुरुष मे अभिव्यजित है। मीराँ ने राधा की ही तरह अपने प्रियतम के साथ नित्य-लीला-विहार किया है। नाना प्रकार की प्रेम की बाते और क्रीडाएँ की है अत. अपनी स्वानुभूति की प्रेम मिठास को वे अपने पदों मे भर देती है। विद्यापति, सूरदास, नददास, हितहरिवश आदि सन्तो ने राधाकृष्ण के प्रेम का गान किया। मीराँ ने अपने भावो को सगीत के माधुर्य के साथ अपने पदों मे व्यक्त किया।

उनके गुरु रैदास थे, ऐसा एक मत प्रचलित है पर यह असभव सा जान पडता है। ये मीराँ के बहुत पहले हुए थे। अत. सभवतः किसी रैदासी सन्त के लिए उ होंने अपने एक पद मे यह कहा है—

रैदास संत मिले मोहि सतगुर दीन्ही सुरत सहदानी।
मैं मिली जाय पाय पिय अपना, तब मोरी पीर बुझानी॥

मीराँ के गीत उन्मुक्त आकाश में विचरण करने वाले स्वच्छन्द पक्षी के गीत हैं। ये भारत भर में प्रसिद्ध हैं। अतः इनके नाम का प्रामाणिक सग्रह मिलना कठिन कार्य है। मीराँ किसी भी सम्प्रदाय विशिष्ट में नही आती है। डाकोर और

१. मीराँ पदावली।
२. मीरा माधुरी—४६८ पद, व्रज रत्नदास।

काशी की प्रतियाँ मीराँ की पदावली के नाम से विशेष प्रसिद्ध है। डाकोर वाली प्रति गोवर्धनप्रसाद भट्ट के सग्रहालय से श्री आचार्य ललिताप्रसाद शुक्लजी को प्राप्त हुई थी। भट्टजी की यह पोथी रणछोड़दास के मन्दिर मे रखी हुई ललिता द्वारा लिखित प्रति के आधार पर संवत् १६४२ मे नकल की गई थी। इस प्रति का अवलोकन आचार्य रामचन्द्र शुक्ल तथा डा० श्यामसुन्दरदास ने किया था। इसके अतिरिक्त लगभग सोलह और हस्तलिखित सग्रह मिल चुके है जिनमे चार काशी मे, दो कानपुर मे, दो रायवरेली मे, तीन मथुरा मे और शेष पाँच उदयपुर और जोधपुर मे आचार्य ललिताप्रसादजी ने देखे थे। इस तरह कुल १०३ पद संग्रहीत किये गये है। इतना निश्चित है कि ये मीराँ कृत है। इनके पाठ-भेदों के विषय मे मतभेद हो सकता है। मीराँ के पद कृष्ण-भक्ति सम्वन्धी है। इसके अतिरिक्त अन्य भावो के अर्थात् सन्त मत के, सहजिया मत के, और योग पथ के भी पद मिलते है। उनमे से वास्तव मीराँकृत कितने है और प्रक्षिप्त कितने हैं यह जानना कठिन है।

वैसे मीरावाई के पदो को लेकर कई पदावलियाँ और सग्रह निकल चुके है। और अधिक से अधिक पद मीराँ के है यह वतलाने की होड़ सी लगी जान पडती है। इस तरह कई संग्रह निकल चुके है।

मीराँवाई की ख्याति वैष्णव भक्ति साहित्याकाश मे ध्रुव तारे की तरह अडिग और अटल रूप से विद्यमान है। मीराँ ने अपना कोई सम्प्रदाय नही चलाया किसी ने ठीक ही कहा है—

नाम रहेगो नाम से सुनो सयाने लोय।
मीराँ सुत जायो नहीं, शिष्य न मूँड्यो कोय॥

माधुरी भक्ति, दाम्पत्य-भावना से की गई भक्ति-भावना विरह की प्रेम-पीड़ा और एकान्तिक-निष्ठा के कारण मीराँ अजर अमर है।

षष्ठ–अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक-पक्ष

षष्ठ–अध्याय

मराठी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक पक्ष

ज्ञानेश्वर के द्वारा अभिव्यक्त आध्यात्मिक विचारों का स्वरूप :

परब्रह्म का स्वरूप—

ज्ञानेश्वर के अनुसार परमात्मा ज्ञान का विषय नही बन सकता क्योंकि ज्ञेयत्व के द्वारा उसकी प्रतीति नहीं होती। वस्तुत ब्रह्म नेत्रो का नेत्र है, कानो का कान है, मनो का मन है, तथा वाचा-शक्ति की वाचाशक्ति है अर्थात् उपनिषद्कालीन ऋषि जिसे 'यदवाचाऽनभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्व विद्धि नेद यदिदमुपासते।[1]' ऐसा वर्णन करते हैं। देखिए ज्ञानेश्वर भी उसी तरह कहते है—

> 'तेवीं जेणे तेजें। वाचेसि वाच्य सुजे।
>
> ते वाचा प्रकाशिजे। हे के आहे॥'[2]

परमात्मा के तेज से अर्थात् ज्ञान से वाणी के द्वारा सारे वाच्य घटो का प्रकाशन हो जाता है, किन्तु वही वाणी प्रकाश रूप परमात्मा का प्रकाशन या ज्ञान कैसे दे सकती है? परब्रह्म किसी का विषय नही बन सकता। नाथसप्रदाय का दर्शन उनको गुरुपरम्परा से मिला है, इसलिए अद्वैतमत प्रणाली उनको मान्य है। नाथ-परम्परागत अद्वैतवाद और शांकर (वैष्णव परम्परागत) अद्वैतवाद दोनो ही ज्ञानेश्वर मे दिखाई देते है। ज्ञानेश्वर अपनी व्यक्तिगत-साधना मे निर्गुण, निर्विशेष अद्वैत दर्शन को अपनाते है। समाज के लिए सगुण साधना का अवलव किया जाय, ऐसा उनका मत है। पर यहाँ उस पर चर्चा हमे नही करनी है। अपने निर्गुण तत्व का प्रतिपादन ज्ञानेश्वर अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से करते हुए प्रतीत होते हैं। वे स्वयम् साक्षात्कारी योगी थे, इसलिए उनके अद्वैत तत्व प्रतिपादन शैली मे हम नवीनता और अपूर्वता पाते है। अत. वे वशिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्वघोष, गौड़ पादाचार्य, शकराचार्य आदि की कोटि मे गिने जाते है। ये सारे अद्वैत सिद्धान्त के प्रमुख प्रतिपादक रहे है।

---

१. केनोपनिषद्, १–५।

२. अमृतानुभव—प्र० ५–१५।

ज्ञानेश्वरी मे सगुण निर्गुण के परे ब्रह्म है, ऐसा ज्ञानेश्वर बतलाते है—

सकळु ना निष्कळु । अक्रियु ना क्रियाशीळु ।
कृश वा स्थळु । निर्गुण पणे ॥ ७ ॥
आनन्दु ना निरानन्दु । एक ना विविधु ।
मोकळा ना बद्धु । आत्मपणे ॥१११०॥[1]

यह ब्रह्म निर्गुण होने से इसके कोई भाग या हिस्से अथवा अंश नही है। उसे कर्म सहित या कर्म रहित नही मान सकते। वह कृग नही है और हृष्ट-पुष्ट भी नही है। अरूप होने से अदृश्य है ऐसा कहने पर वह अदृश्य भी नही है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नही है। वह प्रकट-व्यक्त एवम् साकार नहीं है और अप्रकट एवम् निराकार भी नही है। परमात्मा हाने से वह आनन्द रहित व दु:ख रहित नही है। वह सुख दु:ख आनन्द विपाद के परे है। वह न तो मुक्त है अथवा बद्ध है। वह इन सबसे परे है।

परब्रह्म का ज्ञान सुख प्रदान करता है—

परब्रह्म को जान लेने से सुख प्राप्त होता है ऐसा कहा जाता है अर्थात् साधक अमरत्व को पा लेता है। ज्ञानेश्वर का विवेचन इस विषय मे इस प्रकार है—

तरि ज्ञेय ऐसे म्हणणे । वस्तुतें येणेचि कारणें ।
जे ज्ञाणेवांचूनि कवणे । उपाये नये ॥ ६४ ॥[2]
रूप वर्ण व्यक्ति । नाहीं दृश्य दृष्टा स्थिती ।
तरि कोणे कैसे आधी । म्हणावे पां ॥ ६६ ॥[3]

ब्रह्म को ज्ञेय इसलिए मानते है क्योंकि उसे ज्ञान के अतिरिक्त और अन्य उपायो से नही जान सकते। ब्रह्म को जान लेने के बाद कुछ भी करना शेप नही रहता, क्योंकि ब्रह्म का ज्ञान उसे ज्ञेय स्वरूप बना देता है। उस ज्ञेय स्वरूप को जानकर ससार की चहार दीवारी को निकालकर अर्थात् उसका त्यागकर नित्यानन्द रूप हो सकते हैं। इसी ज्ञेय का नाम परब्रह्म है। यदि वह नही है, ऐसा हम कहे तो सारा विश्व हमे उसके आकार सहित प्रतीत होता है। यदि ब्रह्म को ही विश्व माने तो विश्व मिथ्याभास है, ऐसा कहना पडेगा। ब्रह्म का कोई रूप, रङ्ग और आकार नही है। ब्रह्म देखने का विपय और स्वयं द्रष्टा भी है ऐसी कोई स्थिति नही है। अतः उसे—वह है—ऐसा कौन और कैसे कह सकता है? यदि वह नही

१. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३–११०७, १११० ।
२. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३–८६४ ।
३. ज्ञानेश्वरी, अध्याय १३।८६५–८६६ ।

है—ऐसा कहा जाय, तो महत्तत्वादि तत्त्व किससे अपना स्फुरण प्राप्त करते है ? वस्तुत: यह सब कुछ ब्रह्ममय है। अतः जिस ब्रह्म को देखकर उसके 'अस्ति नास्ति' के बारे मे वाणी मौन हो जाती है, उसका हम कोई विचार नही कर सकते।

ब्रह्म को सर्वत्र अनुभव करना चाहिए—

ज्ञानेश्वरी मे ज्ञानेश्वर वतलाते है कि[1]—

गगन भरी धारा। परिवाणी एक चिवीरा।
तैसा या भूता कारा। सर्वांगी तो॥
एवं जीव धर्म ही नु। जो जीवासी अभिन्नु।
देखे तो सुनयनु। ज्ञानिया मांजि॥

पानी जब बरसता है तब उसकी जलधाराएँ सारे आकाश मे व्याप्त रहती है, परन्तु उन सब धाराओ मे से बरसने वाला जल एकही रहता है उसी प्रकार से प्राणि मात्र मे एक ही परमात्मा विद्यमान है। गागर मे और घर मे एक ही आकाश तत्व रहता है, वैसे ही जीव-समुदाय अलग-अलग प्रतीत होते हैं परन्तु इन सब के भीतर एक ही परमात्मा विद्यमान है। अनेक आभूषणों में स्वर्ण एक ही तत्व रूप रहता है भले ही अलकारो के रूप में उनके भिन्न-भिन्न आकार दिखाई पडते हो। परमात्मा जीव धर्म रहित है और सारे जीवो मे वह व्याप्त है। परमात्मा को जो इस तरह जानता है, उसे ही द्रष्टा और ज्ञानी कहते हैं।

परमात्मा प्रकृति के गुणों से वद्ध नही है—

ज्ञानेश्वरी मे उस निर्गुणता का इस प्रकार वखान किया गया है[2]—

म्हणे परमात्मा म्हणिपे। तो ऐसा जाण स्वरूपें।
जळी जळ न लिंपे। सुर्यु जैसा॥
आरिसां मुख जैसे। बिंवलिया नाम असे।
देही वसणे तैसे। आत्मतत्त्वा॥

जिस प्रकार पानी मे सूर्य प्रतिविम्बित रूप में दिखाई दिया, किन्तु इससे वह गीला नही हो जाता, ठीक वैसेही प्रकृति मे रहने पर भी परमात्मा प्रकृतिके गुणो से लिप्त नही रहता, वरन् वह अपने शुद्ध स्वरूप मे ही रहता है। परमात्मा देह मे स्थित है, ऐसा प्रायः कहा जाता है; परन्तु वह यथार्थ नही है। परमात्मा तो जहाँ है वही विद्यमान है। दर्पण मे मुख का प्रतिविम्ब सामने आ जाने पर हम उसे

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३ ओवियाँ १०६३ से १०६६।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय, १३ ओवियाँ १०६३ से १०९६।

प्रतिबिम्ब ही कहते हैं। परमात्मा भी शरीर में उसी तरह प्रतिबिम्बित है। यह परमात्मा मूलतः अरूप होने से दृश्य और अदृश्य दोनों नही है। वह प्रकाशयुक्त या अप्रकाशयुक्त भी नहीं है। शून्य होने से वह रिक्त या भरा हुआ भी नहीं है। वह प्रकट साकार या अप्रकट निराकार भी नही है वरन् वह सगुण निर्गुण के परे है।

जगत् का स्वरूप—

अमृतानुभव मे ज्ञानेश्वर बतलाते हैं—

प्रकाश तो प्रकाश कीं। यासि नवंचे घेई चुकी।
म्हणोनि जग असिकी। वस्तु प्रभा॥
यालागी वस्तु प्रभा। वस्तुचि पावे शोभा।
जात असे लाभा। वस्तुसिचि॥[1]

प्रकाश को आकाश कहना ही उचित है अतः सारा संसार वस्तुप्रभा ही है, ऐसा मानने मे कोई हानि नही है। ज्ञानेश्वर परमात्मा को ही जगत् कहते हैं। क्योकि यह जगत् जिस परमात्मा के प्रकाश से अर्थात् ज्ञान से भासित होता है ऐसा श्रुति वचन है। वह असत्य कैसे माना जाय? अतएव वस्तु की प्रभा वस्तु को ही मिलती है, तथा प्रभा की शोभा भी वस्तु को प्राप्त हो जाती है। तात्पर्य यह है कि ज्ञानेश्वर जगत् को परमात्मा से अभिन्न मानते हैं। इसलिए जीव भी परमात्मा से भिन्न नही है। वह भी अभिन्न ही है स्पष्ट है शिव ही विश्व रूप में अभिन्न है।

जीव-रूप—

ज्ञानेश्वर जीव को 'परमाणु' वत मानते हैं। देखिए[2]—

पैं परमाणु भूतळीं। हिमकणु हिमाचळीं।
मजमाजि न्याहाळीं। अहं तैसें॥
हो कां तरंगु लहानु। परि सिंधुसी नाही भिन्नु।
तैसा ईश्वरीं मी आनु। नोहेचि मा॥

× × ×

म्हणोनि

१. अमृतानुभव प्र. ८
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय

पृथ्वी पर स्थित अल्प परमाणु पृथ्वी रूप ही माना जाता है। बर्फ से भरा हुआ हिमालय और हिम का एक कण जैसे हिमालय पर्वत रूप समझा जाता है वैसे ही परमात्मा और जीव एक ही है। ये सारे दृष्टान्त उस जीव के लिए है, जो 'अहम्' से अस्मिता युक्त होकर आत्म साक्षात्कार में तत्पर हो जाता है। आत्मा और परमात्मा अभिन्न है, अतः बन्धन और मोक्ष के बारे में चिन्ता करने की भी आवश्यकता नही होती। बन्धन ही मिथ्या है, इसलिए सच्चा मोक्ष कैसे उपलब्ध होगा? अविद्या से स्वयम् मरकर मोक्ष का हमने स्थान बना दिया है, अर्थात् मोक्ष का स्वरूप बतला दिया है।

सगुण–परब्रह्म–स्थिति–वर्णन—

ब्रह्म-स्थिति अक्षरो से एवम् शब्दो से अकथनीय है। अतः जिसे सौभाग्य से वह स्थिति सप्राप्त हो जाती है, वह ब्रह्ममय ही बन जाता है, इसे ही तद्रूपता मानते है। श्रीकृष्ण स्वयम् अपना सगुण स्वरूप वर्णन करते हैं जो दृष्टव्य है। यथा[1]—

> जे उन्मनिये चे लावण्य। जे तुर्येचे तारुण्य।
> अनादि जे अगण्य। परमतत्व ॥
> ते हे चतुर्भुज कोंभेलो। जयाची शोभा रुपा आली।
> देखोनि नास्तिकीं नोकिली। ब्रह्मवृन्दें ॥

जिस परब्रह्म की तात्विक स्थिति ऐसी है जिसे मन रहित अवस्था का सौन्दर्य कहा जाता है, तथा जो नित्य-सिद्ध और असीम है, जहाँ पर आकार का अन्त हो जाता है, जहाँ निश्चय पूर्वक मोक्ष की उपलब्धि हो जाती है, तथा जहाँ आदि और अन्त का भी विलयन हो गया है, त्रैलोक्य का जो आदि कारण माना गया है और जिसे अष्टाग-योग वृक्ष का फल मानते है एवम् जो आनन्द की एकमात्र जीवन कला है, तथा जो पच-महाभूतो का बीज है और सूर्य का तेज है अर्थात् जिससे सूर्य को तेज प्राप्त होता है वही मेरा विशिष्ट स्वरूप है। नास्तिको के द्वारा भक्तो के समुदाय का पराभव किया गया, इसलिए निर्गुण स्वरूप की शोभा अभिव्यक्त हो गयी। यही अभिव्यक्त मूर्ति मेरी चतुर्भुज मूर्ति है। भगवान् कृष्ण अपनी सगुण ब्रह्म स्थिति का वर्णन अर्जुन से इस प्रकार करते है। इस उत्कृष्ट सुखानुभूति को वे ही पुरुष प्राप्त कर सकते हैं, जो निश्चय पूर्वक भगवद् प्राप्ति तक अटूट आस्था युक्त रहते है। वे स्वयम् इस प्रकार का सुख स्वरूप धारण कर तद्रूप बन जाते है।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६, ओवियाँ ३१९–३२४।

साधन :

ज्ञानेश्वर के द्वारा विवेचित मानव के लिए प्रतिपादित कर्मयोग—

कर्मयोग को ज्ञानेश्वर प्रश्रय देने वाले व्यक्ति थे। गीता मे वर्णित 'कर्म' शब्द की व्याख्या अपने ढङ्ग से ज्ञानेश्वर ने प्रस्थापित कर दी है। मानव के लिए कर्मवाद का सिद्धांत अत्यन्त उपकारक है ऐसा ज्ञानेश्वर मानते थे। उनके मतानुसार निर्लिप्त-कर्मशून्यता मानवजीवन में सम्भवनीय ही नहीं है। यह समूचा विश्व एक प्रचण्ड कर्म है। अतएव इसी विश्व का एक अंश अर्थात् मानव कर्मशून्य भला कैसे रह सकता? कर्म देह का सहज स्वभाव है। तब यह प्रश्न हमारे सामने आ सकता है, कि जन्म और मृत्यु इन दो कर्मो की राह कौन सी है? 'अकर्म' शब्द का गीतोक्त अर्थ निषिद्ध कर्म प्राय. माना गया है। अपनी कुल परपरा, समाज का अधिकार, विशिष्ट प्रसङ्ग एवम् शास्त्र आदि के संदर्भ और सम्पर्क में प्राप्त कर्तव्य का यथोचित पालन इस तरह से करना चाहिए जिससे कि भगवान की भक्ति करने की पात्रता साधक मे आ जाय। इस तरह किया गया कार्य ही धर्म एवम् यज्ञ है। ऐसा ज्ञानेश्वर का मत है। यथा—

> **तरी कर्म म्हणजे स्वभावें। जेणे विश्वाकारु संभवे।**
> **ते सम्यक आधी जाणावें। लागे एथ ॥**[1]
> **देखे रथीं आरुढिजे। मग जरी निश्चळा बैसिजे।**
> **तरी चढ़ा होऊनि हिंडिजे। परतंत्रा ॥**[2]
> **तैसी निजवृत्ति जेथ सांडे। तेथ स्वतन्त्रते वस्ती न घडे ॥**
> **म्हणऊनि निजवृत्ति हे न संडावी। इन्द्रिये वरळों नेदावीं।**
> **ऐसे प्रजांते शिकवीं। चतुराननु ॥**[3]

स्वभावतः विश्व स्वयं एक महान कर्म है। जिस प्रकार रथारूढ़ व्यक्ति स्थिर बैठा हुआ है। परन्तु रथ उसको जिधर ले जाय उधर वह जाता रहता है और उसका प्रवास जारी रहता है। अर्थात् वह पराधीन होने पर भी चलायमान होकर दौड़ता रहता है। जहाँ पर अपना आचार-धर्म छूट जाता है, वहाँ पर आत्म स्वातन्त्र्य नही रह पाता। इसलिये जो भी प्राणि अपने स्वधर्म से च्युत होगा, उसे काल कड़ी से कड़ी सजा देगा। उसे चोर समझकर उसकी सारी संपत्ति वह छीन लेगा। रात्रि के समय भूत पिशाच जिस प्रकार श्मशान को घेर लेते है,

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ४–८६।

२. ,, ३–६०।

३. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३–११२–११७।

वैसे ही सारे पाप, दैन्य, विघ्न, दु.ख और दारिद्र्य आकर उसको घेर लेते है। इन सबका निवास-स्थान ही उसके पास हो जाता है। उन्मत्त मनुष्य की तरह उसकी अवस्था हो जाती है और उसके जोर-जोर से आक्रन्दन करने पर भी, कल्पात पर्यन्त उसकी मुक्ति सभव नही है। इसीलिए स्वधर्माचरण नही छोडना चाहिए। इन्द्रियो को स्वैराचार करने से रोका जाय ऐमा ब्रह्मदेव ने सबको उपदेश दिया। 'शैवाद्वैती विचारों का प्रभाव यहाँ पर भी परिलक्षित होता है।

ज्ञानेश्वर की इस विचार धारा मे कही भी समाजहित-विरोधी कोई वात नही है। आस्था युक्त प्रवृत्ति को जगाने वाली विचार धारा ही इसमे मुख्यतः है। भक्ति मार्ग पर चलने वाले पथिक के लिए समाज कल्याण ही आद्य कर्तव्य हो जाता है। उसके लिये गृह त्याग की आवश्यकता नही है। उसका कोई कर्म नही छूटता क्योकि ज्ञानेश्वर का कहना है कि कर्म तो उसे करना ही पडता है—

आता गृहाधिक आधवे। ते काही न लगे त्यजावें।
चे घेते जाहले स्वभावें। निस्संग म्हणऊनि ॥[1]

'ऐसी स्थिति मे गृह आदि सर्वस्व का त्याग करने की कोई आवश्यकता नही है, क्योकि आसक्ति की ओर झुकने वाला मन निस्सग वन जाने से उमकी ओर स्वभावत· नही जाता।'

ज्ञानेश्वरी मे जिस विषय का प्रतिपादन है उसी विपय का खडन अमृतानुभव मे दिखाई पडता है। ज्ञानेश्वरी मे वेद को महत्व दिया है। अमृतानुभव मे उसके विरुद्ध शब्द-खंडन है। ज्ञानेश्वरी मे निर्गुण तत्व प्रतिपादन, योग और शिवोपासना प्रधान रूप से है, तथा अभङ्गो मे वे सगुण तत्व प्रतिपादन करते है। और विष्णु की उपासना उसमे प्रधान रूप से वर्णित है। ऐसा भारद्वेवुवा का मत है। ज्ञानेश्वरी सर्व साधारण के लिये लिखी और अमृतानुभव दार्शनिको के लिये ज्ञानेश्वर ने लिखी। अधिकार और पात्रता की दृष्टि से सगुणोपासना उपयुक्त है। परन्तु मूलत ज्ञानेश्वर निर्गुणोपासक थे, ऐसा भी कुछ लोगो का मत है। ज्ञानेश्वरी के तेरहवे अध्याय से पद्रहवे अध्याय तक अज्ञान का वर्णन है तथा ज्ञान के महत्व का प्रतिपादन है। अमृतानुभव मे अज्ञान खडन' नाम का एक स्वतन्त्र प्रकरण है। किसी भी सिद्धान्त की प्रस्थापना मे एक पूर्व पक्ष रहता है। जिसमे मडन होता है, वाद मे उत्तर पक्ष आता है जिसमे खडन होता है। ज्ञानेश्वर ने ऐसा ही किया है। ज्ञानेश्वरी प्रथम लिखी और वाद मे अमृतानुभव लिखा जिसमे इस नियम का पालन हुआ है। वारकरी सम्प्रदाय के लोगो का यही विश्वास है।

---

१. ज्ञानेश्वरी, ५ वां अध्याय—ओवी २२।

ज्ञानेश्वरी का दर्शन—

ज्ञानेश्वरी मे ज्ञानेश्वर के विवेचन में जो बातें आई हैं, उनको देखना और मत बना लेना आसान कार्य नही है। ज्ञानेश्वरी में ज्ञानेश्वर एक स्वतन्त्र टीकाकार हैं। व्यास के आशय को स्पष्ट करते हुए वे अपनी भूमिका विशद करते हैं। उनका स्वतन्त्र दर्शन है। उनके दार्शनिक प्रतिपादन का स्वरूप वल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग के विधायक दर्शन के अधिक निकट है। अनेक भाष्यकारों के मार्गों के प्रतिपादित सिद्धांतो को देखते हुए तथा उनकी छानवीन करते हुए शकराचार्य के मार्ग का वे अनुसरण करने थे ऐसा कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। वैसे अपने स्वतन्त्र मत एवम् सिद्धांत को वे 'अमृतानुभव' मे अभिव्यक्त करते है। उनके पिता विठ्ठल पन्त समाज की दृष्टि से पतित थे, अर्थात् सन्यासी बनने के बाद पुनः गृहस्थाश्रमी बने थे, इसीलिए रामानुजीय पंथ की ओर वे मुड़े। श्रीपाद यति के वे शिष्य थे। इसलिए प्रारम्भ मे रामानुज के मत का संस्कार ज्ञानेश्वर पर पड़ा। ऐसा कुछ लोगों का मत है। 'यावानर्थ उदपाने' इस श्लोक का अर्थ रामानुज की तरह ज्ञानेश्वर करते है। अनेक स्थलो मे ज्ञानेश्वर ने शंकराचार्य का अनुसरण नही किया है। परन्तु गीता के स्वतन्त्र विभाग भी किए है। अमृतानुभव शांकर मत का प्रतिपादक नही है। प्रत्युत शैवागमवादियो के अधिक निकट है। द्विचन्द्रज्ञान ही सतख्याति है, अज्ञान नही है ऐसा रामानुज का प्रतिपादन, और 'नाना चादु एक असे' इस कोटि का अमृतानुभव मे किया गया प्रतिपादन इस प्रकार का है जिसमे अर्थ सादृश्य और शब्द सादृश्य भी है।

रामानुज की तरह आठ प्रकार के अज्ञान की अनुपपत्ति ज्ञानेश्वर ने बतलाई है। फिर भी अमृतानुभव मे शंकराचार्य या रामानुज का अनुवाद नही है। प्रत्युत वह एक स्वतन्त्र ग्रन्थ है। अमृतानुभव मे प्रदर्शित विचार नए मौलिक और संमिश्र नहीं हैं। शकराचार्य का 'पुरुष' सोपाधिक है और 'प्रकृति' उपाधि है। किन्तु ज्ञानेश्वर के 'वोहरे' (जगल की आग) अर्थात् माया का दावानल निरुपाधिक है। शङ्कराचार्य ने इन दोनों तत्वों को अलग-अलग माना है। ज्ञानेश्वर दोनो में ऐक्य मानते है। शङ्कर पुरुष को विषयी और प्रकृति को विषय मानते है। यह संसार ज्ञान-स्वरूप परमात्मा का शुद्ध स्वरूप है। इसे ज्ञानेश्वर ने अज्ञानवाद का निषेध कर स्पष्ट रूप से समझा दिया है। उनका यह मत पाचरात्र-सिद्धांत से अधिक मिलता है। पाचरात्र और रामानुज इन दोनो का वल्लभाचार्य के साथ उपकार्योपकारक भाव है। ज्ञानामृत-सार-सहिता, वल्लभ का 'अणुभाष्य' और 'अमृतानुभव' मे साम्य है। डा० लोढे ज्ञानेश्वर को द्वैताद्वैती मत का मानते थे। प्रो० वनहट्टी

शङ्कराचार्य के अद्वैत और ज्ञानेश्वर के अद्वैत को तुलना की दृष्टि से विचारार्थ लेना चाहिए ऐसा मानते है ।

ज्ञानेश्वर की दृष्टि मे कौन से भाष्यकार थे ?

ज्ञानेश्वर का निवेदन है :[1] 'तैसा व्यासाचा मागोवा घेतु । भाष्यकाराते वाट पुसतु ।। अयोग्य ही मी न पवतु । के जाईन ।।' व्यास का अनुसरण करते हुए शङ्कराचार्य और अन्य भाष्यकारो से मार्ग पूछते हुए तथा अयोग्य को छोडते हुए मै चलूँगा । ज्ञानेश्वर का यही अभिप्राय जान पडता है । 'भाष्यकाराते' यह पद बहुवचन मे है, किन्तु यदि उसको बहुवचनी भी मान लिया जाय तब भी जब तक ज्ञानेश्वरी का सैद्धान्तिक प्रतिपादन शाकर मत की अपेक्षा अन्य अन्य मतो के अधिक निकटतम हैं, ऐसा सप्रमाण कोई सिद्ध नही करता तब तक मुख्य रूप से शकराचार्य का ही इसमे उल्लेख है ऐसा मानना पडता है । नागपुर के डा० शं. दा. पेडसे का 'ज्ञानेश्वराचे तत्वज्ञान' यह ग्रन्थ इस विषय मे द्रष्टव्य है । उनका निष्कर्ष इस प्रकार है[2]—

'कुल २१८ स्थलो की तुलना करने पर ऐसा दिखाई दिया कि १४६ स्थानों पर शङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वर ने तत्वज्ञान के और अर्थ की दृष्टि से सादृश्ययुक्त टीका की है । उनमे से ४२ स्थानो पर शङ्कर के शब्दो को ज्ञानेश्वर प्रयुक्त करते हैं । दस स्थानो पर शङ्कर और ज्ञानदेव के समान द्रष्टान्त है, और सत्तावन स्थानो पर शङ्कराचार्य का अर्थ ग्रहण कर रामानुज का अर्थ छोड दिया है । ६८ स्थानों पर शङ्कर वा रामानुज इनमे से किसी का भी अर्थ ग्रहण न करते हुए स्वतन्त्र रूप से ज्ञानेश्वर अर्थ करते है । ३८ स्थानो पर निर्गुण और मायावाद को लेकर शङ्कराचार्य से आगे बढकर ज्ञानेश्वर अर्थ स्पष्ट करते है । एक स्थान पर शङ्कर और रामानुज इन दोनो के अर्थों का समुच्चय किया गया है, तथा पाँच स्थानो पर शङ्कर को छोड़कर रामानुजीय अर्थ स्वीकारा है । दार्शनिक दृष्टि ने शाकर विरोधी एक भी स्थल नही मिलता जहाँ पर रामानुज का अनुसरण किया गया है, वे स्थल दार्शनिक दृष्टि से महत्वपूर्ण नही है । रामानुजीय पद्धति से जिन ६ स्थानो पर अर्थ किया है वहाँ पाँच स्थानो पर ज्ञानेश्वर स्वतन्त्र रूप से अर्थ करते है । उदाहरणार्थ, 'आश्चर्य वत्पश्यति कश्चिदेनम् ।'[3] इस श्लोक की टीका ज्ञानेश्वर इस प्रकार करते है[4]—

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८–१७२२ ।
२. ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान — डा० शं. दा. पेंडसे ।
३. श्रीमद् भगवदगीता अध्याय २–२६ ।
४. ज्ञानेश्वरी अध्याय २–७१ ।

दृष्टि सूनि जयातें । ब्रह्मचर्यादि व्रतें । मुनीश्वर तपातें ।
आचरति ।।

चैतन्य की प्राप्ति के लिए उसी पर दृष्टि रखकर बड़े-बड़े ऋषि मुनि ब्रह्मचर्यादिक व्रतो और तपों का आचरण करते हैं। 'यहाँ पर तपाचरण की कल्पना 'सर्वे वेदा यत्पदमा मन्यन्ति तपांसि सर्वाणिच यद्वदन्ति या दिच्छन्तो ब्रह्मचर्यंश्चरन्ति तत्ते पद सग्रहेणप्रवक्ष्ये ।'[1] इस कठोपनिषद के मन्त्र से ली हैं, ऐसा ब्रह्मचर्य के उल्लेख से समझ मे आ जाता है। रामानुज और ज्ञानेश्वर दोनों को तपाचरण की कल्पना कठोपनिषद से स्वतन्त्र रूप में मिली है। शांकर-भाष्य मे तप का उल्लेख नहीं है।' भाष्यकार के नाते शङ्कराचार्य ही ज्ञानदेव को अभिप्रेत थे। ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान पर औपनिषदीय-दर्शन, नाथ-पथीय-दर्शन और शङ्कराचार्य-दर्शन का परिणाम अवश्य हुआ है। ज्ञानेश्वर विनयशील थे, इसीलिये आदरणीयों के प्रति अपनी श्रद्धा प्रदर्शित करते हुए उन्होने अपनी स्वतन्त्र प्रज्ञा से ही मराठी मे गीता टीका लिखकर गुरु कृपा से अपने श्रोताओ के सम्मुख प्रदर्शित की है।

सुन्दर शरीर पर अलङ्कार जिस प्रकार विशेष फबते है, वैसे ही सस्कृत गीता की यह ज्ञानेश्वरी टीका एक सुन्दर अलंकरण है जो गीता का माहात्म्य अत्यधिक वृद्धिगत करती है। नामदेव उसे ज्ञानदेवी और ज्ञानेश्वरी कहते हैं, तो एकनाथ उसे ज्ञानेश्वरी ही कहते है। वैसे उसका एक नाम 'भावार्थ दीपिका' भी प्रसिद्ध है। ज्ञानेश्वर अपने नाम का उल्लेख बराबर करते है[2]—

१. जे सांनुकूल श्री गुरु। ज्ञानदेओ म्हणे ।।
२. गुरुकृपा काय नाहे। ज्ञानदेओ म्हणे ।।
३. ज्ञानदेओ म्हणे ठेंकुले। तैसे हे नोहे ।।
४. केले ज्ञानदेवे गीते। देशीकार लेणे ।।

अपने गुरु निवृत्तिनाथ का नाम लेकर अपने आपको 'निवृत्तिदासू' अर्थात् निवृत्तिदास भी कभी-कभी कहते है। ज्ञानेश्वरी के विवेचन, निर्माण और कथन का सारा श्रेय वे अपने गुरु निवृत्तिनाथ को देते हैं। वे कहते है—देशी भाषा मे सस्कृत गीता को सुन्दर भाव-भगिमा, अलङ्कार आदि से मैंने सजाया है। ऐसा उनका विनम्र भाव है। जो सस्कृत नही जानते, वे भी इस मराठी टीका को पढकर उसका सार ग्रहण कर लेगे, ऐसा उनका विश्वास है।

---

१. कठोपनिषद (२–१५)।
२. ज्ञानेश्वरी—१–२०३, १८।१७१३, १८।१७६२ और १८।१५

जिस प्रकार शङ्कर, रामानुज, मध्वाचार्य, वल्लभाचार्य ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखे है, जिनमें अपने-अपने मतो का प्रतिपादन है, वैसे ही ज्ञानेश्वर ने किया है।

ज्ञानेश्वरी में मिलने वाले आध्यात्मिक विचारो का सार—

ज्ञानेश्वर के अध्यात्म विषयक विचारो का निष्कर्ष इस प्रकार है। १. परमतत्व सर्व शून्यो का निष्कर्ष महाशून्य है। २. वह वाणी का अथवा विचार का विषय नही बन सकता। क्योकि वाच्य-वाचक-भाव, विषय-विषयी-भाव जहाँ-जहाँ पर आया है, वहाँ पर द्वैत आता ही है और परमतत्व इतना एक रूप है कि उसे द्वैत की कल्पना तक नही भाती है। अभाव, एक, दो, सगुण, निर्गुण या सापेक्ष और द्वैत मूलक वर्णन के परे है। ३. द्वैत के काल्पनिक प्रदेश मे उतर कर उसका यदि वर्णन करना हो तो उसका वर्णन 'एकमेव अद्वितीय' ही किया जावेगा। ४. वह एक ही होने से उससे दूसरा कुछ भी नही उत्पन्न हुआ ५. भासमान होने वाला तथा होगया है ऐसा लगने वाला सारा अज्ञान एवम् माया है। ६. यह माया ही प्रकृति है। जीव और जगत् ऐसे दो स्वरूप अज्ञानमय प्रकृति के ही है। ७. जीव परमात्मा है। शरीरोपाधि के कारण वह अलग भासित होता है और प्रकृति के गुण व कर्म को अज्ञान के कारण अपने ऊपर लाद लेता है। इसीलिए उसके पीछे सांसारिक परम्परा एवम् झझट लग जाती है। ८. यह नाम रूपात्मक जगत् भी भ्रान्तिमूलक है। ९. प्रकृति, जीव, जगत् और यह समूचा विश्व परमात्मा ही है। १०. नाम रूप असत् होने से परमतत्व का और उसका कोई सम्बन्ध नही है। परमवस्तु नाम रूपातीत होने से वहाँ पर द्रष्टा-दृश्य-भाव और अह-इद-भाव नष्ट हो जाते है। तात्पर्य ज्ञानेश्वर ने सर्वशून्यवाद, अनिर्वचनीयवाद, अद्वैतवाद, अजातवाद और मायावाद को स्वीकार करते हुए आध्यात्मिक विवेचन का अन्वय और व्यतिरेक पद्धति से प्रतिपादन किया है।

ज्ञानेश्वर के मतानुसार मोक्ष के साधन कर्म, भक्ति, योग और ज्ञान है।

कर्मयोग को वे प्राथमिक स्वरूप का समझते है[1]—

> परिकर्म फली आश न करावी। आणि कुकर्मी सङ्गति न व्हावी।
> हे सत्क्रियाचि आचरावी। हेतूविण॥

कर्म करते समय कर्म फल पर आसक्ति मत रखो तथा उसके साथ दुष्कर्म का सम्पर्क भी न होने दो। निर्हेतुक बनकर अपना स्वधर्म पालन करना चाहिए

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय २–२६६।

अर्थात् निष्काम मनसे स्वधर्म क्रिया का आचरण करना चाहिए। ज्ञानयोग और कर्मयोग का समन्वय करने के लिए ज्ञानेश्वर का निवेदन है[1]—

एक ज्ञानयोगु म्हणिजे। तो सांख्यी अनुष्ठिजे ॥
जेथ वोल रवी सवें पविजे। तद्रूपता ॥
एक कर्मयोगु जाण। जेथा साधक जन निपुण।
होऊनिया निर्वाण। पावति-वेळे ॥

इनमें से एक ज्ञानयोग कहलाता है और इसका आचरण सांख्यवादी लोग करते है। जब मनुष्य की समझ में यह ज्ञानयोग अच्छी तरह आ जाता है तब जीवात्मा उस परमात्मा के साथ मिलकर एक हो जाता है। दूसरा कर्मयोग कहलाता है। जिन कर्म योगियों को यह सिद्ध हो जाता है वे उचित आचार करने वाले साधक बनकर उपयुक्त समय मे मोक्ष प्राप्त कर लेते हैं।

इनमे से यह प्रश्न सामने उत्पन्न हो जाता है कि कौन सा मार्ग स्वीकार किया जाय? इस पर उनका यह निर्णय है[2]—

म्हणोनि आइके पार्था। जे या निष्कर्म्य पदी आस्था।
तेया उचित कर्म सर्वथा। त्याज्य नोहे ॥
म्हणोनि जे जे उचित। आणि अवसरे करुनि प्राप्त।
ते कर्म हेतूं रहित। आचरे तूं ॥

इसलिए हे पार्थ सुनो जिसे इस नैष्कर्म में आस्था है उसे अपना स्वधर्मयुक्त आचरण करना ही चाहिये। उचित कर्मो का त्याग उसके लिए सर्वथा त्याज्य नही है। इसलिए यथा समय जो-जो कार्य उचित है उनका आचरण हेतु रहित होकर तुम करो।

नैष्कर्म्ययुक्त व्यक्ति कौन हो सकता है? यथा[3]—

म्हणोनि सर्वापरी जो मुक्त। तो सकर्मुचि कर्म रहितु।
सगुण परि गुणातीतु। येथ भ्रांति नाही ॥
म्हणोनि ब्रह्म तेचि कर्म। ऐसे बोधा आले जेयासम।
तेया कर्तव्य तें नेष्कर्म्य। धनुर्धरा ॥

जो सब प्रकार से मुक्त है, वह कर्म रहित होकर भी स्वधर्म रत है। उस कर्म में साकार लग जाने पर और गुण युक्त होकर भी वह गुणातीत है। इसमें

---

२. ज्ञानेश्वरी अ. ३–३६–३७।

२. ज्ञानेश्वरी अ. ३–५०।७८।

३. ज्ञानेश्वरी अ. ४–११४।१२१।

भ्रान्ति नही होनी चाहिए। इसलिए जिसे ब्रह्म और कर्म एक ही है, ऐसा बोध हो जायगा वह जो भी कार्य करेगा, वही कर्तव्य और नैष्कर्म्य हो जायगा। इसका कारण वह साम्य है।

लोगों के लिए किया गया कर्म[१]—

देखे प्राप्तार्थ जाले। जे निष्कामता पावले।
तेयाहि कर्तृत्व असे उरले। लोकांलागि ॥
मार्गाधारें वर्तावे। विश्व मोहरे लावावे।
अलौकिका नोहावे। लोकाप्रति ॥

जिन्हे कुछ प्राप्त करना था उसे उन्होने प्राप्त कर लिया, इसलिये वे निरिच्छ बन गये फिर भी लोगो को व्यवहार सिखाने के लिए कर्म करना पड़ता है। इसलिये हे पार्थ ! लोगो के व्यवहार की प्रणाली सब तरह से कायम रखना योग्य है। इसलिए शास्त्र वचनो के अनुसार स्वयम् व्यवहार कर अपने आचरण से दुनियाँ को सीधा मार्ग दिखाना चाहिए तथा लोकबाह्य-वर्तन नही करना चाहिए।

कर्मयोग और सन्यास योग समान है इसके बारे में ज्ञानेश्वर के ये विचार है[२]—

जैसा असतेन उपाधी। ना कलिजे तो कर्मबंधी।
जेयाचिये बुद्धी। संकल्पु नाहीं ॥
म्हणुनि कल्पना जें सांडे। तेंचिगा सन्यासु घडे।
येया कारणे दोन्ही सापडे। सन्यास योग ॥

जिसकी बुद्धि मे सकल्प नही होता, वह व्यक्ति परिवार मे रहकर भी कर्म बधनो मे नही फँसता, इसलिए जिस समय कल्पना से मुक्ति मिलती है, तभी वास्तविक रूप से सन्यास धर्म का पालन होता है। कल्पनाएँ आती रहती है तो सन्यास वास्तविक रूप मे नही हो सकता। इन कारणो से यह स्पष्ट हो जाता है कि कर्म सन्यास और कर्मयोग ये दोनो समान है। साख्य और कर्मयोग भिन्न-भिन्न फल देते है, ऐसा अज्ञानी मानते है। ज्ञानी मौन रहते है, क्योकि उन्हे मालूम है कि इन दोनो मे से एक का भी योग्य आचरण मोक्ष की प्राप्ति करा देता है।

कर्मो को ईश्वरार्पण करना चाहिए ऐसी ज्ञानेश्वर की सीख है[३]—

तेया सर्वात्मका ईश्वरा। स्वकर्म कुसुमांची वीरा।
पूजा केली होय अपारा। तोखालागि ॥

---

१. ज्ञानेश्वरी अ. ३–१५५।१७०।१७१।
२. ज्ञानेश्वरी अ. ५–२४–३५।
३. ज्ञानेश्वरी अ. १८—६१७।६१८।६२२

म्हणोनि तिये पूजे। रिझलेनि आत्मराजे।
वैराग्य सिद्धी दीजे। पसाया तेया ॥
म्हणौनि मोक्षा या लागि। जो व्रत वाहात़े अङ्गी।
तेणे स्वधर्मु चांगी। अधिष्ठावा ॥

हे वीर अर्जुन! उस सर्वव्यापक सर्वात्मक ईश्वर को स्वकर्म रूपी सुमनों से पूजा करने पर वह पूजा उसके अपार सन्तोष का कारण बन जाती है। इसलिए इस प्रकार की पूजा से संतुष्ट बने हुए आत्मराज परमात्मा से उसे वैराग्य सिद्धि का प्रसाद मिल जाता है। इसलिए मोक्ष की प्राप्ति की इच्छा से जो अपने अङ्गों से व्रतों का आचरण करता है उसे चाहिये कि वह स्वधर्म का पालन अच्छी आस्था के साथ अवश्य करे। अपना स्वधर्म आचरण मे लाने के लिए कठिन भी क्यो न हो फिर भी उसे बराबर आचरण में लाना चाहिए। तथा जिन परिणामों से वह फलीभूत होगा उन परिणामों की ओर दृष्टि रहनी चाहिए।

कर्म फल ईश्वरार्पण करने से ही ज्ञान प्राप्ति होती है[1]—

स्वकर्माच्या चोखौ कीं। मज पूजा करुनि भली।
तेणे प्रसाद आकळी। ज्ञान निष्ठेते।

हे अर्जुन! स्वकर्म रूपी पवित्र पुष्पों से मेरी अच्छी तरह पूजा कर क्योंकि उससे संप्राप्त मेरे प्रसाद से कर्मयोगी ज्ञान-निष्ठा प्राप्त कर लेता है। इसका फल यह होता है कि उसे ज्ञान प्राप्ति हो जाती है।

ज्ञानेश्वर के मत से और गीता के प्रतिपादन से यह प्रतीत होता है कि भक्ति-योग, कर्म-योग के आगे की सीढ़ी है। वे कहते है[2]—

म्हणौनि येर ते पार्था। नेणतीचि हे व्यथा। जे का भक्ति पंथा।
वोटंगले ॥
ययापरी पाही। अर्जुना माझा ठाई।
सम्यासूनि नाहीं। करिती कर्मे ॥

हे अर्जुन! जो भक्ति-मार्ग में लगे है वे इन दुःखों को जान ही नही पाते। भक्ति-मार्ग मे जो व्यक्ति लग जाते है उनके कर्मेन्द्रिय अपने-अपने वर्णाश्रम धर्म के अनुसार सारे कर्म आनन्द से करते है। जो पुरुष शास्त्र मे बतलाये गये आदेशों का पालन करते हैं, वे शास्त्र निषिद्ध कर्म नही करते और किये गये कर्मो के फल और वे कर्म मुझे अर्पण कर उनको जला देते हैं। इस तरह हे अर्जुन! मुझमे

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८–१२४७।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १२–७८।

कर्मों का त्याग नियोजित करके अर्थात् सारे कर्म मुझे अर्पण करके ऐसे लोग कर्मो का नाश कर लेते है। जितनी भी शारीरिक, वाचिक और मानसिक क्रियाएँ होती है उन सबकी प्रवृत्ति मेरे अतिरिक्त अन्यत्र कही भी नही रहती।

ज्ञानेश्वर 'कर्माणि सन्यस्य' का अर्थ, 'वर्ण-प्राप्त' कर्म करते हैं। इन कर्मो को ईश्वरार्पण करना चाहिए ऐसा कहकर ज्ञानेश्वर भक्ति के साधन का कर्मयोग के साथ सम्बन्ध जोड देते हैं। साधक को तथा जिज्ञासु भक्त को चाहिए कि वह विहित कर्मो का त्याग न करे। शङ्कराचार्य और ज्ञानेश्वर दोनो इससे सहमत है। ज्ञानेश्वर भक्त और योगी को इस प्रकार देखते हैं—

येयापरि जे भक्त। आपण जे मज देत।
ते भी योग युक्त। काम मानी ॥
तरी व्यक्त आणि अव्यक्त। तूंचि येक निभ्रान्त।
भक्ति पावि जे व्यक्त। अव्यक्त योगे ॥[१]

इस प्रकार जो भक्त अपना आत्मभाव मुझे प्रदान करते है, उन्हे ही मै श्रेष्ठ कोटि के योग-युक्त व्यक्ति मानता हूँ। अर्थात् वे भक्त होकर भी श्रेष्ठ योगी है। क्योकि व्यक्त रूप से या अव्यक्त रूप से एक ही ब्रह्म की उपासना होती है। अर्जुन कहते है कि हे भगवान्! व्यक्त रूप से अथवा अव्यक्त रूप से आप एक रूप हैं। यही ज्ञात होता है, इसमे किसी प्रकार का सदेह नही है। भक्ति के साधन से व्यक्त स्वरूप की प्राप्ति और योग से अव्यक्त स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है। ज्ञान की श्रेष्ठता को ज्ञानेश्वर इस प्रकार प्रकट करते है—

ऐके जया प्राणियाच्या ठायी। इया ज्ञानाची आवडी नाहीं।
तयाचे जियाले म्हणो काई। वरी मरण चांग ॥[२]

भगवान् श्रीकृष्ण कहते है कि हे अर्जुन! सुनो। जिन प्राणियो मे ज्ञान की निष्ठा और चाह नही है, ऐसे लोगो का जीवन व्यर्थ है। इससे तो मृत्यु ही अच्छी और श्रेष्ठ है। डा० रानडे का यह मत है कि 'वेदो की भक्ति का स्वरूप और गीता की भक्ति का स्वरूप इनमे एक ही तरह की वातें नही है। वेदो की भक्ति अव्यक्त की ओर यज्ञ द्वारा अग्नि की सहायता से की जाती है तो गीता की भक्ति व्यक्त की ओर विना अग्नि के की जाती है। इससे वैदिक भक्ति का विकास होकर व्यक्त की भक्ति अस्तित्व मे आई।'[३]

---

१. ज्ञानेश्वरी १२–३६।२३।
२. ,, अध्याय ४–१६३।
३. मिस्टिसीजम् इन महाराष्ट्र—प्रो. आर्. डी. रानडे।

ज्ञानेश्वर के ग्रन्थों को पढ़कर उनके व्यासग की, उनके प्रगाढ ज्ञान की और परिपक्व और उच्च कोटि के अनुभव की कल्पना आ जाती है। ज्ञानेश्वर के अद्वैत सागर में उपनिपद, गीता, गौडपाद-कारिका, योग वासिष्ठ, शांकर तत्वज्ञान, कश्मीरी शैवागम सम्प्रदाय दर्शन तथा गुरु परम्परा से संप्राप्त नाथ पंथीय तत्वज्ञान इन सप्त सिन्धुओं का प्रवाह आ मिला है। इससे निष्कर्ष रूप मे हम यह कह सकते हैं कि—

१. ज्ञानेश्वर स्वयम् अपना दर्शन प्रस्थापित कर उसे अपने ढङ्ग से समझाते है।
२. ज्ञानेश्वरी शाकर मत को स्पर्श करते हुए लिखी गई।
३. रामानुज के मतों का सस्कार ज्ञानेश्वर पर नही हुआ है। उनके दार्शनिक सिद्धान्तों से ज्ञानेश्वर का साम्य भी नही है।
४. अमृतानुभव में शांकराद्वैत के साथ शैवागमद्वैत का ही प्रतिपादन है, परन्तु प्रतिपादन की पद्धति उनकी अपनी है।
५. वल्लभ-सम्प्रदाय के मतों का या तत्वज्ञान का ज्ञानेश्वर पर प्रभाव नही पड़ा है।
६. पांचरात्र सिद्धान्त का परिणाम अमृतानुभव पर और ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान पर नही पड़ा है।
७. ज्ञानेश्वर द्वैताद्वैती भी नही।
८. क्योकि वह द्वैत भ्रमात्मक और जीव तथा जगत् अज्ञात कार्य होने से उसे भी असत्य मानते है। जगत परमात्म रूप से सत् है ऐसा कहने पर जगत् रूप से वह असत्य भी हो जाता है।
९. कश्मीरी शैवाद्वैत शङ्कराचार्य के अद्वैत की अपेक्षा अधिक भिन्न नही है। वे आत्म ख्याति से अद्वैत सिद्ध करते है तो शङ्कर अनिर्वचनीय ख्याति से अद्वैत सिद्ध करते हैं। इतना ही भेद है।
१०. ज्ञानेश्वर का तत्वज्ञान पूर्णतया अद्वैतवादी है। शङ्कर के अनिर्वचनीय मायावाद का या अज्ञानवाद का उपयोग तो किया ही है, परन्तु इसके अतिरिक्त गौडपादकारिका, योगवासिष्ट, शैवाद्वैत और नाथपथ मे प्रयुक्त युक्तिवाद तथा शैवाद्वैतवाद के तर्क भी ज्ञानेश्वर ने लिए है. इससे ज्ञानेश्वर का निर्गुण, निर्विशेष अद्वैत तत्वज्ञान एक ओर से शून्यवादी और मायावादी है, तो दूसरी ओर से विज्ञानवादी, दृष्टिसृष्टिवादी और स्फूर्तिवादी वन गया है। आत्म-ख्याति और अनिर्वचनीय-ख्याति या अन्वय और व्यतिरेक इन दोनो पद्धतियो को और शैलियों को वे अपने विवेचन मे अपनाते हैं। शङ्कर की अपेक्षा

अधिक युक्तिवाद प्रयुक्त करने से शकर की अपेक्षा ज्ञानेश्वर का तत्वज्ञान एकदम भिन्न नही हो सकता। वेदों के अद्वैत सम्प्रदायके अतिरिक्त विशिष्टाद्वैत शुद्धाद्वैत या द्वैताद्वैत आदि मे से किसी भी सम्प्रदाय का ज्ञानेश्वर ने अनुकरण नही किया है। ज्ञानेश्वर के तत्वज्ञान को हम वेदों के अनेक मतो की खिचड़ी भी नही मानेगे। यों सब प्रकार के युक्तिवादों से एक अद्वैत का ही प्रतिपादन उनके तत्वज्ञान मे किया गया है।

११. ज्ञानेश्वर के सब ग्रन्थों मे एक ही तत्वज्ञान का प्रतिपादन किया गया है। केवल कही अन्वय पद्धति और कहीं व्यतिरेक पद्धति पर जोर दिया गया है।

१२. ज्ञानेश्वर केवल अनुवादकर्ता नही है। उन्होने कई स्थलो मे गीता के स्वतन्त्र अर्थ भी किये है। किसी भी तत्वज्ञान की नवीनता, तत्व की अपेक्षा तत्व-प्रतिपादन शैली मे ही रहती है। ज्ञानेश्वर की शैली में यह नवीनता या अपूर्वता उनके सभी ग्रन्थो मे दिखाई देती है। वे स्वयम् एक साक्षात्कारी योगी थे। इसलिए वसिष्ठ, याज्ञवल्क्य, अश्व घोष, गौड़पाद, शकराचार्य, शैवामताचार्य अभिनव गुप्त आदि अद्वैत सम्प्रदायो के महर्षियों की श्रेणी मे सम्मान से बैठाने योग्य ज्ञानेश्वर है।

ज्ञानेश्वर सर्व शून्यवादी है, 'ज्ञानेश्वर दर्शन' पुस्तक के अध्यात्मखड मे प्रो. श. वा. दाडेकर 'ज्ञानेश्वर महाराजांचे तत्वज्ञान' नामक लेख मे प्रतिपादन करते है कि शकर केवलाद्वैती थे और ज्ञानेश्वर पूर्णवादी थे। यह भेद उचित सा नही जान पड़ता।[1]

ज्ञानेश्वर ज्ञानपूर्ण और ज्ञानोत्तर कर्म का उपदेश देते है[2]—

हे कर्म मी कर्ता। आचरेन मी येया अर्था।
ऐसा अभिमान झणे चित्ता। रिघो देसी।
जगीं कीर्ति रूढवीं। स्वधर्माचा मानु वाढवीं।
यया भारा पासोनि सोडवीं। मेविनी हे॥[3]

'यह विहित कर्म मैंने किया हैं, मैं उसका कर्ता हूँ और एक विशिष्ट कारणार्थ मै इस कर्म का आचरण करूँगा ऐसा अहकार तुम्हारे मन मे आ सकता है। किन्तु उसे मत आने दो। तुम्हे केवल देहासक्त होकर नहीं रहना चाहिए।

१. ज्ञानेश्वर दर्शन–अध्यात्म खंड–शं. वा. दांडेकर कृत लेख—
'ज्ञानेश्वरांचे तत्वज्ञान'

२. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३।१८७–१९०।

३. ज्ञानेश्वरी अध्याय ३।१९० ज्ञानेश्वर।

अपनी सब कामनाओं को त्यागकर सारे भोगों का यथाकाल उपभोग लेना चाहिए। इसलिए तुम अब अपने हाथ मे धनुष लेकर इस रथ पर आरूढ़ हो जाओ और आनन्द से वीरवृत्ति का अङ्गीकार करो। इस ससार में तुम अपनी कीर्ति पताका फहराओ, अपने धर्म की प्रतिष्ठा बढाओ और पृथ्वी को दुष्टों के अत्याचारों से मुक्त करो।'

ज्ञानेश्वरी को सभी मराठी भाषी लोग माताके समान मानते हैं। स्वानुभवी लोगो के लिए अमृतानुभव, मुमुक्षुओं के लिए ज्ञानेश्वरी, तथा सबके लिए एवं नित्य-पठन के लिए हरिपाठ और अभङ्ग हैं। इस तरह जान पड़ता है कि समाज के सर्व स्तरीय लोगों की पारमार्थिक उन्नति हो इस बात की चिंता ज्ञानेश्वर को थी। ज्ञानेश्वर रचित साहित्य में कही भी निराशावाद नही है। ज्ञानेश्वर संपूर्ण रूप से आनन्दवादी थे। उनका अल्पायु में समाधि लेना यही सिद्ध करता है कि ईश संकल्प और ज्ञान सम्पन्न आत्मानुभव की पूर्णता उनमें आ गयी थी। इसकी सार्थकता प्राप्त हो जाने पर ही उन्होंने समाधि ले ली।

ज्ञानेश्वर का जीवन विषयक दृष्टिकोण—

ज्ञानेश्वर ने मानवी कर्तव्य की और मानवी साफल्य की कल्पना को दार्शनिक आधार लेकर स्पष्ट किया है। मानव जीवन के संबध मे उनका यह दृष्टिकोण है कि प्रत्येक मनुष्य को अपना ध्येय निश्चित करने की और उसे प्राप्त करने की स्वतन्त्रता है। सारे शास्त्र मानवो के लिए हैं। देव-शरीर भोग भूमि और मानवी-शरीर कर्म भूमि है। मानवी देह से स्वतन्त्र कर्तव्य करने का अवकाश प्राप्त हो जाता है। मानव मे अपनी अस्मिता होने से जीव कर्ता और भोक्ता दोनो है। ज्ञानेश्वर के अनुसार जीव का स्वरूप देह, इन्द्रिय, प्राण, मन, बुद्धि और आत्मा का सघात हैं। इन सबका पूर्ण विकास ही जीवन है। परमार्थ साधन के लिये उत्तम शरीर की आवश्यकता ज्ञानदेव मानते है। ज्ञानेश्वर को देहात्मवादी सुखवाद और इन्द्रियात्मवादी जीवन अमान्य है। अनुकूल विषयो का और इन्द्रियों का सयोग होने पर जिस सवेदनाका निर्माण होता है उसे सुख कहते है। ज्ञानेश्वरके अनुसार वास्तविक सुख 'आत्मबुद्धि प्रसादज' है। देह, इन्द्रिय, मन, और बुद्धि इन सब के परे आत्मा है—ऐसी अनुभूति लेते हुए व्यवहार करने मे जीवन साफल्य है। सम्पूर्ण ऐन्द्रिय सुख की प्राप्ति मे जीवन साफल्य नहीं है। मनुष्य दैवी सामर्थ्य से सम्पन्न है। इसीलिए ज्ञानेश्वर अमृतानुभव मे इस प्रकार बतलाते है कि[1]—

---

१. ज्ञानेश्वर—अमृतानुभव (९–६५)।

शिवा-शिवा समर्थ स्वामी। एवढिये आनन्दभूमि।
घेपेदिजे आम्ही। ऐसे केले॥

हे समर्थ सद्गुरु ! आपकी जय हो, हमारा कल्याण करने की पात्रता और सम्पन्न शक्ति प्रदान कर आपने हम पर कितनी कृपा कर दी है। इसी आनन्द-प्राप्ति-सम्पन्नता की भूमिका से युक्त होकर हम आध्यात्मिक सुख को ले-दे सकते है। ज्ञानेश्वर की ऐसी मनोभूमि बन जाने पर ही उन्होने अमृतानुभव लिखा। ज्ञानेश्वर आध्यात्मिक लोकोपकारवाद सिखाते हैं। अरस्तू जिसे 'सुप्रतिष्ठित' कहते हैं, स्टोईक जिसको 'प्रतिभा-सपन्न' एवम् 'सयाना' कहते है, तथा नित्शे जिसे 'अति मानव' (सुपरमैन) कहते है, ऐसी तीन विशेषताओ से युक्त तथा आध्यात्मिक प्रभुता सम्पन्न पुरुष ही ज्ञानेश्वर का 'आदर्श पुरुष है।

ज्ञानदेव का योगमार्ग—

ज्ञानदेव के अनुसार योगमार्ग पथ राज है। ज्ञानेश्वर स्वयम् योगमार्ग के जानकार थे। सन्यास ही योग है, ऐसा वे कहते है। पातजल का योगसूत्र ग्रन्थ प्रसिद्ध है। विभिन्न तत्र और क्रियाएँ तथा शारीरिक व्यायामों से भरा हुआ योगमार्ग आचरण के लिए सरल है। योग-सिद्धि का तात्पर्य चमत्कार नही है। वे चमत्कार को गौण बतलाकर योगमार्ग को जीवन मुक्ति का ब्रह्म साक्षात्कार का अर्थात् मोक्ष का मार्ग बतलाते है। महेश सब योगियो के गुरु हैं। ज्ञानमार्ग और योगमार्ग का आशय कर्म मार्ग है ऐसा उनका निवेदन है। कर्ममार्ग का अर्थ कर्मठता नही है। ज्ञानेश्वरी मे वर्णित योगमार्ग को वे कर्ममार्ग मानते है।

कर्म से उपलब्ध होने वाले फल का आश्रय न करते हुए उस पर दृष्टि न रखते हुए व उसकी चिन्ता न करके कार्य का फल मिलेगा ऐसी आशा से प्रवृत्त न होकर केवल स्वकर्तव्य के नाते जो कर्म करता है उसे सन्यासी कहना चाहिए। वही योगी भी है। इस तरह कर्म का अवलब करने वाला गृहस्थाश्रमी भी सन्यासी और योगी हो सकता है। इस पर ज्ञानेश्वर के विचार इस तरह हैं।[1]

गृहस्थाश्रमाचे ओझे। कपाळी आधीचि आहे सहजे।
कीं तें चि सन्याससवा ठेविजे। सरिसे पुढती॥
जेथ सन्यासिला संकल्पु तुटे। तेथेचि योगाचे सार भेटे।
ऐसे हे अनुभवाचेनि घटे। साचे जया॥

गृहस्थाश्रम का उत्तरदायित्व यो तो सबको निबाहना ही पडता है। उसे टालने के लिये यदि सन्यास भी लिया जाय तो उसे सन्यासाश्रम का बोझ भी सिर

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।४९–५०–५१–५३॥

पर लाद लेना पडता है। इसलिए अग्निसेवा का वर्जन न करते हुए कर्माचरण की मर्यादा न लाँघते हुए भी ज्ञानयोग का सुख अपने स्थान पर रहकर सहज ही मिल सकता है। जिस स्थान पर किया गया संकल्प विलकुल नष्ट हो जाता है, वहीं पर योग के सर्वस्व-सार-ब्रह्म का साक्षात्कार हो जाता है। इस तरह की प्रत्यक्षानुभूति जिसे हो जाती है अर्थात् अनुभवो की तराजू में तौलकर जिसने उसे प्रत्यक्ष कर लिया है वही सन्यासी और योगी है। योग के आठ अङ्ग हैं—१. यम, २. नियम, ३. आसन, ४. प्राणायाम, ५. प्रत्याहार, ६. धारणा, ७. ध्यान, ८. समाधि। ज्ञानेश्वर योग को पर्वत की उपमा देते हैं। यम-सामान्य आत्म सयम और नियम-विशिष्ट आत्म सयम। यम नियम की तलहटी से आगे चलकर आसन के मार्ग के रूप में एक पगडंडी मिलती है जो प्राणायाम के पर्वत-शिखर पर पहुँचती है। इस पर चलकर उसका अन्तिम सिरा आ जाता है जिसे 'ज्ञानेश्वर' 'अघाडा Point) जैसे महावलेश्वर या माथेरान आदि हैं, कहते हैं। इसे ही प्रत्याहार कहते हैं। इस मार्ग की चढ़ाई वैराग्य के नखो का आश्रय लेकर पार करनी पड़ती है। इसके आगे पवन का और हवा का ऊँचा मैदान (Table-Land उपलब्ध होता है। इसके आगे धारणा का विस्तीर्ण प्रदेश मिलता है। ध्यान उसका अंत है। यहाँ आकर प्रवृत्ति की दौड समाप्त हो जाती है, और साध्य साधन की उपलब्धि हो जाती है। फिर इसके आगे कोई राह ही नही है। यही पर समाधि है। आसन के लिए व्यवस्थित वैठना पड़ता है। प्राणायाम से शरीर की वायु नियमित और नियंत्रित हो जाती है। प्रत्याहार मे विषयों में रत इन्द्रियो को जानबूझकर उनके विषयो से हटाकर इन्द्रियों पर अपनी सत्ता प्रस्थापित करनी पड़ती है। प्रत्याहार साध्य हो जाने पर वैराग्य प्राप्ति होती है। धारणा मे मन की एकाग्रता कर लेनी पड़ती है। ध्यान मे प्रथम आवश्यक हो तो सगुण साकार और क्रम-क्रम से निर्गुण निराकार परब्रह्म का चिन्तन करना पड़ता है। योग मार्ग की परिणति समाधि में होती है। इसमें अपने विचार और परब्रह्म का ऐक्य हो जाता है। योगमार्ग की यही परम्परा है। इस योग-मार्ग का अध्ययन वहुत कठिन है। इसमे निपुण वही व्यक्ति हो सकता है जो इन प्रकार की विशेपताओं से युक्त होगा।[१]

> तरीं जयाचिया इन्द्रियांचिया घरा। नाहीं विषयांचिया।
> येरझारा।। जो आत्मबोधाचिया वोवरा। पहुंडला असे।।
> असोनि देहे एतुला। जो चेतुचि दिसे निदेला। तोचि योगारुढु
> भला। बोळखें तू।।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।६२–६५।

'योगारूढ़ पुरुष उसी को कहना चाहिए, जिसकी इन्द्रियो के घर में विपयों का आवागमन वन्द हो जाता है और जो आत्मज्ञान की कोठरी मे सुखपूर्वक आत्मानन्द मे सोया रहता है, जिसके मन मे सुख-दु.ख के फेर मे पड़कर झगड़ने का चाव नही रह जाता और इन्द्रिय-विपय के पास आ पहुँचने पर भी जिसे इस वात का कभी ध्यान भी नही होता कि ये विपय क्या हैं, इन्द्रियों को कर्माचरण के मार्ग मे लगाने पर भी जिसके अन्त:करण मे कर्मो के फलो के सम्वन्ध मे नाम की भी आसक्ति नही रहती, जो केवल देह-धारण के लिए जागृत रहता है और सदा आत्म भावना मे लीन रहता है।

योगाभ्यास के लिए ऐसा स्थल चाहिए जहाँ जाने पर वैराग्य प्रवृत्ति दुगुनी होकर जागृत हो जाय। ज्ञानेश्वर के शब्दों मे ऐसे स्थल को देखिए[1]—

जेथ अमृताचे नि पाडें। मुळे ही सकट गोडे।
जोड़ती दाटे झाडे। सदा फळतीं॥
परि अवश्यक पांडवा। ऐसा ठावो जोडावा।
तेथ निगूढ मठ हो आवा। कां शिवालय॥

वह स्थल ऐसा होना चाहिए जहाँ वड़े-वडे सघन वृक्ष हो जो जड से ही अमृत के समान मीठे और सदा वारहो मास फल देने वाले हो। साथ ही साथ उस स्थान पर वर्षा-काल के अतिरिक्त अन्य ऋतुओ मे भी पग-पग पर पानी मिलता हो और विशेषत: वहाँ पानी के वहते हुए झरने भी यथेष्ट रूप से विद्यमान हो। वहाँ गरमी वहुत ही ठिकाने की और साधारण पडती हो और शीतल तथा शान्त मन्द-मन्द वायु वहती हो। वह स्थान इतना शान्त होना चाहिए कि किसी प्रकार का शव्द वहाँ न सुनाई देता हो और पशुओ आदि की कौन कहे, तोते या भ्रमर तक का भी जहाँ प्रवेश न पाया जाय। वह स्थान ऐसा हो जहाँ पर पानी के सहारे रहने वाले हस और दो-चार सारस आदि पक्षी ही कही-कही दिखाई पडते हो और कभी-कभी कोई कोयल वहाँ आकर वैठती हो। इमी प्रकार कभी-कभी कुछ मोर भी वहाँ आया करते हो, तो कोई हर्ज नही। हे अर्जुन! ऐसा ही स्थान वहुत ही सावधानी के साथ ढूँढना चाहिए जहाँ पर इनके अतिरिक्त कोई मठ या शिव मन्दिर भी विद्यमान हो। ऐसे ही एकान्त स्थल मे योगाभ्यास सभव है।

ऐसे स्थल पर धोया हुआ वस्त्र फैलाकर उस पर मृगाजिन विछाकर वैठना चाहिए। जिस दर्भासन पर वैठते है उसके दर्भ अखण्ड और मुलायम होने चाहिए। यह आसन वहुत ऊँचा या जमीन की सतह जैसा कठिन और सख्त न हो।

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।१७३–१७९।

आसन की स्थिति समतल हो। जिस पर सद्गुरु का स्मरण कर आसनस्थ होना चाहिए। निश्चल मन से लगातार गुरुस्मरण करते हुए एकाग्रता प्राप्त होने तक उसे जारी रखा जाय। आसन विधि परिपूर्ण कर जालधर वध तथा उड्डियान वंध सध जाने पर मनोधर्म की प्रवृत्ति नष्ट हो जाती है और ऐसी स्थिति वन जाती है—

कल्पना निमे। प्रवृत्ति शमे। आंग मन विरमे। सावियाचि॥
क्षुधा काय जाहाली। निद्रां केउते गेली। हे आठवण ही हारपली।
न दिसे वेगा॥[1]

वहाँ पर कल्पना नष्ट हो जाती है, मन की वाह्य विषयों की ओर जाने वाली दौड़ रुक जाती है तथा सहज ही रूप से शरीर और मन शांत हो जाता है। भूख कहाँ चली गई तथा निद्रा कहाँ नष्ट हो गई इसकी स्मृति तक नही वनी रहती। न तो भूख लगती है न नीद का असर होता है।

आसन विधि का परिणाम कुण्डलिनी जागृति में दिखाई देता है। इसका वड़ा सटिप्पण वर्णन ज्ञानेश्वर करते है[2]—

नागिणीचे पिलें। कुमकुमें नाहलें। वळण घेऊनि आले।
सेजे जैसे॥
तैसी ते कुंडलिनी। मोटकीं औटवळणी।
अघोमुख सर्पिणी। निदेली असे॥
विद्युल्लतेची विडी। वन्हिज्वालाची घडी॥
पंघरेया ची चोखड़ी। घोटीव जैशी॥

केशर से स्नात नाग का वच्चा जिस प्रकार कुण्डल मारकर सो जाता है उस प्रकार साढ़े तीन कुण्डल मारे वैठी हुई कुण्डलिनी रूपी नागिन अथोमुख होकर सोगई है। वह नागिन ऐसे लगती है मानो विजली की चक्राकार लता के समान मूर्तिमान ककण रूप मे वनाई गई हो अथवा प्रत्यक्ष अग्नि के ज्वाला की दोहरी रेखा या पर्त हो या मानो वढ़िया स्वर्ण की घोटे हुए पाँसे की लड़ियाँ ही सामने दिखाई देती हों।

इस प्रकार हो जाने पर कुण्डलिनी को अमृत सरोवर से जव अमृत मिलता है तव योगी नया शरीर धारण करता है उसकी शोभा का ज्ञानेश्वर यों वर्णन करते हैं[3]—

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।१२–२१३।
२. ज्ञानेश्वरी ,, ६।२२२–२२३–२२४।
३. ज्ञानेश्वरी ,, ६।२५३–२५६।

मग काश्मीराचे स्वयंभ। कां रत्नबीजा निघाले कोंभ।
अवयव कांतिची मांव। तैशी दिसे॥
तैसे शरीर होये। जेवेळीं कुण्डलिनी चंद्रपिये। मग देहाकृति
विहे। कृतांतुगा॥

वह शरीर ऐसा है, मानो मूर्तिमान स्फटिक का बना हुआ हो अथवा रत्नरूप बीजों मे मानों अकुर फूट निकले हो, इस तरह अवयवों की कांति हो जाती है। सायकाल के आकाश मे दिखाई पडने वाले रंगों से ही मानो यह मूर्ति बनाई गई हो ऐमा प्रतीत होता है अथवा प्रत्यगात्मा का लिग ही शुद्ध रूप से विद्यमान हो। केशर से कुकुम से पूर्ण रूप से भरा हुआ अथवा अमृतरस के साचे मे ढला हुआ अथवा शाति ही मूर्तिमान हो गई हो। उस योगी का शरीर आनन्द रूपी चित्र का रग ही प्रत्यक्ष सामने आ गया हो, अथवा ब्रह्म-सुख की मूर्ति ही सामने आगई हो, ऐसा प्रतीत होता है अथवा संतोप रूपी वृक्ष का छोटा-सा खिला हुआ स्वरूप ही मानो दिखाई दे रहा हो। उस योगी का शरीर स्वर्णचंपक की बडी कली के समान कान्तिमान दिखाई पड़ता है. अथवा यों कहिये कि सामने अमृत का सजीव पुतला ही आगया हो। वह शरीर ऐसा सुकोमल लगता है मानो पुष्पित बगीचा ही सामने लहलहाता हो। अथवा कहा जा सकता है कि शरद ऋतु की आर्द्रता एवम् तरलता से युक्त स्वच्छ चन्द्र-बिम्ब ही निकल आया हो या तेज ही मूर्तिमान होकर आसनस्थ हो बैठा हो। कुण्डलिनी के अमृत प्राशन से शरीर की उपर्युक्त दशा हो जाती है। ऐसी देहाकृति को देखकर यम भी डरता है। ऐसी स्थिति मे पहुँचा हुआ योगी अपने मे कुछ खास विशेपतायें रखता है। यथा—

मग समुद्रा पैली कडचे देखे। स्वर्गीचा आलोक आई के।
मनोगत ओळखें। मुंगियेचे॥[1]

ऐसा योगी समुद्र के उस पार देख सकता है, स्वर्ग के विचार सुन सकता है और चीटी के मन का भाव पहिचान सकता है। कुण्डलिनी के एक बार हृदय मे समाविष्ट हो जाने पर अनहद नाद सुनाई पड़ता है। ये नाद १० है और कल्पना-शक्ति भी उसे नही समझ पाती। हृदयाकाश के ऊपर महादाकाश हे जो ब्रह्मरध्र कहलाता है। उस ब्रह्मरध्र मे कुण्डलिनी घुसती है और चैतन्य को अपने तेज का भोजन करवाती है। इस भोजन की तरकारी बुद्धि है। ऐसा भोजन करने से द्वैत भाव नष्ट हो जाता है। अन्त मे कुण्डलिनी शक्ति का तात्पर्य प्रणव ही है ऐसा रहस्योद्घाटन ज्ञानेश्वर करते है। नाथ-सम्प्रदाय और योग-सम्प्रदाय का यही

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।२६९।

रहस्य है। तात्रिक योगी को ज्ञानेश्वर कोई महत्व नही देते। समत्व प्राप्त अवस्था जिसके मन को प्राप्त हो गयी हो वही योगी हो सकता है। नाथ-मत के सकेत को अर्थात् शैवाद्वैत को ज्ञानेश्वर ने ठीक ही समझा है इसे देखिए[1]—

> पिडें पिंडाचा ग्रासु। तो हा नाथ संकेतीचा दंशु।
> परि दाऊनि गेला उद्देशु। महाविष्णु॥
> तया ध्वनिताचे केणें सोडुनी। यथार्थाची घडी झाडुनी।
> उपलाविली म्यां जाणुनी। ग्राहीक श्रोते॥

पंचमहाभूतात्मक शरीर का पचमहाभूतो मे लय कर देना ही पिंड का पिडके द्वारा ग्रास करना है। इसका मर्म आदिनाथ शङ्कर अपने हृदय में रखते है। उनके इसी सामरस्य का मर्म या सकेत ज्ञानेश्वर यहाँ स्पष्ट करते है। इसी का रहस्योद्घाटन भगवान् विष्णु भगवद्गीता के रूप मे बतला गये हैं। इसके ध्वन्यार्थ मे गूढ रहस्यो की गठाने पड गयी थी उनको खोलकर, उसके बस्ते को साफ कर इसके यथार्थ को खरीदने वाले योग्य ग्राहक अर्थात् श्रोतागण बैठे हुए है—ऐसा समझते हुए मैंने यह वस्त्र उमकी तहो को खोलकर सामने रखा है। अभिप्राय यह है कि श्रोतागण इस ज्ञानेश्वरी का मूल्य जानते है और उनकी रसिकता उन्हे इसका तत्वग्रहण करने को बाध्य करती है।

इसके बाद ऐसे योगी को सिद्धि प्राप्त हो जाती है। पर वह सिद्धि के पीछे नही पडता। तब आगे चलकर इस योगी के शरीर से भूतत्रय, पृथ्वी, आप और तेज का लोप हो जाता है। पृथ्वी का जल मे, जल का तेज मे, तेज का हृदय मे सचरण करने वाली वायु मे और अन्त मे यह वायु शरीर भी पवन नाम के आकाश मे लीन हो जाती है। कुण्डलिनी सज्ञा नष्ट होकर 'मारुत' यह सज्ञा उसे प्राप्त हो जाती है। यह मारुत जब तक शिवरूप नही बन जाता तब तक वह अपने शक्तिरूप मे ही रहता है। फिर वह योगी जालधर-बध का त्याग करता है और सुषुम्ना नाडी का मुँह खोलकर गगन के पर्वत पर अर्थात् ब्रह्मरध्र मे घुसकर वही आसन जमाता है। यह तो स्वानुभव गम्य चीज है इसका शाब्दिक वर्णन नही हो सकता। ऐसे योगी परमेश्वर की योग्यता के बन जाते है। पर अर्जुन को शंका उत्पन्न हुई और उसने कहा भगवन्! जिसमे योग्यता नहीं है, दृढता नही है, पक्कापन नही है, उन्हे यह योग कैसे प्राप्त होगा? कृष्ण के उत्तर को हम ज्ञानेश्वर के शब्दो मे ही सुनेगे।

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।२९१-९२।

हें काज कीर निर्वाण। परि आणिक ही जे कांही साधारण।
तें ही अधिकाराचे वोडवे विण। काय सिद्धि जाय ॥३९॥
नावेक विरक्तु। जाहला देहधर्मी नियतु। तरि तोचि नव्हे व्यवस्यितु।
अधिकारिया ॥[1]

श्रीकृष्ण कहते है कि अर्जुन तुम यह क्यो पूछते हो ? यह तो अत्यन्त उच्च कोटि की वात है, यो साधारण दिखाई देने वाले कार्य भी अधिकार की योग्यता प्राप्त किए विना भला कैसे सभव होगे ? इसलिए जिसे हम योग्यता कहते हैं, वह प्राप्ति के अधीन है ऐसा समझना चाहिए क्योकि योग्य बनकर जो कार्य करते है, वह प्रारम्भ मे ही फलदायक हो जाता है। वैराग्य-भावना थोडी सी मात्रा मे जिसमे विद्यमान है, और जिसने अपने शरीर की आवश्यकताओ पर अपना अकुश रखा है क्या वही इस कार्य का योग्य अधिकारी नही है ? इतनी सी युक्ति को अपनाकर तुम भी योग्यता प्राप्त कर लोगे। इस तरह अर्जुन की शका का समाधान भगवान् श्रीकृष्ण ने प्रस्तुत कर दिया है।

वैसे मन को जीतना एक वहुत जटिल कार्य है। किन्तु वैराग्य के आश्रय से उसे जीतना सरल हो जाता है।[2] जैसे—

परी वैराग्याचेनि आधारें। जरी लाविलें अभ्यासानि ये मोहरे।
तरी केतुलेनि अवसरे। स्थिरावेल ॥

वैराग्य के सामर्थ्य से मन को यदि अभ्यास मे लगाया जाय तो कुछ समय के वाद वह स्थिर हो जाता है। क्योकि मन की एक अच्छाई यह है कि अनुभूत मिठास जहाँ प्राप्त होती है वही पर मन रमता है। इसलिए आवश्यक यही है कि उसे कौतुकपूर्ण रीति से आत्मानुभव का सुख वार-वार चखाना चाहिए।

योगाध्यान का विवेचन—

ज्ञानेश्वर कृत योगाभ्यास का वर्णन इस प्रकार है। योगी जन पच-प्राण और मन को अत्यन्त सावधानी से कई वार अपने आधीन रखते हैं। वाहर से यम नियम की चहार दीवारी कर बज्रासन की दीवार खडी कर दी जाती है तथा प्राणायाम की तोपे तत्परता से अपना कार्य करती है। तव इस स्थान मे कुडलिनी जागृत होकर सर्वत्र उसका प्रकाश फैलता है और मन तथा पवन शरीर के अनुकूल हो जाते है। अमृत से हृदय सरोवर भर जाता है। उस स्थान पर प्रत्याहार से इन्द्रियो की एकाग्रता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है। विकार अपने स्वरूपो

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६।३३९–३४२।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय ६–४१९।

सहित नष्ट हो जाते है। सारी इन्द्रियाँ वशीभूत होकर अन्त.करण मे ही आकर रहने लगती है। धारणा रूपी अश्वो की भीड़ जमा हो जाती है। पंचमहाभूत इकट्ठे होकर आकाश मे समाविष्ट हो जाते है और सकल्प-विकल्पो की चतुरङ्ग चमू पराजित हो जाती है। विजय का डंका पीटते हुए ध्यान की ध्वजाएँ फहराने लगती है। योगी को आत्मानुभव का साम्राज्य मिल जाने से उसका पट्टाभिषेक समाधि लक्ष्मी के साथ पूर्ण हो जाता है। सक्षेप मे ज्ञानेश्वर ने योगाध्ययन का यही रूपक सामने रखा है। ज्ञानेश्वर स्वयम् एक महान योगी थे तथा दैनदिन रूप मे उनका योग का बड़ा अभ्यास था। योग के अध्ययन से प्राप्त होने वाली मन.स्थिति और अनुभव अधिभौतिक स्थिति से इतने भिन्न है कि उन्हे धार्मिक न भी कहे तो आध्यात्मिक अवश्य कह सकते है। सिद्धी के पीछे पडने वाले योगी योग-भ्रष्ट और पथ भ्रष्ट हो जाते है। ज्ञानेश्वर ने उनकी सदा उपेक्षा की है। पातंजली 'योगाश्चित्तवृत्ति निरोधः' यही योग का प्रयोजन बतलाते है। परन्तु ज्ञानेश्वर मनोजय को ही योग का रहस्य मानते हैं। युक्ताहार विहार के कारण इस मार्ग को राजयोग यह सज्ञा मिली। योग की अति को अपनाने वाले हठ योगी कहलाते हैं। ज्ञानी, विचारी और तज्ञ लोग हठयोग को गौण मानते है। ज्ञानदेव ने इस गुप्त सपत्ति को योग मार्ग के साधन द्वारा जनता के सामने प्रस्तुत कर दिया। इस तन्त्र का आश्रय लेकर लोगो की आँखो मे धूल झोकी जा सकती है। ज्ञानेश्वर इसके विरुद्ध थे। प्राणायाम से नासिका रन्ध्रो से वायु समान रूप से बहने लगती है तथा निद्रा की आवश्यकता प्रतीत नही होती। चाहे जैसी परिस्थिति में हम क्यो न हो हमे सुगन्ध प्राप्त होती है। यह सब अनुभवगम्य है। शारीरिक दृष्टि से कुडलिनी का पता अभी नही चल सका है। पर इसे शक्ति, विद्युत या ऊष्णता कहते है। यह सामर्थ्य प्राप्त हो जाने पर उसके विशिष्ट परिणाम होने लगते है। ज्ञानेश्वर गुरु परम्परा से योगाभ्यास मे निपुण हो गए थे। अनजाने भी यदि पैर अग्नि पर पड जाता है तो वह अवश्य जलेगा ही। इसी सिद्धात के अनुसार गलती से भी क्यो न हो भगवान् का नाम लेने से मोक्ष मिलता है। ज्ञानेश्वर इस बात को नही मानते। भक्त के लिए, योगी के लिये और सत के लिए वैराग्य आवश्यक है। भक्ति मार्ग मे भी मनोजय का विशेष महत्व है। यही सकेत तुकाराम, एकनाथ और नामदेव मे भी मिलता है। करीब-करीब यही बात हिन्दी के भक्त कवियों मे भी उपलब्ध होती है।

गुरु द्वारा सप्राप्त लाभ—

अपने गुरु निवृत्तिनाथ के द्वारा ज्ञानेश्वर को नाथ सम्प्रदाय का तत्वज्ञान प्राप्त हुआ। ज्ञानेश्वर स्वयम् इसका वर्णन करते है—

तैसे श्री निवृत्ति नाथांचे। गौरव आहे जी साचे।
ग्रंथु नोहे हे कृपे चें। वैभव तये ॥[1]
ना आदि गुरु शंकरा। लागोनि शिष्य-परंपरा।
बोधाचा हा संसारा। जाला जो आमुते ॥[2]

इस ग्रन्थ की निर्मिति मे सचमुच श्री सद्गुरु निवृत्तिनाथ का गौरव है। यह केवल ग्रन्थ नही है, वरन् सद्गुरु निवृत्तिनाथ की कृपा का गौरव है। क्षीर समुद्र के भीतर पार्वती के कर्ण-कुहरो मे यह रहस्य भगवान् शकर ने कब उद्घाटित किया इसे कोई नही जानता। यह रहस्य क्षीरसागर की लहरो मे मत्स्य के पेट मे छिपे हुए भगवान् विष्णु के हाथ मे पडा। वे मत्स्येन्द्र सप्तशृङ्गी पर्वत पर टूटे हुए हाथ पैर की अवस्था मे पडे हुए चौरङ्गीनाथ से मिले और मिलते ही चौरङ्गीनाथ के सारे अवयव ज्यो के त्यो हो गये। अपनी समाधि-अवस्था एक सी बनी रहे इस इच्छा से प्रेरित होकर उस रहस्य को मत्स्येन्द्र ने गोरखनाथ को प्रदान कर दिया। ऐसे सर्वेश्वर मत्स्येन्द्रनाथ ने योगरूपी कमलो के सरोवर सदृश तथा विषयो का विध्वस करने वाले महान वीर गोरखनाथ को समाधिपद पर अभिषिक्त कर सामर्थ्य वान कर दिया। फिर गोरखनाथ ने शिवजी के द्वारा परम्परा से प्राप्त अद्वैत आनन्द का ऐश्वर्य उसके सारे सामर्थ्यो सहित श्री गहिनी नाथ को प्रदान कर दिया। कलि के द्वारा प्राणिमात्र ग्रसित हो रहे है, ऐसा देखकर श्री गहिनी नाथ ने निवृत्तिनाथ को आज्ञा दी कि आदिनाथ शकर से परम्परा द्वारा प्राप्त बोधामृत का लाभ हमसे लेकर कलि के द्वारा पीडित जीवो को देकर उनकी सकटो से मुक्ति करा दो। बादलो को वर्षाकाल की सहायता मिलने पर वे जिस प्रकार जोर से वृष्टि करते है उस प्रकार स्वभाव से ही कृपालु श्री निवृत्तिनाथ ने अपनी गुरु आज्ञा को सुनाया।

इसके आगे ज्ञानेश्वर कहते है कि[3]—

मग आर्तांचेनि वोरसे। गीतार्थ ग्रंथ नमिसे।
वर्षलो शांत रसे। तो हा ग्रंथु ॥
वोहळे हेचि करावे। जे गंगेचे आंग ठाकावे।
मग ही गंगाचि नव्हे तें तो काई करी ॥

ज्ञानेश्वर की विनय भावना—

ज्ञानेश्वर कहते है कि पीडित प्राणियो के लिए दयार्द्र होकर निवृत्तिनाथ के

---

१. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५०–५८।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५०–५८।
३. ज्ञानेश्वरी अध्याय १८।१७५९–७२।

द्वारा शांत रस की जो वृष्टि हुई उसी का प्रतिफल मेरे द्वारा प्रस्तुत गीता पर रचा गया यह टीका ग्रन्थ 'भावार्थ दीपिका' है। उस कृपा वृष्टि को ग्रहण करने के हेतु चातक पक्षी बनकर उत्कट इच्छा से प्रेरित होकर मै सामने आकर खड़ा हो गया इसीलिए गुरुकृपा से मै इस यश का भागी बन सका। इस तरह गुरु परम्परा से प्राप्त समाधि रूपी सपत्ति को ग्रन्थ रूप मे रचकर मेरे स्वामी निवृत्तिनाथ ने मुझे दे दिया। मै तो गुरु सेवा कैसे की जाती है यह भी नही जानता। न मैं पढ़ा लिखा हूँ और न मुझे ग्रन्थाध्ययन का अभ्यास है। फिर ग्रन्थ रचना करने की योग्यता मुझमें कैसे आ सकती है? फिर भी मुझे निमित्त बनाकर मुझसे यह ग्रन्थ रचवाकर पीडित ससार का रक्षण किया, यह निवृत्तिनाथ की कृपा का ही फल है। मै तो अपने गुरु का पुरोहित हूँ इस नाते मैंने कुछ कम अधिक रूप मे कथन किया हो तो हे श्रोतागण! माता की तरह क्षमाशील होकर उसे सहन कीजिए। यहाँ पर ज्ञानेश्वर की विनम्रता देखते ही बनती है। शब्द कैसे गढ़ा जाय? बढती हुई सरणी से प्रमेय अर्थात् सिद्धांत पूर्ण व्याख्यान कैसे किया जाय? और साहित्य शास्त्र मे अलङ्कार किसे कहते है? मै तो इनमें से कुछ भी नही जानता हूँ। कठपुतली को जिस तरह सूत्र से चलाया जाता है वैसे ही श्री सद्गुरु के द्वारा मेरे बहाने मेरे गुरु ही बोल रहे है। अपने गुरु के द्वारा उत्पन्न किए गये ग्रन्थ की मैंने रचना की अतएव इसके गुण दोषो के लिए मै विशेष क्षमा नही माँगता हूँ। इसके अतिरिक्त यदि आप जैसे सन्तो की सभा मे रहकर भी कोई त्रुटि रह गयी हो तो, और यदि आप लोगो के रहते हुए भी उसका परिमार्जन न हो तो मैं प्रेम पूर्वक आप लोगो पर ही नाराज हो सकता हूँ। यदि पारस के स्पर्श से लोहा अपनी हीन दशा को न छोड़ सका तो लोहे का उसमे क्या दोष है उसी तरह यदि सन्तो के रहते हुए मेरी ग्रंथ रचना मे दोष रह जाय तो उसमे मेरा क्या दोष? और भी अनेक सुन्दर और सार्थ दृष्टान्त देकर ज्ञानेश्वर अपनी शालीनता, सौजन्य और विनम्रता सूचित करते है। गुरु की कृपा से वे इस ग्रन्थ की निष्पत्ति कर सके इसकी कृतकृत्यता कई तरह से वे प्रकट करते है। इसके लिए ज्ञानेश्वरी के १८ वे अध्याय के अन्तिम दो पृष्ठों मे लिखी गई ओवियाँ विशेष दृष्टव्य है। यहाँ पर उसका पूरा विस्तृत विवरण देना असभव है। फिर भी कतिपय उदाहरण हम अवश्य देखेगे—

गीतार्थाचा आवारु। कलशेसीं महामेरु॥
रचूनि माजी श्री गुरु। लिंग जे पूजी॥
मजलागी ग्रन्थाची स्वामी। दुजी सृष्टी जे हे केली तुम्हीं।
ते पाहोनि हांसो आम्ही। विश्वामित्रातें ही॥[1]

---

१. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७८०–८६।

गीतार्थ के अहाते में अठारहवे अध्याय रूपी कलश सहित महामेरु पर्वत तैयार कर उस स्थान पर गुरुमूर्ति की अर्थात शिवलिंग की मैं पूजा कर रहा हूं। गीतारूपी भोली-भाली माता को भूलकर मैं उसका बेटा ज्ञानेश्वर ससार रूपी जङ्गलो की खाक छान रहा था। अब माँ बेटे का पुनर्मिलन हो रहा है। हे सद्-गुरु निवृत्तिनाथ! यह सब आपके पुण्य का फल है। मैं जो कुछ बोल रहा हूँ वह सब सज्जनो का किया हुआ होने से मेरे इस कार्य को छोटा न समझिये। अपने गुरु के प्रति कृतज्ञतापूर्वक वे निवेदन करते है कि ग्रन्थ समाप्ति का आनन्द दायक सुअवसर आपने हमे ला दिया जिसके कारण मुझे अपने सारे जन्म का फल प्राप्त हो गया है। मैंने जो-जो इच्छा की तथा जिस-जिस प्रकार की आशा रखी वह सब परिपूर्ण होती गयी यह भी गुरु सामर्थ्य का ही फल है। हे सद्गुरुनाथ! मेरे लिए आपने ग्रन्थ की यह जो दूसरी सृष्टि ही निर्माण कर दी उसे देखकर हम विश्वामित्र की सृष्टि रचना पर भी हँस रहे है। आपने अपनी वृत्ती से उनको भी मात कर दिया है। क्योकि ब्रह्मदेव द्वारा निर्मित मूल सृष्टि के निर्माता को खिझाने के लिए, तथा त्रिशकु राजा के लिए निर्माण की गयी प्रतिसृष्टि नष्ट होने वाली थी अतः उसके निर्माण मे कौनसा पुरुषार्थ है? किन्तु आपके द्वारा निर्मित मुझ जैसे दीन के लिए यह ग्रन्थरूपी अद्भुत सृष्टि निर्माण की है जो निरन्तर रहने वाली हैं।

सन्तो की इस कृपा के प्रति पुन. कृतज्ञता भाव से ज्ञानेश्वर कहते है—

म्हणौनि तुम्ही मज संती। ग्रन्थरूप हा त्रिजगतीं।
उपयोग केला तो पुढती। निरूपमजी॥[1]
शके बाराशते बारोत्तरे। तैं टींका केली ज्ञानेश्वरें॥
सच्चिदानन्द बाबा आदरें। लेखकु जाहला॥[2]

सत जनो ने इस ग्रन्थ के साथ मेरा सयोग कर दिया है इससे मैं बहुत उपकृत और सौभाग्यशाली हो गया हूँ। अतएव उसकी उपमा अन्यत्र कही ढूँढने पर भी नहीं मिलेगी। साराश यही है कि इस ग्रन्थ रूपी धर्म कीर्तन की जो सुख-पूर्ण ढंग से समाप्ति हुई है वह सब आप लोगो की कृपा का ही फल है। मेरे लिए इस सम्बन्ध मे केवल सेवकाई का ही तत्व बचा रहता है अर्थात् मैने सेवक के नाते केवल इस रूप मे आपकी सेवा की है। इसके बाद वे विश्वात्मा से यह प्रसाद-दान मागते है। इस समस्त विश्व की आत्मा के रूप मे स्थित वह परमेश्वर इस

१. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७६९–१८१०।
२. ज्ञानेश्वरी अ. १८।१७१६–१८१०।

वाङ्मय-यज्ञ से सतुष्ट होकर मुझे केवल इतना ही प्रसाद प्रदान करें कि दुष्टों की टेढ़ी नजर सीधी हो जाय, तथा सत्कर्मों के प्रति उनके हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जाय और प्राणिमात्र मे हार्दिक मैत्री प्रस्थापित हो जाय। पापों का अन्धकार नष्ट होकर आत्मज्ञान के प्रकाश से सारा विश्व उज्ज्वल हो जाय, तथा तब जो प्राणि जिस बात की इच्छा करे, वह उसे प्राप्त हो जाय। समस्त मंगलों की वर्षा करने वाले सन्त सज्जनों का जो समुदाय है, उसकी इस भूतल के भूत मात्र के साथ अखड मैत्री हो। ये संत सज्जन मानों चलते-फिरते कल्पवृक्षों के अंकुर है अथवा इन्हे चैतन्य चिंतामणि-रत्न का ग्राम अथवा अमृत का मुखर सागर ही समझना चाहिए। ये सन्त जन मानो कलङ्क हीन चन्द्रमा अथवा तापहीन सूर्य है और सभी लोगों के सदा के सगे-सम्बन्धी और अपने है। सारांश यही है कि तीनों भुवन अद्वैत सुखसे परिपूर्ण होकर अखड रूप से उस आदि पुरुष के भजन में लगें। और विशेषतः इस लोक मे जो ऐसे जीव है, जिनका जीवन ग्रन्थो के अध्ययन पर ही अवलम्बित रहता है, उन्हे ऐहिक तथा पारलौकिक सुखो की प्राप्ति हो। यह सुनते ही विश्वेश्वर प्रभु ने कहा—'यह प्रसाद तुम्हें दिया जाता है।' अतएव यह वरदान प्राप्त करके ज्ञानदेव बहुत प्रसन्न हुए है। इस कलियुग मे महाराष्ट्र देश में गोदावरी नदी के दक्षिण तट पर जिस स्थान पर ससार के जीवन-सूत्र-मोहिनी-राज का निवास है, उस स्थान पर अत्यन्त पवित्र और अत्यत प्राचीन पचकोश क्षेत्र है, जिसका नाम नेवासे है। इस क्षेत्र मे सकल कलाओ के जनक सोमवश के शिरोमणि और राजा श्री रामचन्द्र न्यायपूर्वक राज्य करते है। इसी स्थान पर अर्थात् आदिनाथ शकर की परम्परा में उत्पन्न निवृत्तिनाथ सुत (शिष्य) ज्ञानदेव ने गीता पर मराठी भाषा का परिवेश सजाया है। इस प्रकार महाभारत के भीष्म पर्व में श्रीकृष्ण और अर्जुन का जो सुन्दर संवाद दिया गया है, तथा जो उपनिषदो का सार और समस्त कलाओ का जन्मस्थान है और परमहस योगी जिसका उसी प्रकार आश्रय लेते हैं, जिस प्रकार हस सरोवर का लेते है। परमहसरूपी राजहंसो के लिए सेवन करने का मानो वह मानसरोवर ही है। इस गीता का अठारहवाँ अध्याय, पूर्ण-कलश है। जो यहाँ पर पूर्ण हो गया है ऐसा निवृत्तिनाथ के दास ज्ञानदेव का कहना है। इस ग्रन्थ सी पवित्र सपत्ति से प्राणिमात्र को उत्तरोत्तर सारे सुखों की प्राप्ति हो। शक १२१२ मे ज्ञानेश्वर ने गीता की यह टीका की है और सच्चिदानंद बाबा ने इस कार्य को बड़े आदर और ध्यान पूर्वक तथा प्रेम से लिखकर प्रकट किया है।

इस तरह हमने देखा कि ज्ञानेश्वरी की विचार सम्पदा दिव्य और भव्य है। वह साधारण काव्य सम्पत्ति से श्रेष्ठ और अलौकिक है। ज्ञानेश्वरी में प्रमुख रूप से

निश्चय, भूतदया, समता, शुचिता और प्राजलता एवम् निस्सदिग्धता कूट कूटकर भरी हुई है। ज्ञानेश्वरी सिखाती है कि हमे कर्म के फल, लोक-सग्रह के लिए अर्पण करते हुए भूत दया से प्रेरित होकर अपना जीवन उत्सर्ग कर देना चाहिए। परमार्थ और व्यवहार के 'द्दष्टा-ज्ञानेश्वर' भिन्न नही मानते। ब्राह्याडवर को महत्व न देकर वे अन्तर्ज्ञान को विशेष मानते है। ज्ञानेश्वर का कहना है कि मेघ, समुद्र का पानी धारण कर लेता है पर संसार समुद्र की ओर न देखकर मेघ की ओर ही देखता है। क्योकि जिसकी कोई मर्यादा नही उसे कोई भी प्राप्त नही कर सकता। उसी तरह सात सौ श्लोको की भगवद्गीता मे ब्रह्म सात सौ सुन्दर श्लोको का रूप धारण कर सामने आया इसीलिए सव उसे कानों से सुन सके और वाचा से अपना सके। व्यास का ससार पर सचमुच एक वड़ा उपकार है जो उन्होने श्रीकृष्ण के वचनो को ग्रन्थ का रूप दे दिया। इसी को मैंने मराठी भाषा की सहायता से सर्व साधारण सुन सके ऐसा सुलभ कर दिया। गीता भोलेनाथ का प्रतीक है, जिसने व्यास वचन रूपी कुसुमो की माला को धारण किया। फिर भी वे मेरी मराठी ओवियो के दुर्वादलो को स्वीकार कर लेगे। अपने गुरु की कृपासे मैंने गीता का अर्थ मराठी मे इतना सुस्पष्ट कर दिया है कि लोग उसे अपनी आँखो से देख सके। छोटे वच्चो से लेकर ज्ञानी पुरुष तक जिसे समझ सकते है ऐसे सहज ओवी वृत्त मे इस काव्य ग्रन्थ का निर्माण किया है। इसमे ब्रह्मरस से पूर्ण अक्षरो को मैंने गूथा है। इसको सुनकर श्रोता की समाधि लग जाती है। उसे पढते समय पाडित्य का प्रकाश फैलता है, तथा निरूपण की मिठास का जहाँ एक वार आस्वाद ले लिया गया तो उसके वाद अमृत के स्वाद की स्मृति भी नही उत्पन्न होगी।

मराठी वैष्णव कवि नामदेव का आध्यात्मिक पक्ष—

नामदेव के साहित्य का लक्ष निस्सीम भक्ति होने से सैद्धान्तिक रूप से उसमें दार्शनिक सैद्धातिक विवेचन मिलना या खोजना वहुत कठिन कार्य है। नाम-संकीर्तन, नामस्मरण और निरन्तर भक्ति-गायन एवम् ईश्वर-गुण-गान नामदेव अहर्निश करते रहे। भक्ति और काव्य उनमे अभिन्न वनकर अपना उन्मेष परिपूर्ण रूप से दिखाते है। आरम्भ से ही नामदेव सगुणोपासक थे। पंढरपुर का विठ्ठल उनका उपास्य था। विसोवा खेचर और नाथ सप्रदायी अद्वैती भक्त ज्ञानेश्वर के सम्पर्क से ज्ञानाश्रयी भक्ति का उनमे वाद मे उन्मेप हो जाने से वे निर्गुणोपासक भी बन गए। विठ्ठल को सर्वत्र और सर्वव्यापी समझकर अपने उपास्य का साक्षात्कार भी करते रहे। अतएव एक शास्त्रीय पक्ष की जानकारी के साथ सुसवद्ध दार्शनिक पक्ष का सुसवद्ध विवेचन नामदेव के पदो मे मिलना

असभव सा ही है। मूलत. भक्त और गायक होने से अभग रचना और नामस्मरण करना ही उनका एक मात्र कार्य जान पड़ता है। इस कार्य मे यत्र-तत्र आनुपगिक रूप से उनके पदो अर्थात् अभगों मे दार्शनिकता का जो स्वरूप है वह परिलक्षित हो जाता है।

भक्ति मे विरोध—

जन्म से ही नामदेव को भक्ति करते हुए देखकर घर के सारे लोग उनके विरोधी वन गए। भगवान् की भक्ति मे विरोध को सहकर जो भक्ति कर सकता है वही भक्त वन सकता है। नामदेव मे भी यह वात दिखाई पड़ती है। अपनी माता और पत्नी के इस विरोध के बावजूद भी वे भगवान् की भक्ति न छोड़ने का सकल्प और निश्चय प्रकट कर देते है। यथा—

> नामा म्हणे माते ऐक वो वचना। मी गेलो दर्शना नागनाथा।
> आवञ्या देउळीं जाहला संचार। पारुखला धीर या देहाचा॥
> तैहुनी तुज मज तुटला संबंधु। विठ्ठलाचा छंदु घेतला जीवीं॥
> या देह संसाराचा आलासे कंटाळा। म्हणोनि गोपाळा शरण आलो॥
> साधावया आत्म सुख। तेहे विटेवरी देख॥
> नको जाऊ परदेशी। वास करिगे पंढरिसी॥
> भाव धरुनि वळकट। मुखी नाम एक निष्ठ॥
> नामा म्हणे गोणाबाई। सर्व सुख याचे पायी॥[1]

अपनी माता से नामदेव कहते हैं कि जब मैं नागनाथ के मन्दिर मे दर्शनार्थ गया, तव मेरे शरीर मे भक्ति का सचार हो गया और विठ्ठल को प्राप्त करने की चिन्ता मन मे सजग हो गई। तभी से आपलोगों के साथ के मेरे सारे लौकिक सम्बन्ध टूट गए। और लौकिक जीवन के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो गयी। अपनी पत्नी से भी उन्होने कहा कि आत्मसुख की प्राप्ति के लिए पढरपुर के विठ्ठल को ही सदा देखते रहना चाहिए, अन्यत्र विदेश में जाने की कोई आवश्यकता नही है। अपने अन्त:करण मे भाव और निष्ठा को दृढ़ रखकर भगवान् का नामस्मरण करते रहने से ससार के सारे सुख उपलब्ध हो जायेंगे। नामदेव की भक्ति आर्त भक्त की भक्ति है। इसीलिए उनमे एक सुनिश्चित निष्ठा और पक्का निश्चय है जिसने श्री पाडुरग को ही सव कुछ मान लेना उन्हें सिखाया है। अपनी आयु के २४ वर्ष वे सगुणोपासना करते रहे पर निगुरे होने से उन्हे आत्मज्ञान तथा आत्मसाक्षात्कार

---

१. नामदेव गाथा—अभंग २९–३१, चित्रशाला प्रेस पूना।

न हो सका था। उनमे नाम सकीर्तन से प्रभु के प्रति आत्यंतिक प्रेम उत्पन्न हो गया था और वे उसका रहस्य भी जान गए। तभी वे एक स्थान पर कहते है—

जीव का कर्तव्य—

आलिया संसारी आत्माराम मुखीं। घेतलिया सुखी त्रि भुवनी॥
जाणे निया नाम आपुलेचि आधी। मग सोमसिद्धि साधे॥
सर्वहरि मग नाही दुजा भाव। प्रापंचिक गर्व दिसे चिना॥
नामदेव म्हणे सर्वदा साधनी। भरे जन वन नानापरी॥[1]

प्रत्येक जीव को चाहिए कि जब वह इस ससार मे आ जाता है, तब उसे हरकाम को करते हुए मुख से रामनाम स्मरण करना चाहिए। इससे वह त्रिभुवन मे सुखी हो सकता है। प्रथम नाम का महत्व जान लेने से अन्य सिद्धियाँ अपने आप सध जाती है। सर्वत्र हरि ही दिखाई पड़ते है और दूसरा भाव ही मन मे नही आता। नामस्मरण जैसा साधन, जीव सदा सर्वत्र काम मे लाता है जिससे लौकिक व्यवहार मे उसे कभी भी गर्व नही होता और भगवद्-कृपा के लिए उसे जगल मे भी नही जाना पडता।

नामदेव ने अपने आत्म-चरित्र को अपने अभगो मे प्रस्तुत कर दिया है।

भक्त का आत्म निवेदन—

इसमे मुख्य विवेच्य विषय भगवान् और भक्त का प्रेम और कलह है एवम् आत्म निवेदन है। परमेश्वर की प्रत्यक्ष कृपा तथा साक्षात्कार की अनुभूति का वर्णन करने वाले अभग इसमे है, तथा ऐसे प्रसगो का वर्णन है, जिससे ऐसा लगता है कि पाडुरग उनसे मित्रता का वर्ताव करते थे। ईश्वर मनुष्य रूप धारण कर अपने जीवन में किसी लौकिक प्राकृत मानव की तरह परम मित्र बन व्यवहार करता है। ऐसे वर्णनो को पढकर उन्हे आज सन्देह की दृष्टि से देखा जा सकता है। यो विद्वान भी इन अभगो मे वर्णित बातो पर विश्वास नही करते, परन्तु इनको पढकर जरूर ऐसा लगता है कि नामदेव के अभङ्गों में वर्णित वाते प्रत्यक्ष घटित हुई थी। कहने का अभिप्राय यही है कि नामदेवोक्तियाँ काव्य की सच्ची अनुभूति पर आधारित है। वे एकदम कोरी एवम् काल्पनिक नही बतलाई जा सकती। केवल भावना पर आधारित तथा ईश्वर-निष्ठा की सहायता से नामदेव का काव्य-सर्जन नही हुआ। इस काव्य को एक भक्त की सच्ची और प्रांजल तथा प्रत्यक्षानुभूति का परिपक्व फल ही मानना चाहिए। इसकी सत्यता का आज कोई प्रमाण उपलब्ध नही है।

---

१. नामदेवाची गाथा—अभंग १७१, चित्रशाला प्रेस पूना, पृ० २५६।

पर इसकी निश्चित जानकारी नामदेव जैसे पहुँचे हुए वैष्णव संत विश्वासपूर्वक दे सकते हैं और वह भी केवल अपनी अनुभूति के बल पर। अतः यहाँ तर्क को कोई अवकाश नही दिया गया है। प्रत्यत इस विषयमें मेरा कोई अधिकार न होनेसे नामदेव के अभंगों को पढ़कर मुझे जो भी अनुभूति उत्पन्न हुई उसी का आश्रय मैंने यहाँ पर लेने की चेष्टा की है। नामदेव के आध्यात्मिक विचारों की पृष्ठभूमि इस आत्मचरित्र में उपलब्ध हो जाती है।

नामदेव का आत्मचरित्र अध्ययन करने योग्य है। अतएव जिन्हे उसका अध्ययन अभीष्ट है वे इसके पूरे प्रकरण को पढ़ सकते है। नामदेव और केशव अर्थात् भक्त और भगवान् का एक ही रूप है इस भाव को देखिए—

भक्त और भगवान का अभिन्नत्व—

केशवाचे प्रेम नामयाची जाणे। नाम्या हृदयी असणे केशवाते ॥
नामा तो केशव। केशव तो नामा। अभिन्नत्व आम्हा केशवासी ॥
नामा म्हणे केशवा दुजे पण नाहीं।
परि प्रेम तुझ्यां ठायी ठेवियेले ॥[1]

केशव का प्रेम नामदेव ही जानते है और नामदेव के हृदय में केशव रहते हैं। इसे नामदेव और केशव ही जानते है। दोनो मे अभिन्नत्व है। परस्पर द्वैतभाव नही है। अपना सब कुछ मैंने हे केशव! तुम्हारे चरणों मे समर्पित कर दिया है। अन्त करण से एक किन्तु शरीर से भिन्न ऐसे हम दोनो हैं। अपने इष्ट को वे बड़ी आत्मीयता से व तत्परता से बुलाते हैं—

डोले शिणले पाहाता वाटुली। अवस्था दाटली हृदया माझीं ॥[2]

मेरे नेत्र राह देखते-देखते थक गये। हे विठ्ठल! आपसे मिलने की इच्छा मेरे अन्तःकरण मे भर आई है। उत्कठा से और उत्सुकता से व्यग्र नामदेव की चिन्ता पराकोटि तक पहुँच जाती है और वे कहने लगते है कि कही किसी भक्त ने तो आपको नहीं राक लिया? इतनी देर क्यों लगा दी? हे विठ्ठल! अब शीघ्र आओ। आपको पुकारते-पुकारते मेरा कठ भर आया है तथा सूखने लगा है। आपमे पूरे विश्वास के साथ मैं अपनी भावना से दशो दिशाओ मे आपको खोजता हूँ—प्रतीक्षा करता हू। मेरे प्राणो से भी प्रिय विट्ठल आप कब आवेगे? आपका आलिगन और स्पर्श मैं कब कर पाऊँगा? बेचैनी से तड़प-तड़प कर नामदेव जमीन

१. सार्थ नामदेवाची गाथा—अभंग १३, पृ० ४४।
२. सकल सन्त गाथा—नामदेव अभंग, १२६६ पृ० १७८।

पर छटपटाते है और आर्तता से गुहारते हुए अपने उपास्य को पुकारते हैं। उनका गला भर आया है।

वचपन मे ही नामदेव ने विठ्ठल को नैवेद्य दिखाकर प्राजल भाव से उसे ग्रहण करने के लिए कहा—

केशवा माधवा गोविंदा गोपाळा। जेवीं तूं कृपाळा पांडुरंगा ॥[1]

हे केशव ! माधव ! गोविन्द ! गोपाल ! हे पाडुरग ! हे कृपालु ! हे दशरथ नंदन ! अच्युत ! हे वामन ! तुम भोजन कर लो। हे नरहरी ! हे कृष्ण ! हे मधुसूदन ! भोजन ग्रहण करो। इस तरह नामदेव के आर्त स्वर से पुकारने पर भगवान् ने नैवेद्य ग्रहण कर लिया।

इस तरह सचमुच नैवेद्य ग्रहण करने पर माता गोणाई तथा पिता दामाशेटी को अत्यन्त आश्चर्य हुआ। इसके वाद का सारा विवेचन वड़ा ही मार्मिक और रसग्राही है। नामदेव ने भगवत् विपयक रति के पारमार्थिक अनुभव वचपन से ही वडे अनमोल पद्धति से लिये है। उनके द्वारा रचित माधुर्य भाव को प्रदर्शित करने करने वाला एक पद देखिए—

नामदेव की माधुर्य भावना—

नको वाजवू श्री हरि मुरली।
तुझ्या मुरलि ने तहान भूक हरळी ॥ध्रु०॥
गोपाळ गड्यांचा मेळ, हरिसंगे खेळ, कुंजवनीं रमली ॥
खुंटल्या वनयुचा वेग, वर्षति मेघ, वळें स्थिरावली ॥
नामा चरणीचा दास, विनविती आस, आशा नाही पुरली ॥[2]

नामदेव विनम्रतापूर्वक निवेदन करते हैं कि हे श्री हरी ! तुम मुरली मत बजाओ। तुम्हारे मुरली वजाते ही हम सव की भूख प्यास ही नष्ट हो गई। फलतः गोपाल अपने सखाओ सहित तुम्हारे साथ खेल मे मग्न है। गोप-गोपियाँ कुजो मे तथा कुजवन मे ही रमे है। तुम्हारी मुरली की ध्वनि से तथा उसकी मिठास से वायु की गति रुक गई है। मेघ वरस रहे है, तथा जल भी स्तब्ध हो गया है। नामदेव कहते है, 'मैं तो आपके चरणो का दास हूँ' अतः पुनः पुनः आपसे आशा के साथ कहता हू कि मेरी आशा मुरली की ध्वनि सुनकर परिपूर्ण नही हुई, अत. पुन. पुनः उसे सुनाइये। मै सुनने के लिए उत्सुक और लालायित हूँ।

१. नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग ३१३।५, पृ० २८०।
२. नामदेव पद—सार्थ गाथा।

इन्द्रियों की चंचलता—

नामदेव की भक्ति उनका कवित्व, उनका कारुण्य आदि भावनाओं का यथार्थ परिचय प्राप्त करने के लिए उनका एक रूपक देखिए। इसमे चचन और स्वैर तथा अनिवन्ध इन्द्रियो की प्रवृत्तियों को धेनुओं के रूप मे वतलाकर कहते हैं—

कुल्ना थमाल ले थमाल अपुल्या गाई।
आम्ही आपुल्या घलासी जातो भाई ॥ध्रु०॥
नाही तर घाडिन रे गोपाळांच्या जोड्या ॥
नामा म्हणे रे गोष्ट रोकडी पाही ॥[1]

यह अभंग उत्कृष्ट काव्य गुणों से परिपूर्ण है। तुतला वालक वनकर उसी तुतलीवाणी मे जव वे आत्मीयता से सहज खेल-खेल में ही वतलाते है, कि उनके इन्द्रियों की गायें तथा उनकी अनिवंध प्रवृत्तियों को रोकने पर भी वे नही रोक पाते। इसमें प्रदर्शिक साधक भाव तोतले वोलो से युक्त है। यह ध्वनि-काव्य का एक सरल उदाहरण माना जा सकता है। हे कृष्ण! ये इन्द्रियों की गायें सम्हाले नहीं सम्हलती हैं। तुम इनकी देखभाल करो। कल हमारे घर वहुत चीका और खोआ वनाया गया था। तुम सवने मिलकर अधिक मात्रा में उसे खा लिया। मैं वेचारा गरीव ठहरा। अतः मुझे वहुत अल्प मात्रा में तुम सव ने दिया। तुम कहोगे इसे कुछ नही समझता। यह तो तुतला वोलने वाला है। कृष्ण कहते है, तुम चुप रहो मेरी समझ में सव आ गया है। तुम्हारी इन्द्रिय रूपी गायो को मैं ही फेरता हूं। उस वात का स्मरण रखो। अन्यथा गोपालों की जोड़ियाँ तुम्हारे साथ शरारत करने भेज दूँगा। नामदेव कहते हैं कि मेरी यह वात कितनी रोकड़ी है। सूर के इसी तरह के विवेचन से यह तुलनीय है। यथा—

'माधौ मेरी इक गाइ।' —संक्षिप्त सूरसागर—पद २४।

अपने गुरु विसोवा खेचर स्वामी के दिये हुए ज्ञान से उनको जो स्वरूप साक्षात्कार हुआ उसका वर्णन वे करते है[2]—

गुरु कृपा से सम्पन्न नामदेव का स्वरूप साक्षात्कार—

नाचू कीर्तनाचे रंगी। ज्ञानदीप लावू जगीं ॥
सर्व सांडूनी माझाई। वाचे विठ्ठल रघुमाई ॥

---

१. नामदेवाची गाथा – (बोवडा) अभंग, पृ० १७।
२. श्री नामदेवाची सार्थ गाथा—अभंग १५८, पृ० १८६।

परेहून परते घर। तेथे राहू निरन्तर ॥
सर्वांचे जें अधिष्ठान। तेचि माझे रूप पूर्ण ॥
अवधी सत्ता आली हातां। नामयाचा खेचरी दाता ॥

गुरु खेचर स्वामी की कृपा से आत्म प्रतीति हो जाने के कारण मैं कीर्तन के रग मे आनन्द से नाचूँगा और उसमे ज्ञान का प्रकाश प्रज्वलित करूँगा। सब कुछ छोड़ छाडकर सुख से विठ्ठल-रघुमाई कहूगा। परो से परतर आत्मरूप विठ्ठल ही मेरा विश्राम स्थल है और मैं नित्य वही पर वास्तव्य करूँगा। मुझे गुरु की कृपा से अखिल विश्वसत्ता मेरे हस्तगत हो गई है। मुझे मेरे पूर्ण स्वरूप की निस्सदिग्ध अनुभूति हो गई है। इसी से मैं अब नित्य अपनी भक्ति करूँगा ऐसा अब वे निश्चय कर लेते है।

सद्गुरु के द्वारा पथ प्रदर्शन—

नामदेव को विसोवा खेचर से जब ज्ञान प्राप्ति हो गई, तब ससार के लिए जो दुख उनके मन मे था वह भी नष्ट हो गया। इसी बात पर वे सद्गुरु के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करते है। यथा—'सद्गुरु सारिखा सोइरा जिवलग। तोडिला उद्वेग ससारी चा ॥ काय उतराई होऊँ कवण्या गुणे। जन्मा नाही देणे ऐसे केले ॥ माझे सुख मज दाखविले डोळा। दिधली प्रेम कळा नाम मुद्रा। डोळियाचा डोळा उघडिला जेणे। लेवविणे लेणे आनदाचे ॥ नामा म्हणे निकी सापडली सोय। न विसबे पाय खेचराचे ॥[1]

सफल जन्म मोको गुरु कीना। दुख बिसारि सुख अन्तरि दिना।
गिआन अन्जन मोकउ गुरु दीना। राम नाम बिनु जीवन मन हीना ॥
नामदेव स्मरण कर जाना। जग जीवन सिऊ जीवू समाना ॥[2]

सद्गुरु जैसा मित्र और हितकर्ता मिल जाने से सासारिक उद्वेग नष्ट हो गया। मैं किस प्रकार इस उपकार से उऋण हो सकूँगा। मुझे जन्म मरण के आवागमन से मुक्त कर दिया तथा मुझे मेरा वास्तविक सुख प्रदान कर दिया। नाम-मुद्रा देकर मेरे अन्त.करण मे प्रेम की विह्वलता उत्पन्न कर दी। ज्ञान की दीप्ति से नेत्रो के नेत्र खुल गये। आनन्द की उपलब्धि मिल गई। अब मैं ऐसे साधन को कदापि नही छोड़ूँगा। तथा विसोवा खेचर के चरणो मे ही पड़ा रहूँगा।

---

१. नामदेवाची गाथा—अभंग १५०, पृ० ३१७, चित्रशाला प्रेस पूर्णे।
२. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४७, पृ० ४६२, चित्रशाला प्रेस पूर्णे।

मेरा जन्म गुरु ने सफल कर दिया। नामस्मरण का मूल्य मुझे ज्ञात हो गया। दुख की विस्मृति हो गई और आध्यात्मिक सुख अन्त करण मे स्थित हो गया। ज्ञानार्जन से यह प्रतीत हो गया कि बिना रामनाम के सारभूत तत्व अन्य और कोई नही है। जीवात्मा और परमात्मा अभिन्न है यह तथ्य भी मैंने जान लिया।

नामदेव अपने मन को उपदेश कर समझाते है[1]—

मनाचे मन पण सांडित रोकडें। अन्तरिचे जोडे परब्रह्म ॥
नाथिला प्रपंच घरोनिया जीवीं। सत्य ते नाठवी कदाकाळी ॥
अजूनि तरी सांडी नाथिले लटिके। तरसील कवतुके म्हणे नामा ॥

मन का चाचल्य और मनस्थिति को मुक्त कर देने से अर्थात एकाग्र होकर हृदयस्थ परब्रह्म से सम्बन्ध जुड जाता है। इसी को सदा साथ रखकर मैने लौकिक व्यवहार नष्ट कर दिया है। हे मेरे मन! तू इस सत्य को गाँठ मे बाँधले। अब भी क्षणभगुर और मिथ्या स्वरूप सासारिकता को तू छोड़ दे तो तेरा सचमुच उद्धार हो जायगा।

ब्रह्म का स्वरूप—

नामदेव अपने उपास्य का इस प्रकार वर्णन करते है[2]—

सगुण निर्गुण श्रुति ज्या बोलती। तो तू माझे चित्ती
पंढरी राया ॥
देव दगडाचा भक्त हा मायेचा। संदेह दोघांचा फिटे कैसा ॥
ऐसे देव तेहि फोडिले तुरकी। घातले उदकीं बोभातिना ॥
ऐसी ही दैवते नको दावूं देवा। नामा म्हणे केशवा विनवितसे ॥

जिसे श्रुतियों ने सगुण और निर्गुण इन दोनो स्वरूपों वाला बतलाया है, वही तू हे पंढरिनाथ! मेरे चित्त मे बसा हुआ है। तू जितना भी है उतना सब में स्थित है अतः मैं तुम्हारा वर्णन कैसे कर सकता हूँ? मेरी यही इच्छा है कि तुम्हारे चरणों की मिठास मैं कदापि न छोड़ूँ। मेरा यही भाव तुम पुष्ट करते रहो। भीमातट पर तुम्हारा निवास है इसकी साक्ष्य पुंडलीक मुझे दे रहे है। नामदेव, केशव से यही माँगते हैं। भक्त और भगवान् का स्वरूप बतलाते हुए वे कहते हैं कि भक्त अपनी भावना से भगवान् को देखता है और वैसे मूर्ति तो पाषाण की ही

१. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४७, चित्रशाला प्रेस, पृ० ४६३।
२. नामदेवाची गाथा अभङ्ग—४७२ और ४२५, पृ० ४६२ और ३६० (चित्रशाला प्रेस)

रहती है। दोनों के मन का सन्देह कैसे दूर किया जाय ? प्रस्तर देवमूर्तियाँ तो तुरकों के द्वारा भग्न की गई । उनको पानी मे डुबोकर रखने पर भी न वे चिल्लाई और न कुछ हो सका। अतः मेरा यही निवेदन है कि सर्वव्यापी परब्रह्म के प्रति मेरी भक्ति बनी रहे। अपने मन को पुनः उपदेश और चेतावनी भी वे देते हैं यथा[1]—

परब्रह्म जे चितसी आसा ते भावसी। राम भगत चेतिय के अचित मन रासी।
कैसे मन करे गारे संसार सागर विखैको वना। झूठी माया देखके भुला रे मना॥
सिंपि के जन्म देला गुरुपदेस भला संत के प्रसाद नामा हर से मिला॥

हे रामभक्त अब चेतजा जो अचित्य है और मन से असीम है उसे यदि तू अपना लेगा तो आशा से भावना मे उसे पा सकता है। विष से भरा हुआ संसार-सागर इसके विना तू कैसे पार करेगा ? गुरु ने छीपी जाति मे उत्पन्न मुझे अच्छा उपदेश दिया है कि यह माया झूठी है, इसमे भूलकर भी मत उलझ। सन्तों के प्रसाद से मुझे हरि मिले हैं।

स्पष्ट है कि नामदेव सगुण और निर्गुण ब्रह्म के स्वरूपो के जानकार और उपासक थे। मूर्ति भंजन का स्वरूप जब तक उन्होंने यात्रा मे नहीं देखा था, तब तक वे सगुणोपासक बने रहे और यात्रा कर लेने के बाद तथा तद्युगीन राजनीतिक और धार्मिक परिस्थिति को ठीक-ठीक समझकर वे निर्गुणोपासक बन गए। सन्त ज्ञानेश्वर तथा विसोवा खेचर के उपदेशों और सम्पर्क से निर्गुण भक्ति उनमे अधिक रूप मे सजग हो गयी। साधना-मूलक-नाथ सम्प्रदाय की विशेषताएँ और भावमूलक भागवती भक्ति का अपूर्व समन्वय नामदेव मे विद्यमान है। नामदेव की कबीर के सन्त मतवाली विशेषताओ को समझने के लिए प्रा. राजनारायण मौर्य लिखित राष्ट्रवाणी मे प्रकाशित 'सत नामदेव की निर्गुण भक्ति' यह लेख तथा 'नामदेव पदावली' पूना विश्वविद्यालय द्वारा प्रकाशित दोनो विशेष द्रष्टव्य हैं।[2]

नामदेव की भक्ति और आध्यात्मिक विचारो का स्वरूप—

नामदेव का भक्तिमार्ग उत्कट भक्ति से सम्पन्न है। पाखडियों और दभियों के लिए उनकी भाषा कठोर बनकर प्रस्तुत हुई जो उनकी कुरीतियों और दभो का

---

१. नामदेवाची गाथा—अभङ्ग ४२, पृ० ४६२।

२. सन्त नामदेव की निर्गुण भक्ति—ले०प्रा० राजनारायण मौर्य, राष्ट्रवाणी सं. ११ वर्ष १५ मई सन् १९६२ तथा नामदेव पदावली सम्पादक डा० भागीरथ मिश्र —पुणे विद्यापीठ पुणे–७।

परिस्फोट करती है। परमार्थ का क्षेत्र उनकी दृष्टि में ज्ञानी, अज्ञानी, अस्मिता प्राप्त और अस्मिता-रहित आदि सबके लिए है तथा भक्ति के अतिरिक्त अन्य साधन बेकार हैं। भक्ति को आध्यात्मिक मार्ग का वे एक प्रमुख साधन मानते हैं। जो कोई भी प्रत्यक्ष राम को बतला देगा उसके वे अनुयायी बनने के लिए तैयार हैं। पाडुरंग तो भावो का भूखा है। हरिनाम रूपी वेणुनाद से मुग्ध होकर चरने वाली और भीमा नदी का पानी पीकर भक्तों पर कृपा करने वाली कामधेनु की तरह विठ्ठल हैं। इनकी भक्ति के चरणों पर ज्ञान भी विनम्र होकर नत हो जाता है। नामदेव की कविता मे नाम-माहात्म्य ही प्रमुख वर्ण्य विषय है। नामस्मरण से ईश्वर प्राप्ति हो जाती है। अन्य सारे कार्य नाम के बिना फीके है। नाम अमृत से भी मधुर होने से सभी अहर्निश उसको चख सकते है। एक रामनाम सारे पातकों से मुक्ति दिलाता है। नाम सुखनिधान और पतित पावन होने से नाम स्मरण करने वालो का उद्धार हो जायगा। मिठास भरी नामदेव की वाणी अत्यन्त सुमधुर है जो महाराष्ट्र मे तो प्रसिद्ध है ही परन्तु पजाब मे भी ब्रजभाषा मे नामदेव ने इसी के आश्रय से भक्ति की धारा बहाई है। नामदेव के पद और साखियाँ देखकर लगता है कि कबीर के साहित्य मे मिलने वाले सिद्धांत, तत्व और प्रतिपादन शैली नामदेव से ही उनको उपलब्ध हो गई थी। नामदेव के हिन्दी पदों पर मराठी का प्रभाव बराबर परिलक्षित हो जाता है। मराठी की तरह रूपक और दृष्टान्त उनके हिन्दी पदो में भी विद्यमान हैं। भगवान् प्रेम स्वरूप है। भक्त अनन्य होकर भगवान् से प्रेम का नाता जोडता है। नामदेव ने इसे ऐसा सिद्ध किया है कि भगवान् का सगुण रूप हृदय मे प्रतिष्ठित हो जाय। इसी से अपनी मनस्थितियों के अनुसार आर्त, करुणा भरी, विनय परक और सहृदयतापूर्ण अभिव्यजना नामदेव ने की है। सन्तो के सहवास से सम्पन्न होकर व उनके प्रेम-प्रसाद से, नाथ-सम्प्रदाय की और वारकरी-सप्रदाय की विशेषताएँ, ज्ञानाश्रयी-निर्गुण-भक्ति, उत्कट सगुण-भक्ति और नामस्मरण की विशेषताएँ नामदेव-साहित्य मे परिपक्व और सम्पन्न आध्यात्मिक रूप मे प्रस्तुत हैं।

नामदेव नामस्मरण की महिमा इस प्रकार गाते हैं—

जैसे ताप दे निरमल धामा।
तैसे राम नाम बिनु बापुरो नामा ॥[1]

× × ×

तू दाना तूं बीना। मैं बिचारु किया करी ॥
नामेचे सुआमी बरबसन्द तू हरी ॥

---

१. पजाबांतील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद २०, पृ० १०१।

जैसे बिना सूर्य प्रकाश के निर्मल धूप असभव है उसी प्रकार नामदेव बिना रामनाम के बेचारा अनाथ प्राणी है। भगवान् का नामस्मरण मेरे जैसो के लिए एक बहुत बडा आधार है। अन्धे की लकडी का जितना महत्व अन्धे को होता है उतना ही महत्व मुझे अपने नामस्मरण के आधार का है। हे परम कृपालु अल्लाह! तुम दानशूर हो अत: सबको देने वाले और सब से 'पत्र, पुष्प फल तोय' के हिसाब से लेने वाले के रूप मे ही सब तुम्हे पहिचानते है। तुम ज्ञानी, तथा दूरदृष्टि वाले हो। तुम्हारी शक्ति का मैं पामर क्या और कैसे वर्णन करू ? नामदेव कहते है हे स्वामी! हे श्री हरी! ससार के जीवमात्रो को क्षमा प्रदान करने वाले मात्र तुम ही हो।

भजन की एकाग्रता मे लौकिक व्यवहार-विस्मरण—

नामदेव परमेश्वर भजन में अपनी सुधबुध बिलकुल भूल जाते थे। इसका एक उदाहरण दृष्टव्य है—

जब देखा तब गावा ॥ तऊ जनु धीरजु पावा ॥
नादि समाइलो रे सतिगुर मेटिले देवा ॥

× × ×

जह अनहत सूर उजारा। तह दीपक जलै छांरा ॥
गुरु परसादी जानिआ। जनु नामा सहज समानिआ ॥[1]

सद्गुरु ने मेरी और भगवान् की भेट करा दी। उन्ही की कृपा से मेरी यह दशा हो गई कि जब मै नामस्मरण करने लगा तो भजन मे मुझे भगवान् दिखाई दिये। मै परमेश्वर के रूप मे विलीन हो गया। परिणामत धैर्य और आनन्द मिल रहा है। धूमिल, अस्पष्ट तथा धुँधला प्रकाश भी दिखाई पडने लगा है। बिना आघात से उत्पन्न ध्वनि एव शब्द सुनाई पडने लगा है। ज्योति प्रकट हो गई। यह सारा गुरुकृपा का प्रत्यक्ष फल है। मेरे रत्नजटित अन्त:करण मे भगवान् का विद्युत प्रकाश चमकता है और पता चलता है कि भगवान् आत्मा मे और हृदय मे सर्वत्र पूर्णरूप से लबालब भरे हुए है। बाह्य जगत् मे प्रकाशित सारे दीपक उसके सामने फीके पड गए है। यह सारा सहज ही हो गया और वह भी गुरु-प्रसाद से। भगवान् की प्राप्ति के भिन्न-भिन्न मार्ग है। नामदेव के अनुसार भगवद्-प्राप्ति का मार्ग इस प्रकार है—

कोई बोलै नीरवा कोई बोले दूरी। जल की मछली चरै खजूरी ॥
काइरे बकवाद लाइउ ॥ जिन हरि पाइउ तिन हि छपाइउ ॥
पंडित होइकै वेदु बखानै ॥ मूरखू नामदेऊ रामहि जाने ॥[2]

---

१. पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ६, पृ० ८९।
२. ” ” पद १७, पृ० १६।

कोई कहते हैं ईश्वर पास है, कोई कहते है कि वह दूर है। ऐसी बकवास किस काम की ? इस प्रकार का विधान एव उक्ति ठीक इसी प्रकार की है जैसे यह कहना कि मछली खजूर के पेड़ पर चढ़ गयी। तात्पर्य यह कि ये सारे कथन व्यर्थ है। वास्तव मे जिन्हे भगवान् के दर्शन हो गये वे उसको गुप्त ही रखते है। पडित वेदोच्चार वडे जोर से करते हैं पर मैं मूर्ख हूँ और ईश्वर को पूर्णतया पहिचानता हूँ। इसमे पडितों की अहकार भावना को उन्होने फटकारा है तथा भक्त की विनम्रता अपने निवेदन मे प्रकट कर दी है।

ब्रह्म का सर्वव्यापी स्वरूप—

नामदेव को सर्वत्र 'सर्व खलु इदम् ब्रह्म' का साक्षात्कार होने लगा और वे कहने लगे—

> एक अनेक व्यापक पूरक जद देखो तद सोई।
> माया चित्र विमोहित विर्ला बूझे कोई॥
> कहत नामदेव हरि की रचना देखो हृदय विचारी।
> घटघट अन्तर सर्व निरन्तर केवल एक मुरारी॥[१]

सव गोविन्द है। गोविन्द के अतिरिक्त और कुछ नही है। प्रवाह, तरंग वीचियाँ पानी से भिन्न नही है तद्वत् यह सारा विश्व प्रपच उसी ईश्वर की लीला है। इस हरि की रचना मे एवम् सर्वभूतो मे वही एकमात्र परब्रह्म विराजित है। घट-घट में केवल एक गोविंद ही विद्यमान है। भक्त ही भगवान् अर्थात् राम वन गये। फिर भी तुम मेरे परमात्मा और मैं तुम्हारा भक्त, तुम पूर्ण और मैं अपूर्ण। यह नामदेव की भावना उनके विनम्र भक्तिमार्ग की सूचक है। डा० रानडे की यह सूचना वडी महत्वपूर्ण है कि कोई यह न समझे कि मैं पूर्ण ब्रह्म वन गया हूँ क्योकि इसमे धोखा-भय है।

'It is this ideal of perceptual progressive realisation, or attainment to the highest acme possible for man, here below, which may be reached by humanity without a tint of arrogance or self-complacency.'[२]

'अपने अखण्ड प्रयत्नों से क्रमशः ऊपरी स्तर के साक्षात्कारी अनुभव लेते रहना इस जग मे संभव है। उनने ऊँचाई वाली अवस्था तक पहुँचते रहना इतने ही लक्ष्य का अनुसरण मानव के लिये संभाव्य है, क्योकि इस ध्येय मे पूर्णत्व का

१. नामदेवाची गाथा—पद ४६, पृ० ४६३, (चित्रशाला प्रेस)।
२. पाथवे टु गॉड'—डा० रा. द. रानडे, पृ० १९७।

अहङ्कार नही तथा साधक के प्रयत्नो मे शिथिलता निर्माण करने वाली अल्प सतुष्टता भी नही है ।'

इसीलिए नामदेव कहते हैं[१]—

'रामहि जपही रामहि जाने छोड़ करम की आशा ।
रामहि भज, तई रामहि होई, प्रणवे नामा दासा ।।
जलते तरङ्ग, तरङ्गते है जल कहन सुनन को दूजा ।
कहत नामदेव तू मेरो ठाकुर जन ऊरा तू पूरा ।।'

राम जपने से तू राम जान लेगा । तू कर्म की आशा छोड दे । तव तू राममय हो जावेगा । दधि को विलोने से घृत वन जाता है वह पुनः एक नहीं हो सकता । पूजा, पुजापा और पूजनीय सभी अभिन्न हैं । फिर भी नामदेव का कहना है कि मै भक्त हूँ अतः अधूरा हूँ और तुम परमेश्वर हो अतः पूर्ण हो ।

नामदेव अपनी अन्तरात्मा से निकलने वाली ध्वनि से परमात्मा का गुणगान करते थे । इनके शब्द वैराग्य-परक भावना से भरे हुए है । एक स्थान पर वे कहते है[२]—

नामदेव की वैराग्य भावना—

वेद पुरान सासत्र अनन्ता गीता कवित न गावउगो ।
अखंड मंडल निरंकार महि अनहद वेनु वजावऊगो ।।
वैरागी रामहि गावऊगो ।।
पंच सहाई जन की सोभा भलै-भलै न कहावऊगो ।।
नामा कहै चिकुहरि सी उराता सुन्न समाधि पावऊगो ।।

अपनी आयु के पूर्वार्ध मे सगुणोपासक वने हुए नामदेव पजाव मे जाकर निर्गुणी संत वने और भक्तिमार्ग के निष्ठावन्त प्रचारक बनकर प्रचार करते रहे । इसी का परिणाम उनके वाद के सन्तो पर विशेपतः कवीर आदि पर अधिक पडा है । इस ऐतिहासिक तथ्य की और सत्य की उपेक्षा नही होनी चाहिए । परमेश्वर एक महान् शक्ति अथवा सत्ता मात्र नही है । प्रत्युत अनन्य भक्ति करने पर परमेश्वर का सहज सुलभ दर्शन एवम् साक्षात्कार हो सकता है ऐसा प्रतिपादन नामदेव ने अपनी अनुभूति के आधार पर ही किया । चौदहवी से पंद्रहवी शती का कालखण्ड इस्लामी आक्रमणो और अत्याचारो का होने से तथा इस देश की प्राचीन आर्य

१. रामदेवाचे आध्यात्मिक चरित्र व ज्ञानदीप—ग. वि. तुळपुळे, पृ० १५७ ।
२. पंजावातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ३१, पृ० ११४ ।

सस्कृति पर विध्वसक प्रहार हो जाने से एक प्रक्षुब्ध और भयप्रद वातावरण सर्वत्र निर्माण हो गया था। तभी इस परिस्थिति का पढरपूर से पजाब तक के भ्रमण काल में और अपने उधर के वास्तव्य काल मे नामदेव ने सूक्ष्म निरीक्षण कर लिया था। अतएव एक ईश्वर, जाति भेदातीतता, मूर्ति पूजा का वहिष्कार जैसे सिद्धातों पर आधारित सहज सुलभ भक्तिमार्ग का प्रतिपादन नामदेव ने जोर शोर से आरम्भ किया। नामदेव के ये विचार अत्यन्त महत्वपूर्ण है। नामदेव के भगवान् अन्तर्यामी ओर सर्वत्र विद्यमान हैं। उनका कहना है—

ऐसो रामराई अन्तरजामी। जैसे दरपन माहि वदन परवानी।
वसै घटाघट लीप न छीपै। वंधन मुकता जातुन दीसै।।
पानि माहि देखु मुखु जैसा। नामेका सुआमी बीठलु जैसा।।[१]

हे भक्तो! परमेश्वर सब के हृदयो में विद्यमान है। जिस तरह दर्पण मे देखने वाले को निजी मुख प्रत्यक्ष दिखाई देता है, इसी तरह ब्रह्मज्ञानी मनुष्य को ईश्वर विपयक ज्ञान प्राप्त हो जाता है। ऐसे ज्ञान से दिव्य प्रकाश सामने आता है। वधन-मुक्त एवम् ब्रह्मज्ञानी के लिए मनुष्य की जाति और कुल से कोई सरोकार नहीं। सब प्राणिमात्रों के हृदय मे ईश्वर का अस्तित्व है। अतः नामदेव को अपना स्वामी विठ्ठल सर्वत्र दिखाई पडता है।

नामदेव की माधुर्य भक्ति—

माधुर्य भावना से परिपूर्ण नामदेव का एक पद द्रष्टव्य है—

मैं वऊरी मेरा राम भतारु।।
रचि रचि ताकऊ करऊ सिगारु।।

कवीर का पद 'हेरे राम मैं तो राम की वहुरिया।' इसके साथ तुलनीय हो सकता है। नामदेव की उक्ति है कि वे एक वावरी स्त्री है जिसका पति राम है। उनके लिए ही यह सारी साज सज्जा नामस्मरण इत्यादि है। लोग इस कृति की चाहे जितनी निन्दा करे नामदेव को इसकी कोई परवाह नहीं है। मैं भगवन्नामामृत रसायन का पान करने में मग्न हूँ। इसी से मुझे श्रीरग प्रभू विठ्ठल की भेट हो गई और उसकी पूर्ण अनुभूति साक्षात् हो जाने से मैने उसको चीन्ह लिया है ऐसा उनका विनम्र निवेदन है।

नामदेव ऐसे प्रभु का पूजन सर्वत्र करते हैं क्योकि 'नामे सोई सेविआ जह देहुरा न मसीद।' पंढरपूर से पंजाव तक नामदेव ने भगवद्-भक्ति का प्रचार किया।

---

१. पंजाबातील नामदेव—शं. पा. जोशी, पद ५८, पृ० १५८।

इसी भक्ति से उन्हे अष्ट-सात्विक भावो के आध्यात्मिक अनुभव मिले। पाण्डुरङ्ग मिलन के आनन्द से वे गदगद और कृतकृत्य हो गये। क्योंकि उनका विठ्ठल सर्वगुण मंडित एवम् परम कृपालु है। इसका दृढ विश्वास उनमे जागरूक रहा। कही उसे नजर न लग जाय यही उनकी चिन्ता है। यह भाव और कला का सुन्दर शोभन चित्र चिन्त्य है—

श्याम मूर्ति डोळस सुन्दर सावळी। ते ध्यान हृदय कमळीं धरुनि ठेलो॥
सकळ स्थिति सुखाचा अनुभव झाला। सकळ विसरला देह भाव॥
नामा म्हणे देवा दृष्टि लागा म्हणों। पुण्डलीका धर्में करुनि जोडलासी॥[1]

नामदेव को एक स्फूर्तिदायक हृदय स्पर्शी अखंड आनन्द का अनुभव हुआ क्योंकि श्यामल सुन्दर विठ्ठल मूर्ति को उन्होने हृदय मे धारण कर लिया था। मन स्वरूप मे रँग जाने से देहजनित व्यापारो का भान न रहा। सांसारिक चिताएँ मिट गयी, द्वित्व की भावना विनष्ट हो गयी। अद्वयानन्द की प्रत्यक्षानुभूति प्राप्त हो गयी। शरीर पुलकित हो गया। नामस्मरण से जन्म मृत्यु के आवर्तनो मे मोक्ष मिल गया। पुंडरिक की कृपा से ऐसे विठ्ठल का मुझे सहज अनुभव मिला। यह चिंता उत्पन्न हो गई कि कही उनके सुन्दर विठ्ठल को किसी की नजर न लग जाय।

नामदेव की अन्तिम इच्छा मे भी विनम्र आत्मनिवेदन बडा मार्मिक है। जो उन्हे श्रेष्ठ कोटि का सत सिद्ध करता है—

मार्मिक आत्म निवेदन—

वतन आमुची मिरासी पंढरी। विठोवाचे घरी नांदणूक।
सेवा करु नित्य नाचू महाद्वारी। नामाची उजरी जागऊँ तेथे।
साधु सन्ताशरण जाऊँ मनोभावें। प्रसाद स्वभावे देती मज॥
नामा म्हणे आम्ही पायरीचे चिरे। संत पाय हिरे देती वरु॥[2]

पढरपूर हमारी वपौती से सप्राप्त जागीर है। इसके महाद्वार मे हम सतत सकीर्तन और भजन कर नाचना चाहते है। इस तरह विठोवा की सेवा हो जायगी और हम शुद्ध भाव से सन्तो की शरण जायेगे जिससे उनकी कृपा का प्रसाद हमे मिलेगा। नामदेव कहते है कि विठ्ठल के मन्दिर की सीढियो के हम पत्थर बने

---

१. नामदेवाची गाथा–पद ६७, पृ० १७३ (चित्रशाला प्रेस)।
२. नामदेव कृत अभङ्गाचीगाथा, पद संख्या ५३२, पृ० ३८१।

जिससे दर्शनार्थ आने वाले संतों के हीरों के समान मूल्यवान चरण हम पर पड़ते रहेंगे। और भी वे आगे कहते हैं

संकल्प विकल्प निरसूनिया भ्रांति। दावीन विश्रान्ति अभिनव तुज।
अन्तरिचे गुज बोलोनि पंढरिनाथ। आलिंगन देत नामयासी ॥[१]

नामदेव को पंढरिनाथ ने अपने अन्तस्तल के हृद्गत भावों को प्रकट कर उन्हे आलिंगन दिया और कहा कि जिससे तुम्हारे संकल्प-विकल्प और सन्देह दूर हो जावेंगे। मैं ऐसा उपाय और विश्राम स्थल तुम्हें बताऊँगा। वह उपाय यही है कि तुम अपनी समस्त वृत्तियो को विषयों से मोड़कर व उनको मरोड़कर सावधानी से मेरे रूपों की ओर अग्रसर करो। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंधादि से अपनी इन्द्रियों से मुझे ही प्रत्यक्ष कर लो। तब तुम्हें मेरा प्रत्यक्ष साक्षात्कार हो जावेगा। तुम्हें और कुछ करने की आवश्यकता नही है। तुम्हारे आवागमन का क्रम भी अवरुद्ध हो जायगा। तुम्हे केवल अपने मन मे केवल दृढ विश्वास रखकर मेरे और अपने सम्बन्धो को दृढ निश्चय से अपनाना होगा।

प्रेम लक्षणायुक्त-भक्ति तथा ज्ञानमय भक्ति के द्वारा भक्ति का प्रचार कर नामदेव ने भागवत धर्म का प्रचार मराठी और हिन्दी-भाषी प्रदेशों में दोनों भाषाओं मे कर दोनो भाषा-भाषियो पर बडा उपकार किया है। वारकरी सम्प्रदाय में नामदेव प्रेम की सगुण मूर्ति है। प्रेम ही उनका स्थायी भाव है, इसी से अपने उपास्य विठ्ठल को वे अपना चुके थे। विसोबा खेचर की गुरु कृपा से वे परम कोटि के सन्त बने, और निर्गुण भाव से चराचर में विठ्ठल की व्याप्ति को देखते हुए उसका प्रत्यक्षाचरण पंजाब में जाकर करते रहे। उनका यह ऋण कबीर आदि को मान्य है। भागवत भक्तों मे नामदेव की तरह अद्भुत भक्ति रस की पयस्विनी बहाने वाला दूसरा और कोई नही। ऐसा मानना अयोग्य नहीं होगा।

एकनाथ का आध्यात्मिक पक्ष—

परम कारुणिक महान मराठी वैष्णव कवि एकनाथ की कृतियों में उनका दार्शनिक पक्ष हमारे सामने आ जाता है। उनकी आरम्भिक कृतियाँ प्रमुख रूप मे आध्यात्मिक विचारो को अभिव्यक्त करने वाली है। इसी से हमने यहाँ पर क्रमशः उनके आध्यात्मिक एवम् दार्शनिक व्यक्तित्व और विचारों का स्वरूप समझाने का प्रयत्न किया है। इन्ही कृतियो मे प्रमुख रूप से उनके पारमार्थिक और आध्यात्मिक विचारो का पक्ष अभिव्यजित हो गया है अतः इस विवेचन में उनको इस रूप मे लिया गया है।

१. नामदेवाची सार्थ ४४९, पृ० ३६३।

एकनाथ का व्यक्तित्व और आध्यात्मिक साधना—

हिन्दी और मराठी के वैष्णव साहित्य के भक्त कवियों मे परम कारुणिक संत श्री एकनाथ पूरे वैष्णव साहित्य के ही नहीं वरन् अद्यावत् मराठी साहित्य के हिमालय है। वेदान्त-सिद्धान्त के तर्क कर्कश गगन चुम्बी हिम-शिखर इस नगाधिराज की शोभा अभिवर्धित कर रहे हैं, तथा सदभिरुचि और सद्भक्ति सयुक्त-भाव गंगोत्री के सुक्षेत्र से उद्गम पाकर नवरसो से भरे हुए अपने दोनों पुलिनो की भूमियो को अपनी पुनीत एवम् प्रभूत जल राशि से आप्लावित करती हुई यह साहित्य भागीरथी अपनी तरह सहज स्वच्छन्दता से वह रही है। यहाँ से स्थान भ्रष्ट होकर छूट पड़े हुए हिम-प्रस्तर आपातत. इस वहते हुए गगौघ में आकर पिघल रहे है। इस हिमालय के ऊपरी भाग पर विराजित वनश्री की नयनाभिराम शोभा, प्रज्ञासूर्य का उदय तथा इसी प्रदेश पर दिखाई पडने वाली प्रतिभा के शारदीय पूर्णिमा की धवल और स्वच्छ ज्योत्स्ना एवम् नयनाभिराम वहार का क्या वर्णन किया जाय ?

एकनाथ ने अपनी तीव्रतम हृदय सस्पर्शी अनुभूति को अपने शव्दो के माध्यम से अत्यन्त उत्कटता के साथ अपनी कृतियो मे भावना सिक्त कर अभिव्यक्त कर दिया है। इसका तत्काल परिणाम सहृदय पाठको के चित्त को स्पर्श कर लेना है। अर्थात् यह कार्य सचमुच एक प्रतिभा सम्पन्न साहित्यकार का ही हो सकता है। अत: यह तो कहा ही जा सकता है कि उनके पास प्रतिभा--सम्पन्नता थी। हिन्दी के महान् युगप्रवर्तक गोस्वामी तुलसीदास और मराठी के परमकारुणिक श्री एकनाथ मे वहुत साम्य है। दोनो ने अपनी वहुमुखी और सर्वस्पर्शी प्रतिभा से जीवन के विस्तृत और विविध अङ्गो का सूक्ष्मातिसूक्ष्म अध्ययन और निरीक्षण कर अपनी भावानुभूति से सभी काव्य-गुणो की माधुरी से अभिव्यजित कर दिया है। यह अभिव्यजना विभिन्न साहित्य शैलियो मे लोकाभिमुख होकर उद्भावित हुई है। विस्तार की दृष्टि से और भक्ति की साधनात्मक विचार धारा मे दोनो ने अद्वितीय और अनुपम ढङ्ग से साहित्य मे अपनी पैनी और गहरी पैठ को सिद्ध किया है। फिर भी दोनो के अपने-अपने अधिकार और साहित्यिक कृति-शिल्प को देखकर निश्चय पूर्वक यह कहा जा सकता है, कि तुलसीदास यदि हिन्दी साहित्य के सुमेरु पर्वत है तो एकनाथ मराठी साहित्य के हिमालय है।

पारमार्थिक साधक एवम् साहित्यकार की स्वनिर्मित साधना-प्रणाली—

श्री एकनाथ का साहित्यकार अपनी स्वनिर्मित साधना प्रणाली और प्रयत्न से विकसित और वर्धिष्णु हुआ। अपने पारिवारिक एवम् लौकिक जीवन मे तथा पारिमार्थिक क्षेत्र मे वे किस प्रकार यशस्वी हुए, तथा इसी यशस्विता का प्रतिपादन

अपने माँ-बाप के मर जाने पर उनके वृद्ध पितामह चक्रपाणि ने अपनी जर्जर वृद्धावस्था के कारण एकनाथ को जनार्दन स्वामी के उत्तरदायित्व मे सौप दिया। बचपन से ही प्रह्लाद की तरह 'कौमारे आचरेत्प्राज्ञो धर्मान् भगवता निह' एकनाथ मे स्वभावत· विशेषताएँ दिखाई दी। वे बचपन से ही कुशाग्र और बुद्धि प्रागल्भ्य से युक्त थे। अपने गुरु के द्वारा प्रदत्त उपदेशोको सुनकर एकनाथ के अन्तः-करण की सारी वृत्तियाँ लहलहा उठी। परिणामतः इससे सप्राप्त आनन्दावस्था की लहरो मे वे डूबने उतरने लगे। गुरु-कृपा से ज्ञान भी अर्जित कर लिया। इसी ज्ञानानुभूति को प्रकट करने की तीव्रतम इच्छा अन्त करण मे मुखर हो उठी। उसकी अभिव्यक्ति 'आनन्द लहरी' के नाम से विख्यात हुई। उनकी चित्तवृत्ति का उन्मेष देखने लायक है। यथा[1]—

चित्त वृत्ति का उन्मेष—

> तुझे निज स्वरूप पाहता दृष्टीं। निजानंद न समाये सृष्टी।
> तुटल्या जन्म मरणाच्या गांठी। निर्भय पोटी मी जालो ।।६।।
> बंध मुक्तिची अटा अटीं। संचरली होती माझ्या पोटीं।
> होता तुझी कृपा दृष्टी। उठा उठी पळाली ।।७।।

अपनी दृष्टि से तुम्हारे निज स्वरूप को देखते ही मुझे इस ससार मे न समा सकने वाला आनन्द उपलब्ध हो गया। अन्तःकरण की निर्भयता मिल गई। जन्म-मरण की उलझने सुलझ गयी। बधन और मुक्ति का झझट दूर हो गया, तथा तुम्हारी कृपा दृष्टि से सारी शंकाये निर्मूल होकर मन शंका रहित बन गया।

गुरु सेवा सम्पन्न आध्यात्मिक ज्ञान—

गुरु सेवा करते हुए उनसे अध्यात्म ज्ञान आत्मसात् कर अपनी शका-कुशकाओ के निर्मूलन से उनकी बुद्धि मे तत्वज्ञान सम्पन्नता के उपलब्ध हो जाने से एक नव उत्साह सचालित हो उठा जिसका प्रकटीकरण इस तरह हो गया[2]।

> आतां बोलणें खुंटले। शब्दांचे चातुर्य राहिले। दृष्टि चे देखणे
> उरले ते हि निमाले भेटवटी ।।१४६।।
> एका जनार्दनी एकनाथ। एक म्हणता विश्व भरित।
> तो होऊनी कृपावन्त। प्रेम आनन्द लहरी वदविली ।।१५४।।[3]

---

१. आनन्द लहरी ६–७ श्री एकनाथ कृत।
२. श्री एकनाथ कृत 'आनंद-लहरी', ओवी संख्या १४६–५०।१५२–५३।
३. एकनाथ कृत 'आनन्द लहरी', ओवी संख्या १५४।

अब तो वाचाशक्ति अपना कार्य छोड़ चुकी है, शब्दो का चातुर्य भी रुक गया है और आँखो से केवल देखने का कार्य शेष बच गया है, किन्तु आगे चलकर वह भी समाप्त हो गया। सद्गुरु के दास इन सारे सकेतो को अच्छी तरह समझ सकते है। पक्षी जिस तरह नारियल का आस्वाद नही ले सकते, वैसे ही अन्य लोग इन बातो को नही जान सकते। उनके लिए तो ये सारे अनुभव है ही नही। मेरा सबसे विनम्रतापूर्वक निवेदन है कि वे सद्गुरु की शरण में जाकर अपना आत्मोद्धार कर ले। इससे मोक्ष का अधिकार उन्हे मिल जावेगा और जन्म मृत्यु का चक्र उन्हे नही व्यापेगा। सद्गुरु के कथन पर विश्वास रखने से सारी बाते यथार्थतः सत्य बन जाती है। मेरा मन ऐसे ही आनन्दोन्मेष से सम्पन्न होकर आनन्द की लहरो मे निमज्जित हो रहा था। इसी के प्रतिफलस्वरूप आनन्दानुभूति की यह अभिव्यक्ति 'प्रेम आनन्द लहरी' के नाम से विख्यात हो गई। यह सद्गुरु-कृपा का ही फल है।

एकनाथ के द्वारा रचित यह प्रथम स्फुट काव्य और प्रथम साहित्यिक रचना हैं, ऐसा अनुमान अवश्य किया जा सकता है। अपनी आयु के सोलह से अठारह वर्ष की अवस्था मे यह गुरु कृपा और अनुभूति हुई होगी। उसके पूर्व एक बार एक पाई का हिसाब गलत निकलने पर रातभर जागकर उस गलती को उन्होंने खोज निकाला तब उनकी तितिक्षा, सतर्कता, तादात्म्य और साक्षेप ये गुण देखकर उनका अधिकार और पात्रता उनके गुरु श्री जनार्दन स्वामी के ध्यान मे आ जाने से उन पर गुरु कृपा होना अत्यन्त स्वाभाविक है। भला गुरु परीक्षा लिए बिना कहाँ कृपा करते है? अतः यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है, कि यह गुरु-कृपानुभव उनके हृदय मे बिंध जाने पर ही उसकी अभिव्यक्ति होना अधिक सम्भव है। अतः सम्भवत. शक १४७०-७१ मे यह स्फुट काव्य लिखा गया होगा।

साहित्य-निर्मिति करने वाले साहित्यकार की कृतियों का यदि कोई क्रम लगाना चाहे तो वह क्रम भी तभी मालूम हो सकता है जब वह उस ग्रन्थ के भीतरी स्वरूप तथा भाषा को देखता है। अपनी स्वानुभूत आनन्दानुभूति की लहरो मे डुबकियाँ लगाने के बाद उससे स्फूर्ति और प्रेरणा लेकर करीब-करीब बीस वर्ष की अवस्था मे एकनाथ ने यह कृति प्रस्तुत की होगी। इसमे वर्णित आत्मबोधन, आत्मज्ञान आदि को उनके गुरु जनार्दन स्वामी ने देखा, तथा उसे अन्य विद्वानो के द्वारा उसी प्रकार के भावो से अभिव्यजित कृतियो से मिलाकर देखा और परखा। तब उस निपुणता को और परिपक्व करने के हेतु श्री जनार्दन स्वामी ने श्री एकनाथ को श्री व्यास के सुपुत्र श्री शुक योगीन्द्र द्वारा रचित 'शुकाष्टक' पर मराठी मे टीका रचने का आदेश दिया। इस आदेश का पालन करते हुए एकनाथ ने अपनी टीका मे

अभिव्यजित स्वात्मानद को श्री शुक की अनुभूति और स्वात्मानन्द के साथ मिलाकर उसकी परीक्षा की। इसका फल यह हुआ कि वे अब अपने गुरु के अनुभवो को अपने अनुभवो मे सम्पन्न पाने लगे। इस एक रसता और तादात्म्यानुभव मे रसलीन होकर 'शुकाष्टक' पर ओवीबद्ध मराठी टीका उन्होने प्रस्तुत की। बहुधा कवि अपनी प्रथम रचना प्रस्तुत करने के बाद अपनी अनुभूति और अभिव्यक्ति को अन्य कवियो की कृतियो से मिलाकर देखते है—पढते है और तुलना भी कर लेते हैं। इस तरह अपनी साहित्यिक योग्यता की कमी को पूरा कर लेने का उनको सुअवसर भी प्राप्त हो जाता है। 'शुकाष्टक' पर रची गई टीका की बानगी देखने लायक है[1]—

> जो वेद सरोवरीचा हंसु। द्विभुज जाला जगदीशु।
> अवतरला व्यासु द्वैपायनु ॥४२५॥
> माजो मने निष्टंकु विचारी॥ हा विवेक त्यासी प्राप्तादायकु
> सेव्यकरी ॥४३०॥

द्विभुज जगदीश के समान अपने अन्त करण से जो वदनीय बन गया है, तथा जो वेद के सरोवर मे तैरने वाले हस के समान है, ऐसे द्वैपायन व्याम महर्षि के सुपुत्र श्री शुक योगीन्द्र ने इस अष्टक को रचा है। यह व्यास पुत्र विवेक का सागर, आनन्द का मगल निधि और सुबुद्धि मान है। इस व्यास पुत्र द्वारा निर्मित अष्टक के आठ श्लोको का जो नित्य पाठ करेगा उसे सम्यक ज्ञान का वृक्ष ही हाथ लग जायगा। उसका जीवन सार्थक होकर ठिकाने लग जायगा तथा विवेक के प्राप्त साधनो का सेवन और अप्राप्त साधनो की प्राप्ति से उसे सेवन की योग्यता उसमे आ जाती है। वह शका-रहित और निर्मल मनवाला हो जाता है।

ओवी का उदात्त रूप—

एकनाथ ने यह ग्रन्थ ओवी छन्द मे लिखा है। वैसे उनके बहुत से ग्रन्थ इसी छद मे लिखे गये है परन्तु इस छन्द के बारे मे एकनाथ के मौलिक विचार इसी ग्रन्थ मे वर्णित है। अत्यन्त उदात्त अन्त.करण से वे ओकार के स्वरूप के साथ ओवी का सम्बद्ध जोडते है। देखिये[2] —

> या शुक सुखाष्टके पवित्रा। औट चरणी विचित्रा।
> ओवियाँ नव्हती अर्ध मात्रा। औटावी हे ॥२७॥
> ओवी दाखवी विवेकाते। पावन करी औट हाते।
> एक देशी सरते व्यापकामाजी ॥२८॥

१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवी संख्या ४२५–२६, ४२९–३०।

१. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवियां २७–२८।

ॐकार की मात्राएँ साढ़े तीन होती है, तथा ओवी छद की मात्राये भी साढ़े तीन होती है। मनुष्य की जागृति, स्वप्न, सुपुप्ति और तुर्यावस्था इन चारो को ॐकार की मात्राओ मे निहित माना गया है। ॐकार मे उसकी अर्ध मात्रा सानुनासिक है। इसे ही तुर्यावस्था का सकेत मानते है। यह तुर्यावस्था स्वसवेद्य आत्मानुभूति एवम् ब्रह्मानुभूति ही समझी जाती है। अतएव ओवी भी प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति ही है ऐसा एकनाथ का अभिप्राय है। ओवी को साढ़े तीन हाथ से नापना उचित नही होगा क्योकि ब्रह्मानुभूति के अतिरिक्त स्वप्न, और सुषुप्ति भी इसमे समायी हुई है। अर्थात् इससे सारा मानव शरीर पुनीत हो जाता है तथा व्यापक सत्ता से सम्वद्ध हो जाता है।

योग्य गुरु का योग्य शिष्य—

श्री शुकाचार्य की तरह जनार्दन स्वामी के पात्रतम शिष्य एकनाथ का अनुभव यह प्रदर्शित करता है कि[1]—

> तो जनार्दन प्रिय एका। मूळ योगे श्री शुका।
> लागोनि केली टीका। स्वात्मबोधे ॥४३९॥
> एका जनार्दनी कीं जनार्दन एकपणीं। सागरी जैसे पाणी
> तरंग जाले ॥४४४॥[2]

आनन्द लहरी लिखने के अनुभव प्राप्ति से अपने नवीन अनुभवो को शास्त्रीय निकष लगाने के हेतु अपने गुरु की आज्ञा से शुकाष्टक पर टीका रची जिससे कि प्राप्त ज्ञान पूर्णतः आत्मसात हो जाय। वे इन ओवियों मे कहते है, कि यह केवल आठ श्लोकों का अष्टक मात्र नही है, अपितु एक मधुर आम्रवृक्ष है। इसकी आठ शाखाये हैं, तथा प्रत्येक शाखाग्र पर एक-एक मधुर आम्रफल लगा हुआ है। शुक योगीन्द्र इस प्रत्येक फल का सेवन किया करते थे। उसी तरह ओवियों मे रचित मराठी टीका भी यही अभिप्राय प्रकट करती है कि यह साढ़े तीन हाथ का मानव शरीर पुनीत और शोभन हो जाता है जब कि वह इसको पढता है। इसके पढ़ने से व्यापक अनन्त सत्ता मे सान्त का अकेलापन नष्ट हो जाता है। जिस तरह सागर और तरग दोनों एक ही अभिन्न जल के स्वरूप है वैसे ही जनार्दन स्वामी और एकनाथ दोनो अभिन्न हृदय है।

सभवत. शक १४७२ में अपनी २१ वर्ष की आयु मे एकनाथ ने शुकाष्टक की टीका रची। इस द्वितीय कृति के बाद उनमे और विकास होता है। शुकानुभूति के

---

२. एकनाथ कृत 'शुष्काष्टक' ओवियाँ ४३९–४०।

२. एकनाथ कृत 'शुकाष्टक' ओवी सख्या ४४२–४४४।

साथ अपनी अनुभूति की तुलना और गुर्वादेश का पालन दोनो एक ही साथ वे इस द्वितीय कृति से सम्पन्न कर सके। इससे उन्हे एक अपूर्व सुख एवम् समाधान प्राप्त हो गया। इसी को वे स्वात्मसुख कहते है। इस स्वात्म सुख को अभिव्यक्त करने के लिए उनकी आत्मा बेचैन हो उठी और इसका फल यह हुआ कि उन्होने 'स्वात्म-सुख' नाम की तृतीय स्वतन्त्र कृति प्रस्तुत की। इस ग्रन्थ मे गुरु कृपा की चढ़ती कमान अभिव्यक्त की गई है। अपने पूर्वजो से मिली हुई काव्य प्रतिभा की ईश्वरीय देन को पुन॰ गुरु कृपा से मुखरित करने का उन्हे सुअवसर प्राप्त हो गया। इसी पर वे सतोष प्रकट करते है उनके ये हृदयोद्गार अत्यन्त मधुर और सुरस बन पडे है[1]—

जाखर करुनि वेगळी। गोडीची कीजे निराळी।
स्वादुसर्वांगी सकळीं। तैसा स्वानंदु जाणा ॥२८॥

जिस प्रकार शर्करा की मिठास को शर्करा से अलग कर लिया जाय तो उसका स्वाद जैसे सर्वाङ्गो से प्रकट हो जाता है वैसे ही स्वानन्द-सुख के मिठास की दशा अर्थात् स्वानन्द की अनुभूति की अवस्था है।

एकनाथ अपने ग्रन्थ का परिचय यो देते है[2]—

स्वात्मसुख येणें नावे। हा केवळ ग्रन्थ नव्हे।
येणे रहस्य अनुभवावे। निजात्मसुख ॥४१२॥
हो कां पति-सुखा लागी गोरटी। सासरच्या दासीची मानी गोठी।
जैसे प्रमेय सुनी दिठी। पहावा ग्रंथ ॥४१४॥

एकनाथ का स्वात्म सुख—

इस ग्रन्थ का नाम 'स्वात्मसुख' है। यह केवल इस संज्ञा को ही सार्थ करने वाला नही अपितु यह ग्रन्थ वस्तुत ऐसा है जिसे पढकर सहृदय पाठक को भी स्वात्मसुख का अनुभव होने लगता है। इसका यही रहस्य है। अधिकार सम्पन्न ऐवम् आत्म सुख मे लीन रहने वाला निपुण इसे पढकर आत्मसुख में लीन हो जाने का पुन. प्रत्यय कर सकता है। वह युग ऐसा था जब लडकियो के विवाह अल्पवयस मे ही सम्पन्न हो जाते थे। ऐसी ही विनयशीला सुलक्षणी नववधू का दृष्टान्त देकर एकनाथ अपनी बात समझाते है। जिस प्रकार अल्पवयसा सुलक्षणी सुशीला नववधू अपने पति सुख के हेतु ससुराल मे आकर श्वशुरगृह की दासी के आदेशो का पालन

१. एकनाथकृत 'स्वात्मसुख'—ओवी संख्या २८।
२. ,, ,, ,, ,, ४१२–४१४।

करती है, वैसे ही आत्मसुख लाभार्थ या प्रभु चरणो का सुख पाने के लिए साधक को इसी दृष्टि से किसी शास्त्र या ग्रन्थ का परिशीलन करना चाहिए। इस ग्रन्थ का निरूपण जिस शैली का है उसे भी देख लेना समीचीन होगा। यथा[1]—

ये ग्रंथीचे निरूपण। वरि-वरि पाहता कठिण। परी अभ्यंतरी
गोडी जाण। अमृता ऐसी ॥४७२॥

इस ग्रन्थ में किया गया निरूपण ऊपरी तौर पर देखने पर कठिन जान पड़ता है। पर उसकी अन्तर्गत और बाह्य स्वरूप की माधुरी अमृत के समान है। इस माधुर्य के प्रति सहज स्वाभाविक रुचि एकनाथ के अन्तःकरण मे पहले से ही थी। परन्तु उसको प्रेरणा देने वाले श्री जनार्दन स्वामी ही थे, जिनकी कृपा से आनन्द की जीवन दायिनी वर्षा उन पर होती ही रही। इसी प्रेम वर्षा से एकनाथ के अन्त.करण की वृत्तियाँ निरन्तर भावविभोर होती ही रही। इसकी यथा योग्य अभिव्यंजना वे इस प्रकार करते है[2]—

हे भानुदास कुळवल्ली। निजात्म मंडपा वेली गेली।
एका जनार्दन पुष्प फळी। संत सुखी ये हेतू ॥५०६॥
एका जनार्दन परिपूर्ण। जन जनार्दन अभिन्न।
हे ज्यासि आकळे खूण। स्वात्मसुख जाण तोचि लाभे ॥५३९॥

सत भानुदास के कुल मे उत्पन्न काव्य प्रतिभा रूपी लता लहलहाकर एकनाथ तक आ पहुँची तथा उनकी आत्मा के वितान पर चढ़कर मडराने लगी। स्व मी जनार्दन की कृपा से इसमे फल-फूल आदि लगे। वे सब संत जनो के सुख के काम आ सके। एक प्रकार से अपने ही स्वात्मसुख की आत्मकथा सुनने के लिए विवेक वैराग्य और श्रद्धावान श्रोता मिल जाने पर उनकी अवस्था अद्वितीय बन जाती है। इस अवस्था के सामने समाधि अवस्था का सुख भी अपने आपको उस पर न्यौछावर करने लगता है। गुरु और शिष्य परिपूर्ण रूप से अभिन्न है। इस तथ्य का जो अनुभव कर सके वही स्वात्मसुख को लूट सकता है।

एकनाथ का चतुर शिष्य—

एकनाथ के २४ वर्ष की अवस्था मे शक १४७३–७४ में अपनी इस अनुभव-सिद्ध तृतीय कृति को प्रस्तुत किया होगा। हम देखते है कि अब तक एकनाथ मे काफी निखार आ गया था। एक प्रौढ साहित्यकार का व्यक्तित्व उनमें धीरे-धीरे पनप रहा था। जो अब इतना प्रगति-शील हो गया था कि ज्ञान प्राप्ति और

---

१. श्री एकनाथ कृत 'स्वात्मसुख'—ओवी ४७२।
२. ,, ,, ,, ५०६–५३९।

स्वात्मसुख परिपक्व दशा मे ले सकने मे अपने आपको समर्थ और सम्पन्न पाने लगा था। एक बार श्रीमद् आद्य शकराचार्य ने अपने परम शिष्य हस्तामलकाचार्य से प्रश्न किया—

कस्त्वम् शिशो कस्य कुतोसि गंता। किन्नीयते त्वांकुत आगतोसि।
एतन्मयोक्तम वद चार्भकत्वम्। मत्प्रीतये प्रीति विवर्धनोसि॥

हे मेरे प्रिय शिष्य। तुम किस के पुत्र हो? कहाँ जाने वाले हो? तुम्हे कौन ले जाता है? कहाँ से आये हो? मेरे द्वारा तुम्हे अब तक जो कुछ बतलाया गया है उसे इस प्रकार समझाकर कहो जिससे तुम मेरी प्रीति के पात्र बन जाओगे। 'श्रीमदाद्य शकराचार्य ने अपने परम शिष्य के हृदयस्थ ज्ञान को' 'करतलगत आमलक फलवत्' जाँचना चाहा था, तब उसने 'हस्तामलक' लिखकर अपने 'शाब्दे परेच निष्णातः' होने का परिचय दिया था। इसी 'हस्तामलक' जैसे पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ पर मराठी मे टीका लिखने का आदेश जनार्दन स्वामी ने एकनाथ को दिया। इसमे अपने गुरु का क्या अभिप्राय हो सकता है इसे एकनाथ एक चतुर एवम् निष्णात शिष्य होने से पूर्ण रूप से समझ गए थे इसका वर्णन द्रष्टव्य है[1]—

शुद्ध बुद्ध नित्य मुक्त। चिन्यात्रैक सद्गदित। निजानन्दे आनन्द भरित।
तो मी येथ निज बोध ॥८०॥
जनार्दनचि स्वयें जन। हे ज्ञानाचे निज ज्ञान। एकाजनार्दन शरण।
सन्त सम्पूर्ण तुष्टले ॥९३॥[2]

हस्तामलक ने आद्य शंकराचार्य को जो कुछ सुनाया उसे ही सद्गुरु जनार्दन स्वामी के पास प्रिय शिष्य श्री एकनाथ अपनी मराठी टीका में उसी प्रकार अत्यत हृद्य और गंभीर शैली मे अभिव्यक्त करते है। जिस गूढतम ब्रह्मज्ञान को तुमने अपरोक्षानुभूति के साथ स्वसवेद्य कर लिया, इसी को तुम शास्त्रीय पद्धति से समूचे स्वरूप सहित विशद प्रकार से वर्णन करो क्योकि इसमे श्रीमदाचार्य का पूर्ण मनोगत है तथा इसका महत्व भी उच्चकोटि का है। श्री एकनाथ आगे चलकर कहते हैं कि अपने सद्गुरु की इस इच्छा को वे अपनी टीका मे अभिव्यक्त कर सके, इसका एकमात्र कारण श्री सद्गुरु है, क्योकि इस कार्य मे उनको प्रेरक एव सहायक श्री जनार्दन स्वामी के सिवा और कोई नही हुआ। इसीलिये वे उनकी पूर्ण रूप से शरण गये है। इस ग्रन्थ मे पारमार्थिक ज्ञान का जो भी निरूपण हुआ है उसका सारा श्रेय वे उनको ही दे देते है। हम यो कह सकते हैं कि हस्तामलकाचार्य ने

---

१. श्री एकनाथ कृत हस्तामलक (मराठी टीका) ओवी संख्या ८०–८३ (९३)।
२. श्री एकनाथ कृत हस्तामलक (मराठी टीका) ओवी सं० ७०, ७२,७३, ९३।

अपनी स्वानुभूति को 'शाब्देपरेच निष्णातः' व्यक्त कर अपनी शास्त्र वृत्ति का शंकराचार्य को एक परीक्षार्थी के नाते जैसे परिचय करवाया, उसी तरह अपने शास्त्रीय ज्ञान का परिचय उसी भावना से सिक्त होकर एक परीक्षार्थी के नाते अपने गुरु को श्री एकनाथ ने करवाया। 'हस्तामलक' के प्रयास और शास्त्रीय ज्ञान को देखकर जो आनन्द शकराचार्य को हो गया था उसी कोटि का आनन्द जनार्दन स्वामी को एकनाथ के कार्य से मिला। उन्हे यह ज्ञात था कि इस कार्य में उनके गुरु बराबर उनके साथ रहे है जिनकी प्रेरणा और बल से इसमे जो अपरोक्षानुभूति का निरूपण है वह यही बतलाया है कि सद्गुरु की शरण जाना चाहिए जिससे सत जन भी सतोप प्राप्त कर लेते है।

सद्गुरु प्रेरित कार्य –

अत्यन्त विनम्रता से पुनः एकनाथ यह निवेदन करते हैं[१]—

हस्तामलकाची टीका। एकला कर्ता नव्हे एका।
साह्य जनार्दन निज सखा। ग्रन्थार्थ नेटका अर्थिला तेणे ।।६६८।।
पूर्ण जाले निरूपण ।। पूर्ण म्हणावया म्हणते कोण।
खुंटला बोल तुटले मौन। आनन्दघन अद्वयात्मा ।।

इस टीका के लिखने मे मुझे पूरी सहायता जनार्दन स्वामी से मिली। अतएव यह ग्रन्थ पूर्ण हो सका। इसका कर्तृत्व मेरा निजी जरा भी नही है यही एकनाथ कहते हैं। इसका निरूपण करने मे सद्गुरु की कृपा ही सहायक हुई है। यहाँ वाणी के शब्द भी समाप्त हो गए–मौन भी टूट गया और आनन्द-घन अद्वयात्मा का अर्थात् परमात्मा का ज्ञान प्राप्त हो गया।

अपनी चौथी कृति २५–२६ वर्ष की अवस्था मे शक १४७५ मे प्रस्तुत की है, ऐसा सभव जान पडता है।

एकनाथ की विकसनशील पारमार्थिक साधना—

इस तरह अपने प्रियतम शिष्य की परीक्षा ले लेने पर उनके गुरु ने उनको और उच्च स्तर का अनुग्रह देकर साधना करवाई और स्वयम् उनको साथ लेकर यात्रा के लिए निकले। गोदावरी नदी के तट पर नासिक त्र्यबकेश्वर मे चन्द्रभट नामक ब्राह्मण से 'चतु श्लोकी–भागवत' पर पुराण विवेचन सुनाकर श्री जनार्दन स्वामी जी ने एकनाथ महाराज को आज्ञा दी कि तुम अब इस चतु श्लोकी भागवत पर यही पर टीका लिखो। एकनाथ इस प्रसग का वर्णन इस प्रकार करते है—

१. एकनाथ- हस्तामलक ओवियाँ ६६८–६७०।

'जनार्दन म्हणती एकनाथा सांगतो वचन ऐक आता ।
श्री दत्त वरद तुझिया माथा । लाधला अवचिता निज भाग्ये ।।
चतुःश्लोकी जे भागवत । चंद्र भटे आणिले से सागत ।
त्याजवरी टीका करावी प्राकृत प्रांजळ वहुत ये स्थानी ।।'[1]

जनार्दन स्वामी ने एकनाथ से कहा कि 'तुम पर श्री दत्त भगवान का वरद हस्त है अत. यह अवसर तुम्हे प्राप्त हो गया है। इसलिए इसी स्थान पर इस चतु श्लोकी भागवत पर मराठी मे टीका रचो। अब तक एकनाथ के द्वारा चार कृतियाँ प्रस्तुत की गईं थी जिनमे उन्होंने अपने ज्ञान और अनुभव के विभिन्न प्रयोग किए थे। अतः उनका यह ग्रन्थ उनकी विकसनशील प्रतिभा के स्वरूप को हमे वतलाता है। उनके गुरु का अपने शिष्य पर पूर्ण विश्वास था जिसे एकनाथ की वाणी मे ही सुनना उपयुक्त होगा।

तेणे स्वानंदे गर्जोन । श्री मुखे स्वये जनार्दन ।
वोलिला अति सुखावून । हे वर्णी गुह्यज्ञान देशभाषा ।।
तया माझी मध्यम अवस्था । नेणे संस्कृत पद पदार्था ।
वाप आज्ञेचि सामर्थ्यता । वचने यथार्थ प्रवोध झाला ।।[2]

आदि कल्प के प्रारम्भ मे समुद्र के जल मे स्थित ब्रह्मा जड़मूढ़ हो गया, और सृष्टि रचना करने की विधि भूलकर अज्ञान से आवृत्त हो गया। उस समय विष्णु के नाभिकमल मे कमलासन पर बैठे ब्रह्मा को अपनी अस्मिता श्री विस्मृत हो गयी तब श्री नारायण ने उसे अपनी आत्मा का शुद्ध ज्ञान देने के हेतु अपनी चिद्घन-मूर्ति का दर्शन दिया। नारायण की दिव्य मूर्ति देखते ही ब्रह्मा मे दिव्य स्फूर्ति का उदय हुआ और अज्ञान तिरोहित हो गया। यही इतिहास शुक मुनि राजा परीक्षित को सुनाते है, जो 'चतु.श्लोकी भागवत' कहलाता है। यहाँ पर ऐसा लगता है कि श्री जनार्दन स्वामी एकनाथ महाराज के मन.पटल पर सगुण भक्ति का स्वरूप विशेष रूप से अकित करवाना चाहते है। इसीलिए 'चतु:श्लोकी भागवत' की टीका लिखने का आदेश उनको स्वामीजी ने दिया। एकनाथ कहते है कि इस समय मेरी मध्यम अवस्था है। (सम्भवत: उनकी आयु लगभग तीस से अधिक की इस समय रही होगी।) मेरी वुद्धि सस्कृत के पद पदार्थ समझने लायक प्रगल्भ नही थी। पर अपने पिता सदृश गुरु की आज्ञा में कितना वल होता है इसका अनुभव

१. एकनाथकृत चतुश्लोकी भागवत टीका।
२. एकनाथकृत चतुश्लोकी भागवत टीका।

करते हुए उसी सामर्थ्य की सहायता से मैंने टीका लिखी। जिसके विवेचन का कार्य ठीक और यथार्थ रूपेण उनके वचनानुसार ही हुआ।

गुरुकृपा और समर्थ शिष्य का अधिकार तथा सगुणोपासना का महत्व—

जनार्दन स्वामीजी के परीक्षण और निरीक्षण एवम् प्रत्यक्ष मार्गदर्शनानुसार एकनाथ का साहित्यिक और दार्शनिक व्यक्तित्व विकसनशील बनता गया। अपने गुरु की कृपा से उनकी साहित्य साधना और शास्त्रीय ज्ञान वर्धिष्णु हुआ। अद्वैत और निर्गुण परब्रह्म की अनुभूति एवम् साक्षात्कार अपनी कर्मठ उपासना से और ज्ञान सम्पन्नता से वे लेते रहे। परन्तु यह ब्रह्मानुभूति उनके समग्र जीवन के लिए पर्याप्त और उपयुक्त न थी। अपने गुरु मे दृढ विश्वास रखने वाले एकनाथ की हरबार सहायता जनार्दन स्वामी ने की है। इसे अब तक उनके निरूपित ग्रन्थों के वचनो से साधार रूप मे हमने देख लिया है। हम इस निर्णय पर पहुँचते है कि अभी इसमे और परिपक्वता आने की गुंजाइश है। क्योकि तभी तो अन्ततोगत्वा परमकारुणिक एकनाथ का प्रखर और पूर्ण ओजस्वी समर्थ व्यक्तित्व जीवन की गहराइयो मे प्रत्यक्ष पैठकर, उसमे से मोती निकालकर अपना लौकिक और पारमार्थिक दोनो तरह का सुख सुस्पष्ट रीति से प्राप्त कर सकता है। इसकी पूर्ण कल्पना उनके गुरु को थी। नित्य कर्म करते हुए साधक के लिए उसके बल पर भवदानुग्रह बहुत फलदायी होता है। ऐसा अनुभव साधक तभी ले सकता है जब वह स्वावलम्बी बनकर ईश सहायता और गुरुकृपा से असीम और अटूट विश्वास का आधार प्राप्त कर लेता है। तब वह जिस कार्य को हाथ में ले लेता है उसे उत्साह पूर्ण और आशा से पूरा कर लेता है। इसका प्रमुख कारण सगुण उपासना का महत्व है। इसी बात का महत्व एकनाथ के हृदय में ठोस रूप में अङ्कित हो जाय इस लक्ष्य को सामने रखकर जनार्दन स्वामी ने उन्हें 'चतुःश्लोकी भागवत' की मराठी मे टीका रचने का आदेश दिया था। अपनी गुरु की इच्छा और अपेक्षा को एकनाथ परिपूर्ण कर सके थे इसका पता हम उनके द्वारा अभिव्यक्ति सशक्त और विश्वास पूर्ण विवेचनो से पा लेते हैं। यहाँ पर उनकी वाणी उन्मुक्त और निर्भय बन गई है। यथा[1]—

> वासिष्ठाचे वचनासाठी। सूर्य मंडळी तपे छाटी।
>
> शिळा तरती सागरपोटीं। श्रीरामदृष्टि प्रतापे ॥१०२३॥

---

१. एकनाथ—चतुःश्लोकी भागवत मराठी टीका, ओवी संख्या १०२३–१०३६।

एका आणि जनार्दन । नावें भिन्न स्वरूपें अभिन्न ।
या लागी ग्रथाचे निरूपण । पूर्णत्वे सम्पूर्ण झाले ।।१०३६।।[1]

गुर्वाज्ञा बडी सामर्थ्यवान होती है और उसका प्रभाव भी बड़ा सिद्ध होता है इसका एकनाथ स्वय अनुभव करते है । विश्वामित्र और वशिष्ठ मे श्रेष्ठ कौन इस पर चर्चा छिडी तव भगवान विष्णु के पास मुनि वसिष्ठ के वचन की सत्यता का प्रमाण देने के लिए सूर्य को जाना पडा । उस समय सूर्य के स्थान पर वशिष्ठ की लगोटी ही सूर्य की तरह तपती रही । गुरु का प्रताप कितना सामर्थ्यशाली होता है इसका यह एक उत्ताम उदाहरण है । मैं भी उसी तरह गुर्वाज्ञा का पालन कर इस ग्रन्थ पर टीका लिखने मे सक्षम हो गया । गुरु आज्ञा के सामर्थ्य का ही यह परिणाम था कि राम दृष्टि के प्रताप से शिलाएँ समुद्र मे तरने लगी । जिस तरह महर्षि विश्वामित्र के वाक्य से कौलिक को स्वर्ग मे स्वतन्त्र स्थान मिला । उसी प्रकार से मै (जनार्दन स्वामी का एकनाथ) भी गुरु कृपा के प्रताप से पूर्ण रूपेण ज्ञान का अर्थ करने मे सफल हुआ । इस गुरु आज्ञा का सामर्थ्य कितना आश्चर्य पूर्ण और कौतुहल जन्य है इसे जरा देखिए तो सही । जब-जब मेरे मन मे आया कि मै इस ग्रन्थ को पूर्ण न कर सकूँगा तव उस ग्रन्थ का अर्थ मेरे अन्तःकरण मे अपने आप स्फुरित होने लगा तथा वल पूर्वक उसमें वर्णित ज्ञान के अक्षय भंडार सामने आ गये । इस ग्रन्थ निर्माण कार्य मे लगे रहने पर रोज का नित्य नैमित्तिक कर्म करते समय उसमे मग्न रहने पर भी ग्रन्थ के गूढार्थ स्वयपूर्ण रूप से सुझाई देने लगे । गुरु-आज्ञा के सामर्थ्य से और प्रभाव से ग्रन्थ का अर्थ मेरी दृष्टि के सामने मूर्तिमान होकर खेलता सा नजर आता गया । उस आज्ञा ने मेरे पीछे लगकर साधारण बातो मे भी ज्ञान प्रकट कर दिखाया । नित्य नैमित्तिक संध्या स्नानादि कर्मो को पीछे रखकर ग्रन्थार्थ उनके आगे आकर पूर्ण प्रकार से प्रकट हुआ । जागृतावस्था मे, स्वप्न मे, सुषुप्तावस्था मे सर्वत्र ग्रन्थार्थ के अतिरिक्त और कुछ भी शेष न बचा । पारमार्थिक गुह्य ज्ञान ठोस और सघन सगुण साकार रूप मे मूर्तिमान होने लगा । मेरी ऐसी अवस्था हो गई कि जब ग्रन्थ लिखने बैठा तो शब्दो के आगे ज्ञान और ओवियो के आगे अर्थ दौडता हुआ प्रत्यक्ष सामने आने लगा । मैं जिस-जिस बात का चिन्तन करने लगा वही अर्थ बनकर प्रकट हो गया । सद्गुरु की आज्ञा इतनी गाढी और बलिष्ट होती है कि वह शिष्य को एक क्षण भर भी चैन से नही बैठने देती । मैने यही अनुभव किया कि गुर्वाज्ञा ग्रन्थारम्भ से ग्रन्थ के अन्त तक मेरी प्रेरक और स्फूर्तिदात्री रही । चतुःश्लोकी भागवत मे मथित ज्ञान अपनी

१. एकनाथकृत—चतुःश्लोकी भागवत मराठी टीका संख्या १०२३–१०३६ ।

टीका में मैं ला सका यह समर्थ गुर्वाज्ञा के समर्थ प्रताप का परिणाम था। एकनाथ अपने समस्त भावों सहित गुरु पद पकजो मे नतमस्तक हो जाते है। पारमार्थिक ज्ञान से परिपूर्ण ग्रन्थ चतुःश्लोकी भागवत सारे महाभागवत का रहस्य अपने मे समेट चुका है। परन्तु वह सारा सद्गुरु के सामर्थ्य से ही सप्राप्त हो सका। अतएव अकेला एकनाथ उसका कर्ता नही है, प्रत्युत इस टीका के अभिव्यजन मे उसके सागोपागो सहित सद्गुरु जनार्दन स्वामी ही प्रकट हुए है। एकनाथ और जनार्दन स्वामी ये दोनों नाम अलग है परन्तु इनका स्वरूप अभिन्न है। इसीलिए ग्रन्थ के निरूपण के साथ ही जीवन का पूर्णत्व मैं जान सका।

एकनाथ एक पात्रतम शिष्य—

इस कृति को प्रस्तुत करने के वाद सगुण भक्ति का महत्व एकनाथ भलीभॉति समझ गये थे। ऐसा निष्कर्ष निश्चित रूप से निकाला जा सकता है। एकनाथ की शिक्षा दीक्षा और सवर्धन उनकी निगरानी मे हुआ था। अतएव उन्होने इस बात का पूर्ण रूप से ध्यान रखा कि अपने प्रियतम शिष्य के विकसनशील प्रगति मे शास्त्रीय ज्ञान और साधन की कोई कमी न रह जाय। इसी सतर्कता के कारण एकनाथ उनके पात्रतम शिष्य वन गए। साहित्यकार और भक्त कवि के नाते स्वतन्त्र रचना, टीका ग्रन्थ इत्यादि के प्रयोगो से ब्रह्मानुभूति के सवेदन का इतने विस्तृत और विशाल प्रमाण मे शायद ही किसी को सुअवसर मिला हो। अद्वैत वेदान्त की तर्क कर्कश ज्ञान की तथा यौगिक कठिन साधना को पचाकर श्री एकनाथ अपने हृदय पक्ष से सगुण ब्रह्म के साक्षात्कारी भावाभिव्यजन के कार्य में भी पटु वन गए। अव उनमे यह आत्म विश्वास दृढ़ हो गया कि वे अव लोकाभिमुख रचनाएँ सर्जन कर सकते है। यह आत्मविश्वास उनके विरचित एक अभग के उदाहरण से देखा जा सकता है।

सगुणोपासना मे आस्था[१]—

सगुण चरित्रें परम पवित्रे सादर वर्णावीं।

× × ×

एका जनार्दनी भक्ती मुक्ती होय तत्काळीं॥

परम पवित्र, सगुण चरित्रो का अत्यन्त आदर सहित वर्णन करना चाहिए। सज्जन लोग सगुण चरित्र वालो के प्रति आस्था रखते है अतः सर्वप्रथम आदरयुक्त अन्त.करण से प्रभु का नाम गाना चाहिए। कीर्तन रंग मे आकर भगवान् के

१. एकनाथ अभंगों की गाथा पृ० १७१ अभंग १६७५।

सामने सुख से तल्लीन होकर उसमे झूम उठना चाहिए। भक्ति और ज्ञान को छोडकर अन्य वाते न की जाय। प्रेमपूर्वक वैराग्य और विवेक की युक्तियो सहित अन्य वातो का निराकरण किया जाय, इससे अन्तःकरण मे श्री हरि की सगुण-मूर्ति का ध्यान धँस जायगा और वही चिरंतन रूप से स्थित हो जायगा। सन्तो के घर की कीर्तन मर्यादा इसी प्रकार की होती है। अद्वय भाव से अखंड नामस्मरण करते हुए भजनानन्द मे निमग्न होकर तालियाँ पीटनी चाहिए। एकनाथ कहते है कि भक्ति से ही मुक्ति तत्काल हो जाती है।

सगुणोपासना का परिणाम—

सगुण उपासना के प्रति ठोस आस्था और उसका महत्व एकनाथ महाराज के अन्त.करण पर अङ्कित हो जाने से उनके जीवन मे और भक्ति मे स्थिरत्व आगया। परिणामत: उनमे ज्ञान की परिपक्वता आती गयी और प्रौढता और पाण्डित्य से वे परिपूर्ण वन गये। गुर्वाज्ञा से भारतवर्ष के प्रसिद्ध तीर्थ स्थानो की अर्थात् उत्तर मे मानस आदि और दक्षिण मे रामेश्वर आदि स्थानो की यात्राएँ की। स्थान-स्थान पर उन्होने तद्युगीन जन जीवन की परिस्थिति को देखा तथा अनेक प्रसिद्ध सन्तो के साथ सत्सग भी किया। इस यात्राकाल मे उनका योग-क्षेम श्रीकृष्ण परमात्मा की कृपा से सुचारु रूप से चला। इससे सगुण भक्ति की भावना उनमे दृढ से दृढतर और दृढतर से दृढतम होती गयी। कहना न होगा कि सारे उत्तर-भारत मे प्रचलित युग की सगुण-भक्ति को विशेष रूप से उन्होने आत्मसात किया होगा और अपने शास्त्रीय ज्ञान तथा हृदय से उद्भूत सगुण भक्ति के आधार पर उसे और पक्का कर लिया होगा। इस आदान-प्रदान से अपने इष्टदेव के चरित्र का गुणगान किया जाय यह भावना उनमे दृढ होती गयी। पैठण मे आकर अपने गुरु की आज्ञा से एक आदर्श गृहस्थाश्रमी सन्त एव भक्त वनकर लौकिक और पारमार्थिक जीवन सफलता से निभाते रहे। अपने जीवन के इतने लवे अरसे मे शास्त्रीय ज्ञान, हृदय प्रवृत्तिनुसारिणी सगुण-भक्ति, चार ग्रन्थो की सर्जना, अपने सद्गुरु के प्रति दृढविश्वास और तत्जन्य लोक मगलकारिणी वृत्तियो से वे एक पूर्ण रूप से साधु, पण्डित और विद्वान सत और भक्त का आचरण करने वाले गृहस्थ बन गये। शास्त्रीय ज्ञान की सुसम्पन्नता, पडितो के साथ मैत्री, देशाटन से सप्राप्त अनुभवो और अन्वीक्षण की विस्तृत और व्यापक लोकाभिमुखी दृष्टि ने उनमे एक अद्वितीय एव उर्जस्वल प्रतिभा का उन्मेष जगा तथा उनकी धाक सर्वत्र प्रकर्ष रूप मे जमती गई।

चतु श्लोकी भागवत की रचना करने के बाद एकनाथ ने अभगो की

रचना भी आरम्भ कर दी थी। अपनी भाव भीनी इस नव-नवोन्मेषमयी अनुभूति की इस विधा को उन्होंने अपने गुरु को बतलाना चाहा क्योंकि यह उनका विश्वास था कि ज्ञान का प्रभाव और काव्य की प्रेरणा गुरु की महिमा एवम् कृपा का ही फल है। इस महिमा को वे इस प्रकार मुखर करते है—

सद्गुरु महात्म्य—

तरी जो कायावाचा मनें। अति कृपाळू दीना कारणें॥
तोडी शिष्याची बंधने। उठवी ठाणे अहंकाराचे॥[1]
हे स्वप्नी हीन स्मरे मनें। शिष्याची सेवा स्वयें करणे।
पूज्यत्वे पाहणे निज शिष्या॥[2]

काया वाचा मनसा सद्गुरु दीनों के लिए अत्यन्त कृपावान हो जाते हैं। अपने शिष्यो के अज्ञान के बधनो को दूरकर वे उन्हे परम ज्ञानी बना देते हैं। उनके अन्त:करण से अहङ्कार का निवास हटा देते है। फलत. वे अहङ्कार रहित निर्मल स्वभाव के शिष्य बन जाते है। सद्गुरु शब्द ज्ञान मे पारगत, ब्रह्मानन्द मे सदा निमग्न, शिष्य प्रबोधन मे किसी भी प्रकार की शकाओ का निर्मूलन कर सकने मे सक्षम तथा शिष्यो का पूर्ण समाधान करने वाले होते है। उनका इस प्रकार का सहज स्वभाव बन जाता है। अत: उनके शिष्यो मे से जिसका जैसा भाव होगा उसी के अनुरूप उसे अनुभव प्राप्त होने लगते है। ऐसे महापुरुषो को अपने गुरु होने का कतई अहंकार नहीं है और न वे अपने शिष्यों से किसी प्रकार की कभी कोई सेवा भी लेते है। अपने शिष्य की प्रतिष्ठा रखते हुए उसे उच्चस्तर पर ले जाने की तत्परता जिसमे सदा विद्यमान रहती है ऐसे सद्गुरु की महिमा अपार है।

इस तरह गुरु-महिमा गाकर अपने स्फुट काव्य के रूप मे लिखे गये एवम् रचे गए अभगों को उन्होंने अपने गुरु को दिखाया। इन अभङ्गो के बारे मे श्री जनार्दन स्वामी ने जो अभिप्राय अभिव्यक्त किया है वह द्रष्टव्य है—

परी नवल त्याचे लाघव। अभंगीं घातले माझे नाव।
शेखी भावाचा निज भाव। उरावया ठाव नुरवीच॥९८॥[3]

उनका निवेदन है कि मुझे अपने पन के कारण जो ज्ञान अपने गुरु से उपलब्ध हुआ उसके परिणाम स्वरूप में भक्त बन गया। पर भक्ति रस के उन्मेष मे जो कुछ भी प्रकट हो गया उसमे मेरा कुछ भी न था जरा इस कौतुक को

---

१. एकनाथी भागवत कध्याय ३–२९७।३००।
२. ,, ,, ,,
३. ,, ,, १–९८।

देखिए कि इन अभङ्गों में मेरी छाप अर्थात् मेरा नाम उन्होने लिखवाया। वास्तव मे ये भाव मेरे न थे, पर उनकी नि.स्पृहता ने अभिमान रहित होकर उन अभङ्गो को उन्होने मेरा ही बतलाया और कहा[१]—

> यया वचना सन्तोषला। म्हणे भला रे भला। निज भाविक
> तूचि संचला। प्रकट केला गुह्यार्थ ॥
>
> × × ×
>
> तुझेनि मुखे जे जे निघे। ते सन्त हृदयी साच चि लागे।
> मुमुक्षु सारंगाची पालिगे। रुंजी निजांगे करितील ॥

यहाँ पर गुरु और शिष्य दोनो के पारस्परिक सम्वन्धो का क्या स्वरूप था यह भी समझा जा सकता है। एकनाथ का सारा साहित्यिक और सम्पूर्ण व्यक्तित्व उनके गुरु के द्वारा ही तैयार किया गया था। अत. अपने अन्त.करण की ऋजुता और कृतज्ञता जब एकनाथ व्यक्त करने लगते हैं, तव वे अत्यन्त विनम्र हो जाते है। तथापि उनके हार्दिक आदर भाव को समझते हुए श्री जनार्दन स्वामी अपने शिष्योत्तम के लिए वात्सल्य भावना प्रकट करते है। इसीलिए उन्हे एकनाथ के प्राजल वचनो से परम सतोष प्राप्त हुआ। उन्होने कहा कि भाई! तुम्हारी काव्यधारा मे तुम्हारे ही निजी भाव अभिव्यक्त हुए है। गूढ एवम् रहस्यात्मक पारमार्थिक ज्ञान को तुमने अपने स्वानुभव से सिद्ध कर काव्य मे प्रकट कर दिया है। इसे मैं क्या यह मानूँ कि इसमे मेरी स्तुति है अथवा यह मानूँ कि इसमे मात्र निरूपण ही है। यह ग्रन्थ-पीठिका है अथवा ब्रह्मज्ञान? साहित्य के मर्मज्ञ और ज्ञानी भी इसे आसानी से नही समझ सकेगे किन्तु तुमने उसे अपने विवेक से और अन्त.करण की भाव मयता से समझ लिया है, और उसके रहस्य को प्रकाशित कर अभिव्यक्त कर दिया है। अपनी वाणी के इन स्वरो मे जो गूँज उठा है उससे सतोष को भी सन्तोष उत्पन्न हो गया है। सत हृदयो को तुम्हारे मुख से निकले हुए वचन सत्य प्रतीत होते है। मोक्ष की जिज्ञासा रखने वाले पारमार्थिक सहृदय रसिक जन इस सरस काव्य के इर्द-गिर्द सदा मँडराते रहेगे। इस तरह गुरु के अभिप्राय को सुनकर श्री एकनाथ को परम सतोप प्राप्त हुआ। वास्तव मे 'चतु.श्लोकी भागवत' के वाद कालानुक्रम से अभङ्गो पर विचार करना चाहिए था परन्तु हमने स्फुट काव्य का परामर्श वाद मे लेने का निश्चय किया है। अत अब हम 'एकनाथी भागवत' का एक महान ग्रन्थ के नाते विवेचन करेगे।

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ९९–१०२।

'एकनाथी भागवत' एक महान् दार्शनिक ग्रन्थ है।

गुरु आज्ञा से श्री क्षेत्र पैठण मे उत्स्पूर्त होकर अपनी निजी प्रज्ञा और गाढ़ी विद्वत्ता के प्रगाढ आत्मविश्वास से एकादश स्कध पर टीका लिखना उन्होंने आरम्भ किया। अपनी आयु के ३५ से ४० वर्ष तक उन्होने भागवत का प्रगाढ अध्ययन, स्फुट रचनाएँ निर्माण कर ली थी, तभी कर लिया था। इस ग्रन्थ का प्रारम्भ पैठण में कर वाराणसी मे उसे समाप्त किया था। इसके बारे मे उनके महाग्रन्थ की अन्तर्साक्ष्य इस प्रकार है—

> तैसे माझेनि नावें। ग्रन्थ होती स्वभावें। आज्ञा प्रताप गौरवें।
> गुरु वैभवें सार्थकू ॥[1]
> म्हणवोनि एकादशाची टीका। एकादशीस करी एका।
> एकपणाचिया सुखा। फळेल देखा एकत्वें ॥
>
> × × ×
>
> वाराणसी महामुक्ति क्षेत्र विक्रम शक संवत्सर।
> शके सोळाशे तिसोत्तरा। टीका एकाकार जनार्दन कृपा ॥
> महामंगळ कार्तिक मासी। शुक्ल पोर्णिमे सी।
> सोमबार शिवयोगेसी। टीका एकादशी समाप्त जाहली।
> स्वदेशीचा शक संवत्सर। दंडकारण्य श्रीरामक्षेत्र।
> प्रतिष्ठान गोदावरी तीर। तेथील उच्चार तो ऐका ॥
> शालीवाहन शक वैभव। संख्या चौदाशे पंचाण्णव।
> श्रीमुख संवत्सराचे नांव। टीका अपूर्व तै जाहली ॥[2]

दडकारण्य के श्रीराम क्षेत्र की प्रतिष्ठान नगरी में गोदावरी तीर पर माघ-शुद्ध एकादशीके दिन पूर्वा नक्षत्र रहते हुए प्रातःकाल पूर्व बेला में शक १४९१–९२ तथा सवत् १६२६–२७ में 'एकनाथी-भागवत' का लेखन आरम्भ हुआ तथा मोक्षदा-पुरी वाराणसी में शक १४९५ तथा संवत् १६३० में महामगलदायक कार्तिक शुक्ल-पक्ष पूर्णमासी तथा सोमवार के दिन इस महाग्रन्थ का लेखन पूर्ण हुआ। जनार्दन स्वामी जैसे सद्गुरु की समर्थ आज्ञा के वैभव को अपनी पराकाष्ठा पर पहुँचाकर दिखाने का महान् कार्य एकनाथ के द्वारा सुसम्पन्न हुआ। इस एकादश स्कंध की टीका लिखने वाला 'एका' अर्थात् एकनाथ एकात्म भाव से इसे पूर्ण कर सका।

---

१. एकनाथी भागवत प्रथम अध्याय–१०८–११४ और
अध्याय ३१ ओवियाँ ५५०–५५३।

२. " " " " "

इसमे एकनाथ ने दृढ निश्चय पूर्वक अपने गुरुदेव से सप्राप्त ज्ञान के साक्षात्कारी स्वरूप को सहज और प्रेक्षणीय बनाकर अपनी टीका मे प्रस्तुत कर दिया है। इसके द्वारा पाठक और श्रोता जीवात्मा और परमात्मा के एकात्मक तादात्म्य एवम् सुखानुभूति को प्राप्त कर लेगे।

श्रीमद् भागवत का आध्यात्मिक महत्व—

भारतीय वैष्णव साहित्य मे श्रीमद्भागवत महाग्रन्थ का अत्यन्त आदरणीय स्थान है। विष्णु पुराण, हरिवश और भागवत इनमे से भागवत पुराण विशेष लोकप्रिय है। इसका कारण यह है कि इसके रचयिता मे विद्वत्ता और कवित्त का मधुर और अपूर्व सयोग हुआ है। भागवत मे भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सत्सग, सच्चरित्र, गुरुसेवा, आदि पारमार्थिक अङ्गो का विवेचन, सृष्टि का आरम्भ, प्रलय और जन सामान्य मानवी व्यवहारो आदि का सम्पूर्ण निरूपण करना यह प्रमुख उद्देश्य होने से कई बार पुनरावृत्ति भी हुई है। विष्णु के अवतारो की महिमा इसमे बखानी गई है। इस मूल ग्रन्थ का रचयिता वेदान्त विषय का प्रगाढ़ ज्ञाता और सरस प्रतिभा सम्पन्न कवि होने से भागवत का प्रचार अन्य वैष्णव ग्रन्थो से अधिक हुआ, यह कम आश्चर्य की बात नही है। फिर भी श्रीकृष्ण चरित्र प्रमुख रूप से निवेदन करना यह बात श्रीमद् भागवत कार के सामने रही है। भगवान् वेद व्यास ने महाभारत की रचना की। परन्तु अस्वस्थता बनी रही। अठारह पुराण लिखे और परोक्ष ईश्वर ब्रह्म का वर्णन किया, फिर भी जब मन की अशान्ति नही गयी तब उन्होने श्रीमद् भागवत लिखा। इसमे यह बताया गया है, कि नररूप धारी लीला लाघवी भगवान् साकार सगुण बनकर इस ससार मे मानव की तरह व्यवहार, आचरण, आदि करते है। नारद-व्यास सवाद मे उनके अन्त.करण की बेचैनी का पता चल जाने पर व्यास भागवत रचते है। और अपने पुत्र शुक मुनि को सुनाते है। ऋषि शाप से मरणासन्न राजा परीक्षित शुक से उसे सुनते है। इस ग्रन्थ के कथन की यह परम्परा है। भगवद् भक्ति परक यह ग्रन्थ होने से इसमे भगवान् और उनकी भक्ति का विस्तारपूर्वक विवेचन है।

अनेक विष्णु के अवतारो मे से यादव कुलोत्पन्न श्रीकृष्ण का अवतार सर्वश्रेष्ठ होने से उनकी भक्ति श्रेयस्कर है, यही इसके प्रतिपाद्य विषय का मुख्य सूत्र है। इसके कुल द्वादश स्कध है। कौरव पाडवो के संघर्ष की बाते इतिवृत्त के रूप मे प्रथम स्कध मे निरूपित है। कृष्ण सम्बन्धी अश इसमे भी हैं पर परीक्षित से विशेष सम्बन्धित यह रहा है। दूसरे स्कध मे सृष्टि की उत्पत्ति आदि का विवेचन करते-करते नवम् स्कधो तक भागवत कार ने अनेक आख्यानों मे अवतारों आदि पर

प्रकाश डाला है। दशम स्कंध के दो खण्ड हैं। पूरा श्रीकृष्ण चरित्र इस स्कध के इन दो खण्डो में विवेचित है। पूर्व खण्ड मे श्रीकृष्ण जन्म से उनकी शैशवावस्था पौगंडावस्था का विवेचन और वर्णन है। उत्तर खण्ड मे भगवान् श्रीकृष्ण के तारुण्य और रासलीला-गोपीव्यवहार आदि विषय वर्णित हैं। श्रीकृष्ण के पुरुपार्थ विपयक चरित्र का भाग उत्तर खण्ड में है। वैष्णव भक्त कवियो के द्वारा दशम स्कध पर ही या उनके प्रसङ्गो पर ही अनेक रचनाएँ विभिन्न भारतीय भापाओ मे अधिक रची गयी है। एकादश स्कध को उद्धव गीता भी कहते है। वारहवे स्कंध मे इन पुराणो का उपसहार है। श्री एकनाथ का 'रुक्मिणी-स्वयंवर' दशम स्कध की एक कथा पर आधारित है। श्रीकृष्ण अपनी लीला सवरण कर निज धाम को जा रहे है। इस घटना से उद्धव दुखी है और बाद मे उनको स्वयम् अकेले ही रहना पड़ेगा इस वियोग की तड़फाने वाली भावना ने अभिभूत कर दिया। इस कल्पित मानसिक व्याकुलता से व्यथित होकर उन्होने श्रीकृष्ण से अनेक प्रश्न पूछे हैं। उनके उत्तर मे श्रीकृष्ण ने उद्धव को उपदेश दिया हैं। इसी उपदेश से सारा एकादश स्कध निर्मित है।

इस उद्धवगीता के कुल ३१ अध्याय है। श्री एकनाथ भागवत इसी महाग्रन्थ की टीका है। इसका प्रथम अध्याय 'विप्रशाप' नाम का है। द्वितीय अध्याय निमी जायत संवाद एवम् नारद वसुदेव सवाद है। तृतीय और चतुर्थ अध्याय में माया कर्म ब्रह्म निरूपण और भगवन्त अवतार कथाएँ है। पचम अध्याय में वसुदेव-नारद सवाद में भगवत् सेवा के मार्ग वतलाये है। छठे में देवहुति और उद्धव विज्ञापन है। सातवे मे अवधूतेतिहास उद्धव श्रीकृष्ण सवाद मे वर्णित है। आठवे मे पिंगलोपाख्यान है तो नवम् और दशम् अध्याय उद्धव श्रीकृष्ण सवाद से व्याप्त है। एकादश अध्याय मे पूजा विधान योग है, तो द्वादश अध्याय मे सत्सङ्ग महात्म्य कथित है। तेरहवे में 'हसगीत' निरूपण, चौदहवे में भक्ति रहस्यावधारण योग है। पन्द्रहवे अध्याय का नाम सिद्धि निरूपण योग, सोलहवे का विभूति योग है। सत्रहवे अध्याय में ब्रह्मचर्य-गृहस्थ कर्म धर्म निरूपण है। अठारहवे मे वानप्रस्थ सन्यास धर्म निरूपण है। उन्नीसवे मे वानप्रस्थ-सन्यास धर्म लक्षण निरूपण है। बीसवें मे वेद त्रयी विभाग योग विवेचन है तो इक्कीसवे मे वेदत्रय विभाग योग निरूपण है। चौबीसवे अध्याय में प्रकृति पुरुप साख्ययोग कथित है। पच्चीसवाँ अध्याय श्रीकृष्ण उद्धव सवाद मे गुण निर्गुण निरूपण है। छब्बीसवाँ अध्याय ऐल गीतोपाख्यान है। सत्ताईसवे अध्याय मे क्रिया योग, ध्यानयोग विवेचन है। अट्ठाईस और उनतीसवे अध्याय में क्रमशः परमार्थ-निर्णय, परमार्थ-प्राप्ति

सुगमोपायक धन और उद्धव वदरिकाश्रम प्रवेश है। तीनवे मे स्वकुल निर्दालन है। इकत्तीसवाँ अध्याय मौसलोपाख्यान से सम्बन्धित है। श्री एकनाथजी ने अपनी टीका मे मूल रूप से जो अध्याय जैसे विवेचित है, उनको वैसा ही रखा है, पर टीका मे विवेचन स्पष्ट करते हुए अपनी प्रगाढ विद्वत्ता और स्वतन्त्र प्रज्ञा का परिचय दिया है। मूल भागवत मे अध्याय ३१ है, तथा श्लोक सख्या १३६७ है। नाथ भागवत मे अध्याय ३१ है तथा ओवियाँ १८८०० है।

श्रीमद् भगवद् गीता और उद्धव गीता का आध्यात्मिक अन्तर—

'श्रीमद् भगवद्गीता' और 'उद्धव गीता' मे उसके स्वरूप तथा उसके प्रतिपाद्य शैली मे विभिन्नता है। जीवन मे एक व्यामोह-सघर्ष एवम् द्वद्व निर्माण हो जाने से अर्जुन ने भगवान् कृष्ण से कुछ प्रश्न पूछे उसका उत्तर देते हुए जो साहित्य निर्माण हुआ वह भगवद्गीता है। इसमे रस परिपोप भी देखने के लिए मिलता है। केवल साहित्यिक दृष्टिकोण से देखने पर उद्धव-गीता मे वह रस परिपोप नही मिलेगा, जो भगवद्गीता मे है। भागवत के एकादश स्कध की यह उद्धव गीता ऐसी है, जिसमे उद्धव के पूर्ण कल्पित दु.ख और उसका भगवान् श्रीकृष्ण के द्वारा किया गया आध्यात्मिक स्तर का निराकरण है। करुण रस के क्षितिज पर शान्तरस की वनश्री भक्ति रस के जल सिंचन से जैसे हरी-भरी दिखाई देती है, ऐसा उद्धव गीता का स्वरूप है। साहित्यिक दृष्टिकोण से उद्धव गीता की यह पृष्ठभूमि रस परिपोषक होने पर भी उसमे तत्वज्ञान का जो गाढ़ा परिपाक है उससे सामान्य सहृदय रसिको की उनकी साहित्यिक रुचि की दृष्टि से यदि वह नीरस जान पडे तो यह कोई आश्चर्य की बात नही है। नाथ भागवत को समझने के लिए साहित्यिक दृष्टि के साथ परमार्थ प्रवण प्रवृत्ति जिसमे जितनी अधिक होगी उतनी ही मिठास मूल भागवत के एकादश स्कध मे. तथा नाथ भागवत की टीका मे चखने के लिए उसे मिल सकती है।

ऊपर वतलाये गये स्वरूप मे भगवद् भक्ति को प्राधान्य देकर एकादश स्कध मे वर्णाश्रम धर्म का प्रतिपादन किया गया है। यो तो परमार्थ विपयक सभी बाते एकादश स्कंध मे प्रसगवशात् प्रतिपादित है। परन्तु पाठक के लिए एकादश स्कंध का स्वरूप एक झमेला सा सिद्ध होता है। इस झमेले मे पाठक न उलझे इसी हेतु को सामने रखकर मानो भागवतकार ने प्रथम दशम स्कध मे वर्णित तत्वज्ञान के वक्ता एवम् तत्वज्ञ का सम्पूर्ण चरित्र समूचे ढङ्ग से वखाना है। भागवतकार की यह स्कध-सगति देखकर मुझे तो अवश्य ही ऐसा जान पडता है, कि भागवतकार की रचना मे अवश्य ही कुछ विशेष दृष्टि रही हो। विचार करने पर

यह निश्चित हो जाता है कि तत्त्वज्ञान समझने के लिए तत्त्वज्ञ के चरित्र का समीचीन ज्ञान होना आवश्यक है। इसी सिद्धान्त-सूत्र को सामने रखकर ही भागवतकार ने इस प्रकार से स्कंध संगति लगाई है। वेदान्त सूत्रकार, महाभारतकार, तथा भागवतकार व्यास एक ही है, ऐसी जनश्रद्धा है। परन्तु विद्वानो का मत इस प्रकार का नहीं है। ईसवी सन् १००० के वाद और १२०० ईसवी पूर्व भागवत ग्रन्थ की रचना हुई है, ऐसा विद्वानो का तर्क है। अतः सूत्रकार, 'भारतकार' और 'भागवतकार' व्यास ये एक ही व्यक्ति होना असभव है। वैसे व्यास कोई भी क्यो न रहे हो, लेकिन भागवतकार व्यास की प्रज्ञा और प्रतिभा भारतकार व्यास से कुछ कम नही दिखाई पड़ती। इसी कारण जन साधारण को भारतकार और भागवतकार एक ही हैं यह भ्रम होना स्वाभाविक है। प्रज्ञा और प्रतिभा की दृष्टि से दोनो एक ही जान पडते है। भागवतकार और महाभारतकार ये दोनों दार्शनिक दृष्टि से सांख्यमतवादी होकर वर्णाश्रम धर्म व्यवस्था के प्रतिपादक हैं। दोनो में जो अन्तर सुस्पष्टत. दिखाई देता है वह है, महाभारतकार का कर्मवादी होना और भागवतकार का भक्तिवादी एवं अनन्य शरणागति का प्रतिपादक होना। श्रीमद् भगवद्गीता और एकादश स्कंधी उद्धव गीता का यही अन्तर है। इन दो गीताओ की पार्श्वभूमि भी अपने ढङ्ग की और अनोखी है। अपनी-अपनी पार्श्वभूमि पर ग्रन्थकार ने जो तत्वमूर्तियाँ सुचारु रूपेण खड़ी की है वे दोनो बड़ी ही सुहावनी और यथार्थ प्रतीत होती है इसी कारण जिस प्रकार से युग परिवर्तन होता जाता है उसी प्रकार के भाष्य या टीकाएँ इन गीताओं पर होती रही है। इन टीकाओं में से अपने तद्युगीन परिस्थिति का वखान करने वाली पद्रहवी शताब्दी की एकनाथ महाराज के द्वारा लिखित एकनाथी भागवत यह टीका प्रसिद्ध है।

ईश्वर प्राप्ति में भाषा बाधक नही है।

श्री एकनाथ को इस वात का गर्व है कि उन्होने यह टीका मराठी में लिखी है। अपने देशज लोग देशज भाषा में ही समझ सकते है। हरि कथा के वर्णन मे एवम् भगवद्गुणानुवाद में भाषा का कोई वन्धन वाधा रूप में उठ खडा नही हो पाता। हरिकथा निरूपण संस्कृत में हो चाहे प्राकृत में, भगवान् तो भावों का भूखा होता है। इसलिये वे कहते हैं—

जे पाविजे संस्कृत अर्थे। तेंचि लाभे प्राकृते।
तरी नमनावया येथे। विषय चितें ते कायी।।

× × ×

आता संस्कृता किंवा प्राकृता । भाषा झाली जे हरिकथा ।
ते पावनचि तत्वतां । सत्य सर्वथा मानावी ।।१२८।।[1]

सस्कृत मे अभिव्यक्त किया गया जैसे अर्थ की प्रतीति कराता है वैसे ही प्राकृत भाषा मे वही भाव अभिव्यक्त किया जाय तो वह भी अर्थ की प्रतीति कराता है। इनमे से एक भापा मे कहा गया श्रेष्ठ और दूसरा कनिष्ठ ऐसा हम नही कह सकते। प्रापचिक पदार्थो के नाम सस्कृत मे और प्राकृत मे और अलग-अलग हो सकते है, पर रामकृष्णादिको के नाम नहीं वदलते। सस्कृत का निर्माण देवो ने किया इसलिए क्या प्राकृत को चोरो ने निर्माण किया है? जो इस प्रकार के वृथा-निमान मे, भ्रम मे पडे हुए है उनको वृथा ही वोलकर कहने से क्या फायदा? हरिकथा संस्कृत मे वा प्राकृत मे निरूपित हो वह सर्वथा पावन ही मानी जावेगी।

सच्चा भागवत कौन है?

भागवत वही है जो भगवन्त है इस नाते भगवान् श्रीकृष्ण श्रेष्ठ और परम भागवत है इसके साथ ही वे ब्रह्मज्ञ हैं। इसीलिये एकनाथ का यह कथन उपयुक्त है—

ब्रह्माहुनि ब्राह्मण थोरु। हे मीच काय करूं।
परी अद्यापि श्रीधरु चरणालंकारु मिरवीतू ।।[2]

ब्रह्म से ब्रह्मज्ञ श्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह ब्रह्म का ज्ञाता एवम् तत्वज्ञान का प्रणेता भी होता है। सर्वश्रेष्ठ ब्रह्मज्ञ भगवान् श्रीकृष्ण भागवत का वर्ण्य विपय वनकर प्रसिद्ध हुये है। भागवत अपने सभी कर्मो को भगवान् के प्रति निस्सीम भाव से अर्पण कर देते है। इसको एकनाथ वडे सुन्दर ढङ्ग से वर्णन करते है। यथा—

हेतुक अहेतुक। वैदिक, लौकिक स्वाभाविक।
भगवती अर्पे सकळिक। या नाव देख भागवत धर्म ।।
उदकी तरंग अति चपळ। जिकडे जाय तिकडे जळ।
तैसे भक्ताचे कर्म सकल। अर्पे तत्काल भगवन्ती ।।[3]

मनसा-वाचा-कर्मणा से किये गये कर्म, वैदिक शास्त्र पद्धतिसे किये गये विहित कर्म, लौकिक, स्वाभाविक प्रकार से किये गये सभी कर्म भगवान् को समर्पित करने वाले व्यक्ति भागवत धर्म को अपनाने वाले है ऐसा माना जाता है। जिस

१. एकनाथी भागवत अध्याय १ ओवियाँ १२२–१२७।
१. एकनाथी भागवत अध्याय १–ओवियाँ १६५।
२. एकनाथी भागवत अध्याय २–ओवियाँ ३३५–३३७।

तरह पानी पर अनेक चपल तरगे दिखाई पडती है और वे जिधर जाती है उधर सर्वत्र जल ही जल विद्यमान रहता है, वैसे ही भक्तो के सारे कर्म भगवान् को समर्पित किये जाते है। भगवान् जल स्वरूप है और भागवतो के सारे कर्म तरङ्ग स्वरूप है।

भगवद् भक्तों का मार्मिक स्वरूप—

भगवद् भक्तो का स्वरूप एकनाथ ने मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। यथा—

> **भक्तां सर्वभूतीं भगवद्भावो। तेथे विघ्नांसि नाही ठावो।**
> **तया अपायचि हो उपावो। भावार्था देवो सदा साह्य॥**
> **भक्ती वीण मुक्तिचा सोसू। करितां प्रयत्न पडे वोसू।**
> **असो हे वैराज पुरुषू। करी प्रवेशू अव्यवर्ती॥**[1]

भक्त सारे भूतमात्रो को एक ही भगवद्भाव से देखते रहते है। इसलिये उनके किसी भी कार्य मे किसी भी तरह के विघ्न को भी प्रवेश नही मिल सकता। वे सदा अपने भाव पुष्प भगवान् को अर्पण करते है। अत भगवान् उनके सदा सहायक होते है। उनके लिए दूसरो के द्वारा किया गया अपाय भी उपाय बन जाता है। जो लोग विना भक्ति किये मुक्ति पाने का अथक परिश्रम करते है, उनके सारे प्रयत्न नष्ट हो जाते है। वैराग्य प्रवण राजपुरुप अव्यक्त मे प्रविष्ट हो जाते हैं। इसका एकमात्र कारण भगवद्भक्ति ही है।

इन सारे भक्तो को कर्म बधन कदापि नही व्याप सकते। एकनाथ के शब्दों मे इसे समझना ठीक होगा। जैसे—

> **सांडूनी देहीच्या अभिमाना। त्यजुनि देवतांतर भजना।**
> **जे अनन्य शरण हरिचरणां। ते कर्म बंधना नातळती॥**
> **या परी जे अनन्य शरण। तेचि हरी सी पढियंते पूर्ण।**
> **हरि प्रिया कर्म बंधन। स्वप्नीं ही जाण स्पर्शो न सके॥**[2]

ये भगवद् भक्त अन्य देवताओं के भजनों को छोडकर, अपने देहाभिमान को त्यजकर अनन्य शरण भाव से हरिचरण मे लीन हो जाते है। इसलिये उनकी अनन्य-शरणता से उनके इष्टदेव प्रसन्न हो जाते है तथा उन्हें कर्म के बंधन नही व्यापते। वे हरि के प्रिय है अत. हरि को जानने का पूर्ण अधिकार उनका ही है।

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ३—ओवियां १८८—१८९।
२. ,, ५—ओवियाँ ३७१—३७२।

वे पात्रतम हैं अतः यह उनका जन्मसिद्ध अधिकार ही है कि वे भगवान के स्वरूप के पूर्ण ज्ञाता बन जांय। अतः उनको स्वप्न में भी कर्म के बंधन कदापि नहीं व्याप सकते। ऐसे ये हरिभक्त सगुण का भजन बड़े चाव से और भक्तिपूर्वक करते हैं। एकनाथ का सगुण विषयक मतप्रतिपादन भी बड़ा जोरदार है। यथा—

> निर्गुणाहूनि सगुण न्यून। म्हणे तो केवळ मूर्ख जाण।
> सगुण निर्गुण दोनी समान॥ न्यून पूर्ण असेना॥
> निर्गुणीचा बोध कठिण। बुद्धि वाचे अगम्य जाण।
> शास्त्रांसि न कळे ऊण पूण। वेदीं मौन धरियेले॥[1]

जो सगुण को निर्गुण से न्यून कहते हैं, उन्हें केवल मूर्ख ही समझिये। क्योंकि वास्तव में सगुण और निर्गुण दोनों समान हैं। एक दृष्टांत से बड़े समर्पक ढङ्ग से अपना प्रतिपादन वे पेश करते हैं। जैसे घी के पिघलने पर उसका स्वाद न पिघले हुए घी से अधिक मीठा होता है, ऐसी बात नहीं है। उसी तरह सगुण और निर्गुण की बात है। निर्गुण मन बुद्धि और वाचा के परे है, इसलिए वेद भी उसके बारे में मौन स्वीकारते हैं। शास्त्र तो यथार्थ में अङ्कन भी नहीं कर पाते। निर्गुण की ही तरह सगुण भी अत्यन्त स्वानन्द का लाभ देने वाला है। नित्य-सिद्ध-सच्चिदानन्द मय प्रकृति से सम्पन्न परमानन्द ही सगुण बन जाता है। यही गोविन्द है। निर्गुण निर्विकार की सगुण मूर्ति तेजस्वी घन श्यामल वर्ण की बनकर, मोर मुकुट धारण कर कानों में कुण्डल तथा कंठ में कौस्तुभ वनमाला पहिनकर जब सामने आ जाती है तब उसकी शोभा देखते ही बनती है। भाल-प्रदेश पर रेखांकित चंदन दोनों नेत्रों के आरक्त वर्णों के कमल दलों को भी लज्जित कर देता है। इस सगुण ध्यान-मूर्ति का पूरा आनन्द उठाने के लिए ग्यारहवें अध्याय की १४६५ से १५०० ये ओवियाँ विशेष द्रष्टव्य हैं। साहित्य की दृष्टि से भगवान् श्यामसुन्दर का नख-शिख वर्णन अत्यंत सलोना तथा उच्च कोटि का है।

कृष्ण द्वारा स्वयम् अपना सगुण-ध्यान वर्णन—

उद्धव को कृष्ण अपनी ही मूर्ति का प्रतिपादन कर बतलाते हैं, कि इस सगुण मूर्ति का ध्यान करने से चित्त का सधान बड़े सुन्दर और सुचारु रूप से हो सकता है। एकनाथकृत इसका विवेचन देखिए—

> जैसे केळी चे कमळ। तैसे हृदयीं अष्टदळ।
> अधोमुख ऊर्ध्वनाळ। अति कोमळ लसलसित।[2]

---

१. एकनाथी भागवत अध्याय ११–ओवियाँ १४५६–५८।
२. ,, ,, १४–ओवियाँ ४६५–४६६।

त्या ही माजी वन्हि मंडळ। वन्हिकळ ?रति जाज्वल्य।
ते अग्नि मंडळीं सुमंगल। ध्यावी सोज्वळ मूर्ति माझी ॥

जिस तरह केले के फूल का आकार होता है, वैसे ही हृदय मे अष्टदल कमल है। जिसका ऊर्ध्वनाल अधोमुख है जो अत्यन्त कोमल और सुशोभायमान है। प्राणायाम के वल से उर्ध्वमुखी हृदयकमल के अष्टदल पखुड़ियो को विकसित करे। इसका प्रवल ध्यान चिन्तन करने पर उर्ध्व मुख अधोनाल का हृदयकमल, जो कि अत्यन्त उन्निद्र और अष्टदलयुक्त है, वे अष्टदल या पखुड़ियाँ ध्यान मे अचंचल होकर स्थिर हो जाती है। कमल के मध्य भाग में चद्रमंडल आ जाय, तव उसकी सोलह कलाओ सहित उसका ध्यान करना चाहिए। यह अविकल रूप से किया जाय। फिर उसमे सूर्य मडल होगा जो वारह कलाओं से युक्त होगा। उसमे एक अग्निमडल होगा, जो दश कलाओ से युक्त तथा अत्यन्त जाज्वल्य होगा। उसी सुमगल अग्नि मडल मे मेरी सोज्वल मूर्ति का ध्यान किया जाय। यह सोज्वल मूर्ति हे उधो! जिस प्रकार के ध्यान से युक्त है उसे सावधान चित्त से सुनो। श्रीकृष्ण अपनी मूर्ति का ध्यान स्वयम् अपने मुखारविन्द से कह रहे है। जो इस प्रकार है[1] —

अति दीर्घ ना ठेंगणे पण। सम अवयव समान ठाण।
सम सपोष अति सम्पूर्ण। मूर्ति सुलक्षण चितावी।

× × ×

तेणे घनसावळा शोभत। जैसे चांदिणे गगनामाझारी।
शुभ्रता वसे श्यामते वरी। तेवी श्यामांगी चदनाची भुरी।
तेणे श्रीहरी शोभत ॥[2]

जो मूर्ति न तो अति दीर्घ है और न तो अति लघु एवम् वौनी है अर्थात् जिसकी आकृति और सारे अवयव सम्पूर्ण शरीर के अनुपात मे सन्तुलित और सम्यक रूप मे परिनिष्ठित है। अपने सम्मुख ऐसी मूर्ति की कल्पना करते हुए, उसके चिन्तन मे काल व्यतीत करना चाहिए। यह मूर्ति ध्यान एवम् चिन्तन मे ममभाव से पोपित और सुलक्षणी हो। चिन्तन मे उसका सुरेखित प्रसन्न मुखारविन्द निहारना चाहिए जिससे हृदय मे हर्ष नही समाता। विशाल कमलदलवत् आकर्णान्त विशाल नेत्र हैं, भौहे कज्जलाकित हैं जो सुन्दर धनुष्याकृति की तरह

१. श्री एकनाथी भागवत अध्याय १४–ओवियाँ ४७०–४८३।
२. ,, ,, ,, ४७०–४८३।

वाँकपन लिए हुए है। श्यामल भाल प्रदेश पर पीत चन्दन और कस्तूरी की दोहरी रेखाये तथा कुम्कुम युक्त अक्षता भी लगी हुई है। नुकीली दीर्घ नासिका है और तेजस्वी दोनो कपोलों के वीच सुकुमार कोमल वदन है जो प्रवालो की आरक्तिमा लिए हुए अधर सपुटो से युक्त है। शुक्ल पक्ष की द्वितीया के चन्द्रमा की आकृतिवत अत्यन्त सुन्दर चिवुक है। चिक्कणता लिए हुए मुख है तथा जो भक्त चकोरों के चन्द्रमा है। हीरो की उज्जल ज्योतिवत् दतपक्ती है तथा दाड़िम वीजो की दीप्ति को प्रत्यक्ष कर देने वाले अरुणाभ अधरो के बीच दाँत चमकते हैं। वोलते समय ये दाँत झलकते है। दोनो कर्णो मे समान रूप से मकराकृति कु डल धारण किये हुए हैं। स्वभाव सहज ईषत् मनोहर हास्य मुख पर मँडराता है। ग्रीवा शखा-कृतिवत् सुन्दर है। तीनवलयो से युक्त कंठ का उभार है। जिस पर कौस्तुभ-मणि विराजमान है। उसके प्रकाश की दीप्ति की तुलना किससे की जाय। दिनकर अपने तेज से उनके सामने लुप्त हो जाता है। स्वभाव से ही इधर मँडराने वाले भुजङ्गाकार आजानुवाहू भुजाएँ है। विशाल वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिह्न अङ्कित है। हृदय के दोनो भागो के वीच त्रिवलीयुक्त गहन उदर है जिस पर यशोदा के द्वारा ऊखल से वाधे गये चिह्न अङ्कित है। उनकी ओर देखने वालों को ऐसा लगता है कि जैसे विद्युत की तरह कोधने वाली उनकी अपनी काति है। पीताम्वर परिधान किया हुआ उनका साँवला घनश्यामल रूप सुशोभित है। जिस प्रकार आकाश मे चादनी या श्यामता पर श्वेत वर्ण की झलक दिखाई पड़े उसी तरह सांवले कृष्ण के अङ्गो पर चन्दन की उवटन मली हुई तथा सुशोभित है। ऐसे श्रीहरि का और भी विस्तृत वर्णन सुनिये[१] —

> कौस्तुभासि संलग्न गळा। आपाद रुळे वनमाळा।
> कटीं वाणली रत्न मेखळा। किंकिणी जाळ माळा संयुक्त ।।
> मूर्ति सम्पूर्ण हरीची। जे मूर्तिची धरिल्या सोये।
> तहान भूक विसरोनि जाये। जे ध्यानी आतुडल्या पाहे।
> सुखाचा होय सुदिन। सर्वांग सुन्दर श्याम वर्ण।
> ज्येष्ठ वरिष्ठ गंभीर गहन। सुमुख आणि सुप्रसन्न।
> मूर्तीचे ध्यान करावें ।।४६७।।

कौस्तुभ मणि से युक्त कठ मे आपाद झूमने वाली वनमाला विराजित है। कमर मे मेखला है जिसमें किंकिणी युक्त गोल मणियाँ लगी है। अनेक ककण

१. एकनाथी भागवत अध्याय–१४ ओवी सं० ४८४–४६७।

घुटनों पर बैठे हैं। शंख-चक्र गदा पद्म आदि आयुधों से युक्त [illegible] की [illegible] है जो [illegible] में [illegible] है। [illegible] है जहाँ से त्रिभंग [illegible] हुआ। यह हरी का [illegible] है [illegible] [illegible] का मूल है। पैरों के सचेतन [illegible] हो ऐसे उनके दो चरणों की अभिनव शोभा है। हरी के चरणों में ध्वज, वज्र, अंकुश रेखाएँ हैं तथा पद्म-चक्रादि सामुद्रिक चिह्न भी विद्यमान हैं। इन्द्रनीलमणी के तराशे गये सुन्दर त्रिकोण की तरह सुन्दर सांवले वर्ण की पिंडलियाँ हैं। सुकोमल आरक्त आभा वाले तलुओं की निराली शोभा है। उनके ऊपरी हिस्सों में सांवले वर्ण की आभा है और निचले तलुओं में आरक्त वर्णीय आभा है, वह ऐसी जान पड़ती है मानों सांयकाल का रंग नीलिमा युक्त आकाश में रंग गया हो। नभमंडल में विराजित चंद्र रेखा की तरह सुन्दर जानुद्वय हैं और सुगठित जंघाएँ हैं। सिंह को अपनी कृश कमर का बड़ा अभिमान था, किन्तु अब [illegible] कन्हैया की कमर देखकर वह स्वयं लज्जित होकर जंगल में भाग गया। उसे अपना मुँह दिखाने में भी लज्जा उत्पन्न होती है इसलिए वह निरन्तर रूप से अरण्यवासी बन गया है। हरि की कमर को ठीक प्रकार से जाँचने समझने के लिए मेखला को भी रतना ही जाना पड़ा और उस पर स्वर्ण के पुट चढ़े। जब कृष्ण चलते हैं तो घुंघरुओं की रुनझुन झनकार होती है, तथा उसमें लगी घंटियों का [illegible] होता रहता है। सिर पर घुंघराली अलकें है, जिनमें फूल लगे हैं, वे मेघ-आभ विशेष शोभायमान है। इस प्रकार सर्वाङ्ग सुन्दर सुलक्षणी मूर्ति श्रीहरी की है। इस प्रकार की मूर्ति का ध्यान करने से भूख प्यास तक मिट जाती है और ध्यानमग्न दशा में यह मूर्ति हृदय मे स्थित हो जाने पर युग का सुदिन आ गया ऐसा समझना चाहिए। अतः सुन्दर श्यामवर्ण सुमुखी और सुप्रसन्न ज्येष्ठ और श्रेष्ठ परम् गंभीर तथा शान्त परम् ठोस सगुण मूर्ति का ध्यान करना चाहिए।

सगुण ब्रह्म का महत्व—

प्रबंध की मर्यादा के कारण मुझे इस तरह के और अन्य उदाहरण उद्धृत करने से हाथ खींचना ही उपयुक्त और उचित होगा।

सगुणोपासकों के लिए इसका विशेष महत्व है।

जीवन के प्रति दृष्टिकोण व्यक्त करने वाले आख्यान—

इसी महाग्रन्थ मे तेईसवे और छब्बीसवे अध्याय मे भिक्षुगीत और ऐलगीत इन दो उपाख्यानो की सृष्टि हुई है। इनमें से प्रथम मे मालव देश के एक कृपण तथा धन लोलुप ब्राह्मण की दुर्गति का हृदय-विदारक चित्र प्रस्तुत किया है। इसमे अन्त मे उसका द्रव्य संचय से अध:पतन होता है। फिर पश्चाताप होकर उसे निर्वेद की प्राप्ति होती है। यह निर्वेद भगवद् कृपा से ही हुआ है। भगवान् की कृपा कब और कैसे किस पर हो जायगी इसका कोई ठिकाना नही है। एकनाथजी इस ब्राह्मण पर जिस प्रकार कृपा हो गयी उसका वर्णन करते है -

कृपण और धनलोलुप ब्राह्मण का उद्धार—

मी पूर्वी होतो अति अभाग्य। आता झालो अति सभाग्य।
मज तुष्टला श्रीरंग। विवेक वैराग्य पावलो ॥
परी कोणे काळें कोण देशी। कोण समय कोणा विशेषीं।
हरी कृपा करितो कैशी। हे कोणासी कळेना ॥[1]

मै पहले अनन्त अभागी था पर अब अत्यन्त सौभाग्यशाली हो गया हूं। क्योंकि मुझे श्रीरंग की कृपा प्राप्त हो गयी है। वे मुझ पर संतुष्ट हो गये है। मेरा संचित धन ही मेरा बड़ा घोरतम अज्ञान था। उसे हरणकर मुझ पर बड़ी ही करुणापूर्ण कृपा दृष्टि की। भक्तों के अज्ञान हरण करने वाले ही हरि कहलाते हैं। मेरे अन्तकरण मे श्री हरि ने अपनी कृपा से विवेक उत्पन्न किया। वैराग्य विवेक बिना अंधा है, तो वैराग्य के बिना विवेक पंगु है। अत: मेरे हृदय मे दो जुड़वाँ फल एक ही समय मे विवेक और वैराग्य के रूप मे निर्माण हो गये। सच है कि हरि किस समय और किस रूप मे किस पर कृपा करेगे इसे कौन जानता है? इसकी निश्चिती भी कैसे दी जा सकती है?

कामवासना का उदात्तीकरण—

दूसरा आख्यान छब्बीसवे अध्याय का 'ऐलगीतोपाख्यान' है जिसमे चक्रवर्ती राजा पुरुरवा और देवांगना उर्वशी की प्रेम कहानी है। मनुष्य की कामवासना प्रदीप्त हो जाने पर वह कितना भी उपभोग क्यो न करे, पर उसकी कभी भी

१. एकनाथी भागवत अध्याय २३—ओवियाँ ४३६—४४१।

शांति नही होती यही बात इस उपाख्यान में बतलाई गयी है। इस चक्रवर्ती राजा को भी पुनः स्वर्ग मे उर्वशी का उपभोग करने पर जो अनुताप हुआ वह बडा मनोवैज्ञानिक है। पर यह अनुताप भी बिना कृपा के असम्भव है। भगवान् की कृपा से पश्चाताप होने पर उस राजा की स्थिति का स्वयम् भगवान् निवेदन करते है। यथा—

> **ऐसा पुरूरवा चक्रवर्ती। लाहो उर्वशी भोग प्राप्ती ॥**
> **स्वर्ग भोगी पावला विरक्ती। सभाग्य नृपती तो एक ॥**
> **जीव होय ब्रह्म पूर्ण। निःशेष गेला मानाभिमान।**
> **मी तूं पण भासेना ॥[१]**

पुरुरवा जैसा चक्रवर्ती राजा, उर्वशी जैसी देवागना की भोग प्राप्ति कर स्वर्ग मे भी पुनः उसे उपभोगार्थ प्राप्त कर वैराग्य प्रवण बन सका। वह एक परम सौभाग्यशाली नृपति है। जो विषय अप्राप्त है उनके प्रति वैराग्य धारण करने वाले अनेक योगी विरागी देखे है पर सारे त्रिजगत में स्वर्गांगना के उपभोग का सुख प्राप्त हो जाने पर भी उसको त्याग सकने वाला पुरुरवा सचमुच बड़ा विरागी और धन्य है। उसके जैसी विरक्ति अन्यो मे नही मिलेगी। इस प्रकार से उनकी प्रशंसा स्वय भगवान् श्रीपति अपने मुख से करते हैं। अपनी निंन्दनीय कायासक्ती को अनुताप की अँगीठी मे जलाकर भस्म कर दिया और अपना विवेक अभङ्ग रखा। कामिनी का महामोह छोड दिया। इस तरह कामासक्ती के दोष को अनुताप से धो डाला। और अपनी निर्मल चित्तवृत्ति को पुन प्राप्त कर लिया। यह मेरी कृपा से ही अनुताप हुआ था। मेरी ही कृपा से जीव शुद्ध अनुताप से ब्रह्म की स्थिति प्राप्त कर लेता है और 'मेरा-तेरा' यह भाव तिरोहित हो जाता है। एकनाथ के द्वारा विवेचित ये दोनों प्रसङ्ग मनोविज्ञान और मानव चरित्र का उदात्तीकरण कैसे होता है इसे बतलाने वाले है। अतः इनका विशेष अध्ययन ही उपादेय होगा।

एकनाथी भागवत मे और भी कई अन्य प्रसङ्ग साहित्यिक दृष्टि से बिखरे पडे हैं। उन सब का यहाँ पर उल्लेख न करते हुए एकनाथ विषयक आध्यात्मिक पक्ष का विवेचन अब हम यही समाप्त कर देते है। दार्शनिकता की दृष्टि से एकनाथ सगुण ब्रह्म को मानते हैं पर ज्ञानाश्रयी भक्ति से निर्गुण ब्रह्म के भी जानकार है। लोक कल्याण का आदर्श अपने जीवन से सामने रखते हुए वे सगुणोपासना को विशेष प्रश्रय देते है, और भक्ति को जीवन का एकमात्र लक्ष्य मानते हैं। जीव को भक्ति करके ब्रह्म की कृपा से अपना इहलोक और परलोक सुधार लेना चाहिए।

---

२. एकनाथी भागवत अध्याय २६—ओवियाँ २८२—२९०।

यही उनके विवेचन का सार है। जीव मूलतः अज्ञानी है और माया के द्वारा उत्पन्न मोह मे वह फसता रहता है। अतः उसे सद्‌गुरु के बतलाये मार्ग पर चलना चाहिए। सज्जनो और सन्तो की सङ्गति करनी चाहिए, जिससे कि भगवद्‌भजन हरिगुणानुवाद की आदत स्वाभाविक रूप से उसमे उत्पन्न हो जाय। अपने स्वधर्म को निवाहते हुए आत्म कल्याण और लोक कल्याण दोनो सिद्ध हो जाते है, ऐसा श्री एकनाथ का मत है। साधन के रूप मे भक्ति के अतिरिक्त वे और किसी को विशेष महत्व नही देते। सच्चरित्र, सद्‌गुरु सम्पन्नता, विवेकपूर्ण वैराग्य, आत्मज्ञान, मोक्ष की चिंता और ईश्वर मे आस्था के लिए नामस्मरण, भगवान का गुणानुवाद गायन और हरि कीर्तन नित्य करना चाहिए यही उनका उपदेश है। आदर्श भागवती भक्ति और आदर्श वैष्णव का सदाचार उन्हे व्यक्ति और समाज के हित के लिए अभिप्रेत है। तुलसीदास के ग्रन्थो में इसी प्रकार भागवती भक्ति और सदाचार पर बल दिया गया है।

मराठी वैष्णव कवि सन्त तुकाराम का आध्यात्मिक पक्ष

तुकाराम की आध्यात्मिक अभिव्यजना का प्रयोजन—

वैष्णव भक्तो के आध्यात्मिक पक्ष का अनुशीलन करते हुए इस बात का विशेष ध्यान रखना पडता है, कि उनकी विवेचना मे एवम् उनके आध्यात्मिक चिंतन मे साधको की भाव दशाएँ, अनुभूतियाँ और मनोवृत्तियो का क्या स्वरूप था, इसे सम्यक रूप से परिशीलन कर देख लेना पडता है। ऐसा करते हुए हमे उनके भावात्मक सवेगो तथा भावभूमियो के साथ तद्रूप होकर समरसता और सहृदयता से उसे पढना चाहिए, अन्यथा उनका अभिप्राय, आशय एव इङ्गित हमारी समझ मे आना कठिन हो जाता है। ऊपरी तौर पर किया गया अध्ययन उनके केवल स्थूल वहिरग के साथ ही हमारा परिचय करा देता है। आध्यात्मिक पक्ष का अध्ययन साधको के अन्तरग मे पैठकर ही किया जा सकता है। भक्तों की भारतवर्ष मे कमी नही परन्तु सारी भयङ्कर विभिपिकओ और अत्याचारो को सहकर भी एकमात्र भगवान् को चाहने वाले तुकाराम की आध्यात्मिक उन्नति एवम् योग्यता अत्यन्त उच्चकोटि की है।

वैष्णव साधकों ने प्राय. अपने सामने एक विशिष्ट दृष्टि रखकर प्रयत्नपूर्वक आध्यात्मिकता की भावना से प्रेरित होकर प्रतिज्ञापूर्वक लिखा है। अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उसकी फलनिष्पत्ति वरावर होती है ऐसा वे प्राँजलता से स्वीकार करते है। आज ऐसे साहित्यकार कितने मिलेगे जो इस प्रकार प्रतिज्ञापूर्वक कह सके कि मैं फलानी पुस्तक फलाने तरह की फल निष्पत्ति के लिए लिख रहा हूँ।

अत. उसको पढ़कर पाठक उसी तरह की अनुभूति भी प्राप्त कर ले। इसका कारण अनुभूति की उतनी तीव्रता और गहराई का अभाव ही माना जावेगा। वैष्णव कवियो की मुखरित वाणी मे उनके अनुभव जैसे उन्होने उपलब्ध कर लिये वैसे ही अन्य भी कर सकते है ऐसा आश्वासन मिलता है। जैसे ज्ञानेश्वर की यह प्रतिज्ञा देखिए—

'जरी एकले अवधान दीजे। तरी सर्व सुखासी पात्र होइजे।
हे प्रतिज्ञोत्तर माझे। उघड आईका॥' —ज्ञानेश्वरी।

अवधानपूर्वक दत्तचित्त होकर भावार्थ-दीपिका का श्रवण करने से सब प्रकार के सुखो की उपलब्धि हो जायगी, यह खुले रूप मे वे श्रोताओ से कहते हैं और प्रतिज्ञापूर्वक इसका अनुभव लीजिए ऐसी चुनौती भी देते है। यदि ज्ञानेश्वरी श्रवण और पठन कर वैसा अनुभव नही मिलता तो उसका दोष किसे दिया जाय ? वास्तव मे उसका दोष पाठक को ही दिया जावेगा। 'दासबोध' मे समर्थ रामदास कहते है—

'ग्रंथ नाम दास बोध। गुरु शिष्याचा संवाद।
येथे भक्तिमार्ग विशद। बोलिला असे॥
आता श्रवण केलिया चे फळ। क्रिया पालटे तात्काळ।
तुटे संशयाचे मूळ। एक सरा॥ —दासबोध।

दासबोध के पठन से पाठको की कार्य शुद्धि हो जावेगी ऐसी समर्थ की प्रतिज्ञा है। दासबोध के पारायण करने पर भी वैसा अनुभव नही मिलता और न कर्मो की शुद्धि हो जाती है। इन सब लोगों के ग्रन्थ जिस प्रतिज्ञा के साथ लिखे गये है उसी भावना की प्रामाणिकता और अधिकार के साथ यदि वे पढ़े जॉय तो उसकी अनुभूति हो सकती है। परन्तु देखा यह जाता है कि लोग उस तरह पढते ही नही इससे सस्कृत की एक उक्ति चरितार्थ हो जाती है[1]—

'वक्तुरेवहि तत् जाड्यं श्रोता यदि न बुध्यते।'

यदि श्रोता जानकार न हो तो वक्ता को भी अपने कथन में जाड्य प्रतीत होने लगता है। कहने का अभिप्राय यही है कि तुकाराम की उक्तियाँ भी इसी सावधानी और अधिकार से पढ़ी जाँय तो वैसी ही अनुभूति प्राप्त होगी।

आध्यात्मिक प्रेरणा—

प्राय: वाड्मय निर्मिति के कारण दो हुआ करते हैं। (१) लोकेषणा और (२) वित्तेषणा। तुकाराम को इनमे से कौनसी बात साहित्य के अभिव्यंजन में

१. एक संस्कृत सुभाषित वचन।

अभिप्रेत थी इसका विचार करने पर समझ मे आता है कि इन दोनो एषणाओ में से एक भी उनकी साहित्य निर्मिति का कारण नहीं कहला सकती। तुकाराम ने अभग लिखे इस कारण पडित वर्ग नाराज था। इसलिए उन पर बहुत अत्याचार किये गये जिन्हे उन्हे सहना पडा। उनको काव्य निर्मिति का अधिकार नही है ऐसा कहा गया। अभङ्ग लिखकर कोई अर्थ प्राप्ति उनको निश्चित नही हुई थी। प्रथम तो वे 'स्वान्त सुखाय' ही लिखते थे। जो कुछ भी लिखा उसे इन्द्रायणी मे उन्हे डुबो देना पडा। ईश्वर कृपा से वह सारा अभंग वाङ्मय अभग ही रहा और पुनः उन्हे सारा का सारा उपलब्ध हो गया। पर इसके लिए उनको तेरह दिन निराहार व्रती बनकर प्रायोपवेशन करना पडा। वे अपने वास्तविक अनुभवो को ही अभङ्गो मे अभिव्यक्त करते रहे। उनकी सारी कविता आत्मनिष्ठ और भावानुभूति से सयुक्त है। जिस प्रकार की भगवदानुभूति उन्हे हुई, उसे जनता के सामने वे इसलिए भी रखना चाहते थे कि जैसा उनका आत्म-कल्याण हो गया वैसा और लोगो का भी हो। यह सत्प्रेरणा और इसी लोक कल्याण की भावना ने उनको साहित्य के माध्यम से उसे अभगो मे कहने के लिये प्रेरित किया है। ऐसा समझना समीचीन तथा उपयुक्त होगा।

आध्यात्मिकता का लक्ष्य आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण—

तुकाराम कहते है[1]—

'सन्ताची उच्छिष्टे बोलतो उत्तरें। कायम्या गव्हारे जाणावे हे ॥
विठ्ठलाचें नाम घेता नये शुद्ध। तेथे मज बोध काय कळे।
तुका म्हणे मज बोलवितो देव। अर्थ गुह्यभाव तोचि जाणे ॥

तुकाराम भगवदानुग्रह प्राप्त करने की इच्छा को अहर्निश अपने सामने ध्येय रूप मे रखकर अपनी साधना मे लगे हुए थे और इस तरह उनको भगवान् के अस्तित्व का साक्षात्कार हुआ। भगवान् की दयालुता और कृपा सम्पन्नता के सामर्थ्य पर भी अडिग आस्था उत्पन्न हुई जो कई स्थानो मे और प्रसङ्गो मे अभिव्यक्त हो उठी है। तेरह दिनो के बाद जब उनके अभङ्गो की बहियाँ उनको पुन. वापस मिली तब वे गद्गद् हो गये। क्योंकि उनका यह अनुभव अत्यन्त वास्तविक और प्रत्यक्ष था। इसी भावना से अभिभूत होकर वे कहते है[2]—

सगुण-साक्षात्कार—

थोर अन्याय केला। तुझा अन्त म्यां पाहिला।
जगाचिया बोला साठी। चित्त क्षोभविले ॥

× × ×

१. तुकारामाचे अभङ्ग—अभङ्ग ६१६, पृ० १६५।
२. तुकारामाचे अभङ्ग २२४१।

तुका म्हणे ब्रीद। साच केले आपुले ।।

हे भगवान् ! तेरह दिनो तक मैंने निराहार रहकर आततायी बनकर जो कार्य किया उसके लिए तुम मुझे दड दो। क्योकि तुम सचमुच दयाधन, भक्त-काम-कल्पद्रुम हो। भक्त के अपराध को क्षमा करके उस पर दया करने वाले तुम हो ऐसा मुझे प्रत्यक्षानुभव देकर तुमने अपने अस्तित्व को सिद्ध कर दिया है। मुझे इसी बात का बहुत आनन्द है। अपनी गाथा मे तुकाराम ने अपरोक्षानुभूति का परोक्ष ज्ञान अपने अभङ्गो मे अभिव्यक्त किया है। परन्तु इस प्रसङ्ग और सदर्भ मे स्वयम् भगवान् ने आकर उनको अपनी गाथा वापस प्राप्त करा दी, इससे अन्य लोगों को भी अपरोक्षानुभूति का चाक्षुप-प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त हुआ।

मतलब यह है कि तुकाराम के वाणी की सत्यता जैसे सिद्ध होकर सामने आई उसी तरह अन्य सन्तो की वानियाँ भी सत्य है, उनकी अनुभूतियाँ सत्य है, तथा उनकी अभिव्यजनाएँ भी सत्य है। पाठको को अर्थात् रसिकवर सहृदयो को इस दृष्टि से उसके अन्तरग मे प्रवेश पाकर एवम् समरस होकर भक्तो के साहित्य को पढ़ना चाहिए। इससे जो निष्पत्ति होगी वह उनकी प्रतिज्ञा के अनुसार वर्णित अनुभूति का प्रत्यक्षानुभव और सवेदन ही होगा।

तुकाराम के फलाने अभग उन्होने सिद्ध दशा मे लिखे है अथवा साधक दशा में, इसकी नीरस और तथ्यहीन चर्चा को छोड़कर यदि उनके साहित्य-सिंधु मे पैठे, तो आध्यात्मिक पक्ष के मोती और रत्न ही हाथ लगेगे।

तुकाराम के सगुण का स्वरूप—

तुकाराम कोरमकोर सगुण साधक थे। इसके प्रमाण उन्ही के वचनो और अनुभवो से लेगे। भक्तिमार्ग मे जिसकी भक्ति की जाती है उसका दर्शन सगुण-स्वरूप साक्षात्कार का विशेष महत्व है। सगुण के पथ्य को तुकाराम भली-भाँति जानते थे इसीलिए अपने अनुभवपूर्ण वाणी मे वे कहते है—

नको ब्रह्मज्ञान, आत्मस्थिति भाव।
मी भक्त तूं देव, ऐसे करी।।
× × ×
नलगे तो मोक्ष मज सायुज्यता।[1]
नावडे हे वार्ता शून्याकारी।।

भक्त अपनी पूरी जिम्मेदारी भगवान् पर सौप देता है। एकवार जब उनकी

१. तुकाराम महाराजांचे अभंग १०२२।

वहियाँ उनको वापस मिल गयी तभी अपने उपास्य पाडुरग से उन्होने कह दिया कि मेरा सारा योगक्षेम वहन करने का उत्तरदायित्व हे भगवान् ! अब आपका ही होगा। तभी तो उन्होने कहा कि मुझे कोरा शाब्दिक ब्रह्मज्ञान नही चाहिए। मुझे तो भावात्मक आत्मस्थिति चाहिये जो प्रत्यक्ष अनुभवजन्य है। मै भक्त हूँ, और तुम भगवान् यह सिद्ध ही हो जाय। शुष्क बातो मे मन नही रमता। ब्रह्मज्ञान की केवल तात्विक चर्चा से व्यर्थ ही थकान उत्पन्न हो जायगी। मेरी तो आपसे यह प्रार्थना है कि अपना सुन्दर सगुण स्वरूप दिखाओ। मै तुम्हारे चरणो का निरन्तर वदन करूँगा। मुझे मोक्ष सामुज्यता मुक्ति आदि नही चाहिए। शून्यकार सम्बन्धी सिद्धात मुझे अच्छे नही लगते। इतना ही नही तो सगुण और निर्गुण का वितडावाद उन्हे अप्रिय लगता है। वे कहते है—

परब्रह्म स्वरूप—

सगुण की साकार निर्गुण की निराकार।
नकळे हा पारवे दा-श्रुती ॥
तो आम्ही भावे केलासे लहान।
ठेवुनिया नावे पाचारितो ॥[१]

परब्रह्म सगुण है अथवा निर्गुण, साधार है अथवा निराधार, तथा साकार है अथवा निराकार ? ये सारे प्रश्न ऐसे है जिनका वेदो और श्रुतियो मे भी निर्णय नहीं लग पाया है। परन्तु हम सन्तो ने अपनी भावना से उसे छोटा बना लिया है और उसको अपनी रुचि और भाव के अनुसार अनेक नामो से पुकारते हैं।

भगवान् के नाम की उन्हे विशेप चाह थी। वे हृदय से उसका वर्णन करते है यथा—

गोड नावे क्षीर परि साखरेचा धीर।
तैसे जाण ब्रह्मज्ञान बापुडे ते भक्तिवीण ॥[२]
रुची नेदी अन्न। ज्यांत नसतां लवण ॥
आंधळयाचे श्रम। शिकविल्याचे चिनाम ॥
तुका म्हणे तारा। नावे तबु-याच्या सारा ॥[३]

रुचि होने पर लवण रहित अन्न अच्छा नही लगता क्योकि लवण का होना अनिवार्य है। दुग्ध मीठा तभी लगता है जब वह शर्करायुक्त होता है। ब्रह्मज्ञान भी

१. तुकाराम महाराजांचे अभंग—अभंग गाथा।
२. ,, १४७९।
३. तुकारामांचे अभंग १७४९।

विना भक्ति के शून्य है। भक्ति के साथ ही उसकी महिमा है। कोरा ब्रह्मज्ञान उसी तरह है जैसे तानपूरे के तार। यदि सगुण भक्ति है तो वे तार झंकृत हो सकते हैं, और तभी 'तानपूरा' यह नाम भी सार्थक हो जाता है। अन्धे को नाम सिखाने मे कोरा परिश्रम करना पडेगा जो व्यर्थ सिद्ध होगा। यदि उसका रूप देखने की आँखे हो तो नाम सीखना भी सार्थक होगा।

सगुण भक्ति साधना विषयक तुकाराम का अभिमत—

तुकाराम के मतानुसार सगुणोपासना से सारी दशाएँ उपलब्ध हो जाती है। हृदय की मूर्ति प्रकट हो जाती है, क्योकि वह हृदय के शुद्ध भाव की जानकार होती है। सारे साधना परक धर्मो मे एकमात्र धर्म हरि का नाम है। सब का बीज नामस्मरण है। अन्य सब उसके फल है। सारे श्रमो का निवारण, सारे धर्मो का रहस्य, सकलपुण्य, एकमात्र हरिकीर्तन तथा नामघोष से सप्राप्त हो जाते है। हरि के दास निर्लज्ज बनकर हरिनाम गाते है। सारे रस यही पर आकर एक हो जाते हैं, और भवबधन के सारे पाश खुल जाते है। अन्त करण में भगवान् की बस्ती हो जाने से सारे पुण्य के लक्षण और भगवान् की साधना के सारे अङ्ग अपने आप आ जाते है। आवागमन रुक जाता है। गृहस्थ आश्रम का त्याग करना नही पडता। कुलधर्म अपने से ही ज्ञात हो जाते है। एक विठोबा का नाम, योगियो का शून्य ब्रह्म, परिपूर्ण मुक्त आत्मा आदि सब कुछ है। तुकाराम कहते है, कि हमारे जैसे भोले जनो के लिये एकमात्र सगुण ही सब कुछ है। क्योकि इसी एक साधना से सारी स्थितियाँ उपलब्ध हो जाती है। यथा—

अवघ्या दशा येणें साधती। मुख्य उपासना सगुण भक्ति॥
प्रकटे हृदया ची मूर्ति। भावशुद्धी जाणोनिया॥[1]

भक्ति से ब्रह्मज्ञानी की, योगियो की सारी दशाएँ संप्राप्त हो जाती है। तुकाराम के मत मे मुख्य उपासना सगुण-भक्ति ही है। इसमे अन्त.करण का भाव शुद्ध और सरस होता है। भगवान् को यही विशेष प्रिय होने से हृदय की ध्यान मूर्ति भी प्रकट हो जाती है।

तुकाराम को विठ्ठल के दर्शन बाल रूप मे हुए और उन्होने भगवान् के आलिगन-सुख का अनुभव किया। वेदाती की भाषा मे रुक्षता एव शुष्कता होती है, अत एव तुकाराम को उससे कोई सरोकार नही है। उनकी अनुभूति ने उन्हे यह सिखा दिया था कि इससे प्रत्यक्ष लाभ कुछ भी नही होता। अत· वे निवेदन करते है कि उन्हे ऐसा अनुभव नही चाहिए जो शाब्दिक मात्र हो।

१. तुकारामाचे अभङ्ग ६४५।

तभी वे आत्मीयता और तन्मयता से कहते है[1]—

बोलाल या आपुल्या पुरते । मज या अनन्ते गोवियेले ।
झाडीला न सोडी हातीचा पालव । वेधी वेधें जीव वेधियेला ॥
तुमचे ते शब्द कोरडिया गोष्टीं । मजसवे मिठी अंग संगे ॥
तुका म्हणे तुम्हां होईल हे परी । अनुभव वरी येईल मग ॥

यदि केवल अपने ही सम्बन्ध मे बात करनी हो, तो मैं ऐसा कहूँगा कि मुझे अनन्त ने अपने से सूत्रबद्ध कर रखा है। मेरे हाथो मे यह जो सदा फलने फूलने वाला कल्पवृक्ष आ गया है, उसे मै अब कभी भी छोडने वाला नही हूँ। इस परमात्मा ने मेरे जी को निरन्तर आबद्ध कर रखा है। वैसे आप लोग भगवान् का सैद्धान्तिक वर्णन करते है, जो मुझे केवल शाब्दिक शुष्क चर्चा के रूप मे जान पडता है। प्रत्यक्ष मेरा अनुभव तो भगवान् के साथ स्पर्श सुख और आलिंगन मे बद्ध अवस्था का है। तुकाराम कहते है यही अनुभव तुम भी ले सकते हो। ऐसा अनुभव हो जाने पर तुम भी मेरी तरह कहने लगोगे।

सगुण साक्षात्कार के कतिपय अन्य अनुभव—

तुकाराम महाराज के एक अभङ्ग मे यह भाव व्यक्त किया गया है कि भगवान् के लिए कोई कार्य ऐसा नहीं है, जो असम्भव या दुस्साध्य हो। तुकाराम को यह अभंग उस समय उत्स्फूर्त हुआ था जब वे लोहगॉव मे भगवान् विठ्ठल की मूर्ति के सामने कीर्तन कर रहे थे। कीर्तन सुनने के लिए आई हुई एक स्त्री का बालक उसकी गोद मे मर गया। तुकाराम के ध्यान मे यह बात आ गई। तब भगवान् से करुण याचना करते हुए वे कहते है[2]—

अशक्य तो तुम्हा नाहीं नारायणा। निर्जिवा चेतना आणावया।

× × ×

तुका म्हणे माझे निववावे डोळे। दावुनि सोहळे सामर्थ्याचे ।।

हे भगवान्! आपके लिए कोई बात असम्भव नही है। आप तो भक्त-काम-कल्पद्रुम है। ये सब उपाधियाँ जब तक आप सत्य सिद्ध नही कर देगे तब तक उन्हे सत्य कौन मानेगा? अतः कीर्तन मे आए हुए जिस बालक का देहान्त हो गया था उसे जीवित करने की कृपा कीजिये। जड़ मे चेतनत्व ला सकना आपके लिए असम्भव नही है। मै लोगो के सामने तुम्हारा गुणगान करता रहता हूँ वह

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४४४।
२. ,, २३१५।
३. ,, ५५६।

अयथार्थ सिद्ध हो जायगा। लोग मेरे कथन की प्रतीति ले सके ऐसा कुछ प्रत्यक्ष कार्य आप कीजिए। इस तरह आर्तता से पुकारने पर वह बालक जीवित हो गया। वैसे केवल तुकाराम कहते हैं इसलिए भगवान् दयालु है ऐसा कौन मानेगा ? भक्त की लाज रखने के लिए भक्त की कही हुई बात सत्य हो जाय यह उत्तरदायित्व भगवान् को लेना ही पड़ता है। यही बात तुकाराम के साथ हुई।

इसी प्रकार का एक अन्य उदाहरण उस प्रसङ्ग का है, जब छत्रपति शिवाजी महाराज तुकाराम के कीर्तन मे उपस्थित थे। उनको पकडने के लिए मुसलमान सरदार सिपाहियो को लेकर आगए। इस तरह प्राण सकट देखकर तुकाराम की आबरू जाने का प्रसङ्ग उपस्थित हो गया। इस अवसर पर तुकाराम ने भगवान् से यह प्रार्थना की[1]—

भीत नाही आता आपुल्या मरणां। दुःख होता जनांत न देखवे।
आमची तो जाती ऐसी परम्परा। कां तुम्ही दातारा नेणां ऐसे ।।
भजनी विक्षेप तेंचि पे मरण। न वजावा क्षण एक वाया ।।
तुका म्हणे नाही आघाताचा वारा। ते स्थळीं दातारा ठांव मागे ।।

मै अपनी मृत्यु से नही घबराता। परन्तु लोगों के बीच में किसी को दुःखी भी नही देख सकता। हमारी जाति भक्ति करने वालों की है और भगवान् भक्तों के कहलाते है। अत. आप भी इसे क्योकर नहीं मानेंगे ? भजन में विक्षेप उत्पन्न होना ही मरण है। उस समय तो एक क्षण भी व्यर्थ नही गँवाना चाहिए। जो भजन करता है उसे कोई आघात कर छू भी नहीं सकता। क्योंकि भजन करने वाला भक्त भजन करने के लिए उसी स्थान पर दानी भगवान् से सुअवसर और सुरक्षा माँगता है। तुकाराम ने शिवाजी को इस प्रकार का अभय दिया—

न करावी चिंता। भय न धरावे सर्वथा ।।[2]

कोई चिन्ता मत करो। सदा अभय होकर रहना चाहिए। भगवान् के दास भगवान् के द्वारा रक्षित होते है। भगवान् स्वयम् उनके रक्षण कर्ता बन जाते है। तुकाराम कहते है, कि कोई शङ्का या सन्देह अपने वचनों में प्रकट नहीं करना चाहिए। भगवद् भजन मे कोई भय नही है जो सन्देह प्रकट करते है उन्हें कोई उत्तर सोच लेना चाहिए।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ५५६।
२. ,,

भक्त भगवान् पर निर्भर रहता है ।

> तूं कृपाळू माऊली आम्हां दीनांची साउली ।
> न संवरिता आली बाळ वेशे जवळी ।।
> माझे आई । आतां पुढें काई तुज घालु सांकडे ।।[1]

तुकाराम कहते है कि हम दीनो के लिए तुम कृपालु एव जननीवत् हो क्योकि तुमने बाल वेश मे मेरे पास आकर मेरा समाधान किया । मैंने देखा और तुम्हारे सगुण सुन्दर एवम् आकर्षक रूप पर मैं लुब्ध हो गया । मुझे आलिंगन देकर मेरे मन की बेचैनी आपने दूर की । इस भक्त पर आपने कृपा की इसी से सन्तो ने मुझे उनके बीच स्थान दिया । भगवान् को कृपा करने आना पडा । मैंने बहुत अन्याय किया है अत हे विठ्ठल । मुझे क्षमा प्रदान कर दो । यो तो भक्त के नाते आगे चलकर भी आपको तो पुकारना ही पडेगा ।

तुकाराम के द्वारा आत्म निरीक्षण और आत्मदर्शन—

तुकाराम के युग मे तत्कालीन समाज के भीतर वेदातियो की बडी भरमार थी । उनका सामर्थ्य प्रभावशाली था । अतः तुकाराम बीच-बीच में आत्म-निरीक्षण कर आत्मदर्शन करने की आवश्यकता अनुभव करने लगे । अत. एकबार वे भगवान् से एक चीज मागते, तो दूसरी बार दूसरी चीज मागते और प्रथम मागी हुई चीज नही चाहिए ऐसा भी कहते है कभी-कभी वे केवल भगवान् को ही मागने लगते । भगवान् अन्तरात्मा मे निवास करते है, अतः उनसे कोई बात छिप नहीं सकती, और न कोई चाहे तब भी छिपा सकता है । अत साधक को स्पष्ट रूप से अपनी बात प्राजल रूप से भगवान् को बतला देनी चाहिए । तुकाराम साधक थे । वे भगवान् से प्राजल रूप में भगवान् की चरण सेवा मागते है—

भक्त की अभ्यर्थना—

तुकाराम की भगवान् से की गई प्रांजल अभ्यर्थना[2]—

> मागणे ते एक तुजप्रति आहे । देशी तरी पाहे पांडुरंगा ।।
> या सन्तासी निरवी हे मज देईं । आणिक दुजे कांहीं ।।
> न मागे तुज ।। तुका म्हणे आतां उदार होईं ।
> मज टेवी पायी संताचिया ।।

हे भगवान् तुम्हारे पास मेरी एक ही मांग है । यदि आप उसे देना चाहते हैं

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ३४४८ ।
१ तुकारामाचे अभङ्ग १५८५ ।

तो अवश्य दे। संतो के चरणो मे मै विनम्र होकर पडा रहूँ यही मेरी इच्छा है। इन सन्तों से कहिये कि वे मुझ पर कृपा करे। आरम्भ मे केवल निष्काम भक्ति ही उन्हे अभिप्रेत नही रही होगी। सगुण और निर्गुण इसमे से क्या माग ले इसका निर्णय आरम्भ मे नही हो पाया। इसलिये निश्चित रूप से क्या माँगा जाय इसका निर्णय कर सकने की क्षमता आ जाय इसीलिए वे 'सन्तो के चरण कमलो से मुझे दूर न करो' यही बार-बार भगवान् से मांगते है। साराश यह है कि तुकाराम के एक-एक अभग को पढ़कर उसका अर्थ लगाना चाहिए।

तुकाराम की पारमार्थिक अनुभूति की अभिव्यक्ति का स्वरूप

तुकाराम के अभङ्ग उनकी प्रत्यक्ष अनुभूति पर आधारित होने से एकदम हम उन्हे निराधार और प्रक्षिप्त नही मान सकेगे। पूरी अभगो की गाथा उनके प्रत्यक्ष अनुभूति जन्य अनुभवो के प्रांजल आधारो से भरी हुई है। तुकाराम ने इन अभगों मे तत्वज्ञान का विवेचन किया है। पर गाथा को पढ़कर कोई तत्वज्ञानी नही बन सकता। अभगो मे तात्विक वर्णन आया है। सत्य वर्णन आत्म प्रतीति और सगुणोपासना से सम्भूत अनुभवों का ही माना जावेगा। तात्पर्य यह है कि तुकाराम एकदम पक्के सगुणोपासक है।

अन्त में प्रत्यक्ष पाडुरग उन्हे लिवाने आये है। तुकाराम इसे समझ न सके। सदेह वैकुण्ठ जाना है, यह जब उन्हे ज्ञात हुआ तो गरुड़ ने अभय देकर कहा 'नाभी नाभी'—अर्थात् 'मत डरो, मत डरो।' इसलिए उन्होने अन्य सन्तों को आलिगन देकर इसी शरीर से कम से कम वाराणसी तक वे गरुड के साथ गए। इसी का वर्णन इस अभग मे मिलता है—

फॅल आले हरि। शंख चक्र शोभे करीं। गरुड येतो फडत्कारे।
तुका झालासे संतुष्ट। धरा आले वैकुण्ठ पीठ॥[1]

साक्षात् भगवान् विष्णु आ गए है। हाथो मे शख चक्र धारण किया हुआ हैं। गरुड़ अपने पखो को फड-फडाकर तुकाराम से कहता है कि 'मत डरो, मत डरो।' सामने देखो कौन आये है? मुकुट और कुण्डलों की शोभा के आगे सूर्य का तेज लुप्त हो गया। मेघ के साँवले वर्ण वाले हरि है और तुकाराम अपनी आँखो से भगवान् को निहारते है। उनका चतुर्भुज रूप है, तथा गले मे वैजयंती-माला धारण की हुई है। दसो दिशाएँ प्रकाशित हो गई है। तुकाराम सन्तुष्ट हो गए क्योकि वैकुन्ठ पीठ ही उनके घर चलकर आया था। तभी तो वे आगे कहते है[2]—

१. तुकारामाचे अभंग १५९६।
२. ,, १५९७।

भगवान् का साक्षात दर्शन—

> शंख चक्र गदा पद्म । पैल आला पुरुषोत्तम । नाभी नाभी ।
> भक्त राया । वेगी पावलों सखया ।। दुरूनि येतां दिसे दृष्टी ।
> घाके दोष पळती सृष्टी ।। तुका देखोनि एकला ।
> वैकुण्ठीहुनि हरि आला ।।

तुकाराम ने देखा कि शख चक्र गदापद्मधारी पुरुपोत्तम उस ओर आ गए है। वे तुकाराम से कहते है कि मत डरो। हे भक्तराज तुम्हारे लिए मै शीघ्र आ गया हूँ। भगवान् को दूर से ही आते हुए देखा, जिसकी धाक से सारे दोष स्वयम् दूर भाग जाते है। तुकाराम को अकेला देखकर वैकुण्ठ से हरि स्वयम् आ गये है।

इन अनुभूतियो की अभिव्यजना को हम झूठ कैसे कह सकते है? गरुड ने तुकाराम को अभय दान दिया यह उनकी स्वात्मानुभूति की दशा का वर्णन है। अव तक किए गए विवेचन से तुकाराम किस कोटि के भक्त थे, इसे सुचारु रूप से चित्रित करने का प्रयत्न यहाँ पर किया गया है। वे भक्त कैसे वने, उन्होंने भगवान् का अपने उपास्य विठोबा का जो इतना प्रेम सपादन कर लिया था, वह उनकी अलौकिक तपस्या का फल है। यह तपस्या उन्होने कैसे की इसे देखना आवश्यक है।

तुकाराम की तपस्या एव साधना—

जीवन एक सरल और सहज बात नही है। जीवन मे व्यक्ति का वाह्य परिस्थिति से तथा अपनी निजी प्रवृत्तियो से सघर्ष होता रहता है। इन सघर्षो मे विजयी होकर अपनी ध्येय सिद्धि प्राप्त करना वहुत कठिन बात है। यह सघर्ष कोई अनौखी चीज नही है। हरएक को इसका अनुभव किसी न किसी रूप मे होता रहता है। उसका लक्ष्य छोटा हो चाहे वडा उसमे विजय पाना उसके अपने वस की वात है। परन्तु एक तीसरे प्रकार का सघर्प होता है, जो इनसान के सामर्थ्य के वाहर की बात है - इमे यदृच्छा, प्रारब्ध या दैव कहा जाता है। ये तीनो सघर्प श्री संत शिरोमणि तुकाराम महाराज के जीवन मे वडी तीव्रता से हुए थे ऐसा दिखाई पड़ता है। ये तीनो सघर्ष तीव्रतर से तीव्रतम होते हुए भी वे विजयी हुए थे। इससे तुकाराम का जीवन-चरित्र आदर्शयुक्त और लुभावना सा लगता है। तुकाराम ने अपना यह जीवन बडी जागरुकता के साथ व्यतीत किया। अव हम उनके ही अभग वचनो से निस्तृत उनकी जीवन गङ्गा मे डुबकियाँ लगाकर अवगाहन करेगे, और उस पुनीत स्नान से अपने आपको पवित्र बना लेगे। देखिए वे अपने वारे मे कहते है—

वरा कुणबी केलों । नाहीं तरि दंभेचि असतों मेलो ।

× × ×

तुका म्हणे थोरपणे । नरक होती अभिमाने ॥[१]

वहुत अच्छा किया जो हे भगवान् आपने मुझे कुनवी जाति मे उत्पन्न किया। अन्यथा मै दभ में फूलकर यूँ ही मर गया होता। तुकाराम प्रेम से नाचकर भगवान् के चरणों मे गिर पड़ते है। यदि कुछ विद्या पास में होती, तो मैं अन्य किसी के चरणो मे गिर पडता और सन्तो की सेवा न कर पाता। इससे व्यर्थ ही मेरा जीवन लुट गया होता। अहकार और अभिमान से वेकार ही शेखी वघारने का कार्य करता रहता जिसका परिणाम यह होता कि मुझे नरक मे ही जाना पडता। एक अन्य जगह वे इस तरह कहते हैं—

शूद्रवंशी जन्मलो । म्हणोनि दंभे मोकलिलो ॥

× × ×

सर्व भावे दीन । तुका म्हणे यातिहीन ॥[२]

शूद्रवश मे जन्म लेकर दभ से दूर रहा। हे पंढरिनाथ ! अव तो आपके सिवा मेरे माँ-वाप और कौन है ? ज्ञान प्राप्ति के लिए अक्षर रटने का मुझे अधिकार नही है। मै सव तरह से दीन हीन हूँ। तुकाराम कहते है कि मैं यातीहीन हूँ।

साधकावस्था—

मनुष्य का मन कतिपय विशिष्ट प्रसङ्गों, परिस्थितियो मे रहकर ऐसा वन जाता है कि वह अपने भीतर भावात्मक परिवर्तन की दशा महसूस करने लगता है और परिवर्तन करने के लिए प्रस्तुत भी हो जाता है। जीवन के निश्चित एवम् ठोस माने हुए तत्व व्यर्थ सिद्ध होने लगते हैं। इससे निराशा एवम् अगतिकता उत्पन्न हो जाती है। मनुष्य का मन वाह्य रूप से शीतल और स्थिर ज्ञात होता है। दैनंदिन व्यवहार तो वह निश्चिन्तता से किया करता है, किन्तु उसके अन्तर्मन मे एक सघर्प—एक हलचल होती-रहती है। जव वह अपनी सीमा से परे जाकर तीव्रतम हो जाती है। तव उसका प्रचण्ड आन्दोलन आरम्भ हो जाता है और

---

१. तुकारामाचे अभंग ३२० ।

२. तुकारामाचे अभंग २७६६ ।

विस्फोट होकर प्रलय जैसी दशाउत्पन्न हो जाती है। सर्वनाश साकार होकर सामने आ जाता है। ऐसे ही अवसर पर कल्याण के अनेक सूक्ष्म बीज बाहर आ जाते हैं, और नये मूल्य तथा उनका धरातल एवम् क्षितिज सामने दृग्गोचर होने लगता है। यदि बुद्धि और निश्चय का बल हो तो उससे लाभ भी उठाया जा सकता है। राजपुत्र गौतम बुद्ध, गोस्वामी तुलसीदास के जीवन ऐसे ही उदाहरण प्रस्तुत करते है। इसी को प्रवृत्ति का परिवर्तन या जागृति कहा जाता है। आध्यात्मिक उन्नति का यह प्रथम सोपान है।

हर एक व्यक्ति की भावना प्रक्षोभ एवम् उसका स्वरूप भिन्न-भिन्न प्रकार का होता है। उदाहरणार्थ वाल्मिकी के मन का प्रक्षोभ पापो के परिणामों के भय से उद्भूत हुआ था। गौतम बुद्ध सासारिक दु:खो के प्रति विरक्त हुए थे। तो तुलसीदास ऐहिक प्रलोभनो से उदासीन हो गये थे। ऐसी मानसिक जागृति एवम् उत्क्रान्ति से परमेश्वर की ओर चित्तवृत्ति लग सकती है, अथवा घोर अध:पतन हो सकता है। तुकाराम के मन मे बचपन से ही जागृति उत्पन्न हुई थी। उसका कारण उन पर विपत्तियो के अम्बार एक के बाद एक टूट पडे थे। परिणामत: उनकी मानसिक उद्विग्नता और उसकी भीषणता बढ गई। इसका कारण उनकी भीषण परिस्थिति ही है। यथा—

> आतां काय खावे कोणीकडे जावे। गावांत राहावे कोण्यावळें।
> तुका म्हणे याचा संग नव्हे भला। शोधीत विठ्ठला जाऊं आतां ॥[१]

अब मैं क्या खाऊँ, कहाँ जाऊँ तथा ग्राम मे किसके बल पर मैं रहूँ। पाटिल (चौधरी) और ग्राम के लोग मुझ से नाराज हैं। अतः अब मुझे कौन पूछेगा? सब यही कहते हैं कि इसे तो किसी से सरोकार ही नही है अत: इसका फैसला तो हमने न्यायालय मे दे दिया है। अच्छे-अच्छे लोगो से मेरे बारे मे उलटा-सीधा कहकर मुझे धोखा दिया गया है। मुझे दुर्बल जानकर मेरे साथ ऐसा व्यवहार किया गया। तुकाराम कहते है अब मुझे इनका सग छोडकर विठ्ठल के आश्रय मे जाना चाहिए।

भक्त को भगवान् की सहायता—

ऐसी करुण दशा मे आत्यतिक निराशा, आत्यतिक परिणाम भी प्रस्तुत कर देती है। प्राय. इससे आत्म हनन की ओर प्रवृत्ति जगती है। तुकाराम प्रथम श्रेणी के व्यक्ति थे, अतएव उनके कुल मे चली आती हुई भक्ति की संस्कारगत परम्परा ने उन्हे इस आपत्ति से बचाया तथा हृदयस्थ भगवान् ने भी सहायता प्रदान की। इसी सहायता को वे यो प्रदर्शित कर देते है—

१. तुकारामाचे अभङ्ग ६७६।

विचारिले आधी आपुल्या मानसीं। वाचो येथें कैसी कोण्याद्वारें ।।

× × ×

तुका म्हणे दुःखें आला आयुर्भाव। जाला बहु जीव कासावीस ।।[१]

प्रथम अपने मन से पूछा कि हे मेरे मन ! तू वता कि मै किस पंथ का अनुसरण करूँ, किस के द्वार पर जाकर पुकारूँ ? तभी हृदयस्थ भगवान् ने प्रत्यक्ष सहायता देकर ऐसी बुद्धि प्रदान की जिससे यह ज्ञात हुआ कि इस विपन्न परिस्थिति के वावजूद भी नाश नही होगा। मैं तो उद्वेग-समुद्र में डूवा हुआ था, और किस प्रकार भगवान् प्राप्त होगे इस चिन्ता में व्यग्र था। तुकाराम कहते है कि इस दुःख के कारण मेरी आत्मा व्याकुल हो उठी है क्योंकि अव तक की सारी आयु इसी दुःख से भरी हुई व्यतीत हुई है। पर अव मैं आश्वस्त होकर निश्चिन्त और शान्त हूँ।

तुकाराम की वैराग्य प्राप्ति और जीवन दृष्टिकोण—

इस प्रकार की जागृति हो जाने पर भगवद्-चिन्तन के अतिरिक्त, और कोई मार्ग किसी को भी नही सुझाई देता। शायद उनका पारमार्थिक जीवन यहीं से आरम्भ होता है। वे कहते है कि एक मात्र विठोवा ही मेरे अवलब है। वे इसी भावना को इस प्रकार प्रकट करते हैं—

याती शूद्र वंश केला वेवसाव। आदि तो हा देव कुळपूज्य ।।
नये वोलो परिपाळिले वचन। केलियाचा प्रश्न तुम्हीं सन्तीं ।।[२]
देवाचे देऊळ होते ते भंगले। चित्तासी जे आले करावेसे ।।
आरंभी कीर्तन करी एकादशी। नव्हते अभ्यासी चित्त आधीं ।।
कांहीं पाठ केली सन्ताची उत्तरें। विश्वासे आदरे धरुनिया ।।

× × ×

यावरी या जाली कवित्वाची स्फूर्ति। पाय धरिले चित्ती विठोबाचे ।।

× × ×

भक्ता नारायण नुपेक्षी सर्वदा। कृपावंत ऐसा कळों आलें ।।
तुका म्हणे माझें सर्व भांडवल। बोलविले वोल पांडुरगे ।।

शूद्र जाति मे जन्म लेकर मैंने व्यवसाय किया। मेरे कुल मे आदि देव के रूप मे विठ्ठल पूज्य थे। मुझे बोलने का अधिकार नही था। इस वचन का मैंने

१. तुकारामाचे अभङ्ग ३१८२।
२. तुकारामाचे अभङ्ग १३३३।

पालन किया। पर सन्तो के बीच मे मुझसे तुम लोगो ने प्रश्न किया है। उसका मैं उत्तर देता हूँ। दारिद्र के कारण और अकाल से त्रस्त्र होकर जब मेरा सब कुछ स्वाहा हो गया तब मुझे अपने व्यवसाय मे हानि होने लगी। एक मन्दिर था, जो पूर्वजो के द्वारा बनवाया गया था पर वह भग्न हो गया था। उसे सुधारा जाय ऐसा मन मे आया। प्रारम्भ मे कीर्तन करना आरम्भ किया तब चित्त मे इसका कोई अभ्यास न था। सन्तो के सहवास मे रहते अचानक मुझ मे काव्य निर्मित की स्फूर्ति और प्रेरणा जगी। तभी चित्त ने विठ्ठल चरणो मे आश्रय ले लिया। यह बात तो जगविदित है कि नारायण भक्तो की कभी उपेक्षा नही करते। वे सदा कृपावन्त होकर कृपा ही करते रहते है। यह बात भली-भाँति समझ मे आ गयी। यही मेरी पूँजी है। इस पर भी मेरे द्वारा पाडुरग ने अभग निर्मिति करवायी।

आध्यात्मिक अभिव्यजना की प्रेरणा—

नामदेव और पाडुरग ने तुकाराम के स्वप्न मे आकर कविता करने के लिए आदेश दिया था। इसका प्रमाण इम अभग मे देखा जा सकता है—

नामदेवें केले स्वप्नामाजी जागें। सवें पांडुरंगे येऊनिया॥
सांगितलें काम करावे कवित्व। वाउगे निमित्य बोलों नेको॥[1]

तुकाराम कहते है कि मुझे पाडुरग सहित आकर नामदेव ने स्वप्न मे जगाकर यह आदेश दिया कि तुम अभग-रचना करो। यह केवल निमित्त मात्र प्रमाण नही है इस तरह कहकर विठ्ठल ने मुझे थपथपाकर सावधान किया। मुझे यह कहा कि शतकोटी अभङ्ग पूरे करने की प्रतिज्ञा नामदेव की थी। वे तो उसे पूरा न कर सके पर तुकाराम! अब तुम उनके अधूरे कार्य को पूरा करो।' 'इस पर कोई विश्वास रखे या न रखे इसमे मार्मिकता इतनी तो अवश्य समझी जा सकती है कि भक्त तुकाराम का अन्तःकरण भक्ति भावना से ओतप्रोत हो गया था, और वे अपने आराध्य विठ्ठल की कृपा से काव्य मे अपनी अनुभूति परक भावनाओ को अभिव्यक्त करना चाहते थे। अतएव वे अब निश्चिन्त होकर मनसावाचा कर्मणा गोविन्द-भजन और चिन्तन मे काल व्यतीत करने लगे।

तुकाराम की आध्यात्मिक अवस्थाएँ—

साधक और सिद्धों की पारमार्थिक दृष्टि से चार अवस्थाएँ होती है। १. वृद्धावस्था, २. मुमुक्षु-अवस्था, ३. साधकावस्था और ४. सिद्धावस्था। वृद्धावस्था वह है जिसमे साधक को आत्मज्ञान नही होता और न परोपकार करना चाहिए यह ज्ञात रहता है, तथा जिसमे अपनी सदसद्विवेकिनी बुद्धि के द्वारा स्वधर्म की पहिचान

१. तुकारामाचे अभङ्ग १२२०।

नही हो जाती। मुमुक्षु वह है जो सासारिक दुख से दुखी होता है तथा त्रिविध तापों से संतप्त है और शास्त्रों के निरूपण को श्रवण कर जो अन्तःकरण पूर्वक पश्चाताप कर सकता है। परमात्मा प्राप्ति की इच्छा और साधन की चिंता भी मुमुक्षु किया करता है। साधक उसे कहते है जो अवगुणो का त्याग करते हुए सतसमागम तथा उनकी कृपा प्राप्ति भी कर लेता है। सद्‌गुरु के द्वारा बतलाये गये साधनो से शास्त्र-प्रतीति एवम् आत्म-प्रतीति से आत्मा तथा परमात्मा का ऐक्य प्रस्थापित कर लेता है। तात्पर्य यह है कि साधक ईश्वर के अतिरिक्त अन्य सब बातो को छोड़ देता है। सिद्ध उसे कहते है जो स्वय सदवस्तु बन जाता है। सदेह और भ्रमो से मुक्त एवम् निर्मल मन उसे उपलब्ध हो जाता है। जिसका ज्ञान सदेह रहित है परमात्मा का अनुभव जिसे सप्राप्त है, तथा जो दृढ निश्चयी है, ऐसी अवस्था वाला व्यक्ति ही सिद्ध कहलाता है। ये चारो अवस्थाएँ परस्पर सम्बद्ध है और एक दूसरे पर आधारित एवम् अन्योन्याश्रित है। सिद्धावस्था विकासात्मक है। तुकाराम ने जब ससार से विरक्ति लेकर अन्तर्मुख होकर आत्म निरीक्षण कर लिया तब अपने भगवान् से यह प्रश्न किया[1]—

काय तुज कैसे जाणावेगा देवा। आणावे अनुभवा कैशा परी॥
सगुण निर्गुण थोर कीं लहान। न कळे अनुमान मज तुझा॥
कोण तो निर्धार करुं हा विचार। भवसिंधु पार तरा बया॥
तुका म्हणे कैसे पाय आतुडती। न पडे श्रीपती वर्मठावे॥

हे भगवान् मैं आपको कैसे जानूँ? आपकी भक्ति किस रीति से करनी होगी जिससे उसका अनुभव मुझे मिल सकेगा। आपको किस भाव से प्राप्त करूँ इसका रहस्य आप ही बता दीजिए। मेरी स्थिति ऐसी है कि मै यह नही जानता कि सगुण और निर्गुण मे से कौन बड़ा और छोटा है। मै इसका कोई अनुमान नही कर सकता। इस भवसागर को पार करने के लिए मै क्या निश्चय करूँ? तुकाराम कहते है मेरे चरण इस पथ पर आगे बढ़ने में हिचकिचा रहे है, अत: मुझे आप तक पहुँचने का रहस्य बतला दीजिए।

तुकाराम के सामने दो समस्याये थी। प्रथम पारमार्थिक मार्ग का अज्ञान और दूसरी मानसिक दुर्बलता। इन सारी बातो के कारण भक्ति करना कठिन था। इस उधेड़-बुन मे उन्हे परमेश्वर की सहायता प्राप्त हो गई। दुनियाँ के लोग उन्हे सताने लगे। किसी को कोई कष्ट न देने पर भी लोग उनको सताते थे। यही उनका दुख था। दुनियाँ के बहुरूपियेपन से वे उकता गये। अतएव उसको उन्होंने

१. तुकारामाचे अभंग ३४३७।

त्याग दिया। दुर्दैव का तमाचा पडने पर मन दुख से व्याकुल हो जाता है। अपने आसपास की चीजे सुख के बदले दुख उत्पन्न करती है। इनसान अपने आपको पापी समझने लगता है। इस तरह आत्मग्लानिपूर्ण उद्गार निकलने लगते है। वास्तव मे ऐसे साधक बुरे या पापी नही रहते। क्योकि यह आत्मधिक्कार निराशा से उत्पन्न होता है। इस तरह आत्मग्लानि और आत्म सशोधन, तुकाराम की मुमुक्षु अवस्था की प्रारम्भिक सीढी है। ग्लानि और पश्चाताप दग्धता युक्त होने पर भी कर्मो के फल भोगने ही पड़ते है। इसी चिन्ता से तुकाराम का अन्तःकरण उद्विग्न था। अपने साधनहीनता की भी उन्हें पर्याप्त चिन्ता थी। तुकाराम का मन ऐसी आत्मग्लानि से मृदुतम बन गया और अहकार तिरोहित हो गया। ऐसी दशा मे परमेश्वर प्राप्ति के मार्ग पर जाने वाला साधक प्रायः ममता के मोह मे पडकर पुनः अहंकार मे फँस सकता है। परन्तु तुकाराम के सस्कार दृढ थे। इसलिए उनका वैराग्य श्मशान वैराग्यवत् सिद्ध नही हुआ। नामस्मरण और नाम-सकीर्तन ये दो प्रमुख साधन तुकाराम के पास होने से ईश्वर कृपा के सम्पादन मे वे अग्रसर होते गये। वे इन साधनो की महिमा जानते थे तथा इसकी प्राप्ति के लिए सत्सग चाहते थे। भगवान् से उन्होने यह प्रार्थना की[1]—

नाम सकीर्तन और सत्सङ्ग—

> **हरी तुझे नाम गाईन अखंड। या विण पाखंड नेणे कांहीं ॥**
> **अंतरीं विश्वास अखंड नामाचा। काया मने वाचा देईं हेंचि।**
> **तुका म्हणे आता देई सन्त संग। तुझे नामी रंग भरो मना ॥**

हे हरि! तुम्हारा गुणगान मैं अखड रूप मे करूँगा। इसके अतिरिक्त किसी पाखड को मैं नही अपना सकता। मैं केवल भगवद्-भजन ही जानता हूँ। हे भगवान्! मेरे मानस मे नाम सकीर्तन का अखड विश्वास पैदा हो जाय और काया-वाचा-मनसा से मै यही कर सकूँ ऐसा आशीर्वाद मुझे आप प्रदान कीजिए। सत सग ही मुझे आप प्रदान करे जिससे आपके नाम स्मरण मे मैं रँग जाऊँ।

अपने अभगो का उपयोग वे नामस्मरण मे ही करना चाहते है क्योकि वे यह अच्छी तरह जानते है कि नामस्मरण करने से भगवान् के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है। यथा—

भक्त की अभिलाषा—

> **नाम आठविता सद्‌दित कंठी। प्रेम वाढे पोटीं ऐसे करीं ॥**
> **रोमांच जीवन आनंदाश्रु नेत्रीं। अष्टांग ही गात्रीं प्रेम तुझें ॥**[2]

---

१. तुकारामाचे अभग ४०१४।
२. ,, ८१८।२८७३।

तुकाम्हणे पंढरीनाथा । मजला आणिक नको व्यथा ॥[1]

नाम स्मरण करते ही कंठ सद्गदित हो जाता है। इसी तरह प्रेम वढता जाय ऐसा मुझे वना दे। सारा जीवन तुम्हारे प्रति प्रीति से भर जाय जिससे रोमाचित होकर शरीर पुलकित हो जाय तथा नेत्रो मे आनन्दाश्रु आ जॉय। अष्टांगों मे तुम्हारा प्रेम ही प्रकट हो जाय। सारा शरीर भी यदि संकीर्तन करते हुए नष्ट हो गया तो कोई चिन्ता की वात नही है। दिनरात नाम और गुण-गान करता रहूँगा और सर्वदा सतों के चरणो मे पड़ा रहूँगा। तुकाराम अपनी स्थिति इस प्रकार वना लेना चाहते हैं, जैसे कोई गोपी कृष्ण प्रेम में मग्न होकर स्वच्छन्द रूप से चलती है। वे कहते है कि हे हरि! तुम्हारा रूप ध्यान मे इसी तरह आता रहे। तुम्हारे चरणों मे मैं इसी तरह आसरा लेता रहूँ। दुर्वल को जिस तरह आमंत्रण की आशा तथा लोभी को कालान्तर की आशा रहती है, और दोनों उङ्गलियो पर दिन गिनते रहते है, उसी तरह हे पंढरिनाथ! मुझे केवल तुम्हारी ही आशा है और कोई चिन्ता मैं मोल लेना नहीं चाहता।

नामस्मरण का सामर्थ्य—

इस प्रकार का भाव जव साधक का वन जाता है तव मन कहीं अन्यत्र नहीं जाता। नामस्मरण के सामर्थ्य मे विश्वास दृढ़ हो जाता है। अन्य किसी साधन को नही अपनाना चाहिए ऐसी श्रद्धा वन जाती है। तुकाराम में हम यही देखते हैं। जीवन मे नित्य सकटो के क्षण आते रहते हैं। इनसे सघर्षरत रहना पड़ता है, परन्तु साधनारत साधक नामस्मरण को अपनाये ही रहता है। इसका कारण नामस्मरण के प्रति दृढ़ आस्था और विश्वास मात्र ही है। यही आस्था उनको इस युद्ध में निराशा से मुक्त रखती है। जैसे—

रात्री दिवस आम्हां युद्धाचा प्रसंग। अतर्वाह्य जग आणि मन ॥
जीवा ही आगोज पडती आघात। येऊनिया नित्य नित्यकरी ॥
तुका म्हणे तुझ्या नामाचिया बळे। अवघीयांचे केले काळे तोंड ॥[2]

दिनरात हमारे सामने आभ्यतर रूप से सग्राम करने का अवसर उपस्थित रहता है। वाहर परिस्थितियो से और अन्तःकरण मे सद्प्रवृत्तियों का असद् प्रवृत्तियों से निरन्तर सघर्ष चलता रहता है। जीव पर इन सव के आघात पड़ते रहते हैं। तुकाराम कहते हैं कि फिर भी केवल नाम स्मरण के वल पर हम साधक इन सवको परास्त कर देते हैं।

---

१. तुकारामाचे अभंग ८१८—२८६३।
२. ,, ४०६१।

वैष्णवों का धर्म—

इस तरह भगवान् का नामस्मरण और सकीर्तन करते-करते भक्त, भगवान् और भगवन्नाम का त्रिवेणी संगम हो जाता है। आदर के साथ हरिनाम गाने वाले, और सुनने वाले स्त्री-पुरुप शुद्ध हो जाते है। वैष्णवों का धर्म यही है ऐसा तुकाराम का निवेदन है—

आम्हां वैष्णवांचा कुळ धर्म कुळींचा। विश्वास नामा एका भावें ॥
तुका म्हणे देवा ऐसीयाची सेवा। द्यावी जी केशवा जन्मो जन्मीं ॥[1]

वैष्णवो के कुल का कुल धर्म एकनिष्ठ भाव से नामस्मरण पर अटूट विश्वास है। प्रथम चित्त को वासनारहित कर सत्यवादी हरिश्चन्द्र की प्रशसा की जाय। तुकाराम कहते है कि हे भगवान्! हम आपका भक्ति-भावना से नाम-स्मरण कर प्रेम पूर्वक, आनन्द मे आकर नाचेगे और गावेगे तथा भुक्ति और मुक्ति दोनो की आपसे याचना नही करेगे। इस प्रकार के वैष्णव-भक्त की सेवा, हे भगवान्! जन्म-जन्मातरो तक आप अवश्य लेते रहे। सत-समागम ही वैष्णवो का जीवन लक्ष्य होता है। क्योकि सन्तो की सगति से भगवद् भक्ति दृढ हो जाती है। यथा—

ससारांच्या नावें चालुनियां शून्य। वाढता हा पुण्य केला धर्म ॥
तुका म्हणे सुख समाधि हरिकथा। नेणें भवव्यथा गाईल तो ॥[2]

अपने लौकिक जीवन के नाम पर शून्य लिखकर केवल नाम स्मरण और भजन से मैंने यह पुण्य प्राप्त कर लिया है। हरि के भजन से यह ससार स्वच्छ और उज्ज्वल हो गया है। कलिकाल के द्वारा किये गये सारे प्रयत्न निष्फल हो गये। अन्य सारे साधनो का शरीर और बुद्धि से त्याग कर दिया है। हरिकथा गुणगान मे और स्मरण करने मे समाधि सुख प्राप्त हो गया। तुकाराम कहते हैं जैसे मैंने इसे उपलब्ध कर लिया वैसे ही कोई भी इसे उपलब्ध कर ले सकता है।

आचरण शुद्धता और वैराग्य—

तुकाराम चित्त शुद्धि के लिये वैराग्य का प्रतिपादन करते है। प्रथम आचरण शुद्ध होना चाहिए जिससे मन भी शुद्ध हो जाता है। अनासक्ति भी भगवान् के गुणानुवाद से सप्राप्त हो सकती है। उन्होने गीता के अध्याय २, श्लोक ६२ के अनुसार यह वतलाया है। यथा—

चिंती विषय त्याला उपजे हे वासना। भोग हा पुरेना विषयांचा ॥
तो या कामालागी उत्पन्न करीतो। काम तो निर्मितो क्रोधरूपा।

---

१. तुकारामाचे अभग ४०४२।
२. ,, ३२२५।

तुका म्हणे बीजा पासूनि अंकुर। होतो हा विस्तार याच परी ॥[1]

तुकाराम ने कहा है कि जो व्यक्ति अपने मन मे विषय-वासना की चिंता करता है उसको ही वासना उत्पन्न हो जाती है और उसे विषयो का भोग कभी पूरा नही पड सकता। बीज से अंकुर और अंकुर से पूरा विस्तार जैसे होता है, उसी तरह एक वासना से सारे दोष उत्पन्न हो जाते हैं। अतएव विवेक और वैराग्य का आश्रय लेना चाहिए।

ईश्वर-प्रेम के लिए ऐहिक प्रेम छोड़ना पड़ता है। निन्दा और स्तुति की परवाह भी नही की जाती। सकल्प विकल्प मे पडने से अशान्ति उत्पन्न होगी। सुख बादलो की तरह नष्ट हो जावेगा। अतः परमात्मा की शरण में जाना ही एकमात्र उपाय है। इसके लिए विनम्र होना पडता है। इसी विनम्रता से तुकाराम कहते हैं—

वंदीन मी भूतें। आतां अवघीं चि समस्ते।
तुमची करीन भावना। पदो पदी नारायणा।
गाळुनियां भेद। प्रमाण तो ऐसा वेद॥
तुका म्हणे मग नव्हे दुजयाचा संग॥[2]

पारमार्थिक सिद्धावस्था—

नारायण सब मे व्याप्त हैं। अतः मैं सारे प्राणिमात्रो का वदन करूँगा। मैं इसी भावना से सब को देखूँगा कि हे नारायण! आप सब मे कदम-कदम पर कैसे दिखाई देते है। वेद ऐसा प्रमाण देता है जिससे सिद्ध हो जाता है कि कही भी कोई भेद की भावना नही है। इसलिए सदा भगवान् का ही साथ सर्वत्र रहता है। लोक लज्जा आदि बातो से प्रायः मानव डरता है। उसके विरुद्ध परन्तु सत्य लगने वाली बात लोगो के सामने कहने का सामर्थ्य उस मे नही रहता। अन्तः-करण मे एक संकोच एवम् हिचकिचाहट रहती है। अतः सत्य का पथिक एकान्त-वासी बनकर जनता का सम्पर्क टालता है। तुकारामने ऐसा ही किया। वे एकान्त के लिए वन का आश्रय लेने लगे। उनके ऐसे आचरण की लोग निन्दा करने लगे। तुकाराम ने इसकी चिन्ता नही की। परमार्थ में साधक की सहायता करने कोई नही आता। तुकाराम इस बात को अच्छी तरह जानते थे। वे सदा अपना आत्म-निरीक्षण करते और वह भी बड़ी सूक्ष्मता से। तुकाराम अपने दोषो को बडी

१. तुकारामाची अभंगात्मक गीता—पृ० ३४ अभंग १०७ तथा गीता अध्याय २।६२।

२. तुकारामाचे अभंग ७४६।

निष्ठुरता पूर्वक ढूँढते है। इस तरह एकान्तवासी बनकर उनको जगल मे ही मगल दिखाई दिया। यथा—

आध्यात्मिक जीवन का आनन्द—

वृक्षवल्ली आम्हाँ सोयरी वनचरें। पक्षी ही सुस्वरें आळविती ॥[१]
तुका म्हणे होय मनासी संवाद। आपुलाचि वाद आपणांसी ॥[२]

तुकाराम कहते है कि वृक्ष और लताएँ हमारे सम्बन्धी है, तथा वनचर हमारे रिश्तेदार है। यहाँ पर पक्षी सुस्वर स्वर मे गाते है, इससे नामस्मरण एवम् भगवद् चितन के लिये एकान्त सेवन मे भी रुचि उत्पन्न हो जाती है। कोई दोष देने वाला या प्रशसा करने वाला यहाँ नही रहता। यहाँ पर आकाश का वितान है और पृथ्वी का आसन सदा विद्यमान है। मन जहाँ रमता है वही क्रीड़ा करने लग जाता है। यहाँ पर स्वच्छन्द रूप से बहने वाली वायु, कमडलु, कथा इत्यादि का काम देती है। हरिकथा का विस्तारपूर्वक भोजन यहाँ पर किया जा सकता है। अपने ही मन से सवाद किया जा सकता है तथा अपने से ही वाद-विवाद किया जा सकता है।

पारमार्थिक जीवन मे सबसे अधिक बाधक चिन्ता होती है। इस चिता से मुक्ति भी भगवान् पाडुरग ही दिला सकते है। ऐसा भक्त तुकाराम का दृढ विश्वास था। अतएव इस ईश्वरी अनुकम्पा के लिये भगवान् से प्रार्थना करते है—

प्रपंच वोसरो। चित्त तुझे पायी मुरो ॥ ऐसे करिंगा पांडुरंगा।
शुद्ध रंगवावे रंगा। पुरे पुरे आतां। नको दुनियाची सत्ता।
लटिकें ते फंडा। तुका म्हणे जाय पीडा ॥[३]

हे पांडुरग। मेरी लौकिक आसक्ति दूर हो जाय और चित्त तुम्हारे चरण कमलो मे श्रद्धा रखने लगे। मुझे अपने रग मे रग लो, जिससे मेरा चित्त तुममें लीन हो जाय और मेरी सारी व्यर्थ की लौकिक चिन्ताएँ नष्ट हो जाँय। अपने आराध्य से प्रेम पूर्वक वे यही माँगते है कि वे प्रेम के भाव मे इतने मग्न हो जाँय, कि उनकी भाव समाधि ही लग जाय। इस शुद्ध प्रेम रग मे रँगकर विठ्ठल की सगुण भक्ति उन्हे उपलब्ध हो गई। तभी वे निर्भय होकर कहते है—

सगुण भक्ति की सिद्धावस्था—

आम्ही तरी आस झालो टाकोनी उदास। आतां कोण भय धरी।
पुढें स्मरणाचे हरी ॥ भलते ठायीं पडो। देह तुरगी हा चढो ॥

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४८१।
१. ,, २४८१।
३. ,, २६७१।

गेले माना मान। सुखदुःखाचे खंडण। तुमचे तुम्हांपाशी।
आम्ही अहो जैशी तैशी ।।[1]

हे भगवान् ! हम तो अपनी सारी आशा त्यागकर उदास बन गये है। हरि स्मरण करते हुए अब हमे किसका भय है ? अब यह शरीर किसी भी अवस्था मे क्यो न रहे, इसे कोई दिलचस्पी उसके लिए नही है। चाहे जमीन पर बैठना पडे अथवा घोडे पर बैठना पड़े, हमे तो सभी स्थल एक से है। मान अपमान, सुख और दुख के परे रहने की हमारी प्रवृत्ति बन गई है। अतः हमे किसी से क्या लेना देना है। हम जैसे हैं वैसे ही रहेगे।

सत तुकाराम वैराग्यमय प्रवृत्ति से अब अपनी चरम सीमा पर पहुँच गए थे। उनमें आत्म विश्वास पूर्ण और निरहकारी वृत्ति जग पड़ी थी। तभी बड़ी तन्मयता पूर्ण होकर वे कहते है—

पिकलिया सेंद कडूपण गेले। तैसे आम्हां केले पांडुरंगे।।
काम क्रोध लोभ निमाले ठायीची। सर्व आनन्दाची सृष्टी झाली।।
आठव नाठव गेला भावाभाव। आला स्वयमेव पांडुरंग।।
तुका म्हणे भाग्य या नावे। म्हणिजे संसारी जळिजे याचिलागी।।[2]

फल के पक जाने पर उसकी कटुता नष्ट हो जाती है। पाडुरग ने हमे वैसा ही बना दिया है। काम, क्रोध लोभ इत्यादि भाव अपने स्थान पर ही नष्ट हो गए और सर्वत्र आनन्द ही आनन्द भासमान होने लगा। निरीहता परिपूर्ण रूप से प्राप्त हो गई। और साधक ने अपने मे ही पाडुरग को विद्यमान देखा। इसी सद्भाग्य के लिए लौकिक भावनाओ को होम करना पडता है।

भगवान् के प्रति आस्था, भक्ति अथवा स्नेह भावना रखने का प्रायः यह अर्थ लिया जाता है कि भगवान् के प्रति इस तरह की भावना का होना। केवल विश्वास ही भावना नही है अपितु विश्वास की परिणति प्रेम, कृतज्ञता, पूज्यभाव एवम् शरणागति आदि भावों सहित प्रत्यक्ष कृति मे जब हो जाती है, तब उसे विश्वास का भाव कहा जाता है। आचरण और मनोभावना एक सी बन जाय यही बात उसमे निहित है। यह भाव अचानक उत्पन्न नही होता क्योकि इसके लिए भी साधना करनी पड़ती है। अपनी साधना पर साधक का अटल विश्वास होना आवश्यक होता है। नाम सकीर्तन साधना पर तुकाराम के विचार इस प्रकार है—

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग ४७।
२. तुकारामाचे अभंग ४१०३।

नाम सकीर्तन—

नाम सङ्कीर्तन साधन पै सोपे । जळतील पापे जन्मांतरीची ।।
तुका म्हणे सोपे आहे सर्वां हूनी । शाहाणा तो घणी घेतो तेथे ।।

× × ×

तुटे भवरोग । संचित क्रियमाण भोग ।। ऐस विठोवाचे नाम ।
तुका म्हणे माया । होय दासी लागे पाया ।।[1]

नाम सकीर्तन कितना सरल साधन है । नाम के लेने पर जन्म-जन्मातरो के पाप नष्ट हो जाते है । नारायण घर मे ही आ जाते है । जगल मे जाने की आवश्यकता नही । सहज ही जिसको हम कह सकते है ऐसा 'रामकृष्ण हरि विठ्ठल केशव' इस मत्र को सर्वदा जपना चाहिए । इसको छोडकर अन्य किसी साधन को मै नही अपनाऊँगा । ऐसा विठ्ठल की शपथ लेकर कहता हूँ । यह सब साधनो से सरल साधन है ऐसा समझकर चतुर व्यक्ति इसी को अपनाता है । विठोवा का नाम जप करने से अनेक जन्मो का खडन हो जाता है । भवरोग से छुटकारा प्राप्त होकर सचित, क्रियमाण आदि के भोग भी नही भोगने पड़ते । माया भी दासी बनकर चरणो मे झुक जाती है । नाम-स्मरण करने वाले के पास कोई पाप और त्रिविध ताप नही फटक पाते । यह साधन ऐसा है कि इसे अपनाते हुए किसी अन्य विधि विधान की जरूरत नही होती ।

अनन्य शरणागति—

अनन्य शरणागति के विना भगवान् नही मिलते । सारे सम्बन्ध अनन्य भाव से ही भगवान् से जोड़े जाते है । इसी अनन्य भाव से तुकाराम कृष्ण को अपना सर्वस्व मानते है । देखिए—

कृष्ण माझी माता । कृष्ण माझा पिता ।
कृष्ण बंधु चुलता । कृष्ण माझा सखा ।।

× × ×

तुका म्हणे माझा श्रीकृष्ण विसावा । वाटे न करावा परता जीवा ।।[2]

तुकाराम कहते है कि मेरे लिए कृष्ण ही मेरे सर्वस्व है । वे मेरी माँ, पिता, बंधु, गुरु और भवसागर से पार ले जाने वाले जहाज है । मेरा मन भी कृष्ण ही है तथा वे ही मेरे स्वजन और एकमात्र आश्रयस्थल है । अतः वे कृष्ण से प्रार्थना करते है कि मुझे आप एक क्षण भर भी न त्यागिये ।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २४५८।७२८ ।
२. तुकारामाचे अभङ्ग ५१६ ।

वे ही कृष्ण तुकाराम के पांडुरंग है जिसे वे बार-बार पुकारते है। यथा—

जो भक्ताचा विसावा। उभा पाचारितो धांवा ॥[1]

तुका म्हणे कृपा दानी। फेडी आवडीची घणी ॥

हे भगवान्! आप अनाथों के नाथ है इसीलिये मै आपको कब से खडे-खडे पुकार रहा हूँ। प्रेम की कोई वस्तु या पदार्थ लेकर हमारे मुख मे प्यार से आप ही डाल दिया करते है। भक्त की आशा बलवती होती है। फलतः कृपादानी विठ्ठल को तुकाराम ने अपने अन्त करण मे दृढ एवम् स्थित कर दिया था। उनके मत से इस भक्ति को निश्चयपूर्वक अपनाकर ही उनको अत्यधिक आनन्द की उपलब्धि हो जायगी। इसीलिए वे कहते है—

सांडोनिया दो अक्षरा। काय करु हा पसारा ॥

काना पात्रा वां याविण। तुका म्हणे बिंदुली ॥

× × ×

मज हसतील लोक परी गाईन निश्शंक ॥

तुझे नामी मी निर्लज्ज। काय जना सवेकाज ॥

तुका म्हणे माझी विनंति। तुम्ही परिसा कमळापती ॥[2]

× × ×

काये करुनि धंदा। चित्त गोविंदा तुझे पायी ॥[3]

तुका म्हणे तुज कळेल ते आतां। कराजीं अनन्ता माय बापा ॥[4]

तुम्हारे श्रेष्ठ भक्त यही विचार करते है कि जप तपादि साधनों मे मन नही रमता। अतः नामस्मरण किया जाय। मेरे जैसे दीन भक्त करुणा से अपनी बात आपको प्रदर्शित कर बतलाते है। हे विठ्ठल। मुझे आपके नाम के दो अक्षरों के अतिरिक्त अन्य बातों की क्या आवश्यकता है? मैं तो अपनी तुतली वाणी से ही निरतर हे हरि! आपका नाम गाता रहता हूँ। समग्र वेदों का सारवचन और मत्र की तरह जिसे समझा जाता है ऐसे नाम स्मरण से मै भी ब्रह्मार्पण किया जाऊँगा। मै यह भली भाँति जानता हूँ कि मेरी इस कृति को देखकर लोग हँसेगे पर मै निश्चिन्तता से आपका नाम स्मरण करता रहूँगा। हे कमलापति! मेरा शरीर और उसके अवयव अपने-अपने कार्य करते रहेगे। पर मेरा मुख सदा

१. तुकारामाचे अभंग १०७५।

२. तुकारामाचे अभंग १५२३।२९५६।

३. तकारामाचे अभंग ३४३९।

गोविन्द-गोविन्द जपता रहेगा। हे भगवान्! मेरा और मेरे कुटुम्ब का उत्तर-दायित्व आप पर ही रहेगा। अपने अभगो मे मैं आपका गुणगान करता रहता हूँ इसलिए मुझे अपने पेट की कोई चिन्ता नही है। मेरी सारी चिन्तायें अब दूर हो गयी है और आप यह सब जानते है।

भगवान् का प्रेम एक महान् वरदान—

अपने उपास्य के चितन से भक्त को आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। इस आनन्दानुभूति के साथ भक्त को अपने आराध्य का चिन्तन करने की क्षमता भी प्राप्त हो जाती है। तुकाराम को यह सारी प्रेमोत्कटता अपने समग्र रूप मे प्राप्त हो गई थी। तुकाराम इस प्रेम को भगवान् की एक महान् देन मानते हैं। यह अनमोल देन शाश्वत रूप से बनी रहे, ऐसी प्रार्थना वे पाडुरग से करते है। प्रेमी भक्त का अपने प्रिय आराध्य के इस प्रेम का एक दूसरा पहलू भगवान् का विरह है। अपने प्रियतम परमात्मा के बिना विरह जन्य तडपन उत्पन्न होती है। जिस तरह से शरीर को प्राण की चाह रहती है उसी तरह भक्त को अपने आराध्य की रहती है। प्रेम की बाढ आ जाने पर स्वेद, रोमाच, अश्रु, कम्पन, गला भर आना आदि आठ प्रकार के सात्विक भाव उत्पन्न हो जाते है। बाढ मे इनका स्वरूप गतिमान होता है। हृदय-सरिता का जल बाढ के कारण नेत्रो से आँसुओ के रूप मे बह निकरता है। प्रेम के एवम् भक्ति के क्षेत्र मे ऐसी स्थिति मे प्रेमी की प्रिय के प्रति वृद्धि ही होती है। यह अवर्णनीय आनन्द की अनुभूति को प्रस्तुत कर देती है। तुकाराम अपनी ऐसी भावावस्था मे आकर कहते है—

> **सद्गठित कठ दाटो। येणे फुटो हृदय।**
> **तुका म्हणे येथे पाहिजे चौरस। तुम्हावीण रस गोड नव्हे ॥[1]**

मेरा कठ सद्गदित होकर भर आवे तथा हृदय द्रवीभूत हो जाय। हे विठ्ठल! आपके चिंतन का एक लाभ तो निश्चित रूप से मिल जायगा। नेत्रो से सदा जल बहा करे और आनन्द से शरीर पुलकित हो जाय। तुकाराम कहते है कि मन मे यही इच्छा मैं करता रहूँ कि मुझे आपकी कृपा का दान प्राप्त हो जाय। गला भर आते ही नेत्रों से अश्रु-सिचन होने लगेगा। आनन्द से रोमाच उठ खड़े होगे। हे भगवान्! आपके मिलने से पुरानी बाते विस्मृत हो जायँगी। मैं तो सुन्दर आलाप से आपके गीत गाता रहूँगा। तुकाराम कहते है, यहाँ तो विस्तृत रूप मे रसवृष्टि हो तो अच्छा होगा। परन्तु आपके बिना रस फीका ही होगा।

---

१. तुकारामाचे अभग २४२३।

विठ्ठल की व्यापकता —

भावों के भूखे तुकाराम अपनी भावभीनी भक्तिपूर्ण अवस्था से अपने अन्त.-करण में और बाहर धीरे-धीरे व्यापक रूप में विठ्ठल का अस्तित्व अनुभव करते है। भगवान् सदा उनकी बाते सुनते और उन पर कृपा करते है। तुकाराम को नरदेह क्या मिली मानो अन्धे के हाथ बटेर लग गई। तुकाराम को भगवान् मिल गये तब वे अपना आत्म निवेदन अपने आराध्य के सम्मुख इस प्रकार प्रस्तुत कर देते हैं—

पावलो हा देह काकतालीय न्याये। नघडे उपांये घडो आले॥
× × ×
काय विरक्ति कळे आम्हां। जाणो एका नामा विठोवाच्या॥
कासया एकांत सेवूं तयावना। आनंद तो जना माजी असे॥
× × ×
मार्गी चालता पाऊला पाऊलीं। चिंतावी माऊली पांडुरंग॥
तुका म्हणे हेचि करावे जीवन। वाचे नारांयण तान भूक॥[1]

यह मानव शरीर काकतालीय न्याय से मुझे उपलब्ध हो गया, इसीलिए कुछ ऐसी उपयुक्त बात हो गई जो चाहे जितने उपाय किये जाने पर भी परिपूर्ण न हो सकती थी। अर्थात् मुझे सहज ही इस देह से भगवान् की प्राप्ति हो गई। वैसे विरक्ती को मैं जानता भी नही था, मुझे तो केवल विठोवा का एकनाम ही ज्ञात था। अब तो मै वैष्णवो के मेले मे सुखपूर्वक नाच उठता हूँ, तथा आनन्द से करताल बजाता हूँ। शाति, क्षमा, दया आदि मैं कुछ भी नहीं जानता था। मुझे तो केवल गोविन्द का कीर्तन ही करना आता है। मैं अपने शरीर के प्रति अब उदास क्यो रहूँ जब कि मैं भक्ति रूपी अमृत के सागर मे पूरा डूब गया हूँ। मुझे अब जगल मे एकान्त वन सेवन करने की कोई आवश्यकता प्रतीत नही होती, क्योकि मुझे अब तो सारा आनन्द लोगों मे ही दिखाई पड़ रहा है। मार्ग चलते-चलते पद-पद पर मुझे अपनी माता के समान पाडुरंग का चितन करना चाहिए ऐसा लगता है। सारे सुख, सारे सम्बन्ध अपनी पीठ पर लादकर प्रेमपूर्वक गीतों मे प्रेम रस भरता रहता हूँ। अपने पीताम्बर से आप भक्तो पर कृपा की छाया फैलाते रहते हैं। अतएव तुकाराम का यही कहना है कि ऐसे भक्त का ही जीवन क्रम मैं अपना लूँ जिससे वाचा से नारायण जपते-जपते भूख प्यास आदि मिट जावेगी। नाम लेने वालों की कोई जाति नही है और हे भगवान् शरण मे आये हुए को तुम अङ्गीकार कर लेते हो अतएव मेरे साथ वैसा ही कर मुझे अपनाओ।

---

१. तुकारामाचे अभंग ४०४३।८७१,१६४६।

तुकाराम इस तरह अपने नित्य के अनुभवो में से ही विश्वंभर की कृपा की एवम् दया की प्रत्यक्ष प्रतीति कर लिया करते थे। तुकाराम की मनोभूमिका देखने लायक है—

कारे नाठवी सी कृपाळू देवासी। पोसितो जगासी एकलाचि॥
तुका म्हणे ज्याचे नाव विश्वभर। त्याचे निरन्तर ध्यान करी॥[1]

कृपालु भगवान् को क्यो विस्मृत करते हो? वे तो अकेले ही सारे लोगो का पोषण करते है। छोटे शिशु के लिये माता के स्तनो मे दुग्ध की उत्पत्ति करके श्रीपति दोनो हाथो से उसका पालन-पोषण करते है। ग्रीष्मकाल मे भी वृक्ष कोपलो से युक्त हो जाते हैं उनको जल रूपी जीवन कौन प्रदान करता है? जब वे सारे अनन्त मे व्याप्त है तो क्या वे तुम्हारी चिन्ता नही करेगे? तुकाराम कहते है उनका नाम इसलिए विश्वम्भर है अतएव उनका ध्यान निरन्तन करना चाहिए।

भगवान् का यह विश्वात्मक अनुभव तुकाराम के भीतर भक्ति की आर्द्रता से निसृत हुआ था। इसे भी वे अपना सौभाग्य मानते है। सच है, बिना भाग्य के मुलाकात भी कैसे हो सकती है?

महान् भारतीय दार्शनिक गुरुदेव रानडे अपने 'तुकाराम वचनामृत' की भूमिका में कहते हैं—कि, 'साधक दशा के मार्ग मे अनेक भयङ्कर विघ्न आते है। हरएक साधक इसका अनुभव करता है। अनेक प्रकार के विकल्प, अनेक प्रकार के विकट प्रसग एवम् अनेक प्रकार की शकाएँ, साधक के मन मे उद्भुत हुआ करती है, और मृगजल की तरह साध्य अभी दूर ही है ऐसा प्रतीत होगर क्षण-क्षण निराशा उत्पन्न होती रहती है। यह निराशा की दशा आत्मरूपी सूर्योदय पूर्व की एक भिन्न प्रकार के अन्धकार से परिपूर्णरजनी ही है। ऐसी परिस्थिति मे भी जो साधक जागृत रहकर सूर्योदय की राह देखता है उसे ही अपना अन्तिम साध्य प्राप्त हो जाता है। किन्तु इस परिस्थिति मे मन की तडपन भयङ्कर होती है और बेचैनी भी।'[2]

तुकाराम मे यह बेचैनी थी और मन की तडपन भी, जिसने उनको एक सफल और सिद्ध भक्त बना दिया और वास्तव मे भगवान् साकार रूप मे उन्हें उपलब्ध हो गए थे। उनके सान्निध्य सुखार्थ मुक्ति का भी त्याग तुकाराम ने कर दिया था। सचमुच वैष्णव सगुण साधको मे तुकाराम सिरमौर है।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग २३१०।

१ तुकाराम वचनामृत प्रस्तावना—गुरुदेव रा. द. रानडे, पृ० ८।

समर्थ रामदास का आध्यात्मिक पक्ष

आध्यात्मिक अनुभूति की पूर्व-पीठिका—

राष्ट्रगुरु समर्थ रामदास का आध्यात्मिक चिन्तन अपने ढङ्ग का और स्वतन्त्र था। प्रायः भक्तिपरक वैष्णव साहित्य का अध्ययन करते हुए, हम वैष्णव भक्तों की आध्यात्मिक साधना प्रणाली और उनकी प्रेरणा के स्रोत खोजते रहते है। उनके आध्यात्मिक व्यक्तित्व का गठन कैसे वना इसका भी हम विचार करते है। उनके चिन्तन परक आध्यात्मिक साहित्य को पढ़कर उसका रसास्वादन कर उनकी अनुभूतियो का एवम् अभिव्यक्तियो का मात्र निरूपण कर लेते है। वस्तुतः यथार्थ रूप से हमारे लिए उसका रसास्वादन कर लेना साध्य ही नही होता। मनोरंजन के लिए साहित्य के क्षेत्र को ये नही अपनाते। प्रत्युत कठिन से कठिन साधना करते हुए अपने जीवन के अनेक संघर्षो का मुकावला करते हुए उसमें वे विजयी वनते हैं, और अनुभूति को वतलाते है। प्रथम हमे इसका अध्ययन कर आध्यात्मिक क्षेत्र की उनकी विजय का रहस्य जान लेना चाहिए। इसके अनन्तर उनकी अनुभूति पारमार्थिक अनुभवो का अभिव्यंजन कैसे करने मे तत्पर एवम् सिद्ध हो गई इसका अनुशीलन करना चाहिए। यह कार्य जितना सरल जान पडता है उतना ही कठिन भी है। हम यह कदापि नही कहना चाहते कि इन वैष्णव साधको मे प्रतिभा विलकुल ही नही थी।

आध्यात्मिक अनुभूति लेने वालों मे समर्थ रामदास की विशेषता—

ज्ञानेश्वर ने अपने व्यक्तिगत जीवन के परिस्थिति के साथ के सघर्ष, समाज के साथ किये गये सघर्ष के वारे मे, या आध्यात्मिक जीवन में उच्चता प्राप्त करने के लिए यदृच्छा, भाग्य, या दैव के साथ किये गये सघर्ष के वारे मे कहीं पर भी उन्होने कुछ भी नही कहा। वरन् ज्ञानेश्वरी में और अन्यत्र इसके विषय मे वे मौन हैं। तुकाराम और नामदेव ने अपने व्यक्तिगत सघर्ष, सामाजिक सघर्ष और पारमार्थिक क्षेत्र मे आत्मिक उन्नति से अपना उद्धार कर लेने के लिए आत्म-निवेदन, सत्सग, नाम-माहात्म्य, और परमात्मा के प्रति दृढ विश्वास आदि के माध्यम से अपने व्यक्तित्व अर्थात् अपने चरित्र को प्रस्तुत कर दिया है। कहीं-कही पर समाज मे पाखडो, कुरीतियो और दुर्गुणो पर कठोरता से प्रहार करने वाले उद्गार अभिव्यक्त किये है। इसका कारण यह है कि उन्होने इनको अपने तीनो प्रकार के सघर्षो मे देखा था, तथा उन पर विपय प्राप्त कर ली थी, तभी वे आगे वढ़ सके थे। कही-कही पर भगवान् से यह स्थिति सुधर जाय ऐसी करुणा-पूर्ण माँग भी वे

परमेश्वर से विनम्रतापूर्वक करते है। जैसे ज्ञानेश्वरी का 'प्रसाद दान' है। इन सबसे अलग और प्रखर तेजस्वी व्यक्तित्व श्री सत रामदास का है। रामदास के जीवन मे व्यक्ति और समाज का सघर्ष, व्यक्ति के सत् और असत् का संघर्ष, तथा आध्यात्मिक जीवन मे उन्नति और योग्यता प्राप्त करने के लिए दैव या प्रारब्ध से किया हुआ सघर्ष विलकुल अलग ढङ्ग का है। रामदास ने अपने प्रारम्भिक जीवन मे जिस सघर्ष का सामना किया उसमे उन्होने विजय प्राप्त करने के हेतु 'मनोवोध' लिखा। आरम्भ से ही प्रयत्न का आश्रय लिया है और इस आश्रय को सुचारु रूप से सगठित करने के हेतु उन्होने अपना एक तन्त्र निर्माण किया जो महत्व का है। इसमे सम्पूर्ण विजय उनको स्वनिर्मित तन्त्र से ही प्राप्त हुई। यह अतीव साधना का परिणाम था जो वड़े मनोयोग के साथ की गई थी। इसमे पूर्ण रूप से पटुता एवम् निपुणता प्राप्त कर लोक सग्रह और जगत् का उद्धार करने के लिए एक अलग प्रकार का स्वतन्त्र और सर्वकश साधना प्रणाली निर्माण की। इसी से वे रामदास' वन सके।

समर्थ रामदास की अपनी स्वतन्त्र साधना-प्रणाली—

समर्थ सम्प्रदाय के संस्थापक एवम् सद्गुरु रामदास स्वामी थे। वे अपने आपको महान् वना सके, तथा अनेक शिष्यों को समर्थ और महत[1] वनाकर अनेक केन्द्रो मे उनके द्वारा 'रामोपासना' का प्रचार और प्रसार करते हुए लोक जागृति

१. 'महंत' यह शब्द रामदास स्वामी के द्वारा एक विशेष अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। मोक्ष प्राप्ति और ईश्वर प्राप्ति का मार्ग वतला सकने वाला मठ-प्रमुख 'महंत' कहलाता था। ये महंत कुछ नियोजित कार्य किया करते थे जो स्वामी रामदास को अभिप्रेत थे। वे ये है—

(१) प्रयत्नपूर्वक वुद्धि पुरस्सर सकटों में सर्वत्र सवको अभय प्रदान कर उससे अलिप्त रहना।

(२) अपनी समर्थ और सिद्ध-साधना प्रणाली से अनेक विध लोगों को सुज्ञ वनाना।

(३) अन्याय का प्रतिकार करना और अपने न्यायी आचरण से कठिन प्रसंगों में धैर्य, बुद्धि और चतुरता पूर्वक सावधानी से सबको आधार एवम् आश्रय देना।

(४) अनेक सुयोग्य लोगों का समुदाय तैयार कर आत्मकल्याण एवम् लोक-कल्याण प्राप्त करना।

(रामदास वचनामृत—डा० रा. द. रानडे प्रकरण ७५, पृ० १३२)

कर सके। इसी से उनके समुदाय की साधना-प्रणाली के द्वारा स्वधर्म-पालन और स्वातंत्र्य संभव हो सका। समर्थ रामदास अपने अनुशासित संघर्ष में अत्यन्त कठोर तथा उद्यमशील थे।

जो अध्ययन किया हो उसका मनन और चिन्तन करना चाहिए ऐसा उनका आदेश था। भगवद्-दर्शन, तपस्या से साध्य और उद्भूत होता है। अपनी पात्रता और अधिकार सुनिश्चित जो नहीं कर लेता वह समर्थ, चारित्र्यवान शिष्य कैसे बन सकता है? जो अपने आपको आश्वस्त नहीं कर सका वह दूसरों को कैसे धैर्य प्रदान कर सकता है? आत्मोन्नति और राष्ट्रोन्नति, संस्कृति और आचरण पर निर्भर है। इसलिए परमात्मा के अधिष्ठान पर आश्रित एवम् आचारिक तपस्या, सहिष्णुता, विनयशीलता और स्वधर्माचरण के प्रति जागरूकता और परिश्रम करने की तत्परता जब तक साधक में नहीं है तब तक उसे विजय एवम् सफलता मिलना प्राय: असंभव ही है। ऐसी समर्थ रामदास की मनोधारणा थी। उनके मत से जो अध्ययन नहीं करता, उसका सर्वनाश निश्चित है। उनकी, 'यत्न तो देव जाणावा', तथा 'सामर्थ्य आहे चळवळीचे। जो-जो करील तयाचे। परंतु तेथे भगवंताचे अधिष्ठान पाहिजे ॥', और 'घडी-घडी बिघडो हा निश्चयो अंतरीचा। म्हणाउनि करुणा हे बोलतो दीन वाचा ॥' जैसी उक्तियाँ उनके द्वारा निर्मित स्वतंत्र साधना प्रणाली का महत्व और गरिमा सिद्ध करती हैं। इन उक्तियों में वे कहते हैं कि यत्न को ही भगवान् समझना चाहिए। आन्दोलन में सामर्थ्य उसके करने वालों की दृष्टि से अवश्य रहता है, परन्तु भगवान् का अधिष्ठान एवम् आशीर्वाद प्राप्त करके किया गया आन्दोलन ही महत्वपूर्ण होता है। बार-बार अन्तःकरण में निश्चय कर लेने पर भी उसका कृति मे पालन नहीं हो पाता है। इसलिए मैं भगवान् से उसे पूरा कर बोलने की करुणा-पूर्ण वाणी में दीनता से प्रार्थना किया करता हूँ।[1]

उनके साहित्य-सागर में डुबकी लगाकर उसमें से बाहर सकुशल निकल आना आसान कार्य नहीं है। ईश्वर पर अडिग आस्था रखने वाले, स्वावलम्बी एवम् प्रयत्नशील बनकर और एक सुनिश्चित लक्ष्य और साधना-प्रणाली से आश्वस्त कर उसमे अवगाहन कर सकते हैं। अब हम यह देखने का प्रयत्न करेंगे कि समर्थ रामदास के व्यक्तित्व मे राष्ट्रगुरु होने की कौन-कौन सी विशेषताएँ विद्यमान थीं और उनका अनुशीलन करेंगे।

---

1. देखिए रामदास कृत

रामदास के व्यक्तित्व मे पायी जाने वाली विशेषताएँ—
जिससे वे राष्ट्रगुरु बने—

वे अपने मन से कहते है—

मना सज्जना भक्ति पंथेचि जावे। तरी श्रीहरी पाविजे तो स्वभावे।
पनीं निंद्य ते सर्व सोडो नियावे। जनी वद्य ते सर्व भावे करावे।।[1]

यहाँ पर रामदास अपने मन को 'सज्जन' कहकर सम्बोधन करते है, तथा उनको समझाते है कि हे मेरे सज्जन मन ! तू भक्ति मार्ग से ही चल। क्योकि इस मार्ग से चलने पर श्रीहरि स्वभावत. और सहज ही तुझे मिल जायेगे। दुनियाँ मे जो भी निन्दनीय और तिरस्करणीय है उसे छोड दिया जाय और जो भी वदनीय और स्पृहणीय है उसे अपनाया जाय।

इस तरह सबसे प्रथम समर्थ रामदास ने अपने मन पर सुस्पष्ट सस्कार कर उसे सज्जन कहा। स्व-सुसस्कार करते हुए आत्म-शिक्षा ग्रहण करने का तन्त्र एवम् साधना-प्रणाली रामदास की अपनी विशेषता है। यह आत्मबोध एक बहुत बडा सामर्थ्य है जिसका रहस्य वे जानते थे। मन के बारे मे एक सस्कृत उद्धरण मे कहा गया है[2]—

मन एव मनुष्याणाम् कारणम् बन्ध मोक्षयोः।
बंधाय विषयासक्तं मुक्तैः निर्विषम् स्मृतम्।।

मनुष्य का मन ही मानवमात्र के बन्धन और मोक्ष का कारण है। समर्थ रामदास को इसकी शिक्षा दीक्षा तथा यह सामर्थ्य अपनी गुरु परम्परा से उपलब्ध हो गयी थी। अब इसे ही देखने का हम प्रयत्न करेगे।

आदि नारायण सदगुरु आपुचा। शिष्य हो तयाचा महाविष्णु।
तयाचा हो शिष्य जाणावा तो हंस। तेणे ब्रह्मपास उपदेशिले।।
ब्रह्मदेवे केला उपदेश वसिष्ठा। तेथे धरिली निष्ठा शुद्ध भाव।।
वशिष्ठ उपदेशी श्री रामयासी। श्री रामें दासा सी उपदेशिले।।
ब्रह्म देवे केला उपदेक्ष वसिष्ठा। तेथे धरिली निष्ठा शुद्ध भाव।।[3]
आत्मरूपी जाला रामी रामदास। केला उपदेश दीनोद्धारे।।

× × ×

---

१. मनाचे श्लोक संख्या २।

२. एक संस्कृत सुभाषित ब्रह्म बिंदूपनिषत्-श्लोक सं० २।

३. समर्थाची गाथा—पद २७०, पृ० ८४।

भाविका भजन गुरु परम्परा। सदा जप करा राममंत्र ॥
राम मंत्र जाण त्रयोदश माझा। सर्व वेद शास्त्रां प्रकटचि ॥
× × ×
येणे मंत्रे जाणा मुमुक्षु सावध। साधक प्रसिद्ध सिद्ध होय ॥
सिद्ध होय राम तारक जपतां। मुक्ति सायुज्यता रामदासी ॥[1]

रामदास अपनी सम्प्रदाय परम्परा इन पदों मे बतलाते है। आदि नारायण-महाविष्णु से यह परम्परा आरम्भ होती है। आदि नारायण हमारा मूल सद्गुरु है जिसके शिष्य-महाविष्णु हुए। इस प्रकार आगे चलकर महाविष्णु के हंस, हंस के ब्रह्माजी, ब्रह्मा के वशिष्ठ शिष्य हुए। वशिष्ठ ने इस संप्रदाय का उपदेश प्रभु रामचद्रजी को दिया। रामचन्द्रजी ने रामदास को शिष्य बनाया। ब्रह्मदेव ने वशिष्ठ को जो उपदेश दिया था, उससे उन्होने अपने आराध्य मे दृढ निष्ठा और शुद्ध भाव रखा। प्रभु रामचन्द्रजी को यही उपदेश वशिष्ठ ने दिया जो 'योगवासिष्ठ' नाम से प्रसिद्ध है। इसी के सम्बन्ध मे एकान्त मे चर्चा करते समय लक्ष्मण पहरेदार बने थे और दुर्वासाके शाप से पूरे रघुकुल को बचानेके लिये अपनी प्रतिज्ञा-भग के उपलक्ष मे उनको सरयू मे आत्म-विसर्जन कर देना पड़ा था। प्रभु रामचन्द्रजी ने रामदास को स्वयम् उपदेश दिया और उन्हे हनुमानजी के हाथों मे सौंपकर वे अन्तर्धान हो गये। सामारिक जीवन के प्रति मैं मनःपूर्वक और प्राणपण से उदास हो गया हूँ। इसीलिये हमारे कुल मे मुख्य उपास्य के रूप मे प्रभु श्री रामचन्द्रजी और हनुमानजी ये दोनो पूजे जाते है। दोनों मुझ मे आत्मरूप बनकर निवास करते है। अपने इस आत्मरूप का स्वसवेद्य स्वात्मानुभव प्राप्त कर लेने के कारण मैं राम का दास बन गया हूँ और 'रामदास' कहलाता हूँ।

प्रभु श्री रामचन्द्रजी से जगत् के उद्धारार्थ जो उपदेश मुझे प्राप्त हुआ उसे जगत के लिए प्रदान करूँगा जो इस प्रकार है। भावुक बनकर इस गुरु परम्परा से सप्राप्त प्रणाली से भजन करना चाहिए और सदा त्रयोदशाक्षरी राम मन्त्र का जप करना चाहिए। इसके तेरह अक्षर 'श्रीराम जयराम जय जय राम' ये है। इनको जपकर ही इनकी महिमा प्रकट होती है। ऐसा सारे वेदो और शास्त्रो मे प्रसिद्ध है। वैसे भी यह राम-मंत्र इसलिए प्रसिद्ध है कि यह बद्ध और जड़ जीवों को तार देता है। इससे सकल चराचर के जड़जीव तर जाते है। काशीपुरी मे जो साधक इसको जपते है उनका जीवन धन्य है। यह मंत्र ओंकार स्वरूप और तारक मंत्र के

१. समर्थाची गाथा—अनन्तदास ९

नाम से प्रसिद्ध है। मुमुक्षुओ के लिए तो यह विश्वरूप प्रदान करता है। इस मन्त्र के सामर्थ्य से मुमुक्षु जीव जागरुक और सतर्क हो जाता है। उसे सुस्पष्ट साधकावस्था प्राप्त हो जाती है। निष्ठापूर्वक इस मन्त्र की साधना करने पर वह सिद्ध बन जाता है। इसे रामतारक मन्त्र के जपने से रामदास को सायुज्य मुक्ति मिल गयी। अन्य लोग भी उसे प्राप्त कर सकते है।

राममंत्र-साधना की सिद्धि से मिलने वाला सामर्थ्य—

एक बार इस तारक राममन्त्र की जप-साधना परिपूर्ण कर लेने पर यह आवश्यक नही है कि साधक गृहस्थी न बने। क्योकि इस मन्त्र की साधना और उसकी सागता साधक मैं वह बल प्रदान करती है, जो उसे सुन्दर रीति से गृहस्थाश्रम को निभाते हुए भी विवेकी बना देती है। अपने 'दास बोध' मे समर्थ रामदास बतलाते है[1]—

'प्रपंच करावा नेटका। परमार्थ साधावे विवेका॥'

रामदास गृहस्थाश्रम को 'नेटका' अर्थात् सुस्पष्ट और प्रयत्नपूर्वक भली-भाँति करना चाहिए ऐसा बतलाते है। इससे ऐहिक और पारमार्थिक कल्याण विवेक की सहायता से सुसम्पन्न हो जाते है। इस विषय का एक स्थान पर वे साधक को बड़ा सुन्दर उपदेश देते है यथा—

जीव का कर्तव्य—

ससार करावा सुखे यथा सांग। परी सन्त सङ्ग मनी धरा॥
असोनिया नाहीं माया सर्व कांही। विवंचुनि पाहीदास म्हणे।[2]

समर्थ रामदास यह उपदेश देते है कि मुमुक्षु साधक को प्रथम अपना लौकिक, सासारिक जीवन यथासाग सुखपूर्वक कर्तव्य दक्ष बनकर अत्यन्त साक्षेप के साथ व्यतीत करना चाहिए। इसे करते हुए स्वार्थरत न रहकर सन्त-सग करने की चिन्ता मन मे करते हुए उसे जीवन मे बरतना चाहिए। इसका फल यह होता है कि आगे चलकर अपने आप उसका मनन एव चिंतन होने लगता है। धीरे-धीरे भगवान् मे आस्था जगती है तथा सतो और सज्जनो का सहवास प्राप्त हो जाता है। है। इस तरह प्रत्यक्ष रूप मे प्रतीति प्राप्त होकर इहलोक और परलोक दोनो सुधर जाते है। सतो का अनुभव और उनके वचन इस पार से उस पारतक अर्थात लौकिक और पारलौकिक जीवन सुधारनें मे उससे सहायता मिल जाती है। अपनी

---

१ दासबोध—रामदास।

२. समर्थाची गाथा—पद २७६, पृ० ८६।

प्रतीति से मिले हुए अनुभवों को अन्य सन्तों के आत्मानुभवों से वर्णित निरूपणों से मिलाइये। इससे इन निरूपणों में प्रगाढ़ विश्वास उत्पन्न हो जायगा। संसार में रहकर यदि निरूपण में प्रीति होगी तो निश्चित उद्धार हो जावेगा। आत्मोद्धार में सर्वत्र दिखाई पड़ने वाली माया केवल भासित होती है। वह सत्य नहीं है—यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है तथा परिणामतः ईश्वर मिल जाता है। रामदास कहते है कि साधक को इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष कर देखना चाहिए। पूर्ण छानबीन करने पर मुमुक्षु को अपने उद्धार की चिन्ता उत्पन्न हो जाती है। चिन्ता से मार्ग उपलब्ध हो जाता है। मार्ग मिलने से उद्धार हो जाता है यह समर्थोपदेश यथायोग्य और उचित ही है। जीव को मुमुक्षु बनना चाहिए जिससे यह साधन उसे सुलभ हो जाता है।

समर्थ रामदास के इस उपदेश को आचरण में लाने के पूर्व साधक को आत्म-निरीक्षण करना अनिवार्य है। रामदास की यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि—'आधी केले। मग सांगितले' अर्थात् उनकी कृति प्रथम और उक्ति बाद मे यह क्रम रहा है। उपदेश देने वाला यदि स्वयम् वैसा आचरण नहीं करता तो उसका उपदेश निरर्थक सिद्ध हो जाता है। समर्थ रामदास उपदिष्ट बात को आचरण में लाकर फिर उसका उपदेश देते है। निश्चित है कि उन्होंने अपना आत्म निरीक्षण अवश्य किया था। वह आत्म निरीक्षण उन्होंने किस प्रकार किया इसे देख लेना उपयुक्त ही होगा।

समर्थ रामदास का आत्म निरीक्षण—

समर्थ रामदास अपना आत्मनिरीक्षण एक रूपक के द्वारा समझाते हैं। यथा –

प्रवृत्ति सासुर निवृत्ति माहेर। तेथे निरन्तर मन माझे॥
माझे मनीं सदा माहेर तुटेना। सासुर सुटेना काय करूं॥
दुरि जाय हित मजचि देखतां। प्रेत्न करूं जाता होत नाहीं॥
होत नाहीं प्रेत्न सन्त संगेवरिण। रामदास खूण सांगत से॥[1]

नही छूट पाता। इस प्रकार से द्विविधा उत्पन्न हो गयी है। एक ओर प्रवृत्तिपरक बातों का आकर्षण है जहाँ सासारिक प्रलोभन, मोह, प्रतिष्ठा आदि है, तो दूसरी और निवृत्तिपरक बातो का भी आकर्षण है जहाँ भगवद्-भक्ति और आनन्द आदि बातें मिल सकती है। मेरे सामने यह समस्या है कि मैं किस की ओर जाऊँ? लौकिक पक्ष मेरे हाथ धोकर पीछे पड गया है तो विवेक दूर-दूर भाग रहा है। साधक के लिये विवेक का साथ अनिवार्य है। विवेक जब दूर जाता है तब मेरा हित मेरी आँखो के सामने ही मुझे छोडकर जा रहा है। यह बात प्रतीत होती है। प्रयत्न करने की इच्छा है पर उसे करते नही बनता। केवल इच्छा से ही कार्य नही हो सकता। कार्य को कर डालने से ही कार्य समाप्त हो जाता है। अत: मुझे प्रयत्न को कार्यान्वित करना चाहिए। सन्तो का सहवास करने से सत्सग हो जायगा। वह यह सिखा देगा कि प्रयत्न कैसे किया जाय। प्रयत्नपूर्वक किया गया कार्य सफलता प्रदान करता है। रामदास को आत्म-निरीक्षण से इस बात का पता चला कि सत्सङ्ग के बिना प्रयत्न नही हो सकता। सत अपने साथियो को बुद्धि पुरस्सर प्रयत्न मे रत करा देते हैं। इससे व्यक्ति को परमार्थ के मार्ग का सत्पथ और विवेक जैसा तत्पर साथी भी मिल जाता है।

आत्म निरीक्षण के बाद की सीढी आत्म-कथन है। बिना अनुभूति के आत्म-कथन सभव नही होता। अनुभूति जब तीव्रतम हो जाती है, तब वह आत्म-कथन का विषय बनकर अभिव्यक्त होती है। व्यक्ति के भीतर छिपी हुई प्रच्छन्न दैविक शक्ति मन मे रहती है। इसे आत्म-निरीक्षण से मुमुक्षु साधक को ढूँढना पडता है। इस खोज मे प्राप्त स्वानुभूत बातो को वह अपने आत्म निवेदन के रूप में प्रस्तुत कर देता है। समर्थ रामदास भी यही करते हैं।

समर्थ रामदास का आत्म निवेदन—

> बोलण्या सारिखे चाले जो सज्जन। तेथ माझे मन विगुंतले॥
> दास म्हणे जन भावार्थ सम्पन्न। तेथे माझे मन विगुंतले॥[1]

समर्थ रामदास को सत्सग से जो अवस्था प्राप्त हो गई थी, उसका अनुभव वे अपने से कहकर बतलाते है। वे कहते है कि मेरा मन उसी स्थल मे अटक गया जहाँ पर सज्जनो की उक्ति के अनुसार ही उनकी कृति भी देखने के लिए मिल जाती है। जहाँ सज्जन व्यक्ति मे शुद्ध ब्रह्मज्ञान विद्यमान होने पर भी वह पूर्ण निरभिमानी भी है, वहाँ मै ऐसे व्यक्ति के प्रति मनसा वाचा कर्मणा श्रद्धानत

१. समर्थांची गाथा—पद २६८, पृ० ६४।

हो जाता हूँ। विवेक वैराग्य पूर्ण तथा अपनी समस्त ऐन्द्रिय वृत्तियो में उदासीन, तथा स्वधर्माचरण मे तत्पर एवम् स्वधर्म रक्षण मे दक्ष व्यक्ति में मेरा मन दिलचस्पी लेता है। रामदास कहते हैं कि जहाँ पर नित्य सगुण भजन से पूर्ण समाधान एवं सतोष प्राप्त हो जाता है और जहाँ लोग भावार्थ संपन्न हैं अर्थात् जहाँ पर भावों का दारिद्र्य नही है, वरन् भगवान्‌के गुणानुवाद मे रुचि हैं, तथा उसका अर्थ समझने की भावुकता व पात्रता विद्यमान है वहाँ मेरा मन रमता है और आकृष्ट हो जाता है।

इस प्रकार का समर्थ रामदास का आत्म निवेदन पढकर ऐसा प्रतीत होता है कि उनमे साधकावस्था परिपक्व होकर सिद्धावस्था मे उन्हे पहुँचा देने की तत्परता में पहुँच गई थी। तात्पर्य यह है कि समर्थ तब सिद्ध बनने की अवस्था मे पहुँच चुके थे। साधक को अपनी साधना पर अडिग आस्था और संपूर्ण विश्वास होना चाहिए। जब साधक मे यह दशा आ जाती है और वह पूर्ण रूप से कटिबद्ध हो जाता है तब वह गुरुकृपा से योग्य साधक और साधक से सिद्ध बन जाता है। इस गुरु कृपा के प्राप्त होने पर वे सद्गुरु को हृदयस्थ भावो की श्रद्धांजली अर्पण कर देते हैं।

श्री समर्थ रामदास का गुरु स्तवन[1]—

श्री गुरुकृपा ज्योति। नयनी प्रकाशली अवचिन्ती॥
रामी रामदास म्हणे। अनुभवाची हे लूण॥

श्री सद्गुरु कृपा ज्योति है। अचानक वह ज्योति मेरे नेत्रों मे आकर प्रकट हो गई, तथा प्रकाशित हो गई। यह प्रकाश उस साधारण ज्योति का नही है जिसकी बाती कपास से बनाई गई हो, यह दीपक बिना तेल के प्रज्वलित होता है तथा उसके लिए किसी शमादान की भी कोई आवश्यकता नही है। समर्थ रामदास कहते हैं कि आत्मा के अनुभव की यह पहचान है और उसको पहिचानने का यही चिह्न अथवा संकेत भी है। इस प्रकार उन पर गुरु कृपा हो जाने से वे अपने सद्गुरु को नमन करना भी चाहते है। समर्थ रामदास का सद्गुरु नमन देखिए—

मनोभावे नमन स्वामी सद्गुरुसी। जेणे निज सुखासी दाविलें॥
म्हणोनिया भावे अनन्य शरण। काया वाचा मने दास म्हणे॥[2]

मनके सहज भावो से प्रेरित सद्गुरु को मेरा प्रणाम है, उन्होने मुझे अपने निज सुख का अनुभव बतला दिया है तथा सुख को प्रत्यक्ष दिखाकर मुझे सुखरूप

---

१. **समर्थाचा गाथा—पद २६३, पृ० ६२।**
२. ,, **पद २६६, पृ० ८३।**

कर दिया है। मेरे जीव स्वरूप को हरण कर मुझे परमात्म रूप से मिला दिया है। सद्गुरु का रिश्तेदार मिल जाने पर एक ही बार मे जीव का अहभाव नष्ट हो जाता है। सद्गुरु से भेंट हो जाने पर मेरी जो अवस्था बन गई उसका वर्णन करना कठिन है। मैं उसे शब्दो मे नही बाध सकता। अत. बोल भी मौन हो गये। मैं अपनी प्रतिभा के बल से शब्दो के द्वारा सद्गुरु का वर्णन कर सकने मे अक्षम हूँ। जो अनिर्वचनीय है, तथा जिस का वेद भी पार नही पा सकते, उसे मैं कैसे वर्णन करूँ? इसलिए काया-वाचा-मनसा मैं अनन्य शरण होकर तुम्हारे पास आया हूँ। सहस्र वदन शेष नाग जिसका वर्णन नही कर सकते तथा शिवजी भी जिनकी चरण-धूलि को इसलिए अपने मस्तक को झुकाकर नवाते है क्योकि वह मुक्ति प्रदायिनी है। मैं उनके प्रति अनन्य भाव से नत मस्तक हूँ।

आराध्य से सम्बन्ध प्रस्थापित करने वाला सद्गुरु के अतिरिक्त अन्य और कोई नही होता। सद्गुरु का महत्व यही है कि साधक और साध्य का अन्तर कम हो जाय और वे इनके बीच की खाई को पाट दे। रामदास के सामने यही बात थी। अत उन्होने अपने उपास्य प्रभु श्री रामचन्द्र के स्वरूप को देखा और उससे साक्षात्कार किया। आगे चलकर वे अपने इष्टदेव के स्वरूप का वर्णन करते हैं जिसे उन्होने प्रत्यक्ष अपनी आँखों से देखा है—

सगुण उपास्य का स्वरूप—

उठा प्रातःकाळ जाला। अवघे राम पाहूं चला। हा समयो जरी टळला।
तरी अन्तरला श्रीराम ॥ ध्रु० ॥
ते ते आपणां ऐसे केले। रामदास दातारें ॥

× × ×

उठोनिया प्रातःकाळीं। मूर्ति चितावी सावळीं।
शोभे योगियाचे मेळीं। हृदय कमलीं साजिरी।[1]
रामदास सर्वकाळ। कठीं वेळ ऐसाचि॥[2]

समर्थ रामदास कहते है कि चलो हम सब मिलकर प्रभु रामचन्द्रजी को देखने चले। प्रात काल के सुसमय में प्राप्त हुए ऐसे स्वर्णिम अवसर को खोना नही चाहिए। यदि ऐसा सुअवसर टल गया तो पुनः प्रभु रामचन्द्रजी नही मिल सकेंगे। सब वानर मिलकर प्रभु को घेरे हुए बैठे हैं और प्रभु रामचन्द्रजी सिंहासन पर

---

१. समर्थांचा गाथा—पद ७३, ७४, पृ० ३३—३४।
२. समर्थांचा गाथा— पद ७३—७४, पृ० ३३—३४।

विराजमान हैं। यह शोभा देखने के लिए विमानो मे देवता गणों की भीड़ एकत्र हो गई है। आकाश मे और पृथ्वी पर सब लोग प्रभु रामचन्द्र को देखने पधारे है। प्रारब्धवशात् माया रूपी जानकी अशुद्ध हो गई थी। अतः उसकी देहबुद्धि को जलाकर प्रभु ने उसका दोष सुधारकर प्रेमपूर्वक उसका स्वीकार किया। बडे सद्भाव से राम और भरत परस्पर प्रेमपूर्वक गले मिले। रघुनन्दन-जानकीनाथ की आत्मा अधीरता से विव्हल हो उठी थी। रामदास के आराध्य ने संसार के पीडितों, कष्टियो एव दीन दुखियों पर कृपा करने के लिए कृपा पूर्ण दृष्टि से उनकी ओर निहारा तथा उन सब को अपने ही जैसा बलवान और सामर्थ्यशाली बना दिया। प्रति दिन बड़े तड़के उठकर श्यामल और सुन्दर प्रभु श्री रामचन्द्रजी की मूर्ति का चितन करना चाहिए। योगियो के मेले मे प्रभु बहुत ही आकर्षक और सुन्दर दिखाई देते हैं। इस मूर्ति को हृदयकमल में प्रस्थापित कीजिए। राम का अङ्ग-प्रत्यग सुन्दर है। काञ्चनी कसे हुए पीताम्बर धारी भगवान् को अपने हृदय मे स्थान देना चाहिये। उनके चरणो में पैंजनियाँ है जो बजकर मानो उनके ब्रीदांकी घोषणा कर रही है। ऐसे रामचन्द्रजी करुणा के आगार, देवताओ के पक्ष लेने वाले, भक्तों के अन्त-करण मे रहने वाले, आनन्द राशि के रूप मे अहर्निश शोभित है। रात तापसो के आधार, पुण्यो के आकर, तथा जिसका ध्यान गौरीपति सदा किया करते हैं जो सबके आश्रय और विश्रात स्थल एवम् मूर्तिमान आनन्द स्वरूप है। रामदास सदा और सर्वत्र इसी मूर्ति को देखते हुए अपना जीवन सम्बन्धी सारा कार्य करते रहते हैं। प्रभु रामचन्द्र की मूर्ति का अत्यत सुरस और सुन्दर वर्णन समर्थ रामदास ने अगले तीन पदो को लेकर बड़ी ही मार्मिकता एवम् तत्परता के साथ किया है। यथा[1]—

राम सर्वांगे सावळा। हेम अलंकारे पिवळा।
राम योग्याचे मडण। राम भक्तांचे भूषण।
राम आनद रक्षण। सरक्षण दासाचे॥
माझ्या जिवींण्या जिव्हाळा। दीनबंधू दीन दयाळा॥[2]

ये प्रभु रामचन्द्रजी वर्ण से सांवले है तथा स्वर्णालङ्कारो से विभूपित होने के कारण आभा से युक्त एव सुशोभित है। नाना रत्नों की एकत्र दिखाई पड़ने वाली शरीर की आभा का क्या वर्णन किया जाय? पीत किरीट और भालप्रदेश पर पीला केशर सुचर्चित है। पीले वर्ण की घटाएँ निनादित हो उठी है। पीले स्वर्ण की पैंजनियाँ और पहुँची, तथा सुयशपूर्ण पीले विरूदौ के तोडर झन झनाते हैं।

---

१. समर्थाची गाथा—पद ७५,
२. समर्थ गाथा—पद ७४–

विस्तीर्ण पीतमण्डप है जिसमे पीला सिंहासन विद्यमान है। राम, सीता, और लक्ष्मण उस पर आसीन होकर उपस्थित है। रामदास इन सब का गुणगान करते है।

प्रभु रामचन्द्रजी जहाँ न हों ऐसा कोई स्थल तो बतलाए। प्रभु रामचन्द्रजी भूमडल मे, योगियो मे, नित्य-निरन्तर. बाहर और भीतर तथा सर्वत्र उनका अस्तित्व है। राम विवेक के गृह मे तथा भक्ति मे भी मिल जाते है। जहाँ शुद्ध भाव होगा वही पर तुरन्त ही रामचन्द्रजी आ जाते है। अहं भावना का विनाश राम के ही कारण होता है। राम भक्तो के भूषण, दासो के सरक्षक एवम् आनन्द के अधिष्ठाता है।

हे प्रभु रघुनाथजी! उठिये प्रात.काल हो गया है। माता कौसल्या आपको जगा रही है। ससार भर मे सर्वत्र यह मंगल प्रभात की वेला अपना सकेत दे रही है और अब सब जग पडे है। अतएव अब अपना मुखकमल सब को दिखाइये। स्वर्ण की थाली लेकर क्षमा, शान्ति, दया और जनक तनया जानकी आरती उतारने आई है। आत्मा और परमात्मा की युगल जोडी की तरह प्रतीत होने वाले भरत और शत्रुघ्न उन्मनी अवस्था युक्त होकर आ रहे है। विवेकी सद्गुरु वसिष्ठ एवम् सन्त महन्त मुनीश्वरादि हरिनाम का जयघोष करते हुए आ रहे है। सारा वातावरण हर्ष से उत्फुल्ल हो गया है। इसलिए सभी निर्भय हो गए है। सात्विक प्रवृत्ति वाले सुमत प्रधान नगर वासियो को लेकर आ रहे हैं, तो हनुमानजी रामचन्द्रजी के चरण कमल देखने के लिए पधारे है। रामदास निवेदन करते है हे मेरे जीवनाधार! दीनबधु, दीन दयाधन, भक्त जन-वत्सल, हे दयाल! मुझे दर्शन दीजिए। प्रभु रामचन्द्रजी ने रामदास की यह प्रार्थना सुन ली तथा प्रात. स्मरणीय जगत्-वद्य, जग-जीवन ने स्वानन्द रूप होकर उन्हे दर्शन दिये।

इस प्रकार प्रभु जानकीनाथ का सगुण-साकार रूप जब समर्थ रामदास ने देखा तब उन्होने चाहा कि अपने आराध्य की मानसपूजा की जाय। बाह्य पूजा मे बाह्य उपादानो, उपकरणो तथा पूजा द्रव्यो की आवश्यकता होती है। यह कभी-कभी केवल पाखड और आडबर का रूप धारण कर लेती है। अपने आराध्य को अपने अंत करण से समर्पित की गयी भाव सुमनो की मालाएँ तथा मानस के भावों का नि.शेष रूप से किया गया एकत्रित एवम्-निश्छल समर्पण ही मानसपूजा है। यह मानसपूजा सर्व श्रेष्ठ पूजा मानी गयी है। समर्थ रामदास के द्वारा की गयी मानस पूजा का स्वरूप इस प्रकार है।

सगुण ब्रह्म राम की मानस पूजा

इस मानस पूजा का वर्णन देखिए[1] —

उंच सिंहासन मृदु मृदासन। सुखें सिंहासन रे देवराया ॥
ध्यान आव्हान आसन जाण। पाद्य अर्ध्य आचमन
काही नेणे मी रामा वीण ॥
स्नान परिधान उपवीति गंध। केशर कस्तूरी सुगंध कांही नेणे मी
मति मंद धूप। दीप नैवेद्य जाण। वीडा दक्षणा नीरांजन।[2]
रामी रामदास म्हणे रामविण मी काहीं नेणे।
राम माझा जींव प्राण। कांहीं नेणी मी रामा वीण॥[3]

इस प्रकार की विस्तृत और वहुविध प्रणाली की सांगोपांग मानस पूजा अन्यत्र कही भी देखने के लिए नहीं मिलेगी। यह मानस पूजा अपने ही ढङ्ग की और अनोखी है। अपने आराध्य को कोई कष्ट न हो इसका वड़ी सतर्कता से ध्यान रखा है; ऊँचे सिंहासन पर मृदु से मृदुतर और मृदुतर से मृदुतम आसन पर अपने प्रभु को आसनस्थ होने की प्रार्थना रामदासजी करते हैं। वे आगे कहते हैं कि देखिए यह स्वर्ण मंडप है, जिसमें रत्नो के दीपक झलमला रहे है। अगणित किरणो की प्रभा फैली हुई है, जो अवर्णनीय है। नये रत्नो के जड़े गये नगीने है, जिनकी प्रभा भूमंडल पर सुन्दरता से फैल रही है। मोतियो के चंदोवे अपने तेज से चमचमाते हैं और इधर-उधर मंडराते है। उनके गुच्छो के गुच्छ लटके हुए हैं जो शुभ्रवर्ण के है। ऐसा उत्तम स्थल हे देवाधिदेव! और कहाँ मिल सकता है। इस अपार वैभव की तुलना नहीं हो सकती। रामदास ने इस तरह प्रार्थनापूर्वक उनको वैठाया और पुन. नमस्कार कर भगवान् को स्नानार्थ आमंत्रित किया। फिर आसन पर विठाकर नाना प्रकार के उवटन आदि लगाकर अनेक सुगन्धी तेलो को लगाकर स्वयम् अपने हाथों शरीर का मर्दन शुरू किया। शरीर मलते हुए यह देखा गया कि कही भी कोई मल विद्यमान नही था। नियमतः यथा योग्य पानी डालकर स्नान करवाया तथा गीले शरीर को पोंछकर दिव्य वस्त्र परिधान करवाए। इसके वाद केशर जैसे सुगंधी द्रव्य लगाए। केशर का सुरंग हो गया। अनेक प्रकार की सुगंधी पुष्पमालाएँ, सुगंधी मौक्तिक मालाएँ समर्पण कीं। अनेक आभूषण अलङ्कारादि सुन्दर-सुन्दर ढङ्ग से प्रभु श्रीरामचन्द्रजी को पहिनाए। इसके

---

१. समर्थाची गाथा—पद ७९-९२, पृ० ३८।
२. समर्थाची गाथा—पद ७९-९२, पृ० ३८।
३. समर्थ गाथा—पद ७९-९२, पृ० ३८।

बाद समर्थ रामदास ने पुन: उनको नमस्कार किया। धूप दीप जलाकर अनेक प्रकोर से अर्चना की। अनेक प्रकार के दीप मगवाकर उन्हे जलवाया तथा सुगंधी अगरबत्तियाँ भी जलाई। इससे सारा वातावरण ही सुगधयुक्त बन गया। ऐसे दीपको से तथा नीराजन से आरती उतार कर अनेक प्रकार के षडरसयुक्त पदार्थो के नैवेद्य समर्पित किये। तब भगवान् रामचन्द्र भोजन करने बैठे। भोजन के लिए अनेक प्रकार की तरकारिया, रायते, कई प्रकार के घी और मलाई से तर पच पकवान, सुगंधी खीर खाने के लिए वहाँ पर विद्यमान थे। तब अनेक प्रकार के फलो से बनाये गये मीठे पदार्थ धीमे-धीमे यथावकाश परोसे गये। दही दूध भी सुगधित था। इस प्रकार यथासाग भोजन करवाने के बाद प्रभु के हाथ धुलाये गये और उन्हे ठीक प्रकार से तकिये के सहारे विश्राम करने के लिए बैठाया गया। उनको अनेक प्रकार के फल तथा त्रयोदशगुणी पान के बीडे समर्पित किये गये। इस तरह सागोपाग पूजन करने के बाद समर्थ रामदास ने उन्हे नमस्कार किया और कहा कि मेरी यह मानस पूजा आप ग्रहण कीजिए। इस पर प्रभु ने उत्तर दिया ऐसी पूजा कर तुमने अपनी श्रेष्ठ एवम् उच्च कोटि की भक्ति ही मेरे प्रति सिद्ध की है।

समर्थ रामदास पुन: अपने आराध्य का ध्यान करते है : और कहते है कि अब पचारती ले आओ। उसे जलाओ क्योंकि अब हमारे सम्मुख राम लक्ष्मण, सीता और हनुमान उपस्थित हैं। उनको समदृष्टि से देखिए। ठीक सामने खड़े हो जाइये और राम बनकर राम को देखिए। फिर उनकी पाद्य पूजा के बाद आचमन कर सकल्प कीजिए कि मैं यह निश्चय करता हूँ कि मैं प्रभु रामचन्द्रजी के अतिरिक्त और किसी को नही जानता। स्नान, परिधान, उपवीति, गध केशर कस्तुरादि नाना परिमल द्रव्यो से अर्चनाकर कहिए कि मै मतिमन्द आपकी क्या पूजा कर सकता हूँ ? मुझे तो पूजन करने की यथायोग्य प्रविधि तक ज्ञात नही है। मेरा सब कुछ रामार्पण है। प्रभु श्री रामचन्द्रजी के सिवा मै अन्य किसी को भी नही जानता, इसलिए मत्र पुष्पादि से प्रार्थना करते हुए प्रदक्षिणा कीजिए और अपने आपको अपने सर्वस्व सहित रामचन्द्रजी को समर्पित कर दीजिए। ऐसे प्रसग में राम-लक्ष्मण तथा सीता माता के गुणगान करना और रामकल्याण राग मे नित्य गायन करना उचित होगा। प्रभु श्रीरामचन्द्रजी व्यापक रूप से सब मे विद्यमान है। रामदास कहते है कि मै रामचन्द्रजी के अतिरिक्त और कुछ भी नही जानता। मेरे प्राण और जीवनाधार प्रभु रामचन्द्रजी ही है।

उपासना का महत्व—

इस प्रकार तपस्या और साधना एवम् अर्चना करते-करते समर्थ रामदास ने

अपने ही द्वारा सुनिर्मित साधना-प्रणाली से रामोपासना चलाई। रामोपासना के महत्व को वे भली-भाँति जानते थे। इसीलिए वे गर्जना पूर्वक कहते है—

उपासनेला दृढ़ चालवावे। भूदेव सन्तासी सदा लवावें।
सत्कर्म योगे वय घालवावे। सर्वामुखीं मंगल बोलवावें॥

उपासना का आश्रय मानव का व्यक्तिगत कल्याण तो सुनिश्चित कर ही देता है किन्तु समाज कल्याण एवम् लोक हित भी उससे सम्पन्न हो जाता है। इसीलिए कहते हैं कि अपनी उपासना दृढतापूर्वक करते रहना चाहिए। इसके साथ ब्राह्मण तथा सन्तों को सदा नम्रतापूर्वक वदन करना चाहिए। अपनी आयु सत्कर्म करते हुए व्यतीत की जाय और सबके द्वारा मंगल नामस्मरण करवाया जाय।

अपनी यह मनोकामना और उपासना परिपूर्ण करने के लिए समर्थ रामदास ने चाफळ नामक स्थान मे अपने आराध्य प्रभु रामचन्द्र की स्थापना की। अपनी कल्पना के अनुसार रामचन्द्रजी को श्री क्षेत्र चाफळ मे पधराया और उस सगुण साकार मूर्ति की वे आरती करने लगे। चाफळ के उत्सव का वैभव बड़ा अपूर्व था। अपने एक वर्णन मे उसका विवेचन इस प्रकार करते हैं—

चाफळकी ऐश्वर्य पूर्ण परिस्थिति और प्रभु रामचन्द्रजी की आरती—

भवाळ कर्पुराचे। दीपरत्न किळाचे उजळले दिग्मंडळ।
मेघ विद्युल्लताचे। दिसती तैशापरी। भर चन्द्रज्योतीचे।
दाटल्या उभयहारी। फडकती ते निशाणें तडक वाजती भारी॥[1]
जाहाली अति दाटणी। पुढे पवाड कैचा॥ सर्वहि एक वेळा।
गजर घोष वाद्यांचा। शोभतो सिंहासनी। स्वामी रामदासांचा॥[2]

यह वर्णन साहित्य और काव्य की दृष्टि से अत्यन्त सरस बन पडा है। चाफळ के राम मन्दिर को श्री छत्रपति शिवाजी की राजकृपा प्राप्त थी। इसी से इतने राजवैभव का ऐश्वर्य तथा शोभा राम मन्दिर को प्राप्त हो गई थी। प्रभु रामचन्द्र की आरती के लिए कर्पुरादि वटियो का ढेर लग जाता था जिनके जलाने पर रत्नो के दीपक प्रज्वलित हो जाया करते थे। ऐसा लगता था कि मानो सारा दिग्मडल धवलीकृत हो गया हो, अथवा विद्युल्लताओ के मेघ उमड़ रहे हो। चन्द्र-ज्योतियाँ अपने अद्वितीय रूप से झलक उठती थी। उनकी ओर देखकर ऐसा लगता था कि मानों मुक्ता फलो के गुच्छ ही लटक रहे हों। हे दीनबंधु! हे दयासिंधु!

१. समर्थगाथा—पद १०१, पृ० ४१।
२. समर्थगाथा—पद १०१, पृ० ४१।

आप करुणा सागर है मैं आपकी आरती उतारता हूँ। इस आरती से हम शिवजी के भी अन्तःकरण को वेघ लेगे। जो कि नित्य आपकी आराधना किया करते है। मन्दिर मे दिव्य छत्र चामर सर्वत्र लगे हुए हैं। शंख घडियाल वज रहे है। भेरी वज रही है, मेघ अवर उसकी ध्वनि से थर्रा रहे है। दोनो ओर पताकाये फहरा रही हैं। चाफळ की नदी मे मडराने वाली मछलियों के पुच्छ चमकते है जिससे रोम-रोम थर्रा उठते हैं। मृदग, करताल आदि की ध्वनि आन्दोलित हो रही है। हरिदास कीर्तन के लिए खडे है, ब्रह्मवीणाये वज रही है। नाद का तुमुल कोलाहाल हो उठा है। साहित्य, नट नाट्य आदि रामचन्द्र के गुणानुवाद मे किये जाते है। भक्ति का भव्य रसाल रग उमड़ रहा है। नामघोप गर्जित हो रहा है। छोटे वड़े राव रंक सभी इसमे सक्रिय भाग ले रहे है। चपक पुष्प-जाति आदि असख्यादि प्रकार के सुमनो से पुष्पाजलियाँ प्रभु को समर्पण की जा रही है। नाना प्रकार के सुगधी द्रव्यो का परिमल इतना घुल-मिल गया है, कि मानों पृथ्वी ही लुप्त हो गई हो। ब्राह्मण मत्र गाकर प्रभु को रिझाते है। सव लोग देख रहे है कि वहां पर उनके चरण चिह्न प्रकट हो गये हैं। सर्वत्र आनन्द का साम्राज्य है। वे लोग वन्य हैं, जो अपने नेत्रो से यह नेत्रो का मुख प्राप्त कर लेते हैं। ऋषि कुलो से आवेष्टित ये सूर्य कुल के दाशरथी रामचन्द्रजी इतने अनुपम, इतने सुन्दर है कि उनको देखने के लिए लोगो की अपार भीड़ इकट्ठी हो गई है। इसका और अधिक क्या वर्णन किया जाय। सारे वाद्य इकट्ठे ही मिलकर वज उठे हैं तथा नाम स्मरण का घोष आन्दोलित हो उठा है। सिहासनाधिष्ठित-जगदीश-कौशल्यापुत्र-अयोध्यापति धनुर्धारी-रामचद्रजी की शोभा देखिए। समर्थ रामदास स्वामी के आराध्य की यह गरिमा मय प्रतिष्ठा है। वे आराध्य ईश्वर है और आदर्श राजा भी।

चाफळ का इतिहास प्रसिद्ध उत्सव श्री समर्थ रामदास की कृपा के आश्रय मे एक कल्पवृक्ष वन गया था तथा उसमें वारहो महीने भक्ति, ज्ञान के फल लगते थे। यहाँ मुमुक्षु, सिद्ध, साधक आदि सभी उसकी छाया मे वैठकर श्रीरामचन्द्रजी और सद्गुरु रामदास के कीर्तिगीत स्वच्छन्दता से गाते है।

सज्जनगढ़ मे शिवाजी ने रामदास को रहने के लिए वुलाया तव उन्होंने शिवाजी से कहा कि चाफळ के मन्दिर के उत्सव की व्यवस्था की जाय। शिवाजी चाफळ में आकर स्वामीजी से मिले। तव स्वामीजी ने उनसे कहा 'शिववा! तुम्हारे इस भक्ति-प्रेम के आगे हम कुछ नही कह सकते, सेवा करना चाहते हो, तो श्री रामचद्रजी के देवालय, महाद्वार, सीढियाँ और दीपमालाएँ वनवादो। इसी

घटना के पूर्व तुळजा भवानी को—प्रतापगढ़ की श्री रामवरदायिनी देवी को बीमारी के परिहार के लिए रामदास ने स्वर्ण का कर्णफूल चढ़ाया और उससे वरदान माँगा कि 'तुझा तू वाढवी राजा। शीघ्र आम्हाचि देखतां। दुष्ट सहारिले मागे उदड ऐसे ऐकितो। परन्तु रोकडे काही। मूळ सामर्थ्य दाखवी।' अर्थात् हे भवानी माता! आप अपने राजा को हमारे सामने शीघ्र ही उन्नति की एवम् उत्कर्षयुक्त स्थिति में पहुँचा दो। ऐसा प्रसिद्ध है कि आपकी शक्ति से अतीत काल मे दुष्टों का दमन किया गया है। हे माता! आपसे पुनः यही प्रार्थना है कि अपने उसी सामर्थ्य को फिर से दिखाओ।

शिवाजी रायगढ़ पहुँचकर सोचने लगे कि श्री समर्थ स्वामी की वृत्ति तो उदासीन है किन्तु पहले से ही उनकी आज्ञा हमे यह मिल चुकी है कि चाफल के श्रीरामचद्रजी का उत्सव समारोह उत्तरोत्तर उत्कर्षपूर्ण किया जाय, जैसी उसमें वृद्धि होगी उसी मात्रा में राज्य की भी अभिवृद्धि होगी। स्वामीजी की आज्ञा का पालन इस भक्त का भूषण है। सद्गुरु की कृपा से और आशीर्वादो से राज्य विस्तार होता ही है, तो भी स्वामीजी की अनुज्ञा वैभव बढ़ाने के लिए नही मिलती, अब क्या किया जाय। सोचते-सोचते उन्होने 'दत्ताजी त्रिमल' के द्वारा दिवाकर गुसाँई को पत्र लिखवाया कि शुभ अवसर पा यह बात स्वामीजी से निवेदन कर देना। वे स्वामीजी से मिले और उनके परामर्शानुसार ग्यारह ग्रामों की नियुक्ति का संकल्प हुआ और धूमधाम से समारोह किया जाय यह तय किया गया। उसके अनुसार व्यवस्था की गयी।[1]

इस तरह अब तक समर्थ रामदास के द्वारा निर्मित तत्र और साधना-प्रणाली का अध्ययन कर यह पाया कि स्वामीजी ने इसी के बल पर चाफळ के श्रीराम मन्दिर की स्थापना तथा उत्सवादि की व्यवस्था और श्री छत्रपति शिवाजी को आदेश आदि बातें निर्माण की। इसमें उनके सद्गुरु बनने के बाद के सामर्थ्य की पहिचान हमें हो जाती है। अब हम उनके अपने निजी प्रारम्भिक जीवन के बारे में कि वे पारमार्थिक क्षेत्र के साधक कैसे बने, इसे देखेगे।

जीवन का दृष्टिकोण—

रूप से सामने आ जाता है और समर्थ का अटल विश्वास और आत्मवल वचपन से कितना दृढ था इसका पता लग जाता है। यथा—

वृद्ध ते म्हणती संसार करावा। जना हाती ध्यावा म्हणूनी वरे ॥
रामदास म्हणे कथिले जें वेदी। तया मात्र वंदी उत्तर थोर ॥

× × ×

सर्वस्व बुडती ऐसी जे मातोक्ति। न घरावी चित्ती साधकांनी ॥
रामदास म्हणे शुक्र होता गुरु। परन्तु दातारु धन्य वळी ॥[1]

रामदास के युग मे लौकिक जीवन कितना जटिल और सकीर्ण हो गया था उसे देखा जा सकता है। इधर वृद्ध लोग उन्हे विवाह कर घर-गृहस्थी वसाने की सलाह देते थे। क्योकि उन लोगो का ऐसा विश्वास था, कि जिन का विवाह हो जाता है उन्हे समाज अच्छी दृष्टि से देखता है। रामदास स्वामी कहते है कि क्या कभी समाज ने किसी को अच्छा कहा है ? वास्तव मे समाज का दस्तूर यह है कि भला वही है, जो किसी को डुबो दे या पूरी तरह से लूट ले। समाज के लोग रामदास को अपनी दृष्टि से उपदेश देते है, परन्तु वे अपनी ओर से उत्तर देते है वह बड़ा जोरदार है। उनसे लोगो ने कहा क्यो ईश्वर प्राप्ति के मार्ग को अपनाते हो ? इससे अच्छा यह है कि विवाह कर घर वसाओ। गृहस्थ वनकर नैवेद्य, वैश्वदेव, अतिथि भोजन आदि कार्य करने पर यदि एक ओर कुछ दोप भी उत्पन्न हो गये हो, तो उसका परिहार हो जाता है। ये सव वाते समर्थ को अच्छी न लगी और उन्होने कहा वाल्मीकि क्या मूर्ख थे, जो उन्होने यह सव छोड-छाडकर भगवद्-भक्ति का मार्ग अपनाकर मुक्त हो गये। वेद इत्यादि के द्वारा जिस मार्ग का समर्थन किया गया है उसी का निपेध ये समाज के तथाकथित प्रतिष्ठा प्राप्त लोग किया करते है। यह कितने आश्चर्य की वात है ? जननी भी यही कहती है कि जो विवाह नही करते, उनका सर्वस्व नाश होता है। किन्तु साधको को ऐसी उक्तियो की विलकुल पर्वाह नही करनी चाहिए। यदि यही सत्य मान लिया जाय तो भरत क्या मूर्ख थे जो रामभक्ति के कारण अपनी माता को त्याग देते है। क्या दैत्येन्द्र के पुत्र प्रल्हाद ने अपने पिता को त्यागकर बडी भूल की ? गोविन्द से स्नेह का नाता जोडना क्या अधर्म है ? रावण जैसे लकाधीश एवम् अपने ज्येष्ठ भ्राता को विभीषण जैसे भक्त ने त्याग दिया और भक्ति भाव से प्रभु रामचन्द्र से सम्वन्ध जोडा यह क्या सत्कर्म नही है ? रामदास कहते हैं, कि शुक्राचार्य जैसे विद्वान और वली गुरु को त्यागकर दैत्यों के राजा बलि ने भक्ति के कारण दानी बनकर अपना

१. समर्थाचा गाथा—पद २२७, २२८, पृ० ७४।

सत्पथ नही छोड़ा। तात्पर्य यह है कि अपने साधना पथ से विचलित करने वाली या डिगाने वाली अनेक बाते एवम् विरोध सामने आने पर भी साधक को अपना भक्तिपथ नही त्यागना चाहिए, वरन् अन्य बातों को त्याग देना चाहिए। कलियुग मे साधना करने की सहज और सरल युक्ति एवम् उपाय समर्थ रामदासजी के द्वारा यही बतलाई गयी है।

भक्ति का महत्व—

इस प्रकार से भक्ति मार्ग का समर्थन कर उन्होने यह निश्चय कर लिया कि वे इसी मार्ग का अनुसरण करेगे। उन्हें यह ज्ञात था कि उपासना मार्ग सीधा-साधा मार्ग नही है। प्रत्युत बहुत कठिन और कटको से भरा हुआ है। उसकी भयानकता और चंचलता से ऊबकर वे अपनी बात करुणापूर्ण वाणी में भगवान् से प्रकट कर देते है—

घडी घडी बिघडो हा निश्चयो अन्तरीचा।
म्हण बुनि करुणा हे बोलतों दीन वाचा॥[1]

मनका चापल्य प्रयत्नपूर्वक हटानेका प्रयत्न करने पर भी नही दूर होता और सकल स्वजनो की माया नही छूट पाती। मैं पुन पुन. निश्चय करता हूँ कि हे प्रभु रामचन्द्रजी आपकी भक्ति करूँगा। परन्तु मेरा निश्चय ढीला पड जाता है अतएव हे प्रभो! मैं करुणा से यह दीन वचन आपको सुनाता हूँ कि मेरा निश्चय अटल रखो और उपासना मार्ग पर मुझे स्थिर कर दो।

मन की चंचलता भगाने का उपाय—

समर्थ रामदास मन की चचलता को अच्छी तरह समझते थे। भगवद्-कृपा ही इस चचलता से मुक्ति दिला सकती है, इसका अटूट विश्वास उनमें था। इसी बात को अनेक रूपकों द्वारा वे प्रकट करते है। यहाँ पर मन को पंछी के रूपक से वे समझाते है[2] —

पक्ष नाहीं परी मान उडे। आकाश थोडे गती लागी॥
न कळे वो माये पाखरु सावज। रूपाचे विवज जाणवेना॥
रामी रामदास विनवि अवधारा। माणसाचा चारा तया लागी॥

किसी के भी सहज पकड मे न आने वाला मन होता है जो स्वभावत: चचल हुआ करता है। इसीलिए समर्थ अपने आराध्य से अपनी बात यो बतलाते है कि

---

१. रामदासवचनामृत—करुणाष्टक श्लोक ५ के अन्तिम दो चरण, पृ० १८२।
२. समर्थाची गाथा—पद ६६०, पृ० २६८।

मन एक ऐसा पछी है जिसके पख नही है, परन्तु फिर भी यह वहुत ऊँचे उडता है। इसकी गतिशीलता इतनी तेज है, कि आकाश भी उसे अपूर्ण एवम् अधूरा जान पडता है। लक्ष्य वनाकर इसे पकडना इसलिए कठिन है क्योकि वह अति चचल है। इसका वास्तविक रूप समझ मे आ ही नही सकता। विचित्रता यह है कि अपने भक्ष्यार्थ यह पछी मानव को चुनता है। मानव ही इसका भोजन है। अतः हे दयाधन रामचन्द्रजी! अपनी शक्ति से इस चचल और पकड़ मे न आने वाले पक्षी को रोक लो।

नोटः—ऐसे रूपको की समर्थ-साहित्य मे कमी नही है। रामदास स्वामी की आध्यात्मिक काव्य साधना कितनी वलशाली और पैनी थी इसकी कल्पना हमे मिल जाती है। समर्थ की भाषा गद्य की शैली से युक्त है, तथा उसमें लालित्य और नाद माधुर्य नही है इत्यादि आक्षेप उनके साहित्य के वारे मे लिए जाते हैं, परन्तु वास्तव मे ऐसा नही है। उनकी अटपटी वाणी सर्वत्र वैसी नही है। उसमे लालित्य, ओज, नाद, माधुर्य अनेक काव्योचित वाते यत्र-तत्र मिल जाती है।

समर्थ रामदास ने मानव और ससार के पारस्परिक सम्वन्ध की वास्तविकता को ठीक समझ लिया था। अज्ञानी मानव अपने छोटे से अल्पज्ञान पर कितना अहकारी वन जाता है इसका सुन्दर विवेचन यहाँ पर रामदास स्वामी एक सर्प के रूपक द्वारा प्रस्तुत करते है। यथा—

सर्प रूपक :

मानव और ससार का सम्वन्ध—

होता अज्ञानाचे विळीं। डसला देह भाव अंगुळी॥
अहविश्व डसला व्याळ। वैद्य पाचा रा गोपाळ॥
उगवतां दिवसी डसला तोंडी। चढता वळतसे मुरकुण्डी॥
सुखदुखाचिया जाण। लहरी येताति दारुण॥
विषय निंव लागे गोड। धन्य हरिनामाचे कडू॥
वरिवरि हात झाडुनी काय। आभ्यंतर शोधुनि पाहे॥
रामदासा नित्य उतार। जवळी वैद्य रघुवीर॥[1]

रामदास कहते हैं यह सर्प अज्ञान के विल मे था जिसने वाहर आकर देह भाव रूपी उगली को डस लिया, तथा उस स्थान पर अहंकार रूपी विप उगल दिया। उस व्याल के भयकर विप से मुक्त होने के लिए गोपाल वैद्य को ही

१. समर्थाची गाथा—पद ६६६, पृ० ३०१।

वुलाना पड़ेगा। इस विप को वही उतार सकता है। प्रथम तो रात्रि के अन्धकार मे इस भयंकर व्यालने डस ही लिया था। अव दिन के उजाले मे पुन. उसने मुँह पर ही डस ही लिया। परिणामतः उसका विप सर्वत्र व्याप्त हुआ और लहरे आने लगी। इस विष के चढने पर आदमी लड़खड़ाने लगा। मानव अपने जीवन मे अहंकार के कारण और अज्ञान के नशे मे आकर अपनी स्थिति इतनी जर्जर और दयनीय वना लेता है कि सचमुच वह डाँवाडोल होने लगता है। रामदास स्वामी का यह वर्णन कितना यथार्थ और सटीक है। सुख और दुख की दारुण लहरे आकर वड़ी दारुण और हृदय विदारक परिस्थिति उत्पन्न कर देती है। इस विप-सिक्त अवस्था में उस व्यक्ति को विषय रसो का कडुवा नीम मीठा लगता है, तथा वह विषयासक्त होकर उसमे अधिकाधिक लिप्त हो जाता है। हरि नामस्मरण का मीठा अनाज उसे कटु लगने लगता है। अव ऊपरी तौर पर हाथ पैर पटकने से क्या हो सकता है? अन्त करण पूर्वक भगवान् को पुकारना चाहिए। तभी उपाय संभव है। समर्थ रामदास ने वतलाया है कि दोनो वार डसे गये विप का परिणाम वड़ा भयानक होता है. परन्तु उन पर विपो का कोई प्रभाव नही पड़ता। क्योंकि पास ही रघुनाथजी जैसे निष्णात वैद्य वैठे हुए है, जो इन विपो का उपाय करना जानते हैं। सच है संसार मे विपयासक्त वनकर मानव उसी मे लिप्त हो जाता है और अध पतन के -गर्त मे चला जाता है। परिणामतः उल्टी-सीधी वाते करने लगता है। प्रभु रामचन्द्रजी का आश्रय लेना ही इससे सम्पूर्ण छुटकारा प्राप्त करना है।

अपने मनोवोध मे समर्थ रामदास इसीलिये चेतावनी देते है[1]—

समर्थ रामदास की अपने मन को दी गई सार्थक चेतावनी—

खरे शोधिता शोधिता शोधिताहे।
× × ×
जगीं धन्य तो मारुती ब्रह्मचारी ॥

सत्य की खोज तथा पहिचान खोजकरके ही उपलव्ध हो जाती है। खोजी को सदा सत्य की खोज मे तत्पर रहना चाहिए। मन को इसी तरह उद्-वोधन एवम् उपदेश करना चाहिए। वार-वार मन को उपदेश करने पर एक संस्कार उस पर हो जाया करता है। सज्जनो की सगति से और सहयोग से अच्छा निश्चय सानुराग परिपूर्ण हो जाता है।

समर्थ रामदास ने आजन्म ब्रह्मचारी रहने की प्रतिज्ञा की और वैसा वरतने लगे। पर काम उनको सताने लगा तव स्वानुभूति से उनको यह ज्ञात हुआ कि जो

१. मनाचे श्लोक रामदासकृत श्लोक संख्या १५१ और ८७।

मुख से सदा राम नाम जपता है उसे काम किसी भी प्रकार से बाधा नही पहुँचा सकता। काम वासना कभी भी उपभोग से शमित नही होती वरन् बढती है। परन्तु समर्थ रामदासजी का समर्थ उपाय प्रभु रामचन्द्रजी का नामस्मरण ही है। काम भावना का सुस्पष्ट संस्कार के द्वारा किया गया यह उदात्तीकरण 'फ्रायड वादियो' के लिए एक चुनौती ही हैं। समर्थ रामदास की यह सुस्पष्ट घोषणा कि जो हरिभक्त हैं, उनके पीछे समर्थ भगवान् का वरद हस्त होने से वे कामवासना को मार सकने मे समर्थ हो जाते हैं। इसीलिए ब्रह्मचर्यके आदर्श रूपमे उन्होने हनुमानजी को अपने सामने रखा था। अपने जीवन मे उन्होने हनुमानजी को प्रत्यक्ष आत्मसात कर लिया है। तात्पर्य यह है कि वे स्वयम् हनुमानजी की ही तरह ब्रह्मचारी है। नाम जपने वाला नामी के गुणो से इष्ट और अभीप्सित धैर्य से सम्पन्न रहता है। अतः वे धैर्य से कभी विगलित नही होते। हरिभक्त और आदर्श ब्रह्मचारी बजरग-बली इसलिये ससार मे वरेण्य है और धन्य हैं। इस प्रकार समर्थ ने सत्य की अर्थात् राम की खोज की। इस खोज मे वे अध्यवसाय करते रहे। इस अध्यवसाय मे वे अपने हृदय मे राम के प्रति आस्थापूर्ण प्रेम सहित जागरुक और पूरे सतर्क थे। साधनापथ मे गलती सम्भाव्य है। अत. गलती बार-बार हो जाने पर भी उसे पुन. पुनः सुधारकर प्रेम पूर्वक राम की साधना मे दत्त चित्त हो जाते है। इस प्रकार प्रत्यक्ष साक्षात्कार से प्रतीति के साथ किया गया पारमार्थिक अनुभव जब उन्हे होता है, तब उसमे रामचन्द्रजी के लिए मिलन की बेचैनी जग पडती है तथा वे आत्मीयता से उन्हे पुकारने भी लग जाते है।

भक्त भगवान् का सम्बन्ध—

समर्थ का आत्मीयता से अपने आराध्य को पुकारना—

देवराया धावारे। धावारे। धावे देवराया ॥ध्रु०॥
अहिल्या कष्टली बनी। बोले करुणावचनीं।
× × ×
रामदास म्हणे भावे। ब्रीद तरी सांभाळावे ॥[1]

यहाँ पर इस पद मे प्रसग अहिल्या का है, जो अनेक शतकों तक शापवश पत्थर होकर कष्ट भोग रही है। उसकी प्रभु को बार-बार करुणापूर्ण वाणी में पुकारने वाली भावना को समर्थ ने अच्छी तरह समझ लिया है। भक्त भी इसी तरह करुणापूर्ण भावना से अपने आराध्य को पुकारता है। अन्तःकरण की भावावस्था दोनो की तुलनीय और स्पृहणीय है। समर्थ रामदास अपनी कविता मे

१ समर्थाचा गाथा—पद १०३१, पृ० ३१०।

अहिल्या की भावना से समरस होकर कहते है, कि शापदग्ध अहिल्या शिला बनकर वन मे अनेक जन्मों से कष्ट पा रही थी। वह करुणा भरे वचनों मे बोली कि हे दयाघन ! मैं तो दीन अनाथ बनकर आपको आर्त अन्तःकरण से पुकार रही हूँ। आप समर्थ और दीनानाथ है। हे दयानिधि ! आपके सिवा मेरा उद्धार कौन कर सकता है ? मेरे आन्तरिक भावो को पहिचान केवल आपको ही हो सकती है। अत: शीघ्र दौडकर आ जाओ। रामदास भी मानो उसके साथ समरस होकर कहते है कि हे प्रभु रामचन्द्रजी ! दीनो का रक्षण करने का आपका विरद है अत: आप अहिल्या का उद्धार अवश्य करे। भाव पूर्ण वचनो से समर्थ रामदास रघुनाथजी की पुनः पुनः प्रार्थना करते है।

समर्थ के आध्यात्मिक पक्ष का रहस्य—

समर्थ रामदास की आध्यात्मिकता का पक्ष विवेक-वैराग्य-सम्पन्न तथा प्रवृत्ति मूलक कर्तव्यों को स्वधर्माचरण मे दक्ष करने वाला और मूलतः सर्वान्तिर्यामी भगवान् रामचन्द्रजी का अधिष्ठान सदा जागरुक रहते हुए मूलत: निवृत्तिपरक मार्ग की ओर उन्मुख करने वाला है। जीवन के लक्ष्य को मोक्ष और कर्म बधन से निवृत्त मानकर आध्यात्मिक क्षेत्र के सिद्धातों का प्रतिपादन करने वाले प्राय. विवेक का महत्व भूलकर केवल वैराग्य की वाते करते है। समर्थ रामदासजी कुशाग्र बुद्धि और चतुर थे इसलिए उन्होने समन्वयात्मक दृष्टि से स्वधर्माचरण मे जीव को कर्तव्य दक्ष रखकर भगवान् के अधिष्ठान का सामर्थ्य प्रदान कर निवृत्ति परक लक्ष्य की ओर अग्रसर किया। सदाचार सम्पन्नता और आत्मसाक्षात्कार से जीव ब्रह्मानुभूति करने के लिए निपुण और दक्ष बन गया। रामदासजी की यह सर्वोत्तम सफलता मानी जा सकती है। परमार्थ-सम्पन्न, वैराग्य-प्रवण, विवेक-तत्पर करने वाले समर्थ का आध्यात्मिक पक्ष अत्यंत स्पृहणीय और प्राणवान् है।

सप्तम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक-पक्ष

सप्तम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का आध्यात्मिक पक्ष

महात्मा कबीर के साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष :

कबीर की वैष्णवता—

कबीर वैष्णवों में एक आदर्श वैष्णव माने जाते हैं। उनकी वैष्णवी विशेषता उनकी बाह्य वेषभूषा एवं उनके परिवेश पर आधारित न होकर आचरण-जन्य व्यवहार तथा उनमें अन्तर्भूत सन्तों के गुणों पर आश्रित है। विवेक, वैराग्य, निरहङ्कार प्रवृत्ति, सत्संग और अहिंसादिभाव कबीर में व्यक्तिगत रूप से और उनके द्वारा अभिव्यजित साहित्य में दृग्गोचर हो जाते हैं। वैष्णव-धर्म में मूल रीति से निम्नलिखित तत्व पाये जाते हैं—१. आस्तिकता अर्थात् ईश्वर की कल्पना तथा अपने आराध्य के साथ व्यक्तिगत सम्बन्ध। २. भक्ति की भावना एवम् आत्मसमर्पण कर देने की तत्परता। अपने उपास्य की उपासना एवम् तत्सम्बन्धी आचरण प्रणाली। ३. अहिंसा की भावना किसी को भी किसी प्रकार का कष्ट न हो यह जागरुकता। ४. धार्मिक उदारता एवम् सहिष्णुता जिसमें अन्य धर्मों के प्रति उदारता का दृष्टिकोण अर्थात् उनके विचारों के साथ सहिष्णुता का व्यवहार।

कबीर में ये चारों बातें उनके निजी आचरण में तथा उनके चिन्तन में हम पाते हैं। वैसे कबीर की प्रतिज्ञा प्रसिद्ध ही है—'मसि कागद छूयो नहिं कलम गही नहीं हाथ।' परन्तु इसका अर्थ यह नहीं लिया जा सकता कि कबीर में अध्ययनशीलता न थी। सत्सङ्ग का माहात्म्य वे जानते थे, इसीलिए अनेक साधु संतों के साथ रहकर विचार विमर्श तथा चर्चा से उनमें बहुश्रुतता पर्याप्त मात्रा में आ गई थी। इसीलिए केवल पढने वाले मूर्खों की उन्होंने आड़े हाथों खबर ली है।

यथा—

> कबीर पढिवा दूरि करि, पुसतग देहु वहाइ।
> बावन आखिर सोधिकै, ररै ममैं चितलाइ ॥[१]
> पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पंडित भया न कोइ।
> एकै आखर प्रेमका, पढ़ै सो पंडित होइ ॥

कबीर का मत है कि पढने का परिश्रम छोड़ देना चाहिए। और पुस्तकोंको

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १ और ३, पृ० २४१।

वहा देना चाहिए। बावन अक्षरो मे से खोजकर 'रा' और 'म' का मर्म ध्यानपूर्वक चित्त मे लाना चाहिए। जीवन में अनुभव ही महत्वपूर्ण होता है क्योकि केवल पुस्तकाध्ययन व्यवहारशून्य बना देता है। कबीर ने अपने अनुभव के आधार पर ही यह धारणा बना ली थी, कि बड़े-बडे ग्रन्थो को पढ़कर कोई पण्डित नही बन सका है। प्रेम का एक अक्षर जो पढ़ लेता है उसे ही पंडित कहना चाहिए। प्रेम कभी क्षर नही होता और सर्व साधारणतः लोग इसी बात के मर्म को भूल जाया करते है। स्मरण रहे कि यह प्रेम भक्त और भगवान् के बीच का है। यहाँ आशय लौकिक प्रेम से नही वरन् अलौकिक प्रेम से है। कबीर मानव का सम्बन्ध अलौकिक और अनन्त ईश्वर से जोडते है। राम के साथ प्रेम एवम् भक्ति महत्वपूर्ण है।

अनुभूति की सत्यता का आधार कबीर की बानियो मे होने से कबीर जैसे सत्यान्वेषणी जो कुछ भी निर्भीकता से कह देते हैं, वह सार्वकालिक सत्य की भाँति अन्त करण मे अंकित हो जाता है। कबीर ने जीवन सम्बन्धी, जगत् सम्बन्धी और जगदीश सम्बन्धी कुछ निश्चित धारणाएँ बना ली थी जिनको समझकर हम उनकी दार्शनिकता का स्वरूप जान सकेगे।

कबीर की मान्यताएँ—

कबीर ने अपनी मान्यताएँ जिस स्वरूप मे निश्चित की हैं वे उनकी बुद्धि और भावना की कसौटी पर खरी उतरने पर ही प्रतिष्ठित हुई हैं। कबीर की साधना आत्मसाक्षात्कारी है और प्रेम की माधुरी से भरी हुई है। अपने इस अलौकिक और स्वसवेद्य प्रेम के बारे मे उनका यह निवेदन है—

> **अकथ कहाणी प्रेम की कछू कही न जाइ।**
> **गूंगे केरी सरकरा, बैठे मुसकाई ॥[1]**

प्रेम की यह अकथनीय एवम् अनिर्वचनीय कहानी ऐसी नहीं है, जिसे सब कोई मनमाने ढङ्ग से अथवा दिलचस्पी लेकर कह दे। यह तो अकथनीय है। यह गूंगे की शर्करावत् अनुभूति है। गूंगा शर्करा की मिठास का आनन्द लेकर बैठे-बैठे मुसकाता रहता है। इस तरह कबीर की साधना प्रणाली मे कठोर व्रती बने हुए कर्मण्यता की विशेषता है। निस्पृहता और समदर्शिता से ही यह सम्भव है। पर इस मार्ग पर आने वाले साधक के लिये सद्गुरु और ज्ञान के प्रकाश की नितात आवश्यकता रहती है। जब तक इस मानव शरीर को पाकर किसी व्यक्ति ने परमात्मा से प्रेम नही किया तब तक उसका जीवन एकदम निरर्थक-सा है। यथा—

---

१. कबीर ग्रंथावली—श्यामसुन्दरदास पद १५६, पृ० १२९।

प्रेम भावना—

कबीर प्रेम न चाखिया, चाखि न लीया साव ।
सूने घर का पाहुनां ज्यूं आवै त्यौं आव ॥
× × ×
नैना नीझर लाइया, रहत वहै निसयाम ।
पपिहा ज्यों पिउ पिउ करौं, कबरे मिलहुगे राम ॥[1]

कबीर कहते है कि जब तक इस अलौकिक प्रेम का दिव्य आस्वाद नही लिया, तब तक ऐसा ही समझिए जैसे सूने गृह मे कोई अतिथि आया और चला गया। वस्तुत ऐसे प्रेमी की स्थिति तो यह हो कि उसके नेत्रो से नित्य आंसुओं की झडी बह रही हो और दिन-रात मुँह से राम नाम निकल रहा हो। जिस प्रकार पपीहा पीऊ-पीऊ की रट लगाता है, वैसे ही जीवात्मा-साधक परमात्मा के विरह मे छटपटाता रहे तो अच्छा है। अपने प्रिय को देखने की—मिलने की अतीव उत्कंठा उसमे होती है। कबीर भाव-भक्ति को अपने मे ले आने के लिए कटिबद्ध है। उनके सामने 'नारदी भक्ति' का आदर्श है। वैष्णव भक्ति को अपनाकर भी कबीर निर्गुण निराकार से उसे जोडकर राम मे ही अल्लाह को देख सकने की विशेषता रखते हैं। कबीर की दृष्टि से आत्मा और परमात्मा अद्वैत है। इसी तत्व से वे अभिन्न भी है। इस अनुभूति की प्राप्ति के लिए भगवान् के प्रति भक्त का आकर्षण भक्ति से ही सिद्ध होता है। पर यह भक्ति भगवद् कृपा पर निर्भर है। भवसागर से तर जाना आसान कार्य नही इसे वे अपने एक पद मे यो व्यक्त करते है—

कैसे तूं हरि को दास कहायौ करि बहु भेषर जनम गंवायो ॥टेक॥
सुध बुध होइ भज्यो नहिं सांई काछ्यौ उयंभ उदर कैतांई ॥
हिरदै कपट हरि सूं नहि सांचौ, कहा भयौ जे अनहद नाच्यौ ।
झूठे फोकट कछू मंझारा, राम कहै ते दास नियारा ॥
भगति नारदी मगन सरीरा, इहि विधि भव तिरि कहै कबीरा ॥[2]

तू अपने को हरि का दास कहलाता है, जबकि पूरा जन्म तूने अनेक प्रकार के वेष परिवेश धारण करने मे ही व्यतीत कर दिया। सुध-बुध रहते हुए तूने अपने स्वामी का भजन नही किया किन्तु दंभ को अपने गाठ मे बाँध लिया। जब तक हृदय मे कपट है, तब तक सचमुच हरि से साक्षात्कार सम्भव नही है ऐसा ही मानना पड़ेगा और केवल बाह्याचार से अनहद नाद सुनाई भी पड़ा तो उसका क्या

---

१. कबीर ग्रंथावली—पारसनाथ तिवारी साखी ४६ और ४८, पृ० १४७।
२. कबीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद ३, पृ० ४।

मूल्य है ? भगवान् विना निष्कपट के प्राप्य नही है। ऊपरी आडवरों और पाखडो को कवीर कोई महत्व नहीं देते। कवीर कहते है कि इस कलियुग में झूठे और मुफ्तखोर वहुत है। वस्तुतः जो राम का नाम स्मरण करते है ऐसे हरि सेवक भगवान् के निकट है। वास्तव में नारद की भक्ति ही ऐसी भक्ति है जो मग्न होकर की गई है। उसी तरह तू भी करे तो तेरा भी इस भव सागर से उद्धार हो जायगा।

प्रश्न यह है कि क्या साधक अपने से ही सही रास्ता पा लेगा ? कवीर के पास इसका भी उत्तर है और वह यह है—

सदगुरु ही एक मात्र साधन—

गुरबिन दाता कोइ नहीं, जग मांगन हारा।
तीनो लोक ब्रह्माण्ड में सबके भरतारा ॥टेक॥
अपराधी तिरथि चले तीरथ कहा तारैं।
काम क्रोध मल भरि रहे, कहाँ देह पखारैं ॥१॥[1]
कागद की नौका बनी, विचि लोहा भारा।
सबद भेद बूझे विनां बूड़ें मंझ-धारा ॥
कहै कवीर भूलो कहा कह ढूंढ़त डोलैं।
विन सतगुर नहि पाइए घट ही में बोलै ॥[2]

सद्गुरु के विना कोई दाता नही है। इस ससार मे यदि मागना हो तो सद्गुरु से ही मांगना चाहिए। त्रैलोक्य और ब्रह्माण्ड में सबके उद्धारकर्ता यदि कोई हो सकते हैं तो एकमात्र सद्गुरु हैं। अपराधी यदि तीर्थो मे जाकर तीर्थ यात्रा इत्यादि करता है तो क्या तीर्थ उसको दोष से मुक्त कर देंगे ? जव तक काम, क्रोध, मोह, मदादि मलो से शरीर भरा हुआ है तव तक देह प्रक्षालन का क्या मूल्य है ? अन्तस् की शुद्धि आवश्यक है यदि वह नही हुई है तो सारे प्रयत्न वैसे ही सिद्ध होंगे, जैसे कागज की नौका में लोहे का वोझ ढोने का प्रयत्न करना। शब्द का रहस्य विना जाने मँझधार मे गोते लगाते रहना पड़ता है। कवीर कहते है कि हे जीवात्मा तू कहाँ भूलकर भटक गया है, तथा क्यों व्यर्थ ही ईश्वर को सर्वत्र खोज रहा है ? सद्गुरु के विना तुझे उसका रहस्य ज्ञात नही हो सकता। वह तो घट मे ही है और घट से ही वोलता है। अतएव वे आगे चलकर समझाते हैं—

१. कवीर ग्रंथावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २ और १३, पृ० १३५–३६।
२. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २ और १३,
पृ० १३६–१३६।

सद्गुरु महिमा—

सतगुर सवां न को सखा, सोधी सई न दाति ।
हरिजी सवां न को हितु, हरिजन सई न जाति ।
सतगुरु हमपर रीझिकरि, कहा एक परसग ।
बरसा बादल प्रेम का भीजि गया सब अग ।।[१]

सद्गुरु के समान सखा, मित्र एवम् आध्यात्मिक मार्ग के सावनो का प्रदाता कोई नही है, इसे चाहे तो ढूँढकर देख लीजिए। भगवान् के समान कोई आराध्य और भक्त की तरह कोई जाति नही है। अच्छा ही हुआ जो गुरु मिल गए अन्यथा वडी हानि हो जाती। जैसे पतिगा दीपक की ज्योति पर आकृष्ट होकर झपटता है और अपने को जला बैठता है, उमी तरह विना गुरु के हमारी भी यही स्थिति हो जाती है। सद्गुरु की महिमा अनन्त है और उन्होने मुझ पर अनन्त उपकार किये है। मुझे ज्ञान देकर उस मर्वव्यापी परब्रह्म को देखने की दृष्टि हृदय के नेत्रो को खोलकर प्रदान की है। सद्गुरु ने हम पर रीझकर एक ऐसा मार्मिक प्रसग तत्वान्वेपरण का छेडा जिससे भगवान् की भक्ति का बादल हम पर आकर बरस पडा जिससे मेरे सारे अग भीग गए। सद्गुरु के प्रति अपार और सहज कृतज्ञता के भाव कबीर जैसे साधक ने यहाँ पर प्रकट कर दिए है। कहा जा सकता है कि कबीर की साधना वैयक्तिक पुरुषार्थ, सयम और विवेकाश्रित है। गुरु ने कबीर जैसे साधक को परब्रह्म से साक्षात्कार कर सिद्ध बन जाना सिखाया। उसके प्रेम मे छककर वे वार-वार उसके विरह की अनुभूति करने लगते है।

उपास्य की चाह—

सर्वव्यापी, अनन्त, ईश्वर, राम अल्लाह को प्राप्त करने की चाह प्रेमी कबीर मे वडी तीव्र गति से विद्यमान है। देखिए—

चकई बिछुरी रैनिकी, आइ मिले परभाति ।
जे नर बिछुरे राम सो, ते दिन मिले न राति ।।
बिरहा बिरहा मति कहौ, बिरहा है सुलतान ।
जिंहि घटि बिरह न सचरै, सो घट सदा मसान ।।[२]

चक्रवाकी रात्रि समय मे चक्रवाक से बिछुड गई है। प्रभात आने पर वह चक्रवाक से मिलेगी। परन्तु जो नर राम मे विछुड़ जायेगे उनके लिए न तो दिन है

१. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २५–३४, पृ० १३९–४०।
२. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी २–४ तथा २–१६, पृ० १४३।

न रात। उनके विरह की व्यग्रता का कितना दारुण वर्णन है। राम के विरह की सच्ची आग जिनके अन्त.करण मे जाग पड़ी है वे धन्य हैं। कवीर इसीलिए कहते है कि विरही भगवान् की कोई खिल्ली न उड़ावे। वास्तव मे भगवद्-विषयक रति, स्नेह आदि भावनाएँ हृदय मे उत्पन्न होना ही कठिन है। अतएव जिन साधको के अन्तःकरण मे भगवान् को प्राप्त करने की तीव्रता है, जो उनके विरह मे दु ख-कातर है उनकी विरह भावना को बुरा नही कहना चाहिए। क्योकि वह तो सव तरह से सर्वश्रेष्ठ भावना है। वास्तव मे जिस मानव के अन्तःकरण में यह भावना उत्पन्न ही नही होती उसको स्मशानवत मानना चाहिए। कवीर की यह चेतावनी सार्थ और समीचीन ही है।

ब्रह्म का स्वरूप—

कवीर जिसके विरह मे इतने वेचैन रहते है, उस राम का स्वरूप भी देख लेना उपयुक्त होगा। रामानन्द के द्वारा प्रदत्त आध्यात्मिक ज्ञान से कवीर ने रामके निर्गुण अलख स्वरूप में मन रमाया। कवीर का प्रियतम 'राम' किसी सीमा में वद्ध नही है, क्योंकि वह ब्रह्म अगम, अगोचर, अपार और सवसे अलग है। यथा—

> नाद विंदु ते अगम अगोचर पाँच तत्व ते न्यारा।
> तीन गुनन तैं भिन्न है पुरुख जो अलख अपारा॥
>
> —कवीर।

यह ब्रह्म इन सवसे परे है अत उसका वर्णन कैसे सभव है? कवीर की व्यग्रता दर्शनीय है—

> भारी कहौं तो वहु डरौं, हल्का कहौं तो भूठ।
> मै का जानों रामकूँ, नैनां कवहूँ न दीठ॥[1]
>
> × × ×
>
> निरगुन राम जपहु रे भाई।
> अविगत की गति लखी न जाई॥
> कहै कवीर सो भरमे नाहीं। निज जन वैठे हरि की छांही॥[2]

कवीर का यह ब्रह्म, नाद, विंदु, पाचतत्वो से परे और न्यारा है, तथा तीनों गुणो से भिन्न, अपार अलक्षित पुरुष है। उसको भारी कहना भयावह है। हल्का कहना सरासर भूठ है। अतः वे कहते हैं कि जिसे मैंने नेत्रो से कभी नहीं देखा, उस राम को मैं कैसे जान सकता हूँ? कवीर का यह तर्क अकाट्य है। इसीलिए

१. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी ६, पृ० १६३।
२. " " पद १६३, पृ० ८६।

निर्गुण राम का जप करो यही उनकी घोषणा है। अविगत की गति ससीम से कैसे लखी जा सकती है? चारों वेद, स्मृतिया और पुराण तथा भाषा-शिक्षा, व्याकरण आदि कोई उसका मर्म नही पा सकते। शेष नाग, गरुड जैसे वाहन, तथा चरण चाँपने वाली कमला तक इस रहस्य से अनभिज्ञ रही। परन्तु कबीर भ्रम मे नही पडे वरन् हरि की कृपा छाया मे उनके भक्त बनकर बैठे हुए हैं।

औपनिषदिक ऋषियो का अवाङ्मनस-गोचर-ब्रह्म और कबीर के ब्रह्म मे कोई विशेष अन्तर नही दिखाई देता। 'माण्डूक्य उपनिषद' मे ब्रह्म के बारे मे यह बतलाया है—

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्।
सकृद्विभात सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥[1]

यह ब्रह्म जन्म रहित, (अज्ञानरूप) निद्रा रहित, स्वप्नशून्य, नामरूप से रहित नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है, उसमे किसी प्रकार का कोई कर्तव्य नहीं है। उसका स्वरूप स्पष्ट रूप से यों घोषित है—

नाना प्रज्ञं न वहिष्प्रज्ञ नोभयतः प्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम्।
अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यम् लक्षणमचिन्त्यम् व्यपदेश्यमेकात्मप्रत्यय ॥[2]
सारं-प्रपंचो पशमं शान्त शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

विवेकी जन तुरीय ब्रह्म को ऐसा मानते है कि वह न अन्तः प्रज्ञ है, न वहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्वहिः) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और अप्रज्ञ है। बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्म, प्रत्ययसार, प्रपच का उपशम, शान्त, शिव और अद्वैत रूप है। वही आत्मा है और वही साक्षात् जानने योग्य है। उनका कोई लक्षण नही है और न वह पकड़ मे आ सकता है।

कबीर का राम कुछ इसी प्रकार का है जिसकी वे अपने मन मे धारणा बनाते हैं। इसलिए उसे 'सैना वैना' से कैसे समझाया जा सकता है। ब्रह्मानुभूति तो कबीर कर लेते हैं पर उसे प्रकट कर लक्षण सहित कैसे व्यक्त करे? गूँगे की शर्करा का आस्वाद गूँगा ही जानता है। निश्चित वह दाशरथी राम नहीं है क्योकि 'दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना। राम नाम का मरम है आना', मानने वाले कबीर उसकी अनुपमता अपने ढङ्ग से इस प्रकार बतलाते हैं—

१. माण्डूक्योपनिषद श्लोक ३६, पृ० १७३।
२. ,, ७, पृ० ५२।

राम कै नाइ नीसांन बागा, ताका मरम न जाने कोई।
कहै कबीर तिहूं लोक विवर्जित, ऐसा तत अनूप ।।[1]

कोई भी राम का मर्म नही जानता। भूख, तृष्णा गुण इत्यादि के परें होने से सारे घट-घट के अन्तर मे वही रमता है। वेद, भेद, पाप, पुण्य, ज्ञान, ध्यान सवसे विवर्जित होने पर भी वह ऐसा अनुपम तत्व है कि उसे अनिर्वचनीय ही कहा जावेगा। उसका तेज ऐसा हैं कि अनुमान तक नही किया जा सकता।

कबीर उससे परिचय करने का अङ्ग बतलाते है[2]—

पारब्रह्म के तेज का, कैसा है उनमान।
कहिबे कूं सोभा नहीं देखे ही परवांन ।।
पानी ही ते हिम भया हिम हिम ही गया बिलाइ ।।
जो कछु था सोइ भया अब कछु कहा न जाइ ।।
देखो करम कबीर का, कछु पूरबला लेख।
जाका महल न मुनि लहै, सो दोसत किया अलेख ।।

परब्रह्म के तेज का कोई अनुमान नही किया जा सकता। कहने से उसकी शोभा असली रूप में वर्णन ही नही की जा सकनी प्रत्युत उसे देखकर ही समझा जा सकता है। गूंगे की शर्करा, देखकर समझना जैसे विलक्षण प्रयोगों से कबीर के ब्रह्म का यह विलक्षण स्वरूप सबके पहुँच के बाहर की बात है। एक सुन्दर दृष्टांत देखिए, पानी से हिम बनता है हिम पिघलकर पानी बन जाता है अत: जो वास्तविक स्वरूप था यही तत्व पुन: बन गया। कुछ कहने के लिए बचा ही नही वह अनिर्वचनीय है। कबीर का भाग्य कुछ ऐसा अपूर्व है कि पूर्व जन्म का फल ऐसा फलित हुआ, कि उसके शून्य महत्व मे परब्रह्म को उन्होने अपना मित्र बना लिया जिसे मुनि भी नही प्राप्त कर सके थे। कबीर का एक पद इसे और स्पष्ट कर देता है—

सन्तो धोखा कांसू कहिये।
प्यड ब्रह्मांड छोड़ि के कथिये, कहै कबीर हरि सोई ।।[3]

हे सन्तो! इस अनिर्वचनीय ब्रह्म का विवरण कर क्यो धोखे मे रहते हो? गुण ही में निर्गुण है और निर्गुण मे गुण है अत. इस सरल रास्ते को छोड़कर कहाँ व्यर्थ भटक रहे हो? लोग उसे अजर अमर इत्यादि कहते हैं पर वास्तविक

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १`९।
२. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी २ और ९ तथा २२, पृ० १६७, १६८, १६९।
३. कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १८०, पृ० १४९।

बात कोई नही कहता। वह तो अलख निरजन राय है, अगम्य है। निषेधात्मक रूप मे कहना भी धोखा है। यह भी ठीक है कि कोई स्वरूप, वर्ण नही है परन्तु वह घट-घट मे व्याप्त है अर्थात् वह सब मे समाया हुआ है। पिण्ड और ब्रह्माण्ड की कोई-कोई विवेचक बाते करते है। पर वे सब बाते देश काल परिस्थिति मे सीमित है। परब्रह्म तो असीम है उसका न तो आदि है न अन्त। तात्पर्य यह है कि वह पिण्ड और ब्रह्माड से भी परे है। कबीरदास कहते है कि उनका हरि इन सब से परे है। वह सगुण और अगुण के भी परे है। कबीर तो निर्गुण का ध्यान करते है, सगुण की पूजा करते है और निरजन एव अल्लाह राम को हृदय से नमस्कार करते है।

कबीर तो अपने रामराई को सर्वत्र परिपूर्ण देखते है। अपने प्रियतम को कैसे पहचाना जाय ? कबीर के ढङ्ग से जानना है तो देखिए—

कस्तूरी कुण्डल बसे, म्रिग ढूँढे बनमांहि।
×　　　×　　　×
पुहुप बास तें पातरा, ऐसा तत्त अनूप ॥[१]

कस्तूरी-मृग जिस तरह अपनी नाभि मे स्थित कस्तूरी की सुगध से आकृष्ट होकर व्यर्थ ही जगल मे उसको खोजता फिरता है वैसे ही राम घट-घट में होने पर भी साधक दुनिया भरमे उसे खोजता फिरता है। साधक को व्यर्थ की खोज छोडकर अपने मे ही उसका दीदार करना चाहिए। जिस तरह नेत्रो मे पुतली है वैसे ही घट मे ब्रह्म है। मूर्ख लोग इसे नही जानते अत: व्यर्थ बाहर खोजते रहते है। जिसका कोई मुख नही, जिसका कोई सुन्दर असुन्दर रूप नही वह तत्व ऐसा अनुपम है जैसे पुष्प की पत्तियाँ और सुगधादि। वास्तव मे ये सभी एक ही हैं अलग-अलग नही।

भक्त और भगवान् के विभिन्न सम्बन्ध—

भावात्मक ढङ्ग से कबीर कभी उसे 'माता' तो कभी 'स्वामी' और कभी 'प्रियतम' भी कहते है। जैसे—

हरि जननी में बालक तोरा।
काहे न औगुण बकसहु मेरा ॥
सुत अपराध करै दिन केते, जननी के चित्त रहे न तेते ॥
कर गहि केस करे जो घाता, तऊ न हेत उतारे माता ॥
कहे कबीर एक बुधि विचारी, बालक दुखी दुखी महतारी ॥[२]

---

१. कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १, पृ० १६२ साखी २, पृ० १६३ तथा साखी ७ पृ० १६३।

२. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १११, पृ० १२३।

माता के प्रति पुत्र का विनम्र भाव जननी को उसके सारे अपराध क्षमा करने के लिये विवश कर देता है। माता स्वभावत: उपकारी होती है वैसे ही हरि भी जननी के स्वभाव से वालक कवीर पर अपनी कृपा रूपी वात्सल्य की कृपा करें। हरि से की गई यह प्रार्थना वडी अनोखी है।

वही कवीर दूसरी जगह अपने आपको राम की वहुरिया भी कहते हैं जैसे—

हरि मेरा पींव माई, हरि मेरा पीव।
कहै कवीर भौ-जलि नहि आऊँ ॥[1]

अपने हरि-प्रियतम को छोड़कर मुझ से एक क्षण भर भी कैसे रहा जा सकता है? मैं हरि प्रियतम की वहुरिया हूँ तथा मेरे राम बहुत बड़े हैं और मैं उनकी छोटी सी दासी हूँ। मैंने अपने प्रियतम के लिए सारा सिंगार सँवारा है अत: उनसे ही प्रार्थना करती हूँ कि हे प्रियतम! मुझे आकर क्यों नही मिलते? इस वार मैं जव अपने प्रिय से मिलने जाऊँगी तो मेरा अवश्य उद्धार हो जायगा। मुझे इस भवजाल मे पुन: नहीं आना पडेगा।

कवीर कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धांत को मानते हैं। इसीलिए वे बड़े भाग्य से और अनेक जन्मों की साधना से रीझे हुए प्रीतम से कहते हैं—

वहुत दिनन में प्रीतम आए।
भाग बड़े घरि बैठे आए ॥टेक॥[2]
कहै कवीर मैं कछू न कीन्हां। सहज सुहाग राम मोंहि दीन्हा ॥[3]

यह मेरा अहोभाग्य है कि मेरे घर मेरे प्रियतम पधारे। अपने घर मैंने उनको वैठे-वैठे ही पा लिया। उनके साथ मगलाचार करने मे तथा 'राम' का रसास्वाद करने मे अपनी जिह्वा को लगा रखूँगी। जीवात्मा के यह प्यार भरे उद्‌गार हैं, कि मैंने तो कुछ भी नही किया परन्तु मेरे प्रिय ने सहज ही मुझे अपना सौभाग्य प्रदान कर दिया। मैं तो निराश हो गई थी, पर मेरे मन्दिर में प्रकाश हुआ और मैंने अपने प्रिय को लेकर सुखपूर्वक शयन किया। इसमे उनका ही वड़प्पन है मेरा तो इसमे कोई भी महत्व नहीं है।

नाथ, योगी, सूफी, वेदांत आदि सिद्धांतों के अनुसार और उपनिषदों मे वर्णित ब्रह्मानुभूति का प्रभाव कवीर पर पडने से वे ब्रह्म का साक्षात्कार कभी सिद्धो की शैली मे, कभी प्रेम की पीर के साथ, कभी अक्खड़ निरजनी योगी की तरह तो

---

१. कवीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ११७, पृ० १२५।
२. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद ६, पृ० ६।
३. कवीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद ६, पृ० ६।

कभी ज्ञानी ऋषि-मुनियो की तरह परात्पर ब्रह्म का निरूपण करने लगते है। इसलिए उस विलक्षण ब्रह्म की पहचान करना कठिन हो जाता है। वास्तव मे वे **'पूरे सूं परचा भया'** ऐसा जब कहते है तो लगता है कि उनका यह पूर्ण-ब्रह्म से किया गया साक्षात्कार एकदम आध्यात्मिक है।

ब्रह्म का व्यक्त स्वरूप—

अपनी अव्यभिचारी निष्ठा से अव्यक्त ब्रह्म के व्यक्त रूप का भी कभी-कभी वर्णन वे करने लगते है—

> **भजि नारदादि सुकादिवन्दित, चरन पंकज भामिनी।**
> **कहै कबीर गोव्यद भजि, परमानन्द वदित कारण॥**[1]

इस पद को पढकर उनकी सगुण भावनिष्ठा सहज समझ मे आ जाती है। अज्ञान के घुघट का पट हटाते ही प्रियतम मिलते है इस पर कबीर का पूर्ण विश्वास है। निर्गुण राम को स्मरने से जीवात्मा हरि को तजकर अन्यत्र कही नही जावेगी, इसे वे जानते है। जब साधक पूर्ण भक्त बन जायगा तो ऐसे भक्त के लिए अल्लाह, राम, नरसिंह भेष भी ले सकते है, यह उन्हे मान्य है। तात्पर्य यह है कि कबीर की भक्ति मस्ती और मौज से ओतप्रोत है। वैष्णव होने के नाते कबीर ने केशव, मुरारी, गोविन्द, राम आदि नामो से अपने आराध्य को पुकारा है। राम-रग मे मतवारे होकर एक ओर अपना बुनकरी व्यवसाय सम्हालते है, तो दूसरी ओर ईश्वर भजन तथा साधु-समागम करते रहते है।

माया का स्वरूप—

कबीर मोक्ष प्राप्ति मे माया को बाधक समझते है—

> **माया महा ठगिनी हम जानी।**
> **भगतां के भगतिनि होइ बैठी तुरका के तुरकानी॥**[2]

माया अनेक रूपात्मक है अत. वह साधक को किस रूप में आकर ग्रस लेगी इसका कोई ठिकाना नही है। महा-ठगिनी-माया बहुरूपिनी बनकर त्रिगुण के फाँस से अर्थात् फन्दे से सबको मधुर वचनो से फँसाती रहती है। किस-किस के साथ वह क्या-क्या होकर बैठी है इसका पूरा हवाला कबीर ने इस पद मे दे दिया है। सबके मार्ग मे मूर्तिमत बाधा के रूप मे वह आ विराजी है। कबीर ने माया को प्रसवधर्मिणी माना है। क्योकि वह उत्पन्न होती है और नष्ट भी होती है। कबीर माया की घोर निंदा स्थान-स्थान पर करते है। साधक, जीवात्मा को माया नाना भ्रांतियो के चक्कर मे डालती रहती है। देखिए—

---

१. **कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ३९२, पृ० २१८।**
२. **कबीर ग्रन्थावली—डा० पारसनाथ तिवारी पद १६३, पृ० ९५।**

मीठी मीठी माया तजी न जाई,
अग्यानी पुरिष को भोलि भोलि खाई ।।टेक।।
कहै कबीर पद लेहु विचारी,
संसारि आइ माया किनहूं एक कही षारी ।।[1]

यह मीठी प्रतीत होने वाली माया को कौन त्याग सका है ? विशेषतः यह अज्ञानी को पूर्ण रूप से ग्रस लेती है । ससार को माया के सगुण और निर्गुण दोनों रूप प्रिय है । लक्ष्मण और गोरखनाथ जैसे विवेकी और सयमी ही इसे परिपूर्ण रूप से त्याग पाये हैं । कीटको से-लेकर हाथी तक मे इसका साम्राज्य व्याप्त है । सारे त्रैलोक्य को खाने वाली माया को कौन रोक सका है ? अर्थात् उससे कौन बच सका है । ससारी भाइयों को कबीर ने इसीलिए माया से सजग रहने की चेतावनी दी है ।

कबीर ने माया को स्पष्ट रूप मे वेश्या के समान सरे बाजार में बैठकर काम के बधनो से बाँधने वाली कहा है । माया और मन का सम्बन्ध घनिष्ट होने से मन के सारे विकार माया के साथी है, अतः इनसे बचना चाहिए । भक्त और भगवान् की प्राप्ति मे तथा जीव और ब्रह्म की प्राप्ति मे माया बाधक बनती है । एक कबीरोक्ति है :

'माया मुई न जन मुआ मरि मरि गया सरीर ।' —कबीर ।

न तो माया नष्ट हुई न मायालिप्त साधक नष्ट हुआ । वरन केवल शरीर मात्र नष्ट हो गया । कबीर इसीलिए अपने राम से कहते है कि हे राम ! आपकी माया द्वद्व मचाती रहती है । कामिनी और कंचन के फेर में यह सब को डाल देती है, कबीर कहते है कि सन्तों ! हमने इसीलिए राम-चरण मे प्रीति मान रखी है । कबीर ने सारे मार्ग अपनाकर देख लिए और अन्त मे जो उनको सार रूप एवम् सरस जान पड़ा वह मार्ग इस प्रकार है ।

सबै रसाइन में किया, हरि रस सम नहि कोइ ।
रचक घट में संचरे, तो सब कंचन होइ ।।[2]

हरि के समान और सुरस कोई साधन नही है । घट में एक क्षण भर भी यदि उसका संचार हो जाय तो उसका स्वर्ण बन जाता है । तात्पर्य यह है कि भगवद् भक्ति के पारस स्पर्श से शरीर रूपी कुधातु भी स्वर्ण जैसी अच्छी धातु बन जाती है । अर्थात् जीवन सफल और सार्थक हो जाता है ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १६२, पृ० १६६ ।
२. ,, ,, ,, साखी ८।१६८, पृ० १७ ।

कबीर का मानववादी और समन्वयात्मक दृष्टिकोण—

कबीर के राम रसायन ने तद्युगीन जन साधारण को विकार मुक्त कर अपनी सामयिक समस्याओ से ऊपर उठाने का पथ प्रशस्त किया। कबीर का भक्ति-मार्ग वैयक्तिक साधना का मार्ग होकर भी एक सामाजिक सस्कार निर्माण करने की क्षमता रखने वाला मार्ग है। वाह्य आडम्वर और पाखण्डो से युक्त वातावरण मे हृदय से की जाने वाली भक्ति के योग्य भावावस्था का कबीर ने निर्माण किया, यह उनकी सवसे वडी देन है। कबीर ने व्यक्ति के अहकार का विसर्जन कर उसे अलौकिक और उदात्त तत्व की ओर अग्रसर होना सिखाया देखिए—

तूं तूं करता तूं भया, मुझमें रही न हूँ।
वारी तेरे नाऊँ परि, जित देखौं तित तूं ॥

सुमिरन और भजन से एक सुसंस्कार मनुष्य पर प्रभाव डालता है। 'यह मेरा', 'यह तेरा' आदि का सघर्ष लुप्त हो जाता है। सबसे सुन्दर चीज यह हो जाती है कि अहं भावना का समूल नाश हो जाता है। साधक मे जव अह भावना नही रहेगी तब वह जिधर देखेगा उधर उसे अपने इष्ट के सिवा और कुछ दिखाई ही नही पड़ेगा।

कवीर की तत्वदर्शी और मार ग्रहिणी प्रतिभा ने एकदम मौलिक रूप मे अपने विचारो को फक्कडाने ढग से और अक्खडाने मनमौजी स्वरूप मे व्यक्त किया है। ऐसा करते हुए तथा कथित पडितो, मुल्लाओ को उन्हे फटकारना पडा है। पर वे उसमे चूके नही है। असत्य और मिथ्या से उन्हे चिढ थी, इसलिए कड़े शब्दो मे डटकर उन्होने उसका मुकावला किया है। अपने घर को जलाकर घर फूंक मस्ती से वे वेहद के मैदान मे आए थे। तभी तो उन्होने एक जगह कहा—

कबीर यह घर है प्रेम का, खाला का घर नांहि।
सीस उतारै भुई धरै तव पैठे घर मांहि ॥[२]

यह तो प्रेम एवम् भक्ति करने वालो का मार्ग है, अत. कोई यह न समझे कि यह एक सस्ता और सरल मार्ग है। यह किसी खाला—मौसी का घर नही हैं कि यहाँ पर जो चाहे सो आ जावे। इस मार्ग का साधक प्रथम अपना सर उतार कर जमीन पर रखे तव इसकी मर्यादा मे प्रवेश करे। आध्यात्मिक मार्ग पर चलना किसी ऐरे गैरे का कार्य नही है। कबीर की यह चेतावनी उनके लोककल्याणोन्मुख प्रवृत्ति से ही अभिव्यजित हुई है। कबीर के युग में धार्मिक क्षेत्र मे कई साधनाएं

१. कबीर ग्रथावली—डा० पारसनाथ तिवारी साखी ६, पृ० १४६।
२, ,, डा० श्यामसुन्दरदास साखी १६, पृ० ६६।

प्रचलित थी, तथा उनमें आडम्बर वहुत वढ गये थे। कवीर ने इन सव के विरुद्ध जोरदार शब्दों में मोर्चा लिया। इस दृष्टि से कवीर वहुत वडे क्रान्तिकारक थे। उन्होने देश मे, समाज मे, धर्म मे, साधना मे तथा सर्वत्र इस ढकोसलेवाजी के विरुद्ध आवाज उठाई तथा महज और विवेक पर आधारित साधना प्रणाली को अपनाया। सत्य के तत्व के दर्शन उन्हे जहाँ भी हुए, उसे कवीर ने स्वीकार किया तथा उसको प्रतिष्ठित कर प्रसारित किया। कवीर यो व्यक्तिगत-माधना के साधक थे। परन्तु उन्होने सत्याचरण और विवेकाश्रित साधना का उपदेश लोगों को दिया तथा इसे ईश्वर प्रेरित कर्तव्य समझकर पूर्ण किया देखिए—

कवीर का समन्वयवादी दृष्टिकोण—

कहरे जे कहिवे की होई।
नां को जानै नां को मानै, तार्थं अचिरज मोहि ॥ठेक॥
मोहि आज्ञादई दयाल करि, काहू कूँ समझाइ।
कहै कवीर मै कहि कहि हार्यो, अव मोहि दोस न लाइ ॥[१]

कवीर के युग की अव्यवस्थित दशा का चित्रण करने वाला यह पद है कोई किसी की वात नही सुनता था और कोई किसी की वात नही मानता था। कवीर को इस पर आश्चर्य हुआ। भलाई की वात भी लोगो को जँचती नही थी। सव अपने-अपने रग मे रगे हुए, लोभी, अभिमानी, दभी और पाखंडी बन गए थे। सव आपस का भाई चारा तक भूल गए थे। 'मैं' और 'मेरा' इसी की स्वार्थ भरी दृष्टि उनमें लवालव भरी हुई थी। इस ससार के जल मे पापी बनकर वे अपने जीवन को पकिल कर रहे थे और अपार रूप से उसी मे डूब रहे थे। कबीर को भगवान् की आज्ञा मिली थी कि इनका उद्धार करो। इसीलिए सदाचार और नीति आदि का उपदेश कवीर ने दिया। अन्यथा उनको क्या पड़ी थी कि वे किसी को समझाने जाते। ससार का शायद यही नियम है कि किसी का भी भला कीजिए तो वह उसे कभी अच्छा नही लगेगा। कवीर ने भी यही अनुभव किया। पर अपना कर्तव्य पालन करते हुए वे उपदेश देने से न चूके। परन्तु उनको यह कहना ही पडा कि मैं तो कहते-कहते थक गया हूँ लोग अपनी वुरी आदते नही छोडते मुझे अव कोई दोष नहीं दे सकता।

वे कहते थे मेरा तो एक अल्लाह निरंजन राम है। हिन्दू और तुर्क दोनों मेरे निकट नही है। न तो मैं व्रत, उपवास, रोजा आदि रखता हूँ न पूजा करता हूँ और न नमाज पढता हूँ। मैं हृदय से उस एक निराकार को नमस्कार करता हूँ।

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ३१८, पृ० १९५।

न तो मैंने तीर्थ यात्रा की है, न हज किया है। मेरी तो रामराय से पहिचान हो गई और मेरा मन उसी मे रम गया तथा सारे भ्रम और तर्क भाग गये हैं। कवीर सव को यही आदर्श सामने रखने के लिए कहते थे। लोक मगल की साधनावस्था उनमे परिपूर्ण होने से उन्होने भावानात्मक उपासना से व्यक्ति और समाज के रचना-पक्ष मे सदाचरण और सत्याचरण पर विशेष वल दिया, तथा मिथ्या और दम्भो का भजन किया। 'कवीर ने अपने युग मे सारे वाह्य आडम्वरो से मुक्त ऐसी साधना पसन्द की जिसने मानव को मानवता के आसन पर और भगवान् को सगुण निर्गुण के परे आसनस्थ किया।' डा० हजारीप्रसादजी का यह मत ठीक ही है।[1] ईश्वर मे एकदम आस्था एवम् अटूट विश्वास इस साधना की सवसे वडी विशेषता है।

गोस्वामी तुलसीदास एवम् वरेण्य तथा महान वैष्णव भक्तप्रवर का आध्यात्मिक पक्ष—

भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी वैष्णव साहित्य के सवसे प्रतिभावान उर्जस्वल साधु कोटि के व्यक्ति हैं। वैष्णव भक्ति के क्षेत्र मे तुलसीदासजी ने रामोपासना पर विशेष वल देते हुए समाज मे व्यक्ति और समाज की शाश्वत आस्था को दृढ करने का प्रयत्न किया है। उनका यह सवसे महत्वपूर्ण कार्य मानना पडेगा। उनके जैसे व्यक्ति के लिए प्रयत्नपूर्वक विवेक वैराग्य और सयम एवम् तपस्या से भक्ति साधना करते हुए इस जगत् से अपना उद्धार कर लेना सहज कार्य नही था। तुलसी ने इसीलिए कहा—

हिय निरगुण नयनन्हि सगुण, रसना राम सुनाम।
मनों पुरट सपुट लसत, तुलसी ललित ललाम॥[2]

तुलसीदास कहते हैं कि हृदय से निर्गुण की जानकारी रखते हुए अर्थात् ज्ञान के होते हुए भी नेत्रो से सगुण को देखते आना चाहिए और रसना से राम का सुनाम स्मरण करते रहना चाहिए। ऐसा करने से ऐसा प्रतीत होता है कि मानो स्वर्ण के सपुट मे दोनों विद्यमान है। कहने का अभिप्राय यही है कि सगुण और निर्गुण के एकांगी आग्रह को छोड़कर दोनो को समझते हुए ज्ञानी भक्त अपनी जिह्वा से राम नाम स्मरण किया करता है।

व्रह्म की विशेषताएँ—

तुलसीदासजी व्रह्म में ही निर्गुणत्व और सगुणत्व की विशेषताएँ निहित हैं ऐसा मानते हैं। जल को वाष्प से अलग नही कह सकते। वादल से जल वरसकर

---

१. कवीर—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी पृ० १८६।
२. तुलसीदास—दोहावली ७।

कभी-कभी उसकी बरफ बन जाती है। किन्तु मूल रूप पानी ही है, उसी प्रकार सगुण और निर्गुण ब्रह्म को तुलसीदासजी उस अग्निवत् मानते है जिसे हम प्रकट होने पर प्रत्यक्ष देखते हैं और अप्रकट होने पर काष्ठ मे ही विद्यमान पाते है। तुलसीदासजी सगुण-उपासना पर ही क्यो विशेष बल देते है? एक स्थान पर कवितावली में तुलसीदाससी ने कहा है—

अन्तर्जामिहु ते बड़ बाहर जामि है राम, जे नाम लिये तें।
धावत धेनु पन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें॥
आपनि बूझि कहै तुलसी, कहिबे की न बावरि बात बिए तें।
पैंज परे प्रहलाद हुं को प्रगटे प्रभु पाहन तें, न हिए तें॥[1]

नाम स्मरण करने वाले सगुणोपासक भक्त के लिए रामचन्द्रजी केवल अन्तर्यामिन् ही नही है, वरन् बहिर्यामिन भी हैं इसका अनुभव भी उसे उपलब्ध हो जाता है। प्रभु लोकपालक और रक्षक होने से भक्त की सुरक्षा किया करते हैं। बालक के वचनों को जिस प्रकार ध्यान देकर माता-पिता सुनते है और अपने वत्स को देखकर जिस प्रकार गाय उसे दुग्धपान कराने मे तत्पर हो जाती हैं, उसी तरह भक्त के लिए वत्सलता और अपनापन भगवान् मे रहता है। भक्त और भगवान् का सम्बन्ध कच्चा नही है तभी तो पैंज लग जाने पर प्रल्हाद के लिए वे स्तभ से प्रकट हो सके। तुलसीदासजी कहते है कि यह बात व्यर्थ चर्चा की नही है—इसे स्वयम् ही समझना बूझना चाहिए।

भक्ति का प्रयोजन केवल आत्मकल्याण ही नही है वरन् लोककल्याण भी है। भक्त इस जगत् को छोडकर भक्ति करने कही नहीं जाता अत. भक्ति करने वाले भगवान् को अपने मे नही बाहर देखना चाहिए। लोक कल्याण करने वाले भगवान् का सगुण रूप तभी जानना सम्भव है। तुलसीदासजी इसको भली-भाँति जानते थे। भक्ति करने वाला भक्त भगवान् का ज्ञाता होने से भक्ति करता हुआ उसको अधिकाधिक जानना चाहता है। तात्पर्य यह है कि ज्ञाता और ज्ञेय दोनों पक्षों का भक्ति में समावेश है। भक्ति या प्रेम व्यक्त से ही किया जा सकता है जिसे देखा-परखा जाता है और वह भी सबके बीच मे। तुलसी तभी कहते है—

'सियाराम मय सब जग जानि।
करहूँ प्रनाम जोरि जुग पानि॥'[2]

तुलसी ने अपने उपास्य धनुर्धारी राम को सारे ससार मे देखा और वह भी

१. कवितावली उत्तरकाण्ड १२९।
२. रामचरित मानस।

'सिया राममय' ही समझकर। इसलिए वे दोनो हाथ जोडकर अपने सगुण स्वरूपी को नमस्कार भी कर सके है। अपने प्रभु का स्वरूप जिस प्रकार वे जानते थे उसे भी जान लेना आवश्यक है। यथा—

सुनि सीतापति सील सुभाऊ।
मोद न मन तन पुलकि नैन जल, सोनर खेहर खाऊ ॥१॥[1]
समुझि समुझि गुनग्राम राम के, उर अनुराग बढ़ाउ।
तुलसिदास अनयास रामपद पइहै प्रेम-पसाउ ॥[2]

तुलसीदासजी इस पद मे अपने उपास्य के गुणो का स्वरूप वर्णन कर समझाते है कि जानकी नाथ-रामचन्द्रजी का शील, स्वभाव, शक्ति और सौन्दर्य ऐसा कल्याणकारी है कि जिसके सम्पर्क मे आकर मन प्रसन्न, शरीर पुलकित और हृदय सात्विक भावो से भर जाता है। यदि कोई ऐसा अभागा मिल जाय जिस पर इसका कोई भी असर न हो तो उसे दर-दर की ठोकरे खाते हुए, धूल फाकते रहना चाहिए। जो व्यक्ति नीरस हो उसका जीवन व्यर्थ ही है। बचपन से ही माता-पिता, भाई, गुरु, सेवक तथा मन्त्री एव मित्र आदि सबका यही कहना है कि उन्होने रामचन्द्रजी का मुखारबिंद स्वप्न मे भी क्रोधित नही देखा। वे तो सदा हँसमुख ही रहे। प्रभु रामचन्द्रजी अपने साथ खेलने वाले बालको की हानि तथा उनके साथ होने वाले अन्याय का बराबर ध्यान रखते और अन्याय न होने देते थे। अपने हमराहियो को प्रसन्न करने के लिए अपनी जीत हो जाने पर भी स्वयम् हार जाते थे। सौहार्द्रता यह गुण उनमे प्रमुख रूप से था। अपने चरण स्पर्श मात्र से ही शापित अहल्या का उद्धार उन्होने कर दिया। उन्हे केवल इस बात का दुख हुआ कि हमने ऋषि-पत्नी को पैर से छू दिया। शिव के धनुष को तोड़कर अन्य राजाओ का मानमर्दन कर दिया। परशुरामजी के क्रोध करने पर उन्हे क्षमा करते हुये स्वय अनुज लक्ष्मण सहित उनके चरणो मे गिर पडे। ऐसा सामर्थ्यवान भगवान् के सिवा और कौन हो सकता है? राजा दशरथ ने राज्य देने का वचन देकर अपनी पत्नी के वश होकर उन्हे वनवास दे दिया और इसी लज्जा के कारण स्वर्ग सिधारे। ऐसी कुमाता कैकेयी का भी मन भगवान् ने रखा और उनकी सेवा करते रहे। हनुमानजी की सेवा देखकर उनके अधीन हो गये, और कृतज्ञतावश उनसे कहा कि 'भाई मेरे पास देने के लिए तो कुछ नही है, पर मै तुम्हारा ऋणि हूँ। यदि विश्वास न हो तो सनद लिखा लो।' 'विभीषण और सुग्रीव ने कपट भाव नही छोडा

---

१. विनयपत्रिका १०० पद।
२. ,, ,,

फिर भी प्रभु उन पर कृपा करते ही रहे और अपनी शरण मे लिया। भरत की प्रशसा भरी सभा मे करते हुए भी जिन्हे तृप्ति नही हुई। भक्तो पर तो वे निरन्तर कृपा और उपकार करते रहे। जब-जब उसकी चर्चा का प्रसङ्ग आया तो वे लज्जा से गड गये। उनकी वदना करने वाले की वे नित्य दूसरो से प्रशसा ही करते रहे। प्रभु रामचन्द्रजी की करुणा अपार है अतः उनके गुणों का स्मरण कर हृदय मे उनके प्रति प्रेम उमड आता है। तुलसीदासजी का यह परम विश्वास है कि वे इस प्रेम से उत्पन्न आनन्द के कारण निश्चय ही भगवान् के चरणो का प्रसाद प्राप्त करेगे।

सगुण उपासना साध्य भी है—

इससे स्पष्ट है कि तुलसी भक्ति एवम् सगुण उपासना को केवल साधन ही नही वरन् साध्य भी मानते हैं। निर्गुण और अलख ब्रह्म उनको जाँचना सम्भव ही नही था। तभी तो एक अलख जगाने वाले से उन्होने कहा था—

'हम लखि, लखहि हमार, लखि हम हमारके बीच।
तुलसी अलखहि का लखहि? राम नाम जपु नीच॥'

तुलसीदासजी अपने ब्रह्म राम को रामनामधारी दशरथ सुत से अभिन्न मानते है। इसे वे अपने सस्कृत श्लोको मे की गई वदना मे और भी अधिक स्पष्ट कर देते हैं। यथा—

यन्मायावशवर्ति विश्वमखिलं ब्रह्मादि देवासुरा।
यत्सत्वादमृषैव भाति सकलं रज्जो यथाहेर्भ्रमः।
यत्पादप्लवमेकमेव हि भवाम्भोधे स्तितीर्षावतां।
वन्देहं तमशेष कारण परं रामाख्यमीशं हरिम्॥[1]

—रामचरित मानस।

तुलसीदासजी उस ईश का यहाँ पर अभिवादन करते है जो 'राम' इस अभिधान से प्रसिद्ध है। तात्पर्य यह है कि अनामय ब्रह्म राम नाम से कैसे विश्रुत हो सकता है? ऐसे भगवान् राम की माया के वश अखिल विश्व, ब्रह्मादि देव तथा असुर है। जिस पर माया का प्रभाव है और जो ससार-सागर के पार जाना चाहते हैं, ऐसा जीव उनकी कृपा से ही पार पा सकता है। प्रभु के चरण भवसागर से तरने की इच्छा रखने वालो के लिए एक मात्र नौका स्वरूप है। अशेष कारणो से परे राम नाम से अभिहित विष्णु की मैं वदना करता हूँ।

जीव और ईश्वर की कल्पना व्यावहारिक होने से मायिक है। अद्वैत मतानुसार सगुण और निर्गुण

1. रामचरितमानस, ७।

अलग वाते है। तुलसी के मत से ईश्वर माया से परे है वह स्ववश है, जीव परवश अर्थात् माया के आधीन है। जीव को सत्व, रज और तम ये तीन गुण अपने फदे मे वाँधते रहते है।

माया का स्वरूप—

तुलसी कहते है[1]—

मै अरु मोर तोर में माया। जोहीं वस कीन्हे जीव निकाया॥
गोगोचर जेई लगि मनु जाइ। सो सव माया जानेहु भाई।
तेहि कर भेद सुनहुं तुम्ह सोऊ। विद्या अपर अविद्या दोऊ॥
एक दुष्ट अतिशय दुख रूपा। जा वस जीव परा भव कूपा॥
एक रचइ जग गुन वस जाके। प्रभु प्रेरित नहि निज वल ताके॥

मै और मेरा, तू और तेरा यह पचडा ऐसा है, जिसके चक्कर मे जीव समूह पडे हुए है। लक्ष्मण की शका का उत्तर देते हुए भगवान् राम ने इसे स्पष्ट किया है। इन्द्रियो से प्रत्यक्ष गोचर होने वाला तथा जहाँ तक मन जा सकता है वह सारी क्रिया माया का प्रभाव क्षेत्र समझना चाहिए। इस माया के दो भेद है—एक विद्या माया है और दूसरी अविद्या-माया है। एक अतिशय दुष्ट और दुख रूप है तो दूसरी ससार मे सृष्टि किया करती है जिसके गुणो के आधीन सारा जग रहता है। स्मरण रहे कि अपने से उसमे कोई सामर्थ्य नही है। उसका सामर्थ्य प्रभु प्रेरित ही है। ज्ञानातीत और मानातीत अवस्था से जो सव मे ब्रह्म की व्याप्ति है ऐसा समझता है, तथा जो त्रिगुणो से व्याप्त और सिद्ध माया को तृणवत् त्याग सकता है, ऐसा विवेकी वैराग्यशील व्यक्ति ही राम के रहस्य को जान सकता है।

प्रभु की प्रेरणा से ही नाम रूपात्मक जगत् वना। यह जगत् त्रिकाला-वाधित सत्य नही है, इसलिए मिथ्या है। परन्तु भगवान् की लीला के लिए इसकी आवश्यकता है। जीव अविद्या माया के कारण मोहवश होकर उसको सत्य समझ लेता है। परिणामत. उसको अनेक दुख-कष्ट आदि उठाने पडते है। इसीलिए इसे अतिशय दुष्ट और दुखरूप बतलाया है।

जीव का स्वरूप—

जीव ब्रह्म का अश है इस पर तुलसी के विचार देखिए[2]—

ईश्वर अंश जीव अविनाशी। चेतन अमल सहज सुखरासी॥
सो माया वस पर्‌यो गोसाई। वध्यो कीर मरकट की नाईं॥

---

१. रामचरितमानस अरण्यकाण्ड १४।
२. ,, उत्तरकांड ११६।

जीव ईश्वर का अंश है, चेतन है, स्वच्छ है तथा सहज ही सुखकी राशि है, अविनाशी भी है, परन्तु वही माया के वश मे पडकर ऐसा फँस जाता है जैसे कोई कीटक मकड़ी के जाले में बँध गया हो। जीव पर माया का प्रभाव है। ईश्वर मायापति होने से उसे माया नही व्याप सकती। माया विष है और बलवान भी। इसीलिए उसके चंगुल मे सारा ससार फँसता है। प्रवृत्ति स्वयम् माया है तथा निवृत्ति तत्वज्ञान। अविश्वास और अज्ञान माया के ही भिन्न-भिन्न रूप है। जड़ और चेतन पर इसी माया की ग्रन्थि पड जाने से वह ईश्वरीय स्वरूप को नही जान पाता। माया को समझना सबका कार्य नही। कर्ता के द्वारा निर्मित या द्वंद्वात्मक जगत गुण दोषमय है अत. जड-चेतन, देह और जीव माया के आधीन है। ईश्वर माया के वश नही हो सकता। अपनी प्रकृति से अधिष्ठित वह अपनी विद्या-माया से अवतरित होता है और इस खेल मे सबको नचाता रहता है। देखिए—

'उमा दारु-योषित की नाईं। सबै नचावत राम गुसाँईं।'

राम सबको अपनी माया से इसी प्रकार नचाते रहते है। विद्या माया का मूल सद्रूप ही विश्व की सृष्टि, स्थिति और सहार करने वाली शक्ति है।[1] यथा—

सृति-सेतु पालक राम तुम्ह जगदीश माया जानकी।
जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपा निधान की॥

जीव और ईश्वर का भेद इस प्रकार व्यक्त किया गया है[2]—

ग्यान अखंड एक सीतावर। मायावस्य जीव सचराचर॥
मायावस्य जीव अभिमानी। ईशवस्य माया गुणखानि॥
परवस जीव स्ववस भगवन्ता। जीव अनेक एक श्रीकंता॥

सीतापति रामचन्द्रजी अखड ज्ञान हैं। सचराचर जीव माया के अधीन है। माया के वश होकर जीव अभिमानी तथा अहकारी हो जाता है। किन्तु ईश्वर के वश रहने वाली माया गुणों की खदान बन जाती है। भगवान् स्ववश होते है तो जीव परवश होता है। जीव अनेक है परन्तु श्रीकान्त एक ही है। रामचन्द्रजी जीव और ईश्वर का भेद एक स्थान पर और भी स्पष्ट कर देते है[3]—

माया ईस न आपुकहँ जानि कहिय सो जीव।
बध मोक्ष प्रद सर्व पर माया प्रेरक सीव॥

जो माया, ईश्वर और स्वयम् अपने को न जाने उसे जीव कहते है।

---

१. रामचरित मानस अयोध्याकाण्ड १२५ (छंद)।
२. रामचरित मानस उत्तरकांड ७७।
३. रामचरित मानस अरण्यकांड १५।

तथा कर्मानुसार बन्धन और मोक्ष देने वाला, सबसे परे और माया को प्रेरित करने वाला ही ईश्वर है ।

ईश्वर के निकट आने का साधन भक्ति है—

इस ईश्वर की भक्ति से ही जीव ईश्वर के समीप आ सकता है । जीव ईश्वर का सेवक ही है । चौरासी लाख योनियो के चक्कर मे अविनाशी जीव भटकता फिरता है । यह जीव माया का प्रेरित है तथा काल, गुण, कर्म और स्वभाव के घेरे मे घूमता रहता है । इस जीव पर अकारण ही स्नेह करने वाला ईश्वर करुणाकर उसे मानुष योनि मे जन्म दे देता है । इसी नरशरीर से रामकृपा के सहारे वह ससार सागर से पार हो जाता है ।

तुलसीदासजी ने जगत् सम्बन्धी अपने विचार यो प्रकट किये है—

वेद इस ससार वृक्ष को सदा फूलने फलने वाला मानते है तथा जो नित्य ही नूतनता प्राप्त करता रहता है । इस पर तुलसी का यह छन्द द्रष्टव्य है[१]—

अव्यक्त मूल मनादि तरु त्वच चारि निगमागम भने ।
षटकध साखा पंचबीस अनेक पर्न सुमन घने ।।
फलजुगल बिधि कटुमधुर वेलि अकेलि जेहि आस्रित रहे ।
पल्लवत फूलत नवल नित ससार विटप नमामहे ।

हे प्रभु ! वेदो के अनुसार आप अव्यक्त-मूल अनादि वृक्ष है जिस की चार त्वचाएँ, छ तने, पच्चीस शाखाएँ, अनेक पत्ते और बहुत से फूल है, मीठे और कडवे दो फल है, जिस पर एक ही बेल है जो उसी के आश्रित रहती है, जो नित्य नव-पल्लवित होता और फूलता है अर्थात् जिसमे नित्य नये पत्ते और फूल निकलते है, ऐसे ससार वृक्ष स्वरूप हे भगवान् ! हम आपको नमस्कार करते है ।

जब सारा ससार सियाराम मय है तब उसे झूठ और अनित्य कैसे कह सकते है ? परन्तु कुछ लोग इसे सत्य मानते है और कुछ झूठ । कुछ लोग इसे झूठ और सत्य दोनो के मिश्रण से बना हुआ मानते है । वास्तव मे ये सब बाते भ्रम से उत्पन्न है । दृष्टि भेद से ऐसा अलग-अलग हमको दिखाई देता है । अत. सभी ठीक है या सभी भ्रम मे है इसका पता कैसे लगे ? तुलसीदासजी विनय-पत्रिका मे इसका विवेचन कर बतलाते है कि वास्तविक अनुभूति किस प्रकार है । यथा—

केसव कहि न जाइ का कहिये ।
तुलसिदास परिहरै तीन भ्रम सो आपन पहिचानै ।।[२]

---

१. रामचरित मानस उत्तरकांड ५ (छन्द) ।
२. विनयपत्रिका १११ पद ।

हे केशव ! आपकी कृति इतनी अद्भुत है कि इस संसार को देखकर क्या कहा जाय ? इसकी विचित्रता को देखकर मनमे ही उसे समझकर रह जाना पडता है। निराकार ने इस शून्य भाषित होने वाली दीवार पर विना रग के चित्र खींचे हैं। अर्थात् इस जगत् मे स्थूल और सूक्ष्म दोनो प्रकार के शरीर है। इनका रग रूप आदि कोई निश्चित नहीं है। यह चित्रकारी ऐसी है जो धोए जाने पर भी नहीं मिटती। पर इसमे चित्रित चित्रो को मृत्यु-भय रहता है। इन चित्रों को देखकर दुख उत्पन्न होता है क्योकि यह ससार मोह मदादि विकार भयो से परिपूर्ण है। सूर्य की किरणों में ग्रीष्म ऋतु में जो जल की लहरे-सी दिखाई देती हैं, उनमें एक भयानक मगर रहता है। यह मगर मुख विहीन है पर जल प्रागन करने के लिए यहाँ पर आए हुए, जड या चैतन्य जीव को निगल जाता है: तात्पर्य यह है कि सव अनेक प्रकार की अविद्या-जनित शव्द, स्पर्श, रूप, रस-गधादि वासना-पिपासा की तृप्ति करना चाहते है, पर वह अतृप्त ही रह जाती है और एक दिन मुख विहीन काल रूपी मगर उनको ग्रस लेता है। ऐसा होने पर भी कोई लोग इस जगत्-रचना को सत्य कहते है तो कोई असत्य कहते है। कोई ऐसे भी है जो इसे सत्य और असत्य के मिश्रण से वना हुआ वतलाते है। तुलसीदासजी के मत मे ये तीनों भ्रम हैं। अर्थात् कर्म, ज्ञान और योग को छोडकर सगुण भक्ति करते हुए जो भगवान् की शरण जावेगा उसे ही आत्मा का वास्तविक स्वरूप समझ में आवेगा।

साधन—

स्पष्ट यह है कि जीव का कल्याण सच्ची भक्ति से ही प्राप्त होगा। यह भक्ति भी जव तक रामकृपा नही होती, तव तक नही प्राप्त हो सकती।

तुलसी का भक्ति पंथ—

पहले ही विवेचन किया गया है कि भक्ति मे आत्मकल्याण के साथ लोक-कल्याण भी सन्निहित है। अपने गुरु के द्वारा प्रदत्त राज मार्ग पर ही तुलसी चलना चाहते हैं। यथा—

> नहिन आवत आन भरोसो।
> यह कलिकाल सकल साधन तरु है सम-फलनि फरो सो॥
> तुलसी विनु परतीति प्रीति फिरि फिर पचि मरै मरो सो।
> रामनाम-वोहित भवसागर चाहै तरन तरो सो॥[1]

मुझे रामनाम के सिवा अन्य कोई भरोसा नही है। इस कलिकाल मे अन्य जितने भी साधन रूपी वृक्ष है, वे सव श्रम करने के लिए ही विवश करते है।

१. विनय पत्रिका—पद १७३।

कलिकाल सब साधनो को नष्ट कर देता है। तप, तीर्थ उपवास, यज्ञ, दान आदि जिसे जो जँचे सो उसे अपना सकता है। फल-प्राप्ति होने पर ही इनका महत्व प्रतीत होगा। वैसे अपने से ये सारे निरर्थक ही लगते है, यद्यपि वेदो मे प्रत्येक सत्कर्म की बढा-चढाकर प्रशसा की है। कलिकाल मे इसका सफल होना कठिन और असंभव सा ही है। योगादि साधनो से स्वप्न मे भी सुख नही मिलता वरन् अनेक रोग और वियोग आकर प्रस्तुत हो जाते है। सन्यास लेने पर भी मन बिगड़ जाता है और कच्चे घडे की तरह झरता रहता है। अनेक मतों, सिद्धातो और मार्गो को देखकर नाना प्रकार के सघर्ष ही सामने आते है। कोई निश्चित मार्ग सामने नही आता। मेरे गुरु ने तो मुझे राम-भजन का उपदेश दिया जो मुझे राज-मार्गवत् स्वीकार है। इसमे कोई विघ्न-बाधा नही है। विश्वास और श्रद्धा के बिना बार-बार पच-पच कर मरना ही पड़ेगा। किन्तु ससार सागर से पार होने के लिए एक रामनाम ही जहाज है। इस पर चढकर जिसे पार होना हो वह हो सकता है।

दास्य भक्ति का स्वरूप—

भगवान् का अनन्य भक्त अनपायिनी भक्ति से उनके प्रति अपनी दास्य भावना को पराकाष्ठा पर पहुँचाकर सचराचर मे सीताराम की तद्रूपता का अनुभव करता है। राम चरित मानस के कई स्थानो मे उनका मत विवेचित है जो द्रष्टव्य है[1]—

सो अनन्य जाके असि मति नटरइ हनुमंत।
मै सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवन्त॥

× × ×

सेवक सेव्य भाव विनु भव न तरिय उरगारि।
भजहु राम पद पकज अस सिद्धांत विचारि॥

× × ×

'श्रुति सम्मत हरि भक्ति पथ सयुत विरति विवेक॥'

× × ×

वारिमथे घृत होइ बरु सिकता ते बरु तेल।
बिनु हरिभजन न भव तरिअ यह सिद्धांत अमेल॥

अनन्य भक्त वही है जिसकी बुद्धि अटल एवम् दृढ रहती है, तथा जो इस दृढ भावना से युक्त रहता है कि मै सेवक हूँ और चेतन तथा अचेतन एवम् सारे

१. रामचरित मानस किष्किंधाकांड ३, उत्तरकांड ११९, १०० और १२२।

जगत् का स्वरूप स्वामी भगवान् राम का ही रूप है। सेवक और सेव्य भाव के विना संसार से नही तरा जा सकता। ऐसा सिद्धान्त विचार कर प्रभु रामचन्द्रजी के चरणारविन्द का ध्यान करना चाहिए। श्रुतियां के द्वारा प्रमाणित और विवेचित हरि भक्ति का मार्ग विवेक, वैराग्य साधनो सहित अपनाया जाय। जल को मथने से भले ही घृत पैदा हो जाय। वालू पेरने से चाहे तो तेल निकल आवे किन्तु भगवान् का भजन किये विना ससार-सागर से नही तरा जा सकता, यही अमिट सिद्धात है।

राम से बढकर राम के दास होते हैं। राम की भक्ति एक ऐसा मणि है जो ससार मे प्रसिद्ध है, परन्तु विना रामकृपा के उसे कोई भी प्राप्त नही कर सकता। जिसके हृदय मे रामभक्ति रूपी चिंतामणि जग जाय उसे कोई दुख अथवा वेदना कदापि नही व्याप सकती। भक्ति मे अनुग्रह पक्ष का प्रबल महत्व रहता है। भक्तो पर ईश्वर कृपा से माया भी अपना प्रभाव नही डाल सकती। रघुपति की यह अनपायिनी भक्ति ही तुलसीदासजी का प्रतिपाद्य विषय है, क्योकि वह त्रिविध-ताप को मिटाने वाली है।

स्वयम् भगवान् रामचन्द्रजी इस भक्ति की महिमा वतलाते है[1]—

धम ते विरति जोग ते ग्याना। ग्यान मोच्छप्रद वेद वखाना ॥
जाते वेगि द्रवऊँ मैं भाई। सो मम भगति भगत सुखदाई ॥
सो सुतंत्र अवलंब न आना। तेहि आधीन ग्यान विग्याना ॥
भगति तात अनुपम सुखमूला। मिलइ जो सन्त होईं अनूकूला ॥
भगति की साधना कहऊँ बखानी। सुगम पंथ मोहि पावहि प्रानी ॥
प्रथमहि विप्र चरन अति प्रीती। निज निज कर्म निरत श्रुति रीती ॥
एहि कर फल पुनि विषय विरागा। तव मन धर्म उपज अनुरागा ॥
श्रवनादिक नव भक्ति दृढ़ाहीं। ममलीला रति अति मन मांही ॥
सन्त चरन पंकज अति प्रेमा। मन-क्रम-वचन भजन दृढ़ नेमा ॥
गुरु पितु मातु वंधु पति देवा। सव मोहि कहँ जानै दृढ़ सेवा ॥
मम गुन गावत पुलक सरीरा। गदगद गिरा नयन वह नीरा ॥
काम आदि मद दंभ न जाके। तात निरंतर वस मैं ताके ॥
वचन कर्म मन मेरिगति भजनु करहि निःकाम ॥
तिन्ह के हृदय-कमल महुँ करऊँ सदा विश्राम ॥

—रामचरित मानस अरण्यकांड—१५।

---

१. रामचरितमानस अरण्यकाड १५।

धर्म से वैराग्य और योग से ज्ञान उत्पन्न होता है। ज्ञान से मोक्ष मिलता है, बधन से मुक्ति हो जाती है, ऐसा वेदो मे वर्णित है। किन्तु जिसके कारण मै भक्त पर द्रवीभूत हो जाता हूँ वह मेरी सुखदायी भक्ति को प्राप्त कर लेते है—यदि सत अनुकूल हो जायँ। तात्पर्य यह है कि सतो के सत्सग से अनुकूल बाते ज्ञात हो जाती है और उनकी कृपा से सुखमूला अनुपम-भक्ति सहज साध्य बन जाती है। अब मै भक्ति के साधन का वर्णन करूँगा जिसको प्राप्त कर सारे जीव मात्र इस सुगम पथ से मुझे भी संप्राप्त कर लेते है। धर्म के तत्वो के जानकार एवम् सदाचरणी सुशील विप्रो के चरणो मे प्रेम प्रथम होना चाहिए। वे ब्राह्मण ऐसे हो जो श्रुति की रीतियो मे अभ्यस्त तथा अपने स्वधर्म मे निरत और नीतिमान है। इसका फल यह होगा कि नाना प्रकार की विषय वासनाओ के प्रति वैराग्य भाव उत्पन्न हो जायगा और मेरे लिए मार्मिक रसात्मक अनुभूति उत्पन्न हो जायगी। श्रवण, कीर्तन, स्मरण, अर्चन पाद-सेवन, वदन, सख्य, आत्म निवेदन तथा दास्य आदि नवधा-भक्ति हृदय मे दृढ हो जाती है। भक्त की पात्रता, रुचि और अधिकार के अनुसार उसमे भक्ति का दृढीकरण हो जाता है। मेरी लीलाओ मे आत्यतिक रति उत्पन्न हो जाती है। मन सगुण लीला के प्रति शकित नही होता, प्रत्युत उसमे आस्था बलवती और अडिग हो जाती है। सन्त चरणो मे अति स्नेह उत्पन्न होकर मनसा-वाचा-कर्मणा भजन के प्रति दृढव्रतसा स्थापित हो जाता है। गुरु, माता, पिता, बधु, पति के प्रति की गयी सेवा मेरी ही दृढतापूर्वक की गयी सेवा हैं, ऐसी वृत्ति बन जाती है। मेरे गुण गाते हुए शरीर पुलकित वाणी गद्गद् और कठ भर आता है तथा नेत्रो से आँसू बहने लगते है। इस तरह जो काम, क्रोध, मोह, दभादि के वशीभूत नही है, अर्थात् जिन भक्तो ने इन पर विजय प्राप्त कर ली है, मै सदा उनके आधीन हूँ। मनसे, वचन से और कर्म से जो निश्शक होकर मेरा भजन करते है, ऐसे भक्तो के हृदय कमल मे मै सदा विश्राम करता हूँ अर्थात् रहता हूँ। एक स्थान पर वे पुनः कहते है[1]—

पुनि पुनि सत्य कहउँ तोहि पाही। मोहि सेवक सम प्रिय कोऊ नाहीं॥
भगति हीन विरचि किन होई। सब जीवहु सम प्रिय मोहि सोई॥
भगतिवंत अति नीचउ प्रानी। मोहि प्रान प्रिय असि मम बानी॥

हे काक भुसुडी! मै सत्य वचन कहता हूँ कि मुझे अपने सेवक भक्त से प्रिय दूसरा कोई नही है। भक्ति हीन ब्रह्मा ही क्यो न हो मुझे वह अन्य साधारण

---

१. रामचरितमानस उत्तरकांड ८५।

जीवो की ही तरह प्रिय होगा। परन्तु भक्ति रत कोई व्यक्ति चाहे नीच भी क्यो न हो मुझे वह प्राण प्रिय होता है।

इस तरह तुलसीदासजी अपनी भक्ति का स्वरूप प्रकट करते हुए दिखाई देते है। सगुणोपासक भक्त मोक्ष नही चाहते। वे तो सदा भक्ति करना ही स्वीकार करते है तुलसी ने रामचरितमानस मे भक्तो के कई रूप प्रस्तुत किये है। उनमे हनुमान, भरत, लक्ष्मण, काकभुसुडी, शबरी आदि कई भक्त आते हैं। तुलसीदासजी मानी भक्त है और एकनिष्ठ अनन्य सेवक भी। अपने उपास्य राम के प्रति अविचल और अनन्य भाव उनका है इसीलिए उन्होने कहा[१]—

एक भरोसो, एक बल, एक आस विश्वास।
एक राम घनश्याम हित, चातक तुलसीदास॥

तुलसीदासजी का अपने राम के प्रति एक ही भरोसा है, एक ही बल है, एक ही आशा है और एक ही विश्वास का सबल है, क्योकि तुलसीदासजी ने अपने आपको चातक रूपी भक्त माना है, जिसके हितार्थ घनश्यामल रूप धारण कर रामचन्द्रजी अवतरित हुए है। तुलसी रूपी चातक के मत मे वह केवल स्वाती की दो बूँदों के लिए नही राह देखता, वरन् वह तो जगत् को सुख देने वाले मेघ का नयनाभिराम दर्शन चाहता है।

सर्वश्रेष्ठ भक्तप्रवर :

तुलसीदासजी के उपास्य का स्वरूप —

अब तक हमने तुलसीदासजी की जगत् और जीव सम्बन्धी धारणाओ को देखा अब हम यह देखने का प्रयत्न करेगे कि तुलसी के उपास्य का स्वरूप किस प्रकार का है और तुलसी ने उसको अपनी एक विशिष्ट पद्धति और सम्बन्ध से क्यो अपनाया ? ज्ञान, वैराग्य, योग और आध्यात्मिक ज्ञान ये विषय तो पुरुष की तरह कठोर है। माया और भक्ति नारी की तरह कोमल है। अर्थात् ज्ञान मस्तिष्क का एवम् उद्बोधन का विषय है तथा भक्ति हृदय का एवम् रागात्मिका वृत्ति का विषय है। ज्ञानी अहकारी बनकर अपने को खो सकता है। पर सत्वस्थ अन्त.सलिला-भक्ति-भावना अन्य भावनाओ को दूर रखती है। मानव मे दोनो वृत्तियो का स्वरूप विद्यमान है। इनका परस्पर नियत्रण रहना भी आवश्यक है। तभी ज्ञानार्जन और शील का पालन आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण दोनो प्राप्त हो सकते है। यह नियत्रण भक्ति-भावना के द्वारा सभाव्य है। पर उसके लिये भगवान् के स्वरूप मे आस्था और आकर्षण होना अनिवार्य है। तुलसी ने अपने राम को इसी रूप मे देखा है—

---

२. दोहावली—तुलसीदास २७७।

जे जार्नहिं ते जानहु स्वामी। सगुन अगुन उर अन्तर जामी।
जो कोसल पति राजिव नैना। करउ सो राम हृदय मम ऐना॥

× × ×

मुनि धीर जोगी सिद्ध सन्तत विमल मन जेहि ध्यावही।
कहिं नेति निगम पुरान आगम जासु कीरति गावहीं॥
सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवन निकाय पति माया धनी।
अवतारेउ अपने भगत् हित निजतंत्र नित रघुकुल मनी॥

भगवान् के स्वरूप मे आस्था और आकर्षण होना अनिवार्य है। तुलसी ने अपने राम को इसी रूप मे देखा है—

हे हृदय मे निवास करने वाले प्रभु! आपका सगुण और निर्गुण स्वरूप जो जानते होगे उनकी बात छोडिये। मै तो आपके कमल नेत्रो वाले अयोध्यापति धनुर्धारी-राम-रूप को ही अपने हृदय मे स्थान देता हूँ।

मुनि और धैर्यशाली योगी, सिद्ध तथा ध्यानी विमल मन से जिनको ध्यान करते है, तथा आगम, निगम, पुराण और वेद जिनके बारे मे नेति-नेति कहकर नित्य कीर्ति गाया करते है, वे ही राम व्यापक ब्रह्म है चौदह भुवनो के स्वामी है और मायापति है। भक्तो के हितार्थ अपने तन्त्र से भूमि भार-हरणार्थ नित्य ही रघुकुल-मणि-रघुनाथजी अवतार लेते है। अर्थात् तुलसी अवतार वाद मे आस्था रखते है और सगुण साधक है। यह बात इससे प्रकट हो जाती है।

भगवान् राम देवो के देव एवम् महाविष्णु है। क्योकि वे विधि को विधिता, शिवजी को शिवता और हरि को हरिता प्रदान करते है। हरि का अवतार जिस हेतु से होता है उसे 'इदम् इत्थम्' के रूप मे नही कहा जा सकता क्योकि वैसे राम अतर्क्य है तथा बुद्धि, मन और वाणी के परे है, ऐसा भवानी से शकरजी ने बताया है। शिवजी के उपास्य 'राम' तुलसी के स्वामी तथा सीता के प्रियतम है और भुसुण्डी के मानस सरोवर के हस है। वे सच्चिदानद राम ऐसे हैं[२]—

माया का स्वरूप—

जो माया सब जगहि नचावा। जासु चरित लखि काहुं न पावा॥
सोइ प्रभु भ्रू विलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥
सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज विग्यान रूप बलधामा॥
व्यापक व्याप्य अखड अनन्ता। अखिल अमोघ सक्ति भगवन्ता॥

---

१. रामचरित मानस बालकांड ५१ (छन्द)।
२. रामचरित मानस उत्तरकांड ७१।

अगुन अदभ्र गिरा गो-तीता। समदरसी अनवद्य अजीता ॥
निर्मम निराकार निरमोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा ॥
प्रकृति पार प्रभु सव उवा सी। ब्रह्म निरीह बिरज अविनासी ॥
इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रवि सम्मुख तम कवहुँ कि जाहीं ॥
भगत हेतु भगवान् प्रभु राम धरेउ तनुभूप।
किए चरित पावन परम प्राकृत नर अनुरूप ॥

जो माया समस्त ससार को नचाती है और जिसका चरित्र किसी ने भी नही समझा अथवा जिसे कोई भी नही लख पाया, हे पक्षिराज गरुड़! वही माया भगवान् के सकेत पर केवल भृकुटियो के इशारे पर अपने परिवार सहित नटी की तरह नाचती है। वही अजन्मा विज्ञान रूप और वल के धाम सच्चिदानद-घन रामजी हैं। वह सर्वव्यापक, व्याप्य, अखण्ड, अनन्त, सम्पूर्ण, अमोघ शक्ति सम्पन्न भगवान् है। वे निर्गुण, अपार, वाणी और इन्द्रियो से परे, सर्वदर्शी, निर्दोष, अजेय, ममता रहित, आकार-रहित, मोह-रहित, नित्य, माया-रहित आनन्दघन हैं। प्रकृति से परे सर्व समर्थ प्रभु सवके हृदय मे निवास करने वाले, इच्छा रहित, विकार-रहित एवम् अविनाशी ब्रह्म हैं। यहाँ मोह का कारण नही है। सूर्य के सामने क्या कभी अन्धकार आ सकता है? हे प्रभु रामचन्द्रजी! आपने भक्तों के लिए राम वनकर राजा का शरीर धारण किया है और लौकिक मनुष्य के अनुसार अत्यन्त पवित्र और सदाचारपूर्ण कार्य किए है। इसमे तुलसी की अवतार वाद-विषयक विचार प्रणाली हमारे सामने परिलक्षित हो जाती है। राम का अलौकिकत्व, परब्रह्मत्व और अपार शक्ति का स्मरण करते हुए भक्त प्रवर तुलसीदासजी अपने मन को समझाते हैं कि तू ऐसे महान् भव्य और दिव्य राम को क्यो नही भजता? उनकी वे विशेषताएँ है—

राम की दिव्यता—

लव निमेष परमानु जुग वरष कलपसरचंड।
भजसि न मन तेहि राम को कालुजासु को दंड ॥[1]

लव, निमेष, परमाणु, युग, वर्ष और कल्प ये जिनके वाण है तथा जिनके हाथों मे कालका धनुष है ऐसे सर्व शक्तिमान प्रभु रामचन्द्रजी को भजने से हे मेरे मन! क्या तुम्हारा कल्याण नही होगा? अर्थात् यहाँ पर तुलसीदासजी की एकान्तिक निष्ठा उस अनन्त शीलवान रामचन्द्र में केन्द्रित हो गई है ऐसा निश्चित जान पड़ता है।

---

१. रामचरित मानस लङ्का कांड १।

भगवान् रामचन्द्रजी का स्वरूप तुलसी की मजुल और मेघावी मति के द्वारा आँका गया था, इसलिए उनकी भक्ति केवल स्वान्त सुख तक परिमित न रहकर वह ससार के विस्तृत धरातल और परिधि को भी अपने में समेटने मे समर्थ बन गई है। आत्मकल्याणार्थ भगवान् राम के जिस अनन्त रूप तथा अनत शक्ति और अनन्तशील को तुलसी ने आत्मसात् कर लिया था, उसे लोक कल्याणार्थ कविता की मधुर और अविरल धारा से वहाकर सबके लिए सुलभ कर, उसे सार्वजनीन और सार्वभौमिक बना दिया है।

तुलसीदासजी ने अपने समर्थ उपास्य की शक्तिमत्ता का स्मरण बड़े ही सशक्त स्वर मे किया है जो विशेष रूप से द्रष्टव्य है[1]—

सुमिरत श्री रघुवीर की बांहें।
होत सुगम भव-उदधि अगम अति, कोउ लांघत, कोउ उतरत थाहें॥
सरनागत-आरत-प्रनतनि को दै दै अभय पद और निबांहें।
करि आंई, करि है, करती है तुलसिदास दासनि पर छाहें॥[1]

सगुणोपासक भक्त का अपने उपास्य पर कितना विश्वास रहता है, इसका परिज्ञान हमे तुलसी की इस उक्ति से भली-भाँति हो जाता है। श्री रघुनाथ की भुजाओ का स्मरण करते ही दुर्गम और दुर्लंघ्य ससार सागर पार करने के लिए सुगम हो जाता है। कोई तो उसे लाँघ जाते हैं और कोई थहाकर पार कर लेते है। भगवान् के शरीर मे सुशोभित वे दो भुजाएँ ऐसी प्रतीत होती है, मानो अति सुन्दर श्याम सरीर रूपी पर्वत से यमुनाजी की धाराएँ निकली है, जो बलरूप अथाह एव निर्मल जल से भरी हुई है तथा शृङ्गार रूप सूर्य से उत्पन्न हुई हैं। उनके कर कमलो मे धारण किये हुए बाण ही मानो उनकी धाराएँ है, धनुष किनारा है, आभूषण जलचर-जन्तु है और अगुलियो के बीच के सधिस्थल भँवर हैं। विजय की विरुदावली ही उसमे तरग रूप से शोभायमान है तथा उसमे कर रूप कमलो की शोभा विद्यमान है। वे मानो सम्पूर्ण लोको के कल्याण रूप भवन के द्वार की दो विशाल और मजबूत और शोभायमान खडी लकडियाँ है (स्तम्भ हैं) जो विश्वामित्रजी के यज्ञ मे ऋषियो द्वारा पूजित हुई तथा जिन्होने जनकजी, गणेशजी, भगवान् शंकर और पार्वतीजी से पूजित होकर सब की कामनाएँ पूर्ण की है। इन्ही भुजाओ ने अपने पराक्रम से शकर के पिनाक को तोडकर जानकीजी से विवाह किया, जिसके परिणाम स्वरूप सारे राजा लोग शर्म के मारे बेहाल हो गये तथा जिन्होने कृपा की ओर कभी दृष्टिपात भी नही किया, ऐसे परशुरामजी को भी

१. गीतावली उत्तरकांड पद १३।

महामुनियों के समान क्षमाशील बना दिया। जब राक्षसियों के द्वारा विरहिणी सीता को कई अप्रिय बातें कहकर व्यथित किया गया तो उन भुजाओं ने शत्रु संहार कर उन असुर पत्नियों के सिर उघाड़कर उन्हें धाड़ मारकर रुलाया। रावण ने त्रैलोक्य को विवशकर-लोकपालों को व्याकुल कर उनसे नाकों चने चबवाये थे। उसी रावण के वधे जाने से देवता, नाग और मानवगण अपने-अपने गृहों मे अपनी पत्नियों सहित सुखपूर्वक रहते हुए जिन भुजाओं का यशोगान किया करते हैं। जिन भुजाओ की वेद, पुराण, शेष, शारदा और शुकदेवजी भी स्नेहपूर्वक प्रशसा करते हैं, क्योंकि वे भुजाएँ कल्पलता की भी श्रेष्ठ कल्पलता तथा कामधेनु हैं। ये भुजाएँ अपने शरणागतो को अभय प्रदान कर दीन एवम् प्रणत पुरुषों की अन्त तक सुरक्षा करती हैं। तुलसीदासजी का निवेदन है कि भगवान् की वे ही भुजाएँ अपने दासो पर सदा से छाया करती आयी हैं, अब भी करती हैं, और आगे भी करती रहेंगी।

तुलसी के प्रभु रामचन्द्रजी मे परब्रह्मत्व, निर्गुण तथा सगुण अशरीरी परमात्मा की भवतारी सगुण शरीरी परमात्मा की तथा मर्यादा पुरुषोत्तमत्व की सारी विशेषताएँ सामंजस्य के साथ पूर्ण रूप से विद्यमान है। रघुवंश-मणि विश्वरूप हैं। सगुण साकार-कल्याण-गुण गुणाकार है। जिसे जो रूप तथा जो गुण जँचा उसके लिए वे वैसे ही सिद्ध हैं। 'जाकी रही भावना जैसी प्रभु मूरति देखी तिन तैसी।' यह तुलसीदासोक्ति इस कथन को सिद्ध कर देती है। वैसे सृजन पालन और संहार, भगवान् के कार्य हैं परन्तु भक्त तो आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण की भावना से ओतप्रोत रहता है। अतएव पालक रूप ही भक्त को विशेष भाता है। एक बार जानकीनाथ की कृपा प्राप्त हो गई तो फिर क्या मजाल है, कि कोई आकर के अङ्गीकृत कार्य मे कोई बाधा उत्पन्न कर दे। अपने राम का तादात्म्य इसीलिए तुलसीदासजी ने विष्णु के साथ किया है। रामचन्द्रजी शिवजी के भी परमाराध्य हैं।

नाम-माहात्म्य—

गोस्वामीजी को रामचन्द्रजी का राम नाम ही प्रिय है। नारद परमात्मा के अनेक नामों में से यही सर्वोपरि क्यो है इसे स्पष्ट करते है[1]—

यद्यपि प्रभु के नाम अनेका। श्रुति कह अधिक एक ते एका॥
राम सकल नामन ते अधिका। होहु अखिल अघखग गन बधिका॥

× × ×

१. रामचरितमानस अरण्यकाण्ड ४२।

राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम।
अपर नाम उडगन विमल वसहुँ भगत उर व्योम।

प्रभु रामचन्द्रजी ! यद्यपि आपके अनन्त नाम है और वेदो ने उन्हें एक से एक वढकर और श्रेष्ठ कहा है तथा माना है, फिर भी हे नाथ ! रामनाम नव नामो से वढ़कर सिद्ध हो और यह पाप रूपी पक्षी के समूह के लिए वधिक के सदृश हो। आपकी भक्ति पूर्णिमा की रात है, उसमे जो रामनाम है, वही चन्द्रमा होकर तथा अन्य सब नाम निर्मल तारागण होकर भक्तों के हृदयाकाश मे निवाम करे। अतः स्पष्ट है कि प्रभु रामचन्द्र ने नाम को अनन्त प्रभावशाली वना दिया है। क्षमाशीलत्व भी तुलसी के राम की एक अन्यतम विशेपता है। क्योकि वे भावग्रही है और भक्तों के भाव के भूखे हैं। उनका उदार और सरल स्वभाव कितना करुणा पूर्ण था इसे पूर्ण रूप से देखा जा सकता है[1]—

राम का करुणामूलक स्वभाव—

अस्थि समूह देखि रघुराया। पूछी मुनिन्ह लागि अति दाया॥
जानत हूँ पूछिअ कस स्वामी। समदरसी तुम अन्तरजामी॥
निसिचर निकर सकल मुनि खाए। सुनि रघुवीर नयन जल छाए॥
निसिचर हीन करऊँ महि भुज उठाइ पन कीन्ह।
सकल मुनिन्ह के आश्रमन्हि जाइ जाइ सुख दीन्ह॥

वन मे रामचन्द्रजी अनेक मुनियो के साथ जव आगे वढे तो कई जगह उन्होने हड्डियो के ढेर देखे। तव उनके अन्तःकरण में दया उत्पन्न हुई। उन्होने मुनियो से पूछा तव उन्होने उत्तर दिया कि हे स्वामी ! आप तो सर्वान्तरयामी हैं फिर भी हम लोगों से कैसे पूछ रहे है ? राक्षसो के समूह ने सव मुनियो को खाया है। यह सुनकर रामचन्द्रजी के नेत्रो मे जल छा गया। रामचन्द्रजी ने तव भुजा उठाकर प्रतिज्ञा की, कि मै पृथ्वी को राक्षसो से रहित कर दूँगा। इसके वाद उन्होने सव मुनियो के आश्रमो मे जाकर उन्हे आनन्दित किया और उन्हे सुख पहुँचाया।

इस प्रसङ्ग से तुलसी के उपास्य की लोक-पालकता तथा सुराकारता स्पष्ट हो जाती है। ब्रह्म अवतारी वनकर अपने भक्तो की भावना और उसकी विशिष्ट आकाक्षा परिपूर्ण कर देते हैं। भक्त के हृदय ने भगवान् को सगुण साकार और अवतारी वना दिया है, जिससे लोक कल्याण और मर्यादा पुरुषोत्तमत्व सिद्ध हो जाता है। वैसे निर्गुण और सगुण दोनो ब्रह्म स्वरूप है तथा अकथनीय अनादि

१. रामचरित मानस अरण्यकांड ८–९।

और अनुपम है परन्तु भक्तो के प्रेम वस होकर राम सगुण वन सकते है, और बनते है। विचार और चिन्तन दृष्टि का 'निर्गुण' भाव दृष्टि से 'सगुण' वन गया और भक्तो के हितार्थ 'निसिचर हीन पृथ्वी' करने की प्रतिज्ञा अपनी भुजा उठाकर प्रभु राम ने की। तुलसी के आराध्य की यह अन्यतम विशेषता है।

विनय भावना—

तुलसी के मानस मे शरचाप धारी राम का किशोर, वाल तथा शक्तिसंयुत अर्थात् जानकी सयुत रूप विद्यमान है, उसी लिये जव वे अपनी विनय से परिपूर्ण पत्रिका अपने आराध्य तक पहुँचाते है, तो जानकी जी से भी प्रार्थना करते है कि हे माता ! कभी मौका देखकर इस भक्त की करुण कथा चलाकर रघुनाथजी को मेरा स्मरण दिलाना। इस अभ्यर्थना मे वे अपने उपास्य का मर्यादा-पुरुषोत्तम रूप अपने सामने रखते हैं—

कवहुँक अम्ब, अवसर पाइ।
तरै तुलसीदास भव तव-नाथ गुन गन गाइ॥[1]

जानकी माता ! कभी अवसर मिले तो श्री रामचन्द्र जी को मेरा स्मरण करा देना। मेरे सम्वन्ध का कोई करुण प्रसग छेड़ देने से मेरा काम वन जायगा। स्मरण दिलाते हुए उनसे कहिए कि आपकी एक दासी का दास (तुलसीदास) वहुत दीन, साधन हीन, दुर्वल, पूर्ण-पापी, आपका नाम लेकर पेट भरने वाला है। यदि प्रभु पूछ वैठे कि वह कौन है, तो मेरा नाम लेकर मेरी दशा जता देना। मेरा पूर्ण विश्वास है, कि कृपालु रामचन्द्रजी के इतना सुन लेने मात्र से ही मेरी सारी विगडी वात वन जायगी। हे माता ! यदि आपके वचनो से ही इस दास की प्रभु के सामने सिफारिश हो गई, तो यह तुलसीदास आपके स्वामी की गुणावली गाते हुए ससार सागर को सरलता से पार कर जावेगा।

तुलसीदासजी यह भी जानते है, कि 'रघुपति भगति करत कठिनाई।' मोदमई मगलमयि जानकी-पति की दास्य भक्ति तुलसी का जीवन लक्ष्य था। वे गणेशजी से, शकरजी से और सव से अपने हृदय मे राम-सीता वस जाय यही वरदान मागते है। तुलसी के राम का स्वरूप व्यक्तिगत और समाजगत साधना के लिए उपादेय एवम् लोक मर्यादा का सरक्षक तथा विधायक स्वरूप माना जावेगा। एक आदर्श भक्त के नाते विनय की पराकाष्ठा पर पहुँची हुई भावना से भाव विभोर एवम् तन्मयता से परिपूर्ण अवस्था से तुलसी ने अपने उपास्य को जैसे समझा-बूझा है वैसा हर कोई नही समझ सकता। अपने आराध्य के उज्ज्वल और मर्यादा

---

१. विनय पत्रिका पद ४१, पृ० ५४।

पुरुषोत्तम के शील-सौन्दर्य-शक्ति-युक्त-स्वरूप की सगुण रामभक्ति के राजमार्ग को सँवारने का काम तुलसी ने किया। हिन्दु-सस्कृति पर तुलसी का यह एक अतीव एवम् महान् उपकार है।

तुलसीदासजी मानव जीवन मे सदाचार और सच्चरित्र को विशेष प्रश्रय देते है। परहित के समान पुण्य कारक और कोई कार्य नही है, ऐसा उनका मत है। विनय भावना से अहकार भावना का भजन हो जाता है और भक्त दास्य भक्ति करने का पात्र बन जाता है। भक्त अपनी विमल मति से सिया राम मय ससार मे प्रभु का गुणानुवाद करने के लिए आश्वस्त हो जाता है।

तुलसी का जीवन विषयक दृष्टिकोण—

रामचरित मानस मे तुलसीदास ने जीवन के उन मूल्यो की प्रस्थापना की है, जो सामाजिक और व्यक्तिगत रूप मे मानव की गरिमा को एक उच्चता प्रदान करते है। मेरे कहने का अभिप्राय उसके नैतिक पक्ष से है। यह नीति मत्ता जीवन को एक स्थिरता दृढता और आस्था प्रदान करती है। व्यक्ति और समाज मे जिस आत्मबल की कमी थी, उसे राम भक्ति के तपो-बल से एक ठोस आधारशिला देकर तुलसी ने भारतवासियो पर बडा उपकार किया है। जनजीवन को तुलसी की यह स्थायी देन है। सासारिक जीवन मे कलह, सघर्ष, छल, कपट के रहते हुए भी निराशा को हटाकर इन सब पर सद्-विवेकिनी बुद्धि से उस पर विजय प्राप्त कर सत्य और आदर्श जीवन की प्रस्थापना के लिए व्यक्ति और समाज को कर्मण्य बनाकर लोक-मङ्गल की चैतन्य पूर्ण प्रतिष्ठा स्थापित करनी चाहिए, यही तो तुलसी का लोकाभिमुखी दृष्टिकोण है। जीवन से भागने का दृष्टिकोण तुलसी का नही है। नैतिक मूल्यो को अपनाते हुए लोक सघर्ष यदि करना पडे तो लोक मङ्गल की स्थापना के लिए उसे करना चाहिए। अपने समय की लोक दशा को तुलसी ने बराबर देखा था। कलि काल का अकाल, बनारस की महामारी, तथा उस समय की दुर्दशा का वर्णन वे बराबर करते है।[1] यथा—

> खेती न किसान को भिखारी को न भीख बलि,
> बनिक को बनिज नहि चाकर को चाकरी।
> जीविका विहीन लोग, सीद्यमान सोच बस,
> कहै एक एकन सों कहाँ जाई का करी।
> वेदहू पुरान कही लोक हूँ विलोकियत,
> सांकरे समै पै राम रावरे कृपा करी।

१. कवितावली उत्तरकांड ६७ कवित्त पृ० ६४।

दारिद-दसानन दवाई दुनी, दीनबंधु,
दुरित-दहन देखि तुलसी हहा करी।

दारिद्र्यावस्था ही रावण है, जिसने सारे ससार को दवा रखा है। किसी को भी कोई व्यवसाय नही है। सव व्यवसायहीन हो गये है। शासक वर्ग की क्या जिम्मेदारी नही है ? सकट काल मे राम ने सदा कृपा की है, जिसकी साक्ष्य वेद पुराण भी देते है। प्रजापालन का धर्म भूलने वाले शासको के लिए तुलसी ने भविष्यवाणी कर कहा है, कि रावण की तरह अत्याचार करने वालो का मदा मर्वनाश होगा। इसीलिए उनका आदर्श रामराज्य की कल्पना है, जिसमे दरिद्रता, विपमता आदि न हो। यथा[1]—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परमगति के अधिकारी।
अल्प मृत्यु नहिं कवनिहु पीरा। सब सुन्दर सब विरुज सरीरा।
नहिं दरिद्र कोऊ दुखी न दीना। नहिं कोउ अबुध न लच्छन हीना।

सव स्त्री और पुरुप रामभक्ति मे रत हो जावेगे। परम गति अर्थात् मोक्ष के अधिकारी मव वन जायेगे। किसी की अल्प मृत्यु नही होगी। किसी को पीड़ा नही होगी। सव स्वस्थ और सुन्दर शरीर वाले हो जायेगे। कोई दरिद्री और दीन एवम् विपन्न नही होगा। कोई मूर्ख और लक्षणो से हीन नही होगा। तुलसी ने भक्ति को मानव जीवन की समस्त समस्याओ का अमोघ उपाय वतलाया है। भक्ति की लोग-मंगलकारी उपयोगिता से तुलसी ने जीवन और जगत् मे आस्थापूर्ण वातावरण निर्माण कर दोनो को ईश्वरोन्मुख बनाया। जीवन को तुलसी शाश्वत मानते है। तथा समाज और व्यक्ति की उन्नति मे सदाचार और नैतिकता का विशेप महत्व मानते है। सर्व साधारण के लिए श्रेयम्कर तथा कल्याणकारी उपाय सत्सग, विवेक आदि सद्गुणों का आश्रय करना है, तथा काम, क्रोध, मोह आदि पड्रिपुओ का त्याग भी आवश्यक है। ऐमा करने पर भगवान् के लिए भक्ति का उदय, हृदय मे हो जाता है। राम का नाम गाकर उनकी चरित-गाथा सुनकर भगवान् की सेवा करने मे तत्पर हो जाता है। सर्वत्र राम मय ही सव कुछ है ऐसा मानकर चलने से रामकृपा हो जाती है। इस रामकृपा से भक्ति उत्पन्न होती है। राम भक्ति से मुक्ति स्वयम् अपने आप चली आती है। भक्ति, मुक्ति का माधन होने पर भी आत्मकल्याण के लिए और लोक-कल्याण के लिए साध्य भी है। भक्ति ही राजमार्ग है अत वही जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। भक्ति करने का अधिकार सव को है और इसी से उद्धार सभव है।

---

१. रामचरित मानस उत्तरकांड २१।३।

महात्मा सूरदास एव तन्मय वैष्णव कवि और गायक के साहित्य का आध्यात्मिक पक्ष—

हमारे अध्ययन मे आये हुए वैष्णव भक्तो मे सबसे विलक्षण रस सिद्ध एवम् तन्मय और भगवद् भक्ति के महान् गायक और भागवत भक्त शिरोमणि सूरदास एक अद्भुत कलाकार है। इस अन्धे भक्त ने एक बार ही 'कृष्णास्तु भगवान् स्वयम्' जिसे माना गया है, उस पूर्ण पुरुषोत्तम, रस पुरुषोत्तम, लीला पुरुषोत्तम, प्रेम-पुरुपोत्तम और सौन्दर्य पुरुपोत्तम एवम् सच्चिदानन्द स्वरूप माधुर्य पुरुषोत्तम को प्रत्यक्ष देखकर अपने हृदय मे सदा के लिए स्थित कर लिया था। अपने हृदय मे सर्वदा के लिए उन्हे पधराकर कहा था—

'बाँह छुड़ाये जात हो निबल जानि के मोहि।
हिरदय भीतर जाहुंगे सबल बदोगे तोहि।' सूरदास।

भगवान् का सत् चित् और आनन्द की तीन विशेपताओ से युक्त स्वरूप है। आनन्द का भावनिष्ठ तन्मय रूप सूर मे साकार हो उठा है जिसने उनके हृदय मे उल्लास का एक अपूर्व अम्बुधि उमडाकर उन्हे भाव तत्पर बना दिया है। 'आनन्द ब्रह्मेति व्यजानात्।' इस प्रकार के वचन मे तथा आचार्य वल्लभ के शुद्धाद्वैत-सम्प्रदायानुसार 'ब्रह्म' सच्चिदानद स्वरूप है। तैत्तिरीयोपनिपद मे ऐसा बतलाया गया है—'पुरुप एवे दं सर्वम्।'[1] परम पुरुष यही निखिल जगत् है। सूरदासजी एक विरागी और निरीह भक्त थे। उनका मन भगवान् की सगुण स्वरूपी भक्ति मे रमा था। वैसे उनमे दास्य भाव की भक्ति का प्रभाव वल्लभ-सम्प्रदायी पुष्टि-मार्ग मे दीक्षित होने के पूर्व काल मे निश्चित दिखाई देता है। ऋग्वेद मे एक ऋचा है, जो कि आत्मा और परमात्मा की एकता को स्पष्ट करती है। यथा—

द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानंवृक्ष परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिपलं स्वादत्ति अनश्नन् अन्यो अभिचाकषीति।।[2]

प्रकृति-रूपी वृक्ष पर ईश्वर और जीव नाम के दो पक्षी वैठे हुए है। दोनो सयुजासखा है। इनमे से एक जिसका नाम ईश्वर है, वह इस वृक्ष के फल नही खाता। परन्तु दूसरा, जिसे जीव कहते है, वह स्वाद पूर्वक इस वृक्ष के फल खाया करता है। फल भक्षण करना और फल की इच्छा करना ही आसक्ति है। हरि लीला मे अनासक्ति आवश्यक है। आसक्ति के कारण जीव हरि लीला का लाभ नही उठा पाते है। सूरदास पर भागवत की दार्शनिकता का पूरा प्रभाव है।

---

१. तैत्तिरीयोपनिषद।
२. ऋग्वेद १।१६४।२०।

यह लीला-पुरुषोत्तम आविर्भाव और तिरोभाव से अनेक रूप धारण कर सकता है। पुरुषोत्तम परब्रह्म का एक स्वरूप 'अक्षर ब्रह्म' माना गया है। पूर्ण-पुरुषोत्तम को जब रमण करने की इच्छा होती है तो वह स्वयम् जगत् के रूप मे प्रकट हो जाता है। 'एको ह वहुस्याम।' इस तैत्तिरीयोपनिषदोक्ति के अनुसार अपनी इच्छा से 'अक्षर-ब्रह्म' उत्पत्ति, स्थिति और सहार करने वाली शक्तियो मे प्रकट होकर ब्रह्मा, विष्णु और शिव कहलाता है। इसी प्रकार इस पूर्ण-पुरुषोत्तम के प्रमुख रूप से पुरुषोत्ताम स्वरूप श्रीकृष्ण वनकर नित्य आनन्दाकार विग्रह मे गोलोक एवम् वृन्दावन मे नित्य लीला किया करते है। अक्षर ब्रह्म अपनी शक्तियो सहित अवतीर्ण होकर अपने अश और अशी रूप मे प्रकट होते है। एक रूप अन्तर्यामी ब्रह्म का भी है। अविद्या माया के कारण जीव वद्ध रहता है, जो वास्तव मे अणु रूप है। विद्या माया से मुक्ति प्राप्त होती है। परन्तु अविद्या का नाश भगवान् की कृपा के विना सभव नही है। भगवद् कृपा हो जाने पर दुःख से जीव की मुक्ति होकर वह नित्य आनन्द प्राप्त करने का पात्र और अधिकारी वन जाता है। जीव का भगवान् से सयोग और वियोग होता है, और इन दोनो रसावस्थाओ की अनुभुति होती है। भगवान् के अनुग्रह से जीव को मुक्ति मे विशेष सहायता मिल जाती है। अत अनुग्रह के अनुसार अलौकिक शरीर मे प्रवेश कर मुक्त जीव भगवान् की लीला का रसास्वादन करता है।

सूर की दृष्टि में श्रीकृष्ण का परब्रह्म रूप—

ब्रह्म निरूपण सूरदासजी इस प्रकार करते है[1]—

सोभा अमित अपार अखण्डित आप आत्माराम।
पूरन-ब्रह्म प्रकट पुरुषोत्तम सबविधि पूरन काम॥
आदि सनातन एक अनूपम अविगत अल्प अहार।
ऊँकार आदि वेद असुर हन निर्गुण सगुण अपार।

श्रीकृष्ण परमात्मा अपार, अमित और अखण्डित शोभा के आगार, तथा आत्माराम है। सब प्रकार से पूर्ण काम और प्रकट रूप मे पूर्ण पुरुषोत्तम है। वे आदि है, सनातन है, अनुपम है और किसी के द्वारा न जाने योग्य है। वे मिताहारी, ओकार रूप आदि वेद असुर-हन्ता और अपार रीति से सगुण एवम् निर्गुण दोनो है। सूर के अनुसार श्रीकृष्ण भगवान् मे प्रकृति और पुरुष की अद्वैतता विद्यमान है। वे पूर्ण पुरुषोत्ताम परब्रह्म और श्रीकृष्ण मे ऐक्य प्रस्थापित करते है। यथा—

१ सूरसारावली ६६२—प्रभुदयाल मीतल, पृ० ७६।

सदा एक रस एक अखण्डित आदि अनादि अनूप।
कोटि कल्प बीतत नहि जानत, विरहत युगल स्वरूप।
सकल तत्व ब्रह्मांड देव पुनि माया सब विधि काल।
प्रकृति पुरुष श्रीपति नारायण सब है अंश गोपाल।[1]

× × ×

आदि सनातन हरि अविनाशी। सदा निरन्तर घटघटवासी।
पूरन ब्रह्म पुरान बखानै। चतुरानन सिव अन्त न जाने।
गुन-गम अगम निगम नहि पावै। ताहि जसोदा गोद खिलावै॥[2]

जो भगवान् सदा एक रस, अखण्डित, आदि, अनादि और अनुपम है, वे नित्य है। राधा और श्रीकृष्ण बनकर यह युगल जोड़ी से विहार करते हैं। करोडो कल्प बीत जाते है, फिर भी किसी को इसका पता तक नही चलता। सृष्टि के सारे तत्व, सारा ब्रह्माड तथा सारे देव समूह, सारी माया निरन्तर सब प्रकार से उनमे ही स्थित रहते है। श्रीपति पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण साक्षात् नारायण है और सारे गोपाल उन्ही के अश हैं।

ये हरि अविनाशी और सनातन हैं तथा सदा घट-घट में निवास करते है। पुराण इनको पूर्ण ब्रह्म के रूप मे बखानता है। चतुरानन ब्रह्मा और शङ्कर तक भगवान् का आदि और अन्त नही जानते है। आश्चर्य इस बात का है, कि भगवान् के गुणों का पारावार आगम और निगमो तक को नही लग सका है। परन्तु उन्ही को जसोदा अपनी गोद मे खिलाती है।

अद्भुत विराट स्वरूप की विचित्र आरती—

सूर के द्वारा रचित पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के विराट स्वरूप का चित्रण करने वाली एक धारणा देखिए[3]—

हरिजू की आरती बनी।
अति विचित्र रचना रचि राखी, परति न गिरा गनी।
कच्छप अध आसन अनूप अति, डाँड़ी सहस फनी।
मही सराव, सप्तसागर घृत, बाती सैल घनी।
रवि-ससि-ज्योति जगत परिपूरन, हरित तिमिर रजनी।
उड़त फूल उड़गन नभ अन्तर, अंजन घटा घनी।

---

१. सूरसारावली—पृ० ८७ १०९९, ११०१।
२. सूरसागर पद ६२१ (ना. स.)।
३. सूरसागर पद ३७१ (ना. स)।

> नारदादि सनकादि प्रजापति सुर-नर-असुर-अनी।
> काल-कर्म-गुन और अन्त नहि, प्रभु इच्छा रचनी।
> यह प्रताप दीपक सुनिरंतर लोक सकल भजनी।
> सूरदास सब प्रकट ध्यान में, अति विचित्र सजनी।

जो मारे ब्रह्माड मे व्याप्त है, ऐसे विराट स्वरूप वाले हरिजी की आरती अद्‌भुत रीति से उतारी गई। सूरदासजी को वह आरती स्वयम् अपने उपास्य के ध्यान मे प्रकट हो गई। इस विराट की व्यापक आरती की सजधज और उसकी तैयारी वडी विचित्र ढङ्ग पर की गई है, जिसका वर्णन कर सकना शारदा के लिए भी सम्भव नही है। जिससे आरती उतारी जा रही है, वह आरती पात्र कच्छप के आसन से वनी हुई है। वडी अनुपमता से उसकी सहस्र फनो से डाडी रची गई है, अर्थात् शेप नागजी जिसकी डॉडी हैं। पृथ्वी उसका सराव है, तथा सप्तसागर घृत के समान है। जिसमे विशाल शैल की सघन वाती है। वह आरती प्रज्वलित है, जो रवि-शशि की आभा से सारे जगत् को परिपूर्ण करती जा रही है। अम्वर के नक्षत्र इस आरती से उड़ने वाले फूल है जो रात्रि का अन्धकार विनष्ट कर देते हैं। इस अवनी मे सम्मिलित लोगो मे नारद, शुक, मनक आदि ऋपिमुनि, तथा प्रजापति, देव, असुर के समूह विद्यमान है। इस आरती की कोई वेला, कोई, कर्म, कोई गुण और कोई अन्त नही है यह तो प्रभु की इच्छा से रची गई है। इसी दीपक का यह प्रताप है, जो निरन्तर सारे लोगो को भगवद् भजन मे निरत करा देता है।

सूर की वैराग्य भावना—

सन्यासी सूरदास को ससार की निस्सारता तथा क्षण भगुरता को देखकर उसके प्रति प्रथम वही विगर्हणा उत्पन्न हुई जो प्राय सारे भक्तो मे पाई जाती है। अविद्या माया से साधक उलझ जाता है। उसकी सुलझन माधव की कृपा से ही होगी यह आशा सूरदासजी के एक पद मे अभिव्यक्त है[1]—

> माधौ जू, मन माया वस कीन्हौ।
> सूर स्याम सुन्दर जो सेवै, क्यों होवै गति दीन।

हे माधवजी! मेरा मन माया के वश हो गया है और यह ऐसा गँवार है, जो लाभ और हानि आदि कुछ भी नही समझता। इसका कार्य ऐसा ही है जैसे कोई पतग दीपक पर अपना शरीर जला डालता है। मेरी स्थिति कुछ इसी प्रकार की हो गयी है। मेरे लिए गृह-दीपक धन-तेल, स्त्री जैसी जलने वाली वाती तथा

---

१. सूरसागर पद ४६ (ना. स.)।

दहन के संदर्भ में इसे देखने पर जो भगदड़ मची है, उसका वर्णन एकनाथ ने किया है। इसी प्रसङ्ग के अन्य रामायणों में वर्णित प्रसङ्गो से यह वर्णन गम्भीर है। तात्पर्य यह कि एकनाथ अपने कालीन सामाजिक दशा को उसमे प्रतिध्वनित करते हैं। जैसे—

> अंगे तूं जळसी रोकडी। दुजी पाडले आंसुडी।
> तवते नागवी उघडी। पडे उपडी लोकलाजे॥
> जळत चण्याचे पाडिले टेक। फुटाणे खावे लागल्या भूक।
> मायणी भरली शीतोदक। घर सम्यक राखावे॥[1]
>
> × × ×
>
> एकी एकासी म्हणे आतां। तुझी मी होईन कान्ता॥
> रूपवती न भेटे आकाता। म्यां तो स्वयें सांडिला॥
> एक भुलली सुन्दर। भेटे त्यासी म्हणे भर्तार।
> मी तंव तुझी स्वदार। अङ्गीकार करी माझा॥[2]

भयङ्कर आग के कारण स्त्रियाँ आतंकित होकर भाग रही हैं। एक दूसरी से कहती है अरी! तू जल रही है। दूसरी भागने के प्रयत्न मे गतिशील नही हो पाती। तब वह विवस्त्र ही भाग निकलती है। पर लोक-लज्जा से औंधी पड जाती है। जिन वस्त्रों में आग लग चुकी है, उनको मरण भय से उतार देती है, और आगे पीछे हाथ रखकर नगरी मे स्त्रियाँ दौड़ रही है। अपनी स्त्री के लोभ से जलते हुए गृह मे अपनी वृद्धी जननी को छोड़कर कधे पर स्त्री को उठाकर कोई भाग निकलता है। पति को जलते हुए गृह मे छोड़कर जो हाथ में पड़ सका उसे लेकर स्त्री भाग निकली है। बाहर निकलकर पति से कहती है कि भली-भाँति घर को सम्हालो। जलते हुए चनो का बोरा भरा पडा है, इसलिये भूख लगने पर भुने चने खा लेना, और ठडे जल से घट भरा हुआ है, उसमे से पानी पी लेना। एक स्त्री किसी से कहती है कि अब मैं तुम्हारी कान्ता बनूँगी। आक्रोश करने पर भी मेरे पति अब मुझे नहीं मिल सकते। मैंने स्वयम् उनको छोड़ दिया अर्थात् वे घर मे जल मरे है। एक स्त्री अपने सौन्दर्य पर गर्व करती हुई जो भी सामने आ जाता है उसे ही अपना पति बनाने के लिए तैयार है। वह कहती है मै अपने मन से तुम्हारी दारा बनी हूँ अतः मेरा अङ्गीकार करो। सामाजिक स्थिति की यह यथार्थता तुलसीदासजी की कवितावली में विवेचित वर्णन से तुलनीय है।

---

१. भावार्थ रामायण सुन्दरकांड ३५–३७–४५।

२. भावार्थ रामायण सुन्दरकांड ३७, ४६ ते ५० अध्याय १६।

राम जानकी का विवाह हो रहा है। वधू वर के बीच का अन्तर्पट दूर हो गया है। इसी प्रसङ्ग का एकनाथ कृत वर्णन बड़ा मनोभिराम है।

राम-जानकी परिणय—

ॐ पुण्याहं मुळीची गोष्टी। तेणे शब्द विरे प्रणवाच्या पोटी।
अन्तःपट फिटे उठा उठीं। सीता गोरटी वरी राम॥
श्रीराम स्वये चैतन्यमूर्ति। सीता तंव ते चिच्छक्ती॥
लग्न लागले एकात्मप्रीति। चतुरोक्ती चहूं ठायी॥[1]

ॐकार ध्वनि से स्वस्तिवाचन होने पर उसकी ध्वनि प्रणव मे विलीन हो गयी। अन्तर्पट खुल जाने पर गौर वर्णीय जानकी ने राम के गले मे वरमाला डाल दी। एक के नेत्रो ने दूसरे के नेत्रो को सलग्न होकर देखा। प्राण पति को पूर्ण रूप से वरण कर लेने पर दोनो प्राण एक हो गये। वसिष्ठ ऋषी के द्वारा उन पर फेके गये मत्राक्षतो से पंच महाभूतो की एकात्मता सिद्ध हो गयी। सीता राघव एक हो गये। एक अवयवी तथा एक अवयव रूप दोनो बन गये। दोनो के जीव-भाव एक हो गये। वसिष्ठ ने ऐसी अपूर्वता उनके विवाह मे देखी। रघुनाथ के पाणिग्रहण से समस्त क्रियाएँ शान्त हो गयी और राम मे निष्कामता आ गई। श्रीरामचन्द्रजी स्वय चैतन्य मूर्ति है, और सीताजी स्वय चित् शक्ति है। एकात्म प्रीति के कारण यह विवाह सम्पन्न हो गया ऐसी चतुरो के द्वारा सर्वत्र इसकी प्रशंसा सुनाई दी।

हनुमान के द्वारा सीता का पता लगाये जाने पर लका पर चढाई करना निश्चित हुआ। पर सागर पार करने की समस्या सामने थी, उसको बिना हल किये लका पर आक्रमण कैसे किया जाय? राम के पूर्वज का नाम सगर था। उसी के कारण समुद्र का सागर नाम पडा था। सागर से प्रभु रामचन्द्र ने प्रार्थना की और उत्तर के लिए तीन दिन तक प्रतीक्षा की। जब कोई उत्तर नही मिला तो उन्हे अपनी भूल मालूम हो गई। जो सामर्थ्यशाली होते है, वे निर्बलो की शरण नही जाते। ऐसा करने से पराक्रम के उत्कर्ष का अपकर्ष होने लगता है। रामजी के भावो को एकनाथ के शब्दों मे सुनिये—

सागर गर्व-हरण—

मृदुपणे काहीं यश कीर्ति। मृदु पणें नाहीं लाभ प्राप्ती।
मृदुपणे नाही विजयवृत्ती। जाण निश्चिती सौमित्रा॥

---

[1] भावार्थ रामायण—बालकांड अध्याय २५–३८–४६।

अदंड्याते राजे दंडिती। अदम्या ते राजे दमिती।
ते राजे जै शांती धरिती। तेचि अप कीर्ति तयासी ॥[1]

प्रभु रामचन्द्रजी लक्ष्मण से कहते है कि राजाओ की कर्तृत्व शक्ति संन्यास-परक हो जाने पर शान्त प्रवृत्ति मय बन जाती है। पर यह घातक सिद्ध होता है। इससे सामर्थ्यशाली नृप को यश और कीर्ति-लाभ नही होता। मृदुता धारण करने से विजय प्राप्ति कदापि नही होती। संन्यासियो के लिए मृदुता से पारमार्थिक लाभ और ईश्वर-प्रेम उपलब्ध हो सकता है। परन्तु राजाओ के मृदु बन जाने पर अपयश मिलता है। अतएव सामर्थ्यवान् को शान्ति धारण करना अनुपादेय है। ऐसा कहकर प्रभु रामचन्द्रजी ने एक भयङ्कर बाण अभिमन्त्रित कर सज्ज कर लिया और समुद्र को दण्ड देना चाहा। तब वह ब्राह्मण का रूप धारण कर आया तथा विनम्रता से रामचन्द्रजी को सेतु बाधने का परामर्श देकर चला गया।

वानर वीरों का निश्चय—

राम-रावण युद्ध मे वानर वीरो ने राम के कार्यार्थ अपना बलिदान देने का निश्चय किया वह देखने योग्य है—

देह वेंचिता राम कार्यार्थी। ठाक ठोक ब्रह्मप्राप्ती।
पळोनि जातांचि मागुती। अधोगती नरकांत ॥
पळोनि जाता ऐसें घडे। श्रीराम सेवेचे अंतर घडे।
मुक्ति मुक्तिसी कीर्त उडे। नरकी पडे आकल्प ॥[2]

रामकार्यार्थ यदि शरीरार्पण करना पड़ता है तो ब्रह्म प्राप्ति अपने आप ही हो जायगी। ऐसा वानर वीरो का गाढ़ा विश्वास है। अपना कर्तव्य-कर्म करते हुए भगवान् के लिए देह पात करने जैसा पुण्य और कौनसा हो सकता है? रण से भागने पर नरक मे प्रवेश मिलेगा तथा राम का कोई अवकाश नही संप्राप्त होगा। यह डर उनके अन्त करण मे बना हुआ है। विजयी होने पर कीर्ति लाभ है। मृत्यु हो जाने पर मुक्ति मिलेगी यह भी उन्हें ज्ञात है। प्रभु कार्यार्थ अपना सर्वस्व समर्पण करने वाले वानर-वीर धन्य है।

सुग्रीव पर रावण ने शर वृष्टि की जिससे वह मूर्छित हो गया। रावण ने तब सुग्रीव को लङ्का मे ले जाना चाहा। तब लक्ष्मण सुग्रीव की सहायतार्थ दौड़ पड़े। रामचन्द्र लक्ष्मण को इस अवसर पर वीरो के लक्षण बतलाते हैं। ये द्रष्टव्य है—[3]

---

१. भावार्थ रामायण—सुन्दरकाण्ड अध्याय ३९।५९–६१।
२. भावार्थ रामायण—युद्धकाण्ड।
३. भावार्थ रामायण—युद्धकांड।

रणवीरों के लक्षण—

देहीं न फुटता घावो। शत्रु जीवे मारावा पहाहो।
हाचि धरोनिया आवो। रण निर्वाहो करावा॥

× × ×

मरण भय ज्याचे पोटीं। तो तव शूर नव्हे सृष्टीं।
त्याची आशङ्का लागे त्या पाठीं। मरे शेवटी निज भये॥
चैतन्य तेजे लखलखाट। देही विदेहत्वाचा नेट।
ऐसेनि धैर्ये अति सुभट। ते वीर श्रेष्ठ सग्रामीं॥
तेथे न चले शठ कपट। तेथे न चाले माये चे कचाट।
तेथे निर्दले शत्रुपक्ष संकट करी सपाट पाप पुण्या॥

रण क्षेत्र में शत्रु को जख्मी बना कर छोडना नही चाहिए। रणक्षेत्र मे शत्रु के प्राण लेने की प्रतिज्ञा कर के ही जाना चाहिए, तथा वैसा कार्य सपन्न करना चाहिए। जो मरण का भय लेकर रण स्थल मे प्रवेश करेगा, वह वीर नही है, क्योकि सन्देह पूर्ण अवस्था से वह पहले ही मरा हुआ सा हो जाता है। जिस में धैर्य विगलित स्थिति वाला हो वह युद्ध क्षेत्र मे क्या युद्ध करेगा? चैतन्य और स्फूर्ति का जिसमें संचार होता हो, तथा देह में विदेहत्व का भाव विद्यमान हो गया हो वे सग्राम स्थल मे डटे रह सकते है। उनको ही श्रेष्ठ सुभट और योद्धा मानते है। जिनमें ये सारी विशेषताएँ हो; ऐसे रण बाँकुरो के सामने शत्रु की छलनीति, कपट आदि बाते चल नही पाती। शत्रु अपनी माया नही फैला सकता। ऐसे प्रसङ्ग मे वीर-योद्धा शत्रु पक्ष रूपी सङ्कट का पूरा निर्दालन कर पाप को धराशायी कर देते हैं और पुण्य की स्थापना कर देते है।

'भावार्थ-रामायण' मे इस प्रकार से रस-परिपोष करने वाले कई स्थल विद्यमान हैं। उनको यही छोडकर अब हम उनकी गाथा मे वर्णित स्फुट काव्य विषयो का अनुशीलन कर उनकी सरसता और साहित्यिकता को निखारने का प्रयत्न करेगे।

स्फुट काव्यों का परिशीलन—

श्री एकनाथ कृत अभङ्गो की गाथा पाच भागो मे विभक्त है। कुल अभङ्ग सख्या ३६८८ है। सात आठ आरतियाँ भी है। हिन्दी अभङ्ग रचनाएँ भी मिलती हैं। जिनकी भाषा दक्खिनी हिन्दी है, तथा उन पर मराठी का प्रभाव भी परिलक्षित हो जाता है। भाषा फिर भी समझ मे आने वाली और सरल है।

गाथा मे विवेच्य विषय बहुविध है। मङ्गलाचरण गुरु वंदना, श्रीकृष्ण की बाल-लीला, गोपी-प्रेम, रास-लीला, गोपसखाओ के साथ खेले गये खेल,

गोपियो का विरह वर्णन, मथुरा की सारी घटनाएँ, श्रीकृष्ण-माहात्म्य, विठ्ठल, राम, शिव आदि देवताओ का माहात्म्य वर्णन आदि कई विषयो पर लगभग १६०० अभङ्ग है। द्वितीय भाग में आत्मस्थिति अद्वैत जैसे आध्यात्मिक विषयो पर लगभग ६७३ अभङ्ग है। तृतीय भाग मे जीवन और व्यवहार के कई विषयों पर करीब-करीब ७६६ अभङ्ग है। अपने युग के समाज मे दिखाई पडने वाले साधको, व्रत-धारियो और भावनाओ का इन अभङ्गो मे एकनाथ ने विवेचन किया है। चौथे भाग मे पौराणिक आख्यान आदि है। तथा अपने समकालीन सन्तो के चरित्र आदि है। इनकी संख्या करीब-करीब ३४० है। पचम भाग मे उपदेशात्मक तथा रूपकात्मक अभङ्ग हैं। इनका वर्ण्य विषय ग्रामों और नगरो के तद्युगीन, दैनदिन सामाजिक और सांस्कृतिक व्यवहारों से सम्बन्धित व्यक्तियो और साधकों से है। जिनके द्वारा उस समय के दुर्गुणो को हटाकर सबको सद्गुणो की ओर प्रवृत्त कर भगवद् भक्ति मे लीन कर आध्यात्म-प्रवण बनाने का उनका अथकप्रयास एवम् प्रयत्न दिखाई देता है। महाराष्ट्रीय समाज की सांस्कृतिक जानकारी प्राप्त करने के लिए एकनाथ की अभङ्ग गाथा उपादेय सामग्री प्रस्तुत कर देती है। इसकी शैली साहित्यिक और मनोवैज्ञानिक है। इसमे करीब-करीब ३०२ अभङ्ग है। अन्तिम अंश हिन्दी अभङ्गो से भरा हुआ है। एक विशाल महार्णव की तरह यह गाथा विस्तार है। इसके वर्ण्य विषय ही मानो इस महार्णव के बुदबुद तरगे, प्रवाह आदि है। सामाजिक कुरीतियो दम्भो, पाखडो आदि का पर्दाफाश इसमे किया गया है। एकनाथ अपनी प्रतिभा और प्रखर साधना से तथा अपनी हृदय की परम कारुणिक वृत्तियो से पूर्ण इसमे प्रतीत होते है। ईश्वरोपासना मे सलग्न हो जाने पर भी तत्कालीन समाज से उनका घनिष्ट सम्बन्ध था, तथा वे सबकी सर्वतोन्मुखी उन्नति की कामना करने वाले थे, ऐसा परिज्ञान हमे उनकी रचनाओ से हो जाता है। कतिपय उदाहरण इस वक्तव्य की पुष्टि करेगे। यहा पर बालकृष्ण का वर्णन कितना सहज और सरल वात्सल्य भाव का प्रदर्शन करता है। ग्वालिने बालकृष्ण का परिवेश तथा स्वरूप देखकर प्रसन्न हो उठी है। उनकी प्रसन्नता का यह चित्रण स्वाभाविक है। यथा—

बालकृष्ण वर्णन—

> भिगावे भिगुले। खाद्यावर आंगुले। नाचत तान्हुले यशोदेचे।
> एका जनार्दनी एकत्व शरण। जीवे निबलोण उतरती ॥[1]

'यशोदा के बाल कन्हैया बालक्रीडासक्त है तथा एक छोटा सा कुरता पहिने

१. एकनाथ महाराज की गाथा—अभग १०८, पृ० ६८।

हुए है। एकनाथ उसका वर्णन बड़े ढङ्ग से करते है। ग्वालिने आती है और वालकृष्ण को देखती हैं, जो ऐसे लगते हैं मानो प्रतिविंब के साथ विंब मेल रहा हो। ग्वालिने वाल-कन्हैया को समझाती हैं, और उनके चरण पकड़ लेती है। गोविन्द को रिझाने के लिए वे तालियाँ वजाती है और वे नाच उठते है। वे कहती है हमारा वालमुकुद देवराज है, उनके कमर मे करदोढा है, कानों में वालियाँ है उर पर वाघनख भी सुशोभित है। पैरो मे नूपुर है जो नाचते समय वज उठते है। और कर्ण कुडल हिल उठते है। ऐसी मन मोहिनी मूर्ति पर मुग्ध होकर ग्वालिनें प्रसन्न होकर उन पर न्योछावर हो जाती है, और अपने प्राणों से अधिक प्रिय वालगोविंद को नजर न लगे इसलिये नीवू और लवण उतारती है।

अब एक विरहिणी का चित्र देखिए :

विरहिणी गोपी की दशा का वर्णन—

वहुत जन्में विरहे पीडली। नेणो कैसी स्थिर राहिली।
एका जनार्दनी भेटेल हरी। ते विरह नोहे निर्धारी॥

× × ×

येई वो श्रीरङ्गा कान्हावाई। विरहाचे दुःख दाटले हृदयीं।
एका जनार्दनीं ऐसे केले। विरह दुःख निरसिले॥[1]

'अनेक जन्मो से विरह पीड़ित एक गोपी एकाएक स्तब्ध एवम् स्थिर हो गई। उसके मन की आशा गोविन्द मे विन्ध गई है, क्योंकि कृष्ण को पाने की इच्छा मे वहाँ गई है। वह कही भी हो, कोई भी कार्य क्यो न कर रही हो, सावले कृष्ण का ध्यान उसे वरावर लगा रहता है। उसका विरह अव कैसे दूर होगा। एकनाथ कहते है, कि यह पूर्व पुण्य ही था जिसके कारण इस गोपी को इतना असाधारण विरह भाव प्राप्त हुआ। साधारण विरह का कोई महत्व नही है।' इस विरही भावना से श्रीहरि निश्चित रूप मे मिलेगे ऐसी आशा वँध गई है।

हे श्रीरग! हे कन्हैया! आजाओ विरह जन्य दुःख मेरे अन्त.करण मे एकत्र हो गया है। इससे मुझे कौन मुक्त कर सकता है? मेरे सौभाग्य मे यह परमात्मा सगुण-साकार-शरीर से मुझे प्राप्त हो गया। इसके सगुण और निर्गुण स्वरूप मन को मोहित करते है। मेरे मन सद्गदित होकर दोनो स्वरूप की ओर आकर्षित हो गया है। मेरी वाचाशक्ति कुठित हो गयी है। इन्द्रियो का वोध नष्ट हो गया है। मुझे अन्य किसी भी तरह का परमानन्द अच्छा नही लगता। मेरी वुद्धि स्थिर हो गई है, और मेरे मन की वृत्ति का वैराग्य खो गया है। समाधि

१ एकनाथ महाराज की गाथा—अभङ्ग १३०–१३१, पृ० ४१।

अवस्था मे उन्मनी पर वह स्थिर हो गयी है। मेरा मन सङ्ग विवर्जित हो गया है। काया, वाचा मन और चित्त एकत्र होकर हे श्रीरंगनाथ ! तुम में ही लीन हो गये है। फलतः विरह का दुख नष्ट हो गया है।

मुरली वजती है, और उसकी ध्वनि से गोपी उसकी ओर आकृष्ट हो गई है। अतः अब वह वृन्दावन कैसे जा सकेगी ? वह कहती है—

गोपी की समस्या—

कशी जाऊ मी वृन्दावना। मुरली वाजवी कान्हा ॥
एका जनार्दनी मनीं म्हरण। देव महात्म्य कळेना कोरण ॥[1]

मै वृन्दावन कैसे जाऊँ ? कन्हैया मुरली बजा रहा है। उस पार श्रीहरी मुरली बजा रहा है और यमुना मे बाढ आ गई है। पिताबर कसा हुआ है, कस्तूरी का तिलक सुरेखित है, कानो मे कुण्डल शोभित है। मेरा मन उसमे रम गया है। अरी ! कोई मुझे बताओ मै किससे पूछूँ ? नामों की सूची ले आओ तो मैं उन्हे पुकारूँगी। नद के सुपुत्र श्रीहरि ने बड़ा कौतुक किया है। इस अंतरङ्ग की वात जानने वाला ही जान सकता है। एकनाथ कहते है कि मन मे उसे ध्याये। देव-महात्म्य किसी को भी ज्ञात नही रहता।

हिन्दी अभङ्ग रचनाओं का साहित्यिक पक्ष—

एकनाथ कृत कुल हिन्दी अभङ्ग ४६ है। ये भिन्न विषयो पर हैं जैसे—खेलिया, वाजीगर, वुलवुल, जोगी दरवेश गारुड, गारुडी, फकीर, हिन्दू तुर्क सवाद आदि। एकनाथ की गाथा मे सोलह अभङ्ग हिन्दी गुजराती समिश्र रूप में भी मिलते है। यहाँ पर नमूने के तौर पर दो अभङ्ग हम लेते है[2]—

हिन्दी-गुजराती अभङ्ग—

माई मोरे घर आयो श्याम छे। गांवढ़ी छोड़ी मोरे मन छे ॥
दधी दूध माखन चुरावे हमछे। छोकरिया खिलावन देव छे ॥
मारी सुसोवन लगी छे। बालन उनको पकड़ लीन छे॥
एका जनार्दन थारो छोड़ छे। वेड लगाये माई आमछे ॥

हे मैया यशोदा ! कृष्ण मेरे घर आये। मेरे घर आकर उन्होने दूध और माखन चुराकर खाया। मैने अपनी छोटी विटिया को अपने मन से छोड़ दिया था, और यह समझ लिया था, कि यह छोकरी है अत इसे खेलने दो। जब वह सोने जा रही थी तव उसके बालो को कृष्ण ने पकड़ लिया और अव वह उसके प्रेम मे

१. एकनाथ महाराज अभङ्ग गाथा ४४ अभंग १५५।
२. एकनाथ महाराज अभंग गाथा अभंग ८९ तथा ९४।

पागल हो गई है। हे माता यशोदा तुम्हारे बेटे ने तो हमे पागल बना दिया है। आगे वह कहती है—

भूली भटकी आई कान्हा तोरे गांव छे। मारो नंद नंदन चित्त जड़े।
तोरे पाव छे लालना ॥ चली आई परपंच हाट से।
तू केंव धरीयो मेरे वाट छे ॥ आव तू नंद नंदन लाल छे।
मै गारी देऊ तुजसे लालना ॥ एका जनार्दन नाम तोरे गांव छे।
पीरीत वसे तारे चरण छे लाळना ॥[1]

सावले कृष्ण पर और उसके सौन्दर्य पर रीझी हुई गोपी के ये उद्‌गार मार्मिक है—मै बाजार मे कुछ चीजे खरीदने आई थी, पर मार्ग मे तू मुझे मिल गया। मै इसी स्नेहासक्ति मे भूले-भटके तेरे ग्राम मे पहुँची हूँ। तू तो नद-नदन है, रसिया है। तूने मेरी ऐसी दशा क्यो कर दी ? मै तुझे गालियाँ दूंगी। एकनाथ कहते है कि इस गोपी के मन मे प्रीति उत्पन्न हो गयी है और वह कृष्ण के चरणो मे अपने आपको सौप चुकी है।

एकनाथ का एक अभङ्ग कंजारन पर तेलुगु, हिन्दी और मराठी के समिश्र रूप मे भी मिलता है। यथा—

हो होरी हो हो री हो। लेवरे रसी। ले ने वाला है पर देनेवाला
नही ॥ हो ॥
देने वाला है पर लेने वाला नही ॥ हो ॥ सग आडत्ती। के तान
तोडा। अकारी पड़वा। आधासान जोड़ा ॥ हो ॥ १ ॥
तेलगी वाडवा। पुलान पुलवा। साधन करावा।
मन आशा फेडवा ॥ हो ॥ फुलवान नवरा ॥ अडा तीन तगी।
नीतंग कोडता। तंगीन हाडी हो ॥ जनार्दनी पडवा।
कंजारीण लढवा। कोकनीक करवा। दातारु बरवा ॥ हो ॥[2]

होरी-गीत के रूप मे इसे गाया गया है। भावात्मक-एकता का होरी एक सास्कृतिक उत्सव होने से इस अभङ्ग का महत्व है। 'हिन्दु-तुर्क सवाद' नाम का एक बहुत बडा अभङ्ग मराठी और हिन्दी मिश्रित भाषा मे है। एकनाथ अभङ्ग गाथा का यह ४९७० वॉ पद है। इसकी कुल ६६ कडियॉ है। हिन्दू की भाषा मराठी और मुसलमान की तुर्क की भाषा हिन्दी है। दोनो अपने-अपने धर्म की दुहाई देते है। दोनो अपना तर्क और दलीले प्रस्तुत करते है, इसी तरह, 'वादे वादे जायते तत्वबोध' की उक्ति सार्थक बन जाती है और समन्वय की दृष्टि दोनो मे

१. एकनाथ—अभंग गाथा पृ० ३६—९४।
२. एकनाथ अभङ्ग गाथा, पृ० ३६४।३७५४।

उत्पन्न हो जाती है। इसमे मानव-मानव के बीच समन्वय की दृष्टि होनी चाहिए यह एकनाथ का लक्ष्य समझ मे आ जाता है। पूरा अभङ्ग उद्धृत करना विस्तार भय से ठीक नही होगा पर कुछ वानगी उदाहरणार्थ यहाँ पर प्रस्तुत है[1] —

भावनात्मक एकता और सांस्कृतिक समन्वय—

प्राप्ती एक भजन विरुद्ध। दोहोंचा संवाद परिसावा।
हिन्दु कू तुरक कहे काफर तो म्हणे विटाळ होईल परतासर।
दोन्हींशीं लागली करकर। विवाद थोर मांडिला।
सुनरे बह्मन मेरी वात। तेरा शास्तर सबकू फरात।
खुदाकू कहते पाऊ हात। ऐसी जात नवाजे ॥ ३ ॥

× × ×

तुम्ही तुरक परम मूर्ख। नेणा सदोष निर्दोष।
प्राणी प्राण्याते देतां दुःख। भिस्ती मुख तुम्हा कैंचे ॥
विवादी जाहला अनुवाद। एका जनार्दनीं निज बोध।
परमानन्द दोहींसी ॥ ६६ ॥[2]

एक भजन के विरुद्ध प्रचार करता है, तो उसे ईश्वर प्राप्ति हो जाती है। दूसरा भजन के साधन से ईश्वर को अपना लेता है। हिन्दू और तुर्क मे इसी वात को लेकर चर्चा छिडी और झगड़ा बढ गया। हिन्दू तुर्क को म्लेच्छ कहता है तो तुर्क हिन्दू को काफिर कहता है। दोनो अपने-अपने पक्ष का समर्थन और एक दूसरे का खण्डन करते है। मुसलमान हिन्दू ब्राह्मण से कहता है, कि तुम्हारा शास्त्र झूठ है, तुम इससे खुदा को नही पा सकते। झूठी वाते न वनाओ। ब्राह्मण इसका प्रतिवाद करता है और मुसलमान से कहता है 'तुम झूठे हो प्राणियों की हत्या करते हो तथा नमाज पढ़ते हो, रोजे रखते हो। तुम क्या समझते हो कि इससे तुम पाक-दामन वन गये हो। जितने वकरे कटते है, उसमे से एक भी क्या तुम जीवित कर सकते हो ? यदि नही तो क्या तुम दोजख के पात्र नही हो ? इस तरह दोनों अपनी दलीले पेश करते है और झगड़ा वढता ही जाता है। निर्णय कोई नही कर पाता। वकरे को काटकर उसकी खाल निकाली तो क्या उसको वहिश्त अर्थात् स्वर्ग मिलने वाला है ? वैसे रोजा रखो और नमाज पढो इससे क्या होगा ?

हिन्दु-मुसलमान भाई-भाई है। दोनों को खुदा ने वनाया है। हिन्दुओं को पकड कर मुसलमान वनाओ ऐसी गलत वात खुदा क्यो कहेगा ? केवल तुर्क जो

---

१. एकनाथ अभङ्ग गाथा, पृ० ४१२।४६७०।

२. एकनाथ गाथा, पृ० ४१२।४६५६–४६६६–७०।

कुछ कहे वही सत्य है ऐसी वात नही है। वास्तव मे दोनों अपराधी हैं। खुदा की सहायता के विना किसी का कार्य नही चल सकता। तुर्क कहता है, ब्राह्मण की वात सत्य है। परमार्थ का रहस्य खुल गया। वाद करते-करते दोनो तत्वदर्शी वन गये। दोनो के मनोरथ परिपूर्ण हो गए। दोनो मे ऐक्य उत्पन्न हुआ। दोनो परमार्थी वन गये और दोनो ने आनन्द की प्राप्ति कर ली।

इसी तरह वाजीगरी, गारुड अक्ल आदि विषयो पर हिन्दी मे अभङ्ग है। हम दो हिन्दी अभङ्गो को लेकर एकनाथ विषयक साहित्यिक पक्ष का अनुशीलन समाप्त करेगे। देखिए—अक्ल पर रचित अभग[1]—

तप साधन सुखे करना। दो मिलके गीत गाना।
परावे बेटी पर नजर नही रखना। वीर की कमान ना खेवना।
एका जनार्दनी अक्कल वाहना। सद्गुरु के चरण पकरना॥

इसकी भाषा मराठावाडा की एकनाथकालीन हिन्दी है। इसमे अक्ल पर विवेचन किया गया है। भाषा सरल है, अत. अर्थ-सुस्पष्ट हो जाता है। भावार्थ रामायण का एकनाथ-गाथा पर भी प्रभाव परिलक्षित हो जाता है। जैसे इस अभङ्ग मे गुरु और राम का महत्व अभिव्यजित है[2]—

गुरु कृपा अंजन पावो मेरे भाई। राम बिना कछु खाली नही॥१॥
अन्दर राम भीतर राम। जा देखो व्हां राम ही राम।
जागत् राम सोवत राम। सपनो में देखु तो राजाराम।
एका जनार्दनीं भावहीनिका। जो देखो सो राम सरीका॥४॥

इस अभग मे श्रीरामचन्द्रजी का उन पर समूचे रूप से प्रभाव पडा है। इस वात का विशद वर्णन एकनाथ ने इसमे अङ्कित कर दिया है।

एकनाथ की कृतियो मे से उनका साहित्यिक और आध्यात्मिक विचारो का परिशीलन कर लेने पर हम यह निष्कर्ष निकाल सकते है—

निष्कर्ष (एकनाथ एक कृतिकार एवम् दार्शनिक)

एकनाथ का कृतिकारत्व और दार्शनिकत्व हमे उनकी कृतियो को देखकर ज्ञात हो जाता है। उनके भीतर एक जाज्वल्य और प्रखर आत्म विश्वास था, जिसने उन्हे ब्रह्मज्ञानी और प्रतिभावान् महापुरुष वना दिया था। उनकी साहित्यिक और पारमार्थिक प्रतिभा का स्फुरण और व्यक्तित्व का विकास उनके सद्गुरु की कृपा और मार्गदर्शन का फल है। इसे परम कारुणिक एकनाथ ने अनवरत साधना और

---

१ एकनाथ अभंग गाथा, पृ० ४१६।३९७५।

२. एकनाथ अभङ्ग गाथा, पृ० ४१६ (ड) ३९८८।

तपस्या से उपलब्ध कर लिया था। अनुभूति की प्रखर भट्टी मे जलकर जो खरा सुवर्ण निकला वही उनकी अन्त. सलिला मे करुणासिक्त होकर दुखी और आर्त जनो के उद्धारार्थ उनकी काव्य-गङ्गा के रूप में प्रवहमान हुआ। इस काव्य गङ्गा मे मज्जन कर अनेक लोग अपनी दुख निवृत्ति का चरम उपाय पा गये। अनेक विषयो के प्रदेशो से यह काव्य-पयस्विनी बही है। जहाँ आख्यानों, उपाख्यानों, तत्वो, दृष्टान्तों के सुन्दर सोपान, घाट, एवम् विश्राम स्थल है। इनसे अनेक सासारिक और पारमार्थिक स्तर के लोग अपनी हृदय-प्रवृत्ति और अभिरुचि के अनुकूल स्थल पाकर रमते रहे।

एकनाथ की समूची कृतियों का सक्षिप्त विहंगमालोकन—

एकनाथ की 'आनन्द लहरी' एकनाथ की सर्व प्रथम कृति है जिसमे उन्होंने अपने हृदय की आनन्दावस्था की लहरें तरगित की है। अपने गुरुपदेशामृत के प्राशन से ये निर्माण हुई थी। इस कृति के निर्माण काल में एकनाथ सोलह से अठारह वर्ष के रहे होगे। इसके बाद 'शुक ष्टक' पर मराठी मे टीका उन्होने प्रस्तुत की है। इसमे अपनी काव्यशक्ति और उसके उपकरणो को तुलनात्मक ढङ्ग पर शुक योगीन्द्रानुभूति के साथ परखकर देखने का सुअवसर उनको मिला है। इस तुलना से उनको आत्म विश्वास की प्रतीति हो गयी और अपनी योग्यता का प्रमाण सद्गुरु के सामने प्रस्तुत करने का सौभाग्य भी उन्हें मिला। लगभग २१ वर्ष की आयु में इसे उन्होने लिखा।

तृतीय कृति एक स्वतत्र कृति है, जिसमे वश परम्परागत संप्राप्त काव्य प्रतिभा की ईश्वरीय देन को पुन. पल्लवित, प्रस्फुटित और विकसित करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है। इस कृति को एक अधिकार सम्पन्न सहृदय रसिक ही समझ सकता है। यह 'स्वात्मसुख' नाम से प्रसिद्ध है। एक सुलक्षणी वधू की तरह इसमे उनकी काव्यकला सुसम्पन्न हो गई है।

'शाब्दे परेचनिष्णात' बने हुए एकनाथ 'हस्तामलक' पर मराठी टीका प्रस्तुत करते हैं, जिसमें उनकी प्रगाढ़ विद्वत्ता, बुद्धि-वैभव, पांडित्य तथा तत्वदर्शिता के सम्यक् दर्शन हो जाते है। यहाँ तक आकर अपने गुरु के सान्निध्य में और मार्ग-दर्शन से जीवन के सूक्ष्म निरीक्षण से वे उसे हृदयंगम करते गये। अपनी अनुभूति की गहराई में उसे परिपक्व कर लेने की क्षमता भी उनमे आ गई। यह करीब-

तीस वर्ष के हो गए थे। सम्पूर्ण रूप से ज्ञानी, तत्वदर्शी पडित और करुणाप्रवण सत एकनाथ गृहस्थाश्रमी बनकर सगुणोपासना के सिद्ध और गाढ़े जानकार एवम् अनुभवी बन गए। भारत भ्रमण से जन-जीवन के विभिन्न और विविध बातो का तथा विशेपतः महाराष्ट्र का सास्कृतिक जीवन उनके बराबर ध्यान मे आ गया।

प्रतिष्ठान और वाराणसी मे रहकर उद्धव गीता पर अर्थात् भागवत के एकादश स्कध पर एक विस्तृत मराठी टीका एक तरफ लिख डाली। दूसरी तरफ वे 'रुक्मिणी स्वयवर' जैसे खण्डकाव्य को भी लिखते रहे। प्रतिष्ठान मे एकनाथी भागवत का श्रीगणेश कर मोक्षदापुरी वाराणसी मे उसे समाप्त किया। यहाँ आकर काशी नगरी के महाराष्ट्र-विद्वान पडितो मे उनकी धाक जम गयी। यो स्फुट विषयो पर अनेक अभङ्ग रचनाएँ वे समय-समय पर रचते ही रहे। एकनाथी भागवत मे उनके गुरु के द्वारा उनके अभगो पर उत्कृष्ट अभिप्राय व्यक्त किया गया है। इस तरह कहा जा सकता है, कि उनकी चौथी पाँचवी और छठी कृति उनकी विकास की दशा बतलाने वाली तरतम अवस्थाओ की तीन श्रेणियाँ है। एकनाथजी अब तक पर्याप्त मात्रा मे प्रौढ हो चुके थे। अत. इस परिपक्व आयु मे अपने ज्ञानामृत के फल वे सबको परम कारुणिक बनकर सहृदयतापूर्ण रीति से चखाते रहे, और एक अधिकार सम्पन्न दैवी महापुरुष के नाते लोगो मे मान्यता पाते रहे। ज्ञानेश्वर की 'भावार्थ दीपिका' को लोग विस्मृत कर चुके थे। ज्ञानेश्वर को वैकुठवासी बनकर २००–३०० वर्षो का अरसा बीत चुका था। उनके ग्रन्थ मे अनेक अपपाठ और प्रक्षेप घुस गये थे। उनका निवारण कर उसका शुद्ध पाठ तैयार कर, उसका सुन्दर और योग्य सम्पादन एकनाथ ने किया।

एकनाथी गुरु परम्परा दत्तोपासना की थी। जनार्दन स्वामी की कृपा और अनुग्रह से वे कृष्णोपासक बने। एकनाथी भागवत की रचना करते हुए, वे उदार-चेतस महात्मा और परम भागवत बन गये। भक्ति उनके अन्त करण मे दृढमूल हो गई थी। ऐसी ही परिस्थिति मे प्रभु रामचन्द्र का उन पर अनुग्रह हुआ। उनके आदेशानुसार 'भावार्थ रामायण' रचने का सकल्प कर उसमे वे सलग्न हो गये। प्रभु रामचन्द्रजी और उनका आदेश उन पर इतना हावी हो गया था, कि सोते-जागते, उठते-बैठते, खाते-पीते सदा-सर्वदा सर्वत्र उन्हे रामायण और रामकथा साकार होकर प्रत्यक्ष आँखो के सामने आविर्भूत होने लगी। वृद्धावस्था की असमर्थता के व्यामोह मे वे इसकी रचना मे प्रभु रामकृपा से दत्तचित्त हो लग गए थे। उनके द्वारा यह कार्य युद्धकाड के ४४ अध्याय तक पूरा हो गया। फिर अपना प्रयाण काल समीप जानकर उन्होने अपने परम शिष्य गावबा को उसे पूरा करने का आदेश दिया। सन् १५९९ मे एकनाथ ने अपना अवतार कार्य समाप्त किया।

गावबा ने गुर्वाज्ञा के अनुसार युद्धकांड के ४५ वे अध्याय से उत्तरकांड तक शेष रचना कर इस कार्य को सुसम्पन्न किया।

अनेक स्फुट विषयो पर रचे गए मराठी और हिन्दी अभग रचनाओ का महोदधि अपनी गम्भीर और पारमार्थिक अभिव्यंजना और विस्तार के लिये मराठी वैष्णव साहित्य मे लोक-विश्रुत है। उनका यह महामहिमा पूर्ण अक्षर-वाङ्मय उन्हे सार्थ रूप में 'मराठी वैष्णव साहित्य का हिमालय' सिद्ध कर उनकी प्रतिष्ठा के स्वर्ण मे सुगंध का यश समिश्र कर उन्हे सम्यक् गौरव प्रदान करता है।

तुकाराम के अभंगों का साहित्यिक पक्ष—

संत श्रेष्ठ और भक्त श्रेष्ठ तुकाराम के अभगो का साहित्यिक अनुशीलन करते हुए यह प्रमुख रूप से बात ध्यान मे आ जाती है, कि उनका काव्य आत्मनिष्ठ और भावपूर्ण परिस्थितियो से सम्पन्न और अनुभूति की मार्मिक दशाओ से युक्त है। इसका कारण उनका तीव्र रूप मे किया गया चिंतन, मनन और अध्ययन है। तुकाराम के अभगों के विषय आध्यात्मिक और उच्च विचारो की तीव्रतम अन्तर्मुख प्रवृत्तियो से युक्त है। गुरुपदेश हो जाने के पूर्व उनका अन्तःकरण काव्य के अभिव्यंजना पक्ष की परिपक्वता प्राप्त करने मे तत्पर था। काव्य विशेष रूप से स्फुरित और प्रस्फुटित गुरुपदेश के बाद ही हुआ। गुरुपदेश हो जाने के पूर्व भी वे काव्य-रचना करते थे इसका प्रमाण वे इस प्रकार देते हैं—

करितो कवित्व म्हणाल हे कोणी। नव्हे माझी वाणी पदरीची।
तुका म्हणे आहे पाइकचि खरा। वागवितो मुद्रा नामाचिया॥[1]

यदि कोई मुझसे पूछता हैं कि यह कवित्व किस का है? तो मेरा यह उत्तर है कि यह मेरी अपनी वाणी नही है प्रत्युत वह विश्वम्भर मेरे द्वारा अपनी वाणी मुखरित करवा रहा है। मैं पामर कुछ भी नही जानता। अर्थभेद तथा काव्य प्रकार भी मुझे ज्ञात नही हैं। यह सारा गोविन्द की कृपा का और सामर्थ्य का फल है। मैं तो निमित्त मात्र हूँ। विश्व के स्वामी की सत्ता से वह कोई भी कार्य चाहे जिससे करवा लेते है। मैं तो भगवान् का सेवक मात्र हूँ, और नाम मुद्रा धारण करता हूँ इसी नाते गोविन्द मुझे मुखरित कर देते है। यह विनम्रता आगे चलकर भक्ति की तादात्म्यता से विकसित होकर प्राजल, अनुभूतियुक्त तथा गुरुकृपा से अधिकार सम्पन्न वाणी मे परिणत हो जाती है। उनके आत्म भावाभिव्यजक उद्गार निर्भयता से एक फक्कड की तरह अभिव्यजित हो जाते है। आत्मसमर्पण करने वाले भक्त की वाणी अमृतमयी मधुरिमा से युक्त तथा सीधे अन्त करण पर चोट करने वाली प्रतीत होती है।

---

१. तुकारामाचे अभङ्ग (सरकारी गाथा—अभङ्ग १००७)।

तुकाराम एक अधिकारी भक्त थे अतः उनकी यह उक्ति देखिए[१]—

अन्तर्मुख भक्त की अभिव्यंजना—

सांगा दास नव्हे तुमचा मी कैसा । ऐसे पढरीशा विचारुनी ।।
कोणासाठी केली प्रपचाची होळी । या पाया वेगळी मायबापा ।।
नसेल तो धावा सत्यत्वासी धीर । नये भाजू हीर उफराटे ।।
तुका म्हणे आम्हा आहिक्य परत्री । नाही कुल गोत्री दुजे कांहीं ।।

× × ×

काही मागणे हे आम्हा अनुचित । वडिलांची रीत जाणतसे ।।
देह तुच्छ वाटे सकळ उपाधी । सेवे पाशी बुद्धि राहिली से ।।
शब्द तो उपाधि अचळ निश्चय । अनुभव हा काय नाही अङ्गी ।।
तुका म्हणे देह फांकिला विभागी । उपकार अङ्गी उरविला ।।

अन्तर्मुख और आत्मपरक बने हुए तुकाराम के काव्य मे अन्तर्मुखता बहुत तीव्रतम मात्रा मे है। भक्त के नाते वे भगवान् को चुनौती देकर कहते है कि बताइये तो सही कि हे पढरीनाथ जी ! मै आपका दास किस प्रक र नही हूँ ? अपने हाथो अपना सर्वस्व जलाकर क्या मैने आपके चरणो का आश्रय नही ग्रहण किया ? आपके सत्यत्व की पहचान हो जाय इसलिए सामर्थ्य, ध्येय आदि की मुझमे कोई कमी हो तो आप उसे मुझे प्रदान कर दीजिए। अब इस ससार मे आपके सिवा मेरा कौन है ? अब तो किसी से कुछ भी माँगना मेरे लिए अनुचित लगता है। मुझ से श्रेष्ठ लोगो की प्रणाली का मैने पालन किया है। आपकी सेवा के अतिरिक्त बुद्धि कही अन्यत्र रमती ही नही है। केवल शाब्दिक बकवास तो व्यर्थ का बोझ है। भक्ति से सप्राप्त मेरा अनुभव क्या यह नही बतलाता कि मैने अपने भीतर केवल उपकार को ही स्थान दे रखा है ? मेरा निश्चय अटल है। आपका नाम अनमोल है, इसका मुझे पूरा भरोसा है।

तुकाराम तो कोरमकोर भक्त थे। अत इसी एक साधन से भगवान् को प्राप्त कर लेना उनका चरम लक्ष्य बन गया था। इसीलिए उनकी एक ही चिन्ता थी, जिसे वे व्यक्त कर देते है[२]—

भक्त का मनोभाव—

काय मी उद्धार पावेन । कृपा करील नारायण ।
तुका म्हणे नाही अपुले बळ । जेण फल पावेन निश्चयेसी ।।

---

१. तुकारामाचे अभंग, ४०८४, २२३२ ।

२. तुकारामचे अभग, ६१९ ।

क्या सचमुच भगवान् मुझ पर कृपा करेंगे ? मेरा उद्धार हो जावेगा ? क्या मेरे पिछले कर्म और धर्माधर्म का विलयन हो जायगा ? क्या स्थिर बुद्धि से मेरा ध्येय पथ मुझे दिखाई पडेगा ? भगवान् के चरणो मे झुक कर जब में गिर पड़ूँगा। तो क्या वे मुझे उठाकर अपने गले से लगा लेगे ? जिससे मेरा गला रुंधकर भर आवेगा, क्या ये सारी इच्छाएँ परितृप्त हो सकेगी ? क्या मे इतना भाग्यशाली हूँ ? भगवान् से मिलने की उनमें बहुत बेचैनी है। उनके न मिलने से चिढ़ और क्रोध की समिश्र भावना स्थान स्थान पर अभिव्यक्त हो गई है।

अपने आराध्य के प्रति नैकट्य की भावना से प्रकट होने वाला क्रोध—

तुकाराम की भक्त और भगवान् के सम्बन्ध को स्पष्ट करने वाली उक्ति देखिए[1]—

भक्त और भगवान् की अभिन्नता—

क्षण क्षण जीवा वाढतसे खंती। आठवती चित्ती पायदेवा ॥
तुका म्हणे वाटे देसी आलिंगन। अवस्था ते क्षणां होत असे ॥

हे नारायण ! मेरा मन उतावला होकर आपके आगमन की प्रतीक्षा कर रहा है। आपकी स्मृति मुझे पीडा पहुँचती है, अतः स्वयम् दौड़ते हुए आकर मुझे क्षेमालिंगन दीजिये। जब तक आप मुझे स्वीकार नही कर लेगे तब तक इस भक्ति के कृत्रिम बहुरूपियेपन से मुझे यह ससार-सरिता पार करना कठिन हो जायगा। आपका दर्शन सुख किस प्रकार का होगा ? मै नही जानता। मुझे यह उत्कठा व्यग्र कर देती है। आपका मुखकमल देख कर मुझे उसका अनुभव हो जायगा। ऐसा प्रतीत होता है जैसे आप प्रत्येक क्षण मुझे आलिंगन दे रहे है। अपना आत्म-दैन्य वे परमात्मा से निवेदन कर देते है, और उनकी पतित पावनता की याद दिलाकर उसे अपने लिए कार्यान्वित करने की प्रार्थना करते है। जब आत्मैक्य की स्थिति मे वे पहुँच जाते है, तब वे उसे इस तरह प्रकट करते है[2]—

आत्मा-परमात्मा की एकता—

देह तो पंढरी, एक पुंडलिक। स्वभाव सम्मुख चन्द्रभागा ॥
विवेका ची वीट आत्मा पंढरी राव। जेथे जेथे देव ठसावला ॥
क्षमा दया दोन्ही राई रखुमाबाई। दोहींकडे बाही मुक्ति असे ॥
विवेक वैराग्य गरुड हनुमंत। कर जोडुन तेथे सदा उभे ॥
तुका म्हणे आम्ही देखिली पढरी। चुकविली फेरी चौ-यांयशीची।

---

१. तुकारामाचे अभंग, २५६३।

२. तुकाराम कृत अभग।

सारे विश्व को वे परब्रह्म का निवास मान कर कहते हैं, कि उनका अपना शरीर पंढरी नगरी है, तथा आत्मा पंढरिनाथ है। परमात्मा सर्वत्र चराचर में व्याप्त है। इस ऐक्यानुभूति की अवस्था में तुकाराम की भूख प्यास मिट गयी। भूख ने भूख को खा डाला। और प्यास ने प्यास को पी डाला। विवेक की ईंट पर आत्मा रूपी विठ्ठल को स्थिर कर दिया। क्षमा और दया ये मानो राधा और लक्ष्मी हैं। मुक्ति दोनों हाथों से बाँटी जा रही है। ऐसी अपूर्व पंढरी नगरी का तुकाराम ने दर्शन कर लिया है। विवेक और वैराग्य ये गरुड़ और हनुमान हाथ जोड़कर वहाँ सदा विद्यमान रहते हैं। इस दर्शन से चौरासी लक्ष योनियों के आवागमन से मुक्ति मिल गयी।

मराठी वैष्णव भक्त कवियों में तुकाराम को इस मन्दिर का कलश माना गया है। भक्ति का डिंडिम घोष निनादित करने वालों में से तुकाराम प्रमुख हैं। अपने गुरु से मिले हुए 'राम कृष्ण हरि' इस मंत्र को अत्यन्त प्रिय बनाकर अपनी भक्ति-साधना को अधिक बल प्रदान करते हुए सगुण भक्ति की धारा की अखण्डता को अपनी अभंगवाणी से तुकाराम ने प्रस्तुत किया। तुकाराम आर्त जनों के लिए अन्तःकरण से निसृत करुणापूर्ण वाणी में लिखते हैं[1]—

तुकाराम की आर्तवाणी—

> उजळावया आलो वाटा। खरा खोटा निवाडा ॥
> बोलविले बोले बोल। धनी विठ्ठला सन्निध ॥
> तरी मनी नाहीं शङ्का। बळे एका स्वामीच्या ॥
> × × ×
> निरोप सांगता नधरी। नकरी चिता ॥
> असो ज्याचे त्याचे माथा। आपण करावो कथा ॥
> तुका म्हणे वाहे धाक। तया इह ना परलोक ॥

वास्तव में ऐसे पहुँचे हुए भक्त कवि जिस आध्यात्मिक सुख को उपलब्ध कर लेते हैं। उसको केवल अपने तक ही सीमित नहीं रखते, वरन् सब को उसका लाभ करा देने के लिए उनका उदार अन्तःकरण सदा तत्पर हो जाता है। तुकाराम में भी यही उदारता विद्यमान है। इसे हम उनकी समाजोद्धारोपयोगी प्रयत्नशीलता कह सकते है। उपर्युक्त अभङ्ग में इसी प्रयत्नशीलता का प्रदर्शन है।

सत्य और असत्य का निर्णय करने तथा आर्तलोगों के सामने विद्यमान अन्धकारपूर्ण राह को उचित साधनों से प्रकाशित करने के लिए मैं इस भूमि पर आया हूँ। अर्थात् मेरा जन्म इसलिए है, ऐसा तुकाराम कहते है। मैं अपनी ओर से

---

१. तुकारामाचे अभंग ३१८, १७१०।

कुछ भी नही कहता। अपने आराध्य विठ्ठल के सम्मुख और सान्निध्य मे जो बोल मेरे मुख से उन्होंने अभिव्यजित करवाये उनको ही मैंने अपने स्वामी के वल पर आर्तजनों के सम्मुख रखा है। इसमें तुकाराम अपनी कर्तृत्व भावना को स्वयम् ग्रहण नही करते है, प्रत्युत उसे विठ्ठल को ही प्रदान कर देते है। यह तो उनका दिया सदेश है, जो मे आप लोगो के लिए वितरित कर रहा हूँ। मुझे कोई चिंता इस बात की नही है, कि इसमें से कौन कितना ग्रहण करेगा। मै तो अपने परमेश्वर की आज्ञा का पालन भर कर लेता हूँ। परन्तु उनका उदार अन्त.करण जनता की दुखावस्था को देखकर दुखी होता है। अतएव वे पुनः अभ्यर्थनापूर्वक आर्तजनो से कहते है[1]—

सेवितो हा रस वाटितो आणिका। घ्यारे होऊँ नका रानभरी॥
विटेवरी ज्याची पाऊले समान। तोचि एक दान शूर दाता॥
मनाचे संकल्प पावतील सिद्धि। जरी राहे बुद्धि याचे पायी।
तुका म्हणे मल धाडिले निरोपा। मारग हा सोपा सुखरूप॥

मैं इस भक्ति रस को प्रथम सेवन करता हूँ और फिर आपको बाँट रहा हूँ। इसे ले लो क्यों व्यर्थ मारे-मारे फिरते हो? जिसके समचरण ईट पर स्थित है ऐसे विठोवा इस रस के प्रदाता दानशूर है। इसे ग्रहण करो तो आपके मन मे किये गये सकल्प सिद्ध होगे। एकमात्र शर्त यही है, कि आप अपनी बुद्धि विठ्ठल के चरणो मे मर्मपित कर दें। मुझे तो उन्होने संदेश भेजकर यह वतलाया है कि यह भक्ति मार्ग सरल और कुशलता से भगवान् की प्राप्ति का सहज साधन है।

सामारिक लोग डूब रहे थे। तुकाराम से यह नही देखा गया तब उन पर उपकार करने की भावना से प्रेरित होकर वे डूबने वालो को दिलासा देना चाहते है। इस उपकार पूर्ण भावना मे उनकी आत्मानुभूति और स्वात्म-प्रतीति मिली जुली थी। यह सोलहो आने सत्य का साक्षात्कार था, जिसे वे उनके सामने रख देते है। यही मनोभाव यहाँ पर प्रकट कर वे दिखाते है।[2] यथा—

बुडता हे जन न देखवे डोळा। येता कळवळा म्हणोनिया।
तुका म्हणे माझे देखतील डोळे। भोग देते वेळे येईल फळो॥

डूबते हुए जनो की दशा मुझ से नही देखी जाती। मेरा अन्तःकरण द्रवीभूत हो जाता है अत मै अपने स्वानुभूत सत्य का, ज्ञान का सीदे-सादे शब्दों मे निवेदन कर देता हूँ। अपनी काव्य वाणी के जलदो से वे सव पर करुणावृष्टि कर

१. तुकारामाचे अभंग ३४४।
२. तुकाराम कृत अभङ्ग।

देते है। उनकी आत्मानुभूति अपनी निजी आत्म प्रतीति की भट्टी मे तपाई गई थी। अपने अनुभव के सत्य को वे यो प्रकट कर देते है।

तुकाराम के आत्मानुभव—

हारो माझा अनुभव। भक्ति भाव भाग्याचा ॥
केला ऋणी नारायण। नव्हे क्षण वेगळा।
घालोनिया भार माथा। अवघी चिंता वारली।
तुका म्हणे वचना साठी। नामकठी वारोनिया ॥

× × ×

अनुभवे आले अङ्गा। तें या जगा देतसे।[1]
नव्हती हात तुके बोल। मूळ ओल अन्तरिंची ॥
तुका म्हणे ज्याचे नाम गुणवंत। ते नाही लागत पसरावे ॥[2]

तुकारामाचे अभग नं० ३२३५।

मेरी अनुभूति भाग्य से ही मेरे हाथ पड गई है। भक्ति का भाव उत्पन्न होना सौभाग्य का लक्षण है। नारायण को अपनी भक्ति से ऋणी बना लिया था, इसी से कोई क्षण मेरे जीवन मे ऐसा नही आया जिसमे नारायण से मै अलग पड गया था। मैने अपना सारा उत्तरदायित्व उसे सौप दिया था। मेरी सारी चिन्ताएँ नारायण ने निवारण कर दी। भक्त पालक यह अभिधान सत्य सिद्ध करने के लिए भगवान् भक्त को सकट मुक्त कर देते है। इस प्रकार मेरे अनुभव मे जो कुछ तथ्य हाथ लगा है, उसे सहृदय पूर्ण वनकर सवको मैं वितरित करता रहता हूँ। अन्त.करण की स्वाभाविक आर्द्रता ने तुकाराम को प्रेरित कर दिया था, कि वे आर्त जनो मे इस भगवान् के प्रसाद को बाँट दे। ये रत्नों की तरह मौल्यवान अनुभव है। जो अपने अद्भुत गुणो से अपनी प्रतिष्ठा सिद्ध कर देगे। हृदय की भूमि शुद्ध भाव से उर्वर हो गई है उसमे भक्ति के वीज वपन कर दिये जाने पर उनका फल भगवदानुभूति के रूप मे सब को अवश्य मिलेगा।

तुकाराम की समाज को देन—

अपनी प्रखर स्पष्ट वादिता से अपने अभङ्गो मे लोगो के दोषो और पाखंडों पर जोरदार प्रहार किये है। सदाचार और सन्मार्ग पर चलने का वे नित्य उपदेश देते रहे है। अपने पूर्व कालीन सन्तो के ग्रन्थ ज्ञानेश्वरी, एकनाथी-भागवत,

---

१. तुकारामाचे अभंग २८००, २८४५, ३२३५।

२. तुकारामाचे अभग संख्या ३२०।

नामदेव की गाथा, आदि का तुकाराम ने कई बार पारायण कर लिया था। इन सबके सस्कार तुकाराम के काव्य पर विद्यमान है। सब प्राणियों पर दया, सब मे ईश्वरीय तत्व की पहिचान, सर्वात्मभाव, जगत् का क्षण भंगुरत्व आदि सारे भाव उनके काव्य मे भरे हुए है। इन सबको उन्होने भक्ति रस से सिंचित कर अपनी भावभगिमा से अभङ्गो मे अभिव्यक्त कर दिया है। यही उनकी महाराष्ट्रीय समाज को सबसे बड़ी देन है। पारमार्थिक क्षेत्र की ये अनुभूतियाँ बडी व्यापक और मार्मिक है। इन अभङ्गो मे तुकाराम का अनन्य भाव और प्रेम से अखड नामस्मरण गूज उठा है। भक्ति और ध्यान के माध्यम से उनको राज-योग की सभी बाते अपने आप महज ही प्राप्त हो गयी थी। परमेश्वर का दर्शन-आत्मरूपदर्शन और उससे प्राप्त अनिर्वचनीय आनन्द की उपलब्धि उन्हे हो गयी थी। उनकी पारमार्थिक भूख बडी प्रबल थी, इसीलिए सभी प्राणियो को वे ब्रह्म रूप देख सके। विठ्ठल के साथ बातचीत, आलिंगन, दर्शन आदि सभी सुख उन्हें सचमुच मे इसी जीवन मे प्राप्त हो गये। तुकाराम के अभङ्गो की भाषा सीधी-साधी और प्राजल है, तथा उनमे थोडे मे बहुत कहने की शक्ति है। उनकी अभिव्यजना मे परिपक्व अनुभवों की बाते है। यो कहा जा सकता है, कि ये एक सिद्ध की बाते है। उनके अभग रत्नो का अपूर्व भडार है।[1] यथा—

देवाची ते खूण आलां ज्याचा घरा।
त्याच्या पड़े चिरा मनुष्य पणा॥
देवाची ते खूण झाला जया संग॥
त्याचा झाला भंग मनुष्य पणा॥

'नर करनी करे तो नर का नारायण बन जाता है,' यह कथन तुकाराम के बारे मे सार्थक हो जाता है। वे कहते है कि जिसके गृह मे भगवान् की प्रतिष्ठा है वहाँ पर मानवता के स्थान पर देवत्व विराजमान हो जाता है, और मानवता की शिला मे दरारे पड जाती है। अपने अभङ्गो के द्वारा पराभक्ति के प्रसार का कार्य परमात्मा के लाड़ले भक्त तुकाराम ने दिल खोलकर किया। तुकाराम के अभगो की विवेचन प्रणाली निवृत्ति परक है। उनके प्रतिपादन का सार यही है कि मानव का ध्येय ईश्वर-प्राप्ति है। इसके लिए दुर्गुणो का त्याग तथा समुचित रूप मे प्रपच का आश्रय लेकर वैराग्य को अपनाना चाहिए। स्वार्थ, अहङ्कार, मद-मत्सर, पर-पीड़ा, तथा परनारी को त्याग कर भूतदया, क्षमा, शान्ति परोपकार आदि गुणो का प्रादुर्भाव अपने मे कर लेना आवश्यक है। समाज के दम्भ और पाखड पर लिखे गये

---

१. तुकारामाचे अभग ३४४६।

उनके १००–१२५ अभग होते है। इनके द्वारा दिया गया काव्योपदेश ही इनका वहुत वडा सामाजिक कार्य है। समाज के मूलभूत सद्गुणो की वृद्धि उन्होने की। अपने समय की राजनीति से वे तटस्थ ही रहे। मानव की मानवता को जगाने का कार्य उन्होने किया, और समाज की अधोगति से उसे उबार कर मानवता के उच्च स्तर पर लाकर विठाया। कुछ लोगो का यह आक्षेप कि तुकाराम के उपदेशो से लोग आलसी वन गये, एकदम निराधार और निर्मूल जान पडता है।

अब हम तुकाराम कृत हिन्दी रचनाओं पर भी कुछ विवेचन करेगे। कृष्ण-लीला विपयक कुछ पद तुकाराम ने लिखे है। उनके अभंगो की हिन्दी भाषा परिष्कृत नही है, परन्तु उसमे एक सहज उत्स्पूर्तता अवश्य प्रतीत हो जाती है। उसे हम व्रज भाषा ही कहेगे। वैसे कुछ अभगो मे मराठी और गुजराती की छाप अवश्य उभर पडी है ऐसा जान पडता है। अब कुछ हिन्दी अभग देखिये।

तुकाराम के हिन्दी अभग[१]—

कृष्ण-लीला परक दो ग्वालिन का यह चित्र देखिये—

(१) मै भूली घर जानी वाट। गोरस बेचन आयँ हाट॥
कान्हारे मन मोहन लाल। सब ही विसरुँ देखे गोपाल॥
काहा पग डारूँ देख आनेरा। देखे तो सब बोहिन घेरा॥
हूँतो थकित मैरे तुका। भागारे सब मन का धोका॥

× × ×

(२) भलो नदजी को डिकरो। लाज राखी लीन हमारो॥
आगळ आतो देवजी कान्हा। मै घर छोड़ी आहे ह्माना॥
उनसुं कळना नव्हे तो भला खसम अहङ्कार दादुला॥
तुका प्रभु पर वल हरी। छपी आहे हुं जग़ा थी न्यारी॥

यह ग्वालिन कहती है, कि मै गोरस वेचने वाजार मे जो पहुँची परन्तु अपने घर वापस लौटने का मार्ग भूल गई। ऐसा लगता है कि हे कन्हैया! हे मन-मोहन! सब कुछ भूल-भालकर केवल गोपालो को ही देखती रह जाऊँ। अव ऐसी विपन्नावस्था मे मैं अपने कदम कहाँ पर रखूँ क्योकि मेरे सामने अन्धकार है। वैसे मैं जहाँ देखती हूँ वहाँ वह सबको आपने ही घेर रखा है। अत आपका ही भरोसा है। दूसरी ग्वालिन कहती है कि नन्दजी का यह पुत्र बडा सामर्थ्यशाली है क्योकि इसने मेरी लाज रख ली है। मेरे आराध्य कन्हैया सामने आ जाओ। मै तो अपना घर छोडकर आपसे मिलने आई हूँ। मेरे पति को न मालूम हो तो अच्छा है।

---

१. तुकारामाचे अभंग ३८१, ३८३।

उसी मे मेरा भला है। क्योकि मेरे पति अहङ्कारी है और क्रोधी है। मैं तो जग से न्यारी हूँ और हे भगवान्! छिपकर आपसे मिलने आ गई हूँ। तुकाराम कहते है कि प्रभु सर्व शक्तिमान है पर यहाँ पर उस ग्वालिन का सारा बल श्रीहरि के द्वारा प्रदत्त है। तात्पर्य यह है कि उसे कोई अड़चन घर पर और बाहर दोनो स्थानो पर महसूस नही होगी ऐसा उसका विश्वास है। तुकाराम ने कुछ अन्य पद भी हिन्दी मे लिखे है। नमूने के तौर पर हम यहाँ पर कुछ पदो को लेगे—

क्या गाऊँ कोई सुननेवाला। देखे तो सब जगही भूला।
खेलौ अपने रामहि सात। जैसी वेरनी कर हौ मात॥
कहाँ से लाऊ मधुरा वानी। रीझे ऐसी लोक विरानी।
गिरिधर लाल तो भाव का भुका। राग कला नहि जानत तुका॥[1]

× × ×

बार बार काहे मरत अभागी। बहुरि मनर से क्या तोरे भागी।
एहितन करते क्या ना होय। भजन भगति करे वैकुण्ठ जाय।
रामनाम मोल नहिं बेचे कवरी। वोहि सब माया छुरावत झगरी।
कहे तुका मनसूँ मिल राखो। रामरस जिव्हा नित्य चाखो॥[2]

× × ×

हम उदास तीन्ह के सुना हो लोकां। रावरा मार विभीषरा दिई लंका।
गोवर्धन नखपर गोकुल राखा। बर्सन लागा जब मेंहु फत्तर का॥
वैकुठनायक काल कसासुरका।देनडुबाय सब मङ्गाय गोपिका॥
स्तंभ फोड पेट चिरीया कश्यपका। प्रल्हाद के लिये कहे भाई तुक्या का॥

तुकाराम कहते हैं, क्या करूँ मेरी कोई सुनने वाला ही नही है। सारा ससार अपने स्वार्थ मे ही भूला पडा हुआ है। मै तो अपने राम के साथ खेलता रहता हूँ, और किसी तरह सब को मात करता हूँ। मै मधुर वाणी कहाँ से लाऊँ? क्यो कि उस पर जो रीझेंगे ऐसे लोग ही दूसरी कोटि के होते है। वैसे मेरे गिरधारी तो केवल भावो के भूखे है। मै तो गाने की कला तक नही जानता हूँ।

× × ×

हे जीव! तू क्यो बार बार मरता है। बार बार मरने से तुझे कौनसा सौभाग्य प्राप्त होने वाला है। इस शरीर से यदि कोई कुछ कार्य करना ही चाहे

---

१. तुकारामाचे अभंग ११५१, पृ० ३०६।
२. तुकारामाचे अभंग ११७१, पृ० २०६।

तो क्या नही कर सकता ? यदि कोई इसी शरीर से भजन-भक्ति करता है, तो वह अवश्य वैकुंठ को प्राप्त कर सकता है। रामनाम मोल देने के लिए कवड़ी (कोड़ी) भी खर्च करनी नही पडती। किन्तु वही रामनाम सारी माया के झगड़ो से मुक्त कर देता है। तुकाराम कहते है कि जिह्वा को नित्य राम रस चखना चाहिए। रामनाम मे मन:पूर्वक आस्था रखनी चाहिए।

× × ×

जिन के कारण हम ससार से उदास हो गये है, उनकी महिमा सुनिये। प्रभु रामचद्रजी ने रावण को मारकर विभीषण को लङ्का का राज्य दिया। गोवर्धन को अपने नख पर धारण कर सारे गोकुल की रक्षा की, जबकि मूसलाधार वर्षा इन्द्र के प्रकोप से हुई थी। वैकुंठनायक कसासुर के काल है। गोपिकाओं से सर्वस्व लेकर उनके द्वैत भाव से उन्हे मुक्त किया। प्रल्हाद के लिए हिरण्य कश्यप का पेट फाड़कर उसकी सुरक्षा की।

तुकाराम द्वारा लिखी गयी कतिपय साखियाँ भी द्रष्टव्य है[1]—

तुकाराम वहुत मीठा रे। भर राखूं शरीर। तनकी करूँ नावरि
उतारूँ पैल तीर ॥११७७॥

तुका प्रीत रामसुँ। तैसी मीठी राख। पतङ्ग जाय दीप परेरे।
करे तन की खाक ॥११८४॥

तुका दास राम का। मन में एक हि भाव। तो न पालटूआव।
येहि तन जाव ॥११९२॥

तुका मिलना तो भला। मनसुँ मन मिल जाय। उपर उपर माटि घसनी।
उनकी कौन बराई ॥११९७॥

ब्रीद मेरे साइंया के। तुका चलावे पास। सुरा सोहि लरे हमसें।
छोरे तनकी आस ॥१२००॥

कहे तुका भला भया। हुं हुवा सतन का दास।
क्या जानूं केते मरता। जो न मिटती मनकी आस ॥१२०१॥

तुकाराम कहते है, रामनाम वहुत मीठा है। उसको सारे शरीर मे भर रखूँगा। इस शरीर की नौका से भवसागर रामनाम के सहारे पार कर जाऊँगा। राम से प्रीति कर उसके माधुर्य के साथ उसका वैसा ही निर्वाह करना चाहिए, जैसे पतङ्ग दीपक पर अपने प्राण न्यौछावर कर देता है। तुकाराम कहते है, कि राम का दास हूँ। मेरे मन मे एक यही भाव है। चाहे मेरा शरीर चला जाय

---

१. तुकारामाचे अभंग साखियाँ ११७७, ११८४, ९२-९७, १२००, १२०१, पृ० २१०-१२।

परन्तु मैं उममे कोई परिवर्तन नही करूँगा। तुकाराम कहते है, मिलना वही अच्छा है जहाँ मन से मन मिल जाता है। ऊपरी तौर पर मिलना केवल मिट्टी का मलना मात्र है उसकी कोई प्रतिष्ठा नही है। मेरे स्वामी का यह विरद है कि वे शरणागत वत्सल हैं। इसलिए मैं उनके पास आया हूँ। जो अपने तन की आशा को छोड़ सकता है वही शूर हमसे लड़कर आजमाइश कर देख ले। मै मन्तो का दास हूँ यह वहुत अच्छी बात है। वैसे तो न मालूम कितने ही मन की आशा पूरी न होने के कारण रोज मरा करते हैं।

इस तरह कहा जा सकता है कि इस अभिव्यजना में तुकाराम की भक्ति के स्वर तथा उसकी शैली वही है जो उनके मराठी अभङ्गो मे मिलती हैं। भक्ति तो उनमे कूट-कूट कर भरी हुई है। तुकाराम का साहित्य करुण रस से परिपूर्ण है।

रामदास के काव्य का साहित्यिक पक्ष—

समर्थ रामदास का साहित्य ओजस्वी तथा स्फूर्ति प्रदान करने वाला है। बहुत से लोग समर्थ रामदास को साहित्यकार ही नही मानते। वस्तुत. यह वात नहीं है। वे सहृदय तथा प्रतिभावान कवि है अपनी काव्य प्रतिभा को अपने उपास्य के गुणानुवाद मे और चरित्र चित्रण मे वे प्रसाद और माधुर्य गुण से युक्त रूप मे व्यवहृत करते है। इसे देखना हो तो उनकी कतिपय कृतियाँ अध्ययन कर इसे सिद्ध किया जा सकता है। वैराग्य परक भावना होते हुए एक मुमुक्षु की तरह केवल अपना मोक्ष या आत्मकल्याण की ही चिन्ता उनको नही लगी है। परन्तु लोक-कल्याण की व्यापक दृष्टि भी उनमें है। इसलिए वे व्यापक रूप से सब मे सदाचार और आस्तिकता आजाय, इसके लिए साधनारत तथा प्रयत्नशील जान पड़ते हैं। उनकी काव्य-साधना, आध्यात्मिक-साधना की तरह तपस्या और ईश्वरी अधिष्ठान पर आश्रित होने से उनका साहित्य अनुभूति पर आधारित है। अपने आराध्य के साथ उनका सवध भक्ति की सरसता और भावात्मकता से रहित न था, वरन् परिपूर्ण एवम् सुसपन्न था।

उनकी वर्णन शैली गंभीर तथा चित्रोपम लालित्य, तन्मयता और गतिशीलता पूर्ण है। इस के साथ लय और एकतानता भी उनके साहित्य मे विद्यमान है। 'दासवोध' जैसी विचार प्रधान कृति में बुद्धि और चितन की गभीरता मिलती है। परन्तु उनके पदो में और कविताओ मे तथा अन्य भावाभिव्यजक कृतियो मे सरसता और रस परिपोष करने वाली भावुकता पूर्ण शैली विद्यमान है।

शब्द योजना और ध्वन्यात्मकता प्रदर्शित करने वाली उनकी 'सीता-स्वयवर' वर्णन नाम की कविता द्रष्टव्य है। यथा[१]—

१. समर्थाची गाथा, पद १०३५ पृ० ३११।

रामे सज्जीले वितंड परमचड । रामे उचलिले त्र्यंबक कौशिक ऋषि पुलकांक ।।
रामें ओढिले शिव धनु सीतेचे तनु मनु ।
रामे भंगिले भवचाप असुरां सुटला कंप ।।
फर फर फर फर ओढित कुंजर । धनुष्य आणिले भूपें ।।
हर हर हर हर अतिपण दुष्कर । सुन्दर रघुपति रूपे ।

× × ×

जय जय जय जय जयति रघुराज वीर । गर्जति जयकारे ।।
धिम धिम धिम धिम नृपदेव दुंदुभी । गगन गर्जले गजरे ।।
तर तर तर तर मङ्गळ तूरे । विविधवाद्ये सुन्दरे ।
समरस रस रस दासामानसी राम सीता वधुवरे ।।[1]

रामचन्द्रजी ने परम प्रचड शिव-धनुप को अपने हाथों मे उठा कर सुसज्ज कर लिया है । विश्वामित्रादि ऋषि गण जब प्रभु रामचद्रजी ने पिनाक पाणी के धनुप को उठा लिया तव पुलकित हो गये । प्रभु ने शिवजी का धनुप क्या खीचा वरन् सीता का तन मन ही मानो छीन लिया । रामचद्रजी ने शकर के धनुष का भजन किया तव असुरो को भय से कप छूटा । दिशाओ के गज एक दूसरे से फर फराते हुए टकराने लगे । अत्यत दुष्कर शिव-धनुप को उठाकर और खीचकर अपने सुन्दर रूप से दशग्रीवाओ वाले रावण को क्रोध और ईर्ष्या से भर दिया । जनक राजा के कठिन प्रण को जीता । रामचन्द्रजी के द्वारा तोडे जाने पर उसकी कर-कर ध्वनि से सारी पृथ्वी मे भूचाल सा आ गया । धनुप कड कडाहट करता हुआ टूट गया और आकाश मे बडे जोरो की गडगडाहट मच गयी । धड़ धडाते हुए चलने वाला रवि रथ भी अपना दैनदिन मार्ग चूक गया और इधर-उधर डोलने लगा । भूगोल दोलायमान हो गया । स्वर्ग लोक, मृत्युलोक और पाताल लोक एक हो गये, तथा सर्वत्र कर्ण कुहरो से टकराने वाली ध्वनि गर्जना कर उठी । रामदास कहते है, कि ऐसा प्रतीत हुआ कि जैसे विधाता ने अपना कार्य वन्द कर दिया । सर्वत्र हलचल और भगदड सी मच गयी । पचमुखी शङ्करजी प्रसन्न हो गये । सिधु मे पर्वत वत हिलोरे उमड आयी । धरती थकित और स्तब्ध हो गई । निशाचरो के कर्ण वधिर हो गए जिससे भयभीत होकर वे चकित हो देखने लगे कि यह सब क्या हो गया है । राम के भयकर पराक्रम और पुरुषार्थ को देख कर देवता गण पुष्प वृष्टि करने लगे । रत्नमालिकाएँ लख लखाने लगी । सब रघुवीर की जय हो, रघुवीर की जय हो, ऐसा घोषित कर प्रसन्न हो गये । रामदास

१ समर्थाची गाथा, पद १०३५, पृ० ३११ ।

स्वामी के मन.पटल पर रामचन्द्रजी और सीताजी वधुवर के भेष मे अङ्कित है। देवतागण दुन्दुभी बजाते है। सारा आकाश ही मानो उल्लास और आनन्द से गर्जित हो उठा। मङ्गल तुरही तथा अन्य वाद्य विविध प्रकार से झंकृत हो उठे। रामदास ने इस प्रसङ्ग की योजना ध्वन्यार्थ एवम् व्यजना के रूप मे बडे ही सुन्दर ढङ्ग से प्रस्तुत की है। इसमे प्रभु रामचन्द्रजी के शौर्य एवम् अद्भुत पराक्रम का वर्णन है। वीर और अद्भुत रस की एक साथ संयोजना बड़ी सरसता के साथ यहाँ प्रस्तुत की गयी है।

अब राम-वनवास के दो करुणापूर्ण दृश्य देखिये[1]—

राम-वनवास—

जावाना जावाना राम वाटता हे। नयन सजल कंठ दाटता हे
सर्वहि सांडुनि पैल जात आहे ।।ध्रु.।।

रामी रामदासी भाव। बळी पडिले देव। सर्व सांडुनिया घाव
घातली श्रीरामे ।।

सब पुर जनो को ऐसा लगता है, कि प्रभु रघुनाथ जी का वनगमन के लिए प्रस्थान तो बड़ा अच्छा होगा। सब के नेत्र सजल हो गये है। कठ सद्गदित हो गये है। सारे नगर मे छायी हुई उदासी आँखो से देखी नही जाती। वे कहते है, कि हे प्रभो ! आप हमे छोडकर कहाँ जा रहे है ? हम आपका विरह एवम् वियोग कैसे सहन करेंगे ? हमारे व्याकुल प्राण आपके वियोग मे अब शरीर छोडना चाहते हैं। हमारी आशा को आपने क्यो निराशा मे परिवर्तित कर दिया ? इतना कठिन वनवास आपने कैसे स्वीकार कर लिया ? रामदास कहते है, कि सब लोग प्रभु के विरह मे उनको खोजते हुए दुख पा रहे है। स्वयम् रामदास भी विरहजन्य भावना से राम की खोज मे लगे हुए है।

आगे चलकर यह विरह क्रंदन और भी तीव्रतम हो उठा। वे कहते है, कि हे निष्ठुर रामचन्द्रजी ! हमे आप त्याग कर क्यो जा रहे है ? हे गुणग्राम ! आपके बिना हम कालयापन कैसे करे ? हम शपथ पूर्वक कहते है कि प्राण धारण करना हमे आपके बिना कठिन हो गया है। वैसे यदि विनोद मे भी कोई शपथ लेकर कहे और आप वनगमन कर ले तो यह निश्चित है, कि मेरे प्राण नही बचेगे। रामदास का अन्त:करण आक्रोश कर चीत्कार कर उठा। धनुर्भग कर सीता का आपने पाणिग्रहण किया। उस सुखपूर्ण प्रसङ्ग को हम कैसे विस्मृत कर पावेगे। एक

---

१. समर्थाची गाथा, पद १०३८

वह प्रसङ्ग था और एक यह प्रसङ्ग है जब कि आप वनवासी वनने जा रहे है। सारे देवतागण रावण की बन्दीशाला मे बन्दी बनाये गये थे। उनकी मुक्तता करने के हेतु श्रीरामचन्द्रजी ने वनवास लेना तय कर लिया है। अतएव सब को छोड़ छाडकर प्रभु उधर ही दौड पडे है ऐसा समर्थ रामदास कहते है। समर्थ का यह भाव विशेषता से युक्त है। रामोपासना का लक्ष्य देवताओ की मुक्ति तथा लोक मङ्गल की स्थापना ही है। अतः समर्थ इस लक्ष्य की पूर्ति होते देख अपने विरह को भूल जाते है, और प्रभु के कृत्य का समर्थन करने लगते है।

एक अन्य प्रसङ्ग देखिये। सीता अशोक वाटिका मे वैठी है। हनुमानजी भगवान् के दूत बन कर लङ्का मे आये है। वे अशोक वाटिक मे देवी जानकी जी से मिलते है। जानकी जी अपना दुखड़ा हनुमानजी को सुनाती है। यह काव्य वर्णन भी बडा सरस बन गया है।

अशोक बन में सीता का हनुमान से दुःख निवेदन—

सांग सखया निभ्रांत। भेटईल रघुनाथ। तरी राखेन जीवित।
अन्यथा राहे चित्त॥
आत्मा माझा राम वनीं। अंतरला मायेचेनि। त्यजिली की या लागुनी।
न पवें का अझुनी॥
राघव साच न भेटे। शब्दी तो सुख न पटे। रामालागि प्राण फुटे।
वियोग क्षण न कठे॥
तुझे अतवर्य सधान। भेदील हे त्रिभुवन।
तेथे किती तो रावण। रामदास सोडी पूर्ण॥[१]

समर्थ अपने इस पद मे करुण रस का प्रवाह बहाते है। सीताजी की विरह वेदना वडी दुखमय है। वडी करुण और मार्मिक अभिव्यजना सीताजी के द्वारा इसमे प्रस्तुत की गई है। वे कहती हैं कि हे रामचन्द्रजी के सखा हनुमान! तुम निश्चयपूर्वक यह बताओ कि क्या मुझे रघुनाथजी के दर्शन होगे? यदि उनसे भेट नही होगी तो मै अपने प्राणो को त्याग दूँगी। प्रभु राम ही मेरी आत्मा है। मुझे उन्होने माया वश त्याग दिया था, और वन के उस प्रसङ्ग से से मुझे विरह व्यथा सहनी पडी है। मुझे अपने प्रियतम क्या पुन प्राप्त नही होगे? सचमुच यदि रघुवीर न मिले तो मुझे किसी शब्द को सुनने मे भी कोई सुख नही है। प्रभु रामचन्द्रजी के लिए मेरे प्राण छटपटाते है। वियोग की दशा सहना कठिन और दूभर हो गया है। हे हनुमान! तुम शीघ्र जाकर रघुपति से साऐ

१. समर्थाचा गाथा, पद १०५०, पृ० ३१६।

हो। परस्पर एक दूसरे पर आक्रमण करने के हेतु जोर जोर से चीत्कार और हुँकार करते हुए पत्थर, वृक्ष और पर्वत उखाड-उखाड कर उनसे प्रहार करते हैं। इससे शोणित के नद उमड़ पडे है। बाणो की सरसराहट करने वाली बौछारे हो रही है। भीषण और तुमुल युद्ध चल रहा है। रणक्षेत्र मे असुरों और देवो की एक अद्भुत कसरत और करामात चल रही है। बाणो के आघात और प्रत्याघात से जर्जरित एवम् क्षत विक्षत दैत्यो के शरीर धराशायी हो कर पडे है। देवतागण आकाश मे विजय की दुन्दुभी बजाते है। पृथ्वी दोलायमान हो गयी है। शङ्कर के वरदान से दैत्यदल प्रमत्त हो गया था, और देवसेना हताश और निष्प्रभ। किन्तु प्रभु रामचन्द्रजी ने उसमे आशा सचारित कर ढाढ़स भर दिया है। अत: जो निष्प्रभ हो गये थे, वे पुन: शक्तिमान बन कर प्रभु के साथ युद्ध के लिए कटिबद्ध हो गये है।

भगवान् शङ्कर का नृत्य वर्णन—

रामदास के काव्य का अत्युत्कृष्ट उदाहरण देखना हो तो यह नमूना देखिए[1]—

रङ्गी नाचतो त्रिपुरारी। लिलानाटक धारी। मंदर जावर त्रिपुर
सुन्दर अर्धनारी नटेश्वर। नाचे शङ्कर सकळ कळाकर। विश्वासी आधार
॥ध्रु०॥

झुल झुल झुल झुल। शिरी गङ्गाजळ। झल झल मुकुटी किळ॥
लळ लळ लळ लळ लळित कुंडले। भाळी इन्दुज्वाल।
सळ सळ सळ सळ सळकत्ती रसना। वळ वळ वळिति व्याळ॥
हळ हळ हळ हळ कंठी हळाल। गायन स्वर मंजुळ॥
घुम घुम घुम घुम घुम येवज गमकत। दुम दुम दुम अम्बर॥
तत थैं तत थै धिकिट धिकिट म्हणती विद्याधर॥
थर थर थर थर कंपित गमके। गर गर गर भ्रमर॥
सर सर सर सर कंपित चमके। घुर घुर घुर घुर गभीर॥
पर पर पर पर म्हणती सुरवर। हर हर हर हर शङ्कर॥
वर वर वर दासांदिधला। तर तर तर दुस्तर॥

इस पद मे लीला नाटक धारी, त्रिपुर सुन्दर, अर्धनारी नटेश्वर सकल कलाकार, भगवान् त्रिनेत्र-शङ्कर, तथा निखिल विश्व के आधार गौरीहर, मन्दराचल पर्वत पर नृत्य करते हैं। समर्थ रामदास ने इस पद मे ध्वनि काव्य और सगीत तत्व को लेकर अपनी विशेषताओ के साथ रचा है। इस पद मे शब्द सिद्धि की

१. समर्थाची गाथा, पद ११५६, पृ० ३४७।

ऐसी अद्भुत शक्ति है कि इसे पठन करते ही शिवजी के ताण्डव नृत्य की कल्पना अन्त:-चक्षुओं के समक्ष मूर्तिमान हो उठती है।

अपने रङ्ग मे आकर त्रिपुरारी अर्धनारी नटेश्वर रूप में मदराचल पर्वत पर नृत्य करने आ गये है। यहाँ पर वे अपनी सकल कलाओं सहित नृत्य आरम्भ करते है। शीष के जटा-जूटो से गङ्गाजल अपनी गति से वह रहा है। उनके कानो के ललित कर्ण-कुण्डल जगमगाते है। गले में सर्प मँडरा रहे है। भाल प्रदेश पर चन्द्रमा विराजित है। नीलकण्ठ मे हलाहल विद्यमान है। रसना से गायन के स्वर निसृत हो गये है। गले मे रुँडो की मालाएँ विराजित है। जब डमरू पर धूर्जटी दस्तक देकर उसे वजाते है तो उसे वजाने का हस्त लाघव देखा जा सकता है। व्याघ्रावर परिधान किये हुए महादेव अपने सारे शरीर मे चिता भस्म को लगाये हुए है। इस नृत्य मे किंकिणियाँ बज उठती है—उनका क्वरणन होता है। त्रिशूल भी वज उठता है। जब वे नाच उठते है, तब धरती दनदना उठती है। खनखनाहट से ताल वजते है। सब लोग अपनी वाणी से उनका गुण गान करते हैं। निर्वाण एवम् मोक्ष की यही पहिचान और सकेत है। मृदग गभीर ताल में टिमक रहा है। डमरु डिमक रहा है। झाँज वजते है, तथा दुन्दुभी की गर्जना होती है। पखावज दमक रहा है। विद्याधर और शकर के गण 'तत् थै तत् थै धिकिट' के साथ लयो का उच्चारण करते है। भ्रमर गुंजन करते है। विजली कौंधती है, और सरसराहट से चमक जाती है। गम्भीर घोष हो रहा है। हे शङ्करजी! आपकी जय हो, आप सब देवो मे श्रेष्ठ देवाधिदेव है ऐसा देवगण कहते है। रामदास को उन्होने श्रेष्ठ वर प्रदान कर दिया है, कि तुम इस दुस्तर ससार से तर जाओगे। इस पद का प्रत्येक शब्द औचित्यपूर्ण, ध्वनि अर्थ एवम् सकेत पूर्ण तथा प्रत्यक्ष रूप से भावो को मूर्तिमान करने वाला होने से रामदास स्वामी की एक विशिष्ट पटुता का उदाहरण हमारे सामने प्रस्तुत करता है।

समर्थ ने केवल मराठी काव्य-साधना ही नहीं की अपितु उनकी प्रतिभा ने हिन्दी कविता को भी गौरवान्वित किया है। यहाँ पर उनकी कतिपय हिन्दी रचनाओ का उल्लेख करना अनुपयुक्त न होगा।

समर्थ की भक्ति भावना व्यक्त करने वाले दो हिन्दी पद देखिए[1]—

भगतन की तन हो दयाळ। भगतन ।।ध्रु०।।
अंतर की गत अंतर जाने जानत है मन हो ।।
मन की पीरत मन में राखी। चाखी संतन हो ।।
रामदास की अंतर लीला। अंतर भाव न हो ।।

हे दयाल! आप भक्तो के लिए शरीर धारण करने वाले है।

1. समर्थाची गाथा पद १६०४, पृ० ४८१।

अत करण को अतःकरण वाला ही जान सकता है। इस सिद्धान्त के अनुसार हे भगवन् आप अन्तर्यामी है। इस लिए सब के मन की बात जानते हैं। इस तरह मन की प्रीति को मन मे ही रख कर उसका आस्वाद संतो ने लिया है। रामदास कहते है कि मेरे पास तो भाव भी नही है पर अन्तर्यामी प्रभु ने कृपा कर मेरे साथ वे ही बाते की है जो वे अन्य भक्तो के साथ किया करते है।

भक्ति भावना वाला दूसरा पद[1]—

नयन मार मोकु सहिय न जाय ।।ध्रु०।।
सुरत सुरत पीरत लागी। अंतर है सो कहिया न जाय।
जिय की है सो जियरा जानै कहाँ कहूँ रे हय हाय ।।
रसिक हेत समेत गुसाया। जिद जावे तिद जातहि जाये ।।

भक्त की आँखे जब भगवान् के साकार रूप को देख लेती है, तो उनकी यह दशा हो जाती है, कि वे आँखे कहती है, कि हमसे अपने आराध्य के कटाक्ष सहे नहीं जाते। किस प्रकार भगवान् के सौन्दर्य पर ये आँखे मुग्ध हो गयी और हृदय मे प्रीति उत्पन्न हो गई यह कहते नही बनता। जी की बाते जी ही जानता है। जीवात्मा परमात्मा से मिलने के लिये छटपटाकर कहता है कि हे, निष्ठुर! तुम कहाँ छिप गये हो? रसिक जन कहते है कि तुम्हारे स्वामी अपने भक्तो सहित उपस्थित है। वे जिधर चले जावेगे उधर के ही हो जाते है।

अब कुछ उपदेश परक पद भी देखिये[2]—

बंद बाजी सब लोक राजी। रोटी ताजी दुनिया नवाजी।
बोले काजी पैगम्बर गाजी ।।ध्रु०।।
खबरदारी अकल हय सारी। बेहुषारी गाफिल की यारी।
उमर सारी होती है खोरी ।। खावे खिलावे, देवे दिलावे।
सुने सुनावे पोच पोंचावे। अकल सुजावे सो बद भावे ।।
जन हारा समजन हारा। समजन हारा पियारा ।।
पीर मुरीद क्या गैबी बता गैबी मर्द समजावे ।।
हिन्दु मुसलमान चामके पुतले गैब चलावनहारा ।।
बंद कमीन कहे समजे सो अल्ला मिया का प्यारा ।।

काजी साहब कहते है, कि पैगम्बर गाजी है। ताजी रोटी जिसके पास होगी दुनियाँ उसके चरणो मे झुकती है। जो बाजी मार ले जाता है, उसी से

---

१. समर्थाची गाथा, पद १६१०, पृ० ४८१।

२. समर्थाची गाथा, पद १७०३ तथा १७०६, पृ० ४८८।

सब लोग खुश रहते है। सारी सतर्कता अक्लमंदी पर निर्भर है। जहाँ पर नादानी है अथवा मूर्खता है उन्हें गाफिल के साथ मित्रता करनी पडेगी। सारी उम्र एक गोता खोरी है। क्योकि वह खाने खिलाने, देने दिलाने, सुनने सुनाने तथा किसी को पहुँचाने या स्वयम् पहुँचने मे व्यतीत हो जाती है। यह तो एक सर्व साधारण सी बात है, परन्तु अक्लमन्दी से जो यहाँ पर कार्य करता है वही बन्दा खुदा को भाता है।

जो ईश्वर को समझता है, वही सब का प्यारा होता है। पीर मुरीद आदि की गैबी बाते क्या करते हो ? जिसमें हिम्मत हो ऐसा मर्द ही उसे समझा सकता है। पीर के बिना सब लोग इधर-उधर गोते खाते है। यहाँ पर कोई अकेला न तो आता है, न जाता है। अत मे सारा रहस्य सब लोग समझते समझाते हुए जान लेते हैं। ये हिन्दू मुसलमान आदि सारे उसी भगवान् में ही निवास करते हैं। सब अन्त में मर जाते है। माल, मुल्क और सारा ऐश्वर्य प्राप्त हो जाने पर भी अन्त मे सभी गोते लगाते हैं। सब की अक्ल गुम हो जाती है, सारी उम्र और उसका परिपक्व अनुभव भी किसी काम नही आता। भगवान् की रहस्यात्मक सृष्टि और उसकी अलौकिकता समझ मे नही आती। हिन्दू और मुसलमान दोनो चर्म के पुतले है। उनको रहस्यात्मक ढङ्ग से चलाने वाला अल्लाह मियाँ है। यह संसार दो दिन के लिए सबको मिलता है। इसलिए इसमे झगड़ा वैमनस्य परस्पर द्वेष तथा धर्मान्धता से व्यवहार कर क्या मिलेगा ? परस्पर झगडने से अल्लामियाँ का कुछ नही जाता है। इसलिए हे यारो ! ये व्यर्थ की बाते छोड़ कर अल्लामियाँ की कृपा प्राप्त कर अपनी आयु व्यतीत कर दो। परस्पर मैत्री भाव एवम् हिन्दू मुस्लिम ऐक्य-विषयक भाव इस पद मे समर्थ रामदास ने अभिव्यक्त कर दिये है।

समर्थ रामदास के साहित्य का मूल्यांकन—

स्पष्ट है कि समर्थ रामदास स्वामी का साहित्य या सम्प्रदाय का दृष्टि कोण केवल हिन्दू राष्ट्रवाद की सङ्कीर्णता को लेकर ही नही था। प्रत्युत व्यापक राष्ट्रवाद का मानवीय स्तर भी भक्त रामदास मे विद्यमान था। वे उनके युग की अमानवीय, आसुरी एवम् अराष्ट्रीय तथा अधःपतन की ओर ले जाने वाली प्रवृत्तियो के विरुद्ध एक मोर्चा प्रस्थापित करना चाहते थे। इसीलिये उनकी बलोपासना, समर्थ भगवान् रामचन्द्र जैसे धनुर्धारी आदर्श आराध्य की भक्ति पर आश्रित थी।

समर्थ रामदास को सामाजिक, धार्मिक और राजनीतिक आन्दोलन एवम् उलट फेर का सूत्रधार मानकर, तथा उनके और शिवाजी के पारस्परिक सम्बन्धों पर दृष्टिपात कर प्राय. आज तक विद्वानो ने टीका टिप्पणी की है, और अनेक

ग्रन्थों का प्रणयन किया है। किन्तु समर्थ रामदास की वास्तविक महत्ता और उनकी साधना की उपादेयता एवम् उपासना-प्रणाली की पृष्ठ-भूमि मे उनकी नूतन और अभिनव साधना-पद्धति की प्रबल शक्ति के सूत्र कार्यरत है, जिनका वैयक्तिक क्षेत्र मे आत्मोद्धार और लौकिक क्षेत्र मे राष्ट्रोद्धार से प्रत्यक्ष सम्बन्ध है।

इसी दृष्टिकोण से हमने उनकी स्वानुभूत सवेदना प्रवण काव्य-साधना और जीवन-दर्शन के समन्वित और सर्वांगीण स्वरूप का अध्ययन करने का प्रयास किया है। हमारा मत है, कि आत्मोद्धार और लोक-मङ्गल-भावना, सापेक्ष-साधना से ही प्रेरित होकर प्रवाहित हुई है। इसलिए सैद्धान्तिक और व्यावहारिक क्षेत्र मे उनका तत्र, युग-जीवन के अनुरूप नव-निर्माण, एवम् नव चैतन्य की परम्परा प्रस्थापित कर सका है। भगवद्-भक्ति और परमेश्वरी अधिष्ठान से आत्म-कल्याण, और लोक-कल्याण साधने वाली उनकी काव्य धारा सगुणोपासना और पारमार्थिक साधना प्रणाली के प्राणवान और ओजस्वी स्वर हमारे सामने अंकित करती है।

राम-वरदायिनी-माता से वरदान पाकर, प्रभु रामचन्द्र की भक्ति की सगुण उपासना पद्धति का और आध्यात्मिक चेतना का जो लोक-मङ्गलकारी कार्य समर्थ रामदास ने किया वह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समर्थ का साहित्य प्रेरणा और स्फूर्ति का साहित्य है—शक्ति का साहित्य है। इसमे दो मत नही हो सकते। लकीर के फकीर वैष्णव सन्तो की साधना-पद्धति और भक्ति भावना को केवल भावुक सहृदय की अभिव्यक्ति मानकर निस्सन्देह अपनी अल्पज्ञता और अदूर-दर्शिता का जो लोग परिचय देते है उनसे हमारा विनम्र निवेदन है, कि वे वैष्णव सन्त साहित्य-साधना के मूल स्वर को पहचाने तो उन्हे पता चलेगा, कि वैष्णव भक्त केवल सन्त और कोरे भक्त मात्र नही थे किन्तु वाणी के वरद हस्त की छाया मे उन्होने अपनी काव्य-साधना प्रस्तुत की है। वही उन्हे उच्चतम और श्रेष्ठ श्रेणी के साहित्यकार, सिद्ध और भक्त घोषित कर देती है। काव्य मे रस का महत्व होता है, इसे समर्थ रामदास ने पहिचाना है। रामदास की जैसी मूर्ति है, वैसी ही उनकी काव्य साधना भी भव्य और दिव्य है। अपने करुणाष्टको मे वे भगवान् को कारुण्यपूर्वक उद्गारो से पुकारते है। कवि के अधिकार को और काव्य की शक्ति को तथा शब्दो की महिमा के समर्थ पूर्ण जानकार है। वे शब्दो को केवल, कोमल, और शृङ्गार प्रवण न बनाकर उन्हे ओज, तथा सामर्थ्यशाली बनाकर प्रस्तुत करते है। विचारो की गम्भीरता, अनुभूति की सवेद्यता तथा अभिव्यक्ति की सत्यता की त्रिवेणी उनके साहित्य में ओतप्रोत है। भक्तिहीन कवित्व निष्प्राण है, ऐसा उनका मत था। सच्चा कवि वही है जो सहज मुखरित होता है। जिस

नवम्–अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का साहित्यिक-पक्ष

नवम् अध्याय

हिन्दी वैष्णव कवियों का साहित्यिक पक्ष

कबीर के भक्तिरसयुक्त साहित्य की महत्ता एवम् साहित्यिक पक्ष :

कबीर के साहित्य का अनुशीलन कर इस बात का अवश्य पता चल जाता है कि परमेश्वर की एकता और आस्था के सहारे साधारण मानव भी स्व-प्रयत्न से भक्ति का मार्ग अपना सकता है। कबीर की मूलतः अद्वैतवादी निर्गुण भक्ति प्रेम और हृदय की भावना का सामजस्य प्रस्थापित करते हुए विकसित हुई है। कबीर का मुक्ति मे विश्वास है, और वे भक्ति को ही मुक्ति का साधन मानते है। यह भक्ति निष्काम होना अत्यन्त आवश्यक है। कबीर आत्म-साक्षात्कारी व्यक्ति थे। परमात्मा, जीवात्मा मे ही निवास करता है। कबीर मे निर्लिप्त आचरण की धारा पाई जाती है। जाति, धर्म, पथ, देश, काल-निरपेक्षता कबीर की विशेषता है। पैनी दृष्टि से सत्यान्वेषण करते हुए तथ्य तक पहुँचने वाले महात्मा कबीर ने अपने साहित्य मे इन सारी बातो का समावेश किया है। भक्ति भावना को मानवीय स्तर पर ले जाकर सामाजिक एकता प्रस्थापित करने का भी कबीर का प्रयत्न रहा है। कबीर ने रहस्यवाद के माध्यम से अपना काव्य-सर्जन किया। इसका कारण 'ब्रह्म जिज्ञासा' ही है। इस जिज्ञासा को कबीर ने अपनी भावानुभूति से कर तो लिया, पर यह उन्हे कहना ही पडा कि परमात्मा का प्रेम और उसकी अनुभूति गूँगे की शर्करानुभूति जैसी है। परमात्मा की विभूति रहस्यपूर्ण है। अपने मानवी सम्बन्धो से परमात्मा के साथ पारिवारिक अङ्ग के माता, पिता, प्रिया, प्रियतम, पुत्र, सखा अथवा स्वामी के रूप मे प्रतीकात्मक ढङ्ग से भावानुभूति के रूप मे साक्षात्कार कर लेना रहस्यवाद की प्रमुख विशेपता है।

प्रतीकों के द्वारा भावानुभूति—

कबीर ने अपने पदो मे तथा साखियो मे बराबर इसी प्रकार के सम्बन्धो को अपना कर अपनी ब्रह्म जिज्ञासा की तृप्ति की है। कभी वे कहते है[1]—

कबीर कूता राम का, मूतिया मेरा नाऊँ।
गले राम की जेवडी, जित खैंचे तित जाऊँ।

---

१. कबीर ग्रंथावली–डा० श्यामसुन्दरदास, साखी १४, पृ० २०।

माधुर्य भाव से कभी-कभी अपने को राम की बहुरिया बनाकर उनके साथ आध्यात्मिक विवाह कराने के लिए भी उत्सुक है। एक नयी अबोध नायिका की तरह जीवात्मा की परमात्मा से मिलने की यह उत्कण्ठा और आशका दर्शनीय है .[1]

मन प्रतीति न प्रेम रस, ना इस तन में ढङ्ग।
क्या जाणो उस पीव सूँ, कैसे रहसी रङ्ग॥

× × ×

एक अन्य चित्र और देखिये[2]—

अब तोहि जान दै हूँ राम पियारे।
ज्यों भावे त्यों होऊ हमारे ॥टेक॥
बहुत दिनन के बिछुरे हरि पाए। भाग बड़े घर बैठे आए ॥१॥
चरनन लागि करौ सेवकाई। प्रेम प्रीति राखी उर आई ॥२॥
आज बसी मन मन्दिर चोखे। कहे कबीर परहु मति धोखे ॥३॥

× × ×

मोहि तोहि लागी कैसे छूटे।
जैसे हीरा फोरे न फूटे ॥टेक॥
कहै कबीर मन लागा। जैसे सोने मिलत सुहागा ॥

कबीर इन प्रतीको से अपना प्रेम अपने परमात्मा प्रियतम के लिए अभिव्यक्त करते है जो बडा सरस है। वे कहते है—

मेरे मनमे न तो प्रतीति है, न प्रेम है न मेरे शरीर मे इस प्रकार के दांपत्यभाव के ढङ्ग विद्यमान हैं, जो प्रियतम को रिझाले। न मुझे वे रहस्य ज्ञात है, जिनसे उस प्रियतम से मिला जाता है। आगे जब विश्वास उत्पन्न हो गया तब यह अबूझी स्थिति नष्ट हो जाती है तब उनके भाव इस प्रकार के है। हे प्यारे राम! अब मै तुम्हे किसी भी प्रकार से नही जाने दूँगी बल्कि रोक लूँगी। मेरी यह अभ्यर्थना है कि तुम्हे अब मैने पा लिया है। अत तुम अब कही भी नही जा सकते। यह मेरा सौभाग्य है जो मैने आसानी से तुम को पा लिया। इसलिए अब प्रेमपूर्वक मना-मनाकर चरण सेवा करते हुए अपने प्रेम मे तुम्हे उलझा कर रखना है। सुख पूर्वक अब मेरे मन्दिर मे विराजिए, अन्यत्र कही जाने का नाम भी लेकर धोखे मे न आइये। प्रेम की आदत भला कभी छूट सकती है? कबीर के द्वारा अभिव्यक्त ये अकाट्य तर्क देखिए—

---

१. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास साखी १६, पृ० २०।
२. ,, डा० पारसनाथ तिवारी, पद ७ पृ० ६ तथा पद १८ पृ० १२।

मुझे लगी हुई यह लगन एवम् आसक्ति कैसे छूट सकती है ? हीरे को कोई फोडना चाहे तो क्या वह कभी फूट सकता है ? अब तो आदि से अन्त तक इस सम्बन्ध को निवाहना ही पडेगा अब व्यर्थ छिपकर दोनो के बीच दूरी क्यो निर्माण करते हो ? कमल पत्र पर जिस प्रकार रंचमात्र जल निवास करता है, वैसे ही तुम आए और चले गए। तुम हमारे स्वामी हो और हम तुम्हारे दास है। तुम्हे पाने की लालसा ने मेरी दशा कीट-भृंग-न्याय की तरह कर दी है। मेरी तीव्रता एवम् व्यग्रता इतनी बढ गई है, जैसे कोई सरिता वेग से समुद्र से जा मिली हो। सोने मे सुहागे की तरह मेरा मन आप मे लीन हो गया है।

कबीर की अपने आराध्य की सर्व व्यापकता को प्रकट करने की प्रतीक शैली भी द्रष्टव्य है[1]—

लोका जानि न भूल हू भाई।
खालिक खलक खलक में खालिक सबघटि रह्यो समाई ।।टेक।।
अव्वलि अलह नूर उपाया कुदरति के सम बन्दे।
एक नूर ते सब जग कीआ, कौन भले कौन गन्दे ।।
ता अल्ला की गति नहिं जानी गुरु गुड दीन्हा मीठा।
कहै कबीर में पूरा पाया, सब घटि साहब दीठा ।।

ब्रह्म का व्यापकता का इससे और सुन्दर क्या वर्णन हो सकता है ? कबीर के साहित्य को समझने और पढने के लिए भी श्रद्धा-भक्ति चाहिए तब सारा समझ मे आने लगता है। सारा खलक ही खालिक है और खालिक ही खलिक है। सब घटो मे वह समाया हुआ है। एक ही नूर से सारा ससार जब बना है, तब उसमे किसको भला और बुरा कहा जाय ? अल्लाह–राम की गति नही जान सकते। गुरु ने ऐसा मीठा गुड चखाया है कि उन्हे अपना स्वामी सब घटो मे दिखाई पडा। अपने गुरु के प्रताप से वह अवश्य दीख पड़ा, परन्तु बाहर भीतर, सर्वत्र वह ऐसा व्याप्त है कि कहकर बतलाया नही जा सकता। यही कबीर का द्वैता-द्वैत विलक्षण अगम्य प्रेम पारावार भगवान् निर्गुण राम है।

मर्मग्राही व्यग्य—

कबीर अपनी इसी मस्ती मे आकर मर्मग्राही व्यग्य कसते चलते हैं। उनकी भाषा सीधे मर्म पर प्रहार करती है। बिलकुल बेफिक्र होकर लापरवाही के साथ ढकोसलो का भंजन और पर्दाफाश कबीर के सिवा और शायद ही कोई कर सका है।

---

१. कबीर ग्रन्थावली— डा० पारसनाथ तिवारी पद १०८, पृ० १८५।

साधना के मार्ग मे पहुँचे साधक को अपने लक्ष्य की चिन्ता कितनी होनी चाहिए इसे कबीर के एक पद से देखा जा सकता है[1]—

मोरी चुनरी में परि गयो दाग पिया।

कहै कबीर दाग कब छुटि है जब साहब अपनाय लिया।

कितनी मार्मिक सूझ है। ऐसी अनेक उक्तियाँ कबीर साहित्य मे भरी पडी है। कबीर के साहित्य मे नाम-साधना, अनन्य प्रेम मूलक भक्ति, सर्वात्मवाद, तथा कर्म और वैराग्य का समन्वय और निर्गुण ब्रह्म की भक्ति पूर्ण रूप से विद्यमान है। कहा जा सकता है कि उनके पूर्व-कालीन सत भक्त नामदेव का उन पर व्यापक प्रभाव परिलक्षित है। आदर के साथ कबीर ने उनका नाम भी लिया है। द्रविड़ देश की भक्ति को रामनद ने उत्तर मे अंकुरित किया और कबीर ने अपनी भावानुभूति से उसे प्रकट कर उसका परिवर्द्धन किया। कबीर की भक्ति ज्ञानी भक्त की है जो प्रेम तत्व का पूरा मर्मज्ञ है। इस प्रेमा-भक्ति मे विरह की भावना का भी सर्वश्रेष्ठ महत्व है। यह विरह की देन सद्गुरु के द्वारा कबीर को मिली है।

यथा[2]—

सत गुरु मारा बान भरि, धरि करि सूधी मूठि।
अङ्गी उघारे लागिया, गई दवा सो फूटी॥
सतगुरु लई कमाण करि, बाहण लागा तीर।
एक जु बाह्या प्रीति सूँ, भीतरि रह्या सरीर॥

सद्गुरु ने अपना लक्ष्य ठीक सधान करके सच्ची पकड के साथ विरह का बाण मारा उसने मेरे विशुद्ध शरीर मे प्रविष्ट होकर मेरी अज्ञान ग्रन्थि को खोल दिया तथा मेरी आध्यात्मिक चेतना को जगा दिया। वह दावाग्नि की तरह हृदय मे फट पडी। कबीर का निवेदन है कि इस प्रकार से ज्ञान के तीर जब सद्गुरु प्रेम पूर्वक बरसाने लगे तब उससे हृदय विंध गया और उसमे परमात्मा के लिये प्रेम और उन्हे पाने के लिए विरह का भाव जागृत हुआ। जीवात्मा का परमात्मा से अलग हो जाना ही विरह है। कबीर का प्रयत्न उन्हे मिलाने का है।

कबीर की ये अनुभूतियाँ केवल अटपटी ही नही है, वे तो भावनाओ से शत-प्रतिशत भरी हुई सरस है और कल्पनाओ से परिपुष्ट है। कबीर की कविता मे जीवन-तत्व है। कबीर की साधारण अनुभूति मे असाधारणता से युक्त अलौकिक भावना की आध्यात्मिक अभिव्यक्ति है।

---

१. कबीर वाणी—डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी कृत कबीर से पद १६५, पृ० ३२५।
२. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास, साखी ८ पृ० २ तथा कबीर ग्रन्थावली डा० पारसनाथ तिवारी, साखी १।२.१ पृ० १३८।

कवित्व की सरसता—

उनके कवित्व माधुरी की सरसता से युक्त ये साखियाँ द्रष्टव्य है[1]—

साइर नाही सीप नहिं, स्वाति बूंद भी नाहिं।
कबीर मोती नीपजै, सुन्नि सिखर गढ़ मांहि ।।
सुरति ढिकुली लेज लो, मन नित ढोलन हार।
कवल कुवा में प्रेम रस, पीवै वारम्वार ।।

शून्य शिखर गढ मे कबीर जैसा जीवन मुक्त साधक उत्पन्न हुआ है। उसके लिए स्वाति बिन्दु सीपी इत्यादि की कोई आवश्यकता ही नहीं उत्पन्न हुई। कबीर जैसे साधक ने शब्द ब्रह्म की ओर उन्मुख चित्त को पानी खीचने के लिए प्रयुक्त होने वाले गढ़े हुए खवे की समानता प्रदान की है। ऐसे स्तंभ का साधन बनने वाली रस्सी का काम लय के द्वारा लिया गया है। यह सभव है कि चित्त की लयावस्था शब्दोन्मुख हो जाने पर सहस्रार से निरन्तर निसृत होते रहने वाले प्रेम रस का पान हमारा मन कर सकता है। सुरति जीवात्मा का प्रतीक बनकर प्रयुक्त हुई है। तात्पर्य यह है कि परमात्मा की स्मृति बनाये रखने मे चित्त की यह लयावस्था सहायक बनती है और निरन्तर प्रेम रस का पान करते रहने का आनन्द प्रदान करती है।

सिद्धो, नाथो, योगदर्शन और वेदात के अनेक तत्वो से प्रभावित निर्गुण निराकार ब्रह्म और उसका ज्योति दर्शन, अनाहद नाद, सहज, शून्य, कुडलिनी शक्ति का स्फुरण एवम् जागरण तथा सूफियो की प्रेम साधना की पीर आदि बाते अपने ढङ्ग से कबीर साहित्य मे काव्य का विषय बनी है। कबीर ने सब का समन्वय करते हुए रामानन्द प्रवर्तित भक्ति-मार्ग को अपनाया और इस प्रकार वे भजनानन्द मे तल्लीन हो गए थे। कुछ उदाहरण इसे स्पष्ट करेगे—

उनमनि सो मन लागिया, गगनहि पहुंचा धाइ।
चंद बिहूना चांदना अलख निरजन राइ ।।[2]

× × ×

कौन विचारि करत हो पूजा।
आतम राम अवर नही दूजा ।।टेक।।
बिन प्रतीतै पाती तोडै, ग्यान बिना देवलि सिर फोडै।

---

१. कबीर ग्रन्थावली— डा० पारसनाथ तिवारी साखी ६।१८,१२।६, पृ० १६६।
२. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास साखी १५, पृ० १३।

लुचरी लपसी आप संवारै, द्वारैं ठाढा, राम पुकारे ।
पर आतम जो तत विचारै, कहि कबीर ताकै वलिहारै ।।[1]
पडिता मन रंजिता, भगति हेत ल्यौ लाइरे ।
कहै कबीर हरि भगति वांछूं, जगत गुर गोव्यंद रे ।।[2]
× × ×
सहज सहज सब कोइ कहै, सहज न चीन्है कोइ ।
जिहिं सहजैं साहिब मिलै, सहज कहावै सोइ ।।[3]

उन्मनी अवस्था मे मन जब लीन हो गया तो वह घटाकाश मे जाकर स्थिर हो गया अर्थात् जीवात्मा साधक को परमात्मा की ज्योति का शीतल प्रकाश मन की एकाग्रता और स्थिरता प्राप्त कर लेने से दिखाई दिया । चन्द्र से विहीन चन्द्रप्रकाश जीवात्मा को ऐसी ही अवस्था मे दिखाई देना है और अलक्षित निरजनराय से मुलाकात हो जाती है ।

कबीर कहते है कि किस विचार से बाध्य होकर पूजा करते हो ? क्योकि साधक जीवात्मा के भीतर परमात्मा के सिवा अन्य कोई नही है । आत्माराम ही तो सर्वत्र विद्यमान है । फिर वाह्य पूजोपचार किस लिए ? विश्वास नही है, फिर भी पत्तियाँ तोड़कर चढ़ाई जाती है । खुद मे ज्ञान नही है, पूरा अज्ञान व्याप्त है फिर भी मन्दिर मे देवता के आगे अपना सर फोडते है । नैवेद्य के रूप मे समर्पित लुचरी, लापसी आदि पदार्थ स्वय ही भक्षण कर लिए है । वास्तव मे परमात्म तत्व का चिन्तन करना चाहिए । जो ऐसा करते है, उनकी वलिहारी है । दिखावटी पाखड कबीर को अमान्य है । वास्तव मे कोई भी कार्य प्रतीति और विश्वास पूर्वक किये जाने पर ही उसका महत्व है. यही कबीर की आलोचना का सार है ।

प्रतीति और विश्वास का साहित्य—

पंडितो ! मन से रंजित भक्ति के लिए ही अपना लय योग साधो । प्रेम और प्रीति आदि के साथ मनुष्य को गोपाल का भजन करना चाहिए । इससे अन्य सारे कारण अपने आप दूर हो जायेगे । दाभिकता से किया गया कार्य कार्य की सज्ञा को प्राप्त नही होता । ज्ञान है किन्तु अन्तःकरण मे उसका प्रकाश नही पडा तो वह केवल व्यवसाय मात्र वन जाता है । भगवान् का स्मरण नही है तो श्रवणो का कोई मूल्य नही है । शब्द ब्रह्म की प्रतीति न हो तो उसका क्या उपयोग है ?

---

१ कबीर ग्रन्थावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद १३५, पृ० १३१ ।
२. कबीर ग्रंथावली—डा० श्यामसुन्दरदास पद ३९०, पृ० २१७ ।
३. डा० पारसनाथ तिवारी, साखी ३४–२, पृ० २४२ ।

ऐसा व्यक्ति नेत्र होकर भी अंधा है। प्रज्ञा चक्षु जब तक नही खुले तब तक बाह्य दृगो से मायावी सृष्टि का रूप देखकर उस पर विश्वास करना निरर्थक ही होगा। कबीर कहते है कि जिसकी नाभि से निकले कमल से ब्रह्मा उत्पन्न हुए और जिसके चरणो से गगा निकली और तरगित हुई उनकी भक्ति करना ही मेरे लिए वाछनीय है। गोविन्द जगत् गुरु है। अतः हरि भक्ति ही मेरे लिए एकमात्र उपाय है।

कबीर साहित्य का भाव प्रेम मूलक है—

कबीर का कहना है कि सहज का नाम सब लेते हैं। परन्तु वस्तुत उस सहज-ब्रह्म का साक्षात्कार कोई नही करता। सहज कहकर जटिल साधनो मे जुटकर ब्रह्म के दीदार कैसे होगे? यह तो आत्म वचना है। जिन साधको को सहज साधनो से सहज का साक्षात्कार हो जाता है, वे ही सहजावस्था क. महत्व जानते है और उन्हे ही सहज कहने का अधिकार मिलता है।

इस प्रकार से कबीर की साहित्यिकता का कुछ अनुशीलन करने का यहाँ पर प्रयत्न किया गया है कबीर ने निर्गुण ब्रह्म को प्रमाण मानकर, योगिक साधना की सहायता से तथा सूफी प्रेम-भावना का तीव्रता से प्रेमा-भक्ति को साहित्य मे अभिव्यजित किया है। कबीर की निर्गुण पूजा आसान काम नहीं है। वह सार्वजनीन नही बन सकती। कबीर की भक्ति कष्ट-साध्य और प्रयत्न-साध्य होने से, सबके लिए सुलभ नही है। निर्वेद भाव से वैराग्य परक दृष्टिकोण रखते हुए लोकजीवन व्यतीत करना ससारी जनो के लिए महा कठिन कर्म है। कबीर का मार्ग विरक्त, उदासी तथा सन्यस्त और निवृत्ति मूलक स्वाभाव वाले साधको के लिए उपयुक्त मार्ग है।

तुलसीदास का साहित्यिक पक्ष—

तुलसीदासजी की सर्वोपरि साहित्यिकता का अनुशीलन यदि हम करना चाहें तो काव्य के सभी क्षेत्रो तथा पद्धतियो को तुलसी ने अपनाया था, यह सब विज्ञ और रसिक जनो को मानना ही पडेगा। रघुनाथ गाथा को 'स्वात सुखाय' लिखने वाले तुलसी ने उसे 'जगद्-हिताय' बनाकर प्रस्तुत किया इसी से उनकी वाङ्मयीन शालीनता का पता हमे लग जाता है। अपने उपास्य के प्रति उत्कट भक्ति की विनय-भावना और दास्य-भक्ति का लोक-मगल विधायक पक्ष तुलसी के दिव्य चक्षुओ के सामने रहने से सुरसरि के समान सब का हित साधने वाली वाणी उन्होने अभिव्यजित की। इस साहित्यिक साधना का एकमात्र उद्देश्य सौन्दर्य और शील के माध्यम से सत्य को कल्याणमय रूप मे प्रस्तुत करना ही जान पडता है। तुलसी सगुणोपासक थे, तथा अवतार के सामाजिक महत्व को जानने वाले थे। अत

भक्ति की रसात्मकता के साथ जीवन के मंजुल और सरस तथ्यो को अपने काव्य उपकरणों से सँवार कर महाकाव्य-रामचरित-मानस मे, गीति-काव्य विनय-पत्रिका व गीतावली मे तथा मुक्तक काव्य कवितावली मे अभिव्यजित किया। प्रकृति के सौन्दर्य को तुलसी ने परमात्मा के सौन्दर्य से भिन्न माना है, और इसीलिए वे उनकी असीमता का व्यापक और प्रभावी वर्णन करते है। यथा—

'सियाराम मय सब जग जानी। करऊ प्रनाम जोरि जुग पानी ॥'

—रामचरितमानस।

आस्था की महत्ता तुलसी के काव्यादर्श की सबसे बडी विशेषता है। तुलसी कहते हैं[1]—

आखर अरथ अलकृत नाना छन्द प्रबन्ध अनेक विधाना।
भाव भेद रस भेद अपारा, कवित बोल गुन विविध प्रकारा ॥

काव्य मे अर्थ, अक्षर, अलकार के अनेक विधान है, तथा काव्य के वर्णन में भाव तथा उनके भेद भी अपार है। कविता की नाना अभिव्यजन पद्धतियाँ है। शिव और सुन्दरं को सत्य का साक्षात्कार कराते हुए तुलसी ने काव्य रचा है।

भगवान् राम का वर्णन—

गोस्वामी के द्वारा प्रस्तुत मृगया-विहारी रामचन्द्रजी का मनोहारी वर्णन द्रष्टव्य है जो साहित्यिक दृष्टि से भी सुरस और अनुपम है—

सुभग सुरासन सायक जोरे।
तुलसीदास प्रभु बान न मोचत, सहज सुभाय प्रेम बस थोरे ॥[2]

भगवान् राम अपने सुन्दर चाप पर बाण सधान किये हुए मृगया खेलते फिर रहे हैं। यह मधुर मूर्ति तुलसी के हृदय मे सदा निवास करती है। रामचन्द्रजी के कमर मे पीतांबर और अति सुन्दर चार बाण है। उनकी सुन्दर गति को देखकर करोड़ो नट (नृत्यकार) मुग्ध होकर तृण तोडते है। उन्हे डर है कि कही उनकी नजर उस चाल पर न लग जाय। प्रभु के श्याम शरीर पर पसीने की बूँदे ऐसी शोभायमान है, जैसे कोई नवीन मेघ अमृत के सरोवर मे डुबकी लगाकर निकला हो। प्रभु के कन्धे बडे सुन्दर हैं, भुजाएँ मनोहर हैं वक्षस्थल विशाल है और कण्ठ की रेखाएँ चित्त को लुभाती हैं और उसे चुरा लेती है। भगवान् का मुख निरखने से बडा आनन्द उत्पन्न होता है और वह मानो शरद चन्द्र की छवि को छीन ले रहा हो। प्रभु के सिर पर जटाओं का मुकुट है और जिस समय वे भौहें सिकोड़कर

१. रामचरितमानस १।८–९–१०।
२. गीतावली–अरण्यकाण्ड पद २।

अपने नेत्र कमलो से निशाने की ओर ताकते हैं उस समय की अपार शोभा तो सारे वन मे भी नही समाती है। ऐसा प्रतीत होता है मानो वह अपनी मर्यादा छोड़कर चारो दिशाओ मे उमडकर फैल जाती है। उस समय मृग और मृगी भी चकित होकर उन्ही की ओर देखने लगते है, मानो सब के सब प्रभु को कामदेव समझकर उन पर मोहित हो गये है। तुलसीदासजी कहते है, किन्तु प्रभु उस समय बाण नही छोडते क्योकि वे स्वभावत. ही थोडे से प्रेम के वशीभूत हो जाने वाले है।

इसमे तुलसी के उत्कृष्ट गीति-काव्य-शैली का तथा अपने उपास्य को साथ एकान्तिक तादात्म्य भावना से साक्षात्कार किये जाने का उत्कृष्ट सकेत है।

अब हम तुलसी-साहित्य मे पाई जाने वाली सर्वोत्कृष्ट साहित्यिकता का अनुशीलन करने के लिए उद्यत होते है।

तुलसी की अनुपमेय और सर्वोपरि साहित्यिकता का अनुशीलन—

तुलसीदासजी के रामचरित मानस मे ऐसे कई स्थल भरे पडे हैं जो उनकी काव्यकला तथा भावुकता से परिपुष्ट है। काव्य के माध्यम मे अनेक भक्ति सोपान तुलसी लोक-जीवनके सम्मुख रखते है। रामकथा-गान करना और उसका श्रवण करना एक ऐसा साधन था, जो भगवान् के सगुण-सुन्दर रूप की ओर जनता को भावुकता से आकृष्ट कर सकता था। इसमे अन्त करण तथा भाववृत्तियो से स्वरूप ध्यान पर विशेष बल दिया जाता है। ईश्वरानुरक्ति के लिए रूपोपासना आवश्यक थी, जो सदाचार, सत्सङ्ग और आध्यात्मिकता का एक उच्चादर्श व्यक्ति और समाज के सामने रखकर दोनो को उन्नयन-पथ पर अग्रसर कर सकने मे सहायता प्रदान किया करती थी। ऐसा लगता है कि अपने साधुमत को और भक्ति पथ को सर्व-सुलभ साधन बनाकर तुलसी प्रस्तुत करने मे प्रयत्नशील है। तुलसी के प्रभु भक्तो के दुःख दूर करने के लिए अवतरित होते है। उनमें सौन्दर्य और माधुर्य होने पर भी लोक-सरक्षक शौर्य और शील पर ही तुलसी का ध्यान विशेष रूपेण केन्द्रित हो गया है। तुलसी के काव्य-साहित्य का यह सर्वोत्कृष्ट गुण है। इन सारी विशेषताओ का और अनुपमेय साहित्यिकता का प्रमाण हमे कतिपय उदाहरणो से उपलब्ध हो जायगा।

पुष्प वाटिका प्रसग रस परिपोष युक्त है—

एक खास उदाहरण के रूप मे राम और सीता का पुष्पवाटिका मे परस्पर प्रथम बार एक दूसरे की स्नेह भावना का सात्विक रूप मे उदय होने वाला प्रसङ्ग तुलसीदासजी की कलात्मक और सास्कृतिक सूझ मानी जा सकती है। इस वर्णन मे रस परिपोष भी यथा योग्य हुआ है जो द्रष्टव्य हैं—

देखन बागु कुअर दुइ आए। वय किसोर सब भांति सुहाए ।।
स्याम गौर किमि कहौ बखानी। गिरा अनयन नयन बिनु बानी ।।
कंकन किंकिनी नूपुर धुनि सुनि। कहत लखन सन रामु हृदयँ गुनि ।।
मानहुँ मदन दुदुभी दीन्ही। मनसा विस्व विजय कहँ कीन्ही ।।
सुंदरता कहुँ सुन्दर करई। छबिग्रह दीप सिखा जनुबरई ।।
सब उपमा कवि रहे जुठारी। केहिं पटतरौ विदेह कुमारी।।[1]

वाटिका देखने के लिए राम लक्ष्मण पधारे। उनकी आयु किशोरावस्था की थी और उनका परिवेश सब प्रकार से लुभावना और सुहावना लगता था। साँवले और गौर वर्ण का सौन्दर्य कैसे वर्णन किया जाय, क्योकि वाणी के नेत्र नही होते और नेत्रों को वाणी की सम्पदा नही मिली है। परन्तु सौन्दर्य का दर्शक पर ऐसा गहरा और तीव्र प्रभाव पड जाता है कि वाणी देखती ही रह जाती है। और नेत्र मुखर होना चाहते है। उनका आगमन सुनकर सारी सयानी सखियाँ हर्षित हुई। क्योकि उन्होने सीताजी के हृदय की उत्कंठा जान ली थी। उनमे से एक कहने लगी कि सुना है, किसी विश्वामित्र मुनि के साथ ये दोनो कुमार कल ही यहाँ पर आये हुए है। सारे नगर के लोग उनकी छवि का वर्णन परस्पर करते फिर रहे है कि इनकी शोभा सचमुच देखने लायक है। अपने रूप की मोहिनी डालकर नगर के स्त्री पुरुषो को अपने वश मे कर रखा है क्योकि जिसे देखिए वही उनके सौन्दर्य की चर्चा कर रहा है। ये सब बाते सीताजी को बहुत अच्छी लगी और दर्शनार्थ उनके नेत्र आकुल हुए। अपनी एक प्यारी सखी को आगे करके सीताजी चली। उनकी पुरातन प्रीति को कोई नही लख पा रहा है। नारद के वचनो का स्मरण कर सीता के मानस मे पवित्र प्रेम जाग उठा और वे चकित होकर चारो ओर ऐसे देखने लगी मानो डरी हुई मृग-छौनी देख रही हो। ककण, किंकिणी और नूपुर का ववणन सुनकर तथा अपने हृदय मे विचार कर रामचन्द्रजी ने लक्ष्मण से कहा कि मानो कामदेव ने दुदुभी बजाकर विश्व को जीतने की इच्छा प्रकट की है।

ऐसा कहकर प्रभु ने उस ओर देखा। सीता का मुख चन्द्रमा बन गया और राम के नेत्र चकोर। रामचन्द्रजी के चारुनेत्र स्थिर हो गये। अर्थात् वे सीताजी के मुख पर स्तब्ध हो गये। ऐसा लगा कि मानो निमि ने पलको पर रहना छोड दिया हो। निमि जनक के पूर्वज थे और अपने वश की कन्या का पति-मिलन देखना अनुचित है इसीलिए सकोच से वहाँ से वे मानो हट गये हो ऐसा तुलसीदासजी सकेत करते है।

१. रामचरित्त मानस—बालकाण्ड २२८–२२६।

प्रभु ने सीता की शोभा देखी और सुख प्राप्त किया। वे हृदय मे सीता के शोभा की सराहना करने लगे किन्तु मुख से कोई बात नही निकली। मानो ब्रह्मा ने अपनी सारी चतुरता से सीता की रचना करके प्रत्यक्ष दिखा दी हो।

सीता की शोभा सुन्दरता को भी सुन्दर करने वाली है। उनकी छवि ऐसी है मानो सुन्दरता रूपी घर मे दीप शिखा जल रही हो। तुलसीदासजी के सामने एक समस्या है। वे कहते है कि अन्य कवियो ने सारी उपमाएँ जूठी कर दी है, अत मैं विदेह कुमारी सीताजी की किससे उपमा दूँ। क्योकि जो भी उपमा दी जावेगी वह दूसरे का जूठन सिद्ध होगी।

वास्तव मे यह सारा प्रसङ्ग ही बडा सरस है, पर उसे यहाँ पूरा देना संभव नही है। तुलसीदासजी की मौलिकता इस प्रसङ्ग की अवतारणा मे सिद्ध होती है।

तुलसी के काव्य विषयक दृष्टिकोण का स्वरूप—

तुलसीदासजी सरलता के साथ विषय और व्यक्ति के उच्चाशय और चारित्र्य का ध्यान रखकर काव्य के लोक-मगल-विधायक-स्वरूप पर बहुत ध्यान रखते थे। इसीलिए विनम्रतापूर्वक सतर्क होकर कहते है—

'निज बुधि बल भरोस मोहिनाही। ताते विनय करऊँ सब पाहीं ।।'

—रामचरितमानस।

अपने बुद्धि के बल पर मेरा विश्वास नही है अतएव मैं आपसे विनम्रता-पूर्वक प्रार्थना करता हूँ कि विमल-विवेक के साथ मेरी भणिति को देखे और सुने। क्योकि इसमे कलि का मल हरण करने की शक्ति रखने वाली सुरसरि के समान रघुनाथ की कथा वर्णित है। मेरी यह कृति 'सिअनि सुहावनि टाट पटोरे' वत् है। फिर भी मेरा विश्वास है कि[१]—

सरल कवित्त कीरति विमल सोइ आदरहिं सुजान।
सहज बर विसराइ रिपु जो सुनि करहिं वखान ।।
सो न होइ विनु विमल मति। मोहि मति बल अति थोर।
करहु कृपा हरिजस कहउँ। पुनि पुनि करऊँ निहोर ।।

× × ×

हृदय सिधु मति सीप समाना। स्वाति सारदा कहहिं सुजाना ।।
जो वरषइ वर वारि विचारु। होहिं कवित मुकुता मनि चारु ।।

× × ×

मनि मानिक मुकुता छबि जैसी। अहि गिरिगज सिर सोहन तैसी ।।
नृपकिरीट तरुनी तनु पाई। लहहिं सकल सोभा अधिकाई ।।
तैसे हिं सुकवि कवित बुध कहहीं। उपजहि अनत अनत छबि लहही ।।

---

१. रामचरित मानस बालकाण्ड १०।

बुद्धिमान लोग उसी कविता का आदर करते हैं जो सरल हो, और जिसमें निर्मल यश का वर्णन हो, जिसे सुन कर शत्रु भी स्वाभाविक शत्रुता को भूल कर प्रशंसा करते है। परन्तु ऐसी कविता निर्मल बुद्धि के बिना नही होती और मुझमे बुद्धि-बल बहुत ही कम है। इसलिए मैं बारम्बार कहता रहा हूँ कि हे महाकवियो! आप लोग मुझ पर कृपा करे, जिससे मैं श्री हरि के यश का वर्णन कर सकूँ। बुद्धिमान लोगो के अनुसार हृदय समुद्र के समान है, बुद्धि सीप से समान है और सरस्वती स्वाती नक्षत्र के समान है। इसमे यदि सुन्दर विचारो की वर्षा हो, तो मौक्तिक मणि के समान सुन्दर कविता उत्पन्न हो सकती। अच्छे कवि की कविता उत्पन्न कही होती है और शोभा कही अन्यत्र प्राप्त कर लेती है। जैसे मणि, माणिक और गज मौक्तिक के उत्पन्न होने के स्थान क्रमश. सर्प, पहाड और हाथी का मस्तक है, परन्तु ये सारी चीजे राजा के मुकुट और युवती स्त्री के शरीर को पाकर ही अधिक शोभान्वित हो जाते है। सरस्वती भी कवि के स्मरण करते ही भक्तिवश होकर दौड़कर ब्रह्म लोक को त्याग कर आ जाती है।

राम ही काव्य का विषय है—

तुलसीदासजी ने काव्य मे रामचन्द्रजी को ही विषय क्यो चुना? इसे भी देख लेना समीचीन होगा[1]—

कीन्हें प्राकृत जन गुन गाना। सिर धुनि गिरा लगत पछिताना॥

× × ×

श्रोता वक्ता ग्यान निधि कथा राम कै गूढ।
किमि समुझौं मै जीव जड़ कलि मल ग्रसित विमूढ़॥

× × ×

मै पुनि निज गुरसन सुनी कथा सो सूकर खेत।
समुझी नहि तसि बाल पन तब अति रहेऊँ अचेत॥

संसारी मनुष्यो का गुणगान प्रायः लोग करते हैं अलौकिक तथा भगवान् के उज्ज्वल चरित्र को काव्य का वर्ण्य विषय नही बनाते यह देख कर सरस्वती को पश्चाताप हुआ। वस्तुतः अनपायिनी एवम् मङ्गल विधायिनी रसात्मक अनुभूति युक्त भक्ति से भावविह्वल हो कर वरदवाणी के साधन से परब्रह्म रामचन्द्रजी का यशोगान करना चाहिए, तथा उनका उज्ज्वल गाना चरित्र चाहिए।

१. रामचरित मानस बालकाण्ड, १०।३०, २६–३०, ३२ आदि।

रामचन्द्रजी की कथा अत्यन्त गूढ और रहस्यात्मक है। इसे कहने वाले और सुनने वाले दोनो ही परम ज्ञानी और सिद्ध होते है। मैं तो अज्ञ जड़ जीव ठहरा अत उसे कैसे समझ सकता था ?

याज्ञवल्क्य ने यह कथा भरद्वाज को सुनाई है क्योकि यह कथा उन्हे बहुत ही अच्छी लगी। वास्तव मे सर्व प्रथम इस कथा को रच कर शकरजी ने अपने मानस मे गुप्त रखा था। शङ्करजी ने बाद मे प्रेम पूर्वक उसे गिरिजा को सुनाया, तथा उसी चरित्र को पात्रतम अधिकारी जानकार तथा राम भक्त समझ कर शिवजी ने काक भुसु डी को सुनाकर उन्हे यह कथा प्रदान कर दी।

मैंने भी अपने गुरु से सूकर क्षेत्र मे इस कथा को बचपन में बार बार सुना था, किन्तु उस समय मै बिलकुल अचेत था तथा बाल्यावस्था के कारण वह कथा मेरी समझ मे नही आ सकी। आगे चलकर मेरी अल्पज्ञता और मूढता पर ध्यान देते हुए भी मेरे गुरु ने उसे मुझे बार बार सुनाया जिससे अपनी बुद्धि के अनुसार मैं जो कुछ भी उसे ग्रहण कर सका, उसे भाषा-बद्ध करना चाहा, जिससे कि मेरे मन को सतोप प्राप्त हो जाय।

वैसे तो राम कथा की कोई मर्यादा नही है, पर जो इसे सुनते है वे उसकी अलौकिकता पर आश्चर्य नही प्रकट करते। क्योकि उनके मानस मे यह दृढ विश्वास बना हुआ होता है कि रामचन्द्रजी के नाना अवतार हुए है, तथा रामायण भी सौ करोड एवम् अपार है।

वैसे मै न तो कवि हूँ और न वाक्-चातुरी मुझ मे है, परन्तु राम भक्ति और राम चरित्र मेरे अन्तःकरण मे उमड आया। रामचन्द्रजी जिसे भक्त के नाते अपना कहते है उस पर शारदा की भी कृपा हो जाती है और भगवान तो सब के अन्तर्यामी है, अत भक्त पर उनका विशेषाधिकार रहता है इस नाते भी वे सूत्रधार की तरह सब कार्य व्यवस्थित करवा लेगे। ऐसा गोस्वामी तुलसीदासजी का अटूट विश्वास है।

तुलसीदास का यह विनम्र और शास्त्रीय एवम् आध्यात्मिक दृष्टिकोण काव्य क्षेत्र मे एक अनूठी और अद्भुत देन मानी जावेगी। नाना पुराणो निगमो, और आगमो का निचोड तथा 'छहो शास्त्र सब ग्रन्थन को रस' रामचरित मानस मे होने से यह सद्ग्रन्थ लोकाभिमुख और सर्व कल्याणप्रद बातो से युक्त है।[१] सब रसिको को इस सुरसरिता मे नहाये बिना अनान्दोपलब्धि नही हो सकेगी। इस रामभक्ति के गङ्गाप्रवाह मे ब्रह्म विचार की सरस्वती भी आकर मिल गई है तथा

१. रामचरित मानस अयोध्या काण्ड, २०९।

संत समाज के द्वारा राम कथा मे प्रेम रखना ही तीर्थराज प्रयाग है, और विधि निषेधात्मक कर्मकाण्ड की इस कलियुग मे उत्पन्न कलमषो का प्रक्षालन करनेवाली यमुना भी इसमे आ मिली है। शिव के उपास्य राम और राम के उपास्य शिव इन दोनो का समन्वय कर तुलसी ने एक महान कार्य सिद्ध किया है। अतः इस त्रिवेणी-संगम पर जो भक्त और रसिक आ जाते हैं, वे धन्य है।

भरत का चरित्र उदात्त क्यों—

भरत एक भ्राता मात्र ही नही, वरन् एक आदर्श भक्त भी है। क्योकि भगवान् राम भी अपने मन मे उनका स्मरण करते है। इसीलिए जब वे रामचन्द्र जी से चित्रकूट मे मिलने चले तो उनके लिए सभी बाते अनुकूल हो गयी। यथा—

भरतु राम प्रिय पुनि लघु भ्राता। कस न होइ मगु मंगलदाता।
सिद्ध साधु मुनिवर अस कहहीं। भरतहिं निरखि हरषु हिय लहही ॥[1]

भरत तो रामचन्द्रजी के प्रिय भक्त है और फिर उनके छोटे भाई है। उनके लिए मार्ग अवश्य मङ्गलदायक होगा। सिद्ध, साधु-मुनिश्रेष्ठ ऐसा कहते है कि वे भरतजी को देखकर हृदय मे परम हर्षित होते है। रामचरित मानस मे कई उत्कृष्ट स्थल अलग-अलग स्थानो मे और प्रसङ्गो मे बिखरे पडे है। उन सब का अनुशीलन तो असभव ही होगा। पर तुलसीदासजी की साहित्यिकता का क्षेत्र इतना व्यापक और इतना सरस है कि उसके रसास्वादन का मोह सवरण करना कठिन हो जाता है।

मित्र की परिभाषा तुलसी ने जिस प्रकार अपने रामचरित मानस मे प्रस्तुत की है वह देखते ही बनती है। यथा—[2]

मित्र वर्णन—

जे न मित्र दुख होहि दुखारी। तिन्हहिं बिलोकत पातक भारी।
निज दुख-गिरि-सम-रज करि जाना। मित्र-क दुख रज मेरु समाना ॥
जाकर चित अहि-गति समभाई। असकुमित्र परिहरेहि भलाई ॥

यह प्रसङ्ग सुग्रीव और राम की मैत्री का है। प्रभु रामचन्द्रजी सुग्रीव की कातरता और भय का निवारण करते हुए बतलाते है कि जो लोग मित्र के दुखो मे दुखी नही होते, उन्हे देखना भी भारी पाप है। पर्वत के समान अपने दुख को धूल के कण समान और मित्र के धूली के कण समान दुख को पर्वत के समान समझना चाहिए। जिसमे स्वभावत. ऐसी बुद्धि नही है, वे मूर्ख हठ करके क्यो

---

१ रामचरित मानस अयोध्या काण्ड, २१६।

२. रामचरित मानस किष्किन्धा काण्ड, ६ पृ० ३९७ गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण।

किसी से मित्रता करते है ? मित्र का कर्तव्य है कि वह अपने मित्र को बुरे मार्ग से वचाकर अच्छे मार्ग पर ले जाये और उसके अवगुणो को छिपाकर गुणो को प्रकट करे, तथा कुछ देते लेते हुए मन मे शङ्का न करे। और अपने वल का अनुमान करके सदैव उसकी भलाई करता रहे। वेद और सत जन कहते है कि मित्र का गुण यह है कि मित्र के सकट काल मे उस पर सौगुना अधिक स्नेह होना चाहिए। जो मित्र सामने तो मीठी वाते कहता हो और पीठ पीछे बुराई करता हो, तथा मन मे कुटिलता रखता हो—वह भिन्न नही है। हे भाई सुग्रीव ! जिसका मन साँप की चाल के समान टेढा हो, ऐसे बुरे मित्र को त्यागने मे ही भलाई है।

रामचन्द्र के द्वारा सुग्रीव से मैत्री की गई जिसका परिणाम भी अच्छा ही निकला। लङ्कादहन और सीता की खोज तथा उनका सन्देश रामचन्द्रजी तक पहुँचा देना, तथा हनुमानजी की भक्ति, सेवा दौत्य-कार्य आदि अनेक वाते रामचरित-मानस मे भरी पडी है। साहित्यिक-दृष्टि से किसी भी प्रसङ्ग को लेकर देखने से उसकी सरसता और अत्युत्कृष्टता अपने आप ही सिद्ध हो जाती है।

अपनी सेना के साथ प्रभु रामचन्द्रजी विनोद पूर्ण और वैदग्ध्य पूर्ण वाते भी करते रहते थे। ऐसा ही एक प्रसङ्ग देखिए। यथा[1]—

पूरब दिसा विलोकी प्रभु, देखा उदित मयंक।
कहत सबहि देखहु ससि हि मृगपति-सरिस असक ॥
पूरब दिसि गिरि-गुहा निवासी। परम प्रताप तेज बलरासी ॥
मत्त नाग तम-कुंभ विदारी। ससि केसरी गगन-बन चारी ॥
कहत हनुमत सुनहु प्रभु, ससि तुम्हार प्रियदास।
तव मूरति विधु उर बसति सोइ स्यामता भास ॥

इस सवाद और वार्तालाप मे प्रत्येक चरित्र और उसकी वौद्धिक क्षमता मुखरित हो उठी है। प्रभु रामचन्द्रजी ने पूर्व दिशा की ओर देखकर कहा—देखो यह उदित चन्द्रमा सिंह के समान कैसे निःशङ्क है। पूर्व दिशारूपी गिरि-कन्दरा मे रहने वाला वडा प्रतापी तथा तेज और वल की राशि यह चन्द्रमारूपी सिंह अन्धकार-रूपी मतवाले हाथी का मस्तक फोडकर आकाश-वन मे विचरण कर रहा है। मोतियो के समान विखरे हुए तारकगण निशा-सुन्दरी के शृङ्गार है। प्रभुजी ने कहा—चन्द्रमा मे जो काला धव्वा है, वह क्या है ? अपनी-अपनी वुद्धि के अनुसार उसे समझाकर कहो। सुग्रीव ने उत्तर दिया—हे रघुनाथजी ! सुनिए, चन्द्रमा मे पृथ्वी की छाया दीख रही है। किसी ने कहा—चन्द्रमा को राहु ने मारा है, वही

---

१. रामचरित मानस लङ्काकाण्ड, ११-१२ (गीता प्रेस गोरखपुर संस्करण) पृ० ४५३।

काला दाग हृदय मे पड़ा हुआ है। किसी ने कहा—विधाता ने जब रति के मुख की रचना की, तव उन्होंने उम मुख को बनाने के लिए चन्द्रमा का सार-भाग ले लिया, वही छेद चन्द्रमा के उर मे दिखाई दे रहा है, जिसके कारण उसमे आकाश की काली परछाँई प्रतीत होती है। रामचन्द्र ने कहा—विष चन्द्रमा का भाई है। इसलिए वह चन्द्रमा को बहुत प्रिय है। इसीसे चन्द्रमा ने उसे अपने हृदय मे धारण किया है और विष निर्मित किरणे फैलाकर वह विरह-दग्ध पुरुषो और स्त्रियो को जलाया करता है। हनुमानजी ने कहा हे भगवान्! सुनिए, चन्द्रमा आपका प्रिय सेवक है। आपकी साँवली मूर्ति चन्द्रमा के हृदय मे रहती है, उसी मूर्ति का यह आभास दिखाई पड़ रहा है। इस प्रकार के रसिक विनोद श्री रामचन्द्रजी अपने सैनिक साथियो से किया करते थे।

अव हम तुलसीदासजी के कुछ अन्य साहित्यिक-सौन्दर्य को अभिव्यक्त करने वाले उदाहरण अपने अनुशीलन के लिए लेते है—

राम विरह मे दुखी कौसल्या का एक चित्र यहाँ पर प्रस्तुत है[1]—

जननि निरखति वान धनुहिया।
बार बार उर नैननि लावति प्रभुजू की ललित पनहियाँ॥
कबहुँ प्रथम ज्यों जाइ जगावति कहि प्रिय वचन सवारे॥
कबहुँ समुझि वन गवन रामको रहि चकि चित्र लिखी सी।
तुलसिदास वह समय कहे तें लागति प्रीति सिखी-सी॥[2]

माता कौसल्या बार-बार रघुनाथजी के खेलकूद के धनुप को देखती है, और प्रभुजी की नन्ही-नन्ही सुन्दर जूतियाँ को बार-बार हृदय से तथा नेत्रो से लगाती है। कभी पहले की भाँति प्रात.काल ही मन्दिर मे जाकर इस प्रकार के प्रिय वचनो से उनको जगाने लगती है कि हे तात! उठो, तुम्हारे मुखारविन्द पर माता न्यौछावर होती है। देखो तो सारे अनुज द्वार परे खडे है। कभी कहती है वेटा वहुत अवेर हो गयी है, महाराज के पास जाओ तथा अपने साथियो को बुलाकर जो रुचे सो भोजन करो। वे कभी राम के वन गमन का स्मरण कर चकित होकर चित्र लिखित सी रह जाती है। तुलसीदासजी कहते है कि उस समय का वर्णन करने से तो प्रीति सीखी हुई सी जान पडती है क्योकि सत्य स्नेह होने पर तो उसका वर्णन असम्भव हो जायगा, तथा चित्त विवश होकर विरहाग्नि मे दग्ध हो जायगा।

---

१ गीतावली अयोध्याकांड पद ५२।

जनकपुरी की सजावट का कलात्मक वर्णन—

विधि हि बंदि तिन्ह कीन्ह अरंभा। बिरचे कनक कदलिके खंभा॥
हरित मनिन्ह के पत्र फल, पदुमराग के फूल।
रचना देखि विचित्र अति, मन विरंचि कर भूल॥
वेनु हरित-म न-मय सब कीन्हे। सरल सपरब परहिं नहिं चीन्हे।
कनक-कलित अहि बेली बनाई। लखि नहिं परइ सपरन सुहाई॥
तेहि के रचि पचि बंध बनाये। बिच बिच मुकुता दाम सुहाये॥
मानिक मरकत कुलिस पिरोजा। चीरि कोरि पचि रचे सरोजा॥
किये भृङ्ग बहुरङ्ग विहङ्गा। गुंजहि कूजहिं पवन-प्रसंगा॥
सुर प्रतिमा खंभनि गढि काढ़ी। मंगल द्रव्य लिए सब ठाढ़ी॥[1]

इन पक्तियो मे तुलसी की दृष्टि कितनी बारीकी के साथ कलात्मक सयोजन करती थी इसे देखते ही बनता है। यह कलात्मक सूक्ष्म विवाह जैसे मोहक वातावरण मे जनकपुरी का विवरण देते हुए तुलसी के परिष्कृत रसिक दृष्टिकोण का परिचय दे देती है। इस वास्तुकला मे सजीवता के साथ नृत्य सगीत आदि का चेतन रूप निखर उठा है। जनक के आदेश पर अनेक विशेषज्ञों को मण्डप बनाने के लिए बुलावा गया। उन्हे उसे सजाने को कहा गया। तब कुशल और चतु विशेषज्ञ आये। उन्होने ब्रह्मा का वदन कर कार्यारम्भ किया और सबसे प्रथम केले के स्तभ सुवर्ण के बनाये। उनमे हरे वर्ण की मणियो के पत्ते और फूल बनाये। पद्म राग माणिक के लाल वर्ण के पुष्प निर्माण किये। मण्डप की अत्यत विचित्र रचना देखकर ब्रह्मा का मन भी उसमे रम गया। सब बाँस हरे रग की मणियो से बनाये। वे सीधे और पत्तेदार बाँस सरलता से पहिचाने भी नही जा सकते थे। सोने की सुन्दर नागवेली बनाकर उसे पत्तो सहित विभूषित किया जिसे पहचाना अत्यन्त कठिन था। उस लता मे पच्चीकारी कर उसी के बधनवार बनाये जिसमे बीच-बीच मे मोतियो की लडियाँ विद्यमान थी। लाल माणिक, पन्ने, हीरे और पिरोजे को चीरकर तथा कोरदार बनाकर पच्चीकारी करते हुए उसके रग-बि गे कमल के फूल बनाये। भृङ्ग और रङ्ग-बिरङ्गे पक्षी भी बनाये जो हवा के झोको से गूँजते और मधुर ध्वनि से कूजते थे। स्तभो पर देवताओ की मूर्तियाँ खोदी गयी जो मागलिक द्रव्य और सामग्री लेकर खडी थी। अनेक तरह के चौक पुराये गये जो गज मुक्ताओ से बने थे और बडे सुहावने थे। नील मणियो को कोरकर अत्यन्त सुन्दर आम की टहनियाँ बनायी गयी, जिनमे सोने के आम्र बौर और

---

१. रामचरित मानस बालकांड २८७–८८।

रेशमी डोरी से बधे हुए पन्ने से बने फूलो के गुच्छ शोभायमान थे। कितना अनोखा और अद्भुत कलात्मक वर्णन तुलसी ने यहाँ पर प्रस्तुत किया है। ऐसा वर्णन साहित्य मे बहुत कम मिलता है।

राम लक्ष्मण और सीता के वन गमन की करुण व्यंजना—

राम लक्ष्मण और सीता के वन गमनावसर पर उनकी सुकुमारता और सौंदर्य को देखकर जन-जीवन मे उनके लिए श्रेष्ठ कोटि का आदरभाव है तथा कठोर हृदय से जिन लोगो ने उनको वनवास दिया है उनके प्रति और विशेषत. कैकेयी के प्रति ग्राम वधूटियों के जो उद्गार निकले हैं उनमे से एक यहाँ पर द्रष्टव्य है—

रानी मै जानी अजानी महा पवि पाहन हूँ ते कठोर हियो है।
राजहु काज अकाज न जान्यो, कह्यो तिय को जिन कान किये है।
ऐसी मनोहर मूरति ये, बिछुरे कैसे प्रीतम लोग जियो है?
आँखिन में सखि राखिबे जोग, इन्हें किमिकै बनवास दियो है?[1]

एक ग्राम वधू दूसरी से कहती है कि मैं जानती थी कि रानी कैकेयी कितनी कठोर, दुष्टा और अबोध थी, जिसका हृदय पत्थर से भी कठोर है। फिर राजा दशरथ ने भी रामचन्द्र, सीता तथा लक्ष्मण को वनवास देते हुए विवेक और विचार से काम नही लिया और अपनी कठोर एवम् पाषाण हृदयी स्त्री की बात मान ली। वास्तव मे ये ऐसी मनोहर और सुकुमार मूर्तियाँ है जिनको आखो मे रखा जा सकता है। इनसे बिछुड़कर उनके प्यारे लोग कैसे जीवित रहे होगे? जब हमे उन पर जो कठोरता वर्ती गयी है, उससे इतना दुख होता है तो जो उनके अपने सम्बन्धी एवम् आत्मीय है, उनको कितना दुख हुआ होगा। उसकी कल्पना मात्र की जा सकती है। कितनी करुण भाव-व्यजना है।

लङ्का दहन का एक भीषण परिणाम—

लङ्का दहन के प्रसङ्ग मे हनुमानजी के द्वारा किया गया भीषण परिणाम प्रदर्शित करने वाला उदाहरण द्रष्टव्य है—

हाटबाट हाटक पिघलि चलो घी सो घनो।
कनक कराही लंक तलफति ताय सों।
× × ×
तुलसी निहारि अरिनारि दै दै गारी कहे।
बापरे सुरारि बैर किन्ही रामरायसो॥[2]

---

१. कवितावली अयोध्याकांड २०।
२. कवितावली सुन्दरकांड २४।

हनुमानजी ने लङ्का को जलाकर अग्नि का ऐसा प्रकोप किया, कि उसकी ऊष्णता से घर, बाजार और सर्वत्र स्वर्णपुरी लङ्का का सोना घी की तरह सघन रूप मे पिघल कर बह निकला। स्वर्ण की कडाही मे मानो लङ्कापुरी तडफ रही थी। सारे बलवान राक्षसो को जलाकर, झुलसाकर तथा मार कर नाना तरह के पकवानो की ढेरियाँ और पक्तियाँ मानो हनुमानजी ने सजा दी हो। अभ्यागत रूप मे आये हुए अग्नि जैसे अतिथि को हनुमानजी अपनी रुचि से आग्रह पूर्वक परोस-परोस कर भोजन करा रहे है। इस तरह सर्वनाश और आग का भयङ्कर रूप देख कर असुरस्त्रियाँ अपने पति को गालियाँ देकर कहती है, हे पागल! देख लिया न, राजा रामचन्द्रजी से विरोध करने का भीषण परिणाम। वे तो असुरारि है। उनसे शत्रुत्व कर क्या फायदा हुआ?

युद्ध क्षेत्र मे राम का व्यक्तित्व—

रामचन्द्रजी ने अपने प्रचण्ड बाहु बल और धनुष के द्वारा छोडे गये बाणो से जो रावण की सेना और उसका भीषण सहार किया उससे उनका रणस्थल मे किस तरह का स्वरूप बन गया था, उसे देख लेना औचित्यपूर्ण ही होगा। यथा[1]—

राम सरासन तें चले तीर, रहे न सरीर हड़ावरि फूटी।
रावन वीर न पीर गनी, लखि लै कर खप्पर जोगिनी जुटी।
सोनित छीटि छटा निज्रटे तुलसी प्रभुसोहै, महाछवि छूटी।।
मानो मरक्कत-सैल विसाल में फैली चली वर वीर बहूटी।।

राम के बाणो से विद्ध होकर राक्षसो के शरीर जीवित न रह सके। शरासन से सन्धान किये जाने पर जो बाणो की वर्षा हुई उससे, हड्डियो की कतार सी खडी हो गई। रावण जैसे महावीर ने इसकी पीडा को कुछ भी नही गिना, यह देखकर जोगिनियो ने अपने हाथ मे खप्पर लेकर रुधिर प्राशन करने मे लूट मचा दी। प्रभु रघुपति के श्यामल शरीर और जटाजूट पर शोणित के छीटे और बिन्दु इधर-उधर मडरा रहे थे। तुलसीदासजी कहते है कि इससे जो एक महा छबि के दर्शन प्रभु के हुए वे ऐसे प्रतीत हुए मानो मरकत मणियो से युक्त विशाल पर्वत पर लाल-लाल वीर बहूटियाँ फैल चली हो। भगवान् राम का यह रणस्थलीय रौद्ररूप साहित्यिकता का एक सरस अश है।

तुलसी की सूक्तियाँ—

अब तुलसी की कतिपय सूक्तियाँ भी देखेगे[2]—

गोंड गँवार नृपाल महि यमन महा-महिपाल।
साम न दाम न भेद कलि, केवल दंड कराल।।

---

१. कवितावली–लंका काण्ड, ५१।

२. दोहावली संख्या ५५६, ५५४, ५६५, ५७२, ५६६, ५६७।

कलियुग की भीषण परिस्थिति का उल्लेख तुलसी के ग्रन्थो मे बराबर रूप से आया है। कवितावली के उत्तरकाड मे तथा रामचरित मानस के उत्तरकाड में तुलसी के युग की सामाजिक और धार्मिक दशा का चित्रण अपने यथार्थवादी रूप मे चित्रित है। यहाँ पर इन सूक्तियों मे भी साधनात्मक परिस्थितियो और देश की राजनीतिक एवम् सामाजिक परिस्थिति की झाकियाँ प्रस्तुत है। इस कलि काल मे ऐसे नृपति राज्य करते थे. जिनमें योग्यता नगण्य थी। राजनीतिक और सामाजिक उच्चाशयता तो दूर की बात है। इसीलिए गँवार गौड राजा और यवन-महाराजाधिराज हुआ करते थे। जिनके शासन मे साम-दाम और भेद तो शून्यवत् ही था। केवल कराल दण्ड नीति से वे अपना प्रशासन चलाते रहते थे। तुलसी की ये सूक्तियाँ उस समय की यथार्थ दशा पर प्रकाश डालती है।

धार्मिक साधनाओं के क्षेत्र मे भी यही बात दिखाई पडती थी। ढकोसलेबाजी से और पाखडों से बिना अधिकार और पात्रता के जनता पर अकुश जमाने वाले साखियाँ, सबदियाँ और दोहरे सुनाया करते थे। कहानी और उपाख्यानो मे मन गढन्त किस्से सुनाते रहते थे। वेद और पुराणो की घनघोर निन्दा करने वाले तथा कथित भक्त, कलियुग में भक्ति-निरूपण करते थे। भक्ति-शास्त्र का जिन्हे ज्ञान नही वे यदि भक्ति का निरूपण करने लगे तो उसमे तथ्य और मार्मिकता कितनी होगी इसका अनुमान किया जा सकता है। कलियुग मे कुपथ कुतर्क, कुचाल, कपट, दभ और पाखड का बोल बाला अधिक है परन्तु राम का गुणगान इन सबको प्रचण्ड आग मे इन्धनवत् जलाकर विनष्ट कर देता है।

भाषा का कोई बंधन किसी भी सहृदय के लिए नही है। सस्कृत ही भाषा हो और प्राकृत न हो ऐसा कोई नियम नही है। व्यावहारिक रूप से लोकाभिमुखता के लिए यदि रामचरित्र प्राकृत मे गाया जाना ही सरस और सुलभ है, तो सस्कृत का आश्रय लेने की वैसी कोई अनिवार्यता नही है। तुलसीदासजी कहते है कि जहाँ कम्बल से काम चल जाता है वहाँ रेशमी कपडा लेकर क्या उपयोग होगा। अर्थात् कौनसा फायदा होने वाला है।

स्नेहपूर्वक सीताराम का नित्य स्मरण आत्मकल्याणार्थ मध्य मे और अन्त तक शुभ परिणाम उपलब्ध हो जाता है। चित्त रूपी चकोर के लिए रामचन्द्र के मुखचन्द्रमा का आकर्षण होने पर रामराज्य मे सारे कार्य शुभ अवसर मे शुभकारी और सुहावने हो जाते है। अवधी और ब्रज दोनो भाषाओ मे तुलसी ने अपने साहित्य को रचा है। दोनो पर उनका समानाधिकार है।

इस तरह कहा जा सकता है कि तुलसीदासजी का साहित्य सगुणोपासनापरक

लोकाभिमुख तथा आत्म कल्याण और लोककल्याण इन दोनो पक्षो का हित करने वाला है। उसकी दार्शनिकता लोक-मगल को ध्यान मे रखकर सिद्ध है और साहित्यिकता भी शील, शक्ति और सौन्दर्य के अनन्त गुणो से सयुक्त होकर जन-जन मानस के हिय का हार वन गई है। यही उसका उज्ज्वल और वरद स्वरूप है। तुलसी इसीलिए सब वैष्णव भक्तो मे मूर्धन्य और वरेण्य है।

सूरदास का साहित्यिक पक्ष—

सगुण भक्ति-काव्य के वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावो को लेकर उसे अपनी चरम पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले कृष्ण भक्त सूरदासजी की तुलना किसी से नही की जा सकती। तन्मयता जैसे एक ही गुण को लेकर यदि अध्ययन किया जाय तो कहना पडेगा सूरदास वेजोड़ है। उच्च पदस्थ भक्ति-भावना को सूर ने अपने साहित्य मे जिस प्रकार अपनाया है, उस स्तर पर पहुँचना सूर के अतिरिक्त और किसी का कार्य नही है। सूर सौन्दर्य के आगार एवम् सौन्दर्य पुरुषोत्तम पर तो रीझे ही है। परन्तु उनके सम्पर्क मे आकर चेतन-अचेतन पर जो एक अमिट प्रभाव और स्पदन, भगवान् श्रीकृष्ण ने निर्माण किया उसका स्पष्ट अङ्कन सरसता के साथ गीतिकाव्य के माध्यम से तथा सगीत की सहायता से करते हुए सूरदासजी ने एक वहुत सर्वश्रेष्ठ कार्य सिद्ध कर दिखाया है। भक्त और भगवान् का सम्बन्ध प्रेम का है। इसे सूर की काव्य भावना का मर्म समझिए।

सूर ने परब्रह्म श्रीकृष्ण की अलौकिकता को तथा उनके रहस्यात्मक स्वरूप को वरावर समझा है। इन्हे समझाने का उनका माध्यम बालकृष्ण की बाल लीलाएँ तथा गोपियों के साथ की गई लीलाओ का सयोग और वियोग की अवस्थाओ तथा अनेक सुकुमार भाव-भंगिमाओ का आलेखन है। सूर मुक्ति नही चाहते केवल भक्ति ही उनका लक्ष्य है। सूर की कलात्मकता और साहित्यिकता का अब हम अनुशीलन करेगे।

सूरदास की साहित्यिकता एवम् कलात्मकता का विवेचन—

कृष्ण जन्म के मगल अवसर पर बालक कन्हैया को देखने के लिए सब वृजवासियो के अत करण मे एक विशेप प्रकार की उत्सुकता दिखाई पडती है। व्रज-वनिताएँ तो कृष्ण को किसी न किसी वहाने देखने जाती है। सूरदासजी का इसी अद्भुत अलौकिक इच्छा का वर्णन करने वाला एक पद देखिए—

> हौं सखि, नई चाह इक पाई।
> सूरदास प्रभु भक्त-हेत-हित, दुष्टनि के दुखदाई ॥[1]

---

१. सूरसागर पद ४३५० (ना. स.)।

एक सखि दूसरी सखी से कह रही है कि मैने अपने में एक नई इच्छा जगी हुई पाई। नंद के यहाँ ऐसे सुदिन फिरे है, कि कन्हैया नाम का एक अति सुन्दर पुत्र उत्पन्न हुआ है। प्रणव के साथ इस आनन्द को प्रकट करने वाले मंगलवाद्य रुज, मुरज और शहनाई इत्यादि वज रहे है। महरनन्द और महरि यशोदा व्रज के हाटो को लुटवा रहे है। उनका आनन्द इतना वढ़ गया है कि उर मे समाता नही है। इसलिए हे सखि ! तू भी साथ चल। हम मिलकर चले और देखे कि कैसा आनन्द सर्वत्र फैला हुआ है। परन्तु देर न करना। उसका प्रस्ताव सुनकर उत्सुक व्रज-वनिताओ की यह दशा हो गई कि कोई आभूषण पहन रही थी वह पहनकर निकल आई, कोई पहनते हुए वाहर आगई तो अन्य कोई वैसे ही दौडकर चली आई। सवने स्वर्ण के थाल मे दूव, दधि और रोली लेकर मगल वधावेके गीत गाती हुई निकल आई। अनेक प्रकार से युवतियाँ वन ठन कर के आई है। वालकृष्ण के अद्भुत और अलौकिक आश्चर्य कारी स्वरूप को देखने ये सारी स्त्रियाँ आई है। इसका वर्णन किसी भी उपमा से नही किया जा सकता। आकाश मे अपने-अपने विमानो में वैठे-वैठे व्रज के इस सुख को देवता निहारते है और जय-जयकार करते है। सूरदासजी निवेदन करते है कि प्रभु भक्त के हितार्थ अवतार लेते है और दुष्टो के लिए दुखदायी वन जाते है।

अद्भुत रसपूर्ण वालकृष्ण का यह कौतुक देखने योग्य है—

कर पग गहि अगूठा मुख मेलत।
प्रभु पौढ़े पालने अकेले, हरषि हरषि अपने रंग खेलत।
उन व्रज-वासिनी वात न जानी, समुझे सूर सकट पगु ठेलत ॥[1]

× × ×

जब मोहन कर गही मथानी।
सूरदास प्रभु की यह लीला, परति न महिमा सेष बखानी ॥[2]

हाथो से पैर का अगूठा मुख में श्रीकृष्ण रखते है। प्रभु अकेले पालने मे सोये हुए हैं और हर्षित होकर के अपने ही रग मे खेल रहे है। वाल रूप पूर्ण ब्रह्म को इस प्रकार अपने ही रग मे खेलते हुए देखकर शकर सोचने लगे, विधाता अपनी सारी वुद्धि खर्च कर विचार करने लगे यथा अक्षय वट वढकर सागर के जल को झेलने लगा। प्रलय काल के वादल यह सोचकर घिर आये कि अव प्रलय काल का क्षण आ पहुँचा। दिशाओ के हाथी दिगा पतियो के सहित हिलने लगे। मुनिगण

१. सूरसागर पद ६८१ (ना. स.)।
२. सूरसागर पद ६६२ (ना. स.) १७६२।

मन मे भयभीत हो गए। शेषनागजी ने सकोच से अपने सहस्रो फणो को फैलाया। इतनी सारी हलचल ब्रह्माड मे मच गयी, पर ब्रजवासी इस बात को नही जान पाये। सूरदासजी ने यह जान लिया था, कि प्रभु अपने पैरो से शकटासुर को ठेल रहे थे। क्योकि उसका वध हो गया था।

इसी प्रकार दूसरा अद्‌भुत् प्रसङ्ग भी सरस है। जब मोहन ने हाथ मे मथानी उठा ली और दधि से भरे हुए मटके मे उसे डाल कर उसका स्पर्श किया, तब 'नेति नेति' कहने वाले सुरो ने तथा सागरने, मंदराचल पर्वत ने और वासु की ने मन मे भय मान लिया कि कही फिर कोई समुद्र मथन तो नही होने जा रहा है। आप कभी तो तीन पगो मे सारी धरती माप लेते है तो इस बाल्यावस्था मे आप अपनी देहली का भी उल्लघन करना नही जानते। कभी तो देवता और मुनियो के भी ध्यान मे नही आते है। पर उनको कभी नदरानी यशोदा अपने हाथो से खिलाती है। कभी तो देवताओ के द्वारा बनायी गयी खीर तक उन्हे अच्छी नही लगती, परन्तु कभी दही और माखन से ही उन्हे रुचि उत्पन्न हो जाती है। सूरदासजी कहते है, यह सारी प्रभु की लीला है। इसकी महिमा शेष नागजी से भी नही बखानी जा सकती।

श्रीकृष्ण की शोभा का हृदयग्राही और प्रभावजन्य-स्वरूप वर्णन देखिए—

सोभा सिंधु न अंत लहीरी।
सूरस्याम प्रभु इन्द्र नील मनि, ब्रज बनिता उर लाइ गहीरी ॥[1]

× × ×

देखो माई सुन्दरता को सागर।
बुधि विवेक-बल पार न पावत, मगन होत मन-नागर ॥
देखि सरूप सकल गोपी जन, रहीं विचारि विचारि।
तदपि सूर तरि सकी न सोभा, रही प्रेम पचि हारि ॥[2]

इस नवजात शिशु पूर्ण-पुरुषोत्तम-कृष्ण की शोभा का क्या वर्णन किया जाय? एक सखि इस शोभा से प्रभावित होकर दूसरी सखी-से कहती है कि शोभा के इस सिंधु का कोई अन्त नही है। नद भवन मे जाकर जब मैने उस सुन्दर बालक को अत्यन्त उमङ्ग के साथ देखा तो उससे प्रभावित होकर मैं ब्रज की विथियो मे घूमती फिरी। आज घर-घर दही देकर मैने सारा गोकुल देखा।

---

१. सूरसागर पद ६४० (ना. स.)।
२. सूरसागर पद १२४६ (ना. स.)।

सहस्रो लोगो के पूछे जाने पर मै बार-बार उनको वर्णन सुनाने का निर्वाह न कर सकी, क्योकि किस-किस प्रकार यह अद्वितीय बात अनेक प्रकार से मै बना कर कहूँ यही मेरी समस्या बन गई थी। सब लोगो ने यही कहा कि यशोदा के अगाध उदर-उदधि से यह अद्भुत शोभा का आगार, बालक कन्हैया उत्पन्न हुआ है। सूरदासजी कहते है, प्रभु रूपी-इन्द्रनील मणि को हर ब्रज-वनिता ने अपने हाथो से उठाकर हृदय से लगा लिया। कितना व्यापक प्रभाव इस बालक के सौन्दर्य का पड़ता है, इसकी कल्पना सभव नही है। गोपियाँ उस सौन्दर्य-पुरुषोत्तम के संपर्क मे आकर और उससे साक्षात्कार कर रसमग्न हो गई है। उनकी हृदय की अवस्था का तथा इस सच्चिदानद के चेतन-सौन्दर्य से प्रभावित गोपियो के उद्गार मननीय है। अरी, देख तो सही यह सुन्दरता का सागर। इस के सौन्दर्य का पार नही लगता। बुद्धि और विवेक का बल भी इसका रहस्य नही जान पाता। मन-नागर भी इस अनुपम सौन्दर्य को देखकर मग्न हो जाता है। इनका शरीर अति श्यामल और अगाध सागर की गहराई लिए है। कमर मे पीताम्बर पहना हुआ उनका परिवेश इस सागर मे तरगित हो रहा है। अपने आकर्षक बाँकपन लिये हुए नेत्रो से जब ये किसी को देखते हुए चलते है, तो और भी अधिक रुचि अन्त.करण मे उत्पन्न हो जाती है। और इस सौन्दर्य सागर के अङ्ग-अङ्ग मे भँवरे पड़ जाती है। सागरूपक सूरदास ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा के बल से और अपनी विलक्षण कल्पना से प्रस्तुत कर दिया है। वास्तव मे इस अद्वितीय सौन्दर्य सागर को देखकर गोपियाँ हैरान है। वे श्याम सुन्दर के रूप लावण्य पर लुभा गई है, तथा उनके अङ्ग-अङ्ग पर मर मिटी है। कृष्ण के नेत्र मछली जैसे चचल, कुडल मकराकृति के है, तो दोनो हाथ भुजङ्ग जैसे है। दोहरी मडराने वाली मौक्तिक-माला, ऐसी प्रतीत होती है मानो दो सुर-सरियाँ एक साथ आकर इस सौन्दर्य-सागर से मिल गई हो। स्वर्ण में जडे गये मणियो के आभूषण और मुखारविन्द पर दिखाई पडने वाले घर्म-बिन्दु ऐसे दिखाई पडते है मानो सागर को मथने पर उसमे चन्द्रमा, लक्ष्मी और अमृत इकट्ठे निकल आये हो। कहने का अभिप्राय यह है कि चन्द्रमा का आकर्षण, लक्ष्मी की श्री और अमृत की तरलता और चैतन्य श्रीकृष्ण के सौन्दर्य मे समन्वित रूप मे विद्यमान है। ऐसे सौन्दर्य को देख कर उसको आत्मसात कर लेना कठिन है, पर गोपियो की व्याकुलता इस बात को स्पष्ट करती है कि ऐसा अलौकिक और दिव्य सौन्दर्य मन और वाणी की शक्ति के परे की चीज है। सूरदास जी कहते है बेचारी गोपियाँ ऐसे सुन्दर सगुण स्वरूप को देखकर सोचती है कि इसे कैसे देखें? [illegible] भा-सागर मे तैर नही सकी और प्रेम मग्न होकर चकित हो [illegible] कला और व्यजकता सराहनीय है।

यशोदा ऐसे दिव्य बाल-स्वरूप पर न्यौछावर हो जाती है देखिये[1]—

बलि गइ बालरूप मुरारी।
पाइ पैंजनि रटति रुन झुन, नचावति नंदनारि।
कबहुँ हरि कौ लाइ अँगुरी चलत सिखावति ग्वारि।
कबहुँ हृदय लगाइ हित करि, लेति अँचल डारि।
कबहुँ हरि कौ चितै चूमति, कबहुँ गावति गारी।
कबहुँ लै पीछे दुरावति, ह्या नही बनवारी।
कबहुँ अङ्ग भूषन बनावति, राइ लोन उतारि।
सूर सुर-नर सबै मोहे, निरखि यह अनुहारि॥

वात्सल्य रस के सम्पूर्ण तत्व यहाँ आकर इकट्ठे हो गये है। नद के घर खेलते, डोलते, नाचते कृष्ण का यह चित्र सूरदासजी ने प्रस्तुत किया है। यह गतिमान सौन्दर्य हृदय को विमुग्ध किये विना नही रहता। बालरूप कृष्ण की छवि देखिये। उनके मनोहारी पैरो मे पैजनियो रुनक झुनक युक्त झनकार हो रही है। जब कि नन्द की महरी यशोदा उनको नाचना सिखाती है। कभी उगली पकडकर चलना सिखाती है। कभी प्रेमपूर्वक हृदय से लगा लेती है, तो कभी उनका मुँह चूम लेती है। कभी अपने आँचल मे छिपा लेती है, तो हर्षित होकर कभी गाती है और कभी उनको पीछे की ओर दुराती है। कभी वस्त्राभूषण पहिनाकर राई और नोन से उनकी नजर उतारती है। उनका वात्सल्य प्रेम देख कर सुर, नर आदि सब का मन मोहित हो गया है।

कृष्ण के अङ्गो के सौन्दर्य का प्रभाव:—

कृष्ण के अङ्ग अङ्ग की शोभा सदा एक सी नही रहती प्रत्येक क्षण मे नव्यता और रमणीयता आती रहती है। प्रत्येक गोपी कृष्ण के किसी न किसी अङ्ग पर रीझी है यथा[2]—

तरुनी निरखि हरिप्रति-अङ्ग।
कोऊ निरखि नख-इन्दु भूली, कोउ चरन-जुग रङ्ग॥
कोऊ निरखि नूपुर रही थकी, कोउ निरखि जुग जानु।
कोऊ निरखि जुग जङ्घ सोभा, करती मन अनुमान॥
कोऊ निरखि कटि पीत कछनी मेखला रुचिकारी।
कोऊ निरखि हृद नाभि की छवि डारियो तन मन वारि।

१. सूरसागर पद ७३६ (ना. स)
२. सूरसागर पद १२५२ (ना. स)

रुचिर रोमावली हरि के चारु उदर सुदेस ।
मनो अलि-स्त्रेनी विराजति बनी एकहिं भेस ।
रही इक टक नारी ठाढ़ी करति बुद्धि विचार ।
सूर आगम कियो मन तें जमुन-सूच्छम धार ।

कृष्ण के अङ्ग प्रत्यङ्ग को प्रत्येक तरुणी-गोपी देखती है । कृष्ण के सौन्दर्य पर मुग्ध होने का यह विविध व्यापार देखिए । कोई कृष्ण के युगल चरणो की स्वस्थ और रक्तिम आभा को देखती है तथा उनके इन्दु की आभा को प्रकट करने वाले नखों को देखकर उसके प्रभाव मे मग्न है । कोई जुगल जानुओ को देखकर पैरो में बधे नूपुरो को देखते-देखते विस्मृत हो गई है । कोई दोनो सुडौल जघाओं को देखकर उनकी सुघरता पर मन ही मन अनुमान करने मे व्यग्र है । कोई कमर मे काली मेखला तथा पीताम्बर को कसे हुए परिवेश को और काछनी की ओर देखती ही रह गई है । कोई नाभि के विवर की छवि देखकर अपना तन मन उस पर वार देती है । कोई कृष्ण के सुन्दर उदर पर जो रुचिर रोमावली है उसी पर लट्टू हो गई है । मानो भ्रमरो की कतार एकसा वेप धारण किये चली जा रही हो । कोई इकटक होकर कृष्ण के सौन्दर्य को देखने वाली नारी खडी होकर अपनी बुद्धि से विचार-मग्न हो गई है, कि यह लावण्य आखिर किस कोटि का है ? सूर को एक अद्भुत उत्प्रेक्षा सूझी है । वे कहते है कि ऐसा लगता है मानो आकाश से यमुना की सूक्ष्म धारा का आगमन हो रहा हो । सचमुच सूर के रूप-लावण्य का चित्रण और उसका व्यापक वर्णन अनोखा है ।

सूरदास की शब्द-योजना और सजीव चित्र उपस्थित करने की पटुता भी स्पृहणीय है यथा[1] —

दावाग्नि की भयंकरता का भयानकरस मे सजीव वर्णन—

झहरात झहरात दावानल आयो ।
घेरि चहुँ ओर करि शोर अन्दोर वन, धरणि अकास चहुँ पास छायो ।।
वरत वन बाँस, थरहरत कुश काँस, जरि उड़त है बाँस, अति प्रबल वायो ।
झपटि झपट लपटत, पटकि फूल फूटत, फटि चटकि लट लट कि द्रुमन धायो ।
अति अगिनि झार भार धुन्धार करि, उचटि अङ्गार झंझार छायो ।
वरत वन पात झहरात झहरात, अररात तरुमहा धरणि गिरायो ।।
भये बेहाल सब बाल ब्रज बाल तब, सरन गोपाल कहि कै पुकार्‌यो ।
तृणा केशी शकट बकी बका अघासुर, वामकर गिरि राखि ज्यों उबार्‌यो ।

---

1. सूरसागर पद १२१४ (ना स) ।

इस पद की शब्द योजना कितनी ध्वन्यात्मक है। उदाहरणार्थ भहरात, भहरात, अररात, झझार, धुँधार आदि शब्द रस को हमारे सामने प्रत्यक्ष लाकर उनका आशय मूर्तिमान कर देते है। दावानल तीव्र गति से झहराते हुए आया, और उसने चारो ओर से 'अन्योर वन' को घेर लिया। वास्तव मे राक्षस ही दावानल का रूप धारण कर वृज-मडल को लीलने आ पहुँचा था। यह दावाग्नि धरती से आकाश तक छा गई थी। इस आग मे जगल के कुश, कास जलकर इधर-उधर गिर पडते है। जलते हुए बाँस हवा के प्रबल झोके से यत्र-तत्र उडकर गिरते है। इधर-उधर लपटे झपटती है उसके फूल फूटते है उनके चटकने की आवाज आती थी। लपटे जलती हुई पेडो तक पहुँच गयी थी। अग्नि के प्रज्वलित हो जाने से सर्वत्र धुआँ छा गया था। उसका सर्वग्रासी भयानक रूप शोलो सहित उचटकर आकाश तक परिव्याप्त था। पत्तियाँ, द्रुम और लताएँ जलकर और दुहरी होकर नीचे की ओर लटक रही थी। बड़े-बडे तरु अरराकर जलने के कारण टूट पडे और धरती पर जोरशोर सहित आ गिरे। सारे व्रज के ग्वाल-बाल, और सभी जन अत्यन्त बेहाल हो गए और वे सर्वरक्षक गोपालजी के शरण मे आए। उनका विश्वास उन्हे बतला रहा था कि इसके पूर्व श्रीकृष्ण ने तृणावर्त केशी, अघासुर, बकासुर आदि को मारकर, तथा वामकर से गोवर्धन को उठाकर व्रज की रक्षा की थी। अत. इस सकट से भी वे सब अवश्य ही मुक्त हो जावेगे।

कृष्ण के सौन्दर्य की आसक्ति गोपियो को उनके नेत्रो ने प्रदान की है। प्रेम व्यापार मे नेत्रो जैसे इन्द्रिय का बडा मूल्य होता है। उनका अन्त:करण उनके निजी वश मे नही रह सका। इस दोप को स्वय वे स्वीकार कर अपने नेत्रो को वे दोपी ठहराती है। उसकी सरस अभिव्यजना द्रष्टव्य है यथा[1]—

नेत्र व्यापार—

चितवनि रोके हूँ न रही।
स्याम सुन्दर–सिंधु–सनमुख, सरित उमँगि बही।
प्रेम–सलिल प्रवाह भँवरनि, मिति न कबहुँलही।
लोभ लहर-कटाच्छ, घूंघट पट–करार ढही॥
थके पल–पथ, नाव धीरज परति नहिं न गहीं।
मिली सूर सुभाव स्यामहि, फेरि हू न चही॥

अपनी दृष्टि को, कटाक्ष को कई बार रोका-टोका परन्तु हमारे किये कुछ न हो सका। उन चितवनो ने श्यामसुन्दर के सौन्दर्य-सागर के सामने उमगित

१. सूरसागर पद (ना. स.)।

सरिता का रूप धारण कर लिया और वे चचल होकर उसी में वह गईं। प्रेम के जल की गहराई मे वे इतनी डूब गईं कि उनको उसकी थाह तक न लग सकी। लोभ की लहरो मे कटाक्षपात होते ही वे बह निकली, तथा घूँघट के कगारो को भी उन्होने ढहा दिया। पल-पथ पर उनकी राह देखते-देखते हम थक गयी, धैर्य की नाव पर उनको आश्रय देना चाहा, परन्तु अब तो वे पकड मे किसी भी तरह आ ही नही सकती। स्वभावत: वे श्याम से जाकर मिल गई है और कृष्ण के स्वभाव को उन्होने अपना लिया है, फलत. उनको वापस फेरने पर भी वे हमसे फेरी नही जा सकती। प्रेम का प्रभाव कितना गहरा और व्यापक होता है इसका सम्यक् उदाहरण सूरदासजी ने यहाँ पर प्रस्तुत कर दिया है।

प्रेम में कभी-कभी प्रणयकोप भी होता है इसी को कलात्मक ढङ्ग से एक स्थान पर महात्मा सूरदासजी अभिव्यक्त करते है।

प्रणय-कोप तथा मीठी झिडकी का मधुर संयोग देखिए[1]—

मोहि छुओ जनि दूर रहौ जू।
जाको हृदय लगाइ लयौ है, ताकी बाँह गहौ जू।
सुनहु सुर मो तन वह इकटक चितवनि, डरपति नाहीं॥

कृत्रिम क्रोध करते हुए श्रीकृष्ण से यह नायिका कहती है कि मुझे कतई स्पर्श न करना। जिसको आपने हृदय से लगा लिया है, उसी की बाँह ग्रहण करो। आप क्या यह समझते है कि सर्वज्ञ केवल आप ही है और सब मूर्ख है। वे रानी है और हम सब दासी है। मै देख रही हूँ, कि वह आपके हृदय मे बैठी हुई है और हम तो आपके लिए एक हँसी मजाक की बात बन गई है। एक तो आप समय पर नही आए, दूसरे धोखा भी दे रहे हो। बाँह गहते हुए आपको लज्जा भी नही आती। यह सब करते हुए आप मनमे बडा सुख पा रहे है न? सूरदासजी कहते है कि यह नायिका उनसे कहती है कि मेरी ओर देखो। ऐसा कहकर वह उनकी ओर एकटक होकर देख रही है जरा भी डरती नही है।

इसी तरह का किन्तु दूसरे ढङ्ग का एक पद और भी द्रष्टव्य है। जिसमे सूरदासजी नेत्रो की धृष्टता तथा उनके द्वारा किये गये व्यापारों का गोपियो के मुख से वर्णन प्रस्तुत करते है[2]—

अखियाँ हरि के हाथ बिकानी।
मृदु मुसुकानि मोल इनि लीन्हीं, यह सुनि सुनि पछितानी॥

---

१. सूरसागर पद (ना. स.)।
२. सूरसागर पद (ना. स.) २९९७।

कैसे रहति रही मेरे बस. अव कछु औरे भाँति ।
अव मै लाज मरति मोहि देखत, बैठी मिलि हरि-पांति ॥
सपने की सी मिलनि करति है कब आवति कब जाति ।
सूर मिली ढरि नंद-नंदन कौ, अनत नही पतियाति ॥

ये आँखे हरि के हाथ बिक गई है । हरि के मुखारविन्द पर मंडराने वाली मृदु मुमकान पर ये न्यौछावर हो चुकी है अर्थात् इन्होने उस मुसकान को मोले ले लिया है । यह सुनकर हमे वडा पश्चाताप होता है । इमके पूर्व नेत्रो का आचरण हमारे वश की बात थी । पर अब इनका व्यवहार कुछ दूसरे ही ढङ्ग का हो गया है । इनके कारण अर्थात् हृदय से कृष्ण स्नेहमयी अवस्था से मै अब अपने आप ही लज्जित हो जाती हूँ । इनकी धृष्टता तो देखिये ! कि ये तो श्री हरि के साथ उनके निकट स्थित है, और मुझे वह सुख उपलब्ध नही है । परिणामत. श्रीकृष्ण के साथ हमारा मिलन स्वप्न के सदृश हो जाता है और जब इन नेत्रो के मन मे आता है तो वे श्रीकृष्ण के पास चली जाती है, और अपनी इच्छानुसार वापस लौट आती है । सूरदासजी कहते हैं कि इनकी आँखे नद-नदन से मिलकर उनमे ही ढल गयी है । अतः अब वे अन्यत्र नही जाती ।

चर्म चक्षु तो दो होते है जिनसे आँखो के क्षितिज मे आने वाली सभी चीजे देखी जाती है । परन्तु अपने प्रियतम श्रीकृष्ण को देखने की अतीव इच्छा ने गोपियो के रोम-रोम को ही नेत्र वना दिया है । सच है भक्त पर भगवान् की पुष्टि हो जाने पर उसकी मधुरा भक्ति से सरावोर हो गया हुआ अन्त करण इसी प्रकार की अवस्था को प्राप्त कर लेता है । देखिए एक गोपी की अवस्था । यथा—

रोम रोम ह्वै नैन गएरी ।
ज्यों जलधर परवत पर बरसत, बूँद बूँद ह्वै निचटि-दए री ।
ज्यों मधुकर रस-कमल पान करि, मोते तजि उन्मत्त भएरी ॥
सूरदास प्रभु-अगनित सोभा, ना जानो किहि अङ्ग छये री ॥[२]

मेरे नेत्रो की तरह ही श्रीकृष्ण के सौन्दर्य के प्रति आकृष्ट होकर और उनके प्रेम मे मग्न होकर मेरे रोम-रोम नेत्र वन गए है । अरी सखि ! ऐसा लगता है मानो पर्वत शिखर पर बैठे हुए नव-जलधर वूँद-वूँद होकर पूर्णरूपेण बह निकले । जिस प्रकार मधुकर कमल का रस-पान कर उसे छोड देते है, वैसे ही मेरे रोम-रोम मे व्याप्त नेत्रो ने कृष्ण रूपी कमल के रस का पान कर मुझे छोड़कर उन्मत्त हो गए

१. सूरसागर पद (ना. स) २६१० ।
२. सूरसागर पद २६१० (ना० स०)

है। सर्प जिस प्रकार केंचुल त्याग देने पर उसकी ओर पुन. देखने के लिए उद्यत नही होता उसी तरह इन नेत्रो ने कृष्ण को देखा, और उनके साथ ही वे चले गए, और मेरा केंचुलवत् परित्याग कर चल दिए। मै तो स्यामल श्रीकृष्ण चन्द्रजी के रूप मे मग्न हो गई हूँ और इधर उनकी दशा तो ऐसी हो गई है। सूरदासजी कहते है कि प्रभु की शोभा अगणित है और उसका प्रभाव ऐसा तीव्रतम और सर्वव्यापी है, कि यह गोपी कहती है कि पता नही किये नेत्र कृष्णजी के किन अङ्गो पर मुग्ध होकर छा गए है ?

सूर की प्रतिभा कृष्ण जीवन सबधी जिन-जिन प्रसङ्गो को लेती है उसमे लीन हुई सी जान पडती है। बालको के स्वभाव मे 'स्पर्धा' और 'क्षोभ' के भाव स्वाभाविक रूप से विद्यमान रहते है। सूर की चोखी और अनोखी प्रतिभा ने तथा भक्त के सहज अन्त.करण ने अपने उपास्य के इन भावो की ओर भी दृष्टिपात किया है। इस प्रसङ्ग के ये दो उदाहरण द्रष्टव्य है। यथा[१]—

(१) स्पर्धा का भाव—

मैया कबहिं बढ़ैगी चोटी ?
किती बार मोहिं दूध पियत भई, यह अजहूँ है छोटी।
तू जो कहति बल की बेनी ज्यौ ह्वै है लाँबी-मोटी।
काँचो दूध पियावत पचि पचि देत न माखन-रोटी।
सूरज चिरजीवौ दोऊ भैया, हरि हलधर की जोटी।

यशोदा माता से बालक कृष्ण जी पूछते है कि उनकी चोटी क्यों नही बढ़ रही है ? इसके पूर्व यशोदा अपने पुत्र से कई बार कह चुकी है कि तुम दूध पिया करो और यह चोटी बढती जायगी। बालक कृष्ण दूध तो पीते है पर चोटी नही बढती। अत: बाल सुलभ कौतुहल और सन्देह युक्त होकर पुन: वे अपनी जननी से पूछते है, कि माता ! मै तो कई बार दूध पी चुका हूँ पर तेरे कथानुसार यह बल की द्योतक वेणी की तरह लंबी-चौड़ी नही बन सकी है ? मेरा अनुमान है कि तू मुझे कच्चा दूध पिलाती रहती है, इसी का यह परिणाम है। मुझे तो माखन-रोटी प्रिय है और तू उसे देती नही है। इस प्रकार का उत्तर प्राप्त कर माता ने अपना वात्सल्य भाव प्रकट किया है, जिसका सूरदासजी वर्णन करते है, कि यशोदा ने अपने बालक कृष्ण पर रीझ कर कहा तुम्हारी और बलराम की जोड़ी चिरजीव हो जाय मै तुम पर न्यौछावर होती हूँ।

---

१. सूरसागर, पद ७९३ (ना. स)

(२) क्षोभ एवम् खीझ के भाव का स्वाभाविक प्रदर्शन—[१]

> **खेलत में को काकौ गुसैयाँ।**
> **हरि हारे जीते श्रीदामा, बरबस ही कत करत रिसैयाँ।**
> **सूरदास प्रभु खेल्योइ चाहत दाउँ दियौ करि नंद-दुहैयाँ॥**

खेलते हुए कौन किसका मालिक है? खेल मे हार-जीत तो होती ही रहती है। जिस पर दाँव आता है उसे दाँव देना ही पडता है। अत. खेल-खेल मे हरि हार गये और श्रीदामा जीत गये तो क्या हुआ? क्यो व्यर्थ क्रोध करते हो? कृष्ण को इस प्रकार उनके सखा समझाते है। जाति पाति की दृष्टि से भी तुम हमसे बडे नही हो और तुम्हारा दवाव किस लिए? हम तो तुम्हारी छाया मे आकर थोडे ही बसे है? क्या तुम हम पर इसी लिए अधिकार प्रदर्शित करते हो क्यो कि तुम्हारे पास अधिक गाये है। यदि तुम रूठते हो तो रूठे रहो और जहाँ के तहाँ अपनी गायो को लेकर बैठे रहो। सूरदास कहते है कि प्रभु तो खेलना ही चाहते थे इसलिए नद-नदन-कृष्ण ने अपना क्षोभ हटा कर दॉव दिया। वास्तव मे स्वाभाविकता तो इसमे है ही परन्तु वात्सल्य भाव से की जाने वाली भक्ति की साधना अपनाने वालो की यह भगवान् के द्वारा ली गई परीक्षा भी है।

मुरली वर्णन—

मुरली पर भी सूर ने कई सुन्दर पद लिखे हैं। कृष्ण को पाना जैसे जीव का लक्ष्य होता है, वैसे ही जड और अचेतन भी चैतन्यराशि कृष्ण के संपर्क मे आकर उनकी सन्निकटता प्राप्त कर लेता है। मुरली का यही हुआ। गोपियो को जो सन्निकटता प्राप्त हुई थी उससे भी निकटतम सान्निध्य मुरली को प्राप्त हुआ, जिससे गोपियो को ईर्ष्या हुई। परन्तु फिर भी उसके भाग्य की उन्होने सराहना ही की है।

इस पद मे इस भी अभिव्यजना देखिए[२]—

> **मुरली तप कियो तनुगारि।**
> **नेहकूँ नहिं अङ्ग मुरकी, जब सुलाकी जारि।**
> **सूर प्रभु तब ढरे है री, गुनन्हि किन्ही प्यारि॥**

मुरली के तप और साधना से उसने जो कुछ प्राप्त किया, वह स्वयम् गोपियो के लिए सराहना का विषय बन गया। इस मुरली को जब अपने मूल रूप

---

१ सूरसागर, पद ८६३ (ना. स.)
२. सूरसागर, पद १९५८ (ना. स.)

से अर्थात् बाँस से काट कर अलग किया गया, उसमे छेद बनाये गये। तब अपने किसी भी अङ्ग को उसने नही मोडा। वर्षा. शीत और ग्रीष्म के प्रबल आघातो को उसने सहा। और वह भी एक पग पर खडे होकर। कटते हुए अपने किसी अङ्ग को नही मोड़ा ऐसी यह साहसिनी नारी है। अत. ऐसी कठिन साधना करने वाली साधिका को तू क्यों गाली दे रही है? इसने तो श्यामसुन्दर को रिझा लिया है। इतना सब कुछ कर लेने पर श्रीकृष्णचन्द्रजी ने उस पर कृपा की है। उसने अपने गुणो से अपनी ओर ढलने के लिए मजबूर कर दिया। तभी वह कृष्ण की प्यारी बन गई। पुष्टि-मार्ग मे कृष्ण का अनुग्रह एक स्तर से दूसरे स्तर मे अपनी पात्रता एवम् अधिकार से सम्पन्न होता है। इस तथ्य का सुन्दर निरूपण इस प्रतीकात्मकता से पाठको को उपलब्ध हो जाता है।

सूर के सयोग वर्णन की उत्कटता और सरसता अद्वितीय है। प्रियतम और प्रेयसी का, पति और पत्नी का और जीवात्मा तथा परमात्मा का मधुर सम्मिलन रास लीला मे तन्मय हो उठा है इसे देखने के लिए एक अनूठा पद सूरदास जी प्रस्तुत कर देते है यथा[1]—

रास की सरसता का रहस्य—

मानो माई घन घन अन्तर दामिनि।
घन दामिनी, दामिनि घन अंतर, सोभित हरि-ब्रज भामिनि॥
जमुन पुलिन मल्लिका मनोहर, शरद-सुहाई-जामिनी॥
सुन्दर ससि गुन रूप-राग-निधि, अङ्ग अङ्ग अभि रामिनि॥
रच्यो रास मिलि रसिक-राइ सौं, मुदित भई गुन ग्रामिनि।
रूप-निधान स्याम सुन्दर तन, आनन्द मन विस्रामिनि॥
खंजन - मीन - मयूर-हंस-पिक, भाइ - भेद गज - गामिनि।
को जाने गति गने सूर मोहन सङ्ग, काम विमोह्यो कामिनि॥

रास की चरम पराकाष्ठा पर पहुँची हुई अवस्था और रास-मडल मे किये जाने वाले नृत्य की क्षिप्र गति में कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ दिखलाई पड़ते है। इसी दिव्य रास का अलौकिक वर्णन सूरदास जी करते है। प्रत्येक गोपी के साथ कृष्ण ऐसे दिखाई देते है जैसे एक मेघ अपनी गर्जन-तर्जन के साथ साँवली शोभा लिए हुए हर स्थान पर विद्यमान है। जिससे क्षण-क्षण पर बिजली की कौध से उत्पन्न प्रकाश दिखाई पड़ता हैं। यह बिजली अपनी चमक-दमक के साथ राधा और गोपियो का ही रूप प्रदर्शित कर देती है। घनश्याम श्रीकृष्णचन्द्रजी तो बादल का

---

१. सूरसागर, पद १६६६ (ना. स.)

ही वर्ण लेकर आये है। इस दृश्य से ऐसा लगता है, जैसे एक ही समय कृष्ण प्रत्येक गोपी के साथ नृत्य मे मग्न हो गये है। रसिक राज श्रीकृष्ण के साथ तद्रूप हो गयी व्रज वनिताएँ हर्ष से पुलकित और आनद से भर गयी हैं। खजन, मीन तथा हंस की शोभा को अपनी-अपनी आनद छवि से पराजित करने वाली इन सुन्दर और रास-विह्वला गोपियो की गति का कोई क्या वर्णन कर सकेगा? सूरदासजी कहते है कि इन गोपियो को श्रीकृष्ण के साथ रासलीला में मिलने वाले आनन्द ने मोह लिया है। अत. उनकी इस विह्वलता का वर्णन कर सकना सभव नही है। सूरदासजी स्वयम् इस रास-लीला की प्रणाली के विषय मे एक स्थान पर यह कहते हैं[1]—

रास लीला की अगम्यता—

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं, कहाँ यह चित्त जिय भ्रम भुलावै॥
जो कहौं, कौन माने जो निगम-अगम-कृपा बिनु नहीं या रसहि पावै॥
भाव सौ भजै, बिनु भाव मे ये नही भाव ही माँहि ध्यान हि बसावै॥
यहै निज मंत्र, यह ज्ञान यह ध्यान है दरस-दपति भजन सार गाऊँ॥
यहै माँगो बारबार प्रभु सूर के, नैन दोऊ रहे, नर-देह पाऊँ॥

इस रास-लीला का वर्णन सूरदासजी के अनुसार उनके सामर्थ्य के बाहर की बात है। इसका रहस्य, इसकी रीति, प्रविधि आदि अवर्णनीय है। भगवान् के अपार अनुग्रह से राधा और गोपियो को यह आनन्द-केलि करने का सुअवसर प्राप्त हुआ था। उनकी-सी बुद्धि, उनका सा मन मेरे पास कहाँ है? जो इन गोपियो के पास विद्यमान है। यहाँ तो चित्त और जी मे भ्रमोत्पादकता अपने भुलावे मे डाले हुए है। इससे मुक्त होकर इतनी उच्च पुष्टि प्राप्त करना बडी साधना और श्रीकृष्णजी की कृपा पर निर्भर है। यदि कुछ कहूँ भी तो कौन मानेगा? निगमागम आदि मे भी इसे दुर्लभ बताया है। बिना कृपा के यह रस भाता ही नही। इसके लिए वैसा भाव चाहिए। जिसमे ऐसा भाव होगा वही उस भाव से प्रभु को भजता है। बिना भावो के इसकी उपस्थिति एवम् आविर्भाव भी नही हो सकता। विश्व की विराट भावात्मक सत्ता का यह मधुर आभास है। क्योकि इसका निवास भावो मे ही स्थित है। श्रीकृष्ण चन्द्र और उनकी ह्लादिनी पराशक्ति राधा की युगल जोडी का ध्यान करना, भावमय होकर इनका भजन करना ही मन्त्र है। यही मेरा ध्यान है। इस युगल-दम्पति के दर्शन नित्य करने चाहिए यही भजन का सार है जिसे मैं गाकर

---

१. सूरसागर पद १६२४ (ना. स.)।

सुनाता रहूँ यही मेरी अभिलाषा है। सूरदासजी प्रभु से बार-बार यही माँगते है कि मेरे दो नेत्र भी रहें और मैं नरदेह प्राप्त कर यही मन्त्र, ध्यान, दर्शन आदि कर सकूँ। रसमार्गीय, माधुरी भावना के भक्त एवम् नित्य लीला के आकाक्षी भगवान् की कृपा से इसे प्राप्त करते है, यही सूरदासजी का अभिप्राय है। यह रास प्रभु की शाश्वत लीला है जिसका दर्शन प्रज्ञाचक्षु सूर ही एकमात्र कर सके।

सूर साहित्य में विरह भावना का प्रदर्शन—

सूरदासजी की विरह व्यजना वात्सल्य और शृङ्गार रस के माध्यम से अभिव्यक्त किये गये विवेचन मे मिलती है। यहाँ पर हम कतिपय यशोदा के उद्गारो से माता का अन्त.करण अपने लाल श्रीकृष्ण के लिए विछोह मे कितनी दुखित है इसे देखेगे।[1] यथा—

जद्यपि मन समुझावत लोग।
सूल होत नवनीत देखि मेरे, मोहन के मुख जोग।।
प्रात काल उठि माखन-रोटी, को बिनु मांगे दैहे।
को मेरे वा कान्ह कुवर कौं, छिनु-छिनु अङ्कम लैहे।।
कहियो पथिक जाइ, घर आवहु, राम कृष्न दोउ भैया।
सूर स्याम कत होत दुखारी, जिनके मो सी मैया।।

यशोदा के मातृ हृदय का सूरदास को अच्छा परिज्ञान था। श्रीकृष्ण के मथुरा चले जाने पर यशोदा को जो वियोग हो गया था उस अवस्था में कई लोगो ने उन्हे समझाया। वे कहती है, कि यद्यपि लोग मेरे मन को समझाते हैं परन्तु नवनीत को देखकर मेरे हृदय मे शूल उठता है क्योकि यह मेरे मोहन के मुख मे पडने योग्य था। उन्हे अब प्रात.काल उठकर बिना माँगे कौन माखन रोटी देगा? मेरे कुँवर कन्हैया को कौन खिलावेगा और बार-बार गोद मे कौन उठा लेगा? हे पथिक! मेरे बलराम और कृष्ण इन दोनो बेटो को जाकर कह दो कि वे घर पहुँच जावे। तुम क्यो दुखी होते हो। जब मेरे जैसी माता विद्यमान है तो चिंता किस बात की। कृष्ण को अक्रूर रथ मे बैठाकर अपने साथ ले गए तब गोपियों की जो दशा हो गई, वह विरहावस्था का आरम्भ ही था। यह भावना आगे चलकर तीव्रतम होती गई। परन्तु विरह कितना प्रखरतम था तथा साँवले श्रीकृष्ण से उनका कितना गाढा और सघन रस सम्बन्ध था इसका पता उनके इस पद मे लग जाता है। यथा—

१. सूरसागर पद ३७६१ (ना. स.)।

आजु रैनि नहिं नींद परी।
जगत् गिनत गगन के तारे, रसना रटत गोविंद हरी ॥
सूरदास प्रभु जहाँ सिधारे, कितिक दूर मथुरा नगरी ॥[1]

अक्रूर के द्वारा बाँह गहकर श्रीकृष्ण चन्द्रजी को रथ मे बैठाकर लिवा ले जाने का दृश्य ब्रजवासियो और विशेषत: गोपियो के अन्त:पटल पर चिरन्तन रूप से अङ्कित हो गया था। दूरी की दृष्टि से ब्रज से मथुरा नगरी बहुत दूर नही थी। जहाँ प्रभु चले गए थे, वहा क्या गोपियाँ नही जा सकती थी? वैसे दूध, दही, माखन इत्यादि बेचने नित्य ही गोप-ग्वाल और ग्वालिने जाती रही होगी। परन्तु श्रीकृष्ण-चन्द्रजी का उनसे कुछ कहे बिना तथा आश्वासित किए बिना चले जाना मानिनि गोपिकाओ के लिए अपने स्वाभिमान का विषय बन गया। इसीलिए उन्होने विरह दुख सहना स्वीकार किया और वे वहाँ नही गयी। भक्त और भगवान् मे तथा सख्य भक्ति और माधुर्य-भक्ति मे वही नैकट्य की—आत्मीयता की सम्बन्ध-भावना कार्य करती रहती है ऐसा तथ्य हमारे सामने आता है। विरहाकुलता देखिए। आज रात भर किसी को नीद नही आई। सारी रात तारे गिनते हुए व्यतीत हो गई और रसना निरन्तर गोविन्द-गोविन्द, हरि-हरि रटती रही। रथ मे बैठे हुए कृष्ण की वह चितवन, वह रथ मे बैठने की पद्धति और अक्रूर के द्वारा उनकी बाँह गहा जाना, हमेशा के लिए हमारे हृदय मे अङ्कित हो गई है। हमारी आँखो के सामने हमारी आँखो की निधि छीन ली गई। हम तो काम के द्वारा दग्ध हो गई थी। विरह से पीडित हो जाने के कारण कुछ कह भी नही सकती थी। अपने मान मे हे सखि! मुझे व्याकुल रह जाना पडा और इधर आर्य पथ से भी हट गईं। इस अगतिकता मे हमे दोनो ओर से दुख उठाना पडा।

सगुण उपास्य की प्रतिष्ठा—

सूरदास के इन गीतो मे मधुर अमृत के साथ अश्रुओ का सारा जल भी विद्यमान है। भावमग्न सूरदास अपने सगुण भजन से सगुण उपास्य मे बराबर लीन रहे है। निर्गुन बानी, योग आदि तद्युगीन अन्य साधनाओ को वे जानते थे। पर उसकी निस्सारता भी सूर की समझ मे आ गई थी। व्यावहारिकता की दृष्टि से उद्धव और गोपियो के सवादो मे, भ्रमरगीत के माध्यम से गोपियो का निर्व्याज प्रेम और अपने सगुण उपास्य के प्रति दृढ आस्था ही प्रकट होकर हमारे सामने आई है। ऊधो को दिए गए उलाहने तथा सगुण का जोरदार समर्थन विशेष द्रष्टव्य है। यथा—

---

१. सूरसागर पद ३६२२ (ना. स.)।

निरगुन कौन देस को बासी ।
सुनत मौन ह्वै रह्यो बावरो, सूर सबै मति नासी ।[1]

× × ×

काहे को रोकत मारग सूधौ ।
सूर मूर अक्रूर गयौ लै ब्याज निबेरत ऊधौ ।।[2]

ऊधो की योग, निर्गुण तथा वेदात की साधना से उनको मुक्त कर उन्हें पुष्टिमार्ग एवम् सगुण-साधना का मर्म समझाने के हेतु भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हे गोपियों के पास सन्देश देकर भेजा था। गोपियाँ अपनी कान्तासक्ति और माधुर्य भक्ति मे पक्की थीं। सगुण सौन्दर्य-पुरुषोत्तम को छोडकर वे निर्गुण निराकार को क्यों और कैसे मान सकती थी? उन्होने ऊधो से अनेक प्रश्न पूछने आरम्भ कर दिये। वे पूछने लगीं बताओ तो तुम्हारा यह निर्गुण किस देश का निवासी है? हे भ्रमर! शपथ पूर्वक हम तुमसे पूछती है कि इसका जनक कौन है, इसकी माता कौन है? इनकी कौन स्त्री है और कौन दासी? यह हम सब सत्य ही जानना चाहती हैं। इसमे कोई हँसी या मजाक नही है। तुम्हारा यह कथित निर्गुण ब्रह्म किस रस का अभिलाषी है। इसका क्या वर्ण है और कौन सा परिवेश है? यदि तुम इन सब प्रश्नो का उत्तर न दे सके, तो तुम अपनी करनी का फल जरूर प्राप्त करोगे। प्रश्नो की यह झड़ी लगी सी देखकर सूरदासजी कहते है कि बेचारे ऊधो की बुद्धि मारी गई और बेचारे बावले बनकर मौन ही रह गए।

गोपियो ने ऊधो से विनम्रतापूर्वक अभ्यर्थना करते हुए कहा कि सगुणोपासना का एवम् रागानुगा भक्ति का सरल और सीधा मार्ग हमने अपनाया है। उसे तुम क्यो रोक रहे हो? हे मधुप। निर्गुण की ओर जाने का कटका-कीर्ण मार्ग क्यों हमे चलने के लिये कह रहे हो? किसी को भी राजमार्ग से जाते हुए नही रोकना चाहिए। ऊपरी तौर पर कृष्ण ने तुम्हे भेजा है ऐसा तुम हमे बतलाते हो, किन्तु वास्तव मे ऐसा लगता है कि कुब्जा ने ही सिखा पढाकर हमारे पास तुम्हे भेज दिया है। वैसे वेदो पुराणो और स्मृतियो के पन्ने उलटकर देखो तो पता चलेगा, कि कही भी स्त्रियो के लिए योग-मार्ग अपनाने के लिए नही कहा गया है। उसकी परीक्षा क्या करे? कही छाछ भी दूध बन सकता है? सूरदासजी कहते है कि गोपियो का यह दावा है कि हमारे मूल धन को अर्थात् श्रीकृष्ण को तो अक्रूर ले गए अब तुम ब्याज उगाहने आये हो। अभिप्राय यह है कि तुम हमारे अन्त.करण

१. सूरसागर पद ४२४६ (ना. स.)।
२. सूरसागर पद ४५०८ (ना. स.)।

से रस-पुरुषोत्तम, सौन्दर्य-पुरुषोत्ताम और माधुर्य-पुरुषोत्तम को भी ले जाना चाहते हो। पर यह कैसे सम्भव है ?

नद को भगवान् कृष्ण ने जो कुछ उपदेश दिया अथवा समझाया वुझाया वह भी उनकी भक्ति भावना की ली गई परीक्षा ही है। सूरदास के द्वारा अभि-व्यजित यह प्रसङ्ग देखिए[1]—

> बेगि व्रज कौ फिरिए नद राइ।
> हमहिं तुमहिं सुत तात कौ नातौ, और परयो है आइ ॥
> सूर स्याम के निठुर वचन सुनि रहे नैन जल छाइ ॥

योगिराज कृष्ण भक्तो के आधीन होने पर भी उनमे कभी भी लिप्त नही थे। इसलिए जीवन की दार्शनिकता का उन्हे बराबर ज्ञान रहा करता था। भक्त की मनोवाछा तृप्त हो जाने पर 'तेन त्यक्तेन भुजी था, वाला सिद्धात उसको अपनाना चाहिए यही उनका उपदेश था। लौकिक भावनाएँ मोह-जनित होने से उदात्त वन जाने पर भी उनके पुन. मोहाधीन होने का अदेसा बना ही रहता है। भगवान् कृष्ण दार्शनिक एवम् सकेतात्मक सदेश नद को इस प्रकार देते हैं। हे नद! तुम शीघ्र व्रज को लौट जाओ। हमारा और आपका पुत्र का और पिता का सम्बन्ध है। पर अब दूसरा कर्तव्य सामने आ गया है। तुमने हमारा जो बहुत प्रेम से प्रतिपालन किया, वह हमारे हृदय से कभी भी विस्मृत नही होगा। माता यशोदा से मिलकर उन्हे सात्वना प्रदान कर देना। सब सखाओ को गले लगाकर मिलना, और उनको समझाना कि मोह वश हो जाना उचित नही है। यो तो यह ससार माया और मोह-जनित होने से इसमे मिलन और बिछुडन तो लगा ही रहता है। नद की आँखो मे अपने पुत्र श्रीकृष्ण के द्वारा कहे गये कठोर वचन सुनकर जल भर आया ऐसा सूरदासजी बतलाते है। गोपाल कृष्ण के बिना गोपियो का तथा सारे व्रज का शोक बढता ही गया। इसे दो पदो के द्वारा देख लेना अनुपयुक्त न होगा। प्रेम की विरहजन्य वेदना जब अगतिक बन जाती है तो विरह भी विरहिणियो से प्रेम करने लगता है यथा—

विरह की मार्मिकता—

> ऊधौ विरहौ प्रेम करे।
> ज्यों बिनु पुट पट गहत न रग कौ, रग न रसै परै ॥
> सूर गुपाल प्रेम-पथ चलि करि, क्यो दुख सुखनि डरै ॥[2]

---

१. सूरसागर पद ३७३५ (ना. स.)।
२. सूरसागर पद ४६०४ (ना. स)।

हे ऊधो ! हमसे तो विरह भी प्रेम करता है। विरह मे प्रेम की स्मृति विशेष जागरुक हो जाती है। सच्चा प्रेम विरह में ही प्रस्फुटित होता है। जिस प्रकार वस्त्र को कई वार रगो का पुट देने पर वह रग पकड़ लेता है और रस निकल जाता है, या जिस प्रकार कच्चे घट को आँवा मे तपाने पर वह पक्का हो जाता है और वाद मे उसमे अमृतोपम स्वादु जल भरा जाता है, अथवा जैसे वीज वो देने पर फटकर अकुरित हो जाता है और वह शतरूपो मे फलित हो जाता है या जैसे कोई योद्धा रण मे शरो के आघातो को सहकर सूर्य चक्र को वेधकर आगे चला जाता है उसी तरह सूरदासजी कहते है कि हम भी प्रेम-पथ पर चलकर दुखों को अथवा सुखों को सहने से क्यो डरेंगी ?

प्रिय की अनुपस्थिति मे प्रिय लगने वाले स्थल भी शत्रुवत् हो जाते हैं क्योकि उन स्थलों मे प्रिय के साथ सुखद क्षण व्यतीत किये गये है पर अब वे ही दुखद हो गये है। देखिये—

बिनु गुपाल बैरिनि भइ कुंजे।
तब वे लता लगति तन सीतल, अब भईं विषय ज्वाल की पुंजे॥
वृथा बहति जमुना, खग बोलत वृथा कमल फूलनि अलि गूंजे।
पवन, पान, घन सार, सजीवन, दधि-सुत किरनि भानु भई भूंजे॥
यह ऊधो कहियो माधो सौं, मदन मारि कीन्हीं हम लूंजे।
सूरदास - प्रभु तुम्हरे दरस कौं, मग - जोवत अखियाँ भई घुंजे॥[1]

गोपाल के विना ये कुज हमारे लिए शत्रुवत् वन गये है। इन कुंजों की लताएँ, झुरमुट इत्यादि हमारे प्रियतम श्रीकृष्णजी की उपस्थिति मे अर्थात् सयोग-पक्ष मे अत्यत शीतल जान पडते थे। किन्तु अव वियोगावसर में ये सब विष ज्वाला के पुँज रूप नजर आते है। यह जमुना व्यर्थ ही वह रही है, पक्षियों का कूजन भी निरर्थक है। कमलो का विकसित होना तथा उन पर भ्रमरो का मंडराना भी व्यर्थ है क्योकि हमारे प्रियतम यहाँ नही है। वायु, जल, वादल, चन्द्रमा और उसकी शीतल किरणे अब हमारे लिए सूर्य की किरणों के समान जलाने वाली प्रतीत होती है। हे ऊधो ! तुम जाकर माधव से यह कह दो कि गोपियाँ मदन की मार से कराह रही है। सूरदास का कथन है कि इन गोपियो की आँखे तुम्हारी प्रतीक्षा मे विछी हुई है। उन्हे हे प्रभु ! आप दर्शन दीजिए।

सूर की निगूढ़ काव्य साधना—

सूरदास की विशुद्ध और निगूढ काव्य-साधना उनकी आत्मपरक भावभूमि से

---

१. सूरसागर पद ४६८६ (ना. स)।

सम्पन्न है। काव्य का आनन्द ब्रह्मानन्द सहोदर माना गया है। भावों के भेद अपार हैं। सूर की तन्मयता ने अपने गीति काव्य शैली पूर्ण पदो मे श्रीकृष्ण परमात्मा की लीला का गान कर भागवत की 'समाधि भाषा' का ही परिणाम पाठको और रसिको पर अङ्कित कर दिया है। सूर का काव्य उच्च और उदात्त मानस भूमि के आधार पर ही निर्मित है। श्रीकृष्ण के रहस्यमय सौन्दर्य का दर्शन, उनके दिव्य व रसिकमय व्यक्तित्व का प्रदर्शन तथा भक्ति की महाभाव की दशा से लेकर अनेक अवस्थाओ का चित्रण राधा और अन्य गोपियो के माध्यम से ब्रज भाषा मे अभिव्यजित करने मे वे पूर्ण सफल एवम् सिद्ध हुए है। सूरदास रस विशेष की प्रतीति सहृदयो में कर सकने मे सिद्धहस्त है। उनका सङ्गीत दिव्य है, पदो की तन्मयता दिव्य है और कला भी दिव्य है। सूर के दो उदाहरण लेकर हम यह काव्यानुशीलन समाप्त करेगे।

राधा और माधव की अंतिम भेट कुरुक्षेत्र मे सूरदासजी ने करवाई है जो बडी हृद्य और सरस है।[१] देखिए—

राधा माधव भेट भई।
राधा माधव, माधव राधा, कीट भृङ्ग गति ह्‌वै जुगई।
माधव राधा के रंग राँचे, राधा माधव रंग रई।
माधव राधा प्रीति निरतर, रसना करि सौ कहि न गई॥
विहँसि कह्यौ हम तुम नहिं अंतर यह कहिकै उन ब्रज पठई।
सूरदास प्रभु राधा माधव, ब्रज - विहार नित नई नई॥

राधा माधव की यह भेट उस समय हुई है जब कीट-भृङ्ग-न्याय से राधा की दशा माधववत् हो गई है। माधव की दशा उसी न्याय से राधावत् हो गई। परस्पर एक दूसरे के विरह को अच्छी तरह समझ चुके हैं। राधा के रग मे माधव और माधव के रंग मे राधा रग गई है। राधा और माधव मे परस्पर निरन्तर प्रीति रही है, जो मौन रहकर ही अभिव्यक्त हो गई है। रसना से उसको बखानकर प्रदर्शित नही किया गया है। विहँसते हुए माधव ने राधा से कहा कि हम तुम मे कोई अन्तर नही है। इसी तरह गोपियो से कहकर उनके सहित कृष्ण ने उनको ब्रज मे वापस भेज दिया है। सूरदास कहते है कि ब्रज मे इसी प्रकार से लीला-लाघवी श्रीकृष्णजी नित्य नये-नये प्रकार के खेल और क्रीडाएँ आदि किया करते है।

लौकिक-कृष्ण और अलौकिक-कृष्ण के चरित्रो को समानान्तर रूप से

१. सूरसागर पद ४९१० (ना. स.)।

अभिव्यक्त करते हुए एक अभिन्न व्यक्तित्व सूर ने अपने उपास्य को प्रदान कर दिया है। जो वात्सल्य, सख्य, और माधुर्य भरी भक्ति भावना से अभिसिंचित हो उठा है।

सारे सूर काव्य-सागर में सूर की व्याकुल आत्मा अनेक माध्यमो से एक ही पुकार से गा उठी है जो इस प्रकार से है[1]—

छवीले मुरली नैकु बजाउं।
वलि - वलि जात सखा यहि कहि, अधर सुधा रस प्याउं॥
दुरलभ जनम लहव वृन्दावन, दुर्लभ प्रेम-तरग।
ना जानिये बहुरि कव ह्वै है, स्याम तिहारो संग॥
विनति करत सुवल श्रीदामा, सुनहु स्याम दै कान।
या रस कौं सनकादि सुकादिक करत अमर मुनि ध्यान॥

× × ×

डा० हजारीप्रसाद द्विवेदीजी ने ठीक ही कहा है कि 'हमारा यह विश्वास है कि यह व्याकुल सुर इतने रङ्गो मे अनुरजित होकर जो सूरसागर मे आया है, वह आकस्मिक नही है। उसमे कवि का आवरण परिधान करके बैठा हुआ भक्त गायक अपनी मर्म वेदना गा रहा है।'[2]

यह पद बहुत लवा है पर सूर की सारी मर्माहत वेदना इसमे मुखरित हो उठी है। सूर की आत्मा इस करुणा भरे गीत मे व्याकुल हो उठी है। अपार और अपरिमित सोभा वाले छविमान घनश्याम श्रीकृष्णजी को तनिक देर मुरली धुन सुनाने की अर्भ्यथना की गयी है। जन्म जन्मातरो की साधना के पश्चात यह सुर और यह छवि सुनने और देखने को मिली है। अत. सारे सखागण इस रूप पर वलिहारी जाते है और कहते है इस मुरली को पुन:-पुन अधर-सुधा का रस पिलाओ, जिससे वार-वार हमे उसकी धुन सुनाई पडे। इमी जीवन मे मनुष्य जन्म पाना दुर्लभ है। फिर वृन्दावन मे जन्म पाना उमसे भी दुर्लभ है तथा प्रेम की तरङ्ग मे आकर मुरली की ध्वनि सुनना और भी दुर्लभ है। पता नही इस आवागमन मे पुन: हे प्रभु! आपके साथ ऐसा सहवाम कव प्राप्त हो। सुवल और श्रीदामा आदि सखा गण मिलकर विनम्र प्रार्थना करते है कि आप सचमुच हमारी विनति को सुनिये। क्योंकि आपकी रसतानता का ध्यान शुक, सनकादि ऋषि करते है। फिर भी उसे नही पाते है। वास्तव मे चेतन-अचेतन, पार्थिव अपार्थिव तथा स्थूल और सूक्ष्म

1. सूरसागर पद १८३४ (ना. स.)।
2. सूर साहित्य (संशोधित संस्करण) डा० हजारीप्रसाद द्विवेदी, पृ० १२९।

आदि सभी ने जिस मुरली के रव को सुना है उसे पुन पुनः सुनने की सब की अभिलाषा है जिसे सूरदासजी ने प्रतिनिधिक रूप से अभिव्यक्त कर दिया है। रासलीला का रहस्य मुरली को ज्ञात है। अतः उसका स्वनित होना और श्रीकृष्ण की अपरिमेय सौन्दर्य युक्त छवि सबके आकर्षण का प्रधान केन्द्र बन गई है।

विरहिणी राधा का चित्रण—

राधा तो अत्यन्त मलीन वेष धारण कर विरह मग्ना है। सयोग मे हरि के श्रमजल के कारण उसकी सारी का अचल भीग गया था उसको वह धुलाती तक नही है। अपना वदन नीचे की ओर ही झुकाए रहती है। केश पाश विना सँवारे हुए ही छूटे हुए है। मानो हिमपात हो जाने पर कोई कमलिनी कुम्हला गई हो हरि सदेश सुनकर ऐसी जीवित हो गई जैसे कोई मृतप्राय व्यक्ति सहज जीवन प्राप्त कर ले। वैसे यह एक तो विरहिणी है, दूसरे भ्रमर के द्वारा सतायी गयी है। वेचारी अव कैसे जीवित रह सकेगी ? व्रज-वनिता राधा विना श्याम के दुखी है। इसे सूर ने वडी मार्मिकता से अभिव्यक्त किया है। सचमुच लूटे गये जुआरी की दशा राधा की हो गई है।

अति मलीन वृषभानुकुमारी।
हरि-स्रम-जल भीज्यो उर अंचल, तिहि लालच न धुवावति सारी॥
अधोमुख रहति अनत नाहिं चितवनि, ज्यों गथ हारे थकित जुआरी॥
छूटे चिकुर वदन कुम्हिलाने ज्यों नलिनी हिमकर की मारी॥
हरि सन्देसे सहज मृतक भई, इक विरहिनी दूजे अलि जारी॥
सूरदास कैसे करि जीवे, व्रज वनिता बिन स्याम दुखारी॥[१]

सूरदास का साहित्यिक पक्ष इसी तरह से भरा हुआ है। इसीलिए तो सूरदास का साहित्य तन्मयता और सरसता का सरोवर है।

मीराँ का साहित्यिक पक्ष—

मीरा गायिका थी अतः उनका साहित्य गेय पदो से युक्त है। अत उनके पदो को गीति काव्य के अन्तर्गत रखा जाता है। भक्ति भावना की सरसता तथा विशुद्ध प्रेम इनके साहित्य का विषय है। जयदेव की गीति-परम्परा को ही प्राय कृष्ण-भक्तो ने आगे वढाया है। इनके आदर्श पर मैथिल कवि कोकिल विद्यापति, वङ्गाल के कवि चडीदास, महाराष्ट्र के नामदेव, गुजरात के नरसी मेहता तथा हिन्दी के तुलसी, सूर, कवीर और मीराँ ने गेय पद लिखे हैं। सारा भारतवर्षीय—

---

१. सूरसागर ना. प्र. ४६९१।

वैष्णव साहित्य गीति काव्य की शैली से संपन्न और समृद्ध है। अपने गीतों के रचने के पहले अपने पूर्व वैष्णव कवियो के गेय पदो को मीराँबाई ने सुना होगा, गाया होगा और उसके संस्कार अवश्य मीराँबाई पर हो गए होगे। वे जब वृन्दावन मे गई थी, तब भी वैष्णव गीतो को उन्होने अवश्य सुना होगा। यो जिस राज घराने से उनका सम्बन्ध था वे संगीत के प्रेमी थे। अतः सङ्गीत के तत्वो का प्रभाव अपने बचपन से पडा होगा। आगे चल कर सन्तों के साथ और भक्तों के द्वारा गाये गये गीतो को सुन कर मीराँ ने भी गेय पदों मे अपने आराध्य श्रीकृष्ण की लीलाओं का आलेखन किया। मीराँ के पदों में अपने व्यक्तिगत जीवन संबंधी घटनाओं से संबधित भाव भी अभिव्यक्त हुए हैं। उनके काव्य के वर्ण्य विपय अनुराग, प्रेम की एकान्तिक निष्ठा, स्नेह की तन्मयता, वियोगजन्य पीड़ा की विह्वलता, हृदयस्थ भावों से परिव्याप्त मिलनेच्छा को व्यक्त करने वाली अनेक दशाएँ आदि बाते रही है। श्रीकृष्ण के स्नेह पथ मे अनेक बाधाएँ आई जिनको उन्होने सहा। ये भाव भी कुछ पदो मे अभिव्यक्त हो उठे है। मीराँ के पदो मे आत्माभिव्यक्ति के साथ सगीत और नृत्य इन तीनो की समन्विति है। अपने प्रीतम को रिझाने के लिए वे नाची है, गायी हैं, डोल उठी है। इन सब क्रियाओ का एक ही लक्ष्य हैं तथा एक ही साध्य है कि उनके साँवरे गिरिधारी उनसे प्रसन्न हो जाँय और उनको अपना ले।

मीराँ की काव्य साधना का मर्म—

अपने आपको मीराँ ने व्रज की गोपी ही मान लिया था। स्वकीया के नाते अपने गिरिधारी को बाँह गहे की लाज तथा अपना बिरद सम्हालने की याद वे बराबर देती रही है। अपने प्रियतम से उनका आत्मीय सवध बचपन से ही था। वैसे जो उसके पूर्व जन्म के साथी रह चुके है, उनकी प्रीति मे मेड़तणी मीराँ मत-वाली होकर यदि कुछ कहती है, तो उसमे अवाँछनीय कोई बात नही है। अपने प्रभु से मिलन और वियोग का साक्षात्कार वे बराबर करती रही है। अत: अपनी मिलन-जनित आनन्द की और वियोग जनित दुःख की सकल्पात्मक अनुभूतियो का उनके गीतों मे मर्म-स्पर्शी निवेदन है। किसी भी विशिष्ट कोटी की साधना की साम्प्रदायिकता का लवलेष भी मीराँ मे नही है। अपनी भक्ति से भगवान् को आत्मसमर्पण करने की तीव्र तत्परता से जिस-जिस भेष से हरि मिलेगे वे सब धारण करना उन्हे मान्य है। ज्ञान-योग, कर्म तथा सगुण निर्गुण, स्वकीया परकीया आदि कोई भी साधना क्यो न हो उनका किसी से कोई एतराज नही। पर वे किसी के दबाव में भी आने वाली नही है। स्वच्छन्द और उन्मुक्त रूप से अपने नटनागर के प्रति अपनी आसक्ति और अनुरक्ति की उदारता का अभिव्यजन ही उनके काव्य

का प्रमुख और मुख्य विषय है। सारी सङ्कीर्णताओ के ऊपर उठकर विशुद्ध भक्ति भावना से, निर्मलता युक्त अकृत्रिम पद्धति मे गीति काव्य की उद्‌भावना से मीराँबाई के गीत गू ज उठते है। उनका काव्य विषय उनके अपने व्यक्तित्व तक सीमित है, वैसे उनका चिर सहचर अनन्त कोटि ब्रह्माड नायक है। पर मीराॅ के अपने निजी सबधो के सदर्भ मे और अपने हृदयोद्‌गारो के सिलसिले मे वे अपने और छैल-छबीले गोपाल तक ही सीमित है। विरहदग्धा विधुरा नारी मीराँ ने अपने श्यामसुन्दर कृष्णचन्द्र के गीतो का स्वर ऐसे मुखरित किया, जिससे हिन्दी भाषी ही नही तो भारत भर मे वे लोक-विश्रुता बन गई। मीराॅ के प्रत्येक गीत को पढकर प्रत्येक व्यक्ति आध्यात्मिक प्रेम की मस्ती से झूम उठेगा।

मीराॅ के नारीत्व की महत्ता—

नारीत्व की मर्यादा मीराँ के काव्य का मूल रहस्य है और माधुर्य भाव की भक्ति-धारा नारी जीवन की पवित्रता और महानता से युक्त है। मीराँ की विरह स्पर्शी-भावना का प्रवाह बडे वेग से बहता है और उसकी बाढ़ तथा गहराई गभीर और अथाह है। इन उच्छ्वासो मे भी एक उल्लास है। अपने साजन की प्राप्ति के लिए मीराॅ ने अभिमान और अहकार का तो त्याग किया, पर अपने आत्माभिमान को अवश्य सुरक्षित रखा। अपनी अविचल भक्ति से भी भगवान् का मिलन न होने पर वे बराबर अपने गीतो मे अपने प्रभु को उपालम्भ और उलाहने देती रही है। मीराॅ की काव्य-साधना का ताना-बाना विशुद्ध भक्ति और विरह-निवेदन से ही गूँथा गया है। मीराँ की काव्य-साधना का दूसरा नाम प्रेम-साधना है। यह प्रेम अपूर्व और अलौकिक है। भावावेश, हृदयावेग और तन्मयता ये सारे गुण मीराॅ के गेय पदो मे हमे मिल जाते है। अपने गिरिधर के आगे मतवाली मीराँ पैरो मे घुघरु बाँधकर नाची है। यह उनका भक्ति-विभोर व्यक्तित्व है, जो उनके गीतो मे प्राजलता से सामने आ जाता है। वे अपने पिया से कभी झुरमुट मे मिलने जाती है, तो कभी एकात्मभाव से कह उठती है कि मेरे प्रियतम तो मेरे हृदय मे ही बसे है। अत. मुझे कही भी आना जाना नही है। मीराँ अपने विरह-जनित भावो को हृदय की माधुरी से ढोकर अपने गीतो मे उपालम्भ के रूप मे आत्मीयता से प्रकट कर देती है। मीराॅ की इस भक्ति-साधना मे वैष्णवी उपासना की जाज्वल्य एकान्तिक जीवन-निष्ठा है जो प्राणवान है। अपने माधव से वे कहती है—'शून्य ग्राम मे सब कुछ शून्यवत् है। शय्या सूनी है और अटरिया भी सूनी है। प्रियतम के बिना विरहणी तड़प रही है। जिसको प्रियतम ने त्याग दिया है।

कम से कम अब तो ध्यान देकर सुनिये कि यह मीराँ युगों-युगो से जन्म-जन्मान्तरों क्वारी है अतः हे माधवजी अब आप आकर उसे मिलिए।''[1]—

मीराँ के पदों में आकर्षण का तत्व—

मीराँ के पदो मे आकर्षरण का तत्व विद्यमान है। कोई भी पद कही से भी ले लेने पर उसमे यह बात दिखाई पड़ती है। जैसे[2]—

मेरे मन राम नाम बसी।
तेरे कारन स्याम सुन्दर सकल लोगाँ हँसी।
कोई कहै मीराँ भई बावरी, कोई कहै कुल नासी।
कोइ कहे मीराँ दीप आगरी नाम-पियासूँ रसी।
खाँडधार-भक्ति की न्यारी, काटि हैं जम फाँसी।
'मीराँ' के प्रभु गिरिधर नागर, सबद सरोवर धँसी॥

× × ×

पिया बिन सूनो है जी म्हारो देस ॥टेक॥[3]
ऐसो हैं कोई पीव कूं मिलावे, तनमन करुँ सब पेस।

मेरे मन मे राम बस गया है। हे श्यामसुन्दर! मै सब लोगों की हँसी दिल्लगी का विषय बन गयी हूँ। क्योंकि मैंने तुमसे लौ लगा ली है। कोई कहते हैं कि मीराँ पागल हो गई है, तो कोई कहते हैं कि मीरा ने कुल का सर्वनाश कर दिया है। कोई मीराँ को दीप जलाने वाली तथा अपने प्रीतम के नाम मे रस-मग्ना है ऐसा कहते है। भक्ति की न्यारी तलवार जम की फाँसी को भी काट देगी, और मैं जीवन-मुक्त हो जाऊँगी। हे नटनागर! मै तो आपका शब्द उच्चारण कर उसके प्रेम सरोवर में धँस गयी हूँ। मेरा स्थल और मेरा देश अपने प्रिय के बिना शून्य लगता है। कोई ऐसा है जो मुझे प्रियतम से मिला देगा? मैं ऐसा उपकार करने वाले के आगे अपना तन-मन आदि सब कुछ पेश कर दूँगी। हे प्रियतम! तुम्हारे लिए मैने जोगिन का भेष धारण कर लिया है और तुम्हे पाने के लिए जङ्गल-जङ्गल की खाक छानती फिरूँगी। आपने अपने आगमन की अवधि बतला दी थी। पर आप नही आए। मेरे तो केश भी सफेद हो गए। मीराँ कहती है

१. मीराँ स्मृति ग्रन्थ का पृष्ठ १३५ का पद—'सूनो गांव देस सब सूनो—मीराँ के प्रभु मिलज्यो माधो जनम-जनम की क्वारी॥'

२. मीराँ माधुरी, ब्रज रत्नदास, पद १२३।

३. मीराँबाई पदावली, पद १२१।

कि हे प्रभु ! तुम कब आकर मुझे भेट दोगे अर्थात् कब आकर मिलोगे ? मैने नगर, नरेश आदि सब को त्याग दिया है । अब तो केवल आपका ही सहारा है । एकाकीपन से अपने आपको मीराँ ने कृष्णार्पण कर दिया है ।

मीराँ के गीत काव्यों की सरसता—

गीति-काव्य की सरसता के कारण सारा भारतवर्ष मीराँ के पदो पर मुग्ध है । मीराँ के पदो मे कीर्तन की मधुरिमा है और ध्रुपदो मे उनको स्थान मिलने से उनकी धार्मिकता भी सुरक्षित रही है । भावपूर्ण मीराँ के भावोद्रेकता भरे मीराँ के सारे पद गेय है । और हिन्दी वैष्णव साहित्य की अक्षय निधि है । मीराँ की भक्ति कात भाव की थी अत अपने बालम, सैयाँ, प्रियतम के प्रेम मे उन्हे बदनामी और हँसी मजाक भी सहने मे सुख है । मीराँ माधुर्य भाव की उपासिका थी । और कृष्ण से माधुर्य भाव ही उनका अभीष्ट है । माधुर्य भाव की साधना उच्च कोटि की मानी गयी है और निष्कर्ष यही है कि मीराँ इस साधना की एक उच्चतम साधिका है । रसेश्वर कृष्ण के प्रति रसानुरक्ति ही उनके जीवन का लक्ष्य जान पडता है । तभी तो अन्त मे वे रणछोडजी की मूर्ति मे समा गई । सपूर्ण आत्मसमर्पण के आगे और क्या चाहिए ? मीराँ ने यही किया है अतः वे सर्वश्रेष्ठ-वैष्णवी भक्ति का सगुण साकार रूप मानी जा सकती है । मूलतः उनकी उपासना सगुणोपासना ही है । कतिपय उदाहरण इस वक्तव्य को स्पष्ट करेगे ।[1]—

मीराँ की प्रामाणिकता—

बादल देखाँझरी स्याम बादल देख्या झरी ।
काला पीला घट्या उमड्यां बरस्या चार घरी ।
जित जोवां तित पानी पानी प्यासा भूमि हरी ।
म्हारा पिय परदेसा बसतां भीज्या दार खरी ।
मीराँ रे प्रभु हरि अविनाशी करश्याँ प्रीत खरी ।।

मै श्याम वर्ण के बादल को देखकर प्रेम मे मग्न होकर झरने लग गई । बादल से वर्षा होते देखी मैने भी आसुओ की झडी लगा दी । काले और पीले बादलो की घटा उमड आई और चार घडियो तक पानी बरसता रहा । जिधर देखा उधर पानी ही बरसता हुआ नजर आया । भूमि हरी-भरी होने के लिए प्यासी थी । मै भी अपने हरि के लिए प्यासी थी । मेरा प्रियतम परदेश मे रहने वाला है पर मै भीगते हुए भी उसके द्वार पर खड़ी रही । मीराँ की अपने अविनाशी प्रभु से यही प्रार्थना है कि वे अपनी प्रीति को सत्य प्रमाणित करे, और स्नेह का निर्वाह करे ।

---

१. मीराँ दर्शन पद संख्या ४९ ।

मीराँ के प्रेम मे किसी प्रकार का छलकपट या स्वार्थी भाव नही है। अकृत्रिम सहज और दिव्य भावों से आच्छन्न उसके प्राजल उद्‌गार अपने प्रिय के लिए वे प्रकट करती है। विरह की निष्ठुरता से दुखी मीरां अपने गिरिधारी से उनके इस कठोरता पूर्ण व्यवहार की ओर उनका ध्यान आकर्षित करती है। यथा—

मीराँ के कृष्ण की निठुराई—

देखां माई हरि मन काठकियाँ।
आवन कह गया अजा नां आया कर म्हाने कौल गयां।
खान पान सब सुध बुध विसर्‌यां आइ म्हारो प्राणजिया।
थारो कौल विरुद जग थारो थे काइ विसर गयां।
मीराँ रे प्रभु गिरिधर नागर चरण कमल वलिहारी॥[1]

हरि ने मेरी ओर से मन काठ की तरह कठोर कर लिया है। मुझे आने का अभिवचन सौंप गये हैं। खाने पीने की क्रिया तथा अन्य सारे दैनदिन व्यवहारो की सुधि तक विस्मृत हो गई है। मै किसी तरह अपने प्राण धारण कर जीवित रह पाई हूँ। हे हरी! आपका यह विरुद प्रसिद्ध है कि सकटो मे पड़े हुए अपने जनो के लिए आप दोड़े आते है। अभिवचन दिये जाने पर तो अवश्य आना चाहिए। परन्तु ऐसा लगता है कि आप अपने ही प्रण को तथा अभिवचन को भूल गये है। मै अभ्यर्थना करती हुई, हे अविनाशी! आपके चरणो मे न्यौछावर हो जाती हूँ। कृपया मुझ पर कृपा कीजिए।

मीराँ की इस अभ्यर्थना मे कपट का लेप मात्र भी नही है। मीराँ के हरि होरी खेल रहे है। इस प्रसङ्ग की अवतारणा मीराँ के एक पद मे द्रष्टव्य है। यथा[2]—

भगवान श्री कृष्ण का होरी खेलना—

होरी खेलत है गिरिधारी।
मुरली चंग वजत डफ न्यारी संग जुवति व्रज नारी।
चन्दन केसर छिरकत मोहन अपने हाथ विहारी।
भरि भरि मूठि गुलाल लाल चहुँ देत सवन पै डारी।
छैल छवीले नवल का ह संग स्यामा प्राण पियारी।
गावत चार धमार राग तहँ दै दै कल करतारी।

१ मीराँ दर्शन पद संख्या ४१।
२. मीराँ माधुरी—व्रजरत्नदास पद १५१, पृ० ४०।

फाग सु खेलन रसिक साँवरो वाढ्यो रस व्रज भारी।
'मीरां' कूँ प्रभु गिरिधर मिलिया मोहन लाल विहारी ॥[1]

गिरधारी होरी खेलते हैं। मुरली, चग, डफ आदि वाद्य नाना प्रकार से वजते हैं। होरी खेलने के लिए उद्यत श्रीकृष्ण के साथ युवती-व्रज-नारियाँ हैं। गोपियो पर अपने हाथो से चन्दन-केसर आदि समिश्र रूप से वृन्दावन-विहारी छिड़कते है। मीराँ भी उनमे से एक है अतः उस पर भी अपने हाथो मे श्याम ने चन्दन तथा केसर की वृष्टि की है। गुलाल से भरी हुई मुठ्ठियो से वे सब पर गुलाल डाल देते है। छैल-छवीले नवल कन्हैया के साथ राधा भी उनके साथ है जो उन्हे प्राणो से भी प्रिय है। धमार राग करो से तालियाँ वजा-वजाकर चार व्रज युवतियाँ गा रही हैं। इस प्रकार रसिक-प्रवर मोहन-फाग खेलते हैं। इससे व्रज मे भारी रूप में रस वढ गया है। मीरा अपने लाल विहारी से इसी तरह वार-वार होरी खेलने के लिए निमत्रण देती हैं।

इस पद मे सगीत और सस्कृति एवम् कला और साहित्य का सुन्दर सयोग हो गया है।

अपने प्रियतम को पत्र लिखना चाहने वाली मीरा विरहजन्य परिस्थिति में पत्र लिख नही पाती है, इसका मार्मिक विदरण देखिए।

मीरा का विरहजन्य दारुण स्थिति का चित्रण[2] —

पतियाँ मै कैसे लिखूँ लिखियो न जाय।
कलम धरत मेरो कर काँपत है, नैनन है झर लाय ॥
हमरी विपत तुम देख चले ऊधो, हरिजी सूँ कहियो जाय।
मीराँ के प्रभु गिरधर नागर, दरसन दीजो आय ॥

मथुरागमन के वाद विरहजन्य परिस्थिति मे गोपियो की जो दशा हो गयी थी, उसी की तादात्म्यावस्था मे अपने आपको देखने वाली मीरा का यह भाव वडा दारुण है। ऊधो ने गोपियो को समझाया पर उन्होने ऊधो की एक भी वात न सुनते हुए केवल अपनी विरह व्यथा का निवेदन कर दिया। इस प्रसङ्ग मे पत्र लिखने की मीरा को इच्छा होते हुए भी वेचारी अपने साजन को पत्र नही लिख पा रही है। हृदय भर आया है, नेत्रो से आँसू उमड रहे है, तथा हाथ कृश हो जाने से लेखनी सम्हाल नही पाते। अत ऊधो से वे कहती हैं कृष्ण के विरह मे हमारी जो

१. मीराँ माधुरी—व्रजरत्नदास पद १५७, पृ० ४०।
२. मीराँ माधुरी पद २२२, पृ० ५६।

दारुण अवस्था तुम प्रत्यक्ष देख रहे हो, उसे श्रीहरिजी को जाकर सुना देना और कह देना कि मीराँ की इतनी ही प्रार्थना है कि शीघ्र आकर अपने दर्शन देकर उन्हे कृतार्थ कर दीजिए।

इस पद में मीरा की सगुणोपासना तथा अनन्य प्रेम भावना का स्वरूप चित्रित किया गया हैं, ऐसा प्रतीत होता है। अब प्रीति मे एकमात्र निस्सीम भाव से श्रीकृष्ण को सदा सम्मुख रहने की प्रार्थना करने वाली मीरा का यह पद देखिए यथा—

सदा आँखों के सामने श्रीकृष्ण रहे यह अभ्यर्थना—

> **कृष्ण मेरे नजर के आगे ठाड़े रहो रे।**
> **मैं जो बुरी स्याम और भली है, भली की बुरी भोरे दिल रहो रे॥**
> **प्रीति को पैंड़ो बहुत कठिन है चार कहीं दश और कहो रे।**
> **मीराँ के प्रभु गिरिधर नागर प्रीत करो तो मेरा बोल सहो रे॥**[1]

आत्म समर्पण करने वाली मीरा अपने प्रेम के सम्बन्ध से श्रीकृष्ण से कहती है कि हे श्रीकृष्ण! आप सदा मेरी नजर के सामने खडे रहिये। इतना अधिकार श्रीकृष्ण पर मीरा जताती है। मैंने आपसे स्नेह किया, अतः मैं बुरी हूँ ऐसा लोग कहते हैं, तो कहने दीजिए। मुझे उनके दोषारोपण की चिन्ता क्या? मैं चाहे भली हूँ अथवा बुरी हूँ। मेरी यही मनुहार है कि आप मेरे दिल मे आकर बस जाइए। प्रेम का मार्ग बहुत कठिन है। कोई चार बार मेरी निन्दा करता है तो आगे चलकर दसबार और करेगा। मैं अपनी एकान्तिक निष्ठा और प्रीति को क्यो त्यागूँ? जैसे मैं लोगों की निन्दा सहती हूँ वैसे आप भी लोकनिन्दा से क्यो डरते है? प्रेम किया है तो मेरे बोलो की कठोरता भी सह लीजिए। आपके विरह में तड़प-तड़पकर आपके कठोरतापूर्ण व्यवहार पर हे गिरिधारी! मुझे आपको फटकारना भी पड़ता है।

मीरा तुलनीय—

मीरॉं का यह अपने पन का और सहज अकृत्रिमतापूर्ण प्यार करने का ढङ्ग अनोखा और न्यारा है। मीरा इसीलिए सर्वश्रेष्ठ उपासिका और अनन्य आराधिका मानी जाती है। उनकी काव्य साधना का और उनके गीतो का साहित्यिक पक्ष इतनी उच्च कोटि का है कि वे अतुलनीय ही ठहरती है।

---

१. पृ० २५६।

हिन्दी वैष्णव कवियों के साहित्य पक्ष की मराठी वैष्णव कवियों के साहित्य पक्ष से तुलनीयता :

इस तरह कहा जा सकता है कि हिन्दी साहित्य के वैष्णव कवियो का साहित्य पक्ष, मराठी साहित्य के वैष्णव कवियो के साथ तुलनीय है और सब में मूलतः एक ही प्रकार की साधना पद्धति और भावाभिव्यजना संप्राप्त होती है। यों अपनी-अपनी विशेषता कम अधिक मात्रा मे रहना स्वाभाविक ही है। इसे हम प्रादेशिक अन्तर मान सकते हैं और साधना-प्रणाली का वैविध्य भी कह सकते हैं। यो कबीर नामदेव, ज्ञानेश्वर - तुलसी, सूर - एकनाथ, तुकाराम - मीरा, रामदास-तुलसीदास और एकनाथ - तुलसीदास को हम एकता के साथ अभिन्न और भावनात्मक ऐक्य से ओतप्रोत पाते हैं। सांस्कृतिक पक्ष का साम्य भी अपनी-अपनी प्रादेशिकता और भाषा के साथ झलक उठा है। इनको साथ न लेकर भी इनका तुलनीय पक्ष हमारे सामने निश्चित रूप से स्पष्ट हो उठा है। साहित्यिक शैली और काव्य पद्धतियों के साम्य मे छन्दो के वैषम्य का होना खटकता नही है। वह तो अपनी-अपनी विशेषता लिए हुए है। ये सब वैष्णव कवि और भक्त होते हुए भी इनका अपना-अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व है, और महत्व भी। पर भक्ति की मूल भावना से और आध्यात्मिक मानवीयता के सूत्र से इनमे तद्रूपता और ऐक्य है। मीराँ जैसी साधिका का साहित्यपक्ष इसे स्पष्ट रूप से सिद्ध कर देता है। साहित्यिक स्तर पर भी इन दोनो भाषाओं के संत और भक्त वैष्णव कवियो मे तुलनीयता ही अधिक है और अतुलनीयता अपेक्षा कृत कम। मानवीय स्तर पर और आस्था की दृढ शिला पर इनका साहित्य सर्जित हुआ अतएव यह वरेण्य और गौरव की वस्तु है। ●

दसम् अध्याय

तुलनात्मक निष्कर्ष

मराठी और हिन्दी के वैष्णव काव्य का अनुशीलन और तुलनात्मक अध्ययन करते हुए अब ऐसी स्थिति हमारे सामने आ जाती है कि इन वैष्णव भक्त कवियो का आध्यात्मिक, साहित्यिक तथा सांस्कृतिक प्रदेय निष्कर्ष के रूप मे किस स्वरूप का है उसे हम देख ले। इसी का संक्षिप्त और निष्कर्ष रूप मे अवलोकन कर लेने का यहाँ पर प्रयत्न किया जायगा।

वैष्णव भक्तो की विचार-धारा सर्वव्यापी, सर्व समन्वयात्मक तथा उदार एवम् बहुमुखी, होने से उसकी परिव्याप्ति विशाल एवम् विस्तृत रही है। मूलभूत रीति से मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि अपनी दार्शनिकता मे आस्तिकता और आस्था से संयुत थे। ईश्वर की कल्पना एवम् धारणा उनमे विद्यमान है और वह भी अपने-अपने ढङ्ग से तथा साधना पथ की शास्त्रीय और मानवीय सैद्धान्तिक परिधि के अन्तर्गत समाई है। हम कह सकते है कि वैष्णवी-साधना की आधार-शिला या नीव आस्तिकता एवम् आस्था के ठोस रूप मे टिकी हुई है। साधक और साध्य अर्थात् भक्त और भगवान् का सम्बन्ध पारस्परिक रूप मे व्यक्तिगत सम्बन्ध के माध्यम से अभिव्यक्त हुआ है। भक्त की भक्ति भावना अपने आपको निश्शेष रूप से आत्मसमर्पण एवम् आत्मविसर्जन कर देना सिखाती है। इस क्रिया मे प्राय. प्रत्येक वैष्णव भक्त तत्पर और सिद्ध है। इस तत्परता मे भक्त की उपासना पद्धति एवम् आचरण-प्रणाली भी सन्निहित है। अहिंसा, तप, सत्य तथा प्रेम की भावना जिससे प्राणिमात्र का कष्ट न हो यह जागरूकता इन वैष्णव कवि-भक्तो की अन्यतम विशेषता है। धार्मिक सहिष्णुता इनमे आभ्यतरिक रूप से होने के कारण अन्य धर्मियो और सम्प्रदायो के प्रति अत्यन्त उदारता का दृष्टिकोण इन भक्तो ने अपने जीवन मे वरता है और अपनी स्वसवेद्य अनुभूतियो को मुक्त रूप से सार्वजनीन मंगल-विधायक दृष्टि से अपनी अपनी अभिव्यजनाओ मे प्रकट कर दिया है।

मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो का अपनी साधनाओ मे जो आध्यात्मिक विवेचन हमारे सामने अपने अध्ययन मे अब तक आ गया है, उसका निष्कर्ष तुलनात्मक रूप से इस प्रकार रखा जा सकता है।

आध्यात्मिक विचार : तुलनात्मक निष्कर्ष—

मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों ने ब्रह्म सम्बन्धी धारणाओं का जो स्वरूप विवेचन किया है, उसका परम्परागत आधार अपनी-अपनी साधना पद्धति के अनुसार यत्र-तत्र किंचित परिवर्तित भी हुआ है। परन्तु उसका मूलस्रोत वेदों और उपनिषदों तथा अनेक वैष्णवाचार्यों के चिंतन और मनन एवम् अनुशीलन का परिपाक कहा जा सकता है। ब्रह्मानुभूति किये बिना कोई भी भक्त अपनी तत्सम्बन्धी धारणा कैसे बना सकता है ? कहने का अभिप्राय केवल इतना ही है कि परात्पर ब्रह्म की अनुभूति एक मात्र व्यक्ति के निजी स्वसंवेद्यानुभव की बात हो जाती है। सार्वजनीन रूप से ब्रह्म का साधारणीकरण कर सकना सम्भव भी नहीं है। बड़े-बड़े परमहंस एवम् पहुँचे हुए सिद्धों तथा ब्रह्म ज्ञानियों ने उसे प्रत्यक्ष कर लिया था, तथा उनके सहवास में और सत्संग में हम उस दिव्यत्व का अनुभव भी कर लें, तो भी उसका वर्णन नहीं हो पावेगा। ब्रह्म को प्रायः इस तरह स्वानुभव गम्य होने के कारण अकथनीय, अगम्य और अवाङ्मनस-गोचर तथा 'नेति-नेति' बतलाया जाता है। यों प्रत्यक्ष ब्रह्म-साक्षात्कार और उसका विवेचन एक जटिल एवम् कठिन कार्य है। परन्तु इन वैष्णव साधको ने अपने-अपने ढङ्ग से उसका साक्षात्कार कर लिया है और यथा संभव लोक-कल्याणार्थ उसका विवेचन भी कर दिया है।

भिन्न-भिन्न सिद्धांतों के अनुसार ब्रह्म विषयक धारणाएँ भिन्न-भिन्न प्रकार की है। प्राय. ब्रह्म को सगुण और निर्गुण स्वरूपों में प्रदर्शित या अभिव्यंजित किया जाता है। जगत् का आदि एवम् मूल कारण ब्रह्म कहलाता है। सांख्य मतानुसार पुरुष निर्गुण है। वेदान्ताचायो के अनुसार ब्रह्म निर्गुण और अद्वैत रूप है। तार्किक ब्रह्म को सगुण बतलाते है। श्रुतियाँ ब्रह्म को 'आत्मा' सम्बोधन से अभिहित करती है और 'हिरण्यगर्भ' के नाम से उनकी सगुणोपासना करने का आदेश देती है। वैसे 'ब्रह्म' शब्द का अर्थ 'ब्रहत्तम' या 'महत्तम' अथवा बड़ा भारी है। 'बढना' क्रिया के सारे अर्थ जिसमे शामिल हों, उसे 'ब्रह्म' कहा जाता है। ब्रह्म अनन्त, नित्य, शुद्ध, बुद्ध और मुक्त हे। ब्रह्म को 'भूमा' भी कहा जाता है यथा 'भूमा एव सुखम् अल्पीयस नास्ति।' 'भूमा' ही अमृत है और अद्वैत भी। अनन्त, अद्वैत, निरपेक्ष स्वतत्र तथा अद्वितीय ये विशेषण प्रायः ब्रह्म के स्वरूप-वर्णन मे अनिवार्य रूप से प्रयुक्त होते है। ऋचाओं में यह जानकारी दी जाती है—

वचन है। उसका वर्णन 'अक्षरात्परत पर' के रूप मे किया जाता है। आत्मा को पुरुष रूप से जानना और निर्गुण रूप से जानना, यह ज्ञान अध्यात्मज्ञान या आत्म-ज्ञान कहलाता है। परमात्मा सच्चिदानदमय, आनन्दघन, विज्ञान-घन, विभु आदि नामो से आख्यात है। प्राय. जीवन के चिंतन-क्षेत्र मे, लौकिक और अलौकिक क्षेत्र मे, असाधारणत्व एवम् दिव्यत्व को चरम पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए तत्व को और स्थिति को ब्रह्मत्व प्रदान कर, गरिमामय प्रतिष्ठा पर आसीन करने का कार्य भारत के मनीषियो द्वारा पुरातन काल से होता आया है। साहित्य मे रसानद को ब्रह्मा-नद सहोदर माना गया है। इसीलिए नाद, शब्द, ज्ञान, अन्न, आप, प्राण और आकाश आदि को ब्रह्ममय माना गया है। इन सबसे उद्भूत आनन्द भी ब्रह्म ही है। यह अलौकिक दिव्य आनन्द ही ब्रह्मानन्द है। उपनिषदो के अनुसार ब्रह्म के स्वरूप लक्षण इस प्रकार बतलाए गये है—(१) सगुण सविशेष–सोपाधि–साकार - परब्रह्म और निर्गुण, निर्विशेष, निराकार एव निरुपाधिक परब्रह्म।

सगुण के गुण, लक्षण और विशेषण एवम् चिह्न बतलाए जा सकते है क्योकि उसकी सत्ता इस प्रकार रहती है, जिसको हृदयगम किया जा सकता है तथा पहचाना जा सकता है। 'मुण्डकोपनिषद्' ब्रह्म का पारमार्थिक स्वरूप इस प्रकार बतलाता है[1]—

दिव्योह्य मूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरोह्यजः।
अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरा परतः परः॥

यह ब्रह्म निश्चय ही दिव्य अमूर्त, पुरुष, बाहर भीतर सर्वत्र विद्यमान है और अजन्मा, अनन्य, अप्राण, मनोहीन, विशुद्ध एवम् श्रेष्ठ अक्षर से भी उत्कृष्ट है। अपने कर्मेन्द्रियो से उसका ग्रहण नही हो सकता। यही उपनिषद और आगे चलकर वर्णन करता है—

'यत्र दद्रेश्यमग्राह्य मगोत्रमवर्ण चक्षुः श्रोत्र तद पाणिपादम्।
नित्य विभुं सर्वगतं सुसूक्ष्मं तदव्ययं तद्भुत योनि परि पश्यन्ति धीराः।[2]

अर्थात् वही निर्गुण ब्रह्म, अदृश्य, अग्राह्य, अगोत्र, अवर्ण और चक्षु श्रोत्रादि से हीन है, तथा अपाणिपाद, नित्य, विभु, सर्वगत, अव्यक्त, सूक्ष्म और अव्यय है, तथा जो सम्पूर्ण भूतो का कारण है और जिसे विवेकी सर्वत्र देखते है। स्पष्ट ही अभिप्राय सगुण ब्रह्म के प्रतिपादन से है। स्वाभाविक रूप से ऐसा सन्देश उत्पन्न हो जाता है कि जब परमतत्व एक ही है, तब सगुण और निर्गुण दोनो एक ही समय

१. मुण्डकोपनिषद २।
२. मुण्डकोपनिषद १।१।६।

कैसे हो सकता है ? वैष्णव कवियों के पास इसका उत्तर है कि 'सगुन अगुन दुई, ब्रह्म सरूपा ।', तो ज्ञानेश्वर कहते है कि, 'सगुण निर्गुण दोन्ही विलक्षण । ब्रह्म सनातन विठ्ठल हा'[1] अभिप्राय यह है कि ब्रह्म मे ही यह शक्ति विलक्षण रूप से विद्यमान है कि वह सगुण और निर्गुण दोनो एक साथ है और जो चाहे सो स्वरूप धारण कर सकता है । क्योकि वह सनातन और पतित पावन है तथा ध्येय, ध्याता और निरंजन चित्त रूप भी है । वह कभी राम है तो कभी विठ्ठल । अतः सिद्ध हुआ कि दोनो शक्तियाँ उसके सामर्थ्य की ही बाते है । ब्रह्म के उभयविध लक्षणों के स्वरूप ये है—

(१) तटस्थ लक्षण और (२) स्वरूप लक्षण ।

ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त रूप हैं, तथा विज्ञान और आनन्द रूप भी । ज्ञान, बल और क्रिया शक्तियों से सम्पन्न ब्रह्म तो स्वाभाविक रूप से है । तटस्थ लक्षणो के अनुसार यह जगत् ब्रह्म से उत्पन्न है और उसी मे लीन हो जाता है और उसी के कारण स्थिति काल युक्त हो प्राण धारण करता है । सगुण ब्रह्म इस जगत् के शास्त्रा, नियन्ता और भोक्ता हैं । भुक्ति और मुक्ति इनसे ही प्राप्त होती है । शुभ कार्यो के करने वालों का मंगल करने वाले और अशुभ कार्य करने वालों का अकल्याण उनका ही कार्य है । यही विराट हिरण्य गर्भ है । निर्गुण को परब्रह्म और सगुण को अपरब्रह्म भी माना गया है । सृष्टि के सारे पदार्थो और तत्वो मे अपने से स्वतः कोई सामर्थ्य नही है । जो कुछ भी हमे प्रतीत होता है, वह केवल ब्रह्म के बल पर ही ।

'तैत्तिरीयोपनिषद' बताता है कि 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते यतो जातानि जीवन्ति, यद् प्रयंत्य भिसविशन्ति, तद् विजिज्ञासस्व । तद ब्रह्मेति' ।[2]

सारे जगत् मे उत्पन्न होने वाले जीवधारी उसी से उत्पन्न हो, उसी का आश्रय ले, जीवन धारण करते है और अन्त मे विनाशोन्मुख बन उसी मे लय हो जाते है । विशेष रूप से उसको जानिए, वही ब्रह्म है । 'छान्दोग्य' मे सगुण ब्रह्म को, 'तज्जलानिति शान्त उपासीत ।' अर्थात् 'तज्ज', 'तल्ल', और 'तदन्' इन तीनो को इस संक्षिप्त रूप में समझाया गया है ।[3]

'केनोपनिषद्' के तृतीय खण्ड मे उमा हैमवती ने बताया कि अग्नि में न तो

१. सकल संत गाथा अभङ्ग १६६७ ज्ञानेश्वर पृ० २७६ ।

२. तैत्तिरीयोपनिषद (३।१) ।

३. छान्दोग्य उपनिषद (३।१।४।१) ।

स्वत: दाहिका शक्ति है और न तृण को उडाने की वायु मे अगभूत सामर्थ्य है।[1] अत: प्राकृतिक शक्तियाँ अपने प्रवन सामर्थ्य पर गर्व नही कर मकती। वाष्कलिना ऋषि को जव एक वार निर्गुण ब्रह्म के वारे में पूछा गया तो उन्होने मौनावलवन धारण किया। 'वृहदारण्यक' मे वताया गया है कि, 'म एप नेति नेत्यात्मागृह्यो न हि गृह्य ते शीर्यो न हि शीर्यते संगो न हि सज्यते सितो न व्यथते न रिष्यत्मेतमु हैवैते न तरत इत्यत: पापमकरवमित्यत: कल्याण करवमित्युभे उ हैवैप एते तरति नैन कृताकृते तपत ॥'[2]

यह नेति नेति है, अग्राह्य है, अशीर्य है, अविनाशी, असङ्ग अनामक्त, निर्वाध, मुक्त, अव्यथित, अक्षय, पाप, पुण्य से परे होने के कारण शोक हर्षादि से रहित, पाप-पुण्यो के फलो से अर्थात् हर्प, दु:खादि से ऊपर उठा हुआ तथा नित्यकर्म ताप रहित, निष्काम, अशव्द, अरूप, अगध, नकारात्मक अनादि और अनन्त होने से मन और वाणी का विपय नही वन सकता। 'कैनोपनिपद' निष्प्रपच ब्रह्म का वडा सजीव वर्णन करता है—

यद वाचा मश्युदितयेन वागम्युद्यते।
तदैव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिद मुपासते ॥[3]

जोवाणी से प्रकाशित नही होता, किन्तु जिससे वाणी प्रकाशित होती है। वही ब्रह्म है क्योकि लोक इस देश कालावच्छिन्न वस्तु की उपासना करता है। पर वह ब्रह्म नही है। उस अचित्य, सर्वकाम परमात्मतत्व ब्रह्म को ब्रह्मविद आत्मावेत्ता ही स्वसंवेद्य रूप मे जानता वूझता होगा। वह गूगे की शर्करावत् है। ब्रह्म को प्रणव रूप या ओकार रूप भी वतलाया जाता है। योग, भक्ति, ज्ञान, उपासना के द्वारा उस तक पहुँचा जा सकता है, तथा साक्षात्कार किया जा मकता है। ब्रह्म जिज्ञासु वैष्णव भक्त कवियो ने अपने-अपने स्वप्रयत्न से तथा उसकी कृपा से उमकी उपलब्धि अपनी-अपनी पात्रता अधिकारानुसार कर ली है।

भिन्न-भिन्न वैष्णवाचार्यो ने अपने-अपने सिद्धान्तो के अनुसार ब्रह्म, जीव और जगत् तथा माया सम्वन्धी प्रतिपादन किया, जिसकी गूँज उनके अनुयायियो मे अपने-अपने ढग से प्रतिध्वनित हो उठी है। अद्वैतवादी ब्रह्म को अशरीरी मानते है तो अन्य भक्त कवि ब्रह्म को शरीरी मानते है। भिन्नताएँ उसके गुण है अतएव सगुण ब्रह्म को कुछ वैष्णवो ने माना। यह सगुण ब्रह्म अवतार विशेप भी होता है।

---

१. केनोपनिषद तृतीय खण्ड।
२ वृहदारण्यकोपनिषद (४—२२)।
३. केनोपनिषद (१—४)।

कोरी दार्शनिकता का स्वरूप भक्त मे रहना असम्भव था। अत किसी न किसी रूप की धार्मिक आस्था से उसका सम्बन्ध जोड़ना भी आवश्यक सा ही हो गया।

यहाँ हमे पुनः समस्त वैष्णवाचार्यो के सिद्धान्तो का निरूपण नही करना है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो ने अपनी दार्शनिक धारणाएँ किस प्रकार बना ली थी, उसका तुलनात्मक निष्कर्ष एक सकेत के रूप मे प्रस्तुत करने के लिए ब्रह्म विषयक कुछ सैद्धान्तिक चर्चा यहाँ पर हमने कर ली है।

हिन्दी वैष्णव कवियो पर रामानुज, वल्लभ, निम्बार्क, रामानन्द तथा चैतन्य मतो का प्रभाव परिलक्षित होता है। अतः हम कवीर, तुलसी, सूर और मीरा के आध्यात्मिक पक्षो का तथा वारकरी सम्प्रदाय और समर्थ सम्प्रदायान्तर्गत मराठी वैष्णव कवियों के आध्यात्मिक पक्षो के स्वरूप का तुलनात्मक निष्कर्ष समझने की चेष्टा करेगे।

कवीर निश्चित रूप से निर्गुण ब्रह्मवादी है। तो ज्ञानेश्वर और नामदेव नाथ सम्प्रदाय के सिद्धातो से प्रभावित होकर अपनी वैयक्तिक साधना के द्वारा ज्ञान-मार्गी एवम् निर्गुण ब्रह्मवादी प्रतीत होते है। यद्यपि ज्ञानेश्वर और नामदेव ने सगुण ब्रह्मवाद की कतई उपेक्षा नही की है। सामूहिक-चेतना तथा समाज-कल्याण की दृष्टि से सगुण-विठ्ठलोपासना का तथा नामस्मरण का विशेष महत्व इन दोनो ने प्रतिपादित किया। इस साधना के साधनगत मोह मे फँस कर मूल ब्रह्म का स्वरूप साधक न भूल जाँय, इसलिए ज्ञानमय सर्वव्यापी अनन्त को भी साग्रह समझने का तत्व समझाया गया है।

तुलसी और सूरदास तथा मीरा ने और एकनाथ तुकाराम तथा रामदास ने सगुण ब्रह्मवाद का समर्थन किया है। वैसे सव वैष्णव कवि कम से कम एक वात मे एक मत के है और वह है सबका 'नाम माहात्म्य' में चिर-विश्वास। सगुण और निर्गुण से परे और दोनो का साक्षी इन सवके मत से 'नाम' है। तुलसी तो कहते ही हैं कि 'अगुन सगुन विच नाम सुसाखी।' एक स्थान पर तो वे नाम को ब्रह्म राम से भी वडा मानते है यथा 'ब्रह्म राम ते नाम वड़' तथा 'मोरे मत वड, नाम दुहूँते।' ब्रह्म-राम मय सारा ससार है तो यह सारा जगत् श्रीकृष्ण का लीला धाम है, ऐसा सूरदास और मीराँ कहती है। विठ्ठलमय ससार तुकाराम देखते है, तो सियाराम मय जग है, ऐसा तुलसीदासजी समझते हैं। सूरदास के विचार मे जिस ब्रह्म की रूपरेखा और गुण नही है, उसको मन का आलम्बन वनाना कठिन है। चंचल मन अव्यक्त पर स्थिर नही हो सकता। चक्र की तरह भटकता है, इसलिए सगुण ब्रह्म की लीला का गान कर उसी की उपासना करना चाहिए। मराठी

वैष्णव कवि एकनाथ सगुणोपासक बनकर श्रीकृष्ण की उपासना करते है। तुकाराम तो सगुण विठ्ठल को नित्य ही अपने सामने देखना चाहते है। रामदास, तुलसी और एकनाथ चापधारी, मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु रामचन्द्रजी की सगुणोपासना करते हैं। निर्गुण की उपासना करने वाले चाहे तो अद्वैत ब्रह्म की उपासना कर सकते है पर तुलसी, सूर और मीराँ एकमात्र सगुण ब्रह्म के ही उपासक बनना स्वीकार करते हैं। सगुण ब्रह्म की जैसी भक्ति जिस भक्त की रही उसको वैसे ही स्वरूप की पहिचान रहने से प्राय. हिन्दी और मराठी वैष्णव कवियो ने राम, कृष्ण और विठ्ठल की उपासना की। ब्रह्म को किसी ने मर्यादा पुरुषोत्ताम के रूप मे देखकर सौन्दर्य, शील और शक्ति समन्वित मर्यादा पुरुषोत्तम प्रभु रामचन्द्र को उस पद पर अधिष्ठित किया। तो कोई ब्रह्म के सौन्दर्य-पुरुषोत्ताम, माधुर्य-पुरुषोत्ताम तथा लीला-पुरुपोत्ताम श्रीकृष्णचन्द्र के सगुण स्वरूप का साक्षात्कार करते है। अव्यक्त निर्गुण ब्रह्म की उपासना करने वालो ने योग और ज्ञान के साथ प्रेम भक्ति का भी समावेश कर एक अन्यतम विशेपता प्रकट की है। कवोर इस ब्रह्म को निर्गुण सगुण के परे वतनाकर उसका ध्यान करने मे तत्पर है। कबीर स्थूल और सूक्ष्म के परे द्वैताद्वैत विलक्षण परात्पर ब्रह्म का साक्षात्कार करते हुए, दशरथसुत राम के बदले अपने ही भीतर के परमात्मतत्व को आत्माराम बनाकर उसका अनुभव गूगे के गुड जैसा करने को कहते है। नाथ, योग, सूफी, वेदांत और उपनिषद आदि सभी मे वर्णित ब्रह्मानुभूति का कबीर पर प्रभाव प्रतीत होता है। इसीलिए अपनी अक्खडता से फक्कडाना ढङ्ग पर ब्रह्मनिरूपण वे करते है। ज्ञानेश्वर तो अत्यन्त उच्च कोटि की स्थिति का वर्णन ब्रह्मानुभूति मे करते है, जैसे कर्पूर मे उज्ज्वलता, सुगंध और मार्दव तद्रुप होकर रहते हैं, वैसे दृश्य, द्रष्टा और दर्शन तद्रूप होकर एक ब्रह्ममय स्थिति रहती है। सत् चित् और आनन्द ये तीन पद ब्रह्म का शुद्ध द्रष्टा-पन बतलाकर मौन की राह अपनाते है। अभिप्राय यह है कि परमात्मा या ब्रह्म निखिल-निरपेक्ष होने से वहाँ सापेक्ष भाव आ ही नही सकता। ब्रह्म का सच्चिदा-नदमय वर्णन करने पर भी वह अपने से पूर्ण रूपेण निरूपाधिक है। कहना न होगा कि नामदेव और कवीर का ब्रह्म-विवेचन कुछ इसी शैली का है। ज्ञानोत्तार भक्ति मे प्रेम का समावेश हो जाने पर दूसरे ढङ्ग का अर्थात् सगुण ब्रह्म का विवेचन 'सर्व जन हिताय' कह ज्ञानेश्वर नामदेव आदि करने लगते है। ज्ञानेश्वर के अनुसार यह सर्वेश्वर परब्रह्म, सगुण-निर्गुण, सूक्ष्म-स्थूल, साकार-निराकार, दृश्य-अदृश्य आदि सब है। उसका सामर्थ्य समर्यादा का है। अतएव यदि वह चाहे तो पत्थर की नौका पानी पर तैर जावेगी। मेरु मशक जैसे हो जायेगे। यह सारा वर्णन तुलसी के ब्रह्म सम्बन्धी धारणा से मिलता है। उनके मत मे ब्रह्म राम के रोम-रोम मे

कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड समाये हुए है। विधाता, शकर और हरि को नचाने वाले अमार्याद सामर्थ्यशाली चिदानन्द, गुणधाम प्रभु रामचन्द्रजी है। नामदेव आर्तभक्त थे, तो ज्ञानेश्वर ज्ञानी भक्त थे। परन्तु अभगों मे आर्तता ज्ञानेश्वर मे है, तो पदो मे और अभङ्गो मे ज्ञानोत्तर एवम् ज्ञानमय भक्ति का विवेचन नामदेव भी करते है। परब्रह्म को जानने की भावना भक्ति है तो उसकी आँखे ज्ञान है। अर्थात् सगुण और निर्गुण ब्रह्म सम्बन्धी धारणाएँ समान रूपेण दोनो मे विद्यमान है, तो कबीर मे भी कही-कही सगुण ब्रह्म मे आस्था के रूप मे प्रकट होती है। पर मूलत वे अद्वैती और निर्गुण ब्रह्म के प्रतिपादक है।

एकनाथ भी सर्वात्मवादी थे। अत वे ब्रह्म को सब में परिव्याप्त देखते है। फिर भी मूलतः वे कृष्ण भक्त जान पडते है। श्रीकृष्ण को वे पूर्ण ब्रह्म मानते थे। स्पष्ट ही है उनका झुकाव सगुण स्वरूप, लीला-पुरुषोत्तम ब्रह्म की ओर अधिक है। पर वे आचार्य थे, इस नाते ज्ञानमय निर्गुण ब्रह्म को अवश्य जानते थे। इसीलिए उसकी अलौकिकता को दार्शनिक अद्वैती निरूपणो से प्रतिपादित करते हैं। बिना भाव के देव प्राप्ति असभव है। उस ब्रह्म का हृदय मे ध्यान और नयनों से दर्शन और सर्वत्र उसकी व्याप्ति समझनी चाहिए। महाबोध का अजन सद्गुरु जनार्दन ने एकनाथ की आँखो में आँजा, जिससे उन्होने शरीर के सभी रन्ध्रो के नेत्र से सगुण सुन्दर श्रीकृष्ण की मूर्ति देखी, इससे उद्भूत आनद से व्यापक परमात्मा का साक्षात्कार किया जा सकता है। सम्पूर्ण विश्वात्मक चैतन्यमय पर-ब्रह्म का साक्षात्कार एकनाथ और तुलसी ने समान रूप से किया था, इस दृष्टि से दोनों का समान महत्व है। जागते, सोते उठते-बैठते सर्वत्र एकनाथ को तुलसीवत् सब कुछ राम-मय दिखाई दिया है। कृष्ण का श्यामल स्वरूप और राम का श्यामल रूप एक ही सर्वात्मा ब्रह्म का अभेद रूप है, इस तथ्य को एकनाथ भली-भाँति जानते है। अनेकविध अनुभवो से ब्रह्म साक्षात्कार करने वाले एकनाथ और तुलसीदास अपरिमेय है।

समर्थ रामदास सगुण ब्रह्म-राम-रूप वर्णन मे निर्गुण ध्यान का अद्वितीय वर्णन करते है। यह ब्रह्म निरूपण एकनाथ का रामदास पर पडा हुआ प्रभाव है। कबीर का आत्माराम बनना और रामदास का वह सगुण मे निर्गुण का साक्षात्कार क्या समान स्तर के अनुभव नही कहला सकते? रामदास को प्रभु रामचन्द्रजी ने ही दीक्षा दी और उन्हे सगुण साक्षात्कार हुआ था। परन्तु रामदास भी अपने दासबोध मे अद्वैताश्रयी निर्गुण ब्रह्म का निरूपण करते है। यों भगवान् के प्रत्यक्ष प्रमाण पर आश्रित रामदास की साधना होने से उनको सगुण ब्रह्म का

प्रतिपादक ही माना जावेगा। रामदास के अनुसार पिंड मे जीवात्मा, ब्रह्माण्ड मे शिवात्मा, ब्रह्माण्डातीत परमात्मा और सर्व उपाधियो से रहित निर्मल आत्मा है। अर्थात् यह सब एकत्र और मिलकर ही विश्वात्मा है। परमात्मा ही एक निरपेक्ष सत्यतत्व है। उसे निर्गुण, निर्मल, निर्विकार, अनन्त सबाह्याभ्यतर व्यापी, निरजन जानिए, तथा उसका अखंड अनुसधान करते रहिए ऐसा रामदास कहते है। विवेकाश्रित प्रयत्न ही रामदास का परब्रह्म राम है।

सूर तो प्रत्यक्ष सगुण ब्रह्मवादी है और मीराँ जैसी प्रेमिका सगुणोपासिका है वैसे ही वे पूर्ण पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण एवम् माधुर्य पुरुषोत्तम रूप मे स्वरूप साक्षात्कार करती है। उसको अविनाशी, एक परम-पुरुष भी मानती है। गिरिधर-नागर, सौन्दर्य-पुरुषोत्तम, रस-पुरुषोत्तम और माधुर्य-पुरुषोत्तम सूर की ही तरह मीराँ मानती है।

जीव, जगत्, माया और जीवन सम्बन्धी दृष्टिकोण का मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों का निष्कर्ष :

ज्ञानेश्वर—

ज्ञानेश्वर जगत् को ईश्वर से अलग नही मानते। नामरूपात्मक विश्व और ईश्वर अभेद रूप है। जल और उसकी कलकल ध्वनि अभेद रूप है वैसे ही जगत् ईश्वर का चिद्विलास है, स्फूर्ति है। वह्नि और ज्वाला—वह्नि के ही रूप है तद्वत् ईश्वर और जगत् ईश्वर-मय है। जीवभी ईश्वर-मय है अत: उसकी अपनी स्वतंत्र कोई सत्ता नही है। विश्व ईश्वरमय है, पर विश्व का ज्ञान ईश्वर-ज्ञान नही हो सकता। जीव को इसी अज्ञान से मुक्ति प्राप्त करनी चाहिए। अतः माया ज्ञानमार्ग मे सभ्रम पैदा करती है उसका निराकरण कर ईश्वर ज्ञान प्राप्त करना जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। जीव अज्ञान के कारण ईश्वर को मनुष्य रूप मानता है। व्यापक अर्थ मे मानव से पिपीलिका तक मे ब्रह्म को पहिचानना ज्ञान है। यह ज्ञान न होने से बधन, मोह, कर्म, जन्म मरण-चक्र आरम्भ हो जाते है।

नामदेव—

नामदेव जीव और जगत् को नश्वर और क्षणभगुर मानते है। दो दिन का मेहमान बिना ज्ञान के मुक्ति नही प्राप्त कर सकता। माया के कारण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धादि विषयो के प्रलोभनो मे पडकर जीव बधन मे पडने की सम्भावना है। अतः जीवन का दृष्टिकोण यह होना चाहिए कि इस ससार सागर मे ही रहकर उसके प्रति अनासक्त भाव से विवेकाश्रय से ईश्वर से तादात्म्य तथा उसका स्वरूप

साक्षात्कार कर लेना चाहिए। दंभ और बाह्य परिवेश से वैराग्य प्राप्ति नही होगी। विवेक से मन को मूडकर देहभाव से मुक्ति अर्थात् अहंभाव का विनाश हो जाता है। वासना का उदात्तीकरण होकर बुद्धि शुद्ध हो जाती है। माया के कारण स्वरूपवान परनारी को देखकर उसके सङ्ग की वासना उत्पन्न हो जाती है, अतः काया और रूप से हीन स्त्री को पर उपकारी मानना चाहिए, क्योकि वह जीव को वासना के बचाती है। अपने स्वहित की चिन्ता करते हुए अज्ञान से मुक्त होना चाहिए। जो जीव ऐसा नही करते उनके लिए करुणापूर्ण वाणी मे वे केशव से प्रार्थना करते है कि वे उन पर कृपा करे।

एकनाथ—

एकनाथ मोक्षार्थ, जीव को सासारिक जीवन से विमुख होकर अपने सासारिक जीवन को अध्यात्मपरक बनाने का उपदेश देते है। अदृष्ट के प्रबल सामर्थ्य का और काल की महत्ता का ध्यान और स्मरण रखते हुए देह विषयक आसक्ति को हटाकर भक्ति और विवेक के आश्रय से अपना उद्धार कर लेना चाहिए। काया, माया और छाया मिथ्या है, यह जीव अज्ञान के कारण नही समझता। इसीलिए नश्वरता के पीछे मोहवश होकर जीव यत्र-तत्र दौडता फिरता है। अपने कर्मो का बोझ लादकर गधे की तरह दुखमय जीवन ढोता फिरता है। जन्ममरण, गर्भवास के चक्र से वह निर्मुक्तही नही हो पाता। फजीहत होने पर भी नही चेतता। ऐसे अज्ञ जीवोके लिए परम कारुणिक एकनाथ कष्टी होते है और उस फजीहत की मुक्ति का अमोघ उपाय भी बतलाते है। यह उपाय हरि नामस्मरण करते हुए, जो जीव जिस स्थिति मे है, उसे ही भगवद् कृपा समझकर आनन्द के साथ कालक्रमणा करते हुए पश्चाताप युक्त हो भगवान् की कृपा याचना करते रहना ही है। विकल्प, सदेह आदि भाव-हीनता से उत्पन्न हो जाते है। कोरा ज्ञान भी जीव के पल्ले नही पड सकता। माया का प्रबल प्रभाव विषय-वासना मे मिठास उत्पन्न कर जीव को अहकार युक्त कर देता है। अतः जीवन का लक्ष्य यह होना चाहिए कि अह भावना नष्ट हो जाय। आत्मज्ञान से हेतु पुरस्सर श्रद्धा और आस्था से कुलाचार, वर्णाश्रम आदि का पालन करके स्वधर्म रत होते हुए आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण सध जाता है। ईश्वर कृपा प्राप्त होकर आनन्द की उपलब्धि हो जाती है। दुर्गुणो को त्यागकर सद्गुणो का सवर्धन करना हमारे जीवन का लक्ष्य होना चाहिए यही उनका अभिमत है।

तुकाराम—

तुकाराम जीव को ब्रह्म का अग मानते है। यह जीव माया के आधीन है। ईश्वर माया चालक है और जगत् ईश्वर का कौतुक है। जगत् मायिक है,

जीव का अस्तित्व क्षणभगुर है। पूर्व जन्म, पुनर्जन्म, कर्म का बंधन, कर्म का फल, प्रारब्ध, सचित क्रियमाण को तुकाराम मानते है। उनके अनुसार ससार के सुख-दुख, प्रतिष्ठा दैव के आधीन है। माया जनित भ्रमात्मक ससार के मायिक प्रलोभनो से, तथा कर्मो की दुर्गति से बचने का एकमात्र उपाय भगवद् कृपा है। अपने से माया जाल से मुक्त होने का सामर्थ्य किसी भी जीव मे विद्यमान नही है। अतः अनन्त ने एवम् भगवान् ने जिस प्रकार रखा हो उस में समाधान मानकर, 'जाहि विधि राखे राम ताहि विधि रहिए' इस उक्ति को आत्मसात् कर लेना चाहिए। माया प्रसवधर्मिणी होने से अपने मोहपाश मे जीव को रिझाकर घेर लेती है। ज्ञान से भी माया दूर नही होती, क्योंकि शुष्क वचनो से भाव उत्पन्न नही होता। माया तो जीव को अपने पिण्ड पोषण और स्वार्थरत झमेलो मे डाल देती है। वह नारी रूप बनकर भजन मे बाधक हो जाती है। इस माया से मुक्त होने का उपाय अनन्य गतिक होकर भगवान् की शरण जाना है। तुकाराम के अनुसार जीव को बद्ध, मुमुक्षु, साधक, और सिद्ध ऐसी चार अवस्थाएँ है। जीवन आचरण-शुचिता, परोपकार युक्त कर्म तथा भगवान् की सगुणोपासना युक्त साधना को प्रश्रय देना चाहिए। तुकाराम-सामुज्यता मे ही मुक्ति मानते है। जीव असली सुख पारमार्थिक कर्मो से ही प्राप्त कर सकता है। चचल मन को भक्ति के अनुकूल बनाने से मानव विगत कल्मष हो जाता है। इसी से वह भगवान् का प्रिय भी बन जाता है।

समर्थ रामदास—

समर्थ रामदास माया को त्रिगुणात्मक और गुणक्षोभिणी मानते है। जीव को सावधानी बरतने वाला दक्ष और साक्षेपी होना चाहिए, तभी उसे मोक्ष मिल सकेगा। प्रत्येक जीव मात्र भगवान् के चलते-फिरते मदिर है ऐसी समर्थ की भावना है। इसकी उपासना ही अन्तरात्मा की उपासना है। ससार नाशवान् है, अत. साधक को मरण का स्मरण रखकर अपना आत्मकल्याण ढूँढना चाहिए। जीव एवम् साधक को प्रयत्न की पराकाष्ठा करनी चाहिए और आलस्य का एकदम त्याग करना चाहिए। प्रयत्न ही परमेश्वर है, यह भावना साधक की हो जाने पर आत्मोन्नति दूर नही। जीव का आत्मोन्नति का निश्चय माया के कारण बार-बार बिगड़ने की सभावना रहती है, अतएव दीन वाणी से भगवान् से याचना करनी चाहिए कि वह निश्चय अटल हो जाय। जीव का मन चंचल होने से शब्द, स्पर्श, रूप, रस गन्ध आदि के प्रलोभनो मे वह फँस सकता है, अतः उस पर सुसस्कार स्वयमेव ही करना उचित है। स्वात्मशिक्षा व स्व-सुसस्कार रामदास की दृष्टि से जीव के कल्याण के दो अमोघ उपाय है। सासारिक जीवन, मुमुक्षु को

यथाविधि व यथावत् भगवान् का गुणगान करते हुए तथा उसमें लिप्त न रह कर अपनाने से अपना उद्धार दूर नहीं जान पड़ेगा। जीव को कर्म बन्धन से मुक्ति पाने के लिए विवेक, सदाचार और सयम को अपनाना चाहिए। यों जगत का स्वरूप मायावी और स्वार्थमय भावनाओं से सम्बद्ध है, अतः इस झंझट से दूर रहकर, मरण का स्मरण रखकर अपने स्वधर्म में रत रहने वाला उन्नति अवश्य कर सकता है। जीवन के प्रति आस्था, भगवान् के प्रति आस्तिकता और प्रयत्नवादिता को अपनाने वाला समर्थ रामदास का जीवन-विषयक दृष्टिकोण है। देह भाव अज्ञान से उत्पन्न होता है। ज्ञान से उसकी नश्वरता समझकर काम भावना को राम नाम से जीतना चाहिए। जीव, जगत्, माया, मुक्ति आदि सबके बारे मे मूलतः परमार्थाभिमुख और प्रयत्न-प्रवण करने वाला समर्थ का अध्यात्मिक पक्ष स्पृहणीय है। गृहस्थी का त्याग न कर जगत् को भी सत्य मान उसकी अशाश्वतता को समझकर प्रवृत्ति परक आचरण से आत्मोन्नति और राष्ट्रोन्नति में जुट जाने का महान उपदेश रामदास ने दिया है। जीवन को तृणवत् मान कर हिम्मत, धैर्य, विवेक और भगवान् के अधिष्ठान से स्वराज्य की स्थापना समर्थ ने छत्रपति शिवाजी से करवाई। समर्थ का कर्मयोग पारमार्थिक कर्मयोग है। दुखमय तथा कष्टों से भरे हुए संसार से डरने वाले कायर जीव या साधक समर्थ के सर्वंकश साधना-प्रणाली को नहीं अपना सकते। गृहस्थी के द्वैत और पारमार्थिक अद्वैत के काल्पनिक विरोध को मिटाने के लिए समर्थ ने विवेक का आश्रय लेने के लिए कहा है। यही विवेक पारमार्थिक उन्नति मे सहायक बन जाता है।

कबीर—

कबीर जगत् को मिथ्या मानते है। माया को ठगिनी और व्यभिचारिणी मानते है। सारे पाखण्डों की सृष्टि माया ही करती है। भेद, भ्रम, मोह का निर्माण इसी का कार्य है। जगत् ईश्वर के स्वरूप को न समझकर संसार के आत्मकालीन, भासमान होने वाले कृत्रिम गुणों के पीछे दौड़ता है इसका कबीर को बडा दुख है। यदि कर्म और जन्म-मरण चक्र से छुटकारा पाना है तो माया से दूर रहिए। माया को कबीर डायन तक कहते हैं। संसार निस्सार मान कर, विवेक वैराग्य को अपनाने का जीवन-दृष्टिकोण कबीर अपने आध्यात्मिक सिद्धान्तों

है। कबीर शारीरिक दासता मे बद्ध जीव का निषेध करते है। अन्ध विश्वासो से ऊपर उठकर ज्ञान मार्ग का अनुसरण कर स्वतत्र विचार कर जीवन मुक्त होना चाहिए। वाह्य आचारो के वदले आन्तरिक सदाचारो पर कवीर का अधिक विश्वास है। पाखण्डी कर्मो का निषेद्य कबीर ने किया है अपनी व्यक्तिगत साधना को उन्नत करने वाले कर्म का तो उन्होने स्वयम् आश्रय लिया था। इसलिए उन्हे कर्ममात्र का निषेध करने वाला नही समझना चाहिए।

तुलसीदास—

तुलसीदास जीव को तीन श्रेणियो मे विभक्त करते है। प्रथम वे साधारण कोटि के जीव है, जो विषय रस का सेवन करते है। दूसरे साधक की श्रेणी के तथा तीसरे सिद्ध पुरुष। अधिक मात्रा मे विषयो का सेवन करने वाले जीव ही मिलते है। जीव अपने से कोई सामर्थ नही रखता। इन्द्रियो के ये गुलाम होते है, अज्ञानी और बधन के फेरे मे पडे हुए भी होते हैं। जीव ईश्वर का अ श होने से व्रह्‌म का सहज सघाती भी है। अपनी उन्नति की इच्छा, मोक्ष की प्राप्ति कर लेने की प्रविधि जानने के लिए वह प्रयत्नशील भी होता है। जीवो के दुख का प्रधान कारण मानसिक रोगी होना है, जो अनेक प्रकार के मोहो मे उसे उलझा देता है। कामक्रोधादि विकारो को जीतने वाला भक्त वन सकता है। श्रुति समस्त हरि भक्ति का मार्ग जीव के उद्धार का अमोघ साधन तुलसीदासजी मानते है। जीव माया-प्रेरक होता है। मेरा और तेरा यह विभेद उत्पन्न करने वाली माया है। इन्द्रियो के विषय तथा मन की दौड जहाँ तक जाती है वह सब मायान्तर्गत है। तुलसी के अनुसार माया दो प्रकार की होती है विद्या माया और अविद्या माया। विद्या माया मे रचना सामर्थ्य होता है और अविद्या माया मे सत्प्रतीत-स्थापन सामर्थ्य होता है। जीव को मिलने वाला दुख, पात्र तथा जन्म-मरण, अनेक योनियो मे भटकने के लिए विवश होना आदि सब कार्य अविद्या मायाकृत है। इसका स्वभाव वडा दुष्ट है। अहभावना सारे दुखो का मूल है। ज्ञान से सर्वत्र और सब मे व्रह्‌म की सत्ता नजर आती है। सत्व, रज और तम के त्रिविध गुणों को जो त्याग सकता है वही विवेकी और वैराग्य सपन्न है। माया प्रभु की प्रेरणा है। विद्या माया के कारण जीव शरीर वनता है। पर वह अपने आपको विभु समझता है, यही अहङ्कार और अज्ञान है। अविद्या माया का ऐसे जीव पर प्रभाव पड़ जाता है। तव पाप, वन्धन मे पडना और दुख भोगना पडता है। जीव इससे ज्ञान वैराग्य और भक्ति से बच सकता है। तुलसी इसीलिए सत्सङ्ग साधुमत और लोकमत का समन्वय करने का उपदेश देते है। व्यक्ति अपना आत्म-कल्याण साधुमत से कर लेता है, तो सारे समाज का एवम् मानवता का

कल्याण लोकमत से मप्राप्त कर सकता है। लोक-संग्रह की दृष्टि से तुलसी सत्सङ्ग पर विशेष बल देते है। सत्सङ्ग, विवेक और वैराग्य से सप्राप्त होता है, विवेक वैराग्य युक्त सत्सङ्ग से श्रद्धा और विश्वास युक्त अन्त करण से नाम-स्मरण हो सकता है। परमार्थ के मार्ग मे नारी प्रवल और घातक अस्त्र है। अतः तुलसी पारमार्थिको को उससे सदा सावधान रहने के लिए कहते है। भक्ति भी प्रयत्न साध्य नही है। वह तो ईश्वरी कृपा पर निर्भर है। भक्ति से ही मोक्ष मिलता है। श्रेय और अप्रेय का ग्रहण अश्रेय और प्रेय का त्याग विवेक ही वैराग्य युक्त हो सिखाता है। इसी से हम ईश्वरी-कृपा के पात्र वनते है। वह अनायास ही वरवस प्राप्त हो जाती है।

सूरदास—

सूरदास के मतानुसार जीव गोपाल के अंश है। जीव साधारणतया माया से आवृत ही वे मानते है। सूरदास के अनुसार शुद्ध जीव नित्य लीला से सम्बद्ध है नित्य जीव सांसारिक अर्थात् लौकिक क्षेत्र मे वहुत रूप से पाये जाते है, और वद्ध अर्थात् अज्ञानी जीव अविद्या माया से अपने स्वरूप विस्मृति का कारण वन जाता है। इस दुर्गति से छुटकारा केवल भगवदीय कृपा पर है। वैसे तो माया, जीव, जगत् और अविद्या अर्थात् अज्ञान सम्वन्ध सिद्धात वेदान्तानुमादित सर्व साधारण रूप मे कम या अधिक मात्रा मे सव मे मिलते है उसी तरह सूरदास के द्वारा अभिव्यजित साहित्य मे मिल सकता है। इसे शङ्कराचार्य का अप्रत्यक्ष प्रभाव भी कहा जा सकता है। अज्ञानी जीव मे देहाभिमान रहता है, तो ज्ञानी जीव मे एक रसता रहती है अत. वह एक मात्र गोविन्द नामस्मरण को ही अपनी उन्नति का साधन मानता है। भाग्य या अदृष्ट की प्रवलता को सूर मान्य करते है। इसे ही कर्म गति कहा जाता है। अनेक योनियो में भ्रमण करना तथा अनेक देहो को धारण करना जीव के कर्मो पर अवलंबित है। वैसे जगत् को भी भगवान् का वनाया हुआ सूरदास समझते है जो शुद्धाद्वैत दर्शन के अनुसार उचित ही है। भगवान् की यदृच्छा से ही ससार निर्मित हुआ जो भगवान् की क्रीड़ा-स्थली है। अतः यह भी हरिरूप है। मन जव तक कृष्ण में नही रत हुआ तव तक इसे माया कृत ही मानना चाहिए। संसार को सूरदास ने सेमल के समान और जीव को उसके स्वरूप पर मुग्ध हुये हुए तोते के समान माना है। यह मिथ्या भास प्रकट हो जाने पर पछताना पड़ेगा। इसीलिए सूर साधक को चेतावनी देते है। माया को सूर भी त्रिगुणात्मिका ही मानते है। इससे छुटकारा भगवान् की पुष्टि अर्थात् अनुग्रह से ही सभव है। जीव चैतन्य सहित है तो माया चैतन्य रहित। संसार

का सत्य प्रतीत होना भगवान् की माया का परिणाम और प्रभावोत्पादित है। भगवान् कृष्ण की अगम्य माया को कौन जान सकता है ?

भगवान् के गुणानुवाद मे लीला गान करने मे उसका रसानन्द लेने मे ही जीव का मोक्ष है। सायुज्य मुक्ति ही सूर के अनुसार उच्चकोटि का मोक्ष है। वैसे चारो मुक्तियो का सूर ने अनुभव लिया है। रसरूप, रस-पुरुषोत्तम भगवान् का अङ्ग बन जाना ही सूर के जीवन का लक्ष्य या दृष्टिकोण रहा है। कृष्णलीला मे प्रवेश और उसका आनन्द ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। आध्यात्मिकता से रास के रहस्य को समझना और महाभाव प्राप्त करना उच्च कोटि का पुरुषार्थ है। सूरदास ने अपनी पात्रता और अधिकार से इसे पुष्ट कर प्राप्त कर लिया था।

मीराँ—

मीराँ की भक्ति भावना दापत्यरति और प्रेम के मतवालेपन से परिपूर्ण होने से नाम-सङ्कीर्तन और अपने प्यारे सावले कृष्ण से प्रणय-निवेदन और विरहव्यथा का अभिव्यजन ही उनके पदो मे देखने को मिलता है। उनके मत से परम-पुरुष पुरुषोत्तम एक मात्र श्रीकृष्ण ही है, अन्य सारे जीव स्त्री रूप है। प्रकृति जड होने से अज्ञान और मोह जनित और मिथ्या बातो को सत्य समझने का प्रयास जीव कर सकता है, वे लौकिक मोह मे कदापि नही फँसी। सदा ही अलौकिक और उदात्त प्रेम से मस्ती मे मग्न रहकर अपने प्रियतम को—श्रीकृष्ण को उन्होने पा लिया। अनेक जन्मो की साधिका तथा अनुरागिनी उपासिका बनकर पूर्ण समर्पण कर अपने प्रिय श्रीरणछोडजी मे ही वे समा गई। सारूप्य मुक्ति उन्हे मिली है। मीराँ को भक्ति की साकार प्रतिमा कह सकते है यही सम्भवत. उनके मत से जीवन की सार्थकता है। लोक-लाज को तजकर कृष्ण प्रेम की एकमात्र अधिकारिणी मीराँ बनी है। लौकिक पदार्थो के प्रति मीराँ को कोई मोह नही है। अत उसने कर्म बधन से ऊपर उठकर अपना जीवन असीम सौन्दर्य पुरुषोत्तम पर न्यौछावर कर दिया था। मीराँ मे प्रेम का भावोन्मेष तथा भावावेश अपने अत्युच्च स्तर पर पहुँच गया था। श्रीकृष्ण मे इतना एकाशी प्रेम बहुत दुर्लभ है। गोपी भाव की तरह इसे मीराँ-भाव भी कहा जा सकता है।

वैष्णव भक्ति के विविध पंथ और पद्धतियों का कारण तथा उद्देश्य क्या था ? तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप में :

मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने जो आध्यात्मिक विचार-धारा एव सिद्धातो का विवेचन किया है, उसको निष्कर्ष रूप मे हम देख ही आये है। भक्ति करने का उद्देश्य व्यक्तिगत और सामाजिक दोनो प्रकार का था, ऐसा हम निश्चित कह सकते है। भक्ति व्यक्ति के विकास का और आत्म-कल्याण का एक

सर्वोत्कृष्ट साधन है। वह जैसे व्यक्ति के लिए आत्मोन्नति का मार्ग खोल देती है, वैसे ही समाज, राष्ट्र एवम् मानवीय गुणों का प्रकर्ष रूपेण सामूहिक कल्याण के लिए भी पथ प्रशस्त कर देती है। इस ससार के चेतन और सत्य तत्व के साथ अनुरक्ति करना ही भक्ति है जो मानव को मन, बुद्धि और हृदय से इस परमतत्व को जानने और उसके समकक्ष उच्च स्तर पर अपने आपको ले जाने मे सहायक हुई है। सगुण भक्ति को विशेष रूप से बहुत अशो मे मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने प्रश्रय देकर अपने-अपने उपासना मार्ग की साधना की है। इसका प्रमुख उद्देश्य है जीव और जगत् की सत्यताको समझना तथा मायावाद से अर्थात् भ्रान्ति से मुक्ति। जीव और ब्रह्म का अभेद तथा सर्वत्र एक ही सत्य के दर्शन ये भी अन्य उद्देश्य जान पड़ते है। समन्वय की भावना से प्रत्येक युग के लोक प्रचलित विश्वास को तथा युगधर्म को अपनी-अपनी पद्धति से अपनाकर वैष्णव भक्तो ने मानवता की एक बहुत बडी सेवा की है। भगवान् से मानव मात्र को मिलाकर मानवत्व को अपूर्व प्रतिष्ठा प्रदान कर दी है।

वाल्मिकी-रामायण, अध्यात्म-रामायण, हरिवंश-पुराण, ब्रह्मवैवर्त-पुराण ब्रह्मसूत्र, भागवत-पुराण, नारद-भक्ति सूत्र, शान्डिल्य-भक्तिसूत्र, महाभारत, नारायणीयोपाख्यान, श्रीमद् भगवद-गीता, उपनिषद साहित्य और वेद ये सारे ग्रन्थ मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य के आधारभूत ग्रन्थ है जिनसे प्रत्यक्ष अप्रत्यक्ष पद्धति से भक्ति के तत्व इन साधको ने लिये है। इन साधको ने भक्ति की आवश्यकता जीवन मे इसलिए अनुभव की थी, जिससे उनका आत्मकल्याण हो जाय तथा भगवान् से उनका साक्षात्कार हो जाय। इनमे भक्ति की दार्शनिकता पारमार्थिक सिद्धान्तो पर आधारित थी। भक्ति की भावुकता भगवान् से स्वरूप सम्बन्ध जोड़ने के लिए और हृदय प्रधान प्रवृत्तियो की उदात्तता एवम् चित्तशुद्धि के लिए अनिवार्य थी। भक्ति की बौद्धिकता भगवद् विषयक ज्ञान के लिए तथा सत्य के तत्व की जानकारी के लिए आवश्यक थी।

भज अर्थात् भजना से भक्ति शब्द बना है। ऐहिक जीवन मे तो इसकी आवश्यकता नही रहती, पर दिव्य और अलौकिक एव पारलौकिक जीवन मे इसकी आवश्यकता बराबर बनी रहती है। मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियो ने इसे अनुभव किया था। नारद इसको परम-प्रेम रूपा और अमृत स्वरूपा मानते है। इसको उपलब्ध कर मनुष्य तृप्त और सिद्ध हो जाता है। भगवान् को प्राप्त करने के कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति ये चार साधन प्रमुख माने गये है। सहज सुलभ और सार्वजनीन होने से इसे राजमार्ग के रूप मे सब ने स्वीकार किया। धर्म मे भक्ति का

महत्व विशेष है। भक्ति हृदय का और मन का भाव है। वह सहेतुक, निर्हेतुक और मोक्ष प्राप्ति के लिए की जाती है। इन वैष्णव कवियो ने आगे चलकर भक्ति को रसत्व भी प्राप्त करा दिया। भक्ति सकाम और निष्काम दोनो प्रकार की होती है।

वैष्णव शास्त्रकार भक्ति के पाँच प्रकार के स्थायीभाव बतलाते है, शान्ति, प्रीति, सख्य, वात्सल्य और माधुर्य। इनसे ही आगे चलकर पाच रस उत्पन्न हो गए। वे ये है—शान्त, प्रीति, सख्य, वात्सल्य, मधुर या उज्ज्वल रस। भगवान् से व्यक्तिगत प्रिय सम्बन्ध प्रस्थापित हो जाने पर उसे दास्य भक्ति भी कहते है। विनय भाव से की गई भक्ति दास्य भक्ति है। इसके अतिरिक्त प्रमुख रूप से सख्य भक्ति, वात्सल्य भक्ति, और मधुरा भक्ति को मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्तो ने अपनाया है।

भक्ति का प्रयोजन—

वैष्णव साधना मे साधक वा भक्त परोक्ष शक्ति की खोज मे लगा रहता है। श्रद्धा और विश्वास के साथ भगवान् की स्तुति और प्रार्थना भक्त किया करता है। इसका प्रयोजन यह है कि भक्त ससीम है और भगवान् असीम। अत जीव प्रभु कृपा से पाप-प्रक्षालन करे और पुण्यो का अर्जन करे। कर्म स्वातंत्र्य होने से ससीम साधक पाप और पुण्य का भेद नही जानता। अत भगवान् से प्रार्थना कर वह इसका भेद जान लेगा। मानव की दानवी और देवोपम प्रवृत्तियो मे से वह दानवी प्रवृत्तियो का दमन करे और देवोपम प्रवृत्तियो को सतत जागृत रखे, यही प्रयत्न भक्ति करने वाले साधक का रहता है। कह सकते है कि भक्ति से आत्म तत्व की प्राप्ति और आनन्द की उपलब्धि होती है। इसे जीवन का चरमोत्कर्ष भी मान सकते है। प्रत्येक साधक अपनी पात्रता और अधिकार तथा अवस्था के अनुसार भक्ति की साधना मे प्रवृत्त होता है। साधना का आरम्भ जो साधक जिस अवस्था मे है वही से आरम्भ होताहै। पर उसे आगे चलकर उन्नति करने की आवश्यकता बनी रहती है। इस उन्नति का मार्ग बतलाने वाले त व को गुरु कहते है।

भारतीय साधना मे गुरु का महत्व प्रतिपादित है। गुरु को साक्षात् परब्रह्म बतलाया गया है। वैष्णव साधको ने गुरु का महत्व समझा है। गुरु-गोविन्द से मिलाता है। कबीर, तुलसी, सूर और मीराँ तथा ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और रामदास ने गुरु की महिमा का वर्णन किया है। गुरु, अविवेकी-साधक को ज्ञानाजन देकर विवेकी बना देता है। भक्ति का सुरमा

साधक की आँखो मे लगाकर भक्त को सत्, चित् और आनन्द की त्रयी का महत्त्व समझा देता है। स्पष्ट है कि भक्ति का प्रयोजन असत् का विनाश और तम अर्थात् अज्ञान से मुक्ति और अमृत तत्व की उपलब्धि है। भागवत और भगवद् गीता मे ज्ञान, कर्म और भक्ति की साधना-त्रयी का वर्णन है। मानव की असली प्रतिष्ठा इस साधनात्रयी को अपनाने मे है। यही वैष्णव भक्ति-शास्त्र का सकेत है। इस सकेत को समझकर ज्ञानाश्रयी एव ज्ञानोत्तरी भक्ति की प्राप्ति हो जाती है। यही रागानुगा मे परिणत होकर रसमय बना देती है।

सद्गुरु महात्म्य —

गुरु का महत्व मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियों मे बराबर विद्यमान था। सद्गुरु के कारण आध्यात्मिक उपलब्धि हो जाती है। हिन्दी और मराठी वैष्णव भक्त कवियो ने भी ऐसी उपलब्धियाँ कर ली है। एक प्रसिद्ध संस्कृत श्लोक है।

'गुरुब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुर्देवो महेश्वरः।
गुरुसाक्षात् परब्रह्म तस्मै श्री गुरवैनमः॥'

शिष्य मे, साधक मे या भक्त मे जो कमियाँ होती हैं, अथवा जिन आध्यात्मिक गुणो का साधना की दृष्टि से अभाव रहता है उनकी पूर्ति वा उन गुणो का प्रादुर्भाव साधक मे निर्माण करने का कार्य प्रेम से. गुरु ही करता है अतः गुरु को ब्रह्मा कहा गया है। शिष्य में तमोगुण का या आसुरी प्रवृत्तियो का पूर्ण रूप से विनाश करने का कार्य गुरु को क्रोध से भी कभी-कभी करना पडता है। अत. वह शिव या महेश्वर कहा गया है। शिष्य की गलतियो को उदार दृष्टि से और वात्सल्य भाव से क्षमा कर उसको सत् का पथ बतलाना एवम् उसको सात्विक बनाने का कार्य सद्गुरु का है। अत' वह लोकपालक विष्णु स्वरूप भी माना गया है। साधक का साध्य भगवान् का स्वरूप-साक्षात्कार है। पर भक्त और भगवान् के बीच का अन्तर कम करना, ज्ञान के प्रकाश से अज्ञान को तिरोहित करना, जीवन के कृत्रिम और मायावी व्यामोहो का निर्मूलन करना तथा अमरत्व का प्रस्थापन करना ईश्वर की सत्ता और अस्तित्व मे श्रद्धा और विश्वास का जागरण करना आदि ये सब गुरु के कार्य है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो को अपने-अपने सद्गुरु की प्रतिष्ठा स्वीकृत है तथा उनको अपने गुरु का ऋण भी मान्य है। इसलिए अपने-अपने सद्गुरु के प्रति वे कृतज्ञता-ज्ञापन भी करते है। उनका यह कार्य सर्वथा समीचीन और श्लाघनीय ही माना जावेगा।

ज्ञानेश्वर और कबीर को अपने गुरु के प्रति अपार श्रद्धा है। अत्यत विनम्रता और सद्भाव एवम् समादर से दोनो अपने सद्गुरु के प्रति अपनी आस्था और वदना प्रकट करते है। कबीर के लिए तो गुरु और गोविन्द समान लगते है। फिर भी वे गोविन्द को प्रत्यक्ष प्रदत्त करने वाले गुरु पर अपने आपको न्यौछावर करते है। ज्ञानेश्वरी अर्थात् भावार्थ-दीपिका मे ज्ञानेश्वर अनेक स्थानो पर अपने गुरु निवृत्तिनाथ के प्रति आदराजलि समर्पण करते है।

निगुरे नामदेव की फजीहत वैष्णव भक्त मण्डली मे विशेप प्रसिद्ध है। परन्तु विसोवा खेचर से ज्ञान-दीक्षा मिल जाने पर नामदेव का महत्व बहुत बढ जाता है। सगुण-साधना का महत्व समझने पर सिद्ध भक्त नामदेव भगवान् के सर्वव्यापकत्व का रहस्य जानकर नाम-सकीर्तन करते हुए भागवत धर्म की पताका पजाब जैसे सुदूर प्रान्त मे प्रस्थापित कर फहराते है। भक्ति तत्व का प्रचार वे जन-भापा मे अर्थात् व्रज-भापा मे करते है। क्या यह कम सराहनीय कार्य है। निर्गुण और सगुण साधना मे परिपक्व नामदेव को इसीलिए कबीर ने भी समादर की दृष्टि से देखा।

शिष्य-प्रवोधन मे समर्थ सद्गुरु जनार्दन स्वामी परम कारुणिक सन्त एकनाथ को पात्रतम शिष्य बनाकर आदर्श भागवत भक्त क बौद्धिक, मानसिक और हृदय-पक्ष की सभी प्रवृत्तियो सहित एक आदर्श गृहस्थ और सत का सन्तुलित व्यक्तित्व उन्हे प्रदान कर देते है। जगद् वरेण्य तुलसीदास, महामोह तम-पु ज को नष्ट करने वाले वचनो का प्रभाव जिनकी वाणी मे है, ऐसे कृपा-सिन्धु नररूप हरि अर्थात् नरहर्यानद का आस्था और श्रद्धानत हो स्मरण करते हैं। महात्मा सूरदास तो गुरु और भगवान् श्रीकृष्ण चन्द्र मे अभेद मानकर भगवान् की लीला गान मे प्रवृत हुए हैं। तुकाराम, रामदास और मीराँ के साधना रत्त जीवन मे गुरु का महत्व स्थान-स्थान पर प्रतिपादित है। तुकाराम को स्वप्न मे बावाजी चैतन्य ने 'रामकृष्णहरि' यह मत्र दिया था। मीराँ को भी सत्य का दर्शन सद्गुरु के द्वारा सप्राप्त हुआ था, एवम् एक अनमोल वस्तु उन्हे सद्गुरु ने प्रदान की है ऐसा वे कहती है। तुकाराम को पुन. सद्गुरु नही मिले इसका अपार दुख है। समर्थ रामदास भी अपनी गुरु परम्परा देकर अपने गुरु के प्रति अपनी कृतज्ञता का ज्ञापन करते हैं।

इससे साररूप मे एक बात स्वत: सिद्ध हो जाती है कि पारमार्थिक आत्मोन्नति मे एवम् राष्ट्रोन्नति मे सदगुरु का श्रेष्ठत्व एक चिरतन तत्व है। भक्ति करने वालो के लिए तो इसका एक अपार महत्व है ही। आध्यात्मिक परिपक्वता से

आत्मकल्याण और लोक-कल्याण अर्थात् आत्मोन्नति राष्ट्रोन्नति ये बराबर कर सके है। जिन भक्ति पद्धतियो को इन मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त-कवियों ने अपनाया उन्हे अब हम देखने का प्रयत्न करेंगे।

मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों की भक्ति पद्धति एवम् साधना प्रणालियाँ और उनका महत्व—

तुलनात्मक निष्कर्ष के रूप में—

मराठी के वैष्णव भक्त ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम और समर्थ रामदास तथा हिन्दी के वैष्णव भक्त कबीर, तुलसी, सूरदास और मीराँ ने भक्ति योग का बराबर प्रश्रय लिया है। यह भक्ति-साधन-गत और भाव-गत इन दो पक्षो से हमारे सम्मुख प्रदर्शित हुई है। इसका एक आचरण-पक्ष और दूसरा ध्यान-पक्ष है। निष्काम कर्म करते हुए, अहिंसा, सत्य, अपरिग्रह, आस्तिकता, सत्सङ्ग का आचरण मे जागरूकता से और बुद्धि पुरस्सर व्यवहार करते हुए इन वैष्णव कवियों ने अपनी अपनी पात्रता गुरुपदेश और मार्गदर्शन से बढ़ाई। अधिकार सम्पन्नता प्राप्त करने के लिए स्वधर्मरत रहकर कर्तव्य बुद्धि से भगवद् प्राप्त्यर्थ नामस्मरण, सङ्कीर्तन को नित्य और नैमित्तिक रूप मे अपनाया। अपने गुरु से प्राप्त मन्त्र-जप और नाम-जप के साधन से अपने मन में दिव्य आनंदावस्था को जागृत कर लिया। यह भावावस्था उच्च कोटि की आध्यात्मिक उपलब्धि मानी जायगी। नाम-स्मरण से नामी तक पहुंचने का सोपान इन वैष्णव भक्तो के हाथ आ गया। भक्ति-साधना मे नाम माहात्म्य की गरिमा सर्वोत्कृष्ट मानी गयी है। कलियुग मे नाम का महत्व भी अधिक है। नाम रूपात्मक जगत् का रचयिता परब्रह्म परमेश्वर का नाम-स्मरण उस भाव को भक्त मे दृढ कर उसके सङ्कल्प में बल देता है। भक्त नाम लेने के पूर्व प्रतिकूल का वर्जन कर अनुकूल का सङ्कल्प कर भगवान् का नाम भाव से लेकर रूपात्मक सत्ता मे उसे प्रतिष्ठित करता है। यह उसकी श्रद्धा का विषय है। अत. नाम-रूप भाव में और भावरूप परमात्मा मे लय हो जाते है। भाव के सहारे अपने आपको परमात्मा मे लीन करना ही नाम-स्मरण है। किन्तु ऐसा नाम-स्मरण हो पाना एक कठिन कार्य है। इसीलिए नियमित रूप से उपासना व साधना करनी पडती है जो एक दैनदिन सस्कार बन जाता है। इसी अनन्यता से नामस्मरण करने वाला नाम और नामी मे अभेद देखता है।

भगवद्गीताकार कहते है—

अनन्याश्चिन्तयन्तोमाम् जनाः पर्युपासते।
तेषाम् नित्याभि युक्तानाम् योगः क्षेमं वहाम्यहम् ॥[1]

१. श्रीमद् भगवद्गीता, ९।२२।

इस प्रकार अहर्निश अनन्य होकर जो मेरा नामस्मरण करते है, उनका योगक्षेम मैं चलाता हूँ। श्रीकृष्ण के इस आश्वासन का सभी वैष्णव भक्तो ने यथावत् परिपालन किया है। इसलिए मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियो ने नाम-माहात्म्य गाया है और स्मरण कर वे भक्ति के पात्र और अधिकारी बन गये है। ध्यान पूर्वक भक्ति करना ही राजयोग है। ज्ञानेश्वर ने इसे सराहा तथा तुलसी इसकी प्रशंसा करते है। कबीर, नामदेव, रामदास, तुकाराम, सूरदास, मीराँ और एकनाथ सभी नाम-स्मरण और हरि-संकीर्तन कर तर गये है। अत. इस चीज को कौन मिथ्या मान सकता है ? मन को उस परम चैतन्मय के साथ सम्बद्ध करने के लिए और अन्य कोई साधन नही है। अर्जुन ने श्रीकृष्ण को इसी से वश मे किया था। शबरी के बेर इसी के कारण राम ने चखे थें। एकनाथ के यहाँ श्रीखञ्या बन इसीलिए श्रीकृष्ण उन पर अनुग्रह करते रहे। रघुनाथ के हस्ताक्षर इसीलिए तुलसी की विनय पत्रिका पर हुए। मीराँ के प्रभु 'गिरधारी' इसीलिए उनके बालम बने। इसीलिए कबीर ने राम की बहुरिया बन कर उनको अपना प्रिय बनाया। नामदेव पर, विट्ठल की इसी से सदा कृपा होती रही। तुकाराम के अभङ्गो मे और सूरदास के पदो मे इसीलिए तन्मयता है और भगवान् गुणानुवाद का यथार्थ लीला-रहस्य और अङ्कन हो सका है। दोनो इसलिए सगुण स्वरूप साक्षात्कार करने मे सिद्ध बन सके है।

भक्ति मे भक्त का अहभाव विसर्जन एक अनिवार्य कर्म है। भगवान् के प्रति शरणागति, आत्मनिवेदन, अनन्य भाव से आत्म समर्पण आदि कार्य भक्तों ने किये है। आत्मा और परमात्मा के सम्बन्ध की प्रथमावस्था इसकी जिज्ञासा है। अपने उपास्य का स्वरूप उनकी जानकारी, ज्ञान और पहिचान जिज्ञासा के अन्तर्गत आने वाले विषय है। इसके बाद की सीढी ममत्व अर्थात् भक्त की भावना के साथ घनिष्टता एवम् परिचय वृद्धि गत होने की है। प्रभु रामचन्द्रजी का मैं दास हूँ, यह तुलसी का भाव और प्रभु समर्थ रामचन्द्रजी है, अत: मेरी ओर वक्र दृष्टि से कौन देख सकता है यह रामदास की आस्था तथा इसी तरह की अन्य मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो की भावनाएँ इस द्वितीय कोटि की अवस्थान्तर्गत आने वाली बाते है। इन भावनाओ से भक्त भगवान् के निकट पहुँचने का मार्ग और अधिकार पा लेता है। तुकाराम, सूरदास, कबीर, एकनाथ, ज्ञानेश्वर, तुलसी दास, मीराँ और नामदेव इस अधिकार को प्राप्त कर भगवान् रामचन्द्र भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र और विठ्ठल का नैकट्य पा गए। इसके बाद भक्त भगवान् मे डूब कर महाभाव युक्त होकर तद्रूप हो जाता है। ऐसा माधुर्य भाव कबीर, मीराँ, सूर, तुकाराम आदि मे उपलब्ध हो गया है।

भक्ति करने वाले वैष्णव भक्तों मे सामान्यतः अनासक्तिपूर्ण कर्तव्य कर्म-
तत्परता और प्रवृत्ति मूलक भगवद् भक्ति पाई जाती है। आत्मा के अमरत्व की
ये सारे वैष्णव कवि उच्च स्तर से घोषणा करते है। स्वय कर्म परायण बनकर
व्यक्ति और समाज के निकम्मेपन को तथा निराशा को नष्टकर इन वैष्णव कवियों ने
दोनो को आश्वासन और क्रियाशील बनाया है। मराठी और हिन्दी के इन वैष्णव
साधकों का यह एक महान कार्य है। अनासक्ति का यह पूर्ण परिपाक हो जाता है
कि भक्त केवल भक्ति ही मुख्य मानने लगता है।

भक्ति करने से फलाकाक्षा अनायास छूट जाती है। साधक को कर्मफल
पाने की इच्छा छोड़कर कर्म की ओर अग्रसर होना चाहिए यही इनकी भक्ति का
निवेदन है। वैष्णवी भक्ति प्रवृत्तिपरक है। गीताकार का भी यही आदेश था।
आगे चलकर सामाजिक कल्याण और हित को ध्यान मे रखकर भक्ति भावना में
अहिंसा, प्रपत्ति, परोपकार,करुणा,शील जैसे तत्व आकर मिल गए। इसे हम भागवत
की देन मान सकते है। इसमे निवृत्ति परक भक्ति को भी प्रश्रय मिल गया।
निवृत्तिपथ का उपदेश भागवती भक्ति ने देकर संसार की असारता, क्षण भगुरता
की ओर संकेत किया। धार्मिक क्षेत्र मे एक धरातल पर आकर सारे भक्त एक ही
हैं, फिर वे किसी वर्ण, जाति या प्रदेश के क्यों न हो यह भावना दृढमूल होती
गयी। इसका परिणाम समन्वयवादी, मानवी और उदार दृष्टिकोण को अपनाते हुए
भक्ति को सर्वोपरि माना गया।

भक्ति मन्दाकिनी के पवित्र जल से वैष्णव आचार्य हिन्दी मराठी के वैष्णव
भक्त कवियो ने अपने आपको पवित्र तो किया ही, परन्तु कोटि-कोटि मनुष्यो के
कल्याण का प्रशस्त राजपथ भी देशी भाषाओ मे भी मुक्त रूप से खोल दिया।
यहाँ पर इस वैष्णवी भक्ति द्वारा जो महान् कार्य हुआ उसका सास्कृतिक और
सामाजिक महत्व अत्यत गौरव की वस्तु है। राष्ट्रीय अभ्युदय मे और आध्यात्मिक
उन्नति मे इस भक्ति-धारा ने जो सहायता प्रदान की वह अविस्मरणीय चीज है।
यह भक्ति प्रयत्न साध्य होने पर भी ईश्वरीय कृपा पर भी निर्भर है।

भक्ति और भक्तों के प्रकार—

वैष्णवी भक्ति दो प्रकार की है—(१) परा और (२) गौणी। गौणी
भक्ति के भी तीन प्रकार है—(१) सात्विकी अर्थात् कर्तव्य कर्मानुरूप की जाने
वाली भगवान् की भक्ति। (२) राजसी अर्थात् किसी विशिष्ट कामना से की जाने
वाली भक्ति और (३) तामसी अर्थात् किसी दूसरे को नुकसान पहुँचाने के उद्देश्य से
की जाने वाली भक्ति। भक्त भी-आर्त,जिज्ञासु, अर्थार्थी, और ज्ञानी ऐसे चार कोटि के

माने गये हैं। पराभक्ति गौणी भक्ति से श्रेष्ठ मानी जाती है। इसमे भक्त सर्वात्मना अपने आप को भगवान् मे लीन कर देता है।

वैसे भक्ति के नौ प्रकार माने गए है, जो नवधा भक्ति कहलाती है। अपने उपास्य के गुणो का श्रवण, कीर्तन, स्मरण, चरण सेवा, अर्चन, वदन, दास्य, सख्य और आत्म निवेदन ये भाव आते है। इसके अतिरिक्त प्रेम-लक्षणा और पराभक्ति को मिलाकर एकादश विधाएँ भक्ति की हो जाती है। भागवती-भक्ति प्रारम्भ से ही सगुणोपासना को प्रश्रय देकर चली है। अन्य पदार्थो के गुणो से विहीन होने के कारण निर्गुण-भक्ति और अपने गुणो से युक्त होने के कारण वह सगुण-भक्ति कहलाई।

प्राय: मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त अपने उपास्य के मगुण रूप को लेकर भक्ति क्षेत्र मे आगे बढे। राम के मर्यादा पुरुषोत्तम रूप को सगुण भक्ति का स्वरूप मान दास्य भक्ति को अपनाकर भक्त प्रवर गोस्वामी तुलसीदासजी, एकनाथ और समर्थ रामदास ने अपनी भक्ति एव साधना प्रणाली को चलाया और जन-भाषाओ मे राम-भक्ति का प्रचार कर जीवन मे व्यक्ति के कल्याण का और समाज के कल्याण का पथ प्रशस्त कर दिया। जनता मे जीवन के दोनो क्षेत्रो के आदर्श मर्यादा-पुरुषोत्तम राम मे आकर केन्द्रित हो गये। इसमे आत्मनिवेदन और शरणागति का भाव भी सन्निहित है। भगवान् के आगे पराकाष्ठा पर पहुँचा हुआ, दैन्य निवेदित कर आस्तिकता और विश्वासयुक्त अन्त.करण से प्रभु राम के सामर्थ्य मे श्रद्धा वढी और लोक-मगल की स्थापना हुई तथा विपत्ति मे सहायता का आश्वासन देने वाले अवतारवाद की प्रतिष्ठा भी इसमे मडित हो गई। उत्तर भारत मे और महाराष्ट्र मे इस राम-भक्ति ने जनता के नैराश्य को दूर कर उसे प्राणवान बनाया जिससे भारतीय सस्कृति सुरक्षित रही। शिवाजी इस रामवरदायिनी भक्ति को देन माने जा सकते है। सारी हिन्दू जनता सास्कृतिक स्तर पर एकत्रित होकर स्वराज्य के मधुर फल चखने लगी। सारा भारतवर्ष रामराज्य मे अटूट आस्था रखने लगा।

सगुण भक्ति-साधना प्रणाली के दो स्वरूप और हमे देखने को मिल जाते है। सौन्दर्य पुरुषोत्तम, रसेश्वर, और माधुर्य-पुरुषोत्तम भगवान् श्रीकृष्ण तथा पढरपुर के विठ्ठल की लीलाओ का तन्मयता से गुणगान करते हुए वात्सल्य, सख्य और माधुर्य-भाव से हिन्दी के भक्त श्रेष्ठ सूर ने, मीराँ ने और मराठी के ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम ने भक्ति की है। इसमे व्यक्ति और समाज के यथार्थवादी और सास्कृतिक रूप मे जीवन के आनद की पूर्ण रूप से आस्था और

विश्वास के साथ उदात्त भाव से श्रीकृष्णार्पण कर देने का संकेत सामने आया। पात्रता और अधिकारानुसार पुष्टिमार्गी भक्तो ने बाललीला और गोपी-प्रेम-लीला का उत्स्फूर्त हृदय से अंकन किया। एकनाथ, नामदेव तथा तुकाराम ने भी कृष्ण भक्ति के इन दोनो स्वरूपो को आत्मसात कर लीला गान किया है। भक्ति की जो भाव-प्रवणता, गहराई तथा तन्मयता हिन्दी के कृष्ण भक्त वैष्णव कवियो मे मिलती है वह मराठी मे भी है। किन्तु उसकी तुलना मे मराठी सन्तो की भक्ति ज्ञानोत्तर भक्ति है और हिन्दी सन्तो मे श्रद्धामूलक भक्ति भाव अधिक है। ज्ञान की अपेक्षा वे भक्ति को हृदय के अधिक निकट रखते हैं। एक प्रादेशिक विशेषता मराठी वैष्णव कवियो की है। कृष्ण-भक्ति करने वाले इन कवियो ने इन दैवी पुरुषो की लीलाओ मे अपनी प्रादेशिक सांस्कृतिक बातो को भी समाविष्ट कर दिया है। विठ्ठल भक्ति श्रीकृष्ण भक्ति ही होने से बाललीला का अर्थात् वात्सल्य भक्ति का समावेश हिन्दी की तरह मराठी वैष्णव कवियो मे विद्यमान है। परन्तु ऐश्वर्य पक्ष की ओर ध्यान मराठी का अधिक है तो हृदय प्रधान तथा सौन्दर्य पूर्ण और रस-परक-भाव-भूमियो की ओर हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो का ध्यान सरसता के साथ गया है। वैसे सगुण-रस पुरुषोत्तम को सूर और एकनाथ एवम् नामदेव, तुकाराम ने भी यथार्थ रूप से समझा है। पर उसमे रस मग्न होने वाले सूर ही है। माधुर्य भाव से कान्तासक्ति की भावना लिए हुए भी भक्ति पद्धति सूर-मीरॉं ने अपनाई है। गोपियों के सयोग और वियोग की दशाएँ तथा उपालभ मधुरता से हिन्दी कृष्ण भक्तो मे विद्यमान हैं। मराठी वैष्णव कृष्ण भक्तो मे उनका वर्णन रोचक हो गया है पर उतना सजीव नही जितना सूर और मीरॉं मे मिलता है।

ज्ञानोत्तर भक्ति की विशेषता वारकरी सम्प्रदाय की अपनी विशेषता है। जो ज्ञानेश्वर, नामदेव और एकनाथ मे विशेष रूप से और सर्व सामान्य रूप से तुकाराम मे विद्यमान है। केवल कोरमकोर सगुण भक्त सूर की तरह तुकाराम ही है। निर्गुण भक्ति करने वालो मे प्रेम-मूला और भावमूला भक्ति करने वाले कबीर अद्वितीय हैं। एक तरफ माधुर्य-भावना है तो दूसरी ओर ज्ञानी भक्त की सारी विशेषताएँ कबीर मे विद्यमान है। यही ज्ञानाश्रयी भक्ति है। नामदेव भी मूलत: सगुणोपासक होने पर ज्ञानी भक्त बनकर निर्गुणाश्रयी भक्ति का प्रचार करते हुए अपनी भागवती भक्ति-साधना-प्रणाली से युक्त हैं। राम की निर्गुणी भक्ति कबीर ने की और विठ्ठल की निर्गुणी भक्ति करने वालो मे ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि हैं।

भक्ति जैसे भाव हैं वैसे रसानुभूति भी। भक्ति रस का आस्वाद उन भावुको या सहृदयो के अन्त करण मे होता है, जो पाप, मोह से मुक्त है तथा जिनके चित्त

प्रसन्न और उज्ज्वल है। यह पूर्व सस्कारोत्पन्न भी मानी गयी है। जिस उपास्य के प्रति जैसी भक्ति होगी वही स्थायी भाव होगी। जैसे रामभक्त में राम-रति-रूप स्थायी भाव है, कृष्ण भक्त है तो कृष्ण-रति-रूप स्थायी भाव है। इसी प्रकार विठ्ठल भक्त मे विठ्ठल-रति रूप स्थायी भाव विद्यमान होगा। अल्लाह निर्गुणी रामभक्त में उसके प्रति रति-रूप स्थायी भाव मिलेगा।

भक्ति के वैधी और रागानुगा या प्रेमा भक्ति ये अन्य दो प्रकार भी माने गये है। आत्म-ग्लानि, प्रपत्ति, आत्म-निवेदन, विनय-भावना, दीनता-प्रदर्शन, याचना आदि दास्य भक्ति के अङ्ग है, जो दास्य-भक्ति करने वाले मराठी और हिन्दी-वैष्णव भक्तो मे बराबर विद्यमान है। जैसे तुलसी रामदास और एकनाथ की भक्ति तथा पुष्टिमार्ग मे दीक्षित होने के पूर्व की सूरदास की भक्ति इसके अन्तर्गत आती है। सभी वैष्णव भक्तो मे यह सामान्य रूप से आरम्भिक अवस्था मे पाई जाती है।

सख्य भक्ति मे भक्त भगवान् के प्रति मैत्री भाव रखता हुआ भगवान् से अहेतुक प्रेम व्यवहार करता है। ऐश्वर्य शाली सौन्दर्य-सागर श्रीकृष्ण के प्रति सूर की, नामदेव की, अथवा विठ्ठल के प्रति तुकाराम की निष्काम-भक्ति का विशुद्ध-आनन्दात्मक रूप मिलता है। भक्त के हृदय के सख्य प्रेम-रस को भगवान् ही पहिचान पाते है। गोप-गोपियो के साथ की गई क्रीडाएँ, खेल, लीला, उत्सव, रास आदि का तन्मयता पूर्ण वर्णन सख्य-भक्ति के वर्ण्य विषय है। ये नित्य तथा नैमित्यिक रूप मे भी अभिव्यंजित किये गये है।

प्रेम-रूपा-भक्ति के अन्तर्गत वात्सल्य भाव की भक्ति आती है। इस प्रकार के भाव के सूर ही एकमात्र भक्त है। उन्हे बाल स्वभाव का, बाल चेष्टाओ का, तथा मातृ हृदय का गाढा परिज्ञान था। वात्सल्य भक्ति मे माता का अपने शिशु से सयोग और वियोग परक अनुभूतियो का चित्रण है। बाल-सौन्दर्य का और रूप-माधुरी का सुख बालक की क्रीडाओ के वर्णन मे नटखटपन और चचलता के गुणो को देखकर भक्तो के अन्त.करण पर होता है। सूर इस भक्ति भावना मे बेजोड है इनके साथ नामदेव ही तुलनीय है। वियोग जन्य दुख भगवान् के लिए भक्त मे होता है, क्योकि उससे मिलने की उत्कट अभिलाषा भी होती है। ये वियोग जन्य भाव प्रायः मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो मे समान रूप से विद्यमान है।

कान्ता-भाव अर्थात् मधुर-भाव से की गई भक्ति भगवान् से आध्यात्मिक सम्बन्ध जोडने के लिए होती है। इसमे आत्म निवेदन और आत्म समर्पण प्रेम-भक्ति की सर्वोच्च स्थिति है। मीराँ और गोपियो मे तथा महाभाव की दशा मे

यह संभाव्य है। इसमें आत्मोत्सर्ग और सम्पूर्ण आत्मविस्मृति अपने पूर्ण रूप से भक्त मे आ जाती है। राधा और गोपियों के प्रेम मे भक्तो की अन्तरात्माओं का स्वरूप इस भक्ति के द्वारा प्रकट होता है। मीरॉं मे माधुर्य भावना की सगुणोपासना परक माधुरी भक्ति का रूप दिखाई पड जाता है। निर्गुणोपासक मधुरा भक्ति कबीर में दर्शनीय हो उठी है।

भक्ति की जीवन में आवश्यकता—

अब तक निष्कर्ष रूप में जो भक्ति के विविध प्रकारों, स्वरूपो और भक्ति की विविध साधना प्रणालियो का विवेचन कर लेने के बाद यह स्थिति हमारे सामने आ जाती है कि मानव-जीवन मे भक्ति की क्यो आवश्यकता है? इस पर भी विचार कर लिया जाय। हमारे अध्ययन मे आए हुए नौ वैष्णव भक्त कवि मानव थे और उन्होने भक्ति की थी, यह एक मानी हुई बात है। क्या उनको अपने जीवन मे इस साधना को अपनाने की आवश्यकता उत्पन्न हो गई थी? पूर्ण रूप से और शान्त चित्त से विचार करने पर निष्कर्ष यही निकलता है कि इस जगत् मे मानव योनि ईश्वर का एक सर्वोत्तम वरदान है। इस शरीर के साधन से भगवान् के स्वरुप के साथ सम्बन्ध साक्षात्कार किया जा सकता है। भगवान् की सर्वोत्तम कृति, विविध गुणो का समुच्चय, हृदय के अष्ट सात्विक भाव, सौन्दर्य का रसोद्रेक, ब्रह्मानुभूति कर सकने की सक्षमता मानव के अतिरिक्त और किसी मे भी सभव नही है। सत्, चित्, आनन्द रूप परब्रह्म का ज्ञान, स्वरूप की पहचान, भगवान् से ममता, नैकट्य का अनुभव, भगवान् की कृपा एवम् अनुग्रह प्राप्त कर आत्मकल्याण और लोक-कल्याण साधने के लिए भक्ति की जीवन मे आवश्यकता है। वह सहेतुक और निर्हेतुक तथा मोक्ष की प्राप्ति के लिए भी मानवी जीवन मे नितात आवश्यक है। निस्सीम भाव से आध्यात्मिक आनन्द को इन वैष्णव कवियो ने भक्ति-साधना द्वारा उपलब्ध कर लिया था तथा सबको उदार होकर उपलब्ध करा दिया था। भक्ति जीवन मे आदर्श और यथार्थ का संतुलन और समन्वय करने के लिए भी आवश्यक है। भावात्मक एकता का सर्वांग परिपूर्ण साधन मानवी जीवन मे भक्ति के अतिरिक्त और कोई नही हो सकता। इसे सब कोई निश्चित रूप से मान लेगे।

मराठी वैष्णव और हिन्दी वैष्णव कवियो की काव्य शैलियो और काव्य रूपों की तुलना तथा उनके कारणो का विवेचन करते हुए निष्कर्ष रूप मे अब हम कुछ तथ्यो की ओर अग्रसर होने का प्रयत्न करेगे।

काव्य का प्रयोजन—

काव्य का प्रयोजन आचार्य मम्मट के अनुसार यह है—

काव्यं यशसेऽर्थ कृते व्यवहारविदे शिवे तरक्षतये ।
सद्यः परनिवृत्तये कान्ता सम्मित तयोपदेश युजे ।।[1]

काव्य एवम् साहित्य की सर्जना यश प्राप्ति के लिए, द्रव्य लाभ के लिये, सासारिक व्यवहार-ज्ञान की प्राप्ति के लिये होती है अमगल के विनाश के लिए और लोकातीत आनन्द की प्राप्ति के लिए है तथा पत्नी के समान मधुर, प्रिय लगने वाले उपदेश की संप्राप्ति के लिए होती है । 'काव्य से वैयक्तिक, सामाजिक, लौकिक और आध्यात्मिक सभी प्रयोजनो का सकेत मिल जाता है ।' डा० भगीरथ मिश्र का यह कथन ठीक ही है ।[2]

मराठी वैष्णव भक्त कवियो और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो ने अपने वैयक्तिक उन्नयन के लिए, तथा आध्यात्मिक उत्कर्ष के लिए काव्य जैसे साधन का प्रयोजन समझकर किया था । नामदेव को वालिमकी से प्रेरणा मिली थी तो तुकाराम को नामदेव ने स्वप्न मे काव्य रचने की प्रेरणा दी थी । तुलसी ने 'स्वातः सुखाय' रघुनाथ गाथा गाई थी । सूर ने स्वरूप-साक्षात्कार से सतुष्ट एव पुष्ट होकर तथा साधिकार भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओ का गायन किया था । ब्रह्मविद्या लोगो के लिए सार्वजनीन और सुलभ हो जाय इस हेतु से ज्ञानेश्वर ने अपनी 'भावार्थ-दीपिका' लिखी । लोगो की विपन्नावस्था देखकर परम कारुणिक एकनाथ ने भगवान् वासुदेव और रामचन्द्रजी का चरित्र और यश गाया । समर्थ रामदास ने स्वधर्म और स्वराज्य की स्थापना से सबको स्वधर्माचरण और कर्तव्य दक्ष होने मे भगवान् का अधिष्ठान प्राप्त हो जाय इसलिए समर्थ रामचन्द्र का गुणगान गाया । तो प्रेम उन्मादिनी मीराँ ने अपने साजन कन्हैया को रिझाने के लिए नृत्य-गायन और सकीर्तन किया । कबीर ने अपनी मौज मे आकर ब्रह्मानुभूति लेते हुए उसको प्रेम से प्रकट किया तथा राम की बहुरिया बने ।

मानव जीवन का उपभोग लेते हुए, मानव जीवन का अनमोल महत्व आँकते हुए, उसका सदुपयोग करने का निश्चय कर उसे व्यवहार मे बरतने का कार्य इन वैष्णव कवियो ने किया । बदलते युग के अनुसार सहगामी अपना दैनदिन आचरण होना चाहिए, इसका ज्ञान इन कवियो को हो गया था । विदेशी आक्रमणो से समाज की सुरक्षा हो और चाहे जैसी प्राप्त परिस्थिति मे समाज का ऐक्य (जिसे

१. काव्य प्रकाश—आचार्य मम्मट ।
२. काव्य शास्त्र—डा० भगीरथ मिश्र, पृ० ३० ।

आज हम भावनात्मक एकता के नाम से अभिहित करते है) बना रहे इसलिए सस्कृत भाषा के सैद्धातिक तत्वदर्शी ग्रन्थों के विचार प्रान्तीय भाषाओ मे साहित्य के माध्यम से अभिव्यक्त किए। उनका यह कार्य भारतीय जन-समाज की सुरक्षा की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण और स्वर्णाक्षरो मे अङ्कित किये जाने योग्य है। इन लोगों का यह दृढ विश्वास था कि ईश्वरीय सत्ता है। भगवान् की कृपा होती है। सत्सङ्ग करना चाहिए। नाम और नामी का अभेद इनको मान्य था। भगवान् भक्त-काम कल्पद्रुम है, दयालु है, दया सागर और कृपामेघ है इसलिए वे भक्त की पूरी सुरक्षा करने की व्यवस्था करेगे ऐसा इनका विश्वास था। इन सबको अपनी अनुभूति से वर्ण्य-विषय बनाकर काव्य के माध्यम से वैष्णव-साहित्य-सर्जन हुआ। यह इन वैष्णव कवियों का सर्वोत्तम कार्य ही माना जावेगा।

इनमे दार्शनिक और आचार्य के स्तर के वैष्णव भक्त कवि भी थे जैसे ज्ञानेश्वर, तुलसीदास, एकनाथ और रामदास जो काव्य-शास्त्र और तत्वज्ञान के गाढ़े पडित थे। अत साहित्यिक निकष लगाये जाने पर भी इन भक्त कवियों के द्वारा रचित ग्रन्थ, उच्चकोटि के महाकाव्य, खण्डकाव्य, मुक्तक काव्य और गीति-काव्य सिद्ध हुए। ज्ञानेश्वरी, रामचरित-मानस, एकनाथी-भागवत, भावार्थ-रामायण, जानकी-मंगल, पार्वती-मगल, रुक्मिणी-स्वयंवर, दासबोध-गीतावली, विनयपत्रिका, ज्ञानेश्वर की अभग-गाथा, तुकाराम के अभङ्ग, नामदेव पदावली एकनाथी-गाथा, समर्थ-गाथा और समर्थ-रामायण आदि ग्रन्थ इसके प्रमाण हमारे सामने उपलब्ध कर देते है।

केवल भक्त और कवि जैसे या केवल दार्शनिक और भक्त जैसे भी लोग इन वैष्णव भक्तों मे विद्यमान है। सूरदास, तुकाराम, कबीर और मीराँ को हम इस कोटि मे रख सकते है। इनकी कृतियाँ, कबीर की साखियाँ और पद तथा दोहे, नामदेव के अभंग, तुकाराम की गाथा और मीराँ के पद, गीतिकाव्य, मुक्तक-काव्य और स्फुट-काव्य के अतर्गत रखे जा सकते है।

काव्य रूपों और शैलियों की तुलना का निष्कर्ष—

महाकाव्य के लेखक तुलसी और एकनाथ की शैली लोक साहित्यकार की होने से उनके महाकाव्य लोगो के द्वारा स्वीकार किए गए। युग धर्म, व्यक्ति धर्म, स्वधर्म, सदाचार और जीवन के नैतिक स्तर के उच्चाशय आदि की अभिव्यक्ति, अपने उपास्य प्रभु राम और कृष्ण के चरित्रो के द्वारा गरिमामयी उदात्त शैली मे प्रकट हुई है। कथानको का आधार सुप्रसिद्ध है तथा जीवन के सभी पहलुओ के सर्वाङ्गीण अनुभव सूक्ष्मता के साथ रखे गये है। शैली दोनो की अपनी-अपनी

भास्वर प्रतिभा को अभिव्यक्त करने वाली है। दोनो के महाग्रन्थ रामचरित-मानस, एकनाथी भागवत तथा भावार्थ रामायण इस महान् देश के हिन्दी और मराठी भाषी जनपदो मे आदर और सम्मान प्राप्त कर चुके है तथा लोकप्रिय भी हो गये हैं। इस देश के उन्नत-प्रवण युग के सर्वोत्तम विचारो को समेट कर अपनी-अपनी रचनाओ मे दोनों ने मुखरित करने का अथक प्रयत्न किया है। धर्म परायण भारतीय मनोवृत्ति के अनुकूल होने से ये महाकाव्य जितने साहित्यिक दृष्टि से वरेण्य हैं उतने ही धार्मिक ग्रन्थ के रूप मे भी आवाल वृद्ध नर-नारी, सुशिक्षित और अपढ जनता मे लोकप्रियता और ख्याति अर्जन कर चुके है। दोनो के महाकवि अपने-अपने प्रदेशो मे और तुलसी-दासजी तो सारे भारत वर्ष और ससार मे अपने इस ग्रन्थ से सुयश प्राप्त कर चुके हैं। एकनाथ भी तुलसी से प्रभावित जान पडते है। करोड़ों व्यक्तियो के बीच काव्य और धर्म ग्रन्थ के नाते लोक जीवन की गहराइयो तक पहुँचकर प्रभावित करने का कार्य इनके द्वारा हुआ है। रामचरित्र का आधार पौराणिक रामकथा, वाल्मिकी-रामायण, शिव-रामायण, भुसुडी-रामायण आदि है। नायक मर्यादा-पुरुषोत्तम राम धनुर्धारी भगवान् राम और नायिका जगत जननी सीता है। वीर, करुण, अद्‌भुत, भयानक शृङ्गार रस की प्रधानता इन कृतियो मे विद्यमान हैं। चरित्र नायक राम जगत् के सृष्टा, रक्षक तथा लयकर्ता है। वे ज्ञान-स्वरूप, अविनाशी, नित्य और दुर्लभ है। शरणागत-रक्षक, उदार-भक्त-वत्सल, तथा अपूर्व-शक्ति सम्पन्न लावण्य और शील के आगार है। अपने युगीन जीवन की झाँकी और सास्कृतिक समस्याएँ इन महाकाव्यो मे बराबर झंकृत हुई है। एकनाथी भागवत तत्वज्ञान और भक्ति के सिद्धांत स्थापित करने वाले प्रथम वैष्णवाचार्य भगवान् श्रीकृष्ण और उद्धव के बीच के संवाद रूप मे प्रस्तुत किया गया है। श्रीमद् भागवत का एकादश स्कध इसका आधारभूत ग्रन्थ है। समर्थ रामदास ने पूरी रामायण तो नही लिखी पर उनका रामायण और उसका काव्य रूप तथा शैली महाकाव्य के अनुकूल ही है। मूल रस शान्ति और भक्ति है। नायक भगवान् श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म के रूप मे है।

ज्ञानेश्वरी अर्थात् 'भावार्थ-दीपिका' गीता की टीका होने पर भी एक महा-काव्यवत् रचना हैं। काव्य-रूप और शैली अर्जुन और भगवान् श्रीकृष्ण के बीच किये गए सवादो के रूप मे है। मूल भगवद्-गीता का रूप अर्जुन, श्रीकृष्ण, सजय और धृतराष्ट्र के सवादो मे ही सीमित रहा। पर 'भावार्थ-दीपिका' मे श्रोताओ से भी वक्ता के रूप मे अथवा प्रवचनकार के रूप मे ज्ञानेश्वर ने अपनी शैली को उद्‌भावित किया है। अपनी अलौकिक प्रतिभा से, उत्तुग कल्पना विलास द्वारा और असीम शब्द सम्पत्ति के माध्यम से तथा सूक्ष्म अवलोकन से अध्यात्मपरक विषय को लोकाभिमुख बनाकर मधुर मराठी भाषा मे अमृतोपम मिठास से प्रस्तुत कर

दिया है। इसका मूल रस शान्त है पर शृङ्गार रस की रसिकता और सुकुमार आस्वादिता से वह युक्त है। शृङ्गार रस के सिर पर शान्त रस ने मानो अपने चरण धर दिए है। श्रोताओ के साथ आत्मीय सम्बन्ध प्रस्थापित करते हुए उनकी वुद्धि पर भावना के पुष्पो की वर्षा ज्ञानेश्वर करते चलते है। गुरु-शिष्य-प्रेम, मराठी के प्रति अभिमान, गीता के प्रति आत्मीयता आदि श्रोताओ के लिए काव्य के पंच-प्राण हैं। इन पांच प्रकार के प्रेमारसो का अद्‌भुत सगम 'भावार्थ दीपिका' के शैलीकार मे हम देखते हैं। ज्ञानेश्वरी का अन्तरङ्ग और वहिरङ्ग काव्यमय होने से उसकी अपूर्वता अत्यत परा-कोटि की मानी जावेगी।

यहाँ पर इन सब महाग्रन्थो की आलोचना हमे नही करनी है। हर एक की अपूर्वता यथास्थान अङ्कित कर दी गई है। निष्कर्ष रूप मे हम कह सकते है कि इन महाकाव्यो तथा महाव्योपम महाग्रन्थो के ये सृष्टा आचार्य तो थे ही परन्तु भक्त एव कवि भी थे इसलिए प्रतिभा, लोकाभिमुखता और अध्यात्म की उच्च, दिव्य और भव्य तथा उच्च स्तरीय ब्रह्मानुभूति का त्रिवेणी-सगम इसके काव्य रूपो और शैलियों मे मिल जाता है।

हिन्दी के महाकाव्य 'रामचरित मानस' की भाषा अवधी है जो सुसस्कृत और परिमार्जित अवधी है। मराठी के महाग्रन्थ ज्ञानेश्वरी, एकनाथी-भागवत-भावार्थ रामायण की भाषा तद्‌युगीन मराठी है। यह भापा अपने युग की सुसस्कृत और शिष्ट मराठी भाषा ही है।

खण्ड काव्यो मे तुलसी के जानकी-मगल, पार्वती-मगल खण्डकाव्य तथा एकनाथ का रुक्मिणी-स्वयवर की शैली समान है। ये जानकी तथा पार्वती और रुक्मिणी के विवाह प्रसङ्ग और घटना पर आधारित थे, लिखे गये है। अपने युगीन सास्कृतिक समारोहो का और जन-जीवन की सास्कृतिक छटा एवम् रूढ़ियों का दर्शन इनमे हो जाता है। इनके द्वारा दोनों कवियो ने जनमानस मे अपने उपास्यो के प्रति तथा जीवन के प्रति श्रद्धा और विश्वास दृढ़ कर दिये है अतएव ये कृतियाँ सर्व सामान्य जनो मे विशेप मान्यता प्राप्त कर चुकी है।

स्फुट मुक्तक और गीतिकाव्य—

मराठी के गीति काव्य कार अभंग कर्ता ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम की गाथाएँ तथा भिन्न-भिन्न राग रागिनियो में समर्थ के द्वारा रचे पदो की गाथा ये ग्रन्थ आते है। हिन्दी मे सूरदास के सूरसागर, सारावली, साहित्य लहरी मीराँ के राग-रागिनियो वाले पद, तुलसी की विनय-पत्रिका, गीतावली, कृष्ण-गीतावली, वरवै-रामायण, कवितावली आदि रचनाएँ तथा एकनाथ के अन्य ग्रन्थ,

जैसे आनन्द लहरी, शुकाष्टक स्वात्मसुख इत्यादि आते है। वैष्णव भक्त कवियो के द्वारा प्रदत्त कृष्ण-काव्य और रामकाव्य मे गीतिकाव्य का सर्वोत्कृष्ट नैसर्गिक स्वरूप मिलता है। इनमे निर्गुण निराकार ब्रह्म को सगुण साकार, लीला वपुधारी एव अवतारी रूप में प्रकट किया है। राधा-कृष्ण का प्रेम, गोपियाँ और श्रीकृष्ण का प्रेम, बाल-रामचन्द्र और बाल-कृष्ण की बाल-लीलाएँ आदि को केन्द्र मानकर उनके रसपूर्ण पक्ष को लीलागान, सकीर्तन के लिए चुना है। असीम लावण्य-राशि का और सौन्दर्य का चैतन्य मय और गतिमान अङ्कन सवेदनशील और भावुकतापूर्ण गीति रचना के लिए एक आवश्यक उपादान हैं। माधुर्य भाव का, वात्सल्य भाव का और सख्य भाव का इसमे समावेश होने के कारण गीतिकाव्य मे मैत्री, करुणा, दैन्य, आत्म-निवेदन, अभ्यर्थना, उलाहने, उपालभ, मुदिता, रतिभाव, विरहाकुलता, कातरता दुख आदि का रसोद्रेक हो जाता है। मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने इसमे बराबर का स्तर रखा है। रसिकता और सुरसता मे गहराई और तीव्रोपमता अवश्य मराठी से हिन्दी मे अधिक मात्रा मे है। तन्मयता और भावो की प्राजलता दोनो भाषाओ के गीति काव्यो मे विद्यमान है। भ्रमर-गीत, मुरली-माधुरी, विनय-पत्रिका, तुकाराम-नामदेव के आत्म-निवेदन तथा प्रेम-कलह के अभङ्गों मे गीतो की आत्मा साकार हो उठी है। इसमें भी समर्थ रामदास का मनोबोध और तुलसी की विनय-पत्रिका अद्वितीय हैं।

गीति काव्य को आत्माभिव्यजकतापूर्ण शैलीमे प्रदर्शित काव्यभी माना जाता है। भावो का आधिक्य सहसा रसोद्रेक के रूप मे हृदय से अचानक उमड पडता है। आकाश मे बादल जैसे सहसा गर्जन-तर्जन के साथ बरस पडते हैं वैसे ही वैष्णव भक्त कवियो के अन्त.करण अपने उपास्य के प्रति प्रेम भाव से पुलकित हो जाते हैं, कृतज्ञता से गद्गद् हो उठते है, चिरविरह-व्यथा से आर्द्र हो मिलन की उत्कण्ठा से बेचैन और व्यग्र भी हो जाते है। ये सारे भाव वैष्णव 'गीत प्रबधम्' से सूर, मीराँ के पदो मे तथा नामदेव, तुकारामादि के अभङ्गो मे अभिव्यजित हो उठे हैं। डा० भगवानदास तिवारी अपने प्रबंध मे गीतिकाव्य की यथार्थ परिभाषा देते हैं—

'गीतिकाव्य अनुभूति सपृक्त आत्मा की सङ्गीतात्मक सहज अभिव्यक्ति है।'[1]

सगीत के स्वर, ताल, लय और गति के अनुकूल कोमल कान्त पदावली, शृङ्गार रस माधुर्य और प्रसाद गुण सयुक्त शब्द लालित्य और सौकुमार्य प्रदर्शित

१. मीराँ की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन—
डा० भगवानदास तिवारी कृत अप्रकाशित प्रबंध से।

करने वाले शब्द कल्पना तथा सौन्दर्य प्रकट करने वाली भाषा की मधुरिमा मराठी
और हिन्दी की सत पदावली की अपनी अन्यतम विशेषताएँ है। भक्ति भावना को
सिंचित करने मे तथा रसोद्रेकावस्था के निर्माण मे इनका पारस्परिक निष्कर्ष प्राप्त
होता है। अपने युग मे सूर, मीराँ के गीत देशाधिपति अकबर तक को प्रभावित कर
चुके हैं। तुकाराम और नामदेव के अभङ्ग गीतो ने अपने युग मे लोगो को प्रभावित
किया था। आज भी सूर-मीराँ के पद, विनय-पत्रिका के तुलसी के पद, तथा
तुकाराम और नामदेव के अभंग अपनी प्रभावोत्पादकता को प्रकट करते है। समर्थ
रामदास भी बड़े सङ्गीतज्ञ थे। गीतिकाव्य के काव्य रूपों और शैली की विशेपता
से ही इन मराठी और हिन्दी वैष्णव कवियों ने सङ्गीत के क्षेत्र में भावनात्मक ऐक्य
का सकेत और प्रभाव अक्षुण्ण रखा है, जो भारत के लिए एक अनमोल वरदान है।
मीराँ के गेय पदो के बारे मे डा० भगवानदास तिवारी का यह कथन कितना
समीचीन है[1]—

'मीराँ के काव्य मे भाव, अनुभूति, कल्पना और जीवन के निर्विकल्प
सत्योद्गारों की अटूट परम्परा है। उनकी भक्ति-साधना और उनका जीवन-दर्शन
उनके गीतो मे साकार हो गया है। इसीलिए मीराँ का प्रत्येक पद प्रभविष्णु और,
हृदयहारी है। मीराँ के प्रत्येक पद के पीछे मीराँ का व्यक्तित्व बोलता है। यही
उनके काव्य की सबसे बडी विशेषता है।

मीराँ के बारे मे जो सही है वही सूर, रामदास तथा तुकाराम, नामदेव और
तुलसी एवम् कबीर के पदो के बारे मे कहा जा सकता है। अभिप्राय यह है कि
वैष्णव गीतिकाव्यकार मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवि अपने व्यक्तित्व को
अपने अभङ्गो तथा पदो मे अभिन्न रूप मे प्रतिध्वनित कर साकार कर देते है।
श्रोताओं के मनमयूर इनको सुनकर थिरक उठते है।

इसी प्रकार से स्फुट और मुक्तक काव्यो के बारे मे निष्कर्ष रूप मे कहा जा
सकता है कि मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त कवियो के साहित्य मे समान स्तर
पर शैली-गत और काव्य-रूपगत साम्य है। भाषा पक्ष की दृष्टि से हिन्दी कवियो ने
व्रज को अपनाया है, तो मराठी को मराठी वैष्णव कवियो ने। दोनो की विशेपता
कोमल कान्त नाद माधुर्य से युक्त शब्दावली का प्रयोग है। दोनों का वर्ण्य विषय
उपास्य का प्रेम, विरह, राधा-कृष्ण तथा गोपियाँ और कृष्ण के सयोग और वियोग.

---

१. मीराँ की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन —
डा० भगवानदास तिवारी कृत अप्रकाशित प्रबंध से।

जनित भावो का विशद प्रकटीकरण और विठ्ठल से प्रेम और विरह का संवेदनापूर्ण कथन है। इन पदो मे भक्ति रस के साथ जीवन की सांस्कृतिक बातो का यथार्थ चित्रण नित्य और नैमित्तिक रूप मे झलक उठा है जो देखते ही बनता है।

रस विधान, अलकार विधान और भाषा के सम्बन्ध मे दृष्टिकोण—

रस का परिपोष प्रतिज्ञापूर्वक ज्ञानेश्वर करते हैं। सचमुच उनका शान्त रस श्रृङ्गार रस को मात करता है। तुलसी तो सभी रसो को एक सिद्ध रूप मे अपनी कृतियो मे प्रस्तुत करते है। श्रृङ्गार, शान्त, करुण, वीर, अद्भुत, भयानक तथा हास्य एव वीभत्स तक को वे अपने सागोपाग उपादानो सहित प्रकट करते है। सहृदय उसका आस्वाद बराबर लेते है। रामचरित-मानस और कवितावली इसके अत्युत्कृष्ट उदाहरण है। रस पुरुषोत्तम या 'रसोवैस:' जिनको कहा जाता है, ऐसे भगवान् श्रीकृष्ण की लीलाओ मे वात्सल्य, सख्य और माधुर्य भावो से भरे वर्णन श्रृङ्गार और करुण रस को रसराज की सज्ञा प्रदान करते हैं। मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवियो ने जिस रस को लिया उसको पूर्ण रूपेण सिद्धावस्था तक पहुँचा दिया है। ब्रह्म को यशोदा और कौशल्या की गोद मे साकार शिशु के रूप मे अवतरित कराने वाले ये रससिद्ध कवि रसो की अवतारणा मे भला पीछे कैसे रह सकते थे?

जनपदीय भाषा का प्रयोग—

भाषा के बारे मे सब के मत मे ऐक्य है। भाषा मे अर्थात् जनपदीय भाषा मे लौकिक, अलौकिक, आध्यात्मिक अनुभूतियो का वर्णन करना पुण्य है, पाप नही है, ऐसा इन सभी का अभिमत है। सच्चा प्रेम किसी भाषा का बंधन स्वीकार नही करता, निर्मल नीरवत जन भाषा का जल स्वच्छन्द और अबाध गति से बहता है। मराठी अमृत के समान मधुर हो सकती है और है इसका प्रमाण ज्ञानेश्वर, एकनाथ, तुकाराम, रामदास और नामदेव दे देते है। हिन्दी मे भी इन सब की रचनाएँ मिलती है। इनकी हिन्दी रचनाओ की भाषा, ब्रज और दक्खिनी हिन्दी है। तुलसी की अवधी, सूर और मीरॉ की ब्रज तथा कबीर की सधुक्कडी भाषा प्राजल रूप से इस तथ्य का बोध करा देती है। ये भाषा के बारे मे लकीर के फकीर नही है। सस्कृत की सारी विशेषताएँ देशज भाषाओ मे ले आना आसान कार्य नही है। अवधी मे रामकाव्य फबता है, तो ब्रज मे कृष्ण काव्य। मराठी मे दोनो जँचते है। नामदेव ने ब्रज मे भागवत धर्म की ज्ञानोत्तरी भक्ति का तथा निर्गुण मत का प्रचार कर एक अद्भुत पुरुषार्थ का कार्य किया, ऐसा माना जाता

चाहिए। रामानन्द और कबीर को जिसने प्रभावित किया वह भला महान् भक्त क्यो नही होगा ? भाषा के बारे मे इन वैष्णव कवियों का अभिमत कोरा सिद्धान्त नही है, वह तो एक व्यावहारिक प्रयोग भी है। पाण्डित्यपूर्ण गम्भीर और गवेषणात्मक बौद्धिकता तथा तार्किकता मराठी मे विद्यमान है, तो प्रासादिकता, प्राजलता, सहजता और भाव-प्रवणता अवधी और व्रजभाषा मे विद्यमान है। भावनात्मक-ऐक्य और राष्ट्रीय-ऐक्य के लिए इन वैष्णव कवियो का यह प्रदेय चिरतन महत्व का है। आज के वैषम्यपूर्ण और क्षत विक्षत किन्तु स्वतन्त्र भारत को भाषा की सकीर्णता से ऊपर उठकर सह-अस्तित्व और भावनात्मक ऐक्य को अपनाने का सदेश इन वैष्णव कवियो का भाषा विषयक दृष्टिकोण अवश्य देता है। किसे अपनी जन भाषा के भक्ति कालीन साहित्य पर गर्व नही होगा ? भाषा विषयक अभिमत का इससे बढकर और प्रमाण क्या हो सकता है, कि यह समूचा साहित्य स्वर्णयुग का साहित्य माना जाता है।

अलकार विधान की दृष्टि से मराठी और हिन्दी के वैष्णव भक्त-कवियो ने उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, दृष्टात, भ्राति, सन्देह, यमक आदि का समान धरातल पर उपयोग किया है। फिर भी ज्ञानेश्वर अपनी उपमाओ और दृष्टातो के लिए विशेष प्रसिद्ध हैं तो तुलसी एकनाथ आदि साग रूपको की भरमार करने के लिए अपने समकक्ष किसी को नही रखते। विशेषत सादृश्य और साधर्म्यमूलक अलकारो का प्रयोग इन कवियो ने किया है।

एक और सास्कृतिक विशेषता की ओर हम निष्कर्ष रूप मे ध्यान आकृष्ट करना चाहते है। इसे हम भाषा के क्षेत्र मे भी रख सकते है। राम और कृष्ण उत्तर भारत के प्रदेश मे पैदा हुए थे। राम अयोध्या के और श्रीकृष्ण व्रजभूमि के थे। दोनो भाषाओ के कवियो ने अतिमानस' के रूप में या लोकोत्तर अवतारी पुरुष के रूप मे तथा सगुण परब्रह्म के रूप मे चित्रित किया। मराठी वैष्णव भक्तो ने इन महापुरुषो का मराठीकरण किया है। इसके आभूषण उत्तर भारत के है परन्तु जन मन पर प्रभाव उत्पन्न करने के लिए महाराष्ट्रीय जन-जीवन को और सास्कृतिक अगों को वैसे ही अबाधित एव अक्षुण्ण रहने दिया है। हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो के सामने यह समस्या ही नही थी। विठ्ठल, कर्नाटक प्रदेश के उपास्य देव थे। इसीलिए उसे 'कानडा-विठ्ठल' भी कहते है। पर महाराष्ट्र में आकर विठ्ठल पूर्ण रूप से महाराष्ट्रीय बन गये है। उपास्य के व्यक्तित्व मे परिवर्तन करने की यह चमत्कृति या जादू पाठको को बिना जानकारी दिए मराठी वैष्णव भक्त कवि कैसे कर सके ? इसका ज्ञान केवल उन्ही को हो सकता है जो दोनो भाषाओ के जानकार है तथा मर्मज्ञ है।

छंद विधान—

हिन्दी के वैष्णव-कवियो ने अवधी में दोहा, चौपाई, छन्द, और पदो को लिया है, तो व्रजभाषा मे राग-रागिनियो से युक्त गेय पद है। यहाँ पर हिन्दी छन्द-विधान के वारे मे विशद अनुशीलन नही करना है। परन्तु मराठी वैष्णव कवियो के द्वारा प्रयुक्त ओवी, अभङ्ग पर कुछ विशद विवेचन अवश्य किया जावेगा। वास्तव मे यह एक स्वतन्त्र प्रवन्ध का विषय भी हो सकता है। समर्थ रामदास ने भी राग-रागिनियो मे पद लिखे है। इससे एक वात यह सिद्ध होती है कि गेय पदो के राग-रागिनियाँ मराठी और हिन्दी मे समान है।

ओवी और अभग रचना मे गणात्मक या लगत्वात्मक आवर्तन नहीं मिलते, प्रत्युत केवल अक्षर संख्यायुक्त रचना रहती है। ये रचनाएँ गेय है। छांदस रचनाओ से इनका सम्वन्ध है। दिंडी सदृश पणमात्रक आवर्तन की पद्धति के पद जनावाई, एकनाथ, तुकाराम और रामदास रचित पदो मे उपलब्ध हो जाते हैं।

दिंडी वृत्त का उल्लेख 'दासवोध' मे आया है। यथा—

> **डफ गाणे माचिगाणे। दडी (दिंडी) गाणे कथागाणे।**
> **नाना माने नाना जसने। नाना खेळ ॥[१]**

—दासवोध १२।स ५।

डफ गायन, डन्डे से वजाकर गायन, वाद्य-यत्र गायन और कथा गायन ये गायन प्रकार नाना प्रकार के उत्सवों मे तथा क्रीडा तथा खेलो के अवसर पर व्यवहार मे लाये जाते है।

जिसे हम निर्विवाद रूप मे मराठी छन्द कह सकते है ऐसे छन्द, 'ओवी' और 'अभङ्ग' है जिन्हे प्राय. मराठी वैष्णव कवियो ने अपनाया है, किन्तु ओवी, छन्द हिन्दी मे अनुपलब्ध है।

ओवी छंद का विवेचन—

प्रसिद्ध मराठी लेखक श्री वि. का. राजवाडे ओवी की व्युत्पत्ति इस प्रकार देते है—मूल धातु ऊत=सूत्र पिरोना, इससे 'ओवी' शब्द वना। आ+ऊयन=ओयन=ओयनिका=ओवनिका=ओवणिका=ओवइआ = ओवीआ=वोवीया=ओवीया=ओवी।[२]

दूसरी व्युत्पत्ति स्वर्गीय प्रो. ह. दा. वेलणकर देते है : अर्ध चतुष्पदी शब्द मे

---

१. मराठी छन्द—वि. का. राजवाडे।

२. मराठी छन्द—वि का. राजवाडे।

यौगिक प्रक्रिया से अउठोट्टवई = अड्डुठवई = अड्डुडवई=डुड्वई=हुहवइ= हुवआई=होवई=ओवई=ओवी । इस व्युत्पत्ति को डा० कत्रे अग्राह्य मानते है। प्रो. द. वा वेन्द्रे के मतानुसार ओवी का सम्बन्ध कन्नड 'त्रिपदी' से मिलता है ।[1] कन्नड जनपद गीत त्रिपदी छन्द मे होते है। लोरियाँ भी इसी छन्द मे गाई जाती थी और अन्त में 'ओई' या 'होई' कहते थे। इसी से 'ओवी' शब्द बना है। कन्नड भाषा मराठी भाषा के पूर्वकाल मे ही सुस्थिर हो गई थी। अत इसी से मराठी मे ओवी छन्द आना स्वाभाविक है। मराठी वैष्णव कवियो का उपास्य विठ्ठल भी तिरुपति बालाजी से निकलकर कर्नाटक से कानडा विठ्ठल बनकर आया तो उसके उपासको का ओवी छन्द मे उसको मनाना रिझाना और प्रसन्न करना हमे स्वाभाविक सा लगता है।

ओवी छन्द ग्रांथिक और गेय इन दो प्रकार का माना गया है। ग्रांथिक-ओवी मुक्त रूप होती है। गेय ओवियाँ पीसते समय, कूटते समय तथा अन्य ऐसे ही प्रसंगो मे गायी जाती है। इसके तीन पाद प्रासयुक्त होते है और गेय भी ।[2] देखिए—

> उवीच च स्वरी चर्या रोहडी दंतिका तथा।
> एते सूडेषु नो गेया प्रबधा लौकिका मताः ।।
> विप्रकीर्णाः प्रगातव्या व्वापारेषु पृथक् पृथक्।
> त्रिपदी कडने चैव शृङ्गारो विप्रलभके ।।
> पायशोस्त्रिभिरेवैषा गेया नानार्थ भूषिका।
> कथार्‌ पद्धदीयोल्या विवाहे धवले तथा ।।
> उत्सवे मंगलेगेया शूर्या योगी जनै स्तथा।
> महाराष्ट्रेषु योषित्‌भिरोवी गेया तुकंडने ।।[3]

महाराष्ट्र की योषिताएँ अनाज कूटते समय, योगी, शूर जनो के मगल स्वागत प्रसङ्गों मे विवाहोत्सवो मे ओवियाँ गाया करती थी। यों शृङ्गार पक्ष मे सयोग और वियोगावसरो में भी इनका पर्याप्त मात्रा मे प्रयोग हुआ करता था।

'सगीत रत्नाकर' नाम का एक ग्रन्थ १४ वी सदी का है। उसमे निम्न उल्लेख मिलता है—

---

१. मराठी साहित्य पत्रिका वर्ष ७ स० ५ ।

२. मानसोल्लास—अभिलषितार्थ चिन्तामणि—सोमेश्वर ।

३. मानसोल्लास-अभिलषितार्थ, चिन्तामणि-सोमेश्वर-गान प्रकरण, खण्ड ३ ।

'खण्डत्रयं प्रासयुक्तं गीयते देशभाषया ।
ओर्वीपद तदन्ते चे दोवी तज्ज्ञै स्तदी रिता ।।
त्रयाणां चरणानां स्युरेकाद्या वृत्तित्तरे मिदाः ।
आदि मध्यान्तगः प्राप्ते रेकार्धश्च पदे पदे ।।
छन्दोनिवहुभि गेया ओव्यो जन मनोहराः ।
सान्तु प्रासैस्त्रिमि खण्डैर्मण्डिता प्राकृतैं पदैः ।।[1]

देशी भाषा मे गाया जाने वाला तीन खण्डो से युक्त और अन्त मे ओवी पद आने वाला पद्य 'ओवी' कहलाता है। ये तीन पाद प्रासयुक्त होते है। अनेक प्रकार के छन्दो मे मनोहर ओवी पद गाया जाता है। 'उर्वीपद', तुर्वीपद', 'ऊवी पद' ऐसे तीन पाठ और मिलते हैं। मानमोल्लास मे 'ऊवी' रूप आया है। ऊर्वी=पृथ्वी के अर्थ मे, यह पद पृथ्वी का है अर्थात् देशज है ऐसा अर्थ संकेतित होता है। इस प्रकार इस छन्द का ऊवी, ओवी यह अभिधान तैयार हुआ।

ओवी का एक रूप अधिक नियत है तो अन्य दृष्टि से वह अनियत है। नियत अर्थात् जिसमे प्रथम तीन चरण यमक बद्ध और चौथा चरण प्राय तीनो से अपेक्षाकृत छोटा रहता है। नियम ऐसा नही है, पर प्राय ऐसा पाया जाता है। इसमे प्रथम तीन चरण सयमक हो जाने पर चौथे चरण के मध्य के बाद पुनः उसी अक्षर को साधकर और अन्य चार पाँच अक्षरो मे ओवी छन्द पूर्ण हो जाता है। अनियत मे ओवी के प्रत्येक चरण मे कितने अक्षर हो इसका कोई नियम वा बंधन नही है। केवल सुर मे गाये जाने योग्य होना ही इसकी विशेषता रही है। क्योकि महाराष्ट्रीय स्त्रियो के द्वारा इस अपौरुषेय लोक-वाङ्मय की निर्मिति प्राय. अधिक मात्रा मे हुई है। अतः इसे लोक गीतो वाला छन्द भी कहना चाहिए। ऐसी ओवियाँ प्राय. नियत होती हैं। अनियत ग्रांथिक ओवी साढ़े तीन या साढ़े चार चरणो की भी मिलती है।

मराठी वैष्णव भक्त कवियो के साहित्य मे ओवी के उल्लेख इस प्रकार मिलते हैं—

देशि येचेनि नागरपणे । शांतु शृङ्गाराते जिणे ।
वोविया की होती लेणे । साहित्यासी ।।
× × ×
तो कृष्णार्जुन सवादु । नागरी बोली विशदु ।
सांधोदाऊ वंधु । वोविये च्या ।।[2]

---

१ संगीतरत्नाकर ३०६—३०७—३०८ कुलानिधि टीका ।
२. ज्ञानेश्वरी अध्याय १० और अध्याय १३ ।

ज्ञानेश्वर ओवी को मराठी का विशेष छन्द मानते है तथा इसे आबाल सुलभ बंध गीतो के बिना रग मे ले आने वाला साधन और अस्मिता को जागृत रखने वाला छन्द मानते है। एकनाथ भी ज्ञानेश्वर की ओवियो के गुणो को जानते थे। उनका अभिमत है।

ज्ञानेश्वरी पाठी। जो वोवी करील मराठी।
तेणे सुवर्णा चिया ताटी। जाण नरोटी ठेविली।।

ज्ञानेश्वरी मे ज्ञानेश्वर के बाद क्षेपक रूप मे जो ओवी मराठी मे रचकर, रखेगा वह स्वर्णजटित थाली मे नारियल की कटोरी रखेगा ऐसा समझिये।

मराठी साहित्य भडार ओवी बद्ध वाङ्मय से भरी पडी है और विविधता भी उसमे इतनी है कि नियमन नही किया जा सकता। मराठी का मुक्त छन्द भी ओवी से ही विकसित हुआ है। ज्ञानेश्वर की ओवियाँ अप्रतिबधात्मक है तो एकनाथ की अधिक बधात्मक। ज्ञानेश्वर की ओवी का अत्यत्चरण चतुरक्षरी, स्वैर और अनिर्बंध है, तो एकनाथ की ओवी की विशेषता यह है कि वह साढे चार चरणी, यमकों से युक्त और समतोल सूचक शब्द सहति से युक्त होती है।

एकनाथ का ओवी-विषयक अभिमत आध्यात्मिक ढग से वर्णित है यथा—

'या शुक मुखाष्टके पवित्रा। औट चरणी विचित्रा।
वोविया नव्हती अर्धमात्रा। औटावी है।।
ओवी दाखवी विवेकाते। पावन करी औट हाते।
एक देशी सरते। व्यापका माजी।।[1]

ॐकार मे अ, ऊ और म ये साढ़े तीन मात्राएँ होती हैं। ओवी छद के भी साढ़े तीन पाद होते है। मानव की जागृतावस्था, स्वप्नावस्था, सुषुप्तावस्था और तुर्यावस्था होती है। इन्हे भी ओकार से सम्बन्धित समझा जाता है। ओकार मे अर्धमात्रा सानुनासिक है। आध्यात्मिक दृष्टि से वह तुर्यावस्था का सकेत देती है। ब्रह्मानुभूति तुर्यावस्था मे ही स्वसवेद्य हो जाती है। ओवियाँ प्रत्यक्ष ब्रह्मानुभूति का साधन मानिए, यह एकनाथ का भाव है। साढ़े तीन हाथ का शरीर धारण करने वाला ससीम मानव इस ब्रह्मानुभूति को कैसे आँक सकता है? अर्थात् तुर्यावस्था मे सुषुप्ति स्वप्न और जागृति ये अवस्थाएँ समाहित हैं। एकनाथ ने व्यापक परमेश्वर को भी प्रत्यक्ष रूप से ओवी के उदात्त स्वरूप मे निहित तथा उच्च अवस्था मे कर दिया है।

अभङ्ग—कन्नड कवि चौंडरस १३ वी शती मे हुए थे। उनका कहना है कि विठ्ठल विषयक ओवी-प्रबन्ध को अभग कहते है। अभंग छोटे और बडे दो प्रकार

१. शुकाष्टक ओवी सख्या २७-२८।

के होते है। छोटा अभग सोलह अक्षरो का, दो समचरणो पर आधारित होता है। इसमे ताल-छन्दोभग नही होता। अन्य रचनाओ मे गण, यति, लघु, दीर्घ, विसर्ग आदि बाते रहती है जो बडी जटिल है। देखिए नामदेवकृत अभिमत—

'मुख्य मातृकाची संख्या। सोळा अक्षरे नेटक्या।
समचरणी अभग। नव्हे ताळ छंदो भंग॥
चौक पुलिता विसर्ग। गणपति लघु दीर्घ।
जाणे एखादा निराळा। नाना म्हणे तो विरळा॥'

—नामदेव कृत अभंग।

इसका अर्थ ऊपर ही अभिव्यक्त कर दिया है। फिर भी सार यह है कि विठ्ठल का ध्यान जिस प्रकार समचरण मे अभङ्ग है उसी तरह छोटे अभग मे ताल-छन्द भग नही होता वरन् वह उनके परे अभग है।

बडे अभग की रचना मे अक्षर सख्या दीर्घ प्रचुर हुआ करती थी। बाईस अक्षर के साढ़े तीन भाग होते है। क्योकि तीन चरण के १८ अक्षर और आगे के भाग के चार छ चरण हो जाने पर अभग पूरा हो जाता है। मराठी वैष्णव कवियो मे से प्राय. प्रत्येक ने अभग लिखे है। परन्तु तुकाराम के अभग विशेष प्रसिद्ध हैं क्योकि इस गेय छन्द का तुकाराम ने विशेष रूप से प्रयोग किया है। अभग किसी भी राग मे गाया जा सकता है। कोई विशेष नियम इसके बारे मे नही मिलते। तुकाराम कहते है कि अभग मे विठ्ठल के गुण गाते-गाते मै भी अभग बन गया हूँ। अपने अभङ्गो को मैने तोला तो वे अभङ्ग ही रहे। तुकाराम के अभङ्गो की गाथा इन्द्रायणी मे डुबोयी गई थी, पर उन्हे वह अभङ्ग रूप मे पुनः मिल गई। कहा जा सकता है ओवी छन्द यदि लोकगीत है तो अभङ्ग अध्यात्म गीत-छन्द है। मराठी और हिन्दी वैष्णव साहित्य का प्रदेय, सामाजिक, सास्कृतिक एवम् राष्ट्रीय रूप मे किस प्रकार का है, तथा इन वैष्णव भक्त कवियो ने समवर्ती और परवर्ती जीवन पर क्या प्रभाव छोडा, इसे उपसहार के रूप मे देखकर हम अपना निष्कर्प समाप्त करेगे।

मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि व्यक्तिगत रूप मे अपनी-अपनी परिस्थितियो में तथा सांसारिकता मे उलझे हुए थे। जीवन की विषमता मुँह बाये उनको ग्रसने के लिए तैयार थी। माया मोह की मृग मरिचिका ने और दैनदिन जीवन की आवश्यकताओ ने उन्हे पूर्ण रूप से घेर लिया था। जीवन की कठिनाइयो ने उनको परिव्याप्त कर लिया था। फिर भी ये समस्त मराठी और हिन्दी के वैष्णव कवि अपने पुरुषार्थ के बल से विषम परिस्थिति के ऊपर उठ गये थे।

पारमार्थिक जीवन का यथोचित आनंदोपभोग इन सब ने कर लिया। समन्वय और सहिष्णुता की भावना ने मबको प्रेम दिया और सबका प्रेम पाया भी। शिव-विष्णु उपासना का समन्वय, सगुण-निर्गुण का समन्वय, योग-ज्ञान का समन्वयय, हिन्दु-मुस्लिम समन्वय, सस्कृत-देशज भाषाओ का समन्वय तथा आत्म कल्याण और लोक-कल्याण का समन्वय कर 'संहति. कार्य माधिका,' इस उक्ति को इन्होने सत्य रूप मे चरितार्थ किया है। तद्युगीन समाज मे आस्था-विश्वास और आस्तिकता को जागृत कर इन हिन्दी मराठी वैष्णव संतो ने समाज को स्वधर्माचरण में तत्पर किया। इससे सस्कृति सुरक्षित रह सकी। साहित्य वर्धिष्णु हुआ जनवादी कलाएँ जी उठी। सगीत भक्ति सुधा से भर गया। राम और कृष्ण की राम लीला और रासलीला के रूप मे जीवनोत्सव ही सामने आ गया।

इस युग में जीवन, सामाजिक, धार्मिक और सास्कृतिक रूप में ब्रह्म की व्यापक अनन्त सत्ता को स्वीकार कर चैतन्यमय वन गया था। पाखडियो को और ज्ञान के अभिमानियो को इनकी स्पष्टोक्तियो ने धराशायी कर उनके दंभ का मूलोच्छेदन किया। इन सबकी वाणी ने युग-धर्म को पहिचानकर जागृति का शख फूका है तथा अपने स्वानुभूत सत्य का तत्व बोध विवेकपूर्वक जनजन को कराया है। वैसे भौगोलिक मर्यादाओ का अर्थात् प्रान्तीय विशेषताओ का प्रतिविम्ब उनके साहित्य मे भासित होता है जो स्वाभाविक ही है। गंगा-यमुना के उर्वर प्रदेश मे रहने से जो तरल और मरल भावधारा वही उसका प्रभाव हिन्दी के वैष्णव साहित्य पर पड़ा। यह भक्ति धारा रामभक्ति के आदर्शमय गगा रूप मे तथा कृष्ण भक्ति की यथार्थमय जमुना रूप में और ब्रह्मानुभूति के सरस्वती रूप मे त्रिवेणी के समान जन-जन के हृदय-प्रयाग राज मे एकत्र हुई। यह सगम अपूर्व और अनोखा था। महाराष्ट्र प्रदेश अपेक्षाकृत यथार्थवादी होने से तथा बुद्धिवादी और वीर-प्रसू देश होने से कृष्ण-काव्य की एकान्तिक परम्परा उत्कर्प का स्वरूप यहाँ नही दिखाई देता। पर परवर्ती काल मे उत्तर भारत मे इस उत्कर्प का जो अपकर्प हुआ उमसे यह प्रदेश बचा रहा। रीतिकाल की ह्रासोन्मुखी धारा यहाँ उतनी प्रचुरता से और शीघ्रता से नही फैल पाई, जितनी हिन्दी भाषी प्रदेश मे फैली। राधाकृष्ण प्रेम की तन्मयता जीवन का उदात्तीकरण सिखाती है जो हिन्दी वैष्णव काव्य की अपनी राष्ट्रीय-भावनात्मक-ऐक्य की देन है। इसे मराठी और हिन्दी का वैष्णव साहित्य अवश्य प्रदेय के रूप मे दे सकता है। नारद और शान्डिल्य भक्तिसूत्र, श्रीमद्-भगवद्गीता, श्रीमद् भागवत, रामायण, महाभारत से प्रभावित हिन्दी और मराठी वैष्णव सन्तों का साहित्य आज हिन्दी और मराठी भाषा-भाषी जनो के लिए ही

नही अपितु सम्पूर्ण देश के गौरव का विषय है। गीता ने हमे कर्मयोग सिखाया है रामायण ने आदर्श और महाभारत ने यथार्थ। इनका सन्तुलित विवेकाश्रित आचरण व्यष्टि और समष्टि के लिए उपकारक और उपादेय है। द्वितीय तारसप्तक के विद्वान कवि एव पूना निवासी हरिनारायण व्यास के 'भागवत पर कुछ विचार' इस सन्दर्भ मे द्रष्टव्य है—

'श्रीमद् भागवत मे गृहस्थाश्रम की अवहेलना नही की गई। उसमें लोग उसका महत्व प्रदर्शित करते है, तथा जीवन मे उसे आवश्यक मानते हैं। श्रीमद्-भागवत् आर्यो की एक बहुत बडी उपलब्धि है। इसने जन-जीवन को इतना प्रभावित किया है कि हमारे साहित्य, समाज और संस्कृति की जड़ मे इस ग्रन्थ के तत्व मौजूद है। वेद कालीन उन्मेष कारिणी ऋचाओ मे पुलकित होती हुई विचार-धारा 'श्रीमद् भागवत' मे आकर व्यक्ति और समाज के पारस्परिक संघर्षो का दर्पण बन जाती है।[1]

हम श्री हरिनारायण व्यासजी के विचार से पूर्ण सहमत है। हिन्दी और मराठी वैष्णव साहित्य का यह प्रदेय बड़ा अनमोल और महत्वपूर्ण है। वैष्णवी भक्ति का ही रूप है। भक्ति और वैराग्य के आदर्श आज के युग में भी जनता को एक ठोस आधार शिला देते है, जिस पर श्रद्धा और विश्वास से दृढ़ता पूर्वक खड़े होकर व्यक्तिगत उत्कर्ष और सामाजिक प्रगति सम्भव है। इस महत्ता को महर्षि अरविन्द ने बराबर पहिचाना था। श्री व्यास के ही शब्दो को हम पुनः उद्धृत करते है—

'आज के ज्ञान-विज्ञान का विकास मनुष्य का भौतिक मस्तक सम्हाल नही पाता। आत्मकल्याणार्थ प्राचीन योग पद्धति को अपनाकर आन्तरिक विधान से बचा जा सकता है।' अरविन्द का दर्शन कल्पना में दिव्य जीवन और दिव्यता पर विशेष बल देता है। रामकृष्ण के अवतारो में 'अति मानस' के अवतरण को उन्होने देखा है। आज पृथ्वी पर जब 'अतिमानस' अवतरित होगा तब वह स्थिति आ सकती है।

यह कथन वास्तव मे सही है। अतः शान्त चित्त से विचार करने पर मराठी और हिन्दी वैष्णव भक्त कवियो के साहित्य का मर्म समझकर उसके तथ्य बोध को ग्रहण करना हमारा लक्ष्य होना चाहिए। इसे उपलब्ध करना एक मानवीय कर्तव्य सा लगता है। आज के युग मे तो इस चीज की अतीव आवश्यकता प्रतीत होती है।

---

१. श्रीमद् भागवत पर कुछ विचार—श्री हरिनारायण व्यास के एक शोध—निबंध से।

वास्तव में सारे वैष्णव भक्त कवि महान् साहित्यकार और साधक थे। उन्होने अपने साहित्य द्वारा करोड़ों हृदयों को रसविह्वल कर तद्‌युगीन अत्याचारो से पिसी हुई जनता की वेदना को बराबर पहचान कर उसे दूर करने का अमोघ उपाय भी ढूँढ निकाला। कबीर, सूर, मीराँ, तुलसीदास, ज्ञानेश्वर, एकनाथ, नामदेव, तुकाराम और समर्थ रामदास के करुण स्वरों मे जनता की मर्म-व्यथा ही अभिव्यक्त होती है। अपने हृदय-सागर मे स्थित अनुभूति की सीपी से चैतन्य के रूप मे सत्य का जो ओजस्वी मोती प्रकट हुआ था, उसे उन्होने सौन्दर्य, शील और शक्ति के पानी से आवेष्टिक किया। इन वैष्णव कवियों ने सत्य के इस विराट स्रोत को मानवीय बनाकर आदर्श और यथार्थ के दो कूलो मे अजस्र रूप से प्रवाहित किया है। यह कार्य जहाँ एक ओर अपने आप मे बडा ही भव्य एवम् दिव्य सिद्ध हुआ है, वहाँ इसके द्वारा ही दूसरी ओर भावनात्मक एकता की प्रतिष्ठा भी उस युग में सम्भव हो सकी।

भारतीय सस्कृति की मूलभूत भावना रही है अनैक्य मे ऐक्य की स्थापना, और सस्कृति के इस उद्‌घोष मे तथा इन वैष्णव कवियो मे एक सहज ही तारतम्य स्थापित रहा है, जो आज तक युग-युग की मान्यताओ को लाँघकर भी जनमन मे प्रवहमान है। वस्तुत. देखा जाय तो आज की भारतीयता को आवश्यकता भी इसी स्नेहानुबन्ध की है।

आज भी हिन्दी के एक प्रतिभावान तरुण कवि श्री ललितमोहन भारद्वाज के 'भारतवासी महान्' शीर्षक गीत की ये पक्तियाँ हमारी उस चिरंतन भावनात्मक एकता की द्योतक है—

'गूँजे क्षिति अन्तरिक्ष, गूँजे यह आसमान।
भारत माता की जय, भारतवासी महान॥
संस्कृतियाँ बहुत गई, अनगिन इतिहास रिले।
अपनी श्रद्धा को नित नूतन विश्वास मिले।
सद्‌भावो का उपवन, तृप्त और निस्पृह मन।
भारत की माटी में साथ अश्रु हास खिले॥
हमने निजको सबमें, सबको देखा निज में।
कोटि जीव एक जान, भारतवासी महान॥'[1]

तुलसी ने जिस प्रकार सबको 'सियाराम-मय' देखा, तथा मराठी के वैष्णव कवियो ने जैसे सभी मे भगवान् के दर्शन किये उसी प्रकार आज भी प्रत्येक भारत-

---

१ श्री ललितमोहन भारद्वाज—'भारतवासी महान' गीत से।

वासी यदि अपने में उस विराट के दर्शन करने लगे, तो भाषा, प्रान्त, जाति, धर्म आदि के भेद-भाव कदापि न टिक सकेंगे। साथ ही मराठी तथा हिन्दी के वैष्णव कवियो के द्वारा प्रदत्त भावनात्मक एकता का मानवीय सन्देश हम यथार्थ रूप मे ग्रहण कर सकेंगे, यह सास्कृतिक प्रदेय हमारे लिए एक अपूर्व निधि है तथा प्रत्येक हिन्दी-मराठी भाषा-भाषी के लिए गौरव का विषय भी है।

हिन्दी और मराठी के वैष्णव साहित्य मे इस ऐक्य के सम्यक् दर्शन पग-पग पर होते है। सत ज्ञानेश्वर मे एक दार्शनिक, ज्ञानी, कवि और भक्त का हम ऐसा स्वरूप पाते है जो सच्चिदानदमय भगवान् के चैतन्य की प्रदीप्ति प्रकट करने वाला है। ज्ञानेश्वर जैसे उच्च कोटि के साधक की इस उच्च स्तरीय अवस्था तक पहुँचना जन-साधारण के लिए कठिन हो जाता है। वैसे वे स्वयम् प्रयत्नशील रहे है कि मानव मात्र चैतन्यानुभूति को उपलब्ध कर ले।

मराठी साहित्य मे ज्ञानेश्वर की ज्ञानोत्तरी भक्ति तथा तत्वज्ञान को सम्यक् रूप मे आत्मसात कर सर्व सुलभ करा देने का अद्भुत कार्य नामदेव करते है। नामदेव समाज के ऐसे निम्न स्तर मे पैदा हुए थे, जहाँ लोगो को उच्च आध्यात्मिक ज्ञान और भक्ति का अधिकार प्राप्त न था। नामदेव ने मराठी भाषी जन-सामान्य को आध्यात्मिक ज्ञान और भक्तिमार्ग पर लाकर खडा कर दिया। और न केवल मराठी भाषी जन साधारण को ही यह पथ उपलब्ध कराया अपितु हिन्दी भाषी प्रदेश मे—सुदूर पजाव मे—जाकर अपनी ज्ञानोत्तरी भक्ति का सन्देश ब्रजभाषा मे दे, हिन्दी भाषी जन साधारण को भी उसका आस्वाद प्रदान किया। भक्ति के इस अनमोल नैवेद्य को हिन्दी के प्रथम वैष्णव कवि कबीर ने शिरोधार्य कर (नामदेव के ऋण को) अपनी मान्यता प्रदान की। यही आगे चलकर सत परम्परा की निर्गुण ज्ञानाश्रयी साधना बनी।

वास्तव मे नामदेव के कार्य को कबीर ने उत्तर भारत मे और आगे बढाया। ज्ञानेश्वर की शास्त्रीय, तात्त्विक, आध्यात्मिकता पूर्ण साधना, और नामदेव की प्राजल भावमूलक भक्ति का अपूर्व समन्वय परम कारुणिक सत एकनाथ महाराज मे अवतरित हुआ। जहाँ एकनाथ ने भागवती-भक्ति और अद्वैती ज्ञान के शास्त्रीय एव आध्यात्मिक पक्ष को पाण्डित्यपूर्ण शैली मे अभिव्यक्त किया है, वहाँ नामदेव की उत्कट भक्तिजन्य भावुकतापूर्ण शैली भी उनकी कृतियो मे विद्यमान है और वह भी लोकाभिमुख होकर देखा जाय तो एकनाथ की विवेकाश्रित नैतिकता ने स्वधर्म और स्वराज्य के लिए अनुकूल वायुमण्डल निर्माण किया। जनता ने इसे चिन्तनपक्ष और आचरण पक्ष में आत्मसात कर लिया, जिसके परिणामस्वरूप भक्ति की अनन्यता को

ग्रहण कर उसे पराकाष्ठा पर पहुँचाने वाले जनता के कवि तुकाराम की अवतारणा हुई। फलत. शूद्र कुलोद्भव तुकाराम की उक्तियाँ साधना और व्यवहार मे लोगो के जिह्वाग्र पर मंडराती है।

दूसरी ओर समर्थ रामदास ने 'प्रयत्न' और 'कर्म योग' को भगवान् के अधिष्ठान, बल और दैवी प्रेरणा से सम्पन्न किया। आध्यात्मिकता सचेतन हो अपने पूर्ण स्वरूप मे समर्थ मे उद्भाषित हुई है।

स्वराज्य और स्वधर्म के सम्यक स्फुरण ने उत्तर में भी एक दिव्य प्रेरणा दी। कबीर के भक्तिमार्ग को तुलसी ने अपनी लोकाभिमुख सगुण भक्ति-साधना से नवजीवन प्रदान किया। इसी भक्ति का भावोत्कट स्वरूप कृष्ण की सगुणोपासना से सूर और मीराँ मे प्रस्फुटित हुआ। एकान्तिक रूप मे मीराँ ने उसे चरमोत्कर्ष तक पहुँचा दिया, तो सार्वजनीन रूप मे सूरदास ने भक्ति की वह मधुर रागिनी छेडी जो तन्मयता के साथ जन-जन के रसिक हृदयो ने आनन्द विभोर हो सुनी और वे गद्गद् हो झूम उठे। आगे चलकर तुलसीदास ने अपनी उच्च स्तरीय चैतन्यानुभूति को एकनाथ की तरह युगधर्म बनाकर जन सामान्य तक पहुँचा दिया। अस्तु भावनात्मक एकता की यह अपूर्व प्रतिष्ठा हिन्दी और मराठी वैष्णव कवियो की भारत के लिए एक सार्वकालिक देन है।

संदर्भ-साहित्य सूची

परिशिष्ट १

हिन्दी ग्रंथ—

१. अष्टछाप —डॉ० धीरेन्द्र वर्मा
२. अष्टछाप परिचय —प्रभुदयाल मीतल
३. अष्टछाप और वल्लभ संप्रदाय, (दो खन्ड) —डॉ० दीनदयालु गुप्त
४. आत्मकथा —महात्मा गाँधी
५ उत्तर भारत की सन्त परम्परा —आचार्य परशुराम चतुर्वेदी
६. एकनाथ और तुलसीदास —जगमोहनदास चतुर्वेदी
७. कवितावली —तुलसीदास
८. कबीर ग्रन्थावली —डॉ० श्यामसुन्दर दास और डा० पारसनाथ तिवारी
९. कबीर —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
१०. कबीर बीजक —कबीर
११. कबीर साहित्य की परख —आ० परशुराम चतुर्वेदी
१२. कल्याण—अङ्क ४, वर्ष १६ तथा भक्ति अङ्क
१३. काव्यशास्त्र —डॉ० भगीरथ मिश्र
१४. गीतावली —तुलसीदास
१५. गीत गोविन्द —जयदेव (हिन्दी अनुवाद) डॉ० विनयमोहन शर्मा
१६. गुजराती और ब्रजभाषा काव्य का तुलनात्मक अध्ययन
१७. गोस्वामी तुलसीदास (व्यक्तित्व, दर्शन, साहित्य) —डॉ० रामदत्त भारद्वाज
१८. जानकी मङ्गल —तुलसीदास
१९. तुकाराम —डॉ० हरि रामचन्द्र दिवेकर
२०. तुलसीदास —आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र
२१. ,, —आ० रामचन्द्र शुक्ल
२२. ,, —डॉ० माताप्रसाद गुप्त
२३. ,, —डॉ० श्यामसुन्दर दास
२४. तुलसी-रसायन —डॉ० भगीरथ मिश्र

२५. तुलसी के चार दल (दो खण्ड) —सद्गुरु शरण अवस्थी

२६ तुलसी दर्शन —डा० बलदेव मिश्र

२७ तुलसी दर्शन मीमांसा —डा० उदयभानु सिंह

२८ तुलसीदास और उनका युग —डॉ० राजपति दीक्षित

२९. दासबोध (हिन्दी) —रामचन्द्र वर्मा

३०. दोहावली —तुलसीदास

३१. नाथ सम्प्रदाय —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी

३२. नामदेव परिचयी —अनन्तदास (हस्तलेख ग्रन्थ क्र० २९८)

३३. परमार्थ सोपान —डॉ० रा० द० रानडे

३४. पाटल (संत साहित्य विशेषांक)

३५. पातञ्जल योगदर्शन —सं० डॉ० भगीरथ मिश्र, डा० हरिकृष्ण अवस्थी तथा स्व० डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र

३६ पार्वती मङ्गल —तुलसीदास

३७. निबन्धावली —स्व० महापंडित राहुल सांकृत्यायन

३८ बरवै रामायण —तुलसीदास

३९. बौद्ध दर्शन तथा भारतीय दर्शन —डॉ० भरतसिंह उपाध्याय

४०. भक्तमाल —नाभादास

४१ भक्त शिरोमणि सूरदासजी —डॉ० नलिनी मोहन सान्याल

४२ भक्ति का विकास —डॉ० मुंशीराम शर्मा

४३ भागवत सम्प्रदाय —डॉ० बलदेव उपाध्याय

४४ भारतीय दर्शन — ,, ,,

४५. भारतीय साधना और सूर साहित्य —डॉ० मुंशीराम शर्मा

४६. महाकवि सूरदास —आचार्य नंददुलारे वाजपेयी

४७. मानस की रामकथा —आ० परशुराम चतुर्वेदी

४८. मीराबाई —डा० प्रभात

४९. मीराबाई की पदावली —आ० परशुराम चतुर्वेदी

५०. मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना —डॉ० भगवानदास तिवारी (अप्रकाशित शोध प्रबन्ध)

५१. मीरा दर्शन —प्रो० मुरलीधर श्रीवास्तव

५२. मीरा स्मृति ग्रन्थ —सं० स्व० ललिता प्रसाद सुकुल बंगीय हिन्दी परिषद्

५३. मीरा की जीवनी व आलोचना —स्व० डॉ० श्री कृष्णलाल

५४. मीरा माधुरी —व्रजरत्न दास
५५. राधा का क्रम विकास —डॉ० शशिभूषण दास गुप्ता
५६. राधावल्लभ सम्प्रदाय —डॉ० विजयेन्द्र स्नातक
५७. रामकथा —डॉ० कामिल बुल्के
५८. रामचरित मानस —तुलसीदास
५९ रामभक्ति में मधुर उपासना —डॉ० भुवनेश्वरनाथ मिश्र 'माधव'
६०. रामभक्ति मे रसिक सप्रदाय —डॉ० भगवती सिह
६१ रामलला नहछू —तुलसीदास
६२. रामाज्ञा प्रश्न —तुलसीदास
६३. विनय पत्रिका ,,
६४. विश्व साहित्य में रामचरित मानस —राजबहादुर लमगौडा
६५. वैष्णव धर्म —आ० परशुराम चतुर्वेदी
६६. वैराग्य सदीपिनी —तुलसीदास
६७. साहित्य लहरी —सूरदास, प्रभुदयाल मीतल
६८. सूरसागर (दो खण्ड) —स० स्व० आचार्य नददुलारे वाजपेयी
(ना. प्र. सभा वाराणसी)
६९. सूर-सारावली —प्रभुदयाल मीतल
७०. सूरदास —स्व० आ० रामचन्द्र शुक्ल
७१. सूरदास —डॉ० पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल
७२. ,, —व्रजेश्वर वर्मा
७३ सूर-निर्णय — प्रभुदयाल मीतल
७४. सूर और उनका साहित्य —डॉ हरवशलाल शर्मा
७५. सूर-साहित्य —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
७६. सूर-साहित्य की भूमिका —डॉ० रामरतन भटनागर, वाचस्पति पाठक
७७. सूर सौरभ (खण्ड १ से ३) आ० मुंशीराम शर्मा
७८. सौलहवी शती के हिन्दी और बगाली वैष्णव कवि —डॉ० रत्नकुमारी
७९. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सप्रदाय —डॉ० पीताम्वरदत्त बडथ्वाल
—डा० भगीरथ मिश्र
८०. हिन्दी और मलयालम कृष्ण भक्ति काव्य —डॉ० के० भास्करन नायर
८१. हिन्दी को मराठी सन्तो की देन —डॉ० विनयमोहन शर्मा

८२ हिन्दी साहित्य —डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी
८३ हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास —डॉ० रामकुमार वर्मा
८४. हिन्दी साहित्य का इतिहास —आ० रामचन्द्र शुक्ल
८५. हिन्दी साहित्य की दार्शनिक पृष्ठभूमि —डॉ० विश्वम्भर नाथ उपाध्याय

परिशिष्ट २

मराठी ग्रंथ—

१. अमृतानुभव —ज्ञानेश्वर
२ आनन्द लहरी —एकनाथ
३. ऋग्वेदातील भक्ति मार्ग —स्व० डॉ० दामोदर हरि वेलणकर
४. एकनाथी भागवत —एकनाथ
५. एकनाथ अभङ्गगाथा —साखरे
६ एकनाथ दर्शन (खण्ड १ और २) —एकनाथ संशोधन मण्डल, औरङ्गाबाद
७. एकनाथ वचनामृत —डॉ० रा. द. रानडे
८. एकनाथ वाङमय आणि कार्य —प्रा० न० र० फाटक
९ एकनाथाचा भागवत धर्म —डॉ० श्रीधर र० कुलकर्णी
१० काव्य विभ्रम —प्रा० रा० श्री० जोग
११. गीता रहस्य —लोकमान्य बा० गं० तिलक
१२. चतुश्लोकी भागवत —एकनाथ
१३. चागदेव पासष्टी —ज्ञानेश्वर
१४. छन्दोरचना —डॉ० मा० त्रि० पटवर्धन
१५. तुकाराम अभग गाथा —महाराष्ट्र राज्य प्रकाशन, बम्बई
१६. तुकाराम —डॉ० र० ग० हर्वे
१७. तुकाराम चरित्र —पु० मं० लाड
१८. तुकाराम महाराजांची गुरू परम्परा —वा० सी० वेन्द्रे
१९. तुकारामये सन्त सांगाती —वा० सी० वेन्द्रे
२०. तुकाराम वचनामृत —डॉ० रा० द० रानडे
२१. तंत्र आणि मत्र सप्रदाय —डॉ० रा० प्र० पारनेरकर (अप्रकाशित ग्रन्थ)
२२. तोड ओडख ,, ,,
२३. दासबोध —रामदास
२४. नाथ संप्रदायाचा इतिहास —रा० चि० ढेरे
२५. नामदेव गाथा —वि० न० जोग (चित्रशाळा प्रेस, पूणे)

२६. नामदेव गाथा (खण्ड १ से ४) —प्र० सी० सुबन्ध
२७. नामदेव चरित्र —ज० रा० आजगाँवकर
२८ नामदेवाचे आध्यात्मिक चरित्र व ज्ञानदीप —ग० वि० तुळपुळे
२९. परिसरात —डॉ० रा० प्र० पारनेरकर
३०. पाँच सन्तकवि —डॉ० श० गो० तुळपुळे
३१. पजाबातील नामदेव —शं० पा० जोशी
३२. पूर्णवाद परिचय —डॉ० रा० प्र० पारनेरकर
३३. भक्ति विजय —महिपती
३४. भक्तीचा कल्पवृक्ष —भा० पं० बहिरट
३५. भक्तीचा मळा —डॉ० श० गो० तुळपुळे
३६. भावार्थ रामायण —एकनाथ—घारपुरे
३७. मनाचे श्लोक —रामदास
३८. मराठी छन्द —वि० का० राजवाडे
३९. मराठी छन्दो रचना एक पुनर्विचार —डॉ० ना० ग० जोशी
४०. मराठी वाङ्मया चा इतिहास (खण्ड १ से ३) —ल० रा० पागारकर
४१. मराठी साहित्यातील मधुरा भक्ति —डॉ० प्र० न० जोशी
४२ महाराष्ट्र सारस्वत व पुरवणी —वि० ल० भावे; डॉ० श० गो० तुळपुळे
४३. योग सिद्धि आणि ईश्वर साक्षात्कार —डॉ० वि० म० भट
४४. रामदासाचा गाथा —अनतदास रामदासी
४५. रामदास वचनामृत —डॉ० रा० द० रानडे
४६. रामदास वाङ्मय व कार्य —प्रा० व० र० फाटक
४७. रुक्मिणी स्वयंवर —एकनाथ
४८. वाग्वैजयन्ती —रामगणेश गडकरी (गोविन्दाग्रज)
४९. समर्थ चरित्र —डॉ० स० करंदीकर
५०. समर्थावतार }
५१. समर्थहृदय } —शं० श्री० देव
५२ समर्थ संप्रदाय }
५३. श्री विठ्ठल आणि पंढरपूर —श० ह० खरे
५४. ज्ञानदेवाचे जीवन विषयक तत्त्वज्ञान —स० शं० वा० दांडेकर
५५. शुकाष्टक —एकनाथ

५६. सकलसन्त गाथा —भा० पं० वहिरट
५७. समर्थ रामायण —रामदास
५८. सन्तकाव्य समालोचन —गं० बा० ग्रामोपाध्ये
५९. सन्त वाङ्मयाची सामाजिक फलभुति —प्रा० ग० वा० सरदार
६०. सन्त वचनामृत —डॉ० रा० द० रानडे
६१ सन्त वाणीचा अमृत कलश —भा० प० वहिरट
६२. साधुवर्य तुकाराम महाराज —डॉ० केळकर
६३. स्वात्मसुख —एकनाथ
६४. हस्तामलक —एकनाथ
६५ ज्ञानेश्वर दर्शन (खण्ड १ व २) —ज्ञानेश्वर वाचन मंडळ, अहमदनगर
६६ ज्ञानेश्वरी चे अतरग —डॉ० रा० द० रानडे
६७. ज्ञानेश्वरी —ज्ञानेश्वर—स्व० श० वा० दाडेकर
६८. ज्ञानेश्वराची विदग्ध रसवृत्ति —डॉ० रा० श० वाळिंवे
६९. ज्ञानेश्वराचे तत्त्वज्ञान —डॉ० श० दा० पेडसे
७०. ज्ञानेश्वरी सर्वस्व —स्व० न० चि० केळकर
७१. ज्ञानेश्वराची अभङ्ग गाथा —साखरे
७२. ज्ञानेश्वर चरित्र आणि ज्ञानेश्वरी चर्चा —प्रा० शं० गो० वाळिंवे

परिशिष्ट ३

संस्कृत ग्रंथ—

१. ईश उपनिषद्
२. ईश्वर सहिता
३. उज्ज्वल नीलमणि—जीव गोस्वामी
४. ऋग्वेद, और ऋग्वेद भाष्य —सायणाचार्य
५. ऐतरेय ब्राह्मण
६. कठोपनिषद्
७. काव्य प्रकाश —आचार्य मम्मट
८. केनोपनिषद्
९. खिल हरिवंश पुराण
१०. गीत-गोविन्द —जयदेव
११. चैतन्य चरितामृत —कविराजा
१२. छान्दोग्य उपनिषद्
१३. जयाख्य सहिता
१४. तत्त्वदीप-निर्णय
१५ तैत्तीरीय उपनिषद्
१६. दशश्लोकी —निम्बार्काचार्य
१७. नारद भक्ति सूत्र
१८ नारद-पाञ्चरात्र
१९. पद्मपुराण
२०. पाडुरगाष्टक —शकराचार्य
२१. पुरुष सूक्त

२२. बृहदारण्यक उपनिषद्
२३. ब्रह्मसूत्र-व्यास
२४. ब्रह्म बिंदूपनिषद्
२५. ब्रह्मवैवर्त पुराण
२६. भागवत पुराण
२७ महाभारत
२८. माण्डूक्योपनिषद्
२९. मुण्डकोपनिषद्
३०. मैत्र्यायण्युपनिषद्
३१. रामार्चन चन्द्रिका —हरप्रसाद शास्त्री
३२. लघु भागवतामृत
३३. वाल्मीकि रामायण —वाल्मीकि
३४. विठ्ठल भूषण
३५. विष्णु पुराण
३६. वैखानस धर्म सूत्र —भाष्यकार व्यंकटेश
३७. वैखानस आगम —अनन्त शयनम् ग्रन्थावली
३८. वैष्णव मताब्दभास्कर
३९. शतपथ ब्राह्मण
४०. शाण्डिल्य भक्ति सूत्र
४१. शुद्धाद्वैत मार्तण्ड —श्री गिरधरजी
४२. श्वेताश्वतर उपनिषद्
४३ श्रीमद्भगवद् गीता
४४. श्रीमद्भागवत
४५. सङ्गीत रत्नाकर–कुलानिधि टीका
४६. हरि भक्ति रसामृत सिंधु —जीव गोस्वामी

गुजराती ग्रंथ—

१. वैष्णव धर्मनो इतिहास —दुर्गाशङ्कर केवलराम शास्त्री

कन्नड़ ग्रंथ—

१. पूर्ण प्रबन्ध कर्नाटक कवि चरित्र खण्ड २

परिशिष्ट ४

अंग्रेजी ग्रंथ—

1. Ahirbudhanya Samhita —Dr. Schwader P. Otto.
2 History of Sanskrit Literature —A. Macdonald.
3. A Sketch of Religious Sects and the Hindus —Wilson.
4. An out line of Religious literature of India —Dr. Ferguhar.
5. Bhandarkar Research Institute Annuals Vol. 14
6. Collected works of Sir R. G. Bhandarkar Vol. 14.
7. Early History of Vaishnavism in south India—S. K. Ayangar.
8. Early History of Vaishnavism —Roychaudhari.
9. Early History of Deccan —R G. Bhandarkar
10. Epic India —Shri C. V. Vaidya.

11. Encyclopedea of Religion and Ethics —Macanzie.
12. Introduction to Panchtantra and Ahirbudhanya Samhita. —Dr. Schwader P. Otto.
13. Journal of Royal Asiatic Society, Vol. 1907 & 1920.
14. Kabir and his followers —Dr. Key
15. Mysticism in Maharashtra. —Dr. R. D. Ranade.
16. Mysticism —Miss Undherhill.
17. Obscure Religious cults. —S. Das Gupta.
18. Path way to God in Hindi Literature. —Dr. R. D. Ranade.
19. Philosophy of Jnyandeva —B. P. Bahirata.
20. Psychology of Religion —Dr Selby.
21. The Arts and the art of criticism —T. H. Green.
22. The life of Ramanuj. —Natesan, Madras.
23. Theory and art of Mysticism. —R. K. Mukerjee.
24. The Indian Interpreter.
25. Vaishnavism, Shaivism and other sects —R. G. Bhadarkar.

परिशिष्ट ५

चित्र सदर्भ सूची

हिन्दी वैष्णव कवि—

१. कबीरदास – उत्तर भारत की सन्त परम्परा —आ० परशुराम चतुर्वेदी
२. सूरदास – महाकवि सूरदास —आ० नन्ददुलारे वाजपेयी
३. मीराबाई – मीरा की भक्ति और उनकी काव्य साधना का अनुशीलन —डा० भगवानदास तिवारी (अप्रकाशित प्रबन्ध)
४. तुलसीदास – रामचरितमानस —गङ्गा पुस्तकालय (वाराणसी संस्करण)

मराठी वैष्णव कवि—

१. ज्ञानेश्वर – अमृतानुभव कौमुदी —वेदान्त केसरी ना० प० पडित
२. नामदेव – नामदेव चरित्र —स्व० माधवराव आप्पाजी मुळे
३. एकनाथ – एकनाथ दर्शन खण्ड २ –बलवंत गिरिराव घाटे।
४. तुकाराम – तुकाराम चरित्र –ज० र० आजगांवकर।
५. समर्थ रामदास – समर्थ रामदास –ज० स० करदीकर।

नोट–प्रस्तुत ग्रंथ मे उपर्युक्त हिंदी और मराठी ग्रथो से नौ वैष्णव कवियो के चित्र लिये है और उनके ब्लाक्स के चित्र बनाने मे डा० भगवानदास तिवारीजी ने सहायता प्रदान की है।

उत्पन्न किया था। तभी तो उत्तर मे तुलसी का 'रामचरित मानस' महाराष्ट्र मे 'भावार्थ-रामायण', बङ्गाल मे 'कृतिवास-रामायण', कर्नाटक में 'तोरवे रामायण' 'कंबूर रामायण' आदि ग्रन्थ लोक भाषाओ में निर्माण हुएँ। एकनाथ ने कवित्व की अहङ्कारिता अथवा कीर्ति की लालसा से प्रेरित होकर अपना ग्रन्थ नही लिखा। प्रत्युत अपनी तद्युगीन परिस्थिति से प्रभावित होकर सहज रूप से उत्स्फूर्त वाणी मे 'भावार्थ रामायण' की अभिव्यजना की। रामराज्य स्थापित होकर परचक्र का खंडन हो जाय-यही मनोभिलाषा एकनाथ की जान पडती है। भावार्थ रामायण मे अध्ययनार्थ लिए जा सकते है, ऐसे कई सुरम्य स्थल और प्रसङ्ग विद्यमान है। यहाँ पर हम कतिपय उदाहरणो से भावार्थ रामायण की साहित्यिकता और सरसता समझने का प्रयत्न करेगे।

भावार्थ रामायण की साहित्यिकता—

सुमित्रा के चरित्र मे सत्सङ्ग के व्यापक प्रभाव का विवेचन है इसे एकनाथ की शैली मे देखना ही अच्छा होगा[1]—

भाग देता कैकेयीसी। कौसल्या अति उल्हासी॥
सवती भाव नाहीं मानसीं। देत उल्हासो निज भाग॥
सत्सगाचे निज महिमान। कौसल्या देत आपण समान।

पुत्रकामेष्टीयज्ञ करने पर यज्ञ देवता ने प्रसन्न होकर, दशरथ को जो प्रसाद प्रदान किया, वह सब रानियो मे बाँटा गया। एकनाथ यह वर्णन करते हुए बतलाते है, कि 'सौतिया डाह' नाम की कोई स्वभावगत् वैचित्र भावना उनमे नही थी। कौसल्या अत्यन्त उल्लासपूर्वक प्रसाद का अपना अंश कैकेयी को प्रदान करती है। सत्सङ्ग का माहात्म्य इस तरह से वे बढाती है। कौसल्या की ही तरह सुमित्रा भी अपना आधा अंश प्रसाद मे से कैकेयी को दे देती है। इस तरह सुमित्रा अपना नाम सार्थक करती है। कौसल्या के साथ उसकी अच्छी मैत्री है। मैत्री का व्यापक-प्रभाव जीवन पर पड़ता है। सुमित्रा की बुद्धि पर कौसल्या की मित्रता का पर्याप्त परिणामकारी प्रभाव पडा है।

एकनाथ कालीन सामाजिक दशा—

एकनाथ कालीन दक्षिण भारत मे शान्ति होने पर भी राज्यो के बीच पारस्परिक आक्रमण, लूटमार, ग्रामों-नगरो का ध्वस, आगजनी आदि बाते हुआ करती थी। इन घटनाओ मे स्त्री पुरुष नागरिको की बडी दुर्दशा होती थी। लङ्का-

१. भावार्थ रामायण बालकाण्ड। अध्याय ३।२६–३१।